
प्रकाशन

प्रकाशन

प्रकाशन

प्रकाशन

अनुसन्धान
प्रकाशन

अनुसन्धान

अनुसन्धान

अनुसन्धान
प्रकाशन


अनुसन्धान
प्रकाशन

अनुसन्धान
प्रकाशन

अनुसन्धान
प्रकाशन

अनुसन्धान
प्रकाशन

अनुसन्धान
प्रकाशन

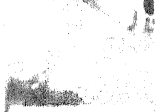
अनुसन्धान
प्रकाशन





























अनुसन्धान अनुसन्धान अनुसन्धान



हिन्दी

का
व्य
शा
स्त्र

में

रस-सिद्धान्त

हिन्दी काव्य-शास्त्र में रस-सिद्धान्त

डॉ० सच्चिदानन्द चौधरी


अनुसन्धान प्रकाशन
आचार्यनगर, कानपुर

संग्रहणीय प्रकाशन



आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी : व्यक्ति और साहित्य —सं० : डा० रामाधार शर्मा	२०.००
प्रकीर्णिका—लेखक : आचार्य पं० नन्ददुलारे वाजपेयी	८.००
आचार्य द्विवेदी और उनके संगी-साथी —लेखक : आचार्य पं० किशोरीदास वाजपेयी	३.००
हिन्दी-उपन्यास की शिल्पविधि का विकास—डा० (श्रीमती) ओम शुक्ल	१६.००
हिन्दी-निबन्ध का विकास—डा० ओंकारनाथ शर्मा	१६.००
अज्ञेय का काव्य—सुश्री सुमन झा	८.००
हिन्दी की नयी कविता—श्री वी० नारायणन कुट्टी	७.००
आ० हि०-कविता में अलंकार-विधान—डा० जगदीशनारायण त्रिपाठी	१५.००
नया हिन्दी-काव्य—डा० शिवकुमार मिश्र	१६.००
हिन्दी की सैद्धान्तिक समीक्षा—डा० रामाधार शर्मा	१६.००
रामचरितमानस : काव्यशास्त्रीय अनुशीलन—डा० राजकुमार पाण्डेय	१६.००
हिन्दी-उपन्यास : समाजशास्त्रीय विवेचन—डा० चण्डीप्रसाद जोशी	१६.००
तुलसीदास : जीवनी और विचारधारा—डा० राजाराम रस्तोगी	१६.००
कविवर बिहारीलाल और उनका युग—डा० रणधीर सिन्हा	१६.००
निराला का परवर्ती काव्य—श्री रमेशचन्द्र मेहरा	१०.००
छायावाद : स्वरूप और व्याख्या—श्री राजेश्वरदयाल सक्सेना	८.००
प्रयोगवाद—श्री नरेन्द्रदेव वर्मा	१२.५०
डिंगल साहित्य : प्राकृत और अपभ्रंश का प्रभाव—डा० गोवर्द्धन शर्मा	१६.००
प्रसाद जी की काव्य-प्रवृत्ति—डा० कामेश्वरप्रसादसिंह	२०.००
कवि प्रसाद और कामायनी—डा० कामेश्वरप्रसादसिंह	८.००
हिन्दी-गद्य का विकास—डा० प्रेमप्रकाश गौतम	१६.००



हिन्दी काव्य-शास्त्र
में
रस-सिद्धान्त

डॉ० सच्चिदानन्द चौधरी



अनुसन्धान प्रकाशन
आचार्यनगर, कानपुर

मूल्य :
अठारह रुपये

प्रकाशक : अनुसन्धान प्रकाशन
प्रकाशन काल : सन् १९६५ ई०
मुद्रक : अनुपम प्रेस,
देवनगर, कानपुर

मूल्य :
अठारह रुपये

प्रकाशक : अनुसन्धान प्रकाशन,
प्रकाशन काल : सन् १९६५ ई०
मुद्रक : अनुपम प्रेस,
देवनगर, कानपुर

जिसका करुणा-कण ही मेरे
जीवन की निधि है,
उसी 'सदार्द्रचित्ता' माता के
मंगलमय चरणों में
वाचिक पुष्पों की यह एक
भावनामयी अंजलि ।

आत्म-निवेदन

'हिन्दी काव्य-शास्त्र में रस-सिद्धान्त' शीर्षक शोध-प्रबन्ध पर रांची विश्वविद्यालय, ने सन् १९६३ ई० में मुझे पी–एच० डी० की उपाधि प्रदान की थी। मुझे इसकी हार्दिक प्रसन्नता है कि आज वह शोध-प्रबन्ध ग्रन्थाकार में प्रकाशित होकर काव्य-शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वानों और अधीतियों के समक्ष प्रस्तुत हो रहा है। वस्तुतः कोई भी अनुसन्धान, चाहे वह किसी भी श्रेणी का क्यों न हो, तभी सार्थक है जब वह बन्द पिटारे से बाहर निकल कर अपने सम्बद्ध विषय के अध्ययन को आगे ले जाने में तथा उसके भांडार की श्रीवृद्धि करने में सक्षम हो। पता नहीं, मेरा यह कार्य इस दिशा में कहां तक सफल हो सकेगा; किन्तु मैं स्वयं इतने से ही सन्तुष्ट हूं कि मेरी यह कृति अपने सम्पुटित पृष्ठों को खोल कर विशाल सुधी समाज के सामने उपस्थित होने जा रही है। यदि इससे हिन्दी समीक्षा-शास्त्र की आंशिक रिक्तता भी दूर हो सकी तो मैं इसे ही अपना सबसे बड़ा पुरस्कार तथा परिश्रमिक मानूंगा।

मेरा यह शोध-प्रबन्ध रांची विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागाध्यक्ष और प्रोफेसर डा० रामखेलावन पाण्डेय, एम० ए०, डी० लिट्० के निर्देशन में लिखा गया था। उनका प्रभूत स्नेह मुझे हमेशा प्राप्त रहा है तथा वे मुझे सदैव 'आत्मीय' भी समझते रहे हैं। अतएव मेरा यह प्रथम कर्त्तव्य है कि इस अवसर पर मैं उनके चरणों में श्रद्धा और सम्मान के दो फूल अर्पित करूं। उनके निमित्त धन्यवाद और कृतज्ञता-ज्ञापन के औपचारिक शब्द नितान्त हल्के प्रतीत हो रहे हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस ग्रंथ को प्रकाशित देख कर उन्हें सर्वाधिक आनन्द होगा।

रीति-साहित्य के अधिकारी विद्वान् प्रो० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अमित साहाय्य को मैं कैसे विस्मृत कर सकता हूं? आपने अपने अमूल्य और व्यस्त समय में से कुछ क्षण निकाल कर मेरे समस्त प्रबन्ध को 'स्थाली-पुलाक न्याय' से पढ़ने का कष्ट किया तथा कई सत्परामर्श एवं सुझाव भी दिए। अतएव मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूं। आदरणीय डा० फा० कामिल बुल्के का भी मैं अत्यन्त अनुगृहीत हूं। इन्होंने मेरे अनुसन्धान-क्रम में अपने व्यक्तिगत समृद्ध पुस्तकालय का द्वार सदा अनावृत रखा। जब कभी पुस्तकें लौटाने में विलम्ब होने के कारण क्षमा-याचना का बहाना बनाकर मैं उनके पास गया तो इन्होंने बदले में मेरे विषय से सम्बद्ध दो-चार अन्य पुस्तकें ही देकर विदा किया। आपके सौजन्य और विद्यानुराग को मैं अनुकरणीय मानता हूं।

नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी के अधिकारियों और पुस्तकालयाध्यक्ष का भी मैं पूर्णतः आभारी हूं। सभा के अतिथि भवन में ठहरने से लेकर प्रकाशित एवं हस्तलिखित अनेक दुर्लभ ग्रंथों के अवलोकन और अध्ययन की सारी सुविधाएं इन्होंने प्रदान कीं। सच पूछिए तो इनके साहाय्य के बिना इस प्रबन्ध की पूर्ति असंभव थी। नागरी प्रचारिणी के सभा-संग्रहालय और याज्ञिक संग्रहालय को तो मैं विश्वनाथ मंदिर की भाँति ही महनीय और नमनीय मानता हूं।

हिन्दी काव्य-शास्त्र के चूडान्त विद्वान् डा० भगीरथ मिश्र, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, पूना विश्वविद्यालय के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता किन शब्दों में व्यक्त करूं ? ग्रंथ की भूमिका लिखकर इन्होंने केवल ग्रंथ की ही गरिमा और उपयोगिता नहीं बढ़ाई है; बल्कि मेरे गौरव को भी बढ़ाया है। अतएव हृदय से मैं उनका आभारी हूं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और डा० नगेन्द्र के प्रति भी अपनी कृतज्ञता ज्ञापित किए बिना नहीं रह सकता। इस ग्रंथ का यथावसर अवलोकन कर इन्होंने इसकी भूयसी प्रशंसा की है। इन विद्वन्मनीषियों के प्रशंसात्मक शब्दों को मैं आशीर्वचन मानता हूं। उन सभी ग्रंथकार विद्वानों का भी मैं ऋणी हूं जिनके ग्रंथ मेरे विवेच्य रहे हैं किम्बा जिनके ग्रंथों ने मुझे विवेचना की राह दिखाई है।

रांची विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति और हिन्दी साहित्य के अनन्य अनुरागी श्री शार्ङ्गधर सिंह जी को भी धन्यवाद देना मैं अपना समुचित कर्तव्य समझता हूं जिन्होंने इस प्रबन्ध के प्रकाशन की मुझे सहर्ष अनुमति प्रदान की।

अंत में, इस ग्रंथ के प्रकाशक और अनुसन्धान प्रकाशन (कानपुर) के व्यवस्थापक श्री रामकुमार मिश्र को भी मैं हृदय से धन्यवाद देता हूं। यदि इन्होंने इतनी तत्परता न दिखाई होती, तो इस विशाल ग्रंथ का शीघ्र प्रकाशन संभव न हो पाता।

अनेकविध त्रुटियों के लिए क्षमाप्रार्थी

—सच्चिदानन्द चौधरी
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष,
हिन्दी विभाग
त्रिभुवन विश्वविद्यालय,
काठमांडू (नेपाल)

भारतीय सहायता मिशन, काठमांडू
सुखरात्रि, २०२२ वि० संवत्

भूमिका

आज हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत रस की चर्चा अत्यधिक हो रही है। जहाँ एक ओर चर्चा और समीक्षा के क्षेत्र में उसकी व्याप्ति विस्तार प्राप्त कर रही है, वहीं कविता क्षेत्र में रस को अपदस्थ करने का संकल्प और कार्य भी आज का नया कवि कर रहा है। ऐसी स्थिति में आवश्यक यह हो जाता है कि या तो हम रस की चर्चा करना ही छोड़ दें अथवा रस की स्थिति पर अधिक गंभीरता, व्यावहारिकता और तटस्थता से विचार करें। अपने प्राचीन साहित्य और उसकी परम्परागत भावना के प्रसंग में रस का एक विशिष्ट महत्त्व रहा है। न केवल काव्यशास्त्र के आद्य ग्रंथ भरत मुनिकृत 'नाट्यशास्त्र' के अन्तर्गत रस एक प्रमुख प्रतिपाद्य तत्त्व है जिसे भारतीय नाट्य परम्परा में भी नाटक का मूल उद्देश्य स्वीकार किया गया है, वरन् भारतीय काव्यशास्त्र के भीतर भी 'काव्य की आत्मा' के अन्वेषण के प्रसंग में भी रस को ही प्रमुखतया काव्यात्मा के रूपमें स्वीकार किया गया है। रसवादियों के द्वारा ही नहीं, ध्वनि के पुरस्कर्त्ता आनन्दवर्धन ने भी 'काव्यस्यात्मा स एवार्थः 'कहकर रस को ही आत्मा मानने में अपनी सहज आस्था प्रकट की है।

इसके अतिरिक्त मध्यकाल में न केवल काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में रस को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया, वरन् कविता-ग्रंथों की भी मूल प्रवृत्ति रस-रसांग की सृष्टि रही है। इसका परिणाम यह रहा कि किसी भी महत्त्वपूर्ण प्राचीन कृति की विवेचना सरलता से रस के आधार पर की जा सकती है और उन कृती-कवियों को रस की कसौटी पर काव्य-कृति के कसी जाने पर कोई भी आपत्ति नहीं थी। अनेक हिन्दी और संस्कृत की आलंकारिक रचनाओं में हम उन शब्दों को समाविष्ट पाते हैं जो मूलतः रस के उदाहरण है। इस प्रवृत्ति से मध्ययुग के आचार्यों और कवियों की रस के प्रति मनोवृत्ति स्पष्ट होती है।

परन्तु आधुनिक काल के अद्यतन काव्य में स्थिति बदल गयी है। आज की कविता का रस के आधार पर विवेचन करने से उसमें कई प्रकार के दोष दिखलायी पड़ते हैं और ऐसा लगता है कि रस के आधार पर विवेचना करने से इन रचनाओं की मुख्य विशेषता स्पष्ट नहीं हो पाती। अतः विवेचक को सोचना पड़ता है कि इसके लिए क्या किसी दूसरी कसौटी की आवश्यकता है? पर, बात यहीं समाप्त नहीं होती। स्वयं आज का कवि रस आदि पुराने काव्य-सिद्धान्तों के आधार पर अपनी रचना की समालोचना किया जाना बर्दाश्त नहीं करता। अपनी कृति को

नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी के अधिकारियों और पुस्तकालयाध्यक्ष का भी मैं पूर्णतः आभारी हूं। सभा के अतिथि भवन में ठहरने से लेकर प्रकाशित एवं हस्तलिखित अनेक दुर्लभ ग्रंथों के अवलोकन और अध्ययन की सारी सुविधाएं इन्होंने प्रदान कीं। सच पूछिए तो इनके साहाय्य के बिना इस प्रबन्ध की पूर्ति असंभव थी। नागरी प्रचारिणी के सभा-संग्रहालय और याज्ञिक संग्रहालय को तो मैं विश्वनाथ मंदिर की भाँति ही महनीय और नमनीय मानता हूं।

हिन्दी काव्य-शास्त्र के चूडान्त विद्वान् डा० भगीरथ मिश्र, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, पूना विश्वविद्यालय के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता किन शब्दों में व्यक्त करूं ? ग्रंथ की भूमिका लिखकर इन्होंने केवल ग्रंथ की ही गरिमा और उपयोगिता नहीं बढ़ाई है; बल्कि मेरे गौरव को भी बढ़ाया है। अतएव हृदय से मैं उनका आभारी हूं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और डा० नगेन्द्र के प्रति भी अपनी कृतज्ञता ज्ञापित किए बिना नहीं रह सकता। इस ग्रंथ का यथावसर अवलोकन कर इन्होंने इसकी भूयसी प्रशंसा की है। इन विद्वन्मनीषियों के प्रशंसात्मक शब्दों को मैं आशीर्वचन मानता हूं। उन सभी ग्रंथकार विद्वानों का भी मैं ऋणी हूं जिनके ग्रंथ मेरे विवेच्य रहे हैं किम्बा जिनके ग्रंथों ने मुझे विवेचना की राह दिखाई है।

रांची विश्वविद्यालय के तत्कालीन कुलपति और हिन्दी साहित्य के अनन्य अनुरागी श्री शार्ङ्गधर सिंह जी को भी धन्यवाद देना मैं अपना समुचित कर्त्तव्य समझता हूं जिन्होंने इस प्रबन्ध के प्रकाशन की मुझे सहर्ष अनुमति प्रदान की।

अंत में, इस ग्रंथ के प्रकाशक और अनुसन्धान प्रकाशन (कानपुर) के व्यवस्थापक श्री रामकुमार मिश्र को भी मैं हृदय से धन्यवाद देता हूं। यदि इन्होंने इतनी तत्परता न दिखाई होती, तो इस विशाल ग्रंथ का शीघ्र प्रकाशन संभव न हो पाता।

अनेकविध त्रुटियों के लिए क्षमाप्रार्थी

--सच्चिदानन्द चौधरी
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष,
हिन्दी विभाग
त्रिभुवन विश्वविद्यालय,
काठमांडू (नेपाल)

भारतीय सहायता मिशन,काठमांडू
सुखरात्रि, २०२२ वि० संवत्

भूमिका

आज हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत रस की चर्चा अत्यधिक हो रही है। जहाँ एक ओर चर्चा और समीक्षा के क्षेत्र में उसकी व्याप्ति विस्तार प्राप्त कर रही है, वहीं कविता क्षेत्र में रस को अपदस्थ करने का संकल्प और कार्य भी आज का नया कवि कर रहा है। ऐसी स्थिति में आवश्यक यह हो जाता है कि या तो हम रस की चर्चा करना ही छोड़ दें अथवा रस की स्थिति पर अधिक गंभीरता, व्यावहारिकता और तटस्थता से विचार करें। अपने प्राचीन साहित्य और उसकी परम्परागत भावना के प्रसंग में रस का एक विशिष्ट महत्त्व रहा है। न केवल काव्यशास्त्र के आद्य ग्रंथ भरत मुनिकृत 'नाट्यशास्त्र' के अन्तर्गत रस एक प्रमुख प्रतिपाद्य तत्त्व है जिसे भारतीय नाट्य परम्परा में भी नाटक का मूल उद्देश्य स्वीकार किया गया है, वरन् भारतीय काव्यशास्त्र के भीतर भी 'काव्य की आत्मा' के अन्वेषण के प्रसंग में भी रस को ही प्रमुखतया काव्यात्मा के रूपमें स्वीकार किया गया है। रसवादियों के द्वारा ही नहीं, ध्वनि के पुरस्कर्त्ता आनन्दवर्धन ने भी 'काव्यस्यात्मा स एवार्थः 'कहकर रस को ही आत्मा मानने में अपनी सहज आस्था प्रकट की है।

इसके अतिरिक्त मध्यकाल में न केवल काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में रस को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया, वरन् कविता-ग्रंथों की भी मूल प्रवृत्ति रस-रसांग की सृष्टि रही है। इसका परिणाम यह रहा कि किसी भी महत्त्वपूर्ण प्राचीन कृति की विवेचना सरलता से रस के आधार पर की जा सकती है और उन कृती-कवियों को रस की कसौटी पर काव्य-कृति के कसी जाने पर कोई भी आपत्ति नहीं थी। अनेक हिन्दी और संस्कृत की आलंकारिक रचनाओं में हम उन शब्दों को समाविष्ट पाते हैं जो मूलतः रस के उदाहरण हैं। इस प्रवृत्ति से मध्ययुग के आचार्यों और कवियों की रस के प्रति मनोवृत्ति स्पष्ट होती है।

परन्तु आधुनिक काल के अद्यतन काव्य में स्थिति बदल गयी है। आज की कविता का रस के आधार पर विवेचन करने से उसमें कई प्रकार के दोष दिखलायी पड़ते हैं और ऐसा लगता है कि रस के आधार पर विवेचना करने से इन रचनाओं की मुख्य विशेषता स्पष्ट नहीं हो पाती। अतः विवेचक को सोचना पड़ता है कि इसके लिए क्या किसी दूसरी कसौटी की आवश्यकता है? पर, बात यहीं समाप्त नहीं होती। स्वयं आज का कवि रस आदि पुराने काव्य-सिद्धान्तों के आधार पर अपनी रचना की समालोचना किया जाना बर्दाश्त नहीं करता। अपनी कृति को

नयी कविता, नवकाव्य आदि कहने का उसका यह मुखर संकेत है कि उसे आज के नये मानदण्ड के आधार पर विवेचित किया जाना चाहिए। जिस नवीन मानदण्ड की ओर उसका संकेत दिखलायी पड़ता है, वह नयी जीवन-चेतना और मनोविश्लेषण मूलतः है।

ऐसी दशा में हमारे सामने एक विषम समस्या के साथ-साथ एक महत्त्वपूर्ण सुझाव भी प्रस्तुत होता है। प्राचीन रस-सिद्धान्त अपनी सीमाओं में घिरा है। उसे आधुनिक मनोविज्ञान और उसके अनुसंधानों के आलोक में देखना होगा। मनोविज्ञान और रस का कोई विरोध नहीं है। रस के अन्तर्गत भी अनेक प्रकार के मनोभावों का निरूपण होता है और मनोविज्ञान भी मानव के मनोगत क्रिया-कलापों का विश्लेषण करता है। इन मनोगत क्रिया-कलापों का अनन्त विस्तार हो सकता है और हमारे प्राचीन रस-सिद्धांत में निरूपित मनोभाव उनमें से कुछ आंशिक क्रिया-कलाप हैं। अतः हमें आज सोचना चाहिए कि मनोविज्ञान द्वारा विश्लेषित मनो-भावों, मनोवृत्तियों, सहजवृत्तियों और प्रवृत्तियों में कितने हैं जो रस के अन्तर्गत रखे जा सकते हैं ? इस प्रश्न के अन्तर्गत हमें यह भी सोचना होगा कि क्या हम पूर्वनिरूपित समस्त रसों तक ही अपने को सीमित रखें और क्या हम पूर्व निरूपित समस्त रसों को आज भी स्वीकार करें ? उदाहरण के लिए हमारे समक्ष बीभत्स रस का प्रश्न है। प्राचीनकाल से आजतक बीभत्स रस का वर्णन उच्च साहित्य में बहुत कम हुआ है। ऐसी दशा में बहुत से लोगों का यह मत है कि इसे रसों के अन्तर्गत रखना बहुत संगत नहीं। परन्तु बीभत्स की व्याख्या थोड़ी बदल देने से हम देखेंगे कि आज की बहुत सी रचनायें इस रस के भीतर रखी जा सकती है। यदि हम बीभत्स रस के अन्तर्गत समाज के प्रति व्यक्तियों के अशोभन व्यापारों के लिए प्रकट भावना को रखें, तो इसका एक व्यापक प्रभाव स्वीकार किया जा सकता है और ऐसी दशा में स्थायीभाव हमारी ऐन्द्रिक जुगुप्सा या घृणा न होकर मानसिक जुगुप्सा या क्षोभ होगा। जैसे कोई व्यक्ति चोर-बाजारी करता है, जुआ खेलता है या चोरी करता है, तो उसको हम अपनी आँखों से देखना नहीं चाहते और न उसके निकट रहना ही चाहते है। बीभत्स रस के लिए इसी प्रकार की जुगुप्सा भावना को स्वीकार करना होगा। इसी प्रकार रौद्र और वीर ये दोनों रस अलग-अलग मानना भी कठिन होता है। प्रत्येक वीर में रौद्र का और रौद्र में वीर का समावेश रहता है, ऐसी दशा में युद्धवीर का यह एक भेद है यही मानना अधिक समीचीन ठहरता है। इसी प्रकार दानवीर के स्थान पर आज की दृष्टि से 'त्यागवीर' अधिक उपयुक्त है।

इसी प्रकार भक्तिरस के अन्तर्गत केवल दास्य स्थायी-भाव से प्रसूत रस को स्वीकार करना चाहिए। वात्सल्य को अलग रस मानकर उसके आलम्बनगत लौकिक और अलौकिक—ये दो भेद करना अधिक ठीक रह सकता है। शृङ्गार रस के भी हम

शान्त तो अलग रस है ही, अतः भक्ति का शान्त भाव उसमें सहज ही समाविष्ट हो सकता है। सख्य एकभाव मात्र है, इसे स्वतन्त्र रस की स्थिति देने वाले उदाहरण अभी तक तो साहित्य में प्राप्त नहीं होते।

शृङ्गार और वात्सल्य—दोनों ही रसों के दो पक्ष—संयोग और वियोग लिये जा सकते हैं। इन दोनों रसों के दोनों पक्षों के प्रभूत उदाहरण हमारे साहित्य में उपलब्ध होते हैं।

राष्ट्रीयता के आधार पर किसी अलग रस को मानने की आवश्यकता नहीं। यह वीर रस का ही एक भेद है और राष्ट्रीयता के अधिकांश रूप त्यागवीर, युद्ध-वीर और रौद्र के भीतर समाविष्ट हो सकते हैं। रस के उपर्युक्त वर्गीकरण की दृष्टि से हमें थोड़ा-बहुत उनके स्थायीभावों और उनकी विशेषताओं के निरूपण में कुछ विस्तार, संकोच या परिवर्तन अपेक्षित होगा जिसे स्वीकार करने में हमारे रसवादी आचार्यों को कोई विशेष आपत्ति नहीं हो सकती।

परन्तु इस समस्या का एक और पक्ष भी है—वह यह कि क्यों न हम रस को छोड़कर काव्य में प्रकट भावों या अनुभूति पर ही विचार करें? मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह अधिक समीचीन हो सकता है। मनोविज्ञान के मूलभूत भावों को मुख्य भाव मानते हुए, अन्यों को हम गौण या आनुषंगिक भावों के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। पर, यहाँ पर मेरा अपना विचार यह है कि मनोविज्ञान-द्वारा स्वीकृत सहज वृत्तिमात्र ही हमारे भाव नहीं हैं। अपने रसशास्त्र के तैंतीस संचारियों के प्रकाश में मनोविज्ञान द्वारा निरूपित मूल वृत्तियों का विवेचन करके हमें भावों की संख्या और स्वरूप निश्चित करना आवश्यक हो गया है। न हम अब केवल तैंतीस भावों में ही बँधकर चल सकते हैं और न अभी तक मनोविज्ञान द्वारा निश्चित की गयी मूल चौदह सहज वृत्तियों को ही पूर्णतया इसके लिए आधार बना सकते हैं। काव्य और साहित्य में वर्णित तथा मनोविज्ञान द्वारा अनुमोदित हमें मूल तथा मुख्य मानव-मनोभावों की संख्या और स्वरूप निश्चित करना होगा, यह हमारे आज के युग की मांग है।

इस माँग पर गहराई और नवदृष्टि से विचार करने के पहले हिन्दी काव्य-शास्त्र के अन्तर्गत रस-सिद्धान्त का निरीक्षण और विवेचन करना आवश्यक है। मुझे यह प्रकट करते हुए प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है कि डा० सच्चिदानन्द चौधरी ने इसी विषय को लेकर राँची विश्वविद्यालय के अन्तर्गत पी—एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। मैंने इस ग्रन्थ को आद्योपान्त देखा है और मेरा विचार है कि हिन्दी काव्यशास्त्र के अन्तर्गत रस से सम्बन्धित विभिन्न विचार-धाराओं का इस ग्रंथ में सम्यक् अनुशीलन किया गया है। न केवल प्राचीन हिन्दी काव्यशास्त्र के भीतर प्राप्त रस-ग्रन्थों का इसमें विवेचन हुआ है, वरन् आधुनिक आचार्यों और लेखकों के रस-सम्बन्धी विचारों का आकलन करने का प्रयत्न इस ग्रन्थ में किया

गया है । इस अनुशीलन में लेखक ने अपनी प्रौढ़ विवेचन-दृष्टि को तो स्पष्ट किया ही है, साथ-ही-साथ अपने संस्कृत साहित्य के गम्भीर अध्ययन का प्रमाण भी दिया है । अतः यह कहने में मुझे कोई संकोच नहीं कि यह एक प्रौढ़ अध्ययन है। मुझे यह देखकर प्रसन्नता है कि ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। मेरा विश्वास है कि इस ग्रन्थ का समुचित स्वागत और उपयोग होगा; साथ-ही-साथ मैं लेखक से यह आशा करता हूं कि वह इस प्रकार के अपने अध्ययन-क्रम को आगे भी चालू रक्खेगा ।

—भगीरथ मिश्र

पूना विश्वविद्यालय
विजयादशमी, १९६५

गया है। इस अनुशीलन में लेखक ने अपनी प्रौढ़ विवेचन-दृष्टि को तो स्पष्ट किया ही है, साथ-ही-साथ अपने संस्कृत साहित्य के गम्भीर अध्ययन का प्रमाण भी दिया है। अतः यह कहने में मुझे कोई संकोच नहीं कि यह एक प्रौढ़ अध्ययन है। मुझे यह देखकर प्रसन्नता है कि ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। मेरा विश्वास है कि इस ग्रन्थ का समुचित स्वागत और उपयोग होगा; साथ-ही-साथ मैं लेखक से यह आशा करता हूं कि वह इस प्रकार के अपने अध्ययन-क्रम को आगे भी चालू रक्खेगा।

—भगीरथ मिश्र

पूना विश्वविद्यालय
विजयादशमी, १९६५

शरदिन्दु-सुन्दर-रुचिश्चेतसि सा मे गिरां देवी ।
अपहृत्य तमः सन्ततमर्थानखिलान् प्रकाशयतु ।।

संकेत-सारिणी

ई०	– ईस्वी	म० वि०	– महेश्वर विलास
उ० नी० म०	– उज्ज्वलनीलमणि	या० सं०	– याज्ञिक संग्रहालय
उ० वि०	– उत्तर विभाग	र० त०	– रसतरंगिणी
औ० वि० च०	– औचित्यविचारचर्चा	र० पी० नि०	– रसपीयूषनिधि
क० प्रि०	– कविप्रिया	र० प्रि०	– रसिकप्रिया
क०कु० क०त०	– कविकुलकल्पतरु	र० क०	– रसकल्लोल
क० र० वि०	– कविता रस विनोद	र० वि०	– रसिकविनोद
का० प्र०	– काव्य प्रकाश	र० र०	– रसरहस्य
का० सु०	– काव्य सुधाकर	रा० च० शु०	– रामचन्द्र शुक्ल
तु०	– तुलनार्थ	ल०	– लहरी
द० वि०	– दक्षिण विभाग	व० जी०	– वक्रोक्तिजीवित
ध्व०	– ध्वन्यालोक	वाक्य०	– वाक्यपदीय
ना० प्र० स०	– नागरी प्रचारिणी सभा	शृं० वि०	– शृंगार विलास
ना० शा०	– नाट्यशास्त्र	सं०	– संवत्
नि० स० प्रे०	– निर्णय सागर प्रेस	सा० द०	– साहित्य दर्पण
प० वि०	– पश्चिम विभाग	ह० भ० र० सि०	– हरिभक्तिरसामृतसिन्धु
प० सं०	– पद संख्या	ह० लि०	– हस्तलिखित
प्र० रू० य०	– प्रतापरुद्रयशोभूषण	हि० त०	– हिततरंगिणी
पृ०	– पृष्ठ	हि०सा०का०इति०	– हिंदी साहित्य का इतिहास
भा० सा०	– भारतीय साहित्यशास्त्र	हि०का०शा०का इ०	– हिंदी काव्य शास्त्र का इतिहास



विषयानुक्रम



संकेत-सारिणी

ई०	– ईस्वी	म० वि०	– महेश्वर विलास
उ० नी० म०	– उज्ज्वलनीलमणि	या० सं०	– याज्ञिक संग्रहालय
उ० वि०	– उत्तर विभाग	र० त०	– रसतरंगिणी
औ० वि० च०	– औचित्यविचारचर्चा	र० पी० नि०	– रसपीयूषनिधि
क० प्रि०	– कविप्रिया	र० प्रि०	– रसिकप्रिया
क०कु० क०त०	– कविकुलकल्पतरु	र० क०	– रसकल्लोल
क० र० वि०	– कविता रस विनोद	र० वि०	– रसिकविनोद
का० प्र०	– काव्य प्रकाश	र० र०	– रसरहस्य
का० सु०	– काव्य सुधाकर	रा० च० शु०	– रामचन्द्र शुक्ल
तु०	– तुलनार्थ	ल०	– लहरी
द० वि०	– दक्षिण विभाग	व० जी०	– वक्रोक्तिजीवित
ध्व०	– ध्वन्यालोक	वाक्य०	– वाक्यपदीय
ना० प्र० स०	– नागरी प्रचारिणी सभा	शृं० वि०	– शृंगार विलास
ना० शा०	– नाट्यशास्त्र	सं०	– संवत्
नि० स० प्रे०	– निर्णय सागर प्रेस	सा० द०	– साहित्य दर्पण
प० वि०	– पश्चिम विभाग	ह० भ० र० सि०	–हरिभक्तिरसामृतसिन्धु
प० सं०	– पद संख्या	ह० लि०	– हस्तलिखित
प्र० रू० य०	– प्रतापरुद्रयशोभूषण	हि० त०	– हिततरंगिणी
पृ०	– पृष्ठ	हि०सा०का०इति०	–हिंदी साहित्य का इतिहास
भा० सा०	–भारतीय साहित्यशास्त्र	हि०का०शा०का इ०	– हिंदी काव्य शास्त्र का इतिहास



विषयानुक्रम



षष्ठ अध्याय : रीति काव्य-शास्त्र में रस के उपकरण : ऐतिहासिक अध्ययन २५६-४०३



प्रस्तावना

अपने अध्ययन और अध्यापन की सुदीर्घ अवधि में भारतीय काव्यशास्त्र की जितनी गहराई में मैं प्रवेश करता गया, रस-सिद्धान्त की नित्यनूतनता और शाश्वतिकता की धारणा मुझमें बद्धमूल होती गई। साथ ही संस्कृत और हिन्दी के प्राचीन तथा अर्वाचीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के अवलोकन से मुझे ऐसा भासित हुआ कि अपने देश की लगभग दो सहस्त्र वर्षों की रस-मीमांसा में चिन्तना का मूल प्रवाह तो एक है किन्तु काल के सम-विषम शिलाखंड पर वह रूप-वैविध्य को प्राप्त करता रहा है। स्वभावतः रस-शास्त्र के विशेष अध्ययन की अभिरुचि मुझमें जगी और शोध-प्रबन्ध के रूप में उसकी परिणति होकर ही रही।

मैंने हिन्दी के रस-शास्त्र को मुख्यतः अपने अनुसन्धान का क्षेत्र चुनने की योजना बनायी। पर आरम्भ से ही रस-सिद्धान्त की व्यापकता के कारण मुझे पूरा सन्देह था कि इस विषय पर अनेक ग्रंथ लिखे जा चुके हैं और प्रायः मेरे लिए कुछ शेष नहीं है। इसी धारणा से प्रवृत्त होकर हिन्दी में लिखे समस्त काव्यशास्त्रीय शोध-प्रबन्धों को टटोलने का मैंने प्रयास किया। मैंने पाया कि अभी तक केवल रस-दृष्टि से समस्त रीतिकालीन और आधुनिक काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का एकत्र अध्ययन नहीं हुआ है। डा० भगीरथ मिश्र का "हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास" नामक शोध-प्रबन्ध, जैसा कि नाम से भी स्पष्ट है, सैद्धान्तिक निरूपणा की दृष्टि से नहीं लिखा गया है, प्रत्युत इस महत्वपूर्ण ग्रंथ में काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों और आचार्यों का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। डा० रमाशंकर शुक्ल "रसाल" के "अलंकार-पीयूष" और डा० ओमप्रकाश के "हिन्दी अलंकार-साहित्य" नामक ग्रन्थों में सैद्धान्तिक निरूपण तो है किन्तु उनका सम्बन्ध अलङ्कार-विधान से है, रस-विधान से नहीं। डा० नगेन्द्र ने "देव और उनकी कविता" नामक शोध-ग्रन्थ में अपनी अध्ययन-सीमा रीतिकाल के अन्यतम अचार्य देव तक ही रखी है और पृष्ठभूमि के रूप में रीतिकालीन काव्यशास्त्र पर व्यापक दृष्टि से विहंगम दृष्टि भी डाली है। इधर हाल में डा० विजयपाल सिंह लिखित "केशव और उनका साहित्य", डा० नारायण दास खन्ना लिखित "आचार्य भिखारी दास", डा० महेन्द्रकुमार रचित "मतिराम कवि और आचार्य", डा० त्रिभुवन सिंह लिखित "महाकवि मतिराम" नामक शोध-प्रबन्ध प्रकाशित हुए हैं। इन सभी अनुसन्धायकों ने मात्र एक आचार्य को अपने शोध का विषय बनाया है तथा उनके आचार्यत्व पर भी व्यापक दृष्टिकोण

से विवेचन किया है। व्यापक दृष्टिकोण से मेरा तात्पर्य किसी एक अध्याय में उनके द्वारा निरूपित रस, अलंकार, ध्वनि, नायिकाभेद, छंद आदि विविध काव्यांगों के विवेचन-प्रयास से है। प्रभुदयाल मीतल और डा० छैलबिहारी गुप्त ने ब्रजभाषा कवियों के नायिका-भेद पर काम किया है किन्तु उनकी अध्ययन-दिशा भी स्पष्टतः मुझसे भिन्न है। डा० सत्यदेव चौधरी ने "हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य" नामक शोध-प्रबन्ध में रीति काल के अनेकांग-निरूपक पांच आचार्यों—चिन्तामणि, कुलपति, सोमनाथ, भिखारीदास, प्रतापसाहि—का अध्ययन किया है। पर इन्होंने भी इन आचार्यों के दशविध काव्यांगों को अपने अध्ययन का विषय बनाया है। यह ठीक है कि आपने इन दशविध काव्यांगों में रस को भी एक काव्यांग के रूप में अधीत किया है तथापि आपकी सीमा मात्र पांच आचार्यों तक ही रही है। इधर करुण रस और हास्य रस को लेकर भी क्रमशः ब्रजवासी लाल श्रीवास्तव और बरसाने लाल चतुर्वेदी ने दो शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत किए हैं; किन्तु इनकी अध्ययन-सीमा मात्र एक रस तक ही रही है और उसमें भी सिद्धान्त-पक्ष की अपेक्षा व्यवहार-पक्ष पर ही अधिक ध्यान है। डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित लिखित "रस-सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण" नामक ग्रन्थ का प्रकाशन "राजकमल प्रकाशन" संस्था से हुआ है। इस ग्रन्थ में संस्कृत रस-शास्त्र का ही विशद अध्ययन किया गया है। हिन्दी के रस-ग्रन्थों का सैद्धान्तिक अध्ययन इन्होंने भी नहीं किया है। हिन्दी की आधुनिक कविता की विभिन्न प्रवृत्तियों और वादों के परिप्रेक्ष्य में रस-सिद्धान्त को रखने का प्रयास है किन्तु रीतिकाल और आधुनिक काल के रसग्रन्थों का स्पर्श भी नहीं किया गया है। फलतः काव्यशास्त्रीय विषयों से सम्बद्ध उपर्युक्त सभी शोध-प्रबन्धों से मेरा कार्य भिन्न कोटि का है। इतना अवश्य कि इन ग्रन्थों से मुझे प्रेरणा मिली है और समय-समय पर दिशा-निर्देश भी। एक शोधार्थी का इतना तो जन्मसिद्ध अधिकार भी है।

मेरा विश्वास है कि हिन्दी काव्यशास्त्र में रस-सिद्धान्त के विभिन्न अंगों का रीतिकाल और आधुनिक काल के विराट् ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में प्रथम अध्ययन मैंने ही किया है। यह कोई गर्वोक्ति नहीं, वस्तुसत्य है। मैंने इस शोध प्रबन्ध में रीतिकाल के २३ आचार्यों को और आधुनिक काल के १० आचार्यों को रस-शास्त्रीय अध्ययन के लिए चुना है तथा उनके ग्रन्थों के आधार पर रस के सभी अंगों का ऐतिहासिक क्रमानुसार अध्ययन कर उसकी परीक्षा भी की है। पीठिका के रूप में संस्कृत के परम्परागत रस-शास्त्र और गौड़ीय वैष्णव रस-शास्त्र का अध्ययन भी मैंने प्रस्तुत किया है। अतएव मेरे शोध-प्रबन्ध की नवीनता निःसन्दिग्ध है।

इस प्रबन्ध में कुल आठ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में संस्कृत काव्य-शास्त्र का ऐतिहासिक विकास प्रस्तुत किया गया है। चूंकि हिन्दी काव्य-शास्त्र का प्रेरणा-स्रोत ही नहीं बल्कि मूलाधार ही संस्कृत काव्य-शास्त्र रहा है, अतएव उसके

ऐतिहासिक विकास की रूपरेखा वांछित है। इस अध्याय में दो खण्ड हैं। प्रथम खण्ड के अन्तर्गत संस्कृत काव्यशास्त्र के पूर्ववर्ती आचार्यों—भरत, भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, रुद्रट, आनन्दवर्द्धन और कुन्तक का काल, कृतित्व और विषय-व्याप्ति आदि की दृष्टि से अध्ययन किया गया है। द्वितीय खण्ड के अन्तर्गत संस्कृत काव्य-शास्त्र के परवर्ती आचार्यों अभिनवगुप्त, धनंजय, भोज, क्षेमेन्द्र, मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, भानुदत्त और जगन्नाथ का भी काल, कृतित्व और विषयव्याप्ति की दृष्टि से अध्ययन हुआ है। इस अध्याय में मैंने कोई मौलिक अनुसन्धान तो नहीं किया है, पर इनके सिद्धान्त-ग्रन्थों, टीकाओं तथा इन पर लिखे संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी के ग्रंथों को पढ़कर इनके आचार्यत्व के स्पष्ट प्रतिपादन का प्रयास किया है। इस अध्ययन में भी प्राय: मेरी रस-दृष्टि कभी दबने नहीं पाई है।

द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत संस्कृत काव्य-शास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायों के उद्भव, विकास और पारस्परिक सम्बन्ध का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि रस-सिद्धान्त के अनुसन्धान-क्रम में रस-सम्प्रदाय के अतिरिक्त अन्य काव्य-सम्प्रदायों का अध्ययन आपातत: असंगत-सा लगता है किन्तु सभी काव्य-सम्प्रदायों में किसी न किसी रूप में रस-सिद्धान्त के निवेश को ध्यान में ध्यान रख कर ही मैंने यह सागर-उलीचने-जैसा प्रयास किया है। वस्तुत: सभी काव्य-सम्प्रदायों के अध्ययन के द्वारा ही रस-सम्प्रदाय के महत्त्व और व्यापकता को मैं निर्दिष्ट भी कर सका हूं। रस-सिद्धान्त की विभिन्न अवस्थाओं का अवगत भी इस अध्ययन से सम्भव हुआ है। प्रत्येक काव्य-सम्प्रदाय के उद्भव और विकास की लम्बी कहानी में भले ही मैंने अपनी ओर से अत्यल्प निवेदन किया हो, पर अन्य-सम्प्रदायों से उसके सम्बन्ध स्थापन में मैंने अपनी ओर से बहुत-कुछ कहा है। परिणामत: इस अध्याय की आंशिक मौलिकता का प्रतिवाद नहीं किया जा सकता है।

"संस्कृत साहित्य में रस-शास्त्र" नामक तृतीय अध्याय में संस्कृत में निर्दिष्ट रस-स्वरूप, रस-निष्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्त, साधारणीकरण, रसोपकरण, रसभेद आदि विषयों का अतिसंक्षिप्त अध्ययन किया गया है। इस अध्ययन के द्वारा आगामी अध्यायों में अधीत किए गए हिन्दी के रस-शास्त्रीय विषयों के तुलनात्मक अध्ययन की पीठिका निर्मित की गई है। संस्कृत के विशाल रस-शास्त्र में से मैंने केवल उन्हीं आचार्यों की मान्याएं मुख्यत: संकलित की हैं जिनका प्रभाव हिन्दी रस-शास्त्र पर पड़ा है। ऐसे आचार्य हैं—मम्मट, विश्वनाथ, भानुदत्त और विद्यानाथ। विषय-संकलन और प्रतिपादन की स्पष्टता ही इस अध्याय की मुख्य विशेषताएं हैं।

चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत "गौड़ीय वैष्णव साहित्य शास्त्र की परम्परा और रस-सिद्धान्त का" अध्ययन किया गया है। हिन्दी के रस-शास्त्र को जिस प्रकार परम्परागत संस्कृत रस-शास्त्र ने प्रभावित किया है, उसी प्रकार संस्कृत में लिखित गौड़ीय वैष्णव रस-शास्त्र ने भी। अतएव इसके विशद अध्ययन की अनिवार्यता

खंडित नहीं की जा सकती। इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत रस-स्वरूप, भक्ति रस में परम्परागत रसों का अन्तर्भाव, भक्ति-रस-भेद आदि विषयों के अध्ययन के साथ ही इसके प्रेरणा-स्रोत और उद्भव-विकास पर भी मैंने प्रकाश डाला है। अतः इस अध्याय को मेरे शोध का मौलिक अंश ही मानना चाहिए। अभी तक हिन्दी के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में गौड़ीय रस-सम्प्रदाय का अध्ययन दो-चार अनुच्छेदों या पृष्ठों में ही हुआ था। डा० एस० के० दे ने अपनी "वैष्णव फेथ एन्ड मुवमेन्ट" नामक पुस्तक में इस विषय का अपेक्षाकृत विस्तार पूर्वक अध्ययन किया है। तथापि विषय प्रतिपादन का माध्यम अंग्रेजी होने के कारण तथा रूपगोस्वामी के "हरिभक्तिरसामृत सिन्धु" और "उज्ज्वल-नीलमणि" के मूल उद्धरणों के अनुल्लेख के कारण, मेरे इस अध्ययन को नवीन ही मानना चाहिए। इसके अतिरिक्त, प्रतिपाद्य विषय के विस्तार और गहराई की दृष्टि से भी मेरे अध्ययन की भिन्नता निःसन्दिग्ध है। प्रेरणा-स्रोत और निष्कर्ष के अंश तो सर्वथा मौलिक हैं।

पंचम अध्याय में हिन्दी काव्य-शास्त्र के संक्षिप्त इतिहास के साथ साम्प्रदायिक वर्गीकरण का भी प्रयास है। यद्यपि काव्य-शास्त्र का इतिहास विभिन्न इतिहास ग्रन्थों और खोजरिपोर्टों के आधार पर लिखा गया है तथापि कई आचार्यों के काल-निर्धारण में उनके मूलग्रन्थों से भी सहायता ली गई है। जहां इतिहासकारों से मेरा मतभेद रहा है, मैंने स्पष्ट निर्देश कर दिया है। अर्वाचीन काव्यशास्त्रीय शोधप्रबंधों का निर्देश तो इस अध्याय का सर्वथा नवीन अंश है। वर्गीकरण की दिशा में ग्रंथों के वर्गीकरण की अपेक्षा आचार्यों की मान्यताओं के आधार पर उनका साम्प्रदायिक वर्गीकरण ही मैंने श्रेयस्कर माना है। आधुनिक काल में साम्प्रदायिक वर्गीकरण संभव नहीं है—अतएव ग्रन्थों का ही वर्गीकरण किया गया है। जो हो, पंचम अध्याय का अंश निस्सन्देह मौलिक है।

मेरे शोध-प्रबन्ध के षष्ठ और सप्तम अध्याय सर्वथा मौलिक एवं महत्वपूर्ण हैं—क्योंकि इन्हीं दोनों अध्यायों में हिन्दी रस-शास्त्र के प्राचीन और अर्वाचीन ग्रंथों का रस-दृष्टि से पहली बार अध्ययन किया गया है। षष्ठ अध्याय में १७०० विक्रम संवत् से लेकर १९५० विक्रम संवत् के बीच होने वाले २३ आचार्यों के रसग्रन्थों के आधार पर रस के स्वरूप, रस के उपकरण, रस-भेद, रस-दोष आदि विषयों का ऐतिहासिक एवं सैद्धान्तिक अध्ययन किया गया है। अनुसंधेय आचार्यों के नाम इस प्रकार हैं—केशव, चिन्तामणि, तोष, मतिराम, कुलपति मिश्र, देव, कुमारमणिभट्ट, सोमनाथ, भिखारीदास, रसलीन, रूपसाहि, शिवनाथ, जनराज, उजियारे कवि, पद्माकर, बेनी प्रवीन, करनकवि, प्रतापसाहि, चन्द्रशेखर वाजपेयी, ग्वालकवि, रसिक बिहारी, नन्दराम और लछिराम। इस अध्याय के द्वितीय खंड में नायक-नायिका-भेदों के निरूपण-प्रसंग में कृपाराम, कविराज सुन्दर, सूरदास, नन्ददास, रहीम और उदयनाथ—इन छः अतिरिक्त आचार्यों के ग्रन्थों का भी अध्ययन किया गया है।

इस प्रकार षष्ठ अध्याय के द्वितीय खंड के अधीत आचार्यों की संख्या २९ तक पहुंच गई है। अध्ययन-क्रम में इन आचार्यों के पूर्वापरत्व का निर्धारण भी काल-क्रमानुसार ही किया है। इनके रसग्रन्थों की तालिका और रचना-काल पंचम अध्याय में ही दे दिए गए हैं।

यों इस अध्ययन-क्रम में और भी रीतिकालीन दस-बीस आचार्य समाविष्ट किए जा सकते थे, किन्तु न तो उनका अधिक महत्व ही है और न मुझे सुलभतया उनके ग्रंथ ही उपलब्ध हो सके। तथापि काव्य-सिद्धान्त के प्रणेता आचार्य सूरति मिश्र, काव्य-सरोज के रचयिता श्रीपति तथा रसिकगोविन्दानन्दघन के लेखक रसिकगोविन्द जैसे महत्त्वपूर्ण आचार्यों के रस-विषयों का समावेश न कर सकने का पर्याप्त खेद मुझे अभी भी है। इन ग्रंथों की उपलब्धि मुझे प्रयास के अनन्तर भी न हो सकी। सूरति मिश्र का काव्यसिद्धान्त टीकमगढ़ के सवाई महेन्द्र पुस्तकालय में सुरक्षित है, पर वहाँ तक मेरी पहुंच न हो सकी। श्रीपति के काव्य-सरोज की हस्तलिखित प्रति पं० कृष्ण विहारी मिश्र के गंधौली-स्थित पुस्तकालय, लखनऊ में सुरक्षित है। मिश्र जी के सुपुत्र श्री ब्रजकिशोर मिश्र जी को मैंने एतदर्थ पत्र लिखा किन्तु दुर्भाग्यवश उत्तर भी प्राप्त न हो सका। पता नहीं, इसके लिए कौन उत्तरदायी है-- डाक विभाग का भूत, मेरा दुर्भाग्य या मिश्र जी की गजनिमीलिका। रसिकगोविन्द के रसिक गोविन्दानन्दघन के सम्बन्ध में छान-बीन करने पर हिन्दू विश्वविद्यालय के अवकाश-प्राप्त प्राध्यापक पं० बलदेव उपाध्याय जी से ज्ञात हुआ कि काशी के पं० चुन्नी लाल जी वैद्य के यहां इसकी हस्तलिखित प्रति उपलब्ध है। इसी प्रति के आधार पर आपने "रसिक गोविन्द और उनकी कविता" नामक पुस्तक भी लिखी थी। पर इस हस्तलिखित प्रति की प्राप्ति में भी मैं विफल ही रहा। इस प्रसंग में एक बात का निवेदन कर देना मैं आवश्यक समझता हूं, वह यह कि डा० भगीरथ मिश्र के 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास' (पृ० १७२-फुटनोट) और डा० नगेन्द्र के द्वारा सम्पादित 'हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास', षष्ठ भाग (पृ० १७५) के आधार पर मुझे ज्ञात हुआ था कि रसिकगोविन्द का रसिकगोविन्दानन्दघन नागरी प्रचारिणी, वाराणसी के द्वारा प्रकाशित हो चुका है अथवा सभा के संग्रहालय में उसकी हस्तलिखित प्रति विद्यमान है। पर सभा-पुस्तकालय और उसके प्रकाशन विभाग में जांच-पड़ताल करने पर दोनों ही बातें निराधार सिद्ध हुईं और उपर्युक्त ग्रन्थों की सूचना को प्रमादात्मक स्वीकार करने को मुझे वाध्य होना पड़ा। इन्हीं प्रतिबन्धकों के कारण मेरा अध्ययन रीतिकाल के तेईस आचार्यों तक ही सीमित रहा।

षष्ठ अध्याय की अध्ययन-सामग्री को सात खंडों में विभाजित किया गया है—(१) रस-स्वरूप और अभिव्यक्ति (२) विभाव: नायक नायिका-भेद (३) अनुभाव और संचारी भाव (४) स्थायी भाव (५) रस के भेद (६) रस-दोष (७) मौलिकता का अन्वेषण। प्रत्येक खंड में उपर्युक्त आचार्यों के रस-ग्रन्थों के आधार

पर रस-सामग्री का पृथक्-पृथक् उल्लेख कर (चाहे जिस रूप में उपलब्ध हो—संक्षिप्त या विस्तृत) उसकी परीक्षा भी की गई है। ये कहां तक संस्कृत के आचार्यों से प्रभावित हैं और कहां तक अपने पूर्ववर्ती हिन्दी-आचार्यों से, इसे भी यथा प्रसंग दिखाने का प्रयास किया गया है। सातवें खंड अर्थात् "मौलिकता का अन्वेषण"—खंड में इसी तुलनात्मक अध्ययन को समाहृत कर लिया गया है। फलतः किस आचार्य की रस-सामग्री में कितनी मौलिकता है अथवा विवेचन में कितनी बारीकी है–इसका लेखा-जोखा इसी खंड में आकर हुआ है। इस प्रकार षष्ठ अध्याय के सारे खंडों में उपर्युक्त आचार्यों के रस-शास्त्र का ऐतिहासिक अध्ययन और विश्लेषण तो हुआ ही है बल्कि अन्त में आकर इस अध्ययन के आधार पर उनके आचार्यत्व का मूल्यांकन भी हो गया है।

सप्तम अध्याय की काल-सीमा १९५० वि० सं० से लेकर अद्य पर्यन्त मैंने रखी है। इस अवधि में भी छोटे-बड़े अनेक काव्य-समीक्षक हुए हैं। यों अनुसन्धान-कर्त्ता की दृष्टि में कोई लेखक न तो ग्रन्थ के कलेवर की दृष्टि से छोटा या बड़ा होता है और न नाम-यश की दृष्टि से। कभी-कभी तो किसी लेखक का दो पृष्ठों का लेख भी शोध-कर्ता के लिए महत्वपूर्ण हो जाता है। फिर भी मेरे अध्ययन की अपनी सीमा है। मैंने केवल उन्हीं समीक्षकों का अध्ययन किया है, जिन्होंने रस-सिद्धान्त की दृष्टि से कुछ भी विवेचन किया है, चाहे परम्परागत विचारों का ही पिष्टपेषण किया हो या कुछ विचारोत्तेजक अभिनव बातें कही हों। ऐतिहासिक दृष्टि से सामग्री जुटाने वालों के लिए दोनों कोटियों के समीक्षक महत्वपूर्ण है। अतएव इस अध्याय में केवल दश आचार्यों के ग्रन्थों का ही अध्ययन हुआ है :—जगन्नाथ प्रसाद 'भानु', अयोध्या सिंह उपाध्याय, कन्हैयालाल पोद्दार, बिहारी लाल भट्ट, रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दर दास, रामदहिन मिश्र, गुलाबराय, लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' और नगेन्द्र। पं० बलदेव उपाध्याय और प० विश्वनाथ प्रसाद जैसे विद्वन्मनीषियों के ग्रन्थों का समावेश मैंने सकारण नहीं किया है। उपाध्याय जी के भारतीय काव्य-शास्त्र के दो खण्ड संस्कृत के आचार्यों तक ही अध्ययन में सीमित हैं। अतएव आपको मैंने हिन्दी काव्य-शास्त्र का प्रतिनिधि आचार्य नहीं माना है। वस्तुतः आप हिन्दी के माध्यम से प्रकाश में आने वाले संस्कृत काव्यशास्त्र के समीक्षक हैं। मिश्र जी के रस-सम्बन्धी मौलिक विचार उनके द्वारा सम्पादित ग्रन्थों की भूमिकाओं में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। उनके भाषणों और वार्तालापों में भी मैंने अनेक विचारोत्तेजक अभिनव बातें सुनी हैं; तथापि जब तक उनके सारे विचार ग्रन्थाकार में प्रकाशित न होते हैं, उन पर विचार करना एक दुष्कर कार्य है। आचार्यत्व की कोटि में आसीन रहने पर भी डा० भगीरथ मिश्र के "हिन्दी-काव्य-शास्त्र के इतिहास" को एक इतिहास-ग्रन्थ मान कर ही मैंने उसे अध्ययन का विषय नहीं माना है। अतएव सप्तम अध्याय में मेरे अध्ययन की सीमा उक्त दश समीक्षकों या आचार्यों तक ही रही है।

सप्तम अध्याय के अनुसन्धेय विषय भी छः खण्डों में विभाजित हैं—(१) रस का स्वरूप (२) रस के उपकरण (३) साधारणीकरण (४) रसों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन (५) रस के भेद (६) उपलब्धि एवं अभाव का अन्वेषण। दश आचार्यों की रस-सामग्री की समीक्षा-परीक्षा के उपरान्त अन्तिम खण्ड में उनकी मौलिकता का अनुसन्धान भी किया गया है। फलतः अधीत आचार्यों का मूल्यांकन भी हो गया है।

अष्टम अध्याय में उपसंहार प्रस्तुत है। उपसंहार को भी मैंने सामान्यतः तीन खण्डों में बांट कर प्रस्तुत किया है—संस्कृत रसशास्त्र, हिन्दी का रीतिकालीन रस-शास्त्र और अर्वाचीन रस-शास्त्र। इन्हें उपसंहृत कर ही मैंने निष्कर्ष गृहीत किए हैं।

यह शोध-प्रबन्ध आरम्भ से अन्त तक विद्वन्मनीषी श्रद्धेय गुरुवर डा० रामखेलावन पाण्डेय, एम०ए०, डी० लिट्, प्रोफेसर और अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, रांची विश्वविद्यालय, रांची के निर्देशन में लिखा गया है। आपने केवल उचित परा-मर्शों और निर्देशन से ही मुझे उपकृत नहीं किया है, बल्कि अपने व्यक्तिगत पुस्तकालय की अलभ्य पुस्तकों तथा स्वकीय कई रस-शास्त्रीय मौलिक निबन्धों—'काव्यालोचन के दार्शनिक आधार', 'साधारणीकरण' आदि—का भी उपयोग करने की अनुमति प्रदान की है। आपके सहज वात्सल्य और अहेतु की अनुकम्पा का भी मैं चिरभागी हूं। आपका प्रश्रय, निर्देशन और साहाय्य प्राप्त कर इस प्रबन्ध के गूढ़ और जटिल विषयों को भी उसी सारल्य के साथ मैंने साक्षात्कृत किया है—

जथा सुअंजन अंजि दृग साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखत सैल बन भूतल भूरि निधान॥

अतएव कृतज्ञता-ज्ञापन-जैसी हल्की गुरु-दक्षिणा से मैं न तो ऋणमुक्त हो सकता हूं और न होना चाहता हूं।

इस प्रसंग में विद्यावारिधि प्रो० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिन्दी-विभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय के अमित साहाय्य को भी मैं विस्मृत नहीं कर सकता। आपने अपने अमूल्य एवं व्यस्त समय में से भी कुछ क्षण निकाल कर मेरे समस्त प्रबन्ध को 'स्थाली-पुलाक-न्याय' से पढ़ने का कष्ट किया तथा कई सत्परामर्श एवं सुझाव दिए। आपके उदार व्यक्तित्व और प्रकाण्ड पाण्डित्य के दिग्दर्शन की क्षमता मेरे तुतले शब्दों में नहीं है। अतएव औपचारिक कृतज्ञता-ज्ञापन के साथ उनके चरणों में श्रद्धावनत होकर ही मैं सन्तुष्ट हूं।

आदरणीय फा० डा० कामिल बुल्के का भी मैं अत्यन्त अनुग्रहीत हूं। इन्होंने अपने व्यक्तिगत पुस्तकालय का द्वार मेरे लिए सदा उन्मुक्त रखा। जब कभी पुस्तकें लौटाने में विलम्ब होने के कारण क्षमा-याचना का बहाना बना कर मैं उनके पास गया तो इन्होंने बदले में मेरे विषय से सम्बद्ध दो-चार अन्य पुस्तकें ही देकर विदा किया। आपके सौजन्य और विद्यानुराग का मैं कायल हूं।

नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी के अधिकारियों—मंत्री, उपमंत्री तथा पुस्तकालयाध्यक्ष—का भी मेरे ऊपर कम आभार नहीं है। सभा के अतिथि-भवन में ठहरने से लेकर प्रकाशित एवं हस्तलिखित अनेक ग्रन्थों के अध्ययन तक की सारी सुविधायें इन्होंने प्रदान कीं। वस्तुतः यदि सभा-संग्रहालय और याज्ञिक संग्रहालय की दुर्लभ हस्तलिखित पुस्तकों के अवलोकन का अवसर मुझे न मिलता तो इस प्रबन्ध की पूर्ति असम्भव थी। अन्य रीतिकालीन पुस्तकों की उपलब्धि भी मुझे वहीं हुई। अतएव विश्वनाथ-नगरी के इस विद्यामन्दिर को—जिसमें वैसे अमूल्य ग्रन्थरत्न सुरक्षित हैं—मेरे शतशः नमन अर्पित हैं।

अन्त में, उन सभी विद्वान ग्रन्थकारों के प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं जिनके ग्रन्थ मेरे विवेच्य रहे हैं, किम्बा जिन्होंने विवेचना की सामग्री दी है।

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष
हिन्दी-विभाग
त्रिभुवन विश्वविद्यालय
काठमाण्डू (नैपाल)

—सच्चिदानन्द चौधरी

१

संस्कृत काव्य-शास्त्र का ऐतिहासिक विकास

काव्य–शास्त्र के विभिन्न पर्याय-वाची शब्द

संस्कृत भाषा में साहित्य और काव्य शब्द समानार्थक माने गये हैं। व्याकरण के उद्‌भट विद्वान् भर्तृहरि ने साहित्य शब्द का प्रयोग काव्य के अर्थ में ही किया है[1]। यहाँ साहित्य शब्द व्यापक अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। वह काव्य का ही बोधक है[2]। परवर्ती युग के अनेक आचार्यों ने अपने काव्य-शास्त्रीय ग्रंथों का नामकरण साहित्य एवं काव्य इन दोनों शब्दों के योग से किया है। यदि एक ओर राजशेखर ने अपने लक्षण-ग्रन्थ का नाम काव्य-मीमांसा, दण्डी ने काव्यादर्श और मम्मट ने काव्य-प्रकाश रक्खा तो दूसरी ओर आचार्य विश्वनाथ ने साहित्य-दर्पण नाम से अपना ग्रंथ रचा। हिन्दी के मध्ययुग और आधुनिक युग में तो ऐसी संज्ञाओं की एक प्रकार से भरमार सी हो गई—साहित्य-सार, साहित्यसागर और भारतीय साहित्यशास्त्र आदि।

काव्य और काव्य-शास्त्र इन दोनों शब्दों के अर्थों को समेट कर अभिव्यक्ति प्रदान करने वाला प्राचीन शब्द वाङ्‌मय है। इस वाङ्‌मय की दो शाखायें मानी गईं—काव्य-शास्त्र और काव्य[3]। काव्य-शास्त्र के लिए संस्कृत भाषा में यत्र-तत्र साहित्य-विद्या शब्द भी उपलब्ध होता है[4]। परवर्ती काल में आकार तो इसके

१. साहित्य-संगीत कला विहीनः साक्षात पशुः पुच्छ-विषाण हीनः।
तृणन्नखादन्नपि जीवमानस्तद् भागधेयं परमं पशूनाम्॥
—भर्तृहरि, नीतिशतकम् श्लोक सं० १३।

२. साहित्य शब्द व्याकरणाचार्य भर्तृहरि द्वारा काव्य के अर्थ में ही लिखा गया है, क्योंकि जन-साधारण के लिए साहित्यशास्त्र के ज्ञान की सम्पन्नता असम्भव है जब कि काव्य का आस्वाद सभी के लिए सम्भव है। अतः साहित्य का अर्थ यहाँ काव्य ही हो सकता है।
—डॉ० भगीरथ मिश्र, हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास, पृ० ३

३. इह हि वाङ्मयमुभयथा शास्त्रं काव्यं च। राजशेखर, काव्यमीमांसा, पृ० ६।

४. पंचमी साहित्य-विद्या इति यायावरीयः। वही, पृ० ५।

नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी के अधिकारियों—मंत्री, उपमंत्री तथा पुस्तकालयाध्यक्ष—का भी मेरे ऊपर कम आभार नहीं है। सभा के अतिथि-भवन में ठहरने से लेकर प्रकाशित एवं हस्तलिखित अनेक ग्रन्थों के अध्ययन तक की सारी सुविधायें इन्होंने प्रदान कीं। वस्तुतः यदि सभा-संग्रहालय और याज्ञिक संग्रहालय की दुर्लभ हस्तलिखित पुस्तकों के अवलोकन का अवसर मुझे न मिलता तो इस प्रबन्ध की पूर्ति असम्भव थी। अन्य रीतिकालीन पुस्तकों की उपलब्धि भी मुझे वहीं हुई। अतएव विश्वनाथ-नगरी के इस विद्यामन्दिर को—जिसमें वैसे अमूल्य ग्रन्थरत्न सुरक्षित हैं—मेरे शतशः नमन अर्पित हैं।

अन्त में, उन सभी विद्वान ग्रन्थकारों के प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं जिनके ग्रन्थ मेरे विवेच्य रहे हैं, किम्बा जिन्होंने विवेचना की सामग्री दी है।

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष
हिन्दी-विभाग
त्रिभुवन विश्वविद्यालय
काठमाण्डू (नैपाल)

—सच्चिदानन्द चौधरी

१

संस्कृत काव्य-शास्त्र का ऐतिहासिक विकास

●

काव्य–शास्त्र के विभिन्न पर्याय-वाची शब्द

संस्कृत भाषा में साहित्य और काव्य शब्द समानार्थक माने गये हैं। व्याकरण के उद्‌भट विद्वान् भर्तृहरि ने साहित्य शब्द का प्रयोग काव्य के अर्थ में ही किया है[1]। यहाँ साहित्य शब्द व्यापक अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। वह काव्य का ही बोधक है[2]। परवर्ती युग के अनेक आचार्यों ने अपने काव्य-शास्त्रीय ग्रंथों का नामकरण साहित्य एवं काव्य इन दोनों शब्दों के योग से किया है। यदि एक ओर राजशेखर ने अपने लक्षण-ग्रन्थ का नाम काव्य-मीमांसा, दण्डी ने काव्यादर्श और मम्मट ने काव्य-प्रकाश रक्खा तो दूसरी ओर आचार्य विश्वनाथ ने साहित्य-दर्पण नाम से अपना ग्रंथ रचा। हिन्दी के मध्ययुग और आधुनिक युग में तो ऐसी संज्ञाओं की एक प्रकार से भरमार सी हो गई—साहित्य-सार, साहित्यसागर और भारतीय साहित्यशास्त्र आदि।

काव्य और काव्य-शास्त्र इन दोनों शब्दों के अर्थों को समेट कर अभिव्यक्ति प्रदान करने वाला प्राचीन शब्द वाङ्मय है। इस वाङ्मय की दो शाखायें मानी गई—काव्य-शास्त्र और काव्य[3]। काव्य-शास्त्र के लिए संस्कृत भाषा में यत्र-तत्र साहित्य-विद्या शब्द भी उपलब्ध होता है[4]। परवर्ती काल में आकार तो इसके

---

१. साहित्य-संगीत कला विहीनः साक्षात पशुः पुच्छ-विषाण हीनः।
तृणन्नखादन्नपि जीवमानस्तद् भागधेयं परमं पशूनाम्॥
—भर्तृहरि, नीतिशतकम् श्लोक सं० १३।

२. साहित्य शब्द व्याकरणाचार्य भर्तृहरि द्वारा काव्य के अर्थ में ही लिखा गया है, क्योंकि जन-साधारण के लिए साहित्यशास्त्र के ज्ञान की सम्पन्नता असम्भव है जब कि काव्य का आस्वाद सभी के लिए सम्भव है। अतः साहित्य का अर्थ यहाँ काव्य ही हो सकता है।
—डॉ० भगीरथ मिश्र, हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास, पृ० ३

३. इह हि वाङ्मयमुभयथा शास्त्रं काव्यं च। राजशेखर, काव्यमीमांसा, पृ० ६।

४. पंचमी साहित्य-विद्या इति यायावरीयः। वही, पृ० ५।

अनेक पर्याय-वाची शब्द हो गए। अलंकार-शास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, साहित्यशास्त्र, क्रियाकल्प आदि सभी शब्द काव्य-शास्त्र के ही द्योतक हैं। वात्स्यायन के कामसूत्र में 'क्रियाकल्प' का उल्लेख पाया जाता है [1], वात्स्यायन ने चौंसठ कलाओं की चर्चा की है। इन चौंसठ कलाओं के मध्य 'क्रियाकल्प' नामक एक कला उन्होंने स्वीकार की है। वहां 'क्रिया' शब्द काव्यकृतित्व का द्योतक है और 'कल्प' शब्द का अर्थ है शास्त्र अथवा विधान।

उपर्युक्त सभी नामों में साहित्य-शास्त्र और अलंकार-शास्त्र ही अधिक प्रसिद्धि पा सके। अलंकार-शास्त्र का समर्थन राजशेखर ने भी काव्य-मीमांसा में किया है [2]।

भरत से पूर्व का युग

सामान्यत: काव्य-शास्त्र का आरम्भ लोग भरतमुनि के नाट्यशास्त्र से मानते हैं। किंतु भरत के पूर्व कई आचार्य हो गए हैं जिनका संकेत अनेक स्थानों में मिलता है। खेद की बात है कि उन प्राचीन आचार्यों की कृतियाँ आज उपलब्ध नहीं हैं। राजशेखर ने अपनी काव्य-मीमांसा नामक पुस्तक में काव्य-शास्त्र के उद्भव की एक रोचक कहानी कही है। इस कल्पित कथा के आधार पर ब्रह्मा ने भगवान् शिव से काव्य-शास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया तथा उनके आदेशानुसार मानवों के बीच उसका प्रचार किया। फलत: ब्रह्मा ने अपने मानसजात १७ शिष्यों के समक्ष काव्य-शास्त्र का सांगोपांग व्याख्यान किया और अनन्तर उन शिष्यों ने समग्र शास्त्र को १७अधिकरणों में विभाजित कर उन विषयों से सम्बद्ध स्वतन्त्र लक्षण-ग्रंथ लिखे। राजशेखर ने विभिन्न अधिकरणोंके लेखक भिन्न-भिन्न आचार्यों की एक वृहत् तालिका अपनी काव्य-मीमांसा नामक पुस्तक में प्रस्तुत की है [3]। इस तालिका की प्रामाणिकता में अत्यधिक संदेह है। इससूची में उल्लिखित सुवर्णनाम और कुचुमार जिन्हें क्रमश: सांप्रयोगिक और औपनिषदिक के शिक्षक बताया गया है, ऐतिहासिक आचार्य प्रतीत होते हैं। इनका उल्लेख कामसूत्र में कई स्थलों पर हुआ हैं। परन्तु इनके ग्रंथों का पता अभी तक नहीं चला है। केवल रूपकाधिकरण के प्रणेता भरत ही एकमात्र आचार्य हैं जिनका कृतित्व नाट्य शास्त्र के रूप में आज भी विद्यमान हैं। नन्दिकेश्वर को राजशेखर ने

---

१. वात्स्यायन कामसूत्र १।३।१६।

२. उपकारकत्वादलंकार: सप्तममंगमिति यायावरीय:।

३. ऋते च तत्स्वरूप परिज्ञाताद्वेदार्थानवगते:। राजशेखर, काव्यमीमांसा, पृ० १।
तत्र कविरहस्यं सहस्त्राक्ष: समाम्नासीत, औक्तिकमुक्तिगर्भ:, रीतिनिर्णयं सुवर्णनाम:, आनुप्रासिकं प्रचेतापन:, यमकानि चित्रं चित्रांगद:, शब्दशक्तेपंशेष:, वास्तवं पुलस्त्य: औपम्यमौ पकायन:, अतिशयं पाराशर:, अर्थश्लेषमुतथ्य:, उभयालंकारिकं कुबेर:, वैनोदिकं कामदेव:, रूपकनिरूपणीयं भरत:, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वर:, दोषाधिकारिकं विषण:, गुणौपादानिकमुपमन्यु:औपनिषदिकं कुचुमार:, इति।
—राजशेखर, काव्यमीमांसा, पृ० १।

रसाधिकरण का प्रणेता बताया है। इस उल्लेख में भी बहुत कुछ सत्यता प्रतीत होती है। क्योंकि स्वयं भरत ने नाट्यशास्त्र के अवसान में नन्दिकेश्वर का नाम लिया है[1]। परवर्ती काल में आकर अभिनवभारती के प्रणेता आचार्य अभिनवगुप्त ने भी नन्दिकेश्वर की चर्चा की है[2]। परन्तु उनके कथन से साफ जाहिर होता है कि उन्होंने स्वयं नन्दिकेश्वर के किसी कृतित्व का साक्षात्कार नहीं किया था, तथापि नन्दिकेश्वर के अनुसार पूर्वरंग आदि नाटकीय विधानों का निर्देश उन्होंने कीर्तिधर के आधार पर किया। भावप्रकाशन नामक अमूल्य ग्रंथरत्न के प्रणेता शारदातनय का तो यहाँ तक कहना है कि नन्दिकेश्वर ने सर्वप्रथम भरत को नाट्य सिखाया और उनसे कहा कि रूपकों में भाग लेने वाले नटों को नाट्य का भलीभाँति पाठ पढ़ावें[3]। कुछ विद्वानों का कहना तो है कि नन्दिकेश्वर ने 'अभिनय दर्पण' नामक ३२४ श्लोकों की एक छोटी-सी पुस्तक भी लिखी थी।

दण्डि-प्रणीत 'काव्यादर्श' नामक अलंकार ग्रंथ के ऊपर तो प्रसिद्ध टीकाएं हैं—हृदयंगमा और श्रुतानुपालिनी। हृदयंगमा टीका के अन्तर्गत काश्यप और वररुचि नामक दो आचार्यों के उल्लेख पाये जाते हैं। श्रुतानुपालिनी टीका में काश्यप ब्रह्मदत्त और नन्दिस्वामी के नाम आलंकारिकों में गिनाए गये हैं। परन्तु खेद का विषय है कि काश्यप, वररुचि और ब्रह्मदत्त प्रभृति आचार्यों के कृतित्व का कोई पता नहीं है। नन्दिस्वामी तो राजशेखर के नन्दिकेश्वर ही हैं। उनकी चर्चा अभी की जा चुकी है।

वेदों और उपनिषदों में काव्य-शास्त्र के किसी सिद्धांत विशेष का उल्लेख तो नहीं मिलता है, किन्तु वैदिक सूक्तों और औपनिषदिक पंक्तियों में[4] यत्र-तत्र काव्य

---

१. नन्दि-भरत-संगीत-पुस्तकम। भरत, नाट्यशास्त्र, काव्यमाला संस्करण, पृ० ६६६।

२. 'यत्कीर्तिधरेण नन्दिकेश्वर मतमत्रागमित्वेन दर्शितं तदस्माभिः साक्षात दृष्टं तत्प्रत्ययात्तु लिख्यते संक्षेपतः......... एवं नन्दिकेश्वर मतानुसारेणार्थं चित्रपूर्वरंगविधिरिति निवद्धः। अभिनव भारती, अध्याय २९।

३. शारदा तनय, भावप्रकाशन, अधिकार ३, पृ० ५६।

४. (क) अभ्रातेव पुन्स एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासी उषा हस्रेव नि रिणीते अप्सः॥
—ऋगवेद-१।१२४।७।

(ख) द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजा ते।
तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥ वही-१.१६४।२०

(ग) रक्षाणो अग्ने तव रक्षणे भी रारक्षणः। वही-४।३।१४।

(घ) सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसावाचमक्रत।
अत्रा सखाय सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥
—वही-१०।७१।२।

तत्वों के अस्तित्व की झलक मिल जाती है, कहीं अनेक अलंकारों के प्रयोग, कहीं गुणों और रीतियों के समावेश और कहीं रस के अभिनिवेश वैदिक-साहित्य में पाए जाते हैं। इन काव्य-तत्वों के प्रयोग देखकर यह मान लेना कि वैदिक युग में ही काव्य शास्त्र का सद्धान्तिक निरूपण थोड़ा बहुत हो चुका था, अपनी अवैज्ञानिक-बुद्धिता का परिचय देना होगा। काव्य-तत्वों का समावेश काव्यों में स्वभावतः भी हो जाता है। बाद में उन्हीं के आधार पर सिद्धान्त गढ़े जाते हैं।

यास्क के निरुक्त में काव्य-शास्त्र के अन्य-सिद्धांतों का बीज तो नहीं मिलता है किन्तु उपमालंकार का विस्तृत वर्णन पाया जाता है[1]। यों तो यास्क के पूर्ववर्ती आचार्य गार्ग्य ने उपमालंकार की परिभाषा गढ़ भी डाली थी। स्वयं यास्क ने गार्ग्य-निर्धारित उपमा-लक्षण प्रस्तुत किया है।[2] निरुक्त-ग्रन्थ इससे अधिक प्रकाश काव्य-शास्त्र पर नहीं डालता है।

संस्कृत भाषा के सुप्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायीमें शिलाली तथा कृशाश्वा नामक दो नट-सूत्र के प्रणेताओं की चर्चा की है[3], किन्तु न तो इन नट-सूत्रों का ही कोई पता है और न इनके प्रणेताओं की ही अन्यत्र कोई विस्तृत चर्चा उपलब्ध होती है।

पौराणिक-साहित्य के अन्तर्गत अग्निपुराण ही एक ऐसा पुराण है जिसने काव्य-शास्त्रीय अनेक सिद्धान्तों का निरूपण, विवेचन, विश्लेषण आदि किया है। परन्तु पुराण शब्द प्राचीन आख्यान का द्योतक होने के बावजूद भी, प्रणयन-काल की दृष्टि से अत्यन्त नवीन है। अग्निपुराण के सम्बन्ध में तो ऐतिहासिक विद्वानों ने विशेष छानबीन की है और वे इसी निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि अग्नि पुराण की रचना आठवीं सदी में आकर हुई है[4]। कम-से-कम, उसका काव्य-शास्त्र वाला अंश तो निश्चित रूप से अर्वाचीन है।

उपर्युक्त अध्ययन के आधार पर यह भलीभांति स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत के काव्य-शास्त्रीय इतिहास में नाट्य-शास्त्र के प्रणेता आचार्य भरत से पूर्व का युग सर्वथा तमसाच्छन्न है। केवल कतिपय आचार्यों के प्रामाणिक-आप्रामाणिक नामोल्लेखों तथा कतिपय रीति-विनिवद्ध उदाहरणों के आधार पर भरत से पूर्वयुग का काव्य-शास्त्रीय इतिहास प्रस्तुत करना असंभव ही नहीं, असमीचीन भी होगा। कहने का

---

१. निरुक्त। निघण्टु। ३।१३।

२. उपमा यत् अतत् तत्सदृशमिति गार्ग्यः। यास्क, निरुक्त-प्रथम अध्याय।

३. (क) पाराशर्य-शिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः। पाणिनि, अष्टाध्यायी - ४।३।११०।

(ख) कर्मन्द कृशाश्वादिनिः। वही, ४।३।१११।

४. पी० वी० कणि, हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स, पृ०, ९।

तात्पर्य यह कि संस्कृत के काव्य-शास्त्र का क्रमबद्ध इतिहास भरत से ही शुरू होता है।

संस्कृत के विशाल साहित्य में काव्य-शास्त्र के असंख्य छोटे-बड़े आचार्य हो चुके हैं। उन सबों की संक्षिप्त चर्चा भी अध्ययन को अति-विस्तार प्रदान कर डालती। अतएव मैंने केवल उन्हीं आचार्यों को अपने अध्ययन-क्रम में सन्निवेशित किया है जिनके ग्रन्थ विद्वानों के बीच ख्याति पा चुके हैं तथा जो किसी न किसी रूप में काव्य-शास्त्रीय सम्प्रदाय-विशेष से सम्बन्ध रखते हैं। ऐसे प्रतिनिधि आचार्य हैं—भरत, भामह, दंडी, उद्भट, वामन, रुद्रट, आनन्दवर्धन, कुन्तक, धनंजय, धनिक, अभिनवगुप्त, भोजराज, क्षेमेन्द्र, मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, भानुदत्त और जगन्नाथ।

अध्ययन की सुविधा के लिए काल-शृंखला को ध्यान में रखते हुए मैंने इन सभी आचार्यों को भी दो काल-खण्डों में वर्गीकृत कर लिया है—पूर्ववर्ती आचार्य और परवर्ती आचार्य। क्रमशः इन दोनों वर्गों की उपलब्धियों और अभावों को परिचयात्मक रूप में अतिसंक्षेप में प्रस्तुत किया जा रहा है। इन आचार्यों को सम्प्रदाय-विशेष के आधार पर भी वर्गीकृत किया जा सकता था, पर मैंने वैसा न कर, उनकी पूर्वकालवर्तिता एवं परकालवर्तिता के आधारपर उन्हें प्राचीन और नवीन इन दो वर्गों में रखा है। खिृष्ट पूर्व द्वितीय शतक से दशम शतक (खिृष्ट पश्चात्) के मध्य-वाले आचार्यों को पूर्ववर्ती तथा दशवीं शताब्दी से लेकर सत्रहवीं शताब्दी के मध्य होने वाले आचार्यों को मैने परवर्ती कहा है।

पूर्ववर्ती आचार्य (२०० ई० पू०—१००० ई० पर्य्यन्त)

भरत

आचार्य भरत से पूर्व युग के काव्यशास्त्रीय इतिहास का सिंहावलोकन करते हुए मैंने यही पाया कि जिन कतिपय आचार्यों के नामों के उल्लेख भी यत्र-तत्र मिलते हैं, उनकी कृतियां उपलब्ध नहीं हैं। परिमाणतः प्राप्त सामग्री के आधार पर नाट्यशास्त्र के प्रणेता आचार्य भरत को ही मैंने काव्यशास्त्र का प्रथम आचार्य माना है। आपका समय ईसापूर्व द्वितीयशतक माना जाता है।

भरत ने एकमात्र नाट्यशास्त्र नामक ग्रन्थरत्न का प्रणयन किया था। इसे हम काव्यशास्त्र का ही नहीं, प्रत्युत समस्त भारतीय संस्कृति एवं सांस्कृतिक साहित्य का विश्वकोष (इनसाइक्लोपीडिया) कह सकते हैं। आज इस ग्रन्थ के कई संस्करण उपलब्ध हैं। कुछ संस्करणों में ३६ तथा अन्य में ३७ अध्याय विद्यमान हैं। जिन संस्करणों में ३७ अध्याय हैं, उनमें अन्तिम अध्याय को ही दो वर्गों में बाँट दिया गया है। पर नाट्यशास्त्र का जो सर्वोत्कृष्ट एवं प्रामाणिक भाष्य अभिनवगुप्त

रचित अभिनव भारती है उसमें ३६ अध्यायों का ही उल्लेख मिलता है [१]। नाट्य-शास्त्र की समस्त विषय वस्तु तीन शैलियों में अंकित हैं। आर्या तथा अनुष्टुप् में रचित जितने श्लोक हैं उन्हें नाट्यशास्त्र में अनुवंश्यश्लोक कहा गया है। अनुवंश्य श्लोक वस्तुतः नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत द्वारा रचे नहीं गये हैं वरन् उन्होंने इन्हें परम्परा से प्राप्त कर उद्धृत मात्र किया है। सूत्र, भाष्य और कारिकाएं भरत की हैं। सूत्र-भाष्य गद्यात्मक हैं तथा कारिकाएं पद्यमय हैं। इस प्रकार अद्यतन नाट्यशास्त्र एक समय का लिखा हुआ नहीं है पर क्रमशः वह विकसित होता रहा है। यही कारण है कि कुछ शोधकर्ता "भरत" को व्यक्तिवाचक संज्ञा शब्द न मानकर एक जातिवाचक शब्द मानते हैं[२]। पर मैं इन शोधकर्त्ताओं से पूर्णतः सहमत नहीं हूं। यह ठीक है कि जब कभी नाट्यशास्त्र का सम्पादन अथवा सुगठन किया गया, शास्त्र-ज्ञाता होने के कारण उन सम्पादकों एवं व्यवस्थापकों ने अपनी ओर से भी थोड़ा बहुत जोड़ा जो प्रक्षिप्तांश रहते हुए भी शास्त्रीय दृष्टि से उपादेय है। और इस प्रकार ग्रन्थ के कलेवर का यत्किन्चित विकास एवं विस्तार भी हुआ है। पर यह कहना सर्वथा भ्रामक है कि नाट्यशास्त्र का प्रणेता भरत नामधारी कोई व्यक्ति विशेष नहीं था वरन् वह एक जाति थी जिसने शताब्दियों के क्रम में उसे इस रूप में लाया।

विषय-व्याप्ति

नाट्यशास्त्र मुख्यतः नाट्यविधानों का दिग्दर्शक एक सिद्धान्त ग्रन्थ है। पर इसी नाट्यविधान की स्पष्टता के प्रसंग में अनेक काव्यशास्त्रीय एवं सांस्कृतिक विषय आ गए हैं। आचार्य भरत ने इन विविध विषयों का विशद विवेचन कर अपनी बहुज्ञता का परिचय दिया है।

ग्रन्थ के आरम्भ में नाट्यशास्त्र नामक पंचमवेद की उत्पत्ति की कथा कही गई है। सभी वर्णों के लोग वेदों का अध्ययन नहीं कर सकते थे—अतएव एक सार्ववर्णिक पंचम वेद की रचना की गई[३]। ग्रंथोत्पत्ति की कथा के अनन्तर प्रेक्षागृह के निर्माण और उसके भेद, उपभेद का सविस्तार विवरण दिया गया है। इसी सिल-सिले में क्रमशः नान्दी, पूर्वरंग, अभिनय, वृत्ति आदि नाटकीय विधानों का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया गया है। यहाँ अपने प्रासंगिक विषय से हटकर उनका विशद उल्लेख भी अनुपयुक्त प्रतीत होता है। नृत्यों एवं सांगीतिक वाद्यों, लयों और तानों का भी नाट्यशास्त्र में उल्लेख मिलता है। इनके अतिरिक्त अलंकारों, नायक-नायिका-भेदों

१ षट्त्रिंशकं भरतसूत्रमिदं विकृण्वन्, मध्ये षट्त्रिंशाध्याय्याम्।
—अभिनवभारती, श्लोक २, पृ० ८।

२ ड्रामा इन संस्कृत लिटरेचर। आर० वी० जागीरदार, पृ० २७-२८।

३ न वेदव्यवहारोऽयं संश्राव्यः शूद्रजातिषु,। तस्मात् सृजापरं वेदंपंचमं सार्व-वर्णिकम्॥ भरत, नाट्यशास्त्र-१।१२।

तथा विभिन्न प्राकृत आदि भाषाओं का भी यथास्थान प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार नाट्यशास्त्र वस्तुतः भारतीय संस्कृति एवं साहित्य का एक विश्वकोष-जैसा लगता है।

यह ठीक है कि भरत ने नाट्यशास्त्र का प्रणयन नाटकीय विभिन्न विधिविधानों के परिज्ञान के लिये किया था, जैसा नाम से भी स्पष्ट है। पर इनकी दृष्टि में रूपकों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय रस था।[1] अभिनवगुप्त ने भी नाट्यशास्त्र पर की गई अपनी सुप्रसिद्ध अभिनव भारती नामक टीका में इसे पल्लवित करते हुए कहा है कि रस सूत्र की तरह समस्त रूपक में व्याप्त रहता है।[2] अतएव नाट्यशास्त्र में सूत्रात्मक रूप से रस का स्वरूप, उसके विभिन्न तत्व (विभाव, अनुभाव, संचारी और स्थायी) तथा उसके भेदों आदि का वर्णन मुख्यतः छठे तथा सातवें अध्याय में किया गया है। रस के स्वरूप के सम्बन्ध में आचार्य भरत का कहना है कि जैसे गुड़ आदि विभिन्न पदार्थों के सम्मिश्रण से तैयार किया गया व्यंजन आस्वाद्य होता है, उसी तरह विभाव, अनुभाव और संचारी के संयोग से व्यंजित स्थायी ही रस रूप में आस्वादित होता है।[3] पर यह रस किसे प्रतीत या आस्वादित होता है—इस सम्बन्ध में भरत मौन हैं।[4] परवर्ती काल में आकर भरत की इसी मितभाषिता के कारण उनके सूत्र के अनेक व्याख्याकार हुए और आरोपवाद, अनुमितिवाद, भोगवाद तथा अभिव्यक्तिवाद आदि रस-निष्पत्ति की दिशा में कई सिद्धान्त बन गए। जहाँ तक रस के भेदों का सम्बन्ध है, भरत ने केवल आठ प्रकार के रस माने हैं।[5] वे हैं श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत। भरत ने इसी प्रसंग में आचार्य द्रुहिण की भी चर्चा की है और स्वीकार किया है कि यह संख्या द्रुहिण के अनुसार बताई गई है।[6] इसी सिलसिले में आठ प्रकार के स्थायीभाव भी उन्होंने बताए हैं—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय।[7] इनके अतिरिक्त ३३

---

१ नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते। वही—अध्याय ६, पृ० ९२।

२ एक एव तावत् परमार्थतो रसः सूत्रस्थानीयत्वेन रूपके प्रतिभाति।
—अभिनव भारती। खण्ड १, पृ० २७३।

३ यथा हि नानाव्यंजनसंस्कृतमन्नं भुंजाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयैर्व्यंजितान् वागंगसत्वोपेतान् स्थायिभावान् आस्वादयन्तिसुमनः प्रेक्षकाः, हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति।
—नाट्यशास्त्र। अध्याय ६, पृ० ९३।

४ विभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोगात् रस-निष्पत्तिः। ना. शा. ६ अध्याय, पृ. ९३।

५ शृंगारहास्यकरुणा रौद्रवीर भयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसास्मृताः॥ वही ६।१६।

६ एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ताः द्रुहिणेन महात्मना। वही—६।१७।

७ रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः॥ वही—६।१८।

व्यक्ति-व्यभिचारिभाव और आठ सात्विक भाव भी उन्होंने प्रतिपादित किए हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं। व्यभिचारिभाव—निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीड़ा, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, सुप्त, विबोध, अमर्ष, अवहित्थ, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास, और वितर्क। सात्विक—स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वर-भंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय।

उपर्युक्त आठ रसों में आचार्य भरत ने मूल रस चार ही माने हैं :—शृंगार, रौद्र, वीर और वीभत्स। शृंगार से हास्य की, रौद्र से करुण की, वीर से अद्भुत की और वीभत्स से भयानक की उत्पत्ति मानी गई है।[1] प्रत्येक रस के वर्ण और देवता भी अलग-अलग माने गए हैं :—

	रसों के नाम	वर्ण	देवता
(१)	शृंगार	श्याम	विष्णु
(२)	हास्य	सित (उज्वल)	प्रमथ
(३)	करुण	कपोत (धूसर)	यम
(४)	रौद्र	रक्त	रुद्र
(५)	वीर	गौर	महेन्द्र
(६)	भयानक	कृष्ण	काल
(७)	वीभत्स	नील	महाकाल
(८)	अद्भुत	पीत	ब्रह्मा

इस प्रकार रस के सम्बन्ध में भरत ने अत्यधिक विस्तारपूर्वक लिखा है। नाट्यशास्त्र के छठे और सातवें अध्यायों में यह विषय वर्णित है। सामान्य रसों का उल्लेख कर लेने के अनन्तर एक-एक रस का पुनः विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी आदि पृथक बताये गये हैं और उनके भेदोपभेद भी प्रतिपादित किए हैं।

इस प्रसंग में सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि भरत ने जिन रसों की चर्चा की है वे रूपकाश्रित थे। इन्होंने स्वयं "अष्टौनाट्यरसा: स्मृता:" कह कर इसे सुस्पष्ट कर डाला है। काव्याश्रित (श्रव्यकाव्याश्रित) रसों का विवेचन भरत ने

---

१ शृंगाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्वीभत्साच्च भयानकः॥
शृंगारानुकृतिर्या तु स हास्यस्तु प्रकीर्तितः।
रौद्रस्यैव च यत्कर्म स ज्ञेयः करुणो रसः॥
वीरस्यापि च यत्कर्म सोऽद्भुतः परिकीर्तितः।
वीभत्सदर्शनं यत्र ज्ञेयःस तु भयानकः॥

—नाट्यशास्त्र। अध्याय ६।४०-४२।

नहीं किया था। अभिनवगुप्त ने अपनी अभिनव भारती में निरर्थक ही "नाट्य" शब्द को व्यापकार्थक बता कर इसे रूपक और काव्य दोनों का प्रतिपादक बताया है।[1] इनका कहना है कि भरत ने नाट्य में अभिनय और गीत दोनों का समावेश किया है। दर्पण-तुल्य शुद्ध एवं स्वच्छ हृदय वाले सहृदयों को अभिनयों का रसास्वाद होता है तथा जो साधारण (असहृदय) दर्शक हैं उन्हें गीतों का रसास्वाद होता है। इस प्रकार भरत का नाट्य शब्द अभिनयों के माध्यम से दृश्य काव्य का और गीतों के माध्यम से श्रव्यकाव्य का प्रतिनिधित्व करता है। परन्तु यह अभिनवगुप्त की अपनी सूझ है। स्वयं भरत ने रूपकों के लिए ही रस की उपादेयता बताई है। यदि ऐसी उनकी धारणा नहीं रहती तो नाट्य शब्द के अतिरिक्त रस के प्रसंग में रूपक और प्रेक्षक शब्दों का प्रयोग वे नहीं करते। "नानाभावाभिनयव्यंजितान् वागंगसत्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः" की जगह "सुमनसः प्रेक्षकाः श्रोतारश्च" अवश्य कहा गया होता। दूसरी बात यह कि राजशेखर की तालिका के अनुसार भरत को रूपक का ही निरूपक बताया गया है। अतएव मेरी अपनी धारणा है कि आचार्य भरत केवल रूपकाश्रित रस के ही प्रवक्ता थे और अभिनवगुप्त ने खींचतान कर "नाट्य" शब्द के अन्तर्गत श्रव्यकाव्य को भी सन्निविष्ट कर डाला है।

दूसरा ध्यान देने योग्य विषय है रसों की संख्या। अभी मैंने बताया है कि भरत के अनुसार रस आठ थे। इसका समर्थन डा० राघवन तथा डा० पी. वी. काणे आदि भी करते हैं।[2] पर मेरे पास निर्णय सागर प्रेस, बम्बई द्वारा प्रकाशित जो नाट्यशास्त्र है उसके छठे अध्याय के अन्त में एक शान्त-रस प्रकरण भी मिलता है। अन्य रसों की भाँति इस रस के भी विभाव, अनुभाव, संचारी तथा स्थायी भाव आदि बताए गए हैं और अन्त में "एवं नवरसा दृष्टा नाट्यैर्लक्षणान्विताः" कह दिया गया है। फिर "इति शान्तरस प्रकरणम्" के अनन्तर जो इस अध्याय का अन्तिम श्लोक है, इस प्रकार लिखा गया है —

एव मेते रसा ज्ञेयास्त्वष्टौ लक्षणलक्षिताः।
अत उर्ध्वं प्रवक्ष्यामि भावानामपि लक्षणम् ॥८४॥

उपर्युक्त विवरण के आधार पर पाठक किसी निर्णय पर नहीं पहुंच पाता है कि भरत के अनुसार रस आठ प्रकार के थे अथवा नौ प्रकार के। ऐसा लगता है कि शान्तरस प्रकरण प्रक्षिप्त अंश है। इसे परवर्ती काल में रुद्रट आदि आचार्यों के समय में आकर जब शान्तरस को नाटक एवं काव्य दोनों में मान्यता मिल गई थी, किसी विषयज्ञाता टीकाकार अथवा सम्पादक ने जोड़ दिया होगा। अतएव मेरी दृष्टि में शान्तरस प्रकरण प्रक्षिप्त अंश है और रसों की संख्या वस्तुतः आठ थी।

१ अभिनवभारती, खण्ड १, पृ० २९२।
२ पी० वी० काणे : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोयटिक्स, खण्ड २, पृ० ३५०।

भामह

आचार्य भरत के अनन्तर संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में उल्लेखनीय आचार्य भामह ही हुए। भरत-भामह के बीच मेधाविन्, राजमित्र, आदि कतिपय विद्वानों का उल्लेख यत्र कुत्र मिलता है। मेधाविन् के सम्बन्ध में पी. वी. काणे ने बहुत कुछ लिखा भी है।[1] स्वयं भामह ने भी मेधाविन् के द्वारा बताए गए सात प्रकार के उपमा-दोषों का उल्लेख किया है।[2] इसके अतिरिक्त भामह के काव्यालंकार में "केचित्, अपरे, कैश्चित्, अन्यैः" आदि शब्दों के प्रयोग से इनके पूर्ववर्ती अन्य आचार्यों की सूचना भी मिलती है। पर इनके ग्रन्थों के अभाव में निश्चित रूप से कुछ बता सकना नितान्त कठिन है। प्रसिद्धि की दृष्टि से भी भरत के बाद भामह ही आते हैं। अतएव इन्हीं का संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत है।

भामह और दण्डी के समय में ऐतिहासिक विद्वानों के बीच मतभेद था। कोई दण्डी को भामह का पूर्ववर्ती मानता था तो कोई भामह को दण्डी का पूर्ववर्ती। पर अब अनेक साक्ष्यों के आधार पर भली भाँति सिद्ध हो गया है कि भामह दण्डी के पूर्ववर्ती थे। अब भामह का समय षष्ठशतक का मध्य भाग माना जाता है।[3] इनका विशेष परिचय भी अभी तक प्राप्त नहीं है। इन्होंने स्वयं अपने ग्रन्थ के अन्त में पिता का नाम "रक्रिलगोमिन्" बताया है।[4] एक समय था जब इनके पिता के नाम के आधार पर विद्वानों में बड़ा विवाद चला था और इन्हें कुछ लोगों ने बौद्ध प्रमाणित करने की चेष्टा की। पर अब यह विवाद भी तय हो चुका है और आपके वैदिक धर्मानुयायी होने में किसी को तनिक भी संदेह नहीं है। ग्रन्थारम्भ के मंगलाचरण में प्रयुक्त "सार्व" और "सर्वज्ञ" शब्द शिव के द्योतक हैं। यदि उन्हें बुद्ध का द्योतक मान भी लें तो इससे उनके बौद्ध होने के सिद्धान्त को पुष्टि नहीं मिलती है। कारण, परवर्ती काल में आकर बुद्ध को वैदिक धर्मानुयायियों ने भी भगवान का अवतार मान लिया था। अतएव श्लेष से वे दोनों शब्द शिव और बुद्ध दोनों अर्थों को बताते भी हों तो मात्र इस आधार पर भामह को बौद्ध नहीं प्रमाणित किया जा सकता है। यदि वे बौद्ध होते तो अवश्य ही बौद्ध दर्शन अथवा धर्म से सम्बन्धित कोई पुस्तक उन्होंने लिखी होती किम्वा बौद्ध साहित्य में किसी बौद्ध विद्वान् ने इनके नाम का ही उल्लेख किया होता।

---

१ हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स : पृ० ६१-६४।

२ त एत उपमादोषाः सप्त मेधाविनोदिताः। भामह : काव्यालंकार २।४०।

३ इन्होंने अपने ग्रन्थ में प्रत्यक्ष का लक्षण प्रसिद्ध बौद्धाचार्य दिङ्नाग के अनुसार दिया है, धर्मकीर्ति के अनुसार नहीं, जिससे इनका समय इन दोनों आचार्यों के बीच षष्ठ शतक का मध्य भाग मानना उचित होगा।

—बलदेव उपाध्याय, भारतीय साहित्यशास्त्र पृ० ७।

४ काव्यालंकार—अन्तिम श्लोक।

भामह-प्रणीत एकमात्र "काव्यालंकार" नामक ग्रन्थ प्राप्त होता है । इसमें कुल छः परिच्छेद हैं तथा ४०० श्लोक हैं । इनके समग्र ग्रन्थ में काव्यशास्त्रीय पाँच विषयों का विवेचन किया गया है । प्रथम परिच्छेद में काव्य के साधन, उसके लक्षण तथा भेदोपभेदों का वर्णन किया है । द्वितीय तथा तृतीय परिच्छेदों में अलंकारों का निर्णय किया गया है । चौथे परिच्छेद में दोषों की चर्चा की गई है तथा पंचम में न्यायविरोधी दोष का विवेचन किया गया है । षष्ठ परिच्छेद में कतिपय शब्दों की शुद्धाशुद्धि का निर्णय किया गया है । भामह का काव्यालंकार कई दृष्टियों से महत्व-पूर्ण माना जाता है । भामह द्वारा प्रतिपादित काव्यलक्षण[1] आज भी मान्य हैं । कथा और आख्यायिका के पारस्परिक अन्तर का विवेचन भामह ने ही पहले पहल किया था । "सर्गवद्धो महाकाव्यम्"—का लक्षण सर्व प्रथम गढ़ने का श्रेय आपको ही है । काव्य के उपयोग[2] तथा दोष-त्याग[3] पर आपके स्वतन्त्र विचार हैं ।

भामह अलंकार-सम्प्रदाय के प्रवंतक माने जाते हैं । इन्होंने अलंकारों को ही काव्य का मुख्यतत्व निरूपित किया । इनका कहना था कि अलंकारों के बिना कविता उसी तरह शोभित नहीं होती है, जिस तरह भूषणों के बिना कोई कामिनी शोभित नहीं होती है[4] । जहाँ तक रस का प्रश्न है, भामह ने रस शब्द का उल्लेख भी किया है, पर इनके द्वारा रस को कोई महत्त्व नहीं प्राप्त हुआ, बल्कि इन्होंने उसे अलंकारों में अन्तर्युक्त कर गौण बना डाला । ऐसे रसात्मक अलंकारों को उन्होंने रसवत् अलंकार[5] की संज्ञा दी । इनके अतिरिक्त भावों से युक्त अलंकारों को उन्होंने "प्रेय" अलंकार कहा है । इस प्रकार आचार्य भरत द्वारा प्रवर्तित रस-शास्त्र के आप उन्नायक तो नहीं हुए, पर उसे अलंकारों में अन्तर्निविष्ट कर एक प्रकार से उसका विरोध ही किया । जो हो, पर यह सब होते हुए भी महाकाव्य में इन्होंने रस की पूरी उपादेयता स्वीकार की है[6] । महाकाश्य में रस का होना इन्होंने नितान्त आवश्यक बताया है और कहा कि सभी रसों से युक्त महाकाव्य एक विशेष काव्य कृति है ।

फलतः भरत द्वारा प्रवर्तित एवं परिचालित रस-सिद्धान्त का आन्दोलन अलंकार वादी भामह के युग में आकर अवरुद्ध हो गया । इतना ही नहीं, भामह के

---

१ शब्दार्थौ सहितो काव्यम्, गद्यं पद्यं च तद् द्विधा । काव्यालंकार-१।१६ ।

२ धर्मार्थ काम मोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्य निबन्धनम् । वही-१।१२ ।

३ सर्वथा पदमप्येकं निगाधमवद्यवत् ।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुस्सुतेनेव निन्द्यते । वही-१।११ ।

४ न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम् । वही-१।१२ ।

५ रसवत् दर्शितस्पष्ट शृंगारादिरसं यथा । काव्यालंकार-३।६ ।

६ युक्तं लोक स्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक् । भामह, काव्यालंकार । १।२९

सशक्त व्यक्तित्व का प्रभाव कई सदियों तक छाया रहा और क्रमशः दण्डी, उद्भट, वामन आदि आचार्य रस-सिद्धान्त के समर्थन से सर्वथा दूर ही रहे ।

दण्डी

आचार्य दण्डी का प्रादुर्भाव भामह के अनन्तर हुआ । अनेक साक्ष्यों के आधार पर अब यह सिद्ध भी हो चुका है । भामह के विचारों की समीक्षा दण्डी ने अपने काव्यादर्श में की है इससे साफ जाहिर होता है कि दण्डी परवर्ती थे । प्रमाण के लिए कथा- आख्यायिका वाले प्रसंग को लीजिए । भामह ने काव्यालंकार में कथा और आख्यायिका को परस्पर-भिन्न रचना मानी है । नायक स्वयं वक्ता है अथवा कोई दूसरा—इसी आधार पर कथा और आख्यायिका का भेद भामह ने किया है । पर दण्डी इन दोनों गद्यात्मक रचनाओं को एक मानते हैं[1] । ऐसा लगता है कि भामह को उत्तर देने के लिए ही दण्डी ने जमकर इस पर प्रकाश डाला हो । फलतः, दण्डी भामह के परवर्ती आचार्य सिद्ध होते हैं और यदि भामह षष्ठ शतक में हुए तो आचार्य दण्डी निश्चय ही सप्तम शतक में हुए होंगे ।

दण्डी आचार्य होने के अतिरिक्त गद्य-काव्य के लेखक भी थे । इनकी तीन रचनाएं प्राप्त होती हैं—(१) काव्यादर्श, (२) दशकुमारचरितम्, (३) तथा अवन्तिसुन्दरी कथा । इनमें काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त ग्रन्थ एकमात्र काव्यादर्श है । इस ग्रन्थ की बड़ी प्रसिद्धि हुई । कन्नड़, सिंहली और तिब्बती भाषाओं में इसके अनुवाद भी हुए हैं । इन अनुवादों से ही ग्रन्थ की प्रसिद्धि का अनुमान किया जा सकता है । इस ग्रन्थ में तीन परिच्छेद हैं तथा कुल ६६० श्लोक हैं । प्रो० बलदेव उपाध्याय ने भ्रमवश चार परिच्छेदों का उल्लेख किया है[2], पता नहीं, काव्यादर्श का

---

१ अपादः पदसन्तानो गद्य आख्यायिका कथा ।
इति तस्य प्रभेदौ द्वौ तयोराख्यायिका किल ।।
नायकेनैव वाच्यान्या नायकेनेतरेण वा ।
स्वगुणाविष्क्रियादोषो नात्र भूतार्थशंसिनः ।।
अपि त्वनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यैदीरणात् ।
अन्यो वक्ता स्वयं वेति कीदृग्वा भेदकारणम् ।।
वक्त्रं चापरवक्त्रं च सोच्छवासत्वं च भेदकम् ।
चिह्ना आख्यायिकापाश्चेत् प्रसंगेन कथास्वापि ।।

....

तत् कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञाद्वयांकिता ।
अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यान जातयः ।।

—काव्यादर्श, प्रथम परिच्छेद, २३-२८ ।

२ भारतीय साहित्य शास्त्र, प्रकाशक-प्रसाद परिषद्, काशी, प्रथम संस्करण, पृष्ठ—८ ।

कौन-सा संस्करण उनके पास था। परिच्छेद के अनुक्रम से ग्रन्थ की विषय वस्तुएं इस प्रकार हैं:—

प्रथम परिच्छेद—इसमें काव्य का लक्षण, उसके विस्तृत भेद, वैदर्भी तथा गौड़ी रीतियों के लक्षण और उनका पारस्परिक अन्तर तथा दशविध गुणों का विस्तृत वर्णन है।

द्वितीय परिच्छेद—इस परिच्छेद में अलंकारों के लक्षण तथा उदाहरणों का निरूपण किया गया है। सभी अर्थालंकार ही हैं।

तृतीय परिच्छेद—तीसरे परिच्छेद में भी अलंकारों का ही निरूपण है। इसमें निरूपित सभी अलंकार शब्दालंकार हैं और यमक अलंकार का विशद विवेचन किया गया है। इसी परिच्छेद में दोषों का निरूपण भी है। दण्डी ने दश प्रकार के दोष बताये थे। इन सबों के लक्षण और उदाहरण आदि इसी परिच्छेद में हैं।

आचार्य दण्डी ने भामह की तरह अलंकारों के महत्त्व का समर्थन किया है। अतएव साम्प्रदायिक दृष्टि से इन्हें अलंकारवादी कहा जाता है। पर इन्होंने पहली बार वैदर्भी और गौड़ी रीतियों का पारस्परिक अन्तर स्पष्ट करके रीति का पथ प्रशस्त किया था। श्लेष, प्रसाद, समता आदि दश गुणों को इन्होंने वैदर्भी रीति के प्राण बताए हैं[1]। यही कारण है कि अलंकार सम्प्रदाय के अनुयायी रहने के बावजूद भी कुछ विद्वानों ने इन्हें रीति सम्प्रदाय वादी[2] माना है तो दूसरे ने गुण सम्प्रदाय वादी[3]। पर वस्तुस्थिति कुछ और है। आप मूलतः अलंकार सम्प्रदायवादी हैं। इन्होंने अलंकारों को ही काव्य-शोभावर्द्धक धर्म माना है[4]। अन्य अलंकार सम्प्रदाय के आचार्यों की अपेक्षा आप कुछ अधिक उदार थे। अलंकार शब्द का प्रयोग आपने व्यापक अर्थ में किया है। वस्तुतः समस्त ग्रन्थ को समग्रता में देखने पर ऐसा लगता है कि अलकारों के अन्तर्गत ही इन्होंने रसों रीतियों और गुणों को रख दिया है। अतएव आप अलंकार सम्प्रदायवादी होते हुए भी रीति, गुण और रसों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं पर इन्हें न स्वतन्त्र अस्तित्व ही देते हैं और न उतना महत्त्व ही। ये सब के सब तत्त्व अलंकारों के साधक धर्म मात्र हैं। पर इतना होते हुए भी अलंकार शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग करने का श्रेय तो इन्हें है ही। सच पूछिए

---

१ इति वेदर्भ मार्गस्य प्राणा दश गुणा स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौड़वर्त्मनि॥

—काव्यादर्श।१।४२।

२ भारतीय साहित्य शास्त्र: बलदेव उपाध्याय, पृ०-८।

३ डा० ओम् प्रकाश : हिन्दी अलंकार साहित्य, पृ०-१२।

४ काव्य शोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते। काव्यादर्श। २।१।

तो इसी अर्थ में काव्य शास्त्र को प्राचीन काल में "अलंकार-शास्त्र" कहा गया है और इसका थोड़ा-बहुत प्रयोग आज भी प्रचलित है।

जहाँ तक रसों का सम्बन्ध है, आचार्य दण्डी के हाथ में भी इन्हें अधिक महत्त्व प्राप्त नहीं हुआ। भामह की तरह इन्होंने भी सभी रसों को "रसवत्" अलंकार के अन्तर्गत डाल दिया। काव्यादर्श में एक "रसवच्चक"[1] है जिसमें इन रसपेशल अलंकारों का विस्तृत विवरण दिया गया है। रस की दृष्टि से भामह ही दण्डी की अपेक्षा वरेण्य हैं क्योंकि उन्होंने महाकाव्य में कम-से-कम रस की उपादेयता प्रतिपादित की थी।

उद्भट

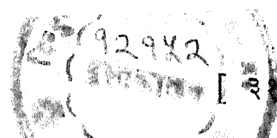
काश्मीरी परम्परा से ज्ञात होता है कि आचार्य उद्भट काश्मीर के राजा जयापीड के सभापण्डित थे। जयापीड का शासनकाल ७७९ ई० से ८१३ ई० के बीच का है। अतएव आठवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में उद्भट का होना निश्चित है। इस तथ्य का समर्थन प्रसिद्ध इतिहासज्ञ कल्हण ने भी किया है। कल्हण का कहना है कि उद्भट काश्मीर के राजा जयापीड के दरबारी पण्डित थे और उनका दैनिक वेतन एक लाख दीनार था[2]। इनके समय-निरूपण में कोई कठिनाई इसलिए भी नहीं है कि आपने भामह के काव्यालंकार पर 'भामह-विवरण' नामक टीका लिखी थी तथा ध्वन्यालोक के प्रणेता आचार्य आनन्दवर्द्धन कई स्थलों में इनकी चर्चा करते हैं। फलतः भामह और आनन्दवर्द्धन इन दोनों छोरों के बीच आपका होना निश्चित है। भामह को हमने पहले षष्ठ शतक में रखा है तथा आनन्दवर्द्धन नवम शताब्दी के हैं। अतएव उद्भट को आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में रखने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं दिखाई देती है। कल्हण के समर्थन और कश्मीरी परम्परा की चर्चा तो हम कर ही चुके हैं। रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वामन इनके समकालीन थे। इन दोनों के आश्रयभूत राजा जयापीड़ ही थे। एक आश्रय में रहकर भी दोनों दो काव्यसम्प्रदायों के पोषक थे। यदि वामन ने रीति सम्प्रदाय का प्रवर्तन या अनुसरण किया तो उद्भट ने अलंकार सम्प्रदाय का।

उद्भट की तीन कृतियों की चर्चा की जाती है—(१) कुमारसंभव, (२) भामह-विवरण (३) तथा काव्यालंकार सार-संग्रह। कुमारसंभव एक काव्य ग्रन्थ था। इसी से अलंकारों के उदाहरण लेकर इन्होंने काव्यालंकार सार-संग्रह में प्रस्तुत किया है। यह काव्य ग्रन्थ महाकवि कालिदास के कुमार संभव नाम महाकाव्य से

---

१ काव्यादर्श, द्वितीय परिच्छेद। २७५-२९२।

२ विद्वान् दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः। महोभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः॥
—कल्हणः राजतरंगिणी। ४।४९५।



अत्यधिक प्रभावित प्रतीत होता है। उदाहरणरूप में प्रस्तुत किए गए श्लोकों की तुलना यदि कालिदास प्रणीत कुमारसंभव से की जाय तो यह बात नितान्त स्पष्ट हो जाती है। पर यह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं। केवल काव्यालंकार-सार-संग्रह में गृहीत किए गए उदाहरण[1] ही उनकी याद दिलाते हैं। द्वितीय ग्रन्थ भामह-विवरण आचार्य भामह के काव्यालंकार पर की गई टीका है। इसका निर्देश परवर्ती आचार्यों ने किया है, पर यह भी अद्यावधि अनुपलब्ध है। तृतीय ग्रन्थ है काव्यालंकार सार-संग्रह। यह काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ उपलब्ध भी है तथा इस पर प्रतीहारेन्द्रराज की लघुवृत्ति नामक सुप्रसिद्ध टीका भी प्राप्त है। यह एक स्वतन्त्र अलंकार ग्रन्थ है। समस्त ग्रन्थ ६ वर्गों में विभक्त है तथा इसमें कुल ७९ कारिकाएं हैं। इस ग्रन्थ के आरम्भ में न कोई मंगल-श्लोक या आमुख है और न अन्त में कोई उपसंहारात्मक श्लोक ही। केवल ४१ अलंकारों के लक्षणों और उदाहरणों का निरूपण है। इसीलिए कुछ विद्वान् इसे उद्भट-प्रणीत भामह-विवरण का सार मानते हैं[2] पर यह धारणा भ्रान्तिपूर्ण प्रतीत होती है। यदि काव्यालंकार-सार-संग्रह भामह-विवरण का सार होता तो इसमें भामह के काव्यालंकार में निरूपित काव्य के साधन, लक्षण, दोष आदि विषयों का भी सार संगृहीत किया गया होता। काव्यालंकार-सार-संग्रह केवल ४१ अलंकारों के निरूपण में प्रवृत्त है, अतएव इसे एक स्वतन्त्र अलंकार-ग्रन्थ मानना ही समुचित है, भामह-विवरण का सार नहीं।

डा० शंकरन् उद्भट को भामह के अलंकार-सम्प्रदाय का अनुयायी नहीं मान कर उन्हें भरत के रस-सम्प्रदाय का अनुयायी मानते हैं। इस विचार के प्रमाणस्वरूप वे कहते हैं कि उद्भट ने भरत के नाट्यशास्त्र पर टीका लिखी थी, जो आज उपलब्ध नहीं है[3]। कर्नल जैकोब ने भी इसी तरह की बात कही है[4]। इन्होंने अधोलिखित श्लोक को उद्धृत किया है और कहा कि उद्भट रस को काव्य की आत्मा मानते थे और आप अलंकारवादी नहीं थे। वह श्लोक इस प्रकार है—

रसाद्यधिष्ठितं काव्यं जीवद्रूपतया यतः।
कथ्यते तद्रसादीनां काव्यात्मत्वं व्यवस्थितम्।

पर उपर्युक्त दोनों विद्वानों के विचारों को मैं कपोलकल्पित मानता हूं। सर्व प्रथम डा० शंकरन् के विचार में कोई तथ्य इसलिए नहीं मिलता है कि अद्यावधि नाट्यशास्त्र पर उद्भट कृत टीका उपलब्ध नहीं हो सकी है तथा परवर्ती सभी आचार्य

१ अनेन ग्रन्थकृता स्वोपरचित कुमारसम्भवैकदेशोऽत्रोदाहरणत्वेनोपन्यस्तः।
—काव्यालंकार-सार-संग्रह, प्रतीहारेन्द्रराज की लघुवृत्तिटीका, निर्णय सागर प्रेस से प्रकाशित, पृ०-१५।

२ पी० वी० काणे। हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स, पृ०-१२६।

३ सम आसपेक्ट्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म, पृ०-३०।

४ जरनल ऑफ रॉयल एशिआटिक सोसाइटी-१८७९, पृ० ४४७।

एक स्वर से उद्भट को आलंकारिक ही मानते चले आ रहे हैं। यदि नाट्यशास्त्र की टीका वस्तुतः होती तो डा० शंकरन् के आनुमानिक विचार के बाहर भी कहीं न कहीं इसका उल्लेख मिलता। कर्नल जैकोब ने जिस श्लोक को उद्धृत किया है वह काव्यालंकार-सार-संग्रह में दिए गए काव्यलिंग अलंकार के लक्षण और उदाहरण के बीच में आता है और उसके अन्त में "तदाहुः" लिखा हुआ है।[1] वस्तुतः इस श्लोक को उद्धृत किया है प्रतीहारेन्दुराज ने जिन्होंने उनके ग्रन्थ पर लघुवृत्ति नामक टीका लिखी थी। इसके अतिरिक्त, यदि उद्भट ने रस को काव्य की आत्मा स्वीकार किया होता तो, "रसवत् अलंकार" गढ़ने का फिर क्या तात्पर्य है? अतएव मेरी दृष्टि में आप अलंकार-सम्प्रदाय के आचार्य हैं। रस को रसवत् अलंकार में समाविष्ट कर आपने उसे पूर्णतः गौण बना डाला है। इतना श्रेय उद्भट को अवश्य है कि जहाँ भामह ने रसयुक्त अलंकार तीन ही माने थे—रसवत्, प्रेयस् और ऊर्जस्विन्, वहाँ आपने इसके चार भेद किए और भामहोक्त तीन रसालंकारों के अतिरिक्त "समाहित" नामक एक चतुर्थ रसालंकार की उद्भावना की। सच पूछिए तो भरत के बाद भामह ने जिस अलंकार सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया था उसी के पोषक उद्भट भी बने रहे।

वामन

उद्भट के अनन्तर संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में उल्लेखनीय आचार्य वामन हुए। रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक आप ही माने जाते हैं। आचार्य वामन का समय नवम शताब्दी का पूर्वार्द्ध होना चाहिए। काश्मीरी पण्डित आचार्य उद्भट और वामन को समकालीन मानते है और कहते है—काश्मीर में राजा जयापीड के दरबार में ये दोनों थे और मन्त्रिपद पर प्रतिष्ठित थे।[2] इतना ही नहीं, इन दोनों में पारस्परिक प्रतिस्पर्धा भी थी। एक थे अलङ्कारवादी और दूसरे रीतिवादी। यदि यह परम्परा सच्ची मानी जाय तब तो वामन के समय में कोई कठिनाई ही नहीं उपस्थित होती है, क्योंकि जयापीड का शासनकाल था ७७९ ई० से लेकर ८१३ ई० तक। इसी काल में वामन का होना स्वयं सिद्ध हो जाता है। आठवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध जो उद्भट का काल माना गया है, वही वामन का भी समय होगा। पर काश्मीरी पण्डितों की यह मान्यता निराधार मालूम पड़ती है। यदि ये दोनों एक ही दरबार में रहने वाले प्रतिस्पर्धी एवं प्रतिद्वन्दी पण्डित होते तो दोनों ने

---

१ काव्यालंकार-सार-संग्रह : निर्णयसागर प्रेस, पृ० ७७। यह श्लोक ओरियण्टल इन्स्टिच्यूट बड़ौदा, के १९३१ वाले सं० में नहीं मिलता है। देखिये, काव्य-लिंग अलंकार का प्रसंग ६।१४।५१।

२ मनोरथः शंखदत्तश्चक्रः सन्धिमांस्तथा ॥
बभूवा कवयस्तस्य वामानाद्याश्च मन्त्रिणः ॥
—कल्हण : राजतरंगिणी। ४।४९७।

अवश्य ही अपने ग्रंथों में एक दूसरे की चर्चा की होती तथा एक दूसरे के विचारों का खण्डन-मण्डन भी किया होता। यह खण्डन-मण्डन इसलिए भी आवश्यक था कि ये दोनों अलग-अलग काव्य-सम्प्रदाय में विश्वास रखने वाले विद्वान् थे। परन्तु इन दोनों के ग्रन्थों के आकलन से इस सम्बन्ध में निराश ही होना पड़ता है। अतएव काश्मीरी परम्परा सर्वथा निराधार तथा तथ्यहीन है। वस्तुतः उद्भट के प्रादुर्भाव के पचास वर्षों के भीतर वामन अवश्य हुए होंगे। काव्यमीमांसा के प्रणेता राजशेखर[1], उद्भट के काव्यालङ्कार-सार-संग्रह के प्रसिद्ध टीकाकार प्रतीहारेन्द्रराज तथा ध्वन्यालोक-लोचन एवं अभिनव भारती के लेखक अभिनवगुप्त[2] अपने-अपने ग्रन्थों या टीकाओं में वामन के श्लोकों तथा विचारों का उल्लेख करते हैं। अतएव इनसे पहले वामन का होना निश्चित है। साथ ही उद्भट या उद्भट से पूर्व के आचार्य इनकी चर्चा तक नहीं करते हैं। अतएव इसी बीच में वामन कहीं थे। ध्वन्यालोक के लोचन की रचना नवम् शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुई थी तथा राजशेखर दशम् शतक के प्रथम चरण में हुए। अतएव वामन ८५० ई० से पूर्व के लगभग हुए होंगे।

इनकी एक मात्र रचना 'काव्यालङ्कार-सूत्रवृत्ति' उपलब्ध होती है। इस रचना के तीन अङ्ग हैं—सूत्र, वृत्ति और उदाहरण। इन्होंने स्वयं सूत्र भी लिखे थे और वृत्तियाँ भी रची थीं। वामन ने अपने ग्रन्थ में स्वयं वृत्ति-रचना की ओर संकेत किया है।[3] समस्त ग्रंथ पाँच अधिकरणों में बँटा हुआ है और प्रत्येक अधिकरण में दो अध्याय हैं। इस प्रकार कुल १२ अध्याय हैं तथा इन सभी अध्यायों के सूत्रों की पूरी संख्या ३१९ हैं। सभी अधिकरणों के वामन ने अलग-अलग नाम दिये हैं तथा उनकी विषय वस्तुएँ तो अलग-अलग हैं ही।

शारीर नामक प्रथम अधिकरण में काव्य प्रयोजन, काव्य के अधिकारी, काव्य की आत्मा रीति, रीति के भेद आदि बताए गए हैं। दोषदर्शन नामक द्वितीय अधिकरण में पद दोष, वाक्यदोष और वाक्यार्थ दोष बताए गए हैं। गुणविवेचन नामक तृतीय अधिकरण में दस प्रकार के गुण बताए गए हैं तथा आरम्भ में अलंकार और गुण का पारस्परिक अन्तर भी बताया गया है। आलंकारिक नामक चतुर्थ अधिकरण में विभिन्न शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का वर्णन है। प्रायोगिक नामक पाँचवें अधिकरण में कवियों के लिए कतिपय ऐसे प्रयोग बताए गए हैं जिनमें व्याकरण की अशुद्धियाँ आदि होने की ज्यादा सम्भावना रहती है।

---

१ राजशेखर : काव्यमीमांसा पृष्ठ १४ और २०।

२ लोचन : पृष्ठ ८, १० और १८० : अभिनव भारती, खण्ड १ पृष्ठ २८८।

३ प्रणम्य परमं ज्योतिर्वामनेन कविप्रिया।
काव्यालंकार सूत्राणां स्वेषां वृत्तिर्विधीयते ॥
—वामन : काव्यालंकार सूत्रवृत्ति —प्रथम अधि० प्रारम्भिक श्लोक।

आचार्य वामन रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं। इन्होंने रीति को काव्य आत्मा माना था।[1] इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इन्होंने काव्य के अन्य तत्वों को हीन माना या उनकी उपादेयता ही नहीं स्वीकार की। इन्होंने रीति, गुण और अलंकार इन सबों को परस्पर-सापेक्ष माना है। जिस रीति को इन्होंने काव्य की आत्मा माना उसी को "गुणात्मक" भी कहा है।[2] फलतः गुणों के आधार पर ही रीति का अस्तित्व रहने के कारण काव्य में उसकी उपादेयता अपरिहार्य हो जाती है। काव्य ग्राह्य होता है अलंकारों से[3] और ये अलंकार हैं काव्य के वे सारे तत्व जो उसे सौन्दर्य प्रदान करते हैं।[4] इतना ही नहीं, काव्य की आत्मा रीति भी दोषों के त्याग तथा गुणों और अलंकारों के ग्रहण से ही मूर्त होती है।[5] इस प्रकार रीति गुण और अलंकारों पर आधारित है और ये सभी तत्व काव्य के लिए आवश्यक एवं उपादेय हैं। वामन ने गुणों और अलंकारों का पारस्परिक अन्तर भी निर्दिष्ट किया है। वामन की दृष्टि में गुण काव्य की शोभा को सम्पन्न करने वाले धर्म हैं[6] तथा अलंकार उसी शोभा का अतिशय वर्द्धन करते हैं।[7] गुण नित्यधर्म है[8] तथा अलंकार वाह्य धर्म होने के कारण अनित्य हैं। गुणों का सम्बन्ध रीतियों से शाश्वतिक होने के कारण ये आत्मनिष्ठ नित्यधर्म हो जाते हैं और अलंकार वाह्य धर्म होने के कारण वैकल्पिक माने जा सकते हैं। परवर्ती काल में आचार्य मम्मट ने गुणों और अलंकारों का अन्तर इसी प्रकार बताया। वामन से उनका अन्तर इतना ही था कि जहां वामन ने गुणों को काव्यात्मभूत रीति का नित्यधर्म माना, वहां मम्मट ने काव्यात्मभूत रस के साथ इनका शाश्वतिक सम्बन्ध जोड़ा। दोनों के दृष्टिकोण अलग-अलग थे। चूंकि दोनों दो सम्प्रदायों में विश्वास रखते थे; एक थे रीतिवादी और दूसरे रसवादी।

रस को आचार्य वामन ने विशेष महत्व नहीं प्रदान किया। गुण रीति और यहां तक कि अलंकार इनकी दृष्टि में ज्यादा महत्वपूर्ण थे और रस नितान्त गौण। रस को इन्होंने गुण का धर्म स्वीकार किया। रसयुक्त गुण को इन्होंने कांति नाम दिया है।[9] ठीक इसके विपरीत रसवाद रस को आत्मा और रीति को "अंगसंस्थान-

---

१ रीतिरात्मा काव्यस्य। वामन। काव्यालंकार—सूत्रवृत्ति १।२।६।

२ (क) विशिष्टा पदरचनारीतिः। १।२।७। (ख) विशेषो गुणात्मा—१।२।८।

३ काव्यं ग्राह्यं अलंकारात्। १।१।११।

४ सौन्दर्यमलंकारः। १।१।१२।

५ स दोषगुणालंकार — हानादानाभ्याम्। १।१।१३।

६ काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः। ३।१।१।

७ तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः। ३।१।२।

८ पूर्वे नित्याः। ३।१।३।

९ दीप्तरसत्वं कांतिः। दीप्ता रसा शृंगारादयो यस्यस दीप्तरसः। तस्य भावो दीप्त रसत्वं कांतिः।

—काव्यालंकार — सूत्रवृत्ति। ३।२।१५ और वृत्ति।

वत्" मानता है। दोनों साम्प्रदायिक चश्मे लगाकर देखते थे। अतएव दृष्टिकोण में एकांगिता आ गई है। जो हो, पर वामन की दृष्टि में रीति अङ्गी है और रस गुण-धर्म होने के कारण एक अङ्ग मात्र। इस प्रकार वामन के समय तक गुण और अलंकार ही काव्य के मुख्य तत्व बने रहे और रस सर्वथा हीन एवं गौण तत्व कहलाता रहा।

रुद्रट

वामन के अनन्तर सुप्रसिद्ध आचार्य रुद्रट का अविर्भाव हुआ। मौलिकता की दृष्टि से ये अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। वस्तुतः भरत के बाद भामह से लेकर वामन तक के आचार्यों में इतना सन्तुलित दृष्टिकोण रखने वाला कोई नहीं हुआ। यों नाम के अन्त में टकार देख कर लोग सामान्यतः काश्मीरी समझ लेते हैं। पर ये काश्मीरी नहीं थे। क्योंकि इनके "काव्यालंकार" पर टीका करने वाले "नमिसाधु" थे। इन्होंने ११२५ विक्रम सम्वत् में अर्थात् १०६८-६९ में यह टीका लिखी थी। नमिसाधु ने रुद्रट का परिचय देते हुए कहा है कि इनका दूसरा नाम शतानन्द था और ये वामुकभट्ट के पुत्र थे।[1] ये दोनों नाम निःसन्देह काश्मीरी जैसे नहीं लगते हैं।

रुद्रट का समय वामन के करीब ही होना चाहिए। इसका निर्णय भी बड़ी आसानी से हो जाता है। भामह, दण्डी और उद्भट प्रभृति आलंकारिकों की अपेक्षा इन्होंने कतिपय नवाविष्कृत अलंकार भी लिखे हैं। अतएव इनकी अपेक्षा ये निःसंदेह परवर्ती थे। साथ ही दशमी शताब्दी तथा उससे आगे आने वाले राजशेखर, प्रतीहारेन्दुराज, धनिक, अभिनवगुप्त प्रभृति आचार्यों ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से इनकी चर्चा की है। अतएव रुद्रट का समय नवमी शताब्दी के तृतीय चरण में मानना चाहिए। पी० वी० काणे ने भी इनका समय ८२५ ई० और ८७५ ई० के मध्य में स्वीकार किया है।[2]

रुद्रट की एक मात्र काव्यशास्त्रीय कृति "काव्यालंकार" है। इसमें कुल १६ अध्याय हैं तथा अधिकांशतः आर्या छन्द में समस्त ग्रन्थ लिखा हुआ है। ग्रन्थ के अन्तिम अंश में दूसरे छन्दों का भी प्रयोग किया गया है। पूरे ग्रन्थ में ७३४ पद्य हैं तथा इनके अतिरिक्त १४ ऐसे पद्य (१२वें अध्याय में) जो नायिका-भेद से सम्बन्ध रखते हैं, विद्वानों के द्वारा प्रक्षिप्त बताए जाते हैं।

ग्रन्थ समस्त काव्यशास्त्र को ध्यान में रख कर लिखा गया है। "काव्यालंकार" (ग्रन्थ का नाम) में प्रयुक्त अलंकार शब्द व्यापक अर्थ रखता है। ग्रन्थ के

१ अत्र च चक्रे स्वनामांकभूतोऽयं श्लोकः कविनान्तर्भावितो यथा —
शतानन्द पराख्येन भट्टवामुकसूनुना। साधितं रुद्रटेनेदं सामाजा धीमतां हितम्।
—नमिसाधु : काव्यालंकार-टीका। ५।१२-१४।

२ पी० वी० काणे। हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स, पृ० १४६।

प्रथम अध्याय में ग्रन्थ-प्रयोजन, काव्य-प्रयोजन आदि वर्णित हैं। द्वितीय से पंचम अध्याय तक केवल शब्दालंकारों का प्रतिपादन किया गया है। सप्तम से दशम अध्यायों तक अर्थालंकारों का विवेचन किया गया है। षष्ठ अध्याय में शब्द दोषों का उल्लेख है तथा ग्यारहवें अध्याय में अर्थदोषों एवं उपमादोषों का विवरण है। द्वादश से लेकर पंचदश अध्याय तक रसों का विशद विवेचन किया गया है। अन्तिम अध्याय (षोड़श अध्याय) में महाकाव्य आदि विविध काव्य-विधानों का वर्णन है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में आचार्यत्व की दृष्टि से एकांगिता नहीं है, वरन् उन्होंने काव्य के सभी मुख्य तत्वों पर प्रकाश डाला है।

रुद्रट के काव्यालंकार के अध्ययन के अनन्तर हम उसमें कई उल्लेखनीय बातें पाते हैं। कई दृष्टियों से आप मौलिक प्रतीत होते हैं। इधर भामह के बाद काव्य-शास्त्र में किसी आचार्य ने नूतन उद्‌भावनाएं नहीं की थीं। वे एक तरह से परम्परा गत लीक पर ही चलते रहे। पर रुद्रट में नवोद्भावना की शक्ति थी और वे काव्य-शास्त्रीय विचारों को अग्रसर करने में तत्पर थे। इन्होंने सर्वप्रथम अलंकारों के वर्गीकरण के लिए कुछ आधार लिए और उन्हीं आधारों पर समस्त अलंकारों को वैज्ञानिक रीति से विभाजित किया। उनके ये चार आधार थे—वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष। वस्तुतः सभी अलंकार इनमें से किसी न किसी तत्व पर आधारित हैं। दूसरी उल्लेखनीय उद्भावना इनकी है—"भाव" नामक अलंकार की कल्पना में। इस अलंकार को व्यंग्यार्थ की कुंजी समझना चाहिए। परवर्ती काल में ध्वनिसम्प्रदाय के आचार्यों ने जिस व्यंग्यार्थ को सातवें आसमान पर बिठा दिया था उसका बीज वस्तुतः रुद्रट के इसी "भाव" नामक अलंकार में था। मत, साम्य और पिहित भी इनके नवोद्‌भावित अलंकार हैं। इन्होंने रीति की चर्चा तो की है, पर उसे अधिक महत्व प्रदान नहीं किया। गुणों का इन्होंने उल्लेख भी नहीं किया है। फलतः रीति-सम्प्रदाय या गुणसम्प्रदाय में इनकी थोड़ी भी आस्था नहीं थी—यह सिद्ध हो जाता है। रसों के सम्बन्ध में भी इन्होंने कई नई उद्भावनाएँ की हैं। जहाँ अभी रसों की संख्या नौ थी, वहाँ इन्होंने दश रसों की चर्चा की है। प्रेयस् नामक एक नवीन रस की उद्भावना इन्होंने की। इतना ही नहीं, आपने यह भी स्वीकार किया कि सभी रसों के जितने भी व्यभिचारी तथा सात्विक भाव हैं, वे समुचित उद्भावक तत्वों को पाकर रस रूप में परिणत हो सकते हैं। इस प्रकार, रुद्रट की दृष्टि में रसों के दस ही नहीं, अनेक प्रभेद किए जा सकते हैं। सबसे पूर्व इन्होंने ही विप्रलम्भ को पूर्वानुराग, मान, प्रवास और करुण—नामक भेदों में विभाजित किया। रस के क्षेत्र में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य इन्होंने यह किया कि जहाँ भरत ने रस की व्याप्ति केवल रूपकों या दृश्य-काव्य तक ही मानी थी, वहाँ इन्होंने उसे दृश्य-काव्य के संकीर्ण कठघरे से निकाल कर प्रशस्त एवं विस्तीर्ण काव्य-सामान्य के मार्ग पर प्रतिष्ठित किया। कहने का तात्पर्य यह कि रस अब केवल 'नाट्यरस' ही नहीं वरन् वह 'काव्य-रस'

भी हो गया। काव्य के लिए इन्होंने रस तत्व को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना।[1] रस-हीन काव्य की काव्यता को स्वीकार करने के पक्ष में आप बिल्कुल नहीं थे।

श्री काणे ने रुद्रट को अलंकार-सम्प्रदाय का आचार्य माना है।[2] उनका मुख्य आधार यह है कि रुद्रट ने भाव, मत, साम्य और पिहित आदि नूतन अलंकारों की उद्भावना की तथा इनका वैज्ञानिक ढंग से वर्गीकरण प्रस्तुत किया था। इसके विपरीत डा० शंकरन् ने आचार्य रुद्रट को समन्वयवादी कहा है।[3] इन दोनों अभिमतों पर ध्यान रखते हुए डा० ओमप्रकाश ने रुद्रट को अलंकारवादी माना है।[4] पर मेरी धारणा है कि रुद्रट रसवादी थे, अलंकारवादी नहीं। इन्होंने अलंकारों को शब्द और अर्थ को अलंकृत करने वाला तत्व माना है, अन्य अलंकारवादियों की तरह इन्हें काव्य का अनिवार्य एवं अपरिहार्य चरम तत्व नहीं स्वीकार किया है। इसके विपरीत रस के सम्बन्ध में स्पष्ट शब्दों में उद्घोषित किया है कि काव्य को बड़े यत्न के साथ रसयुक्त बनाना चाहिए। रस के बिना कविता निष्प्राण और रम्यता-विहीन होती है। अतएव काव्य में रस का आदर अपेक्षित है।[5] इसके अतिरिक्त जैसी मौलिक उद्भावनायें अलंकारों के सम्बन्ध में है, उससे कहीं अधिक सूक्ष्म और तर्कपूर्ण उद्भावनायें रस के क्षेत्र में है। रस विषयक उद्भावनाओं की चर्चा अभी मैंने उपर की है। अतएव मेरी दृष्टि में आचार्य रुद्रट भरत के बाद रस-सम्प्रदाय के एक प्रबल समर्थक आचार्य हुए। इनके समय में आकर रस सिद्धान्त काव्यलोक में प्रवेश पाने के कारण कुछ अधिक व्यापक ही नहीं हुआ बल्कि दृढ़मूल भी हो गया था। फलतः नि.सन्दिग्ध रूप से आपको रसवादी मानना चाहिए।

आनन्दवर्द्धन

रुद्रट के अनन्तर संस्कृत काव्य-शास्त्र में विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न, दुर्धष वैदुष्य से मण्डित आचार्य आनन्दवर्धन का आगमन हुआ। आपने, भारतीय काव्य-शास्त्र-गगन को देदीप्यमान नक्षत्र के रूप में उसी समय आलोकित किया था जिस समय काश्मीर में अवन्तिवर्मा शासन कर रहे थे। राजतरंगिणीकार कल्हण ने इस ओर स्पष्ट शब्दों में संकेत किया।[6] अवन्तिवर्मा का शासन-काल ८५५ ई०-

१ तस्मात्तत्कर्त्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्। रुद्रट : काव्यालंकार १२।२।

२ इन्ट्रोडक्शन टू साहित्य दर्पण।

३ सम आसपेक्ट्स आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म-पृ० ३४।

४ हिन्दी-अलंकार-साहित्य : पृ०-२१।

५ एते रसा रसवतो रभयन्ति पुंसः, सम्यग्विभज्य रचिताश्चतुरेण चारु।
यस्मादिमाननधिगम्य न सर्वरम्यं, काव्यं विधातुमलमत्र तदद्रियेत ॥
—रुद्रटः का० १५।२१।

६ मुक्ताकणः शिवस्वामी, कविरानन्दवर्धन।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः ॥
—राजतरंगिणी : श्लोक—३४।

प्रथम अध्याय में ग्रन्थ-प्रयोजन, काव्य-प्रयोजन आदि वर्णित हैं। द्वितीय से पंचम अध्याय तक केवल शब्दालंकारों का प्रतिपादन किया गया है। सप्तम से दशम अध्यायों तक अर्थालंकारों का विवेचन किया गया है। षष्ठ अध्याय में शब्द दोषों का उल्लेख है तथा ग्यारहवें अध्याय में अर्थदोषों एवं उपमादोषों का विवरण है। द्वादश से लेकर पंचदश अध्याय तक रसों का विशद विवेचन किया गया है। अन्तिम अध्याय (षोड़श अध्याय) में महाकाव्य आदि विविध काव्य-विधानों का वर्णन है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में आचार्यत्व की दृष्टि से एकांगिता नहीं है, वरन् उन्होंने काव्य के सभी मुख्य तत्वों पर प्रकाश डाला है।

रुद्रट के काव्यालंकार के अध्ययन के अनन्तर हम उसमें कई उल्लेखनीय बातें पाते हैं। कई दृष्टियों से आप मौलिक प्रतीत होते हैं। इधर भामह के बाद काव्य-शास्त्र में किसी आचार्य ने नूतन उद्भावनाएं नहीं की थीं। वे एक तरह से परम्परा गत लीक पर ही चलते रहे। पर रुद्रट में नवोद्भावना की शक्ति थी और वे काव्य-शास्त्रीय विचारों को अग्रसर करने में तत्पर थे। इन्होंने सर्वप्रथम अलंकारों के वर्गीकरण के लिए कुछ आधार लिए और उन्हीं आधारों पर समस्त अलंकारों को वैज्ञानिक रीति से विभाजित किया। उनके ये चार आधार थे—वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष। वस्तुतः सभी अलंकार इनमें से किसी न किसी तत्व पर आधारित हैं। दूसरी उल्लेखनीय उद्भावना इनकी है—"भाव" नामक अलंकार की कल्पना में। इस अलंकार को व्यंग्यार्थ की कुंजी समझना चाहिए। परवर्ती काल में ध्वनिसम्प्रदाय के आचार्यों ने जिस व्यंग्यार्थ को सातवें आसमान पर बिठा दिया था उसका बीज वस्तुतः रुद्रट के इसी "भाव" नामक अलंकार में था। मत, साम्य और पिहित भी इनके नवोद्भावित अलंकार हैं। इन्होंने रीति की चर्चा तो की है, पर उसे अधिक महत्व प्रदान नहीं किया। गुणों का इन्होंने उल्लेख भी नहीं किया है। फलतः रीति-सम्प्रदाय या गुणसम्प्रदाय में इनकी थोड़ी भी आस्था नहीं थी—यह सिद्ध हो जाता है। रसों के सम्बन्ध में भी इन्होंने कई नई उद्भावनाएं की हैं। जहाँ अभी रसों की संख्या नौ थी, वहाँ इन्होंने दश रसों की चर्चा की है। प्रेयस् नामक एक नवीन रस की उद्भावना इन्होंने की। इतना ही नहीं, आपने यह भी स्वीकार किया कि सभी रसों के जितने भी व्यभिचारी तथा सात्विक भाव हैं, वे समुचित उद्भावक तत्वों को पाकर रस रूप में परिणत हो सकते हैं। इस प्रकार, रुद्रट की दृष्टि में रसों के दस ही नहीं, अनेक प्रभेद किए जा सकते हैं। सबसे पूर्व इन्होंने ही विप्रलम्भ को पूर्वानुराग, मान, प्रवास और करुण—नामक भेदों में विभाजित किया। रस के क्षेत्र में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य इन्होंने यह किया कि जहाँ भरत ने रस की व्याप्ति केवल रूपकों या दृश्य-काव्य तक ही मानी थी, वहाँ इन्होंने उसे दृश्य-काव्य के संकीर्ण कठघरे से निकाल कर प्रशस्त एवं विस्तीर्ण काव्य-सामान्य के मार्ग पर प्रतिष्ठित किया। कहने का तात्पर्य यह कि रस अब केवल 'नाट्यरस' ही नहीं वरन् वह 'काव्य-रस'

भी हो गया। काव्य के लिए इन्होंने रस तत्व को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना।[1] रस-हीन काव्य की काव्यता को स्वीकार करने के पक्ष में आप बिल्कुल नहीं थे।

श्री काणे ने रुद्रट को अलंकार-सम्प्रदाय का आचार्य माना है।[2] उनका मुख्य आधार यह है कि रुद्रट ने भाव, मत, साम्य और पिहित आदि नूतन अलंकारों की उद्भावना की तथा इनका वैज्ञानिक ढंग से वर्गीकरण प्रस्तुत किया था। इसके विपरीत डा० शंकरन् ने आचार्य रुद्रट को समन्वयवादी कहा है।[3] इन दोनों अभिमतों पर ध्यान रखते हुए डा० ओमप्रकाश ने रुद्रट को अलंकारवादी माना है।[4] पर मेरी धारणा है कि रुद्रट रसवादी थे, अलंकारवादी नहीं। इन्होंने अलंकारों को शब्द और अर्थ को अलंकृत करने वाला तत्व माना है, अन्य अलंकारवादियों की तरह इन्हें काव्य का अनिवार्य एवं अपरिहार्य चरम तत्व नहीं स्वीकार किया है। इसके विपरीत रस के सम्बन्ध में स्पष्ट शब्दों में उद्घोषित किया है कि काव्य को बड़े यत्न के साथ रसयुक्त बनाना चाहिए। रस के बिना कविता निष्प्राण और रम्यता-विहीन होती है। अतएव काव्य में रस का आदर अपेक्षित है।[5] इसके अतिरिक्त जैसी मौलिक उद्भावनायें अलंकारों के सम्बन्ध में है, उससे कहीं अधिक सूक्ष्म और तर्कपूर्ण उद्भावनायें रस के क्षेत्र में है। रस विषयक उद्भावनाओं की चर्चा अभी मैंने उपर की है। अतएव मेरी दृष्टि में आचार्य रुद्रट भरत के बाद रस-सम्प्रदाय के एक प्रबल समर्थक आचार्य हुए। इनके समय में आकर रस सिद्धान्त काव्यलोक में प्रवेश पाने के कारण कुछ अधिक व्यापक ही नहीं हुआ बल्कि दृढ़मूल भी हो गया था। फलतः नि.सन्दिग्ध रूप से आपको रसवादी मानना चाहिए।

आनन्दवर्द्धन

रुद्रट के अनन्तर संस्कृत काव्य-शास्त्र में विलक्षण प्रतिभा-सम्पन्न, दुर्धष वैदुष्य से मण्डित आचार्य आनन्दवर्धन का आगमन हुआ। आपने, भारतीय काव्य-शास्त्र-गगन को देदीप्यमान नक्षत्र के रूप में उसी समय आलोकित किया था जिस समय काश्मीर में अवन्तिवर्मा शासन कर रहे थे। राजतरंगिणीकार कल्हण ने इस ओर स्पष्ट शब्दों में संकेत किया।[6] अवन्तिवर्मा का शासन-काल ८५५ ई०-

१ तस्मात्तत्कर्त्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्। रुद्रट : काव्यालंकार १२।२।

२ इन्ट्रोडक्शन टू साहित्य दर्पण।

३ सम आसपेक्ट्स आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म-पृ० ३४।

४ हिन्दी-अलंकार-साहित्य : पृ०-२१।

५ एते रसा रसवतो रमयन्ति पुंसः, सम्यग्विभज्य रचिताश्चतुरेण चारु।
यस्मादिमाननधिगम्य न सर्वरम्यं, काव्यं विधातुमलमत्र तदद्रियेत॥
—रुद्रटः का० १५।२१।

६ मुक्ताकणः शिवस्वामी, कविरानन्दवर्धन।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥
—राजतरंगिणी : श्लोक–३४।

८८३ ई० माना जाता है। अतएव निश्चित रूप से आनन्दवर्धन का भी यही समय मान लेना चाहिए। काल-निरूपण की समस्या को हम दूसरे ढंग से भी सुलझा सकते हैं। आनन्दवर्धन ने अपने ग्रंथ में आचार्य उद्भट को उद्धृत किया है। अतएव उद्भट के बाद आपका होना निश्चित है। उद्भट आठवीं शताब्दी के अन्त में हुए। अतएव आनन्दवर्धन को कम से कम नवमीं शताब्दी में ही लाना पड़ेगा। दूसरी ओर ९०० ई० से ९२५ ई० के मध्य में होने वाले राजशेखर अपनी काव्य मीमांसा में आनन्दवर्धन का उल्लेख करते हैं। परिणामतः आनन्दवर्धन को ८६० ई० से ८९० के मध्य में रखने में किसी तरह की विप्रतिपत्ति नहीं दिखाई पड़ती है।

आनन्दवर्धन ने अपनी "देवीशतक" (देवी का स्तोत्र) नामक रचना में स्वयं अपना परिचय देते हुए कहा है कि मेरे पिता का नाम "नोणं" है[1]। हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासनविवेक में भी इनके पिता का नाम नोणं ही बतलाया है[2]।

आनन्दवर्धन ने अर्जुनचरित, विषमवाणलीला, ध्वन्यालोक, और देवीशतक नामक पुस्तकें लिखी थीं। इनमें ध्वन्यालोक को छोड़कर अन्य सारी रचनाएं काव्यकृतियाँ हैं। इनके अतिरिक्त, आनन्दवर्धन ने बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति के प्रमाण-विनिश्चय नामक दार्शनिक ग्रन्थ पर टीका लिखी थी। इस टीका का नाम है "धर्मोत्तमा"। इन रचनाओं को समग्रता में देखने पर इनकी बहुमुखी प्रतिभा का ज्ञान होता है। एक ओर यदि आपने सरस महाकाव्य, खण्डकाव्य और स्तोत्र लिख कर कवित्वशक्ति का परिचय दिया है तो दूसरी ओर ध्वन्यालोक जैसे मर्मपूर्ण एवं सशक्त समीक्षा ग्रन्थ लिखकर अपनी तत्वदर्शिनी आलोचनाशक्ति का भी। आपकी अदम्य दार्शनिकता भी "धर्मोत्तमा" टीका में स्पष्टतया झलकती है।

आनन्दवर्धन की उपर्युक्त कृतियों में ध्वन्यालोक ही एक मात्र काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। यह रचना अपने आप में युगान्तरकारिणी है। अभी तक की सारी काव्यात्मक मान्यताओं को काट कर एक नवीन काव्य-सम्प्रदाय की स्थापना करने वाला यह ग्रन्थरत्न संस्कृत साहित्य शास्त्र में अद्वितीय है। ध्वनि-सम्प्रदाय का यथार्थ प्रवर्तन आचार्य आनन्दवर्धन से ही होता है। भले ही इसका बीज ढूंढ़ने वाले कहीं और ही ध्वनि का उद्भव बतावें, पर इतने व्यवस्थित, सन्तुलित एवं शास्त्रीय रूप में ध्वनि को प्रस्तुत करने वाला प्रथम आचार्य आनन्दवर्धन ही हुआ। इस ग्रन्थ का भारतीय काव्य-शास्त्र में वही स्थान है जो व्याकरण-शास्त्र में पाणिनि के सूत्रों का अथवा वेदान्तदर्शन में वेदान्तसूत्र का। इस ग्रन्थ के प्रत्येक पृष्ठ में मौलिकता अंकित है। यही कारण है कि परवर्तीकाल में पण्डितराज जगन्नाथ जैसे

---

१ आनन्दवर्धन : देवीशतक—श्लोक—१०१।

२ काव्यानुशासन विवेक, पृष्ठ—२२५।

उद्भट आचार्य एवं कवि ध्वन्यालोक की प्रशंसा करते अघाते नहीं। उन्होंने तो यहाँ तक कह डाला है कि आनन्दवर्धन "अलंकार शास्त्र" के नियामक थे [1]। वस्तुतः विभिन्न सम्प्रदायों के विचार-जाल में जो काव्य-शास्त्र फँसा हुआ था उसे वैज्ञानिक ढंग से प्रथम बार विश्लेषित कर ध्वनि जैसे अमूल्य काव्यतत्व को ढूंढ़ लाने का परम श्रेय आपको ही है।

ध्वन्यालोक में चार उद्योत है। इनमें से प्रथम तीन उद्योतों पर अभिनवगुप्त की "लोचन" नामक सुप्रसिद्ध टीका है जिसका प्रकाशन निर्णयसागर प्रेस से हुआ है। पर अब ध्वन्यालोक के चतुर्थ उद्योत पर भी अभिनवगुप्त की "लोचन" टीका उपलब्ध हुई है जिसका प्रकाशन डा० एस० के० डे, के सम्पादकत्व में हो चुका है [2]। ध्वन्यालोक के तीन अंग हैं:—कारिका वृत्ति और उदाहरण। उदाहरण अधिकांशतः प्राचीन कवियों की कृतियों से लिए गए हैं तथा थोड़े-बहुत स्वरचित रचनाओं से भी। कारिका और वृत्ति दोनों की रचना स्वयं आनन्दवर्धन ने की थी अथवा केवल कारिका की, इस विवाद में जाने की यहाँ गुंजायश नहीं है। अनेक साक्ष्यों के आधार पर डा० शंकरन ने भलीभाँति निर्णीत कर दिया है कि कारिकाकार और वृत्तिकार स्वयं आनन्दवर्धन थे। इसका विस्तृत विवेचन पी० बी० काणे ने किया है।[3] ग्रन्थ के प्रथम उद्योत में ध्वनि की स्थापना की गई है। इसके पहले ग्रन्थकार को उन सारे ध्वनिविरोधी तर्कों का खण्डन करना पड़ा है। कुछ लोग ध्वनि को लक्षणा में तथा कुछ रस में गतार्थ करते थे। कुछ आचार्य ऐसे भी थे जिन्होंने ध्वनि का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं किया था। पर आनन्दवर्धन ने युक्तिपूर्वक सभी के मतों का निरसन किया एवं ध्वनि की स्थापना की। तदनन्तर अर्थों के दो भेदों का उल्लेख किया गया है। वे अर्थ हैं:—वाच्य और प्रतीयमान। प्रतीयमान (ध्वनि) को भी वस्तु, अलंकार एवं रस में बाँटकर पुनः इन तीनों के अनेक प्रभेद बताए गए हैं। द्वितीय उद्योत में भी ध्वनि के कुछ भेदोपभेदों की चर्चा की गई है तथा गुणों और अलंकारों का पारस्परिक अंतर स्पष्ट किया गया है। तृतीय उद्योत में व्यंजक की दृष्टि से पद-प्रकाश्य, वाक्य-प्रकाश्य आदि ध्वनि के भेद किए गए हैं। इसी उद्योत में गुणीभूतव्यंग्य-काव्य और चित्रकाव्य (क्रमशः मध्यम और अमध्यम काव्य) का भी सोदाहरण विवेचन विश्लेषण है। चतुर्थ उद्योत में कवि-प्रतिभा, काव्य का मुख्य रस, काव्य का क्षेत्र आदि विविध विषयों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरूपण एवं विवेचन किया गया है।

---

१ ध्वनिकृतामालंकारिक-सरणि-व्यवस्थापकत्वात्।
—जगन्नाथ : रसगंगाधर—पृ०-४२५।

२ जर्नल आफ दी डिपार्टमेंन्ट आफ लेटर्स। कलकत्ता विश्वविद्यालयलय : खण्ड ९, पृ०-१५-४२।

३ हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स-पृ०-१५५-१९०।

ध्वनि की स्थापना करने के कारण आचार्य आनन्दवर्द्धन ध्वनिसम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं। इन्होंने ध्वनि को ही काव्य की आत्मा मानी। इनके पहले भी कुछ आचार्यों[1] ने इस विषय का प्रतिपादन किया था पर इतनी गहराई में पैठ कर तर्कपूर्ण निरूपण किसी ने नहीं किया था। अतएव ध्वनिसम्प्रदाय के प्रवर्तन का श्रेय आपको ही प्राप्त है। जिस ध्वनि को इन्होंने काव्य की आत्मा मानी है उसका अस्तित्व महाकवियों की वाणी में उसी तरह रहता है जैसे सुन्दरी ललनाओं के शरीर में विभिन्न अंगों के सौन्दर्य के अतिरिक्त लावण्य नामक विलक्षण तत्त्व होता है[2]। यदि कविता की आत्मा ध्वनि है तो अलंकार, गुण, और वृत्ति उसके अंग हैं[3]। अंगी की शोभा का वर्द्धन करना इन अंगों का मुख्य कार्य है। यदि ध्वन्यार्थ वाच्यार्थ की तरह चमत्कार रहित हो अथवा वाच्यार्थ से भी कम चमत्कार का हो तो उसे गुणीभूतव्यंग्य काव्य मानना चाहिए। पर आनन्दवर्द्धन ने ऐसे भी स्थल में कवि-प्रतिभा का होना नितान्त आवश्यक माना है[4]। ऐसी कविताओं में जहाँ ध्वन्यर्थ (प्रतीयमान, व्यंग्य) का नितान्त अभाव हो, पर शब्दालंकार या अर्थालंकार का प्रयोग किया गया हो, उन्होंने चित्रकाव्यात्मकता स्वीकार की है।

काव्यशास्त्र के साधारण अध्येता ध्वनिसम्प्रदाय को रस सम्प्रदाय का विरोधी मानते हैं। परन्तु वस्तुस्थिति कुछ और है। वस्तुतः रस को भी आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि के अन्तर्गत ही डाल दिया है। सचमुच रस सदा व्यंग्य हुआ करता है। यह ठीक है कि रस को ध्वनि में अन्तर्मुक्त करके आनन्दवर्द्धन ने उसे अति व्यापक बनने से बंचित रक्खा है, पर रसध्वनि, वस्तुध्वनि और अलंकार ध्वनि आदि प्रभेदों में रसध्वनि को ही इन्होंने सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं उत्कृष्ट स्वीकार किया है। यद्यपि आनन्दवर्द्धन ध्वनि की काव्यात्मकता में विश्वास रखने वाले ध्वनिसम्प्रदाय प्रवंतक आचार्य हैं, किन्तु इन्होंने यथास्थान रस की काव्यात्मकता की ओर भी संकेत किया है[5]। फलतः ध्वनि-सिद्धान्त के अन्तर्गत रस-सिद्धान्त का भी निरूपण हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि व्यंग्यार्थमूलक ध्वनि-सिद्धान्त के भीतर रस को उत्कृष्ट तथा श्रेष्ठ स्थान अवश्य मिला, पर भरत या विश्वनाथ युग की तरह

---

१ काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैः यः समाम्नातपूर्वः। ध्वन्यालोक। १।१।

२ प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत् प्रसिद्धावयवारितित्त विभाति लावण्यमिवांगनासु। वही-१।४।

३ तस्य पुनरंगानि अलंकाराः गुणा वृत्तपश्चेति—। वही-१।११ (वृत्ति)।

४ ध्वनेरित्तथं गुणीभूतव्यंग्यस्य समाश्रयात्।
न काव्यार्थ विरामोऽस्ति यदि स्यात् प्रतिभागुणः ।। —वही-४-६।

५ काव्यस्यात्मा स एवार्थः तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौंच द्वन्द्व वियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः। ध्वन्यालोकः १।५।

"रसात्मकम्" की व्यापकता नहीं प्राप्त हुई। रस के सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य एक और बात यह है कि जिस प्रकार रुद्रट ने रूपकों और काव्यों में समान रूप से रसों की आवश्यकता स्वीकार की, उसी तरह आनन्दवर्द्धन ने भी "नाट्यरस" और "काव्यरस" दोनों को माना। अतएव ध्वनि सम्प्रदाय को रस सम्प्रदाय का विरोधी मानना सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण विचार है।

कुन्तक

आचार्य कुन्तक वक्रोक्ति सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। अभी हाल तक उनके सम्बन्ध में हमारा ज्ञान अधूरा था। हम उन्हें केवल परवर्ती आचार्यों के उद्धरणों से ही जानते थे। सबसे पहले डा० डे, महोदय ने उनके "वक्रोक्तिजीवितम्" नामक ग्रन्थ रत्न के दो उन्मेषों (अध्यायों) का प्रकाशन किया। पर अब अनेक विद्वानों एवं अनुसन्धान संस्थाओं के सत्प्रयत्न से उनका पूरा ग्रन्थ किसी न किसी रूप में हमारे सामने है। अभी हाल में (१९५५ ई० में) दिल्ली विश्वविद्यालय की हिन्दी अनुसन्धान परिषद् के तत्त्वावधान में डा० नगेन्द्र ने "हिन्दी वक्रोक्तिजीवित" का प्रकाशन कराया है। इसमें पूरा मौलिक ग्रन्थ है। फिर भी ग्रन्थ के उत्तरार्ध की मौलिकता सन्दिग्ध है। ग्रन्थ की भूमिका में व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर ने स्वयं इसे स्वीकार किया है और कहा है कि किस प्रकार सूत्रों और वृत्तियों की अर्थ-संगति बैठाने के लिए वाध्य होकर उन्हें "विवेकाश्रित सम्पादन-पद्धति" की सरणि लेनी पड़ी[1]। जो हो, दिल्ली अनुसन्धान परिषद् का यह प्रयास अत्यन्त श्लाध्य एवं स्तुत्य है।

आचार्य कुन्तक के नाम के सम्बन्ध में भी मतभेद है। उनकी पुस्तक की कुछ प्रतिलिपियों में राजानक कुन्तल या कुन्तलक नाम पाए जाते हैं। पर परवर्ती आचार्यों में विशेषतः व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट, काव्य-प्रकाश की साहित्य सौदामनी नामक टीका लिखने वाले गोपा भट्ट[2] तथा कुमारसम्भव के टीकाकार अरुणाचल नाथ[3] प्रभृति विद्वानों ने इन्हें कुन्तक नाम से अभिहित किया है। वस्तुतः वक्रोक्ति जैसे सूक्ष्म एवं चुभते काव्यतत्त्व के प्रतिपादक आचार्य का नाम कुन्तक ही होना चाहिए जिसका अर्थ होता है—"भाला"। कुन्तल शब्द प्रसाधित केश-राशि का द्योतक है और यह नाम किसी कोमल-कान्त पदावली के श्रृंगार-प्रिय कवि के लिए ही उपयुक्त हो सकता है। साथ ही, काश्मीर-निवासी पूर्ववर्ती आचार्यों के नाम जैसे कर्ण-कटु मिलते आ

१ हिन्दी वक्रोक्तिजीवितः हिन्दी व्याख्या-आमुख। पृ०-६-७।

२ वक्रानुरंजिनीमुक्तिं शुक इव मुखे वहन्, कुन्तकः क्रीडति सुखं कीर्तिस्फटिकंजरे।
—गोपाभट्टः काव्यप्रकाश-टीका साहित्यसौदामिनी, भूमिका, श्लोक - २।

३ हिन्दी वक्रोक्ति जीवितः हिन्दी व्याख्या-आमुख पृ०-१५।

रहे हैं उनकी तुलना में "कुन्तल" की अपेक्षा "कुन्तक" ही ज्यादा समीचीन अभिधान प्रतीत होता है।

आचार्य कुन्तक का समय दशवीं शताब्दी का मध्य भाग है। बड़ी सुविधा से संक्षेप में हम उनका काल-निरूपण कर सकते हैं। इनके ग्रन्थ का अन्तः साक्ष्य इसमें हमारी कुछ भी सहायता नहीं करता है, हर बाह्यसाक्ष्य से ही यह समस्या बड़ी आसानी से हल हो जाती है। आचार्य कुन्तक ने आनन्दवर्द्धन रचित उदाहरणों[1] और उनके ध्वन्यालोक की कारिका[2] को वक्रोक्ति जीवित में उद्धृत किया है। इससे प्रमाणित होता है कि कुन्तक आनन्दवर्द्धन के परवर्ती हैं। यह एक काल-सीमा है। दूसरी ओर व्यक्तिविवेक के प्रणेता महिमभट्ट ने कुन्तक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त का घोर विरोध करते हुए अपने ग्रन्थ में उनका उल्लेख किया है[3]। अतः कुन्तक महिमभट्ट के पूर्ववर्ती हैं। यह दूसरी सीमा-रेखा है। आनन्दवर्द्धन को अभी हमने नवमीं शताब्दी के अन्तिम-चरण में रखा है तथा महिमभट्ट ११ वीं शताब्दी के आचार्य हैं। फलतः कुन्तक इन दोनों आचार्यों के मध्य में विद्यमान रहने के कारण दसवीं शताब्दी के बीच में भलीभांति रखे जा सकते हैं।

आचार्य कुन्तक का एक मात्र कृतित्व 'वक्रोक्तिजीवित' है। इसमें चार उन्मेष हैं। कुछ विद्वान अभी भी इसके पंचम उन्मेष की बात करते हैं। पर ग्रन्थ जिस विषय का प्रतिपादन करने के लिए लिखा गया है, वह चतुर्थ उन्मेष में ही पूरा हो जाता है। अतएव पंचम उन्मेष के अस्तित्व की कथा सर्वथा कपोलकल्पित एवं भ्रामक प्रतीत होता है। मेरी इस मान्यता का समर्थन आचार्य विश्वेश्वर के विवेचन से भी होता है।[4] यदि पंचम उन्मेष कहीं से प्राप्त भी हो तो उसे प्रक्षिप्त ही मानना चाहिए। आनन्दवर्द्धन के ध्वन्यालोक की तरह इस ग्रन्थ के भी तीन अंग हैं— कारिका, वृत्ति और उदाहरण। उदाहरण प्राचीन कवियों की कृतियों से संकलित किए गए हैं। अधिकांश उदारहण कालिदास की रचनाओं से उद्धृत किए गए हैं। कारिका और वृत्ति इन दोनों अंशों की रचना कुन्तक ने स्वयं की है। यह ग्रन्थ सर्वथा मौलिक है और परवर्ती काल में अधिकांश आलोचकों का आलोचना-भाजन बनने का श्रेय इसे प्राप्त है। इस एक मात्र काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ ने "वक्रोक्ति सम्प्रदाय" नामक एक नवीन काव्य-सम्प्रदाय को जन्म दिया तथा संस्कृत काव्य-शास्त्र के इतिहास में क्रान्ति ला दी। इसी से इसकी मौलिकता, नवोद्भावना-शक्ति एवं सक्षम

१ तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते।
रवि किरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि॥
—वक्रोक्तिजीवितः उन्मेष, २-उदाहरण-२६।

२ वही-तृतीय उन्मेष, (दशम कारिका के विवेचन प्रसंग में)

३ व्यक्ति विवेक-पृ० ५८।

४ हिन्दी वक्रोक्ति जीवितः आमुख-पृ०-११।

विवेचनशैली का भलीभांति अनुमान किया जा सकता है। ग्रंथ के प्रथम उन्मेष में काव्य का प्रयोजन, लक्षण आदि प्रतिपादित करने के अनन्तर "षड्विधवक्रता" का अत्यन्त संक्षेप में परिचय कराया गया है। इस उन्मेष में कुल ५८ कारिकाएं हैं। द्वितीय उन्मेष में उन छः प्रकार की वक्रताओं में से तीन वक्रताओं के भेदोपभेद तथा लक्षण-उदाहरण का विस्तार-पूर्वक निरूपण किया गया है। कहने का तात्पर्य यह कि वर्णविन्यास-वक्रता, प्रत्यय-वक्रता और उपसर्ग तथा निपात-वक्रता ही इस उन्मेष के विवेच्य विषय हैं। इस उन्मेष में कुल ३३ कारिकाएं हैं। तृतीय उन्मेष में वक्रता के चतुर्थ भेद वाक्य-वक्रता का निरूपण किया गया है। इसी वाक्य-वक्रता के अन्तर्गत कुन्तक ने सभी अलंकारों को अन्तर्भुक्त कर डाला है। अतएव वक्रता के एकमात्र भेद वाक्य-वक्रता के निरूपण के बावजूद भी इस उन्मेष के कलेवर का अत्यन्त विस्तार हो गया है। इस उन्मेष में कुल मिलाकर ४६ कारिकाएं हैं। ग्रन्थ के चतुर्थ उन्मेष में वक्रता के शेष दो भेदों अर्थात् प्रकरण-वक्रता तथा प्रबन्ध-वक्रता का निरूपण किया गया है। इन दोनों वक्रताओं के अनेक भेदोपभेद भी इसी में निरूपित हैं। समस्त ग्रंथ में मुख्य प्रतिपाद्य विषय वक्रता का ही निरूपण है और वर्ण्य विषय यहाँ आकर समाप्त हो जाता है। पूरे ग्रंथ में कुल १६३ कारिकाएं हैं जिनमें षड्विध वक्रता का तर्कपूर्ण विवेचन एवं विश्लेषण किया गया है।

आचार्य कुन्तक एक देहवादी आचार्य माने जाते हैं। देहवादी आचार्य हम उन्हें कहते हैं जो शरीर को ही आत्मा मान लेते हैं। रसवादी भरत या ध्वनिवादी आनन्दवर्द्धन आत्मवादी आचार्य हैं। अन्य अलंकारवादी, रीतिवादी किम्बा वक्रोक्ति-वादी देहवादी आचार्य ही कहलायेंगे, क्योंकि इन्होंने काव्य के अंगों को ही अंगी मान कर अपने-अपने सिद्धान्त प्रस्तुत किए हैं। कुन्तक ने वक्रोक्ति को ही काव्य की आत्मा माना है[1]। इस वक्रोक्ति को इन्होंने वैदग्ध्य-भंगी-भणिति कहा है। इसे दूसरे शब्दों में, कवि-प्रतिभा से उत्पन्न, लोक व्यवहार तथा शास्त्र में प्रयुक्त शब्दों से भिन्न, ऐसे असाधारण शब्दों और अर्थों के सामंजस्य से घटित रचना को वक्रोक्ति कहेंगे जो चमत्कार के कारण सहृदयों को आह्लादित कर सके[2]। कुन्तक ने वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में किया है। उन्होंने इसी के अन्तर्गत रीति,

---

१ वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्। वक्रोक्तिजीवित। प्रथम उन्मेष।

२ वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा।
कीदृशी वैदग्ध्य-भंगीभणितिः।
वैदग्ध्यं विदग्धभावः, कविकर्मकौशलं,
तस्य भंगीविच्छित्तिः, तथा भणितिः।
विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते।

—वक्रोक्तिजीवित। १।१० वृत्ति।

अलंकार, ध्वनि तथा रस को समाविष्ट कर दिया है[1]। अतएव इन्हें व्यक्तिविवेक के प्रणेता महिमभट्ट की तरह रसध्वनिविरोधी आचार्य माना जाता है। सामान्यत: कुन्तक को वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के प्रवर्तन के बावजूद भी अलंकारवादी ही कहा जाता है। क्योंकि वाक्य-वक्रता के अंतर्गत बड़े विस्तार के साथ इन्होंने अलंकारों का निरूपण किया है।

पर मेरी धारणा इस सम्बन्ध में सर्वथा भिन्न है। समस्त वक्रोक्तिजीवित के आकलन के अनन्तर इसी निष्कर्ष पर पहुंचना पड़ता है कि आचार्य कुन्तक रसवाद के अधिक निकट हैं। यह ठीक है कि वक्रोक्ति को इन्होंने काव्य की आत्मा माना, रस को नहीं तथा इस वक्रोक्ति के भीतर सारे अलंकारों, ध्वनियों और रसों को इन्होंने अन्तर्निविष्ट किया। तथापि कवि-कर्म में आनन्द की आत्मचिन्तक उपयोगिता का आप तिरस्कार नहीं करते हैं। वक्रोक्ति जीवितम् के प्रथम उन्मेष में जब आप काव्य के प्रयोजन की चर्चा करने लगते हैं, वहाँ यह बात नितान्त स्पष्ट हो जाती है। इन्होंने काव्य के तीन प्रयोजन बतलाए हैं:—(१) चतुर्वर्ग फल-प्राप्ति, (२) व्यवहारौचित्य का परिज्ञान तथा (३) चतुर्वर्गफल प्राप्ति से भी बढ़कर अन्तश्चमत्कार की प्राप्ति[2]। काव्याध्ययन के तीन प्रयोजनों में उन्होंने सर्वाधिक महत्व अन्तश्चमत्कार को प्रदान किया है। यों तो रीतिवादी और अलंकारवादी सभी को काव्य में आनन्द तत्त्व स्वीकार्य है पर उनका आनन्द बौद्धिक ज्यादा है। रसवादियों का आनन्द वेद्यान्तर स्पर्श शून्य एवं ब्रह्मास्वादसहोदर होने के कारण संवेदनात्मक तथा अनुभूतिमूलक हैं। फलत: दोनों के आनन्द में महान् अन्तर हो जाता है। कुन्तक ने अन्तश्चमत्कार के अतिरिक्त आस्वाद, काव्यामृतरस, आह्लाद, अलौकिक आह्लाद आदि शब्दों का बार-बार प्रयोग किया है। अतएव इनका आनन्द रसवादियों के अधिक निकट प्रतीत होता है। मेरे कहने का सारांश यह है कि मौलिकता के आवेश में आकर कुन्तक ने वक्रोक्ति सिद्धान्त का निरूपण भले ही किया हो और एक नए सम्प्रदाय को जन्म भी दिया हो पर रस-सिद्धान्त से उनका वैसा कोई विरोध नहीं है।

---

१ उपाचारवक्रतादीनामेव मध्ये ध्वनिरन्तर्भूत: सर्वोऽपि ध्वनिप्रपंचो वक्रोक्तिभिरेव स्वीकृत:।

—जयरथ। अलंकार सर्वस्वविकर्शिनी, पृ०-८।

२ धर्मादि साधनोपाय: सुकुमारक्रमोदित:।
काव्य वन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लाद कारक:॥
व्यवहार परिस्पंदनसौन्दर्यं व्यवहारिभि:।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते॥
चतुर्थवर्ग फलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यये॥

—वक्रोक्तिजीवित।१।३-५।

रस-सिद्धान्त के स्थापक एवं पोषक आचार्यों से भले विरोध भी हो पर "काव्यामृतरसतत्व" आपकी दृष्टि से ओझल नहीं हो सका है। यह ठीक है कि रसवादियों की तरह रस के विभिन्न तत्वों, स्वरूप और उसकी निष्पत्ति आदि प्रपंचों की चर्चा आपने नहीं की है पर रस के विरोध में महिमभट्ट की तरह तर्कों का स्तूप भी आपने नहीं खड़ा किया है। अतएव कुन्तक को रस का घोर विरोधी मानना उनके सिद्धान्त के अपरिपक्व ज्ञान का परिचय देना है।

परवर्ती आचार्य (१००० ई०—१७०० ई०)

अभिनव गुप्त

आचार्य अभिनवगुप्त मध्ययुगीन भारत में एक अप्रतिम प्रतिभा लेकर अवतीर्ण हुए थे। आप काश्मीर के निवासी थे। इन्होंने अपनी रचनाओं में अपने पूर्वजों, गुरुओं तथा माता-पिता आदि के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा है।[1] अतएव संस्कृत के अन्य आचार्यों की तरह आपके सम्बन्ध में हमें अन्धकार में भटकना नहीं पड़ता है। आपके विवरण से पता चलता है कि आपके पूर्वज कभी दोआब (अन्तर्वेदि) में रहते थे और कालान्तर में कश्मीर में आकर बस गए। काश्मीर के राजा ललितादित्य का आश्रय इन्हें प्राप्त हुआ था। इनके पितामह का नाम वराहगुप्त और पिता का नाम नृसिंह गुप्त था। पिता "चुखल"[2] के नाम से प्रसिद्ध थे। इनकी माता का नाम विमला या विमल कला था। अभिनव गुप्त भगवान् शिव के अनन्य भक्त थे तथा आजीवन ब्रह्मचारी रहे। इन्होंने अनेक गुरुओं के आश्रय में रहकर विद्या अर्जित की थी।[3]

अभिनवगुप्त के काल-निरूपण में किसी तरह की कठिनाई उपस्थित नहीं होती है। आपने अपने अनेक ग्रन्थों की रचना का काल स्वयं निर्दिष्ट कर दिया है। "ईश्वर प्रत्यभिज्ञा-विवृत्ति विमर्शिनी" की रचना का काल आपने कलियुग का ४११५ वां वर्ष तथा काश्मीरी लौकिक संवत्सर का ९० वर्ष बताया है।[4]

---

१ देखिए, अभिनवगुप्त कृत "पराभिशिकातत्व-विवरण" और ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा विवृत्ति विमर्शिनी। क्रमशः पृष्ठ २७८-२८० और पृष्ठ ४०५।

२ गुरुभ्योऽपि गरीयासं युक्तं श्री चुखलाभिधम्।
वन्दे यत्कृतसंस्कार: स्थितोऽस्मि गलित-गृह: ॥
—अभिनवगुप्त : मालिनीविजयवार्तिक (प्रा० श्लोक)।

३ अभिनवगुप्त : ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविवृति विमर्शिनी, पृष्ठ ४०५।

४ इति नवतितमेऽस्मिन् वत्सरेनये युगांशे तिथिशशिजलधिस्थे मार्गशीर्षावसाने,
जगति विहितबोधामीश्वर प्रत्यभिज्ञां व्यवृणुत परिपूर्णा प्रेरित: शम्भुपादै:।
—ईश्वर प्रत्यभिज्ञा, श्लोक १५।

ऐतिहासिकों की गणना के अनुसार यह १०१४-१५ ई० का समय है। अन्य रचनाओं में भी इसी प्रकार इन्होंने रचना-वर्ष का उल्लेख कर दिया है। अतएव इनकी साहित्यसाधना की अवधि निश्चित रूप से ९८० ई० से लेकर १०२० ई० तक के बीच माननी चाहिए।

अभिनवगुप्त की प्रतिभा बहुमुखी थी। आप जैसे उच्च कोटि के दार्शनिक थे, वैसे ही भक्त और काव्य-शास्त्र के मर्मज्ञ भी। अतएव आपने दर्शन, भक्ति और काव्यशास्त्र—इन तीनों दिशाओं में रचनायें की हैं। दर्शन के क्षेत्र में आपने तन्त्रा-लोक, मालिनी-विजयवार्त्तिक, पराभिशिका-विवरण तथा तन्त्रालोकसार आदि ग्रन्थों की रचना की थी। भक्ति की दिशा में भैरवस्तव, क्रम-स्तोत्र और बोधपंचदशिका की रचना की थी। काव्यशास्त्र में आपने अभिनव भारती और लोचन नामक दो प्रसिद्ध टीकाएं क्रमशः नाट्यशास्त्र और ध्वन्यालोक पर रची थीं। यद्यपि ये दोनों टीकाएं हैं, फिर भी किसी सिद्धान्तग्रन्थ से कम महत्व इनका नहीं आंका जाता है। इन दोनों टीकाओं को पढ़ने से पता चलता है कि आपका जैसा ही दुर्धर्ष पाण्डित्य था, वैसी ही सूक्ष्म विवेचना शक्ति थी तथा वैसा ही था भाषा पर एकछत्र अधिकार। वस्तुतः आपकी समस्त रचनाओं में शैवागम पर लिखित विशाल ग्रंथ तन्त्रालोक तथा काव्यशास्त्र पर लिखित उपर्युक्त दोनों टीकायें अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण, सुप्रसिद्ध एवं उपादेय हैं। अभिनवभारती का दूसरा नाम नाट्यवेदाविवृत्ति भी मिलता है। इसी प्रकार लोचन टीका के दूसरे नाम सहृदयालोक लोचन[1] लोक-लोचन, आदि भी मिलते हैं। स्वयं अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में ध्वन्यालोक पर लिखित टीका को "सहृदयालोकलोचन" कहा है।

आचार्य अभिनवगुप्त ने काव्य में रसतत्व को ही मुख्य माना है। अलंकार, गुण और औचित्य आदि सभी रस के सहायक हैं। अलंकारों की उपयोगिता इन्होंने दो अवस्थाओं में मानी है। सबसे पहले अलंकार्य के अस्तित्व रहने पर ही अलंकारों की उपयोगिता होती है। किसी शरीर में आत्मा (अलंकार्य) के रहने पर ही उसे भूषणों से अलंकृत किया जाता है। मृतक शरीर को भूषित करना निरी मूर्खता है। कहने का तात्पर्य यह कि काव्य का आत्मतत्व रस है, उसके अस्तित्व में ही अलंकारों की उपयोगिता है, जिससे सप्राण काव्य-शरीर की शोभा का वर्द्धन हो सके। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि अलंकारों में औचित्य होना चाहिए। कभी-कभी सप्राण शरीर की शोभा के लिए भी अलंकारों की आवश्यकता नहीं समझी जाती है। जैसे संसार में वैराग्य धारण करने वाले पुरुषों अथवा स्त्रियों के शरीर पर आभूषण नहीं देखे जाते हैं, उसी प्रकार कभी-कभी काव्य में ऐसे प्रसंग आते हैं,

---

१ तच्च मदीयादेव तद्विवरणात् सहृदयालोकलोचनाद्वधारणीयमिहतु यथावसरं वक्ष्यतेएव। —अभिनवभारती खंड १, अध्याय ७, पृष्ठ ३४४।

जहाँ रस की व्यंजना के लिए अलंकारों की कोई अपेक्षा नहीं होती है प्रत्युत् वे व्यंजित रस को गौण बनाकर उपहासास्पद ही बना डालते हैं।[1] इन्होंने औचित्य सम्प्रदायवादियों की कटु आलोचना की है। औचित्य से युक्त परन्तु रस-विहीन शब्दार्थ को उत्तम काव्य मानने वाले औचित्यवादी अभिनव की दृष्टि में औचित्य का महत्व ही नहीं समझते हैं। इन्होंने औचित्य का मूल आश्रय रस को बताया है। मूल के अस्तित्व के बिना पल्लवों की कल्पना के समान ही रस की अनुपस्थिति में औचित्य का निर्देश करना है।[2] रस, ध्वनि, अलंकार, गुण और औचित्य का पारस्परिक सामंजस्य अभिनवगुप्त बड़ी निपुणाई के साथ संघटित करते हैं। रस काव्य की आत्मा है जो ध्वनि के रूप में व्यंजित होता है। गुण, उसे उन्मीलित करता है तथा औचित्य के अस्तित्व में ही रस की सत्ता कायम रहती है। आप आनन्दवर्द्धन के रस-ध्वनिवाद का समर्थन करते हैं।

काव्यशास्त्र में अभिनवगुप्त की सर्वाधिक ख्याति इनके व्यक्तिवादी (अभिव्यक्तिवादी या व्यक्तिवैचित्र्यवादी) सिद्धान्त को लेकर है। भरत के "विभानुभाव-व्यभिचारि-संयोगात् रस निरूपत्ति" इस सूत्र की व्याख्यायें विभिन्न टीकाकारों ने अनेक ढंग से की हैं। पर अभिनव गुप्त ने कहा कि काव्य के श्रोताओं तथा नाटक के दर्शकों के हृदय में वासनाएं पहले मे ही विद्यमान रहती हैं। काव्यगत या नाटकगत विभाव, अनुभाव और संचारी के सम्पर्क में आकर वही वासना रस के रूप में व्यक्त हो जाती है। विभावन नामक अलौकिक व्यापार की सहायता से विभाव, अनुभाव आदि का साधारणीकरण भी सहृदयों को हो जाता है। वस्तुतः अभिनवगुप्त का यह सिद्धान्त अत्यन्त मनोवैज्ञानिक है। यही कारण है कि आज भी रस-निष्पत्ति के सम्बन्ध में अभिनव की मान्यतायें सबों को मान्य हैं। अभिनवगुप्त ने रस के नौ भेद माने हैं। शान्त को इन्होंने सर्वोत्कृष्ट रस घोषित किया है।[3]

धनंजय

भरत के नाट्यशास्त्र के अनन्तर दृश्यकाव्य पर शास्त्रीय विवेचना प्रस्तुत करने वाले आचार्य धनंजय ही हैं। वस्तुतः समग्र संस्कृत काव्यशास्त्र में रूपक से सम्बन्ध रखने वाले थोड़े ही ग्रन्थ हैं,—नाट्यशास्त्र, दशरूप या दशरूपक, साहित्य-दर्पण, शृङ्गारप्रकाश तथा प्रतापरुद्रयशोभूषण। इस दृष्टि से धनंजय का महत्व अत्यधिक है।

---

१ तथा ह्यचेतनं शरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति, अलंकार्यस्याभावात्।
यति शरीरं कटकादियुक्तं हास्यावहं भवति, अलंकार्यस्य अनौचित्यात्।
—अभिनवगुप्त : लोचन पृ० ७५ (निर्णयसागर)

२ लोचन। पृष्ठ २०८।

३ अभिनवभारती। खंड १। पृ० ३४०।

धनंजय के पिता का नाम विष्णु था और आप मुंज नामक राजा की गोष्ठी के सदस्य थे[1]। आपने स्वयं अपना परिचय ग्रन्थ के अन्त में इसी प्रकार दिया है। आपके ग्रन्थ पर लिखने वाले धनिक आपके भाई थे। क्योंकि टीकाकार धनिक ने दशरूपक के प्रत्येक प्रकाश के अन्त में अपने को "विष्णुसूनु" कहा है[2]। दोनों के पिता का एक नाम देखकर ही कुछ ऐतिहासिकों ने एक ही व्यक्ति के दोनों नाम (धनंजय, धनिक) बताए हैं। कारिका और अवलोक टीका का लेखक एक ही व्यक्ति था। जिस राजा के आश्रय में आप थे उसका नाम मुंज था और इस मुंज के काल-निर्णय हो जाने पर आपका भी काल-निर्णय सुविधापूर्वक हो जाता है। मालवा के राजाओं की प्रशस्तियां कुछ उदयपुर में तथा कुछ नागपुर में पाई गई है जिन्हें बूह्लर तथा किलहोर्न ने क्रमशः सम्पादित किया है। इन प्रशस्तियों के अध्ययन से मालव वंश के राजाओं की वंशावली का परिचय प्राप्त होता है। यह मुंज ही वाक्यपति-राज तथा उत्पलराज के नाम से ख्यात था। इसी का छोटा भाई सिन्धुराज हुआ जो नवहसांक नाम से ख्यात था। इनके समय के कुछ दान-पात्र भी प्राप्त हुए हैं। जिनसे ज्ञात होता है कि मुंज ९७४ ई० में गद्दी पर बैठा। अन्य प्रमाणों से यह भी ज्ञात होता है कि मुंज ९९६ ई० के आसपास मारा गया। अतएव मुंज की गोष्ठी में रहने वाले धनंजय का समय ९७४ ई०-९९६ के मध्य में होना चाहिए[3]।

धनंजय की एकमात्र कृति दशरूपक है। वस्तुतः इस पुस्तक का नाम दशरूप होना चाहिए। क्योंकि ग्रन्थकर्त्ता धनंजय ने स्वयं तथा इस ग्रन्थ के टीकाकार धनिक ने भी इसे दशरूप ही कहा है। पता नहीं कब और कैसे संस्कृत व्याकरण के स्वार्थ कः की बीमारी ने इसे धर दबाया तथा दशरूप का प्रचलन दशरूपक के रूप में हो गया। चूंकि इस ग्रन्थ में रूपक के दश प्रभेदों-नाटक, प्रकरण, प्रहसन-भाण, समव-कार, डिम इत्यादि का ही निरूपण है, अतएव इसे दशरूप या दशरूपक कहना अत्यन्त समीचीन है। इस ग्रन्थ पर धनिक ने जो टीका लिखी थी उसका नाम "अवलोक" है। परवर्ती काल में धनिक की अवलोक टीका पर भी नृसिंह ने टीका लिखी। इस प्रकार टीका की टीका ग्रन्थ के महत्व का प्रतिपादन करती है। इस ग्रन्थ पर बहुरूपमिश्र की भी एक सुप्रसिद्ध टीका है। दशरूपक में चार प्रकाश है। प्रथम प्रकाश में ६८ कारिकाएं, द्वितीय प्रकाश में ७२ कारिकाएं, तृतीय प्रकाश में ७६ तथा चतुर्थ प्रकाश में ८६ कारिकाएं हैं। इस प्रकार पूरे ग्रन्थ में ३०२ कारिकाएं

---

१ विष्णोः सुतेनापि धनंजयेन विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतु।
आविष्कृतं मुंजमहीशगोष्ठी वैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत् ॥
—धनंजय। दशरूपक।४।८६।

२ इतिश्री विष्णुसूनो धनिकस्य कृतौ दशरूपावलोके रसविचारो नाम चतुर्थः प्रकाशः समाप्तः। वही। (अन्त)

३ हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स। पृ०-२३६।

तथा चार प्रकाश हैं। इनके अतिरिक्त धनिक की अवलोक टीका में गद्यात्मक व्याख्या और प्राचीन नाटकों से संकलित उदाहरण-श्लोक हैं। प्रथम प्रकाश में दशरूपकों के उल्लेख के अतिरिक्त, नृत्य तथा नृत्त का पार्थक्य, नाटकीय पंचसंधियां और अर्थप्रकृतियां आदि बताई गई हैं। द्वितीय प्रकाश में नायकों और नायिकाओं के लक्षण, भेद और उदाहरण आदि प्रतिपादित किए गए हैं। तृतीय प्रकाश में विभिन्न रूपकों की विशेषताओं और रंगनिर्देशों आदि का उल्लेख है। चतुर्थ प्रकाश में रस-सिद्धान्त का विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया है।

आचार्य धनंजय सृष्टि के समस्त सत्-असत्, उत्तम-अधम और सुगढ़-विकृत पदार्थों की रसनीयता में विश्वास करते हैं। इनका कहना है कि संसार में ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो कवियों और सहृदयपाठकों (भावकों) के द्वारा भावना-विषय जाने पर सरसता को नहीं प्राप्त कर सके। वह पदार्थ चाहे रम्य हो या घृणास्पद, उदार हो या नीच, सुष्ठु हो या विकृत सब के सब रसत्व को प्राप्त कर सकते हैं[1]। इस प्रकार धनंजय की दृष्टि में रस का स्थान काव्य में अत्यन्त व्यापक, महत्वपूर्ण और उपादेय है। वस्तुतः इसे ही आप काव्य के प्राण मानते हैं। यही कारण है कि अन्य काव्यतत्त्वों के अनिर्देश का एक दूसरा कारण यह भी था कि आप मुख्यतः दशविध रूपकों के विधानों और विशेषताओं के उल्लेख में व्यस्त थे और श्रव्य काव्य की दृष्टि से विचार करने का अवसर आपको बिलकुल नहीं था।

संस्कृत काव्य शास्त्र के आरम्भ से ही हम देखते चले आ रहे है कि आचार्य भरत ने नाटकों में केवल आठ रस माने थे, पर नाट्यशास्त्र के टीकाकार आचार्य अभिनवगुप्त ने शान्त रस को नाटकों में प्रश्रय दिया और संख्या बढ़ाकर नौ कर दी। पर उद्भट ने भी नौ रस माने थे। धनंजय इस दृष्टि से भरत के समर्थक हैं, अभिनवगुप्त के नहीं। इन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषित किया कि वह शान्त रस जिसका स्थायी भाव "शम" है, नाटकों में पुष्ट नहीं हो सकता है[2]। इस प्रसंग में धनिक ने सभी मतों का विस्तारपूर्वक उल्लेख कर बहुत ही सन्तुलित विवेचन प्रस्तुत किया है।

आचार्य धनंजय और धनिक विशुद्ध रसवादी हैं। यहाँ तक कि इन्हें आनन्दवर्द्धन का रस-ध्वनिवाद भी सह्य नहीं है। इन्होंने ध्वनिवादियों की तरह

---

१ रम्यं जुगुप्सितमुदारमथापि नीच—
मुग्रं प्रसादि गहनं विकृतंच वस्तु।
यद्वाप्यवस्तु कविभावक भाव्यमानं,
तन्नास्ति यन्न रसत्वमुपैति लोके ॥ —दशरूपक-४। ८५।

२ रत्युत्साह जुगुप्साः क्रोधो हासः स्मयो भयं शोकः।
शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नेतस्य ॥ —दशरूपक-४। ३५।

रस को ध्वनित मान कर ध्वनि-प्रपंच में गतार्थ करना श्रेयस्कर नहीं समझा वरन इसे विशुद्ध भावना या अनुभूति का विषय माना है[1]। अतएव निर्भ्रान्त रूप से आपको रस सम्प्रदाय का पोषक आचार्य मानना चाहिए।

भोजराज

भोज का स्थान संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में अद्वितीय है। आप एक साथ ही धारा के शासक भी थे और काव्यशास्त्र के आचार्य भी। इस प्रकार शासकत्व और आचार्यत्व की बेमेल सन्धि आपके व्यक्तित्व में पाई जाती है।

डा० भण्डारकर अनेक साक्ष्यों के आधार पर प्रमाणित करते हैं कि भोज एग्यारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुए[2]। पर डा० बुह्लर एग्यारहवीं शताब्दी के तृतीय चरण में इन्हें लाने की चेष्टा करते हैं[3]। एतदथ आपने दो युक्तियों का आश्रय ग्रहण किया है। राजतरंगिणी के ७ वें अध्याय के २५९ वें श्लोक के आधार पर तथा सरस्वतीकण्ठाभरण में उद्धृत चौरपंचाशिका के एक श्लोक को विल्हण का बताकर आपने भोज के काल-निर्णय सम्बन्धी यह स्थापना प्रस्तुत की है[4]। श्री एस० एन० दासगुप्ता भोज के सरस्वती कण्ठाभरण की रचना का समय १०३०-५० ई० के बीच मानते हैं[5]। जो हो, भोजराज को लम्बी आयु अवश्य प्राप्त हुई थी, जैसा इनकी रचनाओं की विशालकायता तथा अधिकसंख्यकता देखकर प्रतीत होता है। आप एग्यारहवीं शताब्दी के मध्य भाग में निश्चितरूप से विद्यमान थे।

भोजराज को ८४ ग्रन्थों की रचना का श्रेय प्राप्त हैं। विविध विषयों पर आपने लेखनी उठाई थी। डा० कीथ का कहना है कि एक व्यक्ति इतने परस्पर विरोधी विषयों पर इतनी संख्या में नहीं लिख सकता है। सम्भवतः उनके आश्रय में रहने वाले विद्वानों ने ग्रन्थ लिखकर रचना का श्रेय उन्हें ही सौंपा है। पर डा० राघवन ने कीथ की इस मान्यता की खुलकर मखौल उड़ायी है और दृढ़ता के साथ इसे स्वीकार किया है कि सारी रचनाओं के प्रणेता भोजराज स्वयं थे[6]। ये ग्रन्थ धर्मशास्त्र, ज्योतिष, योगशास्त्र, वैद्यकशास्त्र, काव्य शास्त्र आदि विविध विषयों में

---

१ अतो न रसादीनां काव्येन सह व्यंग्यव्यंजकभावः। किं तर्हि भाव्यभावक सम्बन्ध? काव्यं हि भावकम्। भाव्याः रसादयः।

—धनिकः दशरूपावलोक ४। ३७।

२ अर्ली हिस्ट्री आफ दी डेकान। पृ०-६०।

३ विक्रमांकदेवचरित की भूमिका। पृ०-१९-२५।

४ हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स। पृ०-२५०।

५ हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर। पृ०-५५३।

६ डा० राघवन। शृङ्गारप्रकाश, खण्ड १। पृष्ठ ५-६।

सम्बद्ध हैं। काव्यशास्त्र में इनकी दो रचनायें हैं--सरस्वतीकण्ठाभरण और शृङ्गार-प्रकाश। ये दोनों ही ग्रंथ विशालकाय एवं महत्वपूर्ण हैं। शृङ्गार-प्रकाश में ३६ प्रकाश हैं। यह ग्रंथ काव्यशास्त्र और नाट्यशास्त्र दोनों से सम्बन्ध रखता है। इसमें कई हजार श्लोक हैं। ११ वें प्रकाश से लेकर ३६ वें प्रकाश तक में रस का विवेचन है। पर बीच में नाटक सम्बन्धी अन्य विषय भी आ गए हैं। सरस्वतीकण्ठाभरण में पांच परिच्छेद हैं। इन पाँच परिच्छेदों में क्रमशः दोषगुण विवेचन, शब्दालंकार निर्णय, उभयालंकार विवेचन तथा रसविवेचन हैं। सरस्वती कंठाभरण का पांचवाँ परिच्छेद रस-सिद्धान्त से सम्बद्ध है। अतएव नीचे शृङ्गारप्रकाश के ११-३६ प्रकाश तथा सरस्वतीकण्ठाभरण के पंचम परिच्छेद पर आधारित भोजराज की रस सम्बन्धी मान्यता की विशेष बातें अत्यन्त संक्षेप में प्रस्तुत हैं।

भोजराज के पूर्ववर्ती काव्यशास्त्री आचार्य कभी ध्वनि का समर्थन करते थे और कभी ध्वनि का विरोध। ध्वनिविरोधी आचार्यों में वक्रोक्तिजीवित के प्रणेता कुन्तक का उल्लेख किया जा चुका है जिन्होंने वक्रोक्ति के अन्तर्गत ध्वनि को गतार्थ किया था। इसी प्रकार "व्यक्तिविवेक" नामक ग्रंथ के रचयिता नैयायिक महिमभट्ट ने भी ध्वनि-सिद्धान्त का घोर विरोध किया। इन्होंने व्यंग्य (ध्वनि) अर्थ को अनुमेय सिद्ध किया। उनका कहना था कि ठीक जिस प्रकार हेतु के द्वारा पक्ष में साध्य का अनुमान किया जाता है, उसी प्रकार वाच्यार्थनिष्ठ विभिन्न हेतुओं की सहायता से तथाकथित ध्वन्यर्थ का अनुमान किया जा सकता है। कहने का तात्पर्य मात्र यह है कि आनन्दवर्द्धन एवं अभिनवगुप्त प्रभृति ध्वनिबादियों ने जिस क्षमता से ध्वनि-सिद्धान्त या रस-ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना की, उसी दृढ़ता एवं अतर्क्य तार्किकता के साथ महिमभट्ट प्रभृति आचार्यों ने उस सिद्धान्त का विरोध भी किया। पर भोजराज ने इस खण्डन-मण्डन के निरर्थक वाग्जाल से सर्वथा अलग हो कर अपना मौलिक चिन्तन प्रस्तुत किया। इन्होंने विवाद से तटस्थ होकर तीन प्रकार के काव्यों की कल्पना की—वक्रोक्ति, रसोक्ति, और स्वभावोक्ति। पर काव्य की इन तीन विधाओं में रसोक्ति मूलक काव्य को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया।[1] फलतः भोजराज की दृष्टि में काव्य में रस तत्त्व ही सबसे मुख्य तत्त्व है। इन्होंने काव्य को "रसवत्" कहा है। पर भोजराज का रसवत् भामह और दण्डी के रसवत् से बिलकुल भिन्न है। भामह और दण्डी प्रभृति अलंकार सम्प्रदाय के आचार्यों ने रसवत् अलंकारों की कल्पना की थी और रसों को अलंकारों में अन्तर्भुक्त कर दिया था। प्रेयान्, ऊर्जस्वि, समाहित आदि रसवत् अलंकारों की चर्चा की जा चुकी है। पर भोजराज ने रसपूर्ण काव्य को रसवत् कहा है।[1]

१ वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वांमयम्
सर्वासु ग्राहिणीं तासु रसोक्तिं प्रतिजानते।
—भोजराज : सरस्वतीकण्ठाभरण ।५।८

भोज ने रसों के मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक विश्लेषण में अपनी मौलिकता प्रदर्शित की है। इनका कहना है कि रस, अहंकार, अभिमान, शृङ्गार आदि सभी पर्यायवाची शब्द हैं।[1] रसोत्पत्ति की जड़ अहंकार है और इस अहंकार की तीन अवस्थाएं हैं। अन्तिम अवस्था में अर्थात् तृतीय अवस्था में यह अहंकार ही रस रूप में परिणत हो जाता है। इतना ही नहीं, भोज ने सभी रसों का अन्तर्भाव शृङ्गार में कर दिया। शृङ्गार को इन्होंने मूल रस माना और इसी से अन्य रसों की उत्पत्ति बतायी। इस चिन्तन का सूत्र भोज को सम्भवतः आचार्य भरत से ही प्राप्त हुआ था जिन्होंने सभी भावों की उत्पत्ति काम से स्वीकार की थी।[२] यों सामान्यतः भोज ने भी आठ प्रकार के रस माने हैं, पर उन सबों का मूल शृङ्गार को ही बताया है। जो हो, पर रस तत्त्व के सन्निवेश से काव्य की कमनीयता में भोज का अखण्ड विश्वास था। इस प्रकार रस-सिद्धान्त को भोजराज की मौलिक देन प्राप्त है और आप रसवाद के अत्यधिक निकट प्रतीत होते हैं।

क्षेमेन्द्र

भोजराज के अनन्तर संस्कृत काव्य-शास्त्र के इतिहास में उल्लेखनीय आचार्य क्षेमेन्द्र हुए। आप काश्मीर के निवासी थे। आपके पितामह का नाम सिन्धु तथा पिता का नाम प्रकाशेन्द्र था। आपका परिवार लक्ष्मी का कृपापात्र था तथा आपके पिता प्रकाशेन्द्र बड़े दानी थे।[३] क्षेमेन्द्र आचार्य अभिनव गुप्त के शिष्य थे।[४]

---

२ रसवतो रामादेर्वचः तद्रसमूलत्वात् रसवत्।
रसान् प्रतियादपितुं यदर्हति तद्रसवत्।
—भोजराज : शृङ्गारप्रकाश।२। पृ० ३७०।

१ रसोऽभिमानोऽहंकारः शृङ्गार इति गीयते।
योऽर्थः तस्यान्वयात् काव्यं कमनीयत्वमश्नुते।
—सरस्वतीकण्ठाभरण (पंचम परिच्छेद)

२ प्रायेण सर्वभावानां कामान्निष्पत्तिरिष्यते।
न चेच्छागुणसम्पन्नो बहुधा काम इष्यते। —नाट्यशास्त्र।२२।।२९।

३ कश्मीरेषु वभूव सिन्धुरधिकः, सिन्धोश्च निम्नाशयः।
प्राप्तस्तस्य गुणप्रकर्षयशसः पुत्रः प्रकाशेन्द्रनाम्।
विप्रेन्द्र प्रतिपादितान्नदान धनभूगोसंक्षुण्णाजिनैः।
प्रख्यातातिशयस्य तस्य तनयः क्षेमेन्द्रनामाभवत्।
—क्षेमेन्द्र। दशावतार चरित। श्लोक २।

४ श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात् साहित्यं बोधवारिधेः।
—क्षेमेन्द्र, वृहत्कथा मंजरी। उपसंहार, श्लोक ३७ (पूर्वार्द्ध)

आचार्य क्षेमेन्द्र एग्यारहवीं शताब्दी के तृतीय तथा चतुर्थ चरण में साहित्य-साधना में निरत थे। इन्होंने अपने कुछ ग्रन्थों की रचना उस समय की थी जब 'कलश' काश्मीर का शासक था और कुछ रचनाएँ अनन्त के शासन-काल में ही की थीं। विशेषत: इन्होंने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ औचित्य विचार चर्चा और कवि-कण्ठाभरण महाराज अनन्त के शासन-काल में ही रचे थे। इसका उल्लेख क्षेमेन्द्र ने स्वयं इन दोनों ग्रन्थों में कर दिया है।[1] महाराज अनन्त का शासनकाल १०२८-१०६३ ई० था तथा उनके पुत्र कलश १०६३ में ही गद्दी पर बैठे थे। अतएव क्षेमेन्द्र ने अपने काव्यशास्त्रीय दोनों ग्रन्थ १०६३ ई० के पूर्व ही लिखे होंगे तथा आपकी साहित्य-साधना और कतिपय वर्षों तक (कलश के शासन-काल में) जारी रही होगी। अतएव क्षेमेन्द्र के समस्त ग्रन्थों का रचना-काल १०३०-१०६६ के बीच मानना चाहिये।

क्षेमेन्द्र ने अनेक पुस्तकें लिखी थीं। आपकी रचनाएँ विविध विषयक हैं। पुस्तकों की नाम-तालिका से ही विषयों की विविधता का भली भाँति ज्ञान हो सकता है। वे पुस्तक हैं—भारतमंजरी, अमृततरंग, कनकजानकी, कविकर्णिका आदि। कुल मिला कर आपने लगभग ४२ पुस्तकें लिखी थीं।[2] इनमें काव्यशास्त्रीय विषयों से सम्बद्ध मात्र दो ही कृतित्व थे—औचित्य विचार चर्चा और कविकण्ठाभरण। औचित्य विचार चर्चा में केवल औचित्य का विवेचन है, जिसे क्षेमेन्द्र काव्य में सर्वोपरि मानते थे। कविकण्ठाभरण की पाँच सन्धियों और ५५ कारिकाओं में कविकर्म-प्रवृत्त मनुष्यों के लिये लाभदायक उपदेश एवं निर्देश दिये गये हैं।

क्षेमेन्द्र भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में औचित्य-सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं। यों औचित्य कोई नया विषय नहीं था। आनन्दवर्द्धन ने अपने ध्वन्यालोक में रसौचित्य की चर्चा की थी और औचित्य के उल्लंघन को रसभंग का मुख्य कारण माना था।[3] व्यक्ति विवेककार कुन्तक ने भी औचित्य की संक्षेप में चर्चा की थी। वस्तुत: इसी विषय को समस्त औचित्य-विचार-चर्चा में क्षेमेन्द्र ने पल्लवित किया। इन्होंने औचित्य को ही रसजीवित तथा सर्वाधिक चमत्कारकारी तत्व स्वीकार किया।[4] औचित्य को इन्होंने 'उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते'

---

१ (क) तस्य श्री मदनन्तराजनृपते: कालेकिलायं कृत:। —औचित्यविचार चर्चा।
(ख) राज्ये श्रीमदनन्तराजनृपते: काव्योदयोऽयं कृत:। —कविकण्ठाभरण।

२ बुह्लर्स काश्मीर रिपोर्ट। पृ० ४५-४८।

३ अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा। —ध्वन्यालोक। पृ० १४५।

४ औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना। —औचित्यविचारचर्चा। कारिका ३।

कहा है। इसी औचित्य को इन्होंने आगे चल कर पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, रस, अलंकार, क्रिया, कारक, लिंग, वचन आदि विविध काव्यतत्वों और 'भाषातत्वों' के साथ सम्बद्ध कर दिया है। विषय की स्पष्टता के लिए प्रत्येक स्थल में आप औचित्य-युक्त और औचित्यरहित दोनों प्रकार के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इनकी दृष्टि में औचित्य ही काव्य का जीवन है—"औचित्यं रससिद्धास्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्"। इतना ही नहीं, गुण और अलंकार भी औचित्य के अस्तित्व में ही सौन्दर्याधायक होते हैं। औचित्य के अभाव में ये उसी तरह उपहासास्पद होते हैं जैसे कोई कामिनी अपने गले में करधनी, नितम्ब के ऊपर हार, तथा पैरों में केयूर पहनने पर उपहासास्पद बनती है या जैसे कोई पुरुष शरणागत पर वीरता का भाव प्रदर्शित करने पर तथा शत्रु के ऊपर दया का भाव प्रदर्शित करने पर उपहासास्पद होता है।[1] इस प्रकार काव्य के प्रत्येक सौन्दर्याधायक तत्व में क्षेमेन्द्र औचित्य की आवश्यकता का अनुभव करते हैं। अतएव आप औचित्यसम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य माने जाते हैं।

सिद्धान्त की दृष्टि से विश्लेषण करने पर क्षेमेन्द्र ध्वनिसम्प्रदायवादी आनन्द-वर्द्धन के अधिक निकट हैं। इन्होंने काव्य में ध्वनि एवं रस की प्रधानता तो स्वीकार की है, पर उनके मूल में औचित्य की अनिवार्य आवश्यकता के कारण उसे ही "काव्यस्य जीवितम्" मान लिया है। अतः औचित्य की चर्चा करने वाले आचार्य-शिरोमणि क्षेमेन्द्र ने स्वयं औचित्य का उल्लंघन कर डाला है। औचित्य काव्यात्मभूत रस एवं ध्वनि की निर्दोषावस्था का द्योतक धर्मविशेष भले ही हो, पर उसे ही काव्य की आत्मा नहीं माना जा सकता है। यह एक अतिवादी दृष्टिकोण है। अतएव परवर्तीकाल में क्षेमेन्द्र के सिद्धान्त को न समर्थन ही प्राप्त हुआ और न अन्य सम्प्र-दायों की तरह इसे काव्यालोचन के क्षेत्र में मान्यता ही मिली। आज क्षेमेन्द्र का औचित्य-सम्प्रदाय काव्यशास्त्र के इतिहास में मात्र नाम भर लेने को रह गया है।

मम्मट

संस्कृत काव्य-शास्त्र के इतिहास में आचार्य मम्मट अत्यधिक महत्वपूर्ण माने जाते हैं। इनकी महानता का द्योतन इसी से होता है कि इनके ग्रन्थ काव्यप्रकाश पर जितनी टीकायें लिखी गई हैं, इतनी अन्य किसी भी काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ पर नहीं।[2] इनके "काव्य-प्रकाश" की रचना के अनन्तर काव्यशास्त्र के समान्य पाठक

---

१ क्षेमेन्द्र। औचित्यविचारचर्चा।

२ काव्यप्रकाशे टिप्पण्यः सहस्रं सन्ति यद्यपि,
तास्यस्त्वया विशेषे चः पण्डितैः सोऽवधार्यताम्।
—कमलाकर। निर्णयसिन्धु (काव्यप्रकाश-टीका)।

एक प्रकार से अन्य ग्रन्थों को भूल से गए । समस्त देश में एक मात्र इसी ग्रन्थ का अध्ययन-अध्यापन शुरू हुआ । इसका सम्भवतः एकमात्र कारण था इस ग्रन्थ का सन्तुलित विवेचन और परिपक्व एवं प्रौढ़ प्रतिपादन । ग्रंथ को विषयों की मौलिकता के कारण ऐसी प्रसिद्धि नहीं मिली थी ।

मम्मट का व्यक्तिगत इतिहास हमें कुछ भी मालूम नहीं है । यों 'सुधासागर" नामक ग्रन्थ के प्रणेता भीमसेन (१६७२ ई०) ने इन्हें जैयट का पुत्र तथा कैयट और उवट का अग्रज बताया है । किन्तु उवट के ऋक् प्रातिशाख्यभाष्य और कैयट के महाभाष्य-प्रदीप के आकलन से भीमसेन की कल्पना का आधार इन नामों के ध्वनि-साम्य के अतिरिक्त और कुछ भी प्रतीत नहीं होता है ।[1] काश्मीरी पण्डित इन्हें नैषधीय-चरित के प्रणेता श्रीहर्ष नामक कवि का मामा बताते हैं । पर यह जनश्रुति भी निराधार ही है । मम्मट का समय ११ वीं शताब्दी के कुछ पूर्व ही मानना चाहिए । इन्होंने अपने ग्रंथ में भोज का उल्लेख किया है जिसे हमने १०५० ई० के लगभग तक जीवित माना है । दूसरी ओर काव्यानुशासन के लेखक हेमचन्द्र (११४३ ई०) मम्मट की चर्चा करते हैं । इतना ही नहीं, काव्यप्रकाश पर संकेत नामक टीका लिखने वाले माणिक्यचन्द्र (११५९ ई०) ने काव्यप्रकाश की पूर्ववर्ती टीकाओं का भी उल्लेख किया है । इन टीकाओं के अस्तित्व के लिए मम्मट और मणिक्यचन्द्र के बीच सुदीर्घ कालावधि की कल्पना करनी होगी, फिर भी हम भोजराज से पहले तो उन्हें रख ही नहीं सकते हैं । फलतः इन दोनों काव्य-सीमाओं के बीच एग्यारवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में मम्मट को निर्विवाद रूप से मान लेना चाहिए ।

आचार्य मम्मट की दो रचनाएं उपलब्ध होती हैं

(१) शब्दव्यापार विचार और (२) काव्यप्रकाश । शब्दव्यापार विचार में, जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, केवल अभिधा, लक्षणा आदि शब्दवृत्तियों का विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया है । "निर्णयसागर प्रेस" से इस ग्रंथ का प्रकाशन भी हो चुका है । दूसरा ग्रन्थ "काव्यप्रकाश" काव्यशास्त्रीय विषयों से सम्बद्ध है । इस ग्रन्थ में १० उल्लास तथा कुल १४३ कारिकायें हैं । समस्त ग्रंथ के तीन अंग हैं—कारिका (या सूत्र), वृत्ति तथा उदाहरण । उदाहरण अधिकांशतः पूर्ववर्ती रचनाओं से लिए गए हैं । वृत्तियों और कारिकाओं के लेखन को लेकर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद हैं । कुछ विद्वान कारिकाओं का लेखक भरत को मानते हैं तथा मम्मट का सम्बन्ध मात्र वृत्तियों से बनाये रखना चाहते हैं । मम्मट द्वारा उद्धृत भरत के नाट्यशास्त्र की कुछ कारिकाएं[2], इस विवाद के आधार हैं । यह ठीक है कि भरत

१ हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स, पृष्ठ—२६२ ।

२ काव्यप्रकाश—चतुर्थ उल्लास—कारिका संख्या २९-३३ वही हैं जो नाट्यशास्त्र के सप्तम अध्याय की १५, १७ और १८-२१ कारिकायें हैं ।

से मम्मट ने ये कारिकायें ज्यों की त्यों ले ली हैं। पर इसका यह अर्थ नहीं होता है कि कुल १४३ कारिकाओं के लेखक आचार्य भरत ही थे। यदि ऐसा होता तो कम से कम वृत्तिकार मम्मट ने इस ओर कहीं न कहीं संकेत अवश्य किया होता, जैसा उदाहरणों में संकेत मिलता है तथा नाट्यशास्त्र में ये सारी कारिकायें भी समाहित रहतीं। दूसरी बात ध्यान देने की यह भी है कि मम्मट के किसी टीकाकार ने कारिका और वृत्ति का लेखक अलग-अलग नहीं बताया है। अतएव इस विवाद की जड़ में कोई बल नहीं है। ग्रन्थ के दश उल्लासों में काव्यशास्त्र के समस्त विषयों का प्रतिपादन किया गया है। काव्यलक्षण, प्रयोजन, काव्यभेद, शब्दशक्ति, ध्वनि, रस, गुण, वृत्ति, अलंकार आदि सभी विषयों का सांगोपांग निरूपण किया गया है।

सैद्धान्तिक दृष्टि से "काव्यप्रकाश" कोई मौलिक ग्रन्थ नहीं है। इन्होंने ध्वनिसम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य आनन्दवर्द्धन का ही अनुसरण किया है। अतएव आप रसवादी, नहीं, प्रत्युत ध्वनि-रसवादी हैं। काव्य का लक्षण गढ़ते हुए आपने कहा है—"दोष-रहित, गुण-सहित तथा अलंकार-रहित या अलंकार सहित शब्द और अर्थ ही काव्य है[1]। अर्थ शब्द वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य (ध्वनि) इन तीनों अर्थों को अन्तर्निविष्ट करता है। इसी आधार पर आपने उत्तम, मध्यम और अधम नामक काव्य भेदों की कल्पना की है तथा इन सभी काव्यों में ध्वन्यर्थयुक्त काव्य को ही उत्तम माना है[2]। पर आनन्दवर्द्धन की तरह गुणीभूत व्यंग्य (मध्यम काव्य) और चित्रकाव्य (अधम काव्य) का अस्तित्व आपको भी स्वीकार है। काव्यलक्षण के प्रसंग में आए हुए "सगुणौ" शब्द की व्याख्या कर मम्मट के कुछ टीकाकारों ने यह बताने की चेष्टा की है कि आप काव्यमात्र में रस के अनिवार्य अस्तित्व के समर्थक हैं। गुण रस का नित्यधर्मी है—अर्थात रसों के अस्तित्व में ही गुणों का अस्तित्व है तथा रस काव्य का अंगी है[3] ऐसा स्वयं मम्मट ने बताया है। इससे प्रमाणित होता है कि मम्मट विशुद्ध रसवादी हैं। अपनी इस मान्यता को मम्मट ने काव्य लक्षण में "सगुणौ" शब्द के द्वारा स्पष्ट किया है। पर टीकाकारों की यह धारणा कि मम्मट विशुद्ध रस सिद्धान्त के अनुयायी हैं, आनन्दवर्द्धन के ध्वनिसम्प्रदाय के नहीं, नितान्त भ्रान्तिपूर्ण है। क्योंकि मम्मट ने काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास में ध्वनियों का निरूपण किया है। ध्वनि के अनेक भेदोपभेद भी बताए हैं। रस, भाव, रसाभास और भावाभास आदि को आपने असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य ध्वनि के अन्तर्गत समाविष्ट

१ तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।—काव्यप्रकाश-१।४ (पूर्वार्द्ध)।
२ इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद्ध्वनि र्बुधैः कथितः। १।४ (उत्तरार्द्ध)।
३ ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवः तेस्पुरचलस्थितयो गुणा ॥ —काव्यप्रकाश ८।६६।

किया है[1]। इससे भलीभांति स्पष्ट हो जाता है कि मम्मट ध्वनि को काव्य का जीवनतत्व मानते हैं और रस को उस ध्वनि का एक भेद मात्र। यह ठीक है कि आपने अलंकारवादियों की तरह रस को रसवत् अलंकार कहकर गौणता नहीं प्रदान की हैबल्कि उसे अलंकार्य ही माना है तथा उसे ध्वनि के समस्त प्रभेदों में सर्वाधिक महत्व भी प्रदान किया है। पर यह कहना सर्वथा भ्रामक है कि आप रसवादी थे। आप आनन्दवर्द्धन के सम्प्रदाय के अनुयायी ध्वनि-रस वादी हैं तथा ध्वनि में ही रस को गतार्थ समझते हैं। यदि आप ध्वनियों में भी केवल रस-ध्वनि का ही अस्तित्व मानते तो फिर वस्तु ध्वनि और अलंकार-ध्वनि की विवेचना की क्या आवश्यकता थी? "ये रसस्यांगिनो धर्माः" में रस को अंगी कह कर आपने रस की महत्ता या ध्वनि के प्रभेदों में सर्वश्रेष्ठता की सूचना दी है, रस को काव्य की आत्मा नहीं माना है।

हेमचन्द्र

आचार्य मम्मट और हेमचन्द्र के बीच दो और आचार्यों की कृतियां उपलब्ध होती हैं। वे हैं रुय्यक और वाग्भट (प्रथम)। रुय्यक ने अलंकार सर्वस्व लिखा था तथा वाग्भट ने वाग्भटालंकार की रचना की थी। ये दोनों ही ग्रन्थ वस्तुतः अलंकारों का ही निरूपण करते हैं, और काव्य के अन्य तत्त्वों पर कुछ भी प्रकाश नहीं डालते हैं। रस-सिद्धान्त की दृष्टि से तो इनका कुछ भी महत्त्व नहीं है। अतएव मैंने इनका पृथक् अध्ययन आवश्यक नहीं समझा है।

इसके बाद हेमचन्द्र का आगमन होता है। हेमचन्द्र का जन्म १०८८ ई० में तथा मृत्यु ११७२ ई० में हुई थी[2]। हेमचन्द्र अनेक विषयों के ज्ञाता तथा बहुमुखी प्रतिभा से सम्पन्न व्यक्ति थे। इनकी रचनाएं अनेक हैं। इन्होंने शब्दानुशासन, काव्यानुशासन, छन्दोनुशासन, द्वयाश्रय काव्य, अभिधान चिन्तामणि, देशीनाममाला, त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित, तथा योगशास्त्र आदि अनेक पुस्तकें लिखी थीं। आप जैनधर्मावलम्बी थे।

काव्यशास्त्र पर इनकी एकमात्र कृति काव्यानुशासन है। इस ग्रन्थ में भी संस्कृत के अन्य काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की तरह सूत्र, वृत्ति और टीका ये तीन अंग हैं। इन तीन अंगों के लेखक हेमचन्द्र स्वयं हैं। सूत्र भाग काव्यानुशासन कहलाता है, वृतिभाग अलंकार चूड़ामणि तथा वृति की व्याख्या करने वाली टीका "विवेक" कहलाती है[3]। उदाहरण अधिकांशतः सूत्रभाग में ही आ गए हैं तथा अवशिष्ट अनेक

---

१ रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः।
भिन्नो रसाद्यलंकारादलंकार्यतयास्थितः॥ —काव्यप्रकाश ४।२६।

२ एस० एन० दासगुप्ता-हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर। पृ०-५६०।

३ विवरीतुं क्वचिद्दृब्धं नवं सन्दर्भितुं क्वचित्।

उदाहरण विवेक नामक टीका के अन्तर्गत दिए गए हैं। काव्यानुशासन में आठ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु, काव्यलक्षण, शब्दार्थ निरूपण आदि लिखे गए हैं। द्वितीय अध्याय में रस, स्थायीभाव, व्यभिचारीभाव तथा सात्विकभाव आदि का निरूपण है। तृतीय अध्याय में विभिन्न दोषों का उल्लेख है। चतुर्थ अध्याय में तीन प्रकार के गुणों का विवरण है। पंचम में शब्दालंकारों का तथा षष्ठ अध्याय में अर्थालंकारों का विशद वर्णन है। सातवें अध्याय में नायकों और नायिकाओं के लक्षण तथा भेद आदि बताए गए हैं तथा आठवें अध्याय में काव्य के भेदोपभेद प्रतिपादित किये गये हैं। इस प्रकार यह ग्रन्थ थोड़े में समस्त काव्य-शास्त्र का निरूपक है।

मौलिकता की दृष्टि से इस ग्रन्थ का कोई महत्व नहीं है। आपने आँख मूंद कर अभिनवगुप्त, आनन्दवर्द्धन तथा राजशेखर आदि आचार्यों के उद्धरणों को उठा कर रख दिया है। अतएव आपको सिद्धान्त-निरूपक आचार्य की अपेक्षा संग्रह-कर्त्ता मानना अधिक उचित है। काव्यसम्प्रदाय की दृष्टि से आप भरत और अभिनवगुप्त के रस-सम्प्रदाय में विश्वास रखने वाले हैं। रस-निरूपण के प्रसंग में अपने अभिनवगुप्त और भरत के मतानुसरण का स्वयं उल्लेख किया है[1]। यद्यपि आपका अपना कोई स्वतंत्र विचार नहीं है पर आप रस-सिद्धान्त के निस्सन्देह पोषक एवं अनुयायी हैं।

विश्वनाथ

हेमचन्द्र के अनन्तर अत्यन्त उल्लेखनीय एवं लोकप्रिय आचार्य विश्वनाथ का उदय हुआ। आप उत्कल-प्रान्त के निवासी थे। आपके ग्रंथों से ही कुछ परिचय प्राप्त हो जाता है। आपके अतिवृद्ध-प्रपितामह आचार्य नारायण थे जिन्होंने अद्भुत रस में ही रस के सभी भेदों का समावेश किया[२]। आपके पिता का नाम चन्द्रशेखर था। चन्द्रशेखर कवि थे। इनके अनेक पदों को विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में उद्धृत किया है। आपके पिता तथा स्वयं आप कलिंग के किसी राजा के दरबार में उच्च पद पर आसीन थे। ये दोनों सन्धिविग्रहिक-महापात्र की उपाधि से विभूषित थे। आज भी

काव्यानुशासनस्यायं विवेकः प्रवितन्यते।

—काव्यानुशासन (का० मा० सं०) पृ०-१, आध्याय-१।

१ (क) साधारणीभावना च विभावादिभिरिति श्रीमानभिनवगुप्ताचार्यः एतन्मतमेव वास्माभिरूपजीवितम् वेदितव्यम्।

—काव्यानुशासन विवेक। पृ०-९६।

(ख) तेऽस्माभिभरतमतानुसारिभिरुपेक्षिता —काव्यानुशासन, पृ०-३१६।
(सातवें अध्याय की अन्तिम पंक्ति)

२ साहित्यदर्पण। तृतीय परिच्छेद में उद्धृत।

उड़ीसा के अनेक ब्राह्मण महापात्र कहलाते हैं। अतएव आपका निवास स्थान अथवा किसी न किसी तरह का सम्बन्ध उत्कल प्रान्त से अवश्य था। उत्कल भाषा के अनेक शब्दों के उद्धरण भी आपने दिए हैं। आप अठारह भाषाओं के ज्ञाता थे। इन्होंने स्वयं साहित्यदर्पण के प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में अपने आपको 'अष्टादश-भाषा-वारविलासिनी-भुजंगम" कहा है। आपने "प्रशस्तिरत्नावली" नामक एक करभक रचना प्रस्तुत की थी जिसमें १६ भाषाओं का उपयोग किया गया है। अतएव आपके बहुभाषाविद् होने में किसी तरह का सन्देह नहीं किया जासकता है।

अनेक वाह्य एवं अन्तः साक्ष्यों के आधार पर विश्नवाथ का समय १३०० ई० से १३८० ई० के बीच मानना चाहिए[1]। आपको अनेक ग्रंथों के प्रणयन का श्रेय प्राप्त है। आप एक ओर कवि तथा नाटककार भी हैं और दूसरी ओर सफल आचार्य भी। इन्होंने राघव विलास नामक संस्कृत महाकाव्य, कुवलयाश्व चरित नामक प्राकृत काव्य, प्रभावती परिणय तथा चन्द्रकला नामक नाटिकाएं, प्रशस्ति-रत्नावली नामक करभक काव्य और साहित्यदर्पण एवं काव्यप्रकाशदर्पण (काव्य प्रकाश टीका) नामक काव्यशास्त्रीय ग्रंथ लिखे हैं।

काव्यशास्त्र में साहित्यदर्पण को अत्यन्त प्रसिद्धि मिली है। भाषागत सरलता तथा विषय-प्रतिपादन की स्पष्टता इस ग्रन्थ के मुख्य गुण हैं। इसमें १० परिच्छेद हैं। क्रमशः प्रथम परिच्छेद में काव्यलक्षण, द्वितीय में वाक्य एवं पद निरूपण, तृतीय में रस निरूपण, चतुर्थ में काव्य भेद, पंचम में व्यंजनावृतिस्थापन, षष्ठ में दृश्यकाव्य विवरण, सप्तम में दोषनिरूपण, अष्टम में गुण, नवम में रीति तथा दशम में अलंकार विषयों का विवेचन किया गया है। इस प्रकार यह ग्रन्थ समस्त काव्यशास्त्रीय विषयों का तात्त्विक विवेचन करता है। इसकी सबमे बड़ी विशेषता यह है कि यदि एक ओर इसमें काव्य के तत्त्वों का विशद विवेचन है तो दूसरी ओर दृश्यकाव्य के विधानों, भेदों और विशेषताओं आदि का भी निरूपण किया गया है। अतः यह एक सर्वांगीण काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त-ग्रन्थ है। इसमें न तो भरत और धनंजय की तरह रूपक को काव्य से पृथक् कर नाट्य मात्र का निरूपण किया गया है और न भामह, दण्डी, आनन्दवर्द्धन और मम्मट की तरह केवल श्रव्यकाव्य के तत्त्वों का प्रतिपादन ही। काव्य को व्यापक अर्थ में लेकर श्रव्य एवं दृश्य के खण्डों में बांट कर सिद्धान्त-निरूपण हुआ है। फलतः समस्त संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में, मौलिकता की दृष्टि से नहीं, विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से यही एकमात्र पूर्ण कृतित्व है। काव्य-सिद्धान्त की दृष्टि से आचार्य विश्वनाथ विशुद्ध रसवादी हैं। आपने रस को ही काव्य की आत्मा माना है[2]। यों रस को आपने भी आनन्दवर्द्धन तथा मम्मट की तरह

---

१ हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स पृ०-२८६-२९१।

२ वाक्यं रसात्मकम् काव्यम्। साहित्यदर्पण। प्रथम परिच्छेद। काव्यलक्षण।

ध्वनित माना है, पर उन ध्वनिवादी आचार्यों की तरह वस्तुध्वनि या अलंकार-ध्वनि में काव्यत्व आपको स्वीकार नहीं है। मम्मट की तरह आपका विचार उलझा हुआ नहीं है। मम्मट एक ओर रस को काव्य में अंगी भी मानते हैं तथा दूसरी ओर उसे असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य-नामक ध्वनि का प्रभेद भी। विश्वनाथ ने, इसके विपरीत, रस को काव्य की आत्मा माना तो इसे ध्वनि में अन्तभु क्त नहीं किया या उसे ध्वनित माना भी तो ध्वनि के अन्य प्रभेदों (वस्तुध्वनि, अलंकार ध्वनि आदि) में काव्यता नहीं प्रतिपादित की। आप स्पष्टतः एक मात्र रस की काव्यात्मकता में विश्वास रखने के कारण विशुद्ध रसवादी हैं। रस के क्षेत्र में विश्वनाथ की एक और उल्लेखनीय देन है इन्होंने चमत्कार या चित्तविद्रुति को रस का सार माना है तथा इसी के आधार पर एक मात्र अद्भुत रस को प्रमुख रस मानकर अन्य सभी रसों को इसके अंग सिद्ध किए हैं। यद्यपि यह इनका वैयक्तिक विचार नहीं था बल्कि उन्होंने इसे अपनी कौलिक-परम्परा से प्राप्त किया था। इस प्रसंग में इन्होंने अपने अतिवृद्ध-प्रपितामह श्रीमन्नारायण के विचारों को उद्धृत भी किया है और उन्हीं के आलोक में स्वयं भी अद्भुत को मुख्य रस तथा अन्य रसों को गौण बताया है। इसी प्रकार भवभूति ने करुण रस को मुख्य तथा अन्य रसों को गौण माना था[1]। आचार्य विश्वनाथ या उनके प्रपितामह को संभवतः भवभूति से ही प्रेरणा मिली होगी।

भानुदत्त

रस-सम्प्रदाय के उल्लेखनीय आचार्यों में भानुदत्त की गणना की जाती है। विशेषतः, इन्होंने हिन्दी के रीतिकालीन रसवादी आचार्यों को अत्यधिक प्रभावित किया है, अतएव आपकी चर्चा अत्यावश्यक है।

भानुदत्त ने स्वयं अपना थोड़ा सा परिचय दिया है। आप विदेह (मिथिला या उत्तर बिहार) प्रान्त के निवासी थे तथा पिता का नाम गणेश्वर था[2]। आप मैथिल ब्राह्मण थे तथा मिसरू मिश्र नामक किसी मैथिल पण्डित की बहन से आपका विवाह हुआ था[3]। आप सम्भवतः तेरहवीं शताब्दी के अन्त और चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में विद्यमान थे। आपने जयदेव (१२ वीं शताब्दी) के गीतगोविन्द के

---

१ एको रसः करुण एवं निमित्त भेदात्,
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान्।
आवर्त्त बुद्बुद्तरंगमयान् विकारान्,
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्। —उत्तर राम चरित-३।४७।

२ तातोयस्य गणेश्वरो कविकुलालंकारचूड़ामणि
देशो यस्य विदेहभूः सुरसरित् कल्लोलकिर्मीरिता ॥
—रसमन्जरी। अन्तिम श्लोक।

३ पटना यूनिवर्सिटी जर्नल, खंड ३, सं० १, २।

आधार पर "गीतगौरीश" की रचना की है तथा आपकी रसमंजरी नामक पुस्तक पर १४२८ ई० में नागेशभट्ट ने प्रकाश नामक टीका लिखी है[1]। अतएव आपका उपरि निर्दिष्ट समय समुचित प्रतीत होता है। पर श्री काणे ने नागेश का समय १८ वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना है।

आपने रसतरंगिणी, रसमंजरी, अलंकारतिलक, रसपारिजात, गीतगौरीश आदि पुस्तकों का प्रणयन किया था। इनमें प्रथम तीन रचनाएं काव्यशास्त्रीय विषयों से सम्बद्ध है। रसतरंगिणी में आठ तरंग हैं। इनमें परम्परागत रूप में रस के विभिन्न उपकरणों (स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव, संचारी तथा भेदोपभेदों, का सोदाहरण तात्विक निरूपण है। सभी रसों में शृंगार का विशद विवेचन किया गया है। इसे रसराज माना गया है। रसमंजरी अपेक्षाकृत छोटी रचना है। इसमें अन्य रसों का अन्तर्भाव शृंगार में कर दिया गया है तथा उसके आलम्बन विभाव अर्थात नायक और नायिकाओं के लक्षण, भेदोपभेद और उदाहरण सविस्तर प्रतिपादित किए गए हैं। अलंकार तिलक में पांच परिच्छेद हैं। इसमें काव्य के विभिन्न अंगों–गुण, दोष, रीति, अलंकार आदि का तथा काव्य-प्रभेदों का निरूपण किया गया है।

काव्य-सिद्धान्त की दृष्टि से भानुदत्त रसवादी प्रतीत होते हैं। आपने रसमंजरी एवं रसतरंगिणी में शृंगार को रसराज मान कर उसे ही विस्तारपूर्वक प्रतिपादित किया है। हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों में केशव, मतिराम, सुखदेव मिश्र, देव, कवीन्द्र, दास, पद्माकर प्रभृति अनेक आचार्य भानुदत्त की इन दोनों रचनाओं से अत्यधिक प्रभावित हैं। सच पूछिए तो इन रीतिकालीन रसवादी आचार्यों ने संस्कृत के पूर्ववर्ती आचार्यों के रस-ग्रन्थों का स्पर्श तक नहीं किया बल्कि भानुदत्त के ग्रन्थों का ही ब्रजभाषा में नकल कर दी। इसी से भानुदत्त की रचनाओं के व्यापक प्रचार और प्रसार का अनुमान किया जा सकता है। अलंकार तिलक में आपने अपना काव्यशास्त्रीय मन्तव्य स्पष्ट रूप में रखते हुए कहा—रस काव्य की आत्मा है, काव्य (शब्द और अर्थ) शरीर है, गति, रीति, वृति, दोषाभाव, गुण और अलंकार उसकी इन्द्रियां हैं, व्युत्पत्ति प्राण है तथा अभ्यास मन है। अतः रस को काव्य की आत्मा मानने वाले भानुदत्त की रसवादिता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता है। इनके ग्रन्थ भले ही सिद्धान्त-निरूपण की दृष्टि से पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थों की तरह महत्वपूर्ण न हों पर व्यापक प्रभाव और प्रसार की दृष्टि से इनके मूल्य को कम नहीं आंका जा सकता।

जगन्नाथ

पण्डितराज जगन्नाथ संस्कृत काव्य-शास्त्र के अन्तिम आचार्य हैं। इनके युग

१ हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, एस० एन० दासगुप्ता, पृ०-५६१।

तक आते-आते "संस्कृत"-दिनमणि का अवसान हो चला था। आप जैसे रससिद्ध कवि थे, वैसे ही कुशाग्र-बुद्धि आचार्य भी। वाणी के आचार्य पद के एकमात्र अधिकारी जगन्नाथ ही हैं।[1]

जगन्नाथ तैलंग जाति के ब्राह्मण थे।[2] इनके अनेक जातीय तथा साहित्यिक उपनाम थे—वेगिनाड़, वेल्लनारीय, त्रिशूली, पण्डितराज आदि। इन्होंने रसगंगाधर में अपने पिता का नाम पेरमभट्ट (पेरुभट्ट) तथा माता का नाम लक्ष्मी बताया है। आपके आश्रयदाता मुसलमान बादशाह थे।[3] अतएव आपका रचना काल १६२० ई० से १६६० ई० के मध्य माना जाता है।[4] शाहजहां १६२८ ई० में गद्दी पर बैठा था और १६६० में अपने पुत्र औरंगजेब के द्वारा कैद कर लिया गया तथा १६६६ ई० में उसकी मृत्यु हुई थी।

पण्डितराज जगन्नाथ ने अनेक पुस्तकों का प्रणयन किया था। अभी तक ज्ञात रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं—अमृतलहरी, आसफविलास, करुणालहरी, चित्रमीमांसा-खण्डन, जगदाभरण, पीयूषलहरी, प्राणाभरण, भामिनीविलास, मनोरमाकुचमर्दन, यमुनावर्णन, लक्ष्मीलहरी, और रसगंगाधर। इनमें काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ दो ही हैं—चित्रमीमांसाखण्डन और रसगंगाधर। चित्रमीमांसाखण्डन में अप्पय दीक्षित–प्रणीत चित्रमीमांसा की आलंकारिक स्थापनाओं का खण्डन किया गया है। रसगंगाधर पण्डितराज जगन्नाथ का अमर कृतित्व है। इस ग्रन्थ का आदर ध्वन्यालोक और काव्य-प्रकाश की तरह होता है। ग्रंथ का नामकरण रस का गंगाधर अर्थात "शिव" के अर्थ में किया गया है। अतएव इसमें पांच आनन दिए गए थे। आनन शब्द का अर्थ परिच्छेद और मुख दोनों है तथा शिव पंचानन भी कहलाते हैं। यही ग्रन्थ के नामकरण का रहस्य है। पर अभी तक रसगंगाधर के दो आनन ही उपलब्ध होते हैं। द्वितीय आनन भी पूरा नहीं है अतएव कुछ विद्वानों का कहना है कि जगन्नाथ ग्रंथ को पूरा नहीं कर पाये थे, कि काल-कवलित हो गए। पर चित्रमीमांसाखण्डन के उद्धरणों से ज्ञात होता है कि रसगंगाधर की रचना के बाद आपने चित्रमीमांसाखण्डन लिखा था।[5] अतएव रसगंगाधर के अवशिष्ट अंशों के नष्ट हो जाने की ही सम्भावना अधिक है। ग्रन्थ के उपलब्ध अंश के तीन अंग हैं—लक्षण

---

१ वाचामाचार्यतायाः पदमनुभवितुं कोऽस्ति धन्योमदान्यः

जगन्नाथ। भामिनीविलास। ४/२८।

२ तेलंग कुलावतंसेन पंडित जगन्नाथेन। —जगन्नाथ। आसफविलास। प्रारम्भ।

३ दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनंवयः।

—भामिनीविलास। शास्त्रविलास। श्लोक ३२।

४ हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स, पृष्ठ—३१२।

५ विशेषस्तु उदाहरणालंकारप्रकरणे रसगंगाधरादवसेयः।

—चित्रमीमांसाखण्डन, पृष्ठ—१२।

(गद्यसूत्र), वृत्ति तथा उदाहरण। इनके सभी उदाहरण स्वरचित हैं।[1] ग्रन्थ के प्रथम आनन में काव्यलक्षण, हेतु, काव्यभेद, रस-स्वरूप, रसदोष, गुण, रसाभास आदि प्रतिपादित किए गए हैं तथा द्वितीय आनन में शब्दशक्ति पर विचार करने के प्रसंग में लक्षणशक्ति पर आधारित ७० अलंकारों का निरूपण है।

सैद्धान्तिक दृष्टि से जगन्नाथ आनन्दवर्द्धन के ध्वनि-सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। इन्होंने साहित्यदर्पण के रचयिता विश्वनाथ के "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" वाले काव्य लक्षण का खण्डन कर रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य प्रतिपादित किया है।[2] इन्होंने विश्वनाथ के दृष्टिकोण को संकीर्ण कहा है तथा ध्वनि को काव्य की आत्मा एवं रस को ध्वनि की आत्मा बताया है। इस प्रकार आप ध्वनिवादी होते हुए भी रस तत्त्व की सर्वोत्कृष्टता की घोषणा करते हैं। फलतः आनन्दवर्द्धन के ध्वनि-रस सम्प्रदाय के पूर्णतः अनुगामी प्रतीत होते हैं। काव्य के प्रभेदों में आपने कुछ मौलिकता दिखाई है। जहाँ ध्वन्यर्थ के आधार पर मम्मट ने तीन भेद किए थे, वहाँ जगन्नाथ ने काव्य के चार भेद उसी आधार पर किए हैं—उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम, और अधम। मम्मट प्रतिपादित गुणीभूतव्यंग्य को आपने उत्तम ही माना है तथा वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारी ध्वन्यर्थ से युक्त काव्य को उत्तमोत्तम स्वीकार किया है। यही इनकी नवीनता है। रसनिष्पत्ति के सिद्धान्तों में भी आपने अनेक सिद्धान्तों का उल्लेख एवं पर्यालोचन किया है।

आप में जैसी प्रतिभा थी, उसका सदुपयोग आपने नहीं किया। आप चाहते तो कोई मौलिक सिद्धान्त-ग्रंथ लिख सकते थे, पर आपने अपनी अधिकांश प्रतिभा का दुरुपयोग समकालीन वैयाकरणों एवं काव्य-शास्त्रियों के खण्डन में ही किया है; जैसा आपके कुछ ग्रन्थों के नाम से भी पता चलता है। फिर भी आप जिस तेजः पुंज को लेकर देदीप्यमान नक्षत्र के रूप में संस्कृत काव्यशास्त्र के आकाश में उदित हुए, उसकी शतांश आभा लेकर भी उदीयमान कोई दूसरा नक्षत्र दृष्टिगोचर नहीं हुआ। फलतः संस्कृत-काव्यशास्त्र के रंगमंच पर आपके अभिनय के अनन्तर सदा के लिए पटाक्षेप हो गया।

●

---

१ निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किंचित्।
किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्धः कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण॥
—रसगंगाधर—पृष्ठ ३।

२ रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। रसगंगाधर (प्रारम्भिक अंश)

तक आते-आते "संस्कृत"-दिनमणि का अवसान हो चला था। आप जैसे रससिद्ध कवि थे, वैसे ही कुशाग्र-बुद्धि आचार्य भी। वाणी के आचार्य पद के एकमात्र अधिकारी जगन्नाथ ही हैं।[1]

जगन्नाथ तैलंग जाति के ब्राह्मण थे।[2] इनके अनेक जातीय तथा साहित्यिक उपनाम थे—वेगिनाड़, वेल्लनारीय, त्रिशूली, पण्डितराज आदि। इन्होंने रसगंगाधर में अपने पिता का नाम पेरमभट्ट (पेरुभट्ट) तथा माता का नाम लक्ष्मी बताया है। आपके आश्रयदाता मुसलमान बादशाह थे।[3] अतएव आपका रचना काल १६२० ई० से १६६० ई० के मध्य माना जाता है।[4] शाहजहाँ १६२८ ई० में गद्दी पर बैठा था और १६६० में अपने पुत्र औरंगजेब के द्वारा कैद कर लिया गया तथा १६६६ ई० में उसकी मृत्यु हुई थी।

पण्डितराज जगन्नाथ ने अनेक पुस्तकों का प्रणयन किया था। अभी तक ज्ञात रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं—अमृतलहरी, आसफविलास, करुणालहरी, चित्रमीमांसा-खण्डन, जगदाभरण, पीयूषलहरी, प्राणाभरण, भामिनीविलास, मनोरमाकुचमर्दन, यमुनावर्णन, लक्ष्मीलहरी, और रसगंगाधर। इनमें काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ दो ही हैं—चित्रमीमांसाखण्डन और रसगंगाधर। चित्रमीमांसाखण्डन में अप्पय दीक्षित–प्रणीत चित्रमीमांसा की आलंकारिक स्थापनाओं का खण्डन किया गया है। रसगंगाधर पण्डितराज जगन्नाथ का अमर कृतित्व है। इस ग्रन्थ का आदर ध्वन्यालोक और काव्य-प्रकाश की तरह होता है। ग्रंथ का नामकरण रस का गंगाधर अर्थात "शिव" के अर्थ में किया गया है। अतएव इसमें पांच आनन दिए गए थे। आनन शब्द का अर्थ परिच्छेद और मुख दोनों है तथा शिव पंचानन भी कहलाते हैं। यही ग्रन्थ के नामकरण का रहस्य है। पर अभी तक रसगंगाधर के दो आनन ही उपलब्ध होते हैं। द्वितीय आनन भी पूरा नहीं है अतएव कुछ विद्वानों का कहना है कि जगन्नाथ ग्रंथ को पूरा नहीं कर पाये थे, कि काल-कवलित हो गए। पर चित्रमीमांसाखण्डन के उद्धरणों से ज्ञात होता है कि रसगंगाधर की रचना के बाद आपने चित्रमीमांसाखण्डन लिखा था।[5] अतएव रसगंगाधर के अवशिष्ट अंशों के नष्ट हो जाने की ही सम्भावना अधिक है। ग्रन्थ के उपलब्ध अंश के तीन अंग हैं—लक्षण

---

१ वाचामाचार्यतायाः पदमनुभवितुं कोऽस्ति धन्योमदान्यः

जगन्नाथ। भामिनीविलास। ४/३८।

२ तेलंग कुलावतंसेन पंडित जगन्नाथेन। —जगन्नाथ। आसफविलास। प्रारम्भ।

३ दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनंवयः।

—भामिनीविलास। शास्त्रविलास। श्लोक ३२।

४ हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स, पृष्ठ—३१२।

५ विशेषस्तु उदाहरणालंकारप्रकरणे रसगंगाधरादवसेयः।

—चित्रमीमांसाखण्डन, पृष्ठ—१२।

(गद्यसूत्र), वृत्ति तथा उदाहरण। इनके सभी उदाहरण स्वरचित हैं।[1] ग्रन्थ के प्रथम आनन में काव्यलक्षण, हेतु, काव्यभेद, रस-स्वरूप, रसदोष, गुण, रसाभास आदि प्रतिपादित किए गए हैं तथा द्वितीय आनन में शब्दशक्ति पर विचार करने के प्रसंग में लक्षणशक्ति पर आधारित ७० अलंकारों का निरूपण है।

सैद्धान्तिक दृष्टि से जगन्नाथ आनन्दवर्द्धन के ध्वनि-सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। इन्होंने साहित्यदर्पण के रचयिता विश्वनाथ के "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" वाले काव्य लक्षण का खण्डन कर रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य प्रतिपादित किया है।[2] इन्होंने विश्वनाथ के दृष्टिकोण को संकीर्ण कहा है तथा ध्वनि को काव्य की आत्मा एवं रस को ध्वनि की आत्मा बताया है। इस प्रकार आप ध्वनिवादी होते हुए भी रस तत्त्व की सर्वोत्कृष्टता की घोषणा करते हैं। फलतः आनन्दवर्द्धन के ध्वनि-रस सम्प्रदाय के पूर्णतः अनुगामी प्रतीत होते हैं। काव्य के प्रभेदों में आपने कुछ मौलिकता दिखाई है। जहाँ ध्वन्यर्थ के आधार पर मम्मट ने तीन भेद किए थे, वहाँ जगन्नाथ ने काव्य के चार भेद उसी आधार पर किए हैं—उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम, और अधम। मम्मट प्रतिपादित गुणीभूतव्यंग्य को आपने उत्तम ही माना है तथा वाच्यार्थ से अधिक चमत्कारी ध्वन्यर्थ से युक्त काव्य को उत्तमोत्तम स्वीकार किया है। यही इनकी नवीनता है। रसनिष्पत्ति के सिद्धान्तों में भी आपने अनेक सिद्धान्तों का उल्लेख एवं पर्यालोचन किया है।

आप में जैसी प्रतिभा थी, उसका सदुपयोग आपने नहीं किया। आप चाहते तो कोई मौलिक सिद्धान्त-ग्रंथ लिख सकते थे, पर आपने अपनी अधिकांश प्रतिभा का दुरुपयोग समकालीन वैयाकरणों एवं काव्य-शास्त्रियों के खण्डन में ही किया है; जैसा आपके कुछ ग्रन्थों के नाम से भी पता चलता है। फिर भी आप जिस तेजः पुंज को लेकर देदीप्यमान नक्षत्र के रूप में संस्कृत काव्यशास्त्र के आकाश में उदित हुए, उसकी शतांश आभा लेकर भी उदीयमान कोई दूसरा नक्षत्र दृष्टिगोचर नहीं हुआ। फलतः संस्कृत-काव्यशास्त्र के रंगमंच पर आपके अभिनय के अनन्तर सदा के लिए पटाक्षेप हो गया।

---

१ निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपं काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किंचित्।
किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्धः कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण॥
—रसगंगाधर—पृष्ठ ३।

२ रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। रसगंगाधर (प्रारम्भिक अंश)

२

संस्कृत काव्य-शास्त्र में विभिन्न सम्प्रदाय

काव्य-शास्त्र और सम्प्रदाय

प्रथम अध्याय में अध्ययन किये गये संस्कृत काव्य-शास्त्र के इतिहास से यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि काव्य के मुख्य तत्व (आत्म तत्व) को लेकर उन आचार्यों के बीच विवाद छिड़ा हुआ था। उनके विवाद का केन्द्र बिन्दु काव्य की आत्मा था। सभी आचार्य एक दूसरे के विचारों का खण्डन कर नई स्थापना में निरत दृष्टिगोचर होते हैं। जिन्होंने पूर्ववर्ती काव्य-सिद्धान्तों को खण्डित कर नया काव्य-सिद्धान्त प्रस्तुत किया, वे उस सिद्धान्त के जन्मदाता होने के कारण, उस सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य हुए। बाद में, उनके उस नवीन काव्य-सिद्धान्त के अनुसरण करने वाले भी अनेक विद्वान हुए, जिन्होंने नये-नये ग्रन्थ लिख कर अपने उपजीव्य आचार्य के सिद्धान्त की पुष्टि की। और इस प्रकार प्रत्येक काव्य-सिद्धान्त ने एक काव्य-सम्प्रदाय का रूप धारण कर लिया। वस्तुत: सम्प्रदाय कहते भी उसे ही हैं जिसमें किसी एक विद्वन्मूर्धन्य या मान्य व्यक्ति द्वारा प्रवर्तित विचारों के अनेक समर्थक तथा अनुगामी हों। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में चाहे वह साहित्य हो, राजनीति हो, दर्शनशास्त्र या कोई अन्यशास्त्र, इसी प्रकार विचारकों के अनेक दलों के सम्प्रदाय या स्कूल्स पाये जाते हैं। फलत: काव्य के आत्मतत्व को लेकर मत-वैभिन्न्य रखने वाले काव्य-शास्त्रियों के भी कई काव्य-सम्प्रदाय बने। इनमें कुछ काव्य-सम्प्रदाय तो ऐसे हैं जिनके उद्भव के अनन्तर उनके अनेक पोषक विद्वान हुये, पर ऐसे भी कुछ काव्य-सम्प्रदाय हैं जिनके प्रवर्तन के अनन्तर किसी काव्य-शास्त्र-मर्मज्ञ विद्वान ने, कम से कम सिद्धान्त ग्रन्थ लिख कर, समर्थन नहीं किया। पर यदि उनके वृत्तिकारों, टीकाकारों, भाष्यकारों, सहमत पाठकों और मौखिक समर्थक विद्वानों को दृष्टि में रख कर विचार करें तो निश्चय ही इन सम्प्रदायों के पोषकों का भी एक बहुत बड़ा दल प्राप्त हो जायगा। फलत: इन अपवादभूत कतिपय काव्य-सिद्धान्तों को भी काव्य-सम्प्रदाय मानने में किसी तरह की विप्रतिपत्ति नहीं होगी। सामान्यत: यही काव्य-सम्प्रदायों के जन्म का इतिहास है।

काव्य-सम्प्रदायों की संख्या

परवर्ती काल में आकर कई काव्य-शास्त्री आचार्यों ने अपने प्रतिपाद्य-सिद्धान्त के स्थापन-प्रसंग में, विविध काव्य-सम्प्रदायों के लिये जो प्रचलित नाम हैं, वैसे नाम नहीं दिये हैं। उन्होंने उनकी ओर संकेत मात्र किया है। ध्वन्यालोक के प्रणेता तथा ध्वनिसम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि-विरोधी तीन मतों का उल्लेख किया है। वे हैं—(१) अभाववादी, (२) भक्तिवादी तथा (३) अनिर्वचनीयतावादी। आनन्दवर्द्धन ने अभाववादी उन आचार्यों को कहा है जो ध्वनि का अस्तित्व बिलकुल ही नहीं मानते हैं तथा उसका अभाव बताते हैं। ऐसे अभाववादियों के भी कई वर्ग उन्होंने बताये हैं। वे हैं—(क) शुद्ध अलंकारवादी, (ख) रीति-गुणवादी, (ग) अलङ्कार-भुक्त ध्वनिवादी। जो आचार्य ध्वनियों की सत्ता बिलकुल नहीं मानते हैं तथा केवल अलङ्कारों को ही काव्य की आत्मा मानते हैं, वे शुद्ध अलङ्कारवादी हैं। ऐसे आचार्यों में भामह, उद्भट आदि प्रमुख हैं। जो आचार्य गुण अथवा रीति को काव्य की आत्मा मानते हैं तथा ध्वनि की सत्ता स्वीकार नहीं करते हैं, वे रीति-गुणवादी हैं। ऐसे आचार्यों में वामन और दण्डी को रखा जा सकता है। कतिपय आलङ्कारिक ऐसे भी हैं, जिन्होंने अलङ्कार को काव्य का प्रमुख तत्व तो माना है, पर ध्वनि की भी सत्ता स्वीकार की है। ये शुद्ध अलंकारवादी की अपेक्षा अधिक व्यापक दृष्टि रखने वाले हैं। इन्होंने ध्वनि की सत्ता मानकर उसे अलङ्कार में अन्तर्भुक्त कर दिया है। अतएव ये ध्वन्य भाववादियों में भी अलंकारभुक्तध्वनिवादी हैं। आचार्य रुद्रट को इस कोटि में रखा जा सकता है। इस प्रकार आनन्दवर्द्धन-प्रतिपादित अभाववादियों के तीन वर्ग हैं—शुद्ध अलङ्कारवादी, रीति-गुणवादी तथा अलंकारभुक्तध्वनिवादी। दूसरा ध्वनिविरोधी दल आनन्दवर्द्धन के अनुसार 'भक्तिवादी' है। 'भक्ति' शब्द लक्षण का पर्यायवाची है। अतएव इस मत के पोषकों ने ध्वनि का अस्तित्व स्वीकार कर उसे लक्षणा अथवा भक्ति के द्वारा बोधगम्य बताया है। ध्वन्यर्थ की प्रतीति के लिए व्यंजना नामक तृतीय शब्दव्यापार की कल्पना तक ये नहीं पहुंचे हैं। ध्वनिविरोधियों में तीसरे वर्ग को आनन्दवर्द्धन ने अनिर्वचनीयतावादी कहा है। ये वस्तुतः रसवादी हैं। इन्होंने रस और ध्वनि में पार्थक्य न मान कर उसे अनिर्वचनीय कहा है। फलतः आनन्दवर्द्धन संकेतित तीन प्रकार के अभाववादी, भक्तिवादी और अनिर्वचनीयतावादियों में हमें तीन काव्य-सम्प्रदाय उपलब्ध हो जाते हैं।[1] दोनों प्रकार के अलङ्कारवादियों (शुद्ध अलङ्कारवादी और अलंकारभुक्तध्वनिवादी) को अलंकार-सम्प्रदाय के अन्तर्गत रख लेना चाहिये। रीति-गुणवादी रीति-सम्प्रदाय के अन्तर्गत आ जाते हैं। वस्तुतः रीति-सम्प्रदाय और गुण सम्प्रदाय अभिन्न हैं। दण्डी और वामन ने, जो रीति तथा गुण

---

१ ध्वन्यालोक । १।१ ।

सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं, रीति और गुण में कोई अन्तर नहीं माना है। अनिर्वचनीयतावादियों को रस सम्प्रदाय के अन्तर्गत रखना चाहिये। इस प्रकार (१) अलंकार-सम्प्रदाय, (२) रीतिसम्प्रदाय (३) रससम्प्रदाय-इन तीन सम्प्रदायों की चर्चा हमें ध्वन्यालोक में प्राप्त है। ध्वनिसम्प्रदाय (चतुर्थ) के प्रवर्तक आनन्दवर्द्धन स्वयं हैं। अवशिष्ट वक्रोक्ति सम्प्रदाय और औचित्यसम्प्रदाय का संकेत हमें आनन्दवर्द्धन में इसलिये नहीं मिलता है, चूँकि इन सम्प्रदायों का जन्म आनन्दवर्द्धन के बाद हुआ है। कुन्तक और क्षेमेन्द्र आनन्दवर्द्धन के परवर्ती हैं।

आनन्दवर्द्धन के अतिरिक्त आचार्य रुटयक-प्रणीत अलंकार सर्वस्व के टीकाकार "समुद्रबन्ध, ने भी इन विभिन्न काव्य-सम्प्रदायों की ओर संकेत किया है।[1] समुद्रबन्ध ने अलंकार-सर्वस्व की टीका १३ वीं शताब्दी में लिखी थी। उनका कहना हैं कि विशिष्ट शब्द और अर्थ के सम्मिलित रूप का ही नाम काव्य है। शब्दार्थयुगल में यह वैशिष्ट्य तीन प्रकार से आता है, धर्म के द्वारा, व्यापार के द्वारा और व्यंग्य के द्वारा। धर्म भी दो तरह के होते हैं--नित्य और अनित्य। नित्य धर्म से तात्पर्य, गुणों से है जो शब्दों और अर्थों के साथ किसी न किसी रूप में सदा सम्बन्ध बनाये रखते हैं। अलंकार अनित्य धर्मी हैं, चूंकि उनका अस्तित्व काव्य में वैकल्पिक है। अतएव धर्ममूलक वैशिष्ट्य को प्रतिपादित करने वाले आचार्यों के दो सम्प्रदाय हुए—(१) गुण या रीति-सम्प्रदाय (२) अलंकार-सम्प्रदाय। इसी प्रकार व्यापार के द्वारा शब्दार्थगत वैशिष्ट्य को निर्दिष्ट करने वाले भी दो दो प्रकार के आचार्य हैं। कुछ वक्रोक्ति (भणितिवैचित्र्य) के द्वारा और कुछ भोजकत्व के द्वारा शब्दार्थ के वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करते हैं। वक्रोक्ति के द्वारा वैशिष्ट्य बताने वाले आचार्य कुन्तक हैं तथा भोजकत्व के द्वारा वैशिष्ट्य निर्दिष्ट करने वाले भट्टनायक हैं, जिन्होंने भोजकत्व-व्यापार के द्वारा रसनिष्पत्ति बताई है। फलतः व्यापारमूलक वैशिष्य को प्रतिपादित करने वाले आचार्यों के भी दो सम्प्रदाय हुए—(१) वक्रोक्ति सम्प्रदाय (२) रस-सम्प्रदाय। व्यंग्य (ध्वनि) के द्वारा शब्दार्थनिष्ठ वैशिष्ट्य को बताने वाले ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्द्धन थे। परिणामतः व्यंग्यमूलक वैशिष्ट्य को प्रतिपादित करने वालों का भी एक सम्प्रदाय हुआ—(१) ध्वनिसम्प्रदाय। इस प्रकार समुद्रबन्ध ने स्पष्टरूप से पांच काव्य-सम्प्रदायों की ओर संकेत किया है। वे हैं—(१) रीतिसम्प्रदाय (या गुणसम्प्रदाय)

१ इह विशिष्टो शब्दार्थो काव्यम्। तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन, व्यापारमुखेन, व्यंग्यमुखेन वेति त्रयः पक्षा। आद्येऽप्यलंकारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम्। द्विवतीयेऽपि भणिति-वैचित्र्येण भोगकृत्त्वेन वेति द्वैविध्यम्।
—इति पंचसु पक्षेष्वाद्यः उद्भटादिभिरंगीकृतः, द्वितीयो वामनेन तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन, पंचमो आनन्दवर्द्धनेन। समुद्रबन्ध-अलंकार-सर्वस्व टीका।

(२) अलंकार सम्प्रदाय (३) वक्रोक्ति सम्प्रदाय (४) रस सम्प्रदाय (५) ध्वनिसम्प्रदाय। इन पाँच काव्य-सम्प्रदायों के अतिरिक्त एक छठा भी काव्य सम्प्रदाय है जिसे औचित्य सम्प्रदाय के नाम से आज अभिहित किया जाता है। इसकी ओर समुद्रबन्ध ने संकेत नहीं किया है। इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे आचार्य क्षेमेन्द्र। ऐसा लगता है कि उस समय तक क्षेमेन्द्र के कथन को स्वतन्त्र काव्य-सिद्धान्त का रूप नहीं प्राप्त हुआ था। वस्तुतः यह औचित्य तो उन पाँचों प्रकारों के वैशिष्ट्यों में अपेक्षित है। अतएव इसे स्वतन्त्र काव्य-सिद्धान्त का रूप नहीं देना, समुचित ही था। यहीं कारण है कि समुद्रबन्ध ने केवल पाँच सम्प्रदायों का ही उल्लेख किया है।

प्रस्तुत प्रयत्न

यदि हम औचित्यवादी क्षेमेन्द्र के सिद्धान्त को भी एक काव्य-सम्प्रदाय मान लें (बिना इस पर विचार किए कि उनके काव्य-सिद्धान्त को परवर्ती आचार्यों का समर्थन प्राप्त हुआ या नहीं) तो संस्कृत काव्य-शास्त्र के कुल छः काव्य-सम्प्रदाय हो जाते हैं। इस अध्याय में इन्हीं छः काव्य-सम्प्रदायों के उद्भव, विकास और अन्य काव्य-सम्प्रदायों से सम्बन्ध पर प्रकाश डालने की चेष्टा की जा रही है। काव्य-सम्प्रदायों के विवरण-क्रम में काल का ध्यान मैंने नहीं रखा है, क्योंकि एक साथ ही कई काव्य-सम्प्रदाय ऐसे प्रतीत होते हैं जिनका बीज सुदूर अतीत में प्राप्त हो जाता है। विषय की स्पष्टतः के लिए रसवाद और अलंकारवाद के इतिहास को लीजिए। काव्य-शास्त्र के प्राचीनतम ग्रंथ नाट्यशास्त्र में रस का सैद्धान्तिक निरूपण उपलब्ध होता है पर उसी ग्रंथ के १७ वें अध्याय में ३६ लक्षणों का भी निरूपण मिलता है। इन्हीं लक्षणों में से हेतु, लेश, आशीः आदि परवर्तीकाल में अलंकार के रूप में स्वीकृत कर लिए गए।[1] इतना ही नहीं, यास्क के निरुक्त ग्रंथ में भी उपमा और उसके प्रभेदों की चर्चा मिलती है। कतिपय अलंकारों के प्रयोग तो वैदिक संहिता में भी पाये जाते हैं। ऐसी स्थिति में रस-सिद्धान्त को अधिक प्राचीन माना जाय या अलंकार-सिद्धान्त को—यहाँ एक दुविधाजनक समस्या उठ खड़ी होती है।

इन सम्प्रदायों में सम्भवतः प्राचीनतम रहने के बावजूद भी मैंने रस सम्प्रदाय को सबसे अन्त में रख दिया है। मुझे वस्तुतः रस सिद्धान्त का ही अध्ययन करना है, अतएव उसे अन्त में रख कर मैंने अपने अध्ययन की क्रमबद्धता बनाए रखने की कोशिश की है।

	सम्प्रदाय	प्रवर्तक आचार्य
(१)	अलंकार-सम्प्रदाय	भामह।
(२)	रीति-गुण-सम्प्रदाय	वामन तथा दण्डी
(३)	वक्रोक्ति-सम्प्रदाय	कुन्तक।

१ हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स, पृ० ३५६।

(४)	ध्वनि-सम्प्रदाय	आनन्दवर्द्धन ।
(५)	औचित्य-सम्प्रदाय	क्षेमेन्द्र ।
(६)	रस-सम्प्रदाय	भरत ।

इन्हीं छः काव्य-सम्प्रदायों का क्रमिक ऐतिहासिक अध्ययन तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन प्रस्तुत है ।

(१) अलंकार-सम्प्रदाय

अलंकार शब्द का अर्थ

अलंकार शब्द का अर्थ काव्य-शास्त्र में समय-समय पर बदलता रहा है । यों व्युत्पत्ति की दृष्टि से "अलंक्रियते अनेन" या "अलंकरोतीति अलंकारः"—इन दोनों का अर्थ एक ही है । जिसके द्वारा काव्य अलंकृत (भूषित) किया जाय या जो काव्य को अलंकृत करे—वस्तुतः इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है । पर काव्य-शास्त्र ने अनेक अर्थों में इसका प्रयोग देखा है । आरम्भ में काव्य के एकमात्र प्रभावक धर्म (अलंकार) का "अलंकार" कहा गया और जब काव्य की शोभा के संबर्द्धक अन्य भी प्रभावक धर्म (रीति, गुण, दोषाभाव, रस आदि) ढूंढ़ निकाले गए तो उन सभी धर्मों के लिए अलंकार शब्द का प्रयोग किया जाने लगा । इसी अर्थ में काव्य-शास्त्र को "अलंकार-शास्त्र" कहा गया है । बाद में जब भारतीय काव्य-शास्त्र पर्याप्त समृद्ध हो गया और विवेचन-विश्लेषण तथा खण्डन-मण्डन की परम्परा एक प्रकार से प्रतिष्ठित सी हो गई तो भामह और उद्भट आदि के समय तक आकर अलंकार शब्द पुनः संकीर्ण अर्थ में प्रयुक्त होने लगा । इस प्रकार अलंकार शब्द के अर्थ की तीन स्थितियाँ संस्कृत काव्य-शास्त्र में पाई जाती हैं ।[1] पर इतना निश्चित है कि "अलंकार" को काव्य की आत्मा या उसका अनिवार्य तत्त्व मानकर काव्य-सिद्धान्त निरूपित करनेवाले उन आचार्यों ने, जो काव्य-सम्प्रदाय के अन्तर्गत परिगणित किए जाते हैं, अलंकार-शब्द का प्रयोग संकीर्ण अर्थ में ही किया है ।[2]

उद्भव और विकास

सैद्धान्तिक दृष्टि से अलंकारों का बीज हमें प्रथमतः व्याकरण और निरुक्त शास्त्र जैसे वेदांगों में उपलब्ध होता है । यास्क ने निघण्टु में उपमावाचक (सादृश्य-सूचक शब्द) बारह शब्दों का उल्लेख किया है । वे हैं—इव, यथा, न, चित्, नु, आ, भूत, रूप, वर्ण, वत्, तथा और उपमा । इन्हीं द्वादश उपमावाची शब्दों में पठित

---

१ डॉ० ओमप्रकाश : हिन्दी अलंकार-साहित्य, पृ०–१ ।

२ प्राचामाचार्याणाम् संघटनाशूयत्वमेव गुणानाम् । तदुक्रमलंकार-सर्वस्वे·संघटना धर्मत्वेन शब्दार्थ धर्मत्वेन च गुणालंकाराणां व्यवस्थानम् ।
—विद्यानाथ : प्रतापरुद्रयशोभूषण, गुणप्रकरण, पृ० ३३४ ।

चार उपामावाची निपातों की चर्चा निरुक्त में भी यास्क ने की है[1]। उपमा शब्द का प्रयोग तो इन्होंने कई बार किया है। पर यहाँ भी मात्र सादृश्य का ही द्योतन कराया गया है, उपमा-अलंकार की उद्भावना अभी तक नहीं हुई थी।

व्याकरण-शास्त्र और काव्य-शास्त्र में बहुत निकट का सम्बन्ध है। एक वाणी की शुद्धता पर ध्यान देता है तो दूसरा उसकी साज-सज्जा पर। यही कारण है कि अनेक प्राचीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में किसी न किसी अध्याय में शब्दों की शुद्धाशुद्धियों का विवेचन भी मिलता है[2] शब्द-शक्तियों के निरूपण का प्रसंग तो यथार्थतः व्याकरण शास्त्र से ही आया है। परवर्तीकाल के मम्मट, विश्वनाथ एवं जगन्नाथ प्रभृति आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में शब्द-शक्ति का विशद विवेचन किया है। ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा बताने के प्रसंग में "बुधैः"[3] शब्द के द्वारा स्फोटवादी वैयाकरणों की ओर ही संकेत किया है। अन्यत्र भी उन्होंने व्याकरण को काव्य-शास्त्र का उपजीव्य बताया है[4]। फलतः व्याकरण-शास्त्र और काव्यशास्त्र का पारस्परिक सम्बन्ध सुनिश्चित हो जाता है।

जहाँ तक अलंकारों का प्रश्न है, इस दिशा में भी व्याकरण शास्त्र ने काव्य-शास्त्र को प्रभावित किया है। उपमा अलंकार से सम्बद्ध अनेक परिभाषिक शब्दों का उल्लेख पाणिनि के सूत्रों में मिलता है, यथा-उपमान, उपमित, सामान्य, औपम्य, उपमार्थ, सादृश्य इत्यादि। "उपमानानि सामान्य वचनैः (२।१।५५)" और "उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्य प्रयोगे (२।१।५६)"—इन दोनों सूत्रों को देख कर तो यह विषय और अधिक स्पष्ट हो जाता है। फलतः पाणिनि की अष्टाध्यायी में "उपमा"-अलंकार का संकेत उपलब्ध हो जाता है। यास्क ने पाणिनि के पूर्ववर्ती वैयाकरण गार्ग्य का भी उल्लेख किया है[5]। परवर्ती काल में श्रौती और आर्थी नामक जो उपमा के भेद किए गए उनके आधार भी वैयाकरणों के कृतप्रत्यय और तद्धित प्रत्यय ही थे[6]। कात्यायन के वार्तिक और पतंजलि के महाभाष्य में भी उपमा के तत्वों का विवेचन एवं उल्लेख मिलता है। अतएव अलंकारों का बीज निरुक्त-वेदांग के अतिरिक्त व्याकरण में भी निःसन्दिग्ध रूप में विद्यमान है। पर अभी भी अलंकारों का काव्य के सौन्दर्य विधायक तत्व की दृष्टि से प्रतिपादन नहीं किया गया था। फलतः

---

१ निरुक्त अध्याय १, पाद ४ तथा निघण्टु अध्याय ३।१३।

२ भामहकृत का० षष्ठ परिच्छेद, वामनकृत का० सूत्रवृत्ति-पंचम अधिकरण, भट्टि काव्य में व्याकरण और काव्यशास्त्र का संगम।

३ ध्वन्यालोक, प्रारम्भ।

४ ध्वन्यालोक, १।१३।

५ अथातो उपमा यदतत् तत्सदृशम् इति गार्ग्यः। निरुक्त—प्रथम अध्याय।

६ दासगुप्ता; हिस्ट्री आफ संस्कृतलिटेचर, खण्ड १, पृ०-५१९।

काव्यशास्त्रीय अलंकारों का उद्भव पाणिनि काल तक नहीं हुआ, भले ही उनके बीज व्याकरण-ग्रन्थों में सम्मिहित हों।

संस्कृत काव्य-शास्त्र का मंगलमय आरम्भ भरत के नाट्यशास्त्र से होता है। यह सर्वविदित विषय है कि भरत नाट्भ-विधान के प्रतिपादक आचार्य थे। इन्होंने जो कुछ भी कहा है, वह नाटकीय अभिनय में चमत्कार-सौन्दर्य या प्रभावोत्पादकता लाने की दृष्टि से ही। उन्होंने वाचिक अभिनय को चमत्कृत करने वाले ३६ लक्षणों का प्रतिपादन किया है[1]। इन लक्षणों में पठित हेतु, संशय, दृष्टान्त, निदर्शन, लेश, आशी: आदि ने परवर्ती काल में अलंकारों का रूप धारण कर लिया। स्वयं भरत ने इसी १६ वें अध्याय में चार अलंकार भी निरूपित किये हैं। उपमा, रूपक, दीपक और यमक[2]। इनमें प्रथम तीन तो परवर्ती काल के अर्थालंकार हैं और चतुर्थ (यमक) शब्दालंकार। इनके अतिरिक्त इसी अध्याय में १० प्रकार के काव्यादोष और १० प्रकार के काव्यार्थगुण भी निरूपित किए गए हैं। अध्याय की पुष्पिका में "इति भारतीयेनाट्यशास्त्रेऽलंकार-लक्षणों नाम षोडशोऽध्याय:" लिखा हुआ है। इससे प्रमाणित होता है कि भरत के युग तक अलंकार को स्वतन्त्र काव्य तत्त्व का रूप प्राप्त नहीं हुआ था और यह नाटकीय वाचिक अभिनय को चमत्कृत करने वाला एक व्यापक तत्त्व था जिसके अन्तर्गत लक्षण, अलंकार, दोष और गुण सभी समाविष्ट थे। फिर भी चार अलंकारों की पृथक चर्चा से यह स्पष्ट है कि अलंकारों का अस्तित्व उस समय भी था। तथापि अभी तक अलंकार-सिद्धान्त का उदय नहीं हुआ था।

भरत के बाद आचार्य के रूप में भामह आते हैं। इन्होंने अन्य आचार्यों के भी अस्तित्व की सूचना दी है। "मेधाविन्" का उल्लेख आपने किया है। पर मेधाविन् आदि आचार्यों के ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हो पाए हैं—अतएव उनकी आलंकारिक मान्यता के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ बता सकना नितान्त कठिन है। तथापि भामह के अलंकार निरूपण को पूर्ण विकसित स्थिति में देखकर यह अनुमान स्वभावत: किया जा सकता है कि इनके पूर्व के मेधाविन् आदि आचार्यों ने अवश्य ही अलंकार-निरूपण किया होगा जिसका प्रतिफलन या विकास भामह के "काव्यालंकार" में आकर शुरू हुआ। यदि भट्टि काव्य को छठी शताब्दी की रचना[3] मान ली जाय तो "काव्यालंकार" के अलंकार-निरूपण से इसकी पूर्ववर्तिता सिद्ध होती है। अतएव उसकी आलंकारिक स्थिति पर भी ध्यान देना अत्यावश्यक हो जाता है। भट्टिकाव्य यों तो सामान्यत: व्याकरण के नियमों को सोदाहरण

---

१ नाट्यशास्त्र (काव्यमाला संस्करण) १६।१-५।

२ उपमा दीपकं चैव रूपकं यमकं तथा।
काव्यस्यैते ह्यलंकाराश्चत्वार: परिकीर्तिता।
—मा० शा० १६।४३।

३ काणे : हिस्ट्री आ सं० पोएटिक्स, पृ०-७४।

प्रतिपादित करने के लिए रचा गया है तथापि उसके प्रसन्नकाण्ड (१०-१३ सर्ग) में काव्यशास्त्रीय विषयों का भी उल्लेख मिलता है। इस काण्ड के दशवें सर्ग में ७५ श्लोकों में ३८ अलङ्कारों का निरूपण है। इनमें अनुप्रास और यमक नामक दो शब्दालंकार हैं और शेष ३६ अर्थालङ्कार हैं। इस प्रकार ईसा पूर्व के भरत-काल से लेकर छठी शताब्दी में रचित भट्टि काव्य के युग तक आते आते अलङ्कारों की संख्या मात्र ४ से ३८ हो गई है। अलङ्कारों को शास्त्रीय रूप भी प्राप्त हो गया है, पर काव्य में प्रमुखता की घोषणा नहीं हुई है।

आचार्य भामह अलङ्कार-सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं। इन्होंने अलङ्कारों को ही काव्य का प्रमुख अंग माना। इनका कहना था कि अन्य सौन्दर्य विधायक तत्त्वों से युक्त होने पर भी अलंकार-विहीन काव्य उसी तरह शोभित नहीं होता है जैसे किसी कामिनी का मुख निसर्ग सुन्दर या प्रसाधित होने पर भी भूषणों के बिना शोभित नहीं होता है[1]। इन्होंने अलंकारों को इतना महत्व दिया है कि रस और भाव का स्वतन्त्र अस्तित्व न मानकर रसवत् और अर्जस्वित् आदि अलङ्कारों में उनका अंतर्भाव कर दिया। इस प्रकार आप विशुद्ध अलङ्कारवादी हैं और अलंकार सम्प्रदाय की नींव आपने ही डाली। परवर्ती काल में अनेक आलंकारिकों ने आपके अलङ्कार-सिद्धान्त का अनुसरण किया जिसके परिणामस्वरूप अलङ्कार-वाद ने अलङ्कार-सम्प्रदाय का रूप धारण कर लिया। इन्होंने सभी अलंकारों का आधार वक्रोक्ति को बताया और इसी दृष्टि से सूक्ष्म, हेतु, और लेश जैसे पूर्वप्रतिपादित तथा पश्चात् समर्थित अलंकारों को अलंकार-सीमा से बहिष्कृत कर दिया। शब्दगत और अर्थगत वैचित्र्य या चमत्कार को ही भामह ने वक्रोक्ति[2] और उसी पर आधारित होने के कारण सभी अलङ्कारों को उक्ति-वैचित्र्य के ही विभिन्न रूपान्तर स्वीकार किए।

भामह के अन्ततर अलङ्कार-वाद के समर्थक अचार्य दण्डी का काल आता है। इन्हें कोई रीतिवादी, कोई गुणवादी और कोई अलङ्कारवादी कहता है। पर मेरी दृष्टि में आप अलङ्कारवादी थे। रीति, गुण आदि तत्त्व अलङ्कार में ही समाविष्ट हैं। काव्य का शोभाकारक धर्म इन्होंने अलङ्कारों को माना है। दण्डी के काव्यादर्श में कुल ३५ अलंकार हैं। विचित्रता यह है कि एक ओर जहाँ भामह प्रतिपादित कुछ अलंकारों को (उपमेयोपमा, प्रतिवस्तूपमा, उपमारूपक, सन्देह, अनन्वय, उत्प्रेक्षावयव) इन्होंने अपने ग्रन्थ में वर्णित नहीं किया है, वहीं दूसरी ओर भामह-परित्यक्त लेश, सूक्ष्म, हेतु, आदि अलंकारों को इन्होंने अपनी अलंकार-तालिका में समाविष्ट कर लिया है। भामह ने केवल वक्रोक्ति को अलंकारों का आधार माना

१ न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम्। —काव्यालंकार, १।१३।

२ वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः। —वही,-१।३७।

था, पर दण्डी ने स्वाभावोक्ति और वक्रोक्ति इन दोनों को वाङ्मय के भेद माना[1]। इतना ही नहीं भामह की वक्रोक्ति की अपेक्षा इन्होंने स्वभावोक्ति को ही अधिक महत्त्व प्रदान किया। इस प्रकार अलंकारों के सम्बन्ध में अपने कुछ मौलिक दृष्टि-कोण तो इनके थे ही, पर अलंकार-वाद को इनका पूर्ण समर्थन प्राप्त हुआ।

दण्डी के बाद अलंकार-सम्प्रदाय की श्रीवृद्धि करने वाले आचार्य उद्भट आए। आपने काव्यालंकार-सार-संग्रह तथा भामह-विवरण लिख कर अलंकारवाद का दृढ़ समर्थन किया। ध्वनिपूर्व युग के एक मात्र आप ही ऐसे आचार्य हैं जिनके ग्रन्थ में स्वतन्त्ररूप से केवल अलंकारों का ही निरूपण किया गया है। आपने काव्यालंकार-सार-संग्रह में कुल ४१ अलंकारों का निरूपण किया है। इन्होंने कतिपय नवीन अलंकारों की भी उद्भावना की। दृष्टान्त, काव्यलिंग, पुनरुक्तवदाभास—आपके सर्वथा नवोद्भावित अलंकार हैं। और इस प्रकार अलंकारों की संख्या को ३८ से ४१ तक ले जाने का श्रेय आपको है। अनुप्रास के भेद भी पहले पहल आपने ही किए थे। श्लेष के भी आपने शब्दश्लेष और अर्थश्लेष ये दो भेद तो किए पर इन्हें अर्थालंकार में गतार्थ कर दिया। यमक अलंकार—जिसका अस्तित्व भरत के युग से ही चला आ रहा था—आपके द्वारा निरूपित न हो पाया। यों आपने उसका सर्वथा परित्याग भी नहीं किया है, क्योंकि ग्रन्थ के पीछे वर्णन करने का संकेत दे दिया है[2]।

उद्भट के अनन्तर अलंकार-सम्प्रदाय के उल्लेखनीय आचार्य रुद्रट का आगमन होता है। पर उनके पहले रीतिवादी आचार्य वामन का उदय हो चुका था। यद्यपि उन्होंने रीति को काव्य की आत्मा माना तथा गुणों को काव्यशोभा कारक धर्म माना, पर अलंकारों को भी काव्य शोभा को अतिशय बढ़ाने वाले हेतु के रूप में प्रतिपादित किया। इन्होंने अपने चतुर्थ अधिकरण को "आलंकारिक अधिकरण" कहा है। इसमें शब्दालंकार और अर्थालंकार का पार्थक्य इन्होंने भी माना है। शब्दालंकारों में केवल अनुप्रास और यमक माने हैं। इन्होंने न तो पूर्वोक्त "पुनरुक्तवदाभास" को रखा और न अनुप्रास तथा यमक के भेदों का उल्लेख किया है। उपमा-प्रपंच (चतुर्थ अधिकरण का द्वितीय) में इन्होंने २८ अर्थालंकारों का प्रतिपादन किया है। व्याजोक्ति और वक्रोक्ति नामक दो नवीन अर्थालंकारों की उद्भावना आपने की, पर दूसरी ओर भामह तथा दण्डी प्रतिपादित आठ अर्थालंकारों को (स्वभावोक्ति, प्रेय, रसवत, अर्जस्वी, पर्यायोक्ति, उदात्त, भाविक, तथा आशी:) आपने छोड़ भी दिया। हेतु, सूक्ष्म तथा लेश नामक अलंकार (जो भरत के लक्षणों के भी थे) भी छोड़ दिए गए हैं। उद्भट द्वारा नवोद्भावित अलंकार काव्यलिंग और दृष्टान्त का भी उल्लेख वामन ने नहीं किया। फलतः केवल ३० अलंकारों का

१ भिन्नं द्विधा स्वभावोक्ति वंक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्। —काव्यादर्श, २।३६३।
२ तत्तु नैकान्तमधुरमतः पश्चाद् विधास्यते। काव्यालंकार-सार-संग्रह-१।६१।

(२ शब्दालङ्कार + २८ अर्थालङ्कार) समावेश वामन के ग्रन्थ में हो सका। यदि इन्होंने पूर्वोद्भावित सभी अलङ्कार को रखा होता तो इनके ग्रन्थ में अलंकारों की संख्या ४३ तक पहुंच गई होती।

आचार्य वामन के अनन्तर रुद्रट का आगमन होता है। इनके उदयकाल को सन्धिकाल कहा जाता है। एक ओर पूर्णतः प्रतिष्ठित अलंकार-सम्प्रदाय का प्राबल्य था तथा दूसरी ओर ध्वनिवाद का जन्म हो रहा था। इन्होंने दोनों में समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की—अतएव कुछ विद्वान खींच कर इन्हें अलंकार सम्प्रदाय में तथा कुछ रस-ध्वनि सम्प्रदाय में ले आते हैं। मैंने इन्हें रसवादी ही माना है। तथापि इतना तो मानना ही होगा कि इन्होंने अलंकारों का अत्यधिक विकास किया। इन्होंने सभी अर्थालंकारों को चार 'विशेष' तत्वों पर आधारित कह कर एक वैज्ञानिक और विश्लेषणात्मक वर्गीकरण भी प्रस्तुत किया।[1] इन्होंने पहले पाँच शब्दालंकार—वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र—प्रतिपादित किए हैं तदनन्तर ६६ अर्थालङ्कारों का निरूपण किया है। कुल मिलाकर इनके ग्रन्थ में ७१ अलंकारों का उल्लेख मिलता है, तथा भेदोपभेद इनके अतिरिक्त हैं। वास्तव नामक विशेष के अन्तर्गत २३, औपम्य के अन्तर्गत २१, अतिशय के अन्तर्गत १२ तथा श्लेष के अन्तर्गत १० अलंकार हैं। इन्होंने कतिपय पूर्ववर्णित अलंकारों का निरसन किया है तो अनेक नवीन अलंकारों को गढ़ा भी है। लगभग ३६ नए अलंकारों के आविष्कार का श्रेय रुद्रट को प्राप्त है। इनके नवोद्भावित अलंकारों के नाम ये हैं—समुच्चय, भाव, पर्याय, विषम, अनुमान, परिकर, परिसंख्या, कारणमाला, अन्योन्य, उत्तर, सार, अवसर, मीलित, एकावली, मत, प्रतीप, उभयन्यास, भ्रान्तिमत्, प्रत्यनीक, पूर्व, साम्य, स्मरण, विशेष, तद्गुण, अधिक, असंगति, पिहित, व्याघात, अविशेष, विरोध, अहिक, वक्र, उक्ति, असम्भव, अवयव और तत्व। इस प्रकार आचार्य रुद्रट ने इतनी अधिक संख्या में नए अलंकारों की उद्भावना करके अलंकार-सम्प्रदाय को पूर्ण विकसित कर दिया। अब तक के प्राप्त कुल ४३ अलंकारों को बढ़ाकर ७१ की संख्या में लाना एक असाधारण बात थी। पर रुद्रट के द्वारा आविष्कृत सभी अलंकार परवर्ती काल के आचार्यों को मान्य नहीं हुए और उपर्युक्त तालिका के भाव, मत, उभयन्यास, पूर्व तथा साम्य जैसे अलंकार तो सदा के लिए विस्मृति की कुक्षि में निक्षिप्त ही हो गए। जो हो पर भामह से लेकर रुद्रट तक का काल अलंकार सम्प्रदाय के इतिहास में स्वर्ण-काल के नाम से अभिहित किया जायगा। भरत के समय में इसका बीज बोया गया, भामह के समय में यह अंकुरित हुआ तथा रुद्रट

---

१ अर्थस्यालंकारा वास्तवमौपम्यमतिशयः श्लेषः।
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निःशेषाः॥

—काव्यालंकार ७।९।

जैसे आलंकारिक के समय में आकर यह सम्प्रदाय पूर्णतः पल्लवित और पुष्पित भी हो गया।

इसके बाद ध्वनिकाल का आगमन होता है। आनन्दवर्द्धन, महिमभट्ट, अभिनवगुप्त प्रभृति आचार्य ध्वनि को काव्य की आत्मा मान कर काव्यालोचन का सिद्धांत निरूपण करने लगे। फलतः अलंकार उनकी दृष्टि में अत्यन्त गौण पड़ गए। ध्वनिवाद ने अलंकार-सम्प्रदाय को दुहरा नुकसान पहुंचाया। प्रथम तो जो ध्वनि-सिद्धान्त में विश्वास करते थे वे संकोचवश काव्य के गौण अङ्ग अलंकारों के निरूपण में प्रवृत्त ही नहीं हुए। द्वितीय, जो ध्वनिवाद के विरोधी भी थे वे अलंकारों के विवेचन को छोड़ कर ध्वनि-सिद्धान्त के खण्डन में ही बेतरह उलझ गए।[1] फलतः अलंकारों के विकास का मार्ग इस अवधि में सर्वथा अवरुद्ध ही रहा।

आनन्दवर्द्धन और महिमभट्ट के बीच में ही वक्रोक्ति का सिद्धान्त लेकर आने वाले आचार्य कुन्तक का भी उदय होता है। आपने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा माना तथा इसी के अन्तर्गत काव्य के अन्य तत्वों—रीति, रस, गुण और अलंकार को रख दिया। इन्होंने काव्य की सालंकारता तो मानी पर इन अलंकारों को वाक्य-वक्रता में अन्तर्निविष्ट कर दिया। फिर भी इस वाक्यवक्रता के निरूपण-प्रसंग में आपने कतिपय अलंकारों का प्रतिपादन किया है। प्राचीन अनेक अलंकार तो इन्हें मान्य ही नहीं हुए। जो थोड़े बहुत अलंकार इन्हें मान्य भी हुए उनमें से कितनों को आपने उपमा नामक अलंकार में अन्तर्भुक्त कर दिया। कतिपय चुने-चुनाए अलंकारों को ही आपने मान्यता प्रदान की। उनकी संख्या लगभग १५ होगी। "रसवत् अलंकार" को आपने सर्वालंकार-जीवित माना।[2]

कुन्तक के अनन्तर सरस्वतीकण्ठाभरण के प्रणेता भोजराज ने अलंकारों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि की है। इन्होंने सबसे पहले अलंकारों को शब्द, अर्थ और उभय (शब्दालंकार, अर्थालंकार, शब्दार्थालंकार) की तीन कोटियों में विभाजित किया। ध्वनिपूर्व काल के आलंकारिकों ने शब्द और अर्थ नामक दो कोटियों में ही अलंकारों का वर्गीकरण किया था। पर भोजराज ने इन तीन कोटियों के नाम स्वयं गढ़े हैं। वे हैं—बाह्य, आभ्यन्तर और उभय। नवीनता के आवेश में इन्होंने निरर्थक अनेक अलंकार गढ़े और उन्हें इन वर्गों में भरती के शब्द की तरह भरते चले गए। यहाँ तक कि पूर्वमीमांसा दर्शन के षड्विध प्रमाणों को भी आपने छः अलंकार ही मान लिए। जाति, गति, रीति, वृत्ति जैसे शब्द-गुणात्मक अलंकारों की भी आपने उद्भावना की। उपमा, रूपक, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा आदि अतिप्रशस्त अर्थालंकारों को भी भोजराज ने उभयालंकार के खाते में डाल दिया। इस प्रकार अलंकारों की

---

१ डा० ओम प्रकाश : हिन्दी अलंकार-साहित्य, पृ० २५।

२ यथा स रसवन्नाम सर्वालंकार-जीवितम्। —वक्रोक्तिजीवित (तृतीय उन्मेष)

संख्या में पर्याप्त वृद्धि करने के बावजूद भी बेढंगे अलंकारों को गढ़ने के कारण, आप न तो स्वयं एक कुशल आलंकारिक कहला सके और न अलंकार-सम्प्रदाय ही अपनी झुकी गर्दन को ऊपर उठा सका।

औचित्यवाद के जन्मदाता क्षेमेन्द्र ने औचित्य को काव्य की आत्मा मानी। आप काव्य के प्रत्येक तत्त्व के केवल औचित्य अनौचित्य की ही चिन्ता करते रहे। अलंकारों के सम्बन्ध में भी आपका यही दृष्टिकोण रहा। किस स्थान में इनका प्रयोग होना चाहिए तथा कितनी मात्रा में इन्हें अपनाना चाहिए—यही आपका विवेच्य विषय बना रहा। न तो आपने प्राचीन अलंकारों का निरूपण किया और न कोई नई उद्भावना की।

इस प्रकार काव्यशास्त्र का मध्यकाल अलंकार-सम्प्रदाय के ह्रास का काल रहा। ध्वनिवाद, वक्रोक्तिवाद और औचित्यवाद के सैद्धान्तिक घटाटोप ने अलंकारों के विवेचन को सर्वथा आच्छन्न कर लिया था। इन विभिन्न नवोद्भावित वादों के जाज्वल्यमान प्रकाश में एकमात्र भोजराज ही एक ऐसे आचार्य आए जिन्होंने अलंकार-निरूपण पर ध्यान केन्द्रित किया; पर टिमटिमाते दीपक की तरह आपका क्षीण प्रकाश शींघ्र ही धूमिल हो गया।

ध्वन्युत्तर काल या परवर्ती काल के मम्मट, रुय्यक, वाग्भटद्वय, हेमचन्द्र, जयदेव, विद्याधर, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित, जगन्नाथ प्रभृति आचार्यों ने पुनः अलंकार-निरूपण की अभिरुचि तो प्रदर्शित की; पर ह्रासोन्मुख अलंकार-सम्प्रदाय को वह स्फूर्ति फिर कदाचित् नहीं प्राप्त हुई जिसके बल पर ध्वनिपूर्व काल में वह अपना एकछत्र आधिपत्य स्थापित कर सका था। आचार्य मम्मट ने अलंकारों को काव्य में ज्यादा महत्त्व नहीं दिया।[1] "अनलंकृती पुनः क्वापि"—के उद्घोष से आपने बिलकुल स्पष्ट कर दिया है कि काव्य में अलङ्कार अनिवार्य नहीं हैं। उनकी दृष्टि में अलङ्कार काव्य की वाह्य शोभा को उसी प्रकार बढ़ाते हैं, जैसे हार, वलय आदि भूषण शरीर की। रस को ही इन्होंने अंगी (आत्मा) माना। फिर भी आपने लगभग ६७ अलङ्कारों का निरूपण किया है जिनमें अतद्गुण, मालादीपक आदि कतिपय अलङ्कार नवोद्भावित भी हैं। इस युग के अलङ्कार-विषयक सबसे समर्थ आचार्य रुय्यक हैं। इन्होंने अपने अलङ्कार-सर्वस्व में जमकर अलङ्कारों का अनुशीलन किया है। एक ओर अपने पूर्ववर्ती आलङ्कारिकों के द्वारा प्रतिपादित अलङ्कारों की आपने विवेकपूर्वक समीक्षा की है तो दूसरी ओर आगामी पीढ़ी के आलङ्कारिकों को आपने प्रभावित भी खूब किया है। यद्यपि सिद्धान्त की दृष्टि से आप ध्वनिवादी हैं[2] तथापि आपने एकमात्र अलङ्कार पर विवेचन ग्रन्थ लिखकर अलङ्कार सम्प्रदाय

---

१ तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि। —का० प्र० १/४।

२ तस्मात् व्यंग्य एव वाक्यार्थीभूतः काव्यजीवितम्। —अलंकार—सर्वस्व ८।

के इतिहास में एक नया अध्याय ही जोड़ा है। वाग्भट प्रथम ने "वाग्भटालङ्कार" तथा वाग्भट द्वितीय ने "काव्यानुशन" में क्रमशः अलंकारों का निरूपण किया है। वाग्भट प्रथम ने सबसे पहले स्वरचित उदाहरणों के द्वारा अलंकार विषय को पल्लवित किया तथा वाग्भट द्वितीय ने मम्मट के सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए अपने ग्रन्थ में अलंकारों का निरूपण किया। हेमचन्द्र ने अलंकारों का प्रतिपादन तो किया पर अधिकांश अर्थालंकारों में एक दूसरे का अन्तर्भाव कर डाला। फलतः आपने केवल पाँच शब्दालंकार और २९ अर्थालंकारों को काट-छांट कर रख लिया और शेष का प्रत्याख्यान कर दिया। चन्द्रालोक के रचयिता जयदेव को अलंकार साहित्य में बड़ी प्रसिद्ध मिली। अपने पूर्ववर्ती आचार्य मम्मट के सिद्धान्त को छिन्न-भिन्न कर आपने अलंकारों की महत्ता प्रतिष्ठित की।[1] आपकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अनुष्टुप् छन्द के पूर्वार्द्ध में अलंकार-लक्षण और उत्तरार्द्ध में उस अलंकार का उदाहरण प्रस्तुत किया। इस प्रकार आपने अलंकार-शास्त्र में एक नई शैली की सर्जना की। अधिकांश रीतिकालीन हिन्दी के आचार्यों पर आपकी इसी शैली का प्रभाव पड़ा है। इसके बाद "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" की मान्यता में विश्वास रखने वाले विश्वनाथ ने खुलकर रसवाद का शंखनाद किया, फिर भी मम्मट की तरह अलंकार-निरूपण से पश्चात्पद नहीं हुए। इन्होंने कुल ८९ अलंकारों का निरूपण किया है। गुणीभूत रस-भाव आदि को इन्होंने प्राचीन आचार्यों की तरह रसवदादि अलंकार माना है। अलंकार-शेखर के लेखक केशव मिश्र ने भी अलंकारों का निरूपण किया, पर थे आप भी रसवादी ही।[2] आपके अलंकारों की संख्या २५ के भीतर ही थी। अप्पयदीक्षित का कुवलयानन्द जयदेव के चन्द्रालोक पर आधारित एक टीका-ग्रन्थ है। चन्द्रालोक के अलंकारांश पर ही यह टीका केन्द्रित है। इन्होंने भी पद्यबद्ध लक्षण-उदाहरण (समन्वित) प्रस्तुत किए। यहाँ तक कि अलंकारों के भेदों के भी इन्होंने उसी क्रम में लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत किये। इन्होंने ११५ अलंकारों का उल्लेख किया है जिनमें १०० अलंकार तो पूर्ववर्ती आलंकारिकों द्वारा प्रतिपादित किए जा चुके थे और शेष १५ अलंकार जिन्हें लोग भूलते जा रहे थे, उनका भी उल्लेख आपने किया। सबसे अन्त में संस्कृत काव्यशास्त्र की अन्तिम ज्योति जगन्नाथ का उदय हुआ। आप ध्वनिवादी थे। तथापि आपने ७० अलंकारों का निरूपण किया है। सभी अलंकारों का आधार लक्षणा शब्दशक्ति को ही मान

---

१ अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मात् अनुष्णमनलंकृती॥

—चन्द्रालोक। १/८।

२ काव्यं रसादिमद्वाक्यं श्रुतं सुखविशेषकृत्।
अलंकारस्तु शोभायै रस आत्मा परे मनः॥

—अलंकारशेखर। चतुर्थ रत्न।

कर आपने अलंकारों की व्याख्या की। अतः आपकी दृष्टि में अलंकारों का ज्यादा महत्त्व नहीं है। जगन्नाथ के समय में ही अलंकारों के निरूपण का भार हिन्दी के आचार्यों ने अपने कन्धे पर ले लिया और संस्कृत काव्य-शास्त्र का दमकता हुआ सूरज सदा के लिए अस्त हो गया।

इस प्रकार आचार्य भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ के काल तक अलंकार सम्प्रदाय किसी न किसी रूप में पनपता रहा। पूर्वकाल में भामह, उद्भट से लेकर रुद्रट के समय तक इसका स्वर्ण-काल रहा और उस युग में अलंकारों को ही काव्य का सर्वप्रमुख तत्त्व माना गया। मध्यकाल में ध्वनिवाद, वक्रोक्तिवाद, औचित्यवाद आदि की धूम रही और किसी ने अलंकारों की चर्चा तक नहीं की। भोजराज जैसे इक्के-दुक्के आलंकारिकों की उक्ति "तूती में नक्कारखाने की आवाज" प्रमाणित हुई। उत्तरकाल में अलंकारों के प्रतिपादन करने वाले तो अनेक हुए पर जिन चश्मों से उन्होंने इन्हें देखा वे रसवाद, ध्वनिवाद आदि की रंगीन कलई से पुते हुए थे। जयदेव और अप्पयदीक्षित जैसे स्वच्छ शीशे वाले निरीक्षक अत्यन्त विरल थे। फिर भी इस सुदीर्घकाल में अलंकारों की संख्या ४ से लगभग १५० तक पहुंच गई और अलंकार-सम्प्रदाय को काव्य-शास्त्र के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण एवं श्लाघ्य स्थल प्राप्त हुआ।

अन्य सम्प्रदायों से सम्बन्ध

जैसे किसी मशीन के अनेक पुर्जे अथवा शारीरिक यन्त्र के सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग परस्पर सम्बद्ध होते हैं, उसी प्रकार काव्य के सभी तत्व भी आपस में सम्बद्ध हैं। एक को दूसरे से सर्वथा विच्छिन्न करके देखना नितान्त कठिन है। वस्तुतः, स्थूल दृष्टि से देखने पर काव्य के सभी तत्व-रीति, गुण, अलंकार, ध्वनि, रस आदि शब्दार्थाश्रित ही होते हैं। अतएव एक ही कविता में जहाँ कोई रस है, वहीं कोई-न-कोई गुण, अलंकार, रीति, ध्वनि आदि काव्य-तत्व भी पाए जाते हैं। व्यावहारिक जगत् में यह विषय बिलकुल स्पष्ट है।

यह बात काव्यशास्त्रियों के सैद्धान्तिक क्षेत्र में भी छिपी नहीं है। सिद्धान्त निरूपक सभी काव्यशास्त्रियों को अपने-अपने ढंग से काव्य के ये सभी तत्व ज्ञात हैं। फिर भी, सिद्धान्त-विशेष के आग्रह में पड़कर भिन्न-भिन्न काव्य-सम्प्रदाय के आचार्य काव्य के तत्व-विशेष पर जोर देते हैं और शेष तत्वों को या तो अपनी दृष्टि से ओझल कर देते हैं या उन्हें अपने प्रतिपाद्य विषय में अन्तर्भुक्त कर गौण बना देते हैं। ऐसी स्थिति में यह मानना कदापि न्याय्य नहीं होगा कि किसी एक काव्य-सम्प्रदाय के आचार्यों को दूसरे काव्य-सम्प्रदाय के द्वारा प्रतिपादित विषय (काव्य-तत्व) सर्वथा अज्ञात थे या उनसे "अहि-नकुल" जैसा विरोध था। यही कारण है कि संस्कृत काव्य-शास्त्र के अधिकांश आचार्यों ने अपने-अपने सिद्धान्त ग्रन्थों में एक

साथ ही रस, रीति, अलंकार, गुण, दोष, वाच्य-लक्ष्य-व्यंग्य आदि विभिन्न अर्थ तथा उनके बोधक विभिन्न शब्द-व्यापारों का निरूपण किया है। यह बात भिन्न है कि उन्होंने किसी एक काव्य-तत्व पर ज्यादा बल देकर अपने सिद्धान्त का प्रवर्तन या पूर्व प्रवर्तित सिद्धान्त विशेष में आस्था होने के कारण उसका समर्थन किया है। मेरी इस मान्यता में आपाततः विरोध भले ही प्रतीत हो, पर है यह विरोधाभास ही।

अलंकार और रस

काव्य-शास्त्र का सिंहावलोकन करने पर विषय नितान्त सुस्पष्ट हो जाता है। यह सर्वविदित है कि भामह से रुद्रट तक सभी आचार्य विशुद्ध अलंकारवादी थे और अलंकार को ही काव्य का सर्वस्व मानते थे। पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि इन्हें रस, ध्वनि, गुण आदि तत्व अज्ञात थे। भामह जैसे अलंकारवादी भी रस का परिज्ञान रखते हैं; पर उसका निरूपण पृथक् नहीं करके अपनी अलंकार-प्रियता के कारण उसे रसवत् अलंकार में ही सन्निविष्ट कर डालते हैं।[1] उद्भट को रस के विभिन्न उपकरणों के अतिरिक्त, रस के नौ भेद भी ज्ञात थे। पर इन्होंने भी उन्हें रसवदादि अलंकार में ही गतार्थ किया है।[2] दण्डी को भी रस ज्ञात थे जिनकी चर्चा रसवत् और ऊर्जस्वि की परिभाषा गढ़ते हुए उन्होंने की है।[3] रस के आठ प्रभेद भी दण्डी को ज्ञात हैं।[4] रुद्रट काव्यकृति की रसयुक्तता के लिए अत्यन्त प्रयत्नशील दिखाई पड़ते हैं।[5] परिणामतः यह सिद्ध होता है कि अलंकार-सम्प्रदाय के आचार्यों को रस का अवगम तो था, पर उसके स्वतन्त्र सैद्धान्तिक निरूपण की (रसस्वरूप, रसनिष्पत्ति, साधारणीकरण आदि) प्रक्रिया से वे सर्वथा अपरिचित थे। परवर्ती काल में भी मम्मट ने अलंकारों को रस का उपकारक ही माना है।[6] उसका अपकारक या विरोधी नहीं। विश्वनाथ ने भी अलंकारों को रस का उत्कर्ष-हेतु ही माना है।[7] अतएव अलंकारवाद का रससिद्धान्त से घनिष्ट सम्बन्ध है।

अलंकार और ध्वनि

अलंकारवाद का ध्वनिवाद से भी कोई विरोध नहीं है। ध्वन्यर्थ की महत्ता को प्रतिष्ठित करने वाले आचार्य आनन्दवर्द्धन थे। पर उनके पूर्ववर्ती अलंकारवादी

---

१ रसवद्दर्शित—स्पष्ट—शृङ्गारादिरसं यथा। —काव्यालंकार। ३।६।

२ रसवद्दर्शित—स्पष्ट शृङ्गारादिरसोदयम्।
स्वशब्द-स्थापिसञ्चारिविभावाभिनयास्पदम्। —का० सा० सं० ४।४ तथा ४।५।

३ मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रस-स्थितिः। काव्यादर्श। १।५१।

४ इह त्वष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम्। वही। २।२९२।

५ तस्मात्तत्कर्त्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्। —रुद्रट : काव्यालङ्कार। १२।२।

६ का० प्र० ८।६७।

७ उत्कर्षहेतवः प्रोक्ताः गुणालंकार-रीतयः। साहित्यदर्पण। १।३।

आचार्य भामह, उद्भट, रुद्रट आदि प्रतीयमान (ध्वनि) अर्थ से अपरिचित नहीं थे। यह ठीक है कि उन्होंने प्रतीयमान अर्थ को काव्य का आत्मतत्त्व नहीं माना बल्कि अलङ्कारों को ही सर्वप्रमुख तत्त्व माना पर यह कहना सर्वथा भ्रामक है कि उन्हें प्रतीयमान अर्थ अज्ञात था और वे ध्वनि के सर्वथा विरोधी थे। उन्होंने ध्वनि, गुणी भूतव्यंग्य आदि ध्वनि-प्रपंच के अन्तर्गत प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग नहीं किया है पर गम्यमान, प्रतीयमान आदि शब्दों को बार बार व्यवहृत किया है।

सच्ची बात तो यह है कि अलंकारवादी प्रतीयमान अर्थ को वाच्यार्थ से पृथक् मानते थे पर उसे उन्होंने अलंकारों के माध्यम से ही अभिव्यक्ति प्रदान की है। अप्रस्तुत प्रशंसा, समासोक्ति, उत्प्रेक्षा, आक्षेप, पर्यायोक्ति आदि कतिपय ऐसे अलंकार हैं जिनकी आधारभित्ति गम्यमान या प्रतीयमान अर्थ ही है। समासोक्ति की परिभाषा में आचार्य भामह ने स्पष्टतः स्वीकार किया है कि यह अलंकार वहीं होता है जहाँ एक वस्तु के वर्णित होने पर तत्सदृश विशेषणों वाले अन्य अर्थ की भी प्रतीति होती है[1]। पर्यायोक्ति अलंकार में भी वाच्यार्थ के अतिरिक्त प्रकारान्तर से अभिहित किए गए अर्थों का ग्रहण अभिप्रेत है[2]। वाच्यार्थ के अतिरिक्त प्रकारान्तर से अभिहित यह अर्थ व्यंग्यार्थ के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? रुद्रट ने प्रतीयमान अर्थ को समाहित करने वाले भाव नामक एक स्वतन्त्र अलंकार की कल्पना की और उसके उदाहरण में वही पद्य रखा था जिसे परवर्ती काल में मम्मट ने गणीभूत व्यंग्य का उदाहरण माना है। इस प्रकार अलंकारवादियों को ध्वन्यर्थ की सत्ता मान्य थी—यह सिद्ध हो जाता है। इसके विपरीत, ध्वनिवादी आनन्दवर्द्धन आदि को भी अलंकारों की सत्ता अमान्य नहीं है। संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य ध्वनि के अनेक भेदों में "अलंकार-ध्वनि" भी एक भेद माना गया है। उपमा आदि अलंकार कभी-कभी वाच्य न होकर प्रतीयमान होते हैं। ऐसी स्थिति में यद्यपि वे ध्वनित होने के कारण अलंकार्य बन जाते हैं, पर ब्राह्मण-क्षपणक न्याय[3] के आधार पर उनका अलंकारत्व ज्यों त्यों बना रहता है। फलतः ध्वनि और अलंकार परस्पर-सम्बद्ध विषय हैं। इनके मध्य में कोई दीवार नहीं खड़ी की जा सकती है। यों विद्याधर-विरचित एकावली नामक ग्रन्थ के टीकार मल्लिनाथ ने अपनी "तरला" टीका में भामह-प्रभृति अलंकार-

---

१ यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योर्थस्तत्समान विशेषणः ।
सा समासोक्तिरुद्दिष्टा संक्षिप्तार्थतया यथा ॥

—काव्यालंकार । २।७९ ।

२ पर्यायोक्त यदन्येन प्रकारेणा भिधीयते ।
वाच्यवाचक वृत्तिभ्यां शून्ये नावगमात्मना ॥

—वही-३।८ ।

३ कन्हैयालाल पोद्दार : रसमंजरी (पंचम संस्करण) पृ० २६३ (फुटनोट)।

वादियों को ध्वन्यभाववादी माना है[1]। पर इस भ्रम का निराकरण उपर्युक्त विवेचन से भलीभाँति हो जाता है। पण्डित राज जगन्नाथ ने भी ऐसे भ्रामक विचारों की कटु आलोचना की है तथा उपर्युक्त अलंकारों का हवाला देते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि अलंकार-वादियों ने ध्वनि को अलंकारों में अन्तर्निविष्ट कर दिया था। फलत: ध्वनिवाद और अलंकार-वाद को एक दूसरे का पूरक मानना चाहिए, विध्वंसक नहीं।

अलंकार और रीति-गुण:—

अलंकारवाद का रीति और गुणों के सिद्धान्त से भी कोई विरोध नहीं है। अलंकार-सम्प्रदाय में अनेक आचार्यों ने जिस भाविक को अलंकार माना है, उसी भाविक को भामह[2] एवं दण्डी[3] ने गुण स्वीकार किया है। आचार्य दण्डी ने दशविध गुणों को भी अलंकार ही माना है। काव्य की शोभा को सम्पादित करने वाले सभी धर्म चाहे वे अलंकार हों, किम्वा गुण, सबों को दण्डी ने अलंकार-शब्द से अभिहित किया है[4]। फलत: अलंकार-और गुण के सिद्धान्त में कोई विरोध प्रतीत नहीं होता है। "उत्कर्ष-हेतव: प्रोक्त: गुणालंकार-रीयत:" का उद्घोष करने वाले परवर्ती विश्वनाथ ने तो इस ग्रन्थि को बिलकुल खोल कर रख दिया है। और यदि गुणों के साथ अलंकारों का विरोध नहीं हैं तो स्वभावत: रीतियों के साथ भी इनका विरोध नहीं माना जा सकता। आचार्य दण्डी एक साथ ही गुणवाद और रीतिवाद दोनों के संस्थापक माने जाते हैं। इसका मुख्य कारण यही है कि आपने गुणों और रीतियों में कोई अन्तर नहीं माना है। रीति के आपने दो मार्ग प्रतिपादित किए हैं—वैदर्भ और गौडीय। फिर श्लेष, प्रसाद, समता आदि दशविध गुणों को वैदर्भ मार्ग के प्राण तथा इनके विपर्यय को गौड मार्ग माना है[5]। इससे सिद्ध है कि रीति और गुण एक हैं तथा इन सबों का अलंकारवाद से कोई आभ्यन्तर विरोध नहीं है, ऊपर से भले ही वे एक दूसरे से पृथक् क्यों न मालूम पड़ें। आचार्य वामन ने भी रीति और गुण में कोई अन्तर नहीं माना है। जिस रीति को आपने काव्य की आत्मा माना वह रीति "विशिष्टा पदरचना" के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। पद रचना की विशिष्टता गुणात्मक है[6]। अतएव रीति और गुण परस्पर अन्वित एवं अभिन्न हैं। इन दोनों तत्त्वों का अलंकारों से भी कोई विरोध नहीं है। क्योंकि गुणों और अलंकारों

---

१ अभाव एवं ध्वनेरिति भामह-प्रभृतयो मन्यते।—तरला, पृ० २४।

२ भाविकत्वमिति प्राहः प्रबन्ध-विषयं गुणम्।—काव्यलंकार। ३।५२।

३ काव्यादर्श २।३६४।

४ वही-२।१।

५ वही-१।४२।

६ विशेषो गणात्मा।—काव्यालंकार-सूत्र-वृत्ति। १।२।८।

के आदान तथा दोषों के त्याग से ही इन्होंने काव्य की आत्मा रीति की प्रकर्षता मानी है[1]। वस्तुतः रीतिवादी होते हुए भी वामन ने अलंकार-शब्द का अत्यन्त व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है[2]। अलंकारों से युक्त काव्य को ही आपने ग्राह्य माना। वे सारे तत्व अलंकार हैं जो सौन्दर्याधायक हों। अतएव रीति, गुण और अलंकार परस्पर सापेक्ष हैं, एक का दूसरे से कोई विरोध नहीं है।

अलंकार और वक्रोक्ति

वक्रोक्तिवाद का जन्म वस्तुतः अलंकार-वाद से ही होता है। कुन्तक ने वक्रोक्तिवाद को प्रवर्तित किया; पर अपने वक्रोक्ति सिद्धान्त का बीज उन्हें भामह और दण्डी जैसे आलंकारियों के ग्रन्थों से ही प्राप्त हुआ था। आचार्य भामह वक्रोक्ति को सभी अलंकारों के प्राण मानते थे[1]। यही कारण है कि आपने स्वभावोक्ति को अलंकार ही नहीं माना। स्वाभाविक उक्ति वक्रता के अभाव में "वार्ता" मात्र बन कर रह जाती है, सालंकार काव्य कहलाने की अधिकारिणी नहीं हो सकती[2]। फिर भी भामह की वक्रता अलंकारों तक ही सीमित थी। इन्होने स्पष्ट ही कहा था—"वक्राभिधेय-शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः (१।३६) अर्थात् वक्रार्थ से युक्त शब्दों की उक्ति ही अलंकार है। भामह के अनन्तर आचार्य दण्डी ने भी वक्रोक्ति की चर्चा अलंकारों के ही प्रसंग में की है। पर भामह की अपेक्षा दण्डी ने वक्रोक्ति की सीमा संकुचित कर दी है। आचार्य भामह सभी अलंकारों को वक्रोक्तिमूलक मानते हैं और वक्रोक्ति के अभाव में हेतु और लेश और आदि को उन्होंने अलंकार नहीं माना है। दण्डी समस्त वाङ्मय को दो वर्गों में बांटते हैं—स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति। अतः वक्रोक्ति से विहीन स्वभावोक्तिपूर्ण हेतु और लेश आदि भी उनकी दृष्टि में अलंकार हैं। वक्रोक्ति का मूल दण्डी ने श्लेष को माना है[3]। फलतः दण्डी ने वक्रोक्ति को स्वीकार तो किया पर अलंकारवाद पर उसका जो एकछत्र शासन था उस महिमा को न्यून कर दिया। साथ ही वक्रोक्ति की श्लेषात्मक कल्पना ने भी उसके महत्त्व को कम किया।

---

१ सदोष-गुणालंकार-हानादानाभ्याम्। — काव्यादर्श-१।१।१३।

२ सौन्दर्य्यमलंकार —वही-१।१।१२।

३ सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना॥
—काव्यालंकार। २।८५।

४ गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वत्साय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते। —वही-२।७८।

५ श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
—काव्यादर्श। २।३६३ (पूर्वार्द्ध)।

आचार्य कुन्तक ने अलंकारों के मूल "वक्रोक्ति" को काव्य का सर्वस्व मान लिया। सामान्यतः उन्होंने ध्वनि और रस अथवा अलंकार और रीति का विरोध नहीं किया, पर इन सारे काव्य तत्त्वों को वक्रोक्ति में ही समाविष्ट कर दिया। परिणामतः जो वक्रोक्ति अभी अलङ्कारों के संकीर्ण कठघरे में विराजमान थी उसने समस्त काव्य-शास्त्र की विस्तृत भूमि पर बिहार करना प्रारम्भ किया। जहाँ तक अलङ्कारों का सम्बन्ध है, कुन्तक ने उनका वहिष्कार नहीं किया वरन् वक्रता के अनेक प्रभेदों में जो वाक्य-वक्रता नामक भेद था उसी के अन्तर्गत अलङ्कार के सभी भेदों को सन्निविष्ट कर डाला[1]। फलतः अलङ्कारवादियों की वक्रोक्ति में और वक्रोक्तिवादी कुन्तक की वक्रोक्ति में तात्विक भेद नहीं है, बल्कि भेद सामान्य और विशेष का है। अलङ्कारवादियों ने अलङ्कार-मूल वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा माना। पर वक्रोक्तिवादी ने काव्य के सारे तत्त्वों (रीति, रस, ध्वनि, अलङ्कार आदि) के मूल वक्रोक्ति को काव्य का जीवित कहा। अतएव अलङ्कारवाद की वक्रोक्ति विशेषोन्मुख है और वक्रोक्तिवादी कुन्तक की वक्रोक्ति सामान्योन्मुख है। वस्तुतः यही दोनों में अन्तर है। तात्त्विक विरोध नहीं है।

अलंकार और औचित्य

क्षेमेन्द्र ने काव्य के सभी तत्त्वों में औचित्य की व्याप्ति मानी है। आपने २७ प्रकार के औचित्य प्रतिपादित किए हैं। रस, ध्वनि, अलंकार, रीति, गुण आदि काव्य-तत्त्वों में औचित्य की अपरिहार्य आवश्यकता औचित्यवादी क्षेमेन्द्र की दृष्टि में है। जहाँ तक अलंकारों का प्रश्न है, क्षेमेन्द्र ने उसे प्रकृत अर्थ का पोषक माना है। प्रस्तुत अर्थ के अनुरूप विन्यस्त अलङ्कार कविता की शोभा को उसी तरह बढ़ाता है जिस प्रकार उन्नत उरोजों पर धारण किया गया हार किसी मृगनयनी के सौन्दर्य को अभिवृद्ध करता है[2]। जो अलङ्कार काव्यगत अर्थ अथवा रस को उत्कर्ष पहुंचाने की बजाय स्वयं प्रधान होकर पाठकों अथवा श्रोताओं को चमत्कृत करे, वह औचित्यरहित है। आनन्दवर्द्धन भी अलङ्कारों को ध्वनि तथा रस का (जो काव्य का मुख्य या आत्म तत्त्व है। पोषक ही माना है[3]। अलङ्कारों के लिए कवियों को विशेष प्रयत्न नहीं करना चाहिए। वे स्वयं अनुभूति की अभिव्यक्ति के प्रसंग में आविर्भूत होते हैं तथा कवि-निबद्ध भावों को परिपुष्ट कर देते हैं। यही अलङ्कारों

---

१ वाक्यस्य वक्रभावोऽन्यो भिद्यते यः सहस्त्रधा।
यत्रालंकारवर्गोऽसौ सर्वोष्यन्तर्भविष्यति। —वक्रोक्तिजीवितम्। १।२०।

२ अर्थौचित्यवता, सूक्तिरलंकारेण शोभते।
पीनस्तन स्थितेनेव हारेण हरिणेक्षणा।—क्षेमेन्द्र : औचित्यविचार चर्चा। १५।

३ रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शम्यक्रियो भवेत्।
अपृग्यत्ननिर्वर्त्यं : सोऽअलङ्कारो ध्वनौ मत —ध्वन्यालोक। २।१७।

के उचित सन्निवेश की कसौटी है। कालिदास आदि महाकवियों की कविताओं की यही विशेषता है कि वहाँ अलङ्कार ऊपर से लादे गये नहीं प्रतीत होते हैं[1]। ये रस को परिपुष्ट करते हैं। फलतः अलङ्कारों का औचित्य से घनिष्ट सम्पर्क है। यह ठीक है कि औचित्य कोई पृथक् काव्य-तत्त्व नहीं है, पर अलंकारों के उचित प्रयोग को कोई अस्वीकार कैसे कर सकता है ?

(२) रीति-गुण-सम्प्रदाय

रीति शब्द का अर्थ

रीति शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ होता है—मार्ग, वर्त्म, पन्था आदि। 'रीङ् गतौ' धातु से यह शब्द निरूपन्न होता है। 'रीयते अस्याम् इति रीतिः'—इस व्युत्पत्ति के आधार पर वह मार्ग रीति कहलाता है जिस पर चल कर काव्य-रचना की जाती है। फलतः काव्य-पद्धति ही रीति है। इसी अर्थ में संस्कृत काव्य-शास्त्र में रीति शब्द का प्रयोग हुआ है। यों संस्कृत काव्य-शास्त्र की सुदीर्घ परम्परा में इसकी विशेषताओं में अनेक परिवर्तन तथा परिवर्द्धन हुए हैं, पर काव्य-मार्ग या काव्य-पद्धति रूप इसका मौलिक अर्थ अक्षुण्ण है। अंग्रेजी में इसी का पर्यायवाची शब्द 'स्टाइल' है। अंग्रेजी का यह शब्द लैटिन के 'स्टाइलस' शब्द से उद्भूत हुआ है। इसका अर्थ होता है—लोहे की कलम या लेखनी। यह लौह-लेखनी कवियों या लेखकों के उन सारे मनोगत भावों की प्रतीक है, जिन्हें वह कागज पर लिपिबद्ध करता है।[1] फलतः इस लौह लेखनी के द्वारा कवि या लेखक के स्वभाव तथा व्यक्तित्व का भी परिचय प्राप्त होता है। काल-क्रम में लैटिन स्टाइलस से बना हुआ अंग्रेजी का स्टाइल शब्द उस रचना-प्रकार का भी द्योतक बन गया जिसके द्वारा कवियों और लेखकों के व्यक्तित्व का परिचय पाठक प्राप्त करते हैं। हिन्दी में आज इसी अर्थ में 'शैली' शब्द का प्रयोग होता है। यह 'शील' से उद्भूत है। अतएव इसका सम्बन्ध भी कवि के उस रचना-मार्ग या रचना-प्रकार से ही है जिसके द्वारा उसके स्वभाव (शील) का बोध हो। निष्कर्ष यह कि रीति (संस्कृत), स्टाइल (अंग्रेजी) और शैली (हिन्दी) ये तीनों शब्द साहित्य-त्रितय के काव्यशास्त्रों में क्रमशः प्रयुक्त होने पर भी समानार्थक ही हैं। संस्कृत का रीति शब्द हिन्दी के रीति काल में आकर अत्यन्त व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। काव्यशास्त्र के सारे विवेच्य विषय (अलंकार, रस, ध्वनि, नायिका भेद, गुण, दोष आदि) रीति शब्द में गतार्थ हो गए और फलस्वरूप रीतिशास्त्र काव्यशास्त्र का पर्यायवाची बन गया। पर संस्कृत में वह काव्य के एक तत्व का बोधक था, सभी तत्वों का नहीं। रीति शब्द की इसी व्यापकार्थकता के कारण हिन्दी में लक्षण-ग्रन्थ को रीति-ग्रन्थ तथा वैसे रीति-ग्रन्थों के रचना-काल को रीति-काल भी कहा गया है।

---

१ बलदेव उपाध्याय : भा० सा० शास्त्र, खण्ड १, पृ० २१५।

उद्भव और विकास

सामान्यतः आचार्य वामन रीति-सम्प्रदाय के प्रवर्तक माने जाते हैं, जिन्होंने रीति को ही काव्य की आत्मा मान लिया। पर वामन ने विशिष्ट पद-रचना को रीति तथा पद-रचना की विशेषता को गुणात्मक कहा है। अतएव वामन की दृष्टि में रीतियों के आधार गुण हैं। फलतः रीति-सम्प्रदाय और गुण-सम्प्रदाय दोनों में ऐक्य हो जाता है। वामन के अतिरिक्त दण्डी भी रीति और गुण में कोई अन्तर नहीं मानते हैं। यों दोनों ने रीति और गुण के भेद अलग-अलग बताए हैं पर गुणों को रीति की आत्मा ही माना है। दण्डी ने काव्य के वैदर्भ तथा गौडीय ये दो मार्ग (रीति) बताए हैं। पुनः दशविध गुणों को वैदर्भ मार्ग के प्राण कहे हैं और इन गुणों के विपर्यय को गौडीय मार्ग कहा है। इस प्रकार दण्डी की दृष्टि में भी रीति और गुण परस्पर-सम्बद्ध हैं। इसलिए गुण-सम्प्रदाय रीति-सम्प्रदाय में सन्निविष्ट है। एक का इतिहास दूसरे का पूरक है। यही कारण है कि मैंने इसे रीति-गुण-सम्प्रदाय की संज्ञा दी है।

रीति ने काव्य-सिद्धान्त या सम्प्रदाय का रूप दण्डी और वामन के युग में धारण किया, पर रीतियों और गुणों का उल्लेख इनसे पूर्व भी मिलता है। सबसे पहले भरत ने अपने नाट्य शास्त्र में दशविध गुणों का उल्लेख किया है।[1] भरत ने रीति या मार्ग की ओर कहीं संकेत नहीं किया है। इनके गुणों का विवरण भी अंशतः अस्पष्ट तथा संदिग्ध है, पर उनमें कई गुण ऐसे हैं जिन्हें परवर्ती काल के वामन एवं दण्डी ने ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है। भरत के बाद गुणों का उल्लेख जूनागढ़ में प्राप्त रुद्रदामन के शिलालेख (१५०) ई० में मिलता है। इस शिलालेख में माधुर्य, कान्ति और उदारता जैसे गुणों की चर्चा है।[2] सातवीं शताब्दी के गद्यकार वाणभट्ट ने भारतीय साहित्य में प्रचलित चार प्रकार की रीतियों की ओर संकेत किया है। यद्यपि उन्होंने रीति शब्द का प्रयोग नहीं किया है पर परवर्ती काल में जिस प्रकार भौगोलिक आधार लेकर रीतियों का विभाजन किया गया था, उसी प्रकार इन्होंने भी भौगोलिक आधार पर उदीच्य, प्रतीच्य, दक्षिणात्य और गौड—इन चार काव्य पद्धतियों की चर्चा की है।[3] इससे स्पष्ट हो जाता है कि वाण के युग में विभिन्न जनपदों के कवि अपनी-अपनी जनपदीय रीति पर काव्य-रचना

---

१ श्लेषः प्रसादः समता समाधिः, माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च, कान्तिश्च काव्यार्थगुणा दशते॥
—नाट्यशास्त्र। १६।९२।

२ हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोएटिक्स, पृ० ३२३-३२४।

३ श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम्।
उत्प्रेक्षा दक्षिणात्येषु, गौडेष्वक्षरडम्बरः॥ —वाण : हर्षचरित। १।७ (प्रस्तावना)

करने लग गए थे और उनमें चार रीतियाँ प्रमुख थीं। पर इन्हें स्वयं काव्य-रचना में यह रूढ़िग्रस्तता पसन्द नहीं थी। इन्होंने अपने जैसे प्रतिभाशील कवियों के लिए एक पृथक् कसौटी बनाई थी जिसमें नव अर्थ, अग्राम्या जाति, अक्लिष्ट श्लेष, स्फुट-रस, विकट अक्षरबन्ध आदि विशेषताएँ थीं।[1] वाण के अनन्तर भामह के काल में आकर दो रीतियाँ रह गईं जिनकी ओर इन्होंने वैदर्भ और गौडीय शब्दों से संकेत किया है।

भामह के बाद दण्डी के काव्यादर्श में भी रीतियों का उल्लेख मिलता है। इन्होंने रीति को भामह की तरह मार्ग कहा है। आप अलंकारवादी थे पर बड़े व्यापक अर्थ में आपने अलंकार शब्दों का प्रयोग किया है। इनकी दृष्टि में काव्य की शोभा को सम्पादित करने वाले सभी धर्म-मार्ग (रीति), गुण, रस, अलंकार आदि अलंकार ही हैं।[2] फिर इन सबों का पृथक्-पृथक् विवेचन भी आपने किया है। यही कारण है कि दण्डी को अलंकारवादी कहा जाता है। पर आपने रीतियों का विश्लेषण भी किया है। रीतियों के आधार पर वैदर्भ मार्ग और गौडवर्त्म—ये दो भेद काव्य के किए गए है। दशविध गुणों को वैदर्भ मार्ग का प्राण माना गया है तथा इनके विपर्यय को गौडवर्त्म।[3] फलतः दण्डी की दृष्टि में वैदर्भी और गौडी ये दो रीतियां थीं। इन दोनों रीतियों में वैदर्भी रीति उत्कृष्ट थी, चूंकि इसमें सभी गुणों का समावेश था। गौडवर्त्म में भी सभी गुणों का सर्वथा अभाव ही दण्डी को मान्य नहीं हैं। उनके काव्यादर्श (१/४२) में "विपर्ययः प्रायः" का प्रयोग देख कर गौडवर्त्म में भी कतिपय गुणों के सन्निवेश की व्यंजना की जा सकती है। इतना ही नहीं, दण्डी ने रीतियों के भौगोलिक आधार की अपेक्षा कवियों की व्यक्तिगत लेखन-विशेषता को ही आधार माना है। इसी दृष्टि से उन्होंने प्रत्येक कवि का अलग-अलग मार्ग (रीति) मान कर उभय मार्गों के असंख्य प्रभेद स्वीकार किए हैं।[4] अतएव पहली बार रीतियों का तात्त्विक विवेचन दण्डी ने वामन की तरह रीति को काव्य की आत्मा, स्पष्ट शब्दों में, नहीं बताया है, पर रीति का जैसा युक्तियुक्त विवेचन दण्डी के काव्यादर्श में मिलता है, उस आधार पर यदि इन्हें रीतिवादी भी कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। कई विद्वानों ने दण्डी को रीतिवादी या गुणवादी स्वीकार भी किया है।

इसके बाद रीति-सम्प्रदाय की नींव को अलंकार-शास्त्र के इतिहास में सुदृढ़ कर जाने वाले वामन का उदय होता है। इन्होंने काव्य के अन्य सभी तत्त्वों की

---

१ हर्षचरित १।८।

२ काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते। काव्यादर्श/ २/१।

३ काव्यादर्श/ १/४२।

४ काव्यादर्श/१/१०१-१०२।

अपेक्षा रीति को ही अधिक महत्त्व प्रदान किया। यहाँ तक कि इनकी दृष्टि में रीति ही काव्य की आत्मा है।[1] अतएव आपको रीतिसम्प्रदाय का प्रवर्तक होने का श्रेय प्राप्त है। इसके पहले रीति का बीज भले हमें भरत से दण्डी तक के काव्यालोचन में उपलब्ध हो जाय, पर उसे एक प्रमुख काव्य-सिद्धान्त का रूप प्रथम बार वामन ने ही दिया। इन्होंने रीति को "विशिष्ट शब्दों की रचना" कहा है। विशेषता भी किसी और कारण से नहीं बल्कि गुणों से मण्डित होने पर ही कोई पद-रचना "विशिष्टा" कहला सकती है। फलतः गुणों और रीतियों में इन्होंने घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। अतएव आपको चाहे रीतिवादी मानें या गुणवादी, तत्त्वतः बात एक ही है। वामन ने भौगोलिक आधार पर रीतियों के तीन भेद किए हैं—वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली। पांचाली की उद्भावना वामन की निजी है। अभी तक शब्दतः दो ही रीतियों का उल्लेख किया गया था। वामन ने इन तीनों रीतियों में वैदर्भी को ही सर्वगुण-समन्वित होने के कारण प्रधान एवं ग्राह्य माना है।[2] वैदर्भी रीति में सभी गुणों का, गौडी में ओज तथा कान्ति गुणों का और पांचाली में माधुर्य एवं सौकुमार्य गुणों का अस्तित्व रहता है।[3] सभी के उदाहरण भी दिए हैं। इस प्रकार रीति को काव्य की आत्मा मानने वाले वामन ने उसका सांगोपांग निरूपण कर रीतिवाद को नितान्त दृढ़ता प्रदान की।

काव्यालंकार के प्रणेता रुद्रट ने भी रीतियों का निरूपण किया है। रुद्रट अलंकार सम्प्रदाय का अनुवर्तन करते हुए भी रस को काव्य में पर्याप्त महत्त्व देने के पक्षपाती थे। अतएव रस के साथ रीति का आप घनिष्ट सम्बन्ध मानते थे। पहली बार रुद्रट ने ही रस के अनुकूल रीति के नियोजन की बात कही। परवर्ती काल में इसी दृष्टिकोण से प्रभावित होकर सभी रसवादी या ध्वनिवादी आचार्यों ने रस और रीति में निकट सम्बन्ध स्वीकार किया। रीतिवाद के इतिहास में रुद्रट की सबसे महत्त्वपूर्ण देन यही है कि आपने भौगोलिक आधार पर रीतियों के भेद नहीं किए प्रत्युत रस-भेद या विषय-भेद से रीतियों का विभाजन किया। साथ ही, अभी तक निर्धारित जो रीति के तीन भेद (वैदर्भी, गौड़ी, पांचाली) थे, उनमें एक चतुर्थ रीति भी जोड़ दी। अब रीति के चार भेद किए गए—वैदर्भी, गौड़ीया, पांचाली और लाटीया।[4] यह "लाटीया" रुद्रट की निजी उद्भावना थी। रीतियों के स्वरूप का निर्धारण आपने पदों के समास के आधार पर किया। अभी तक के सभी आचार्यों ने गुणों के आधार पर रीति-विधान प्रतिपादित किया था, पर परम्परागत मान्यता से स्वतन्त्र होकर आपने सामासिक परिमाण के आधार पर

१ काव्यालंकार-सूत्र-वृत्ति /१/२/६।
२ तासां पूर्वा ग्राह्या गुणसाकल्यात्। वही १/२/१४।
३ काव्यालंकार सू० वृ०/१/२/११, १/२/१२, १/२/१३।
४ रुद्रट। काव्यालंकार /२/४।

रीति के स्वरूप का सिद्धान्त निर्मित किया। समास से सर्वथा विहीन रचना को वैदर्भी[1], दो तीन पदों के समास से युक्त रचना को पांचाली, पाँच से सात पदों के समास वाली रचना को लाटीया और उससे अधिक पदों के समास की स्थिति में गौड़िया रीति[2] आपने स्वीकार की।

रुद्रट के बाद रीति-सिद्धान्त पर थोड़ा-बहुत प्रकाश राजशेखर की काव्य-मीमांसा से भी पड़ता है। राजशेखर ने रीतियों के अतिरिक्त प्रवृत्ति और वृत्ति का भी निरूपण किया है। प्रत्येक जनपद की प्रवृत्ति, वृत्ति और रीति आपने पृथक्-पृथक् बताई है। गौड, पांचाल, अवन्ति और विदर्भ देश की क्रमशः औडमागधी, पांचालमध्यमा, आवन्ती और दाक्षिणात्या प्रवृत्तियां, भारती, सात्वती (आरभटी) कौशिकी और कौशिकी वृत्तियां तथा गौड़ी, पांचाली और वैदर्भी रीतियां प्रतिपादित की हैं। जहां तक रीतियों का प्रश्न है, राजशेखर की काव्यमीमांसा में केवल तीन ही रीतियों का उल्लेख मिलता है।[3] सम्भवतः रुद्रट की लाटी रीति का अन्तर्भाव आपने पांचाली में कर दिया है। पर इनके नाटकों में दो अन्य रीतियों का भी उल्लेख मिलता है। कर्पूरमंजरी की प्रस्तावना में "मागधी" का और बालरामायण के दशवें अंक में "मैथिली" रीति का[4] निर्देश मिलता है। लक्षणागत विशेषताओं की समीक्षा के अनन्तर यदि "मागधी को "गौडी" रीति का ही रूपान्तर मान लें, तथापि "मैथिली रीति" की स्वतन्त्र सत्ता अक्षुण्ण रह जाती है। इस प्रकार राजशेखर की काव्यमीमांसा और उनके नाटकों को मिला कर अध्ययन से रीतियों की संख्या पुनः चार हो जाती है—गौडी, पांचाली, वैदर्भी और मथिली। इन सभी रीतियों में सर्वाधिक मनोहारिणी आपने वैदर्भी को ही सिद्ध किया हैं।[5] इनके काव्यपुरुष की वधू जब वैदर्भी रीति में भाषण करती है तो वह "अत्यर्थ वशंवदीकृत" हो जाता है।

भोजराज के सरस्वती कण्ठाभरण में आवन्तिका और मागधी नामक दो नवीन रीतियों की कल्पना की गई है। अतएव भोज के अनुसार वैदर्भी, गौडीया, पाञ्चाली, लाटीया, आवन्तिका और मागधी–ये छः रीतियाँ हुई। वदर्भी और पाञ्चाली के मध्य में स्थित दो-तीन पदों की समास वाली रचना को भोज ने आवन्तिका रीति कहा है। सभी रीतियों के मिश्रित रूप को लाटी तथा इस रीति के

---

१ वृत्तेरसमासाया वैदर्भी रीतिरेकैव। काव्यालंकार। १/६।

२ द्वित्रिपदा पांचाली लाटीया पंच सप्त वा यावत्।
शब्दः समासवन्तो भवति यथाशक्ति गौडीया॥ —वही /२/५।

३ राजशेखर : काव्यामीमांसा (गायकवाडसीरीज १) तृतीय अध्याय —पृष्ठ ८-१०।

४ राजशेखर : बालरामायण /१०/९५।

५ वाग्वैदर्भी मधुरिमगुणं स्यन्दते श्रोत्रलेह्यम्। बालरामायण /३/१४।

निर्वाह नहीं होने पर मागधी नामक खण्डरीति की स्थापना की है।[1] पर आश्चर्य की बात है कि भोज के शृङ्गार-प्रकाश में पूर्व-प्रतिपादित मात्र चार रीतियों का ही उल्लेख है। आवन्तिका और मागधी नाम की भोज की नवोद्भावित रीतियों की उसमें चर्चा नहीं है। शृङ्गार-प्रकाश के रीति-निरूपण में भोजराज राजशेखर से अत्यधिक प्रभावित हैं। कुन्तक जैसे क्रान्तदर्शी एवं मौलिक सूझ-बूझ के चिन्तक को रीति सम्बन्धी परम्परागत मान्यता सह्य नहीं हुई। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की कि काव्य-रीति का सम्बन्ध किसी जनपद विशेष से नहीं है बल्कि कवियों के स्वभाव से है। एक ही जनपद में अनेक स्वभाव एवं प्रवृत्ति के कवि हो सकते हैं। स्वभाव भेद से उनकी रचनाएँ भी भिन्न होंगी। अतएव यदि रीतिभेदों की सूक्ष्मता को ध्यान में रखा जाय तो असंख्य रीतियाँ ढूँढ़ी जा सकती हैं। पर व्यावहारिक दृष्टि से उन्हें असंख्य न मानकर परिमित संख्या में बाँट दिया जा सकता है। यदि भौगोलिक आधार पर संकेतित रीतियों के नामों को मात्र रूढ़ शब्द मान लिया जाय तो कुन्तक को उन प्राचीन नामों से कोई आपत्ति भी नहीं है।[2] कुन्तक ने रीतियों को "मार्ग" कहा तथा उसके तीन भेद किए। वे हैं—सुकुमार मार्ग, विचित्र मार्ग तथा मध्यम मार्ग।[3] सुकुमार स्वभाव का कवि स्वभावतः ऐसी रचना करता है जिसमें समासों का अभाव, कोमल कान्त पदावली, सरसता और रसोद्रेक के लिए अलंकारों के प्रयोग आदि विशेषताएँ होती हैं। पर विचित्र (उग्र) स्वभाव का कवि, इसके विपरीत, ऐसी रचना करता है जिसमें समास बहुलता, वर्ण-परुषता, अलङ्कार-प्रियता आदि होती हैं। मध्यम स्वभाव का कवि इन दोनों अतिवादों के बीच में रहकर रचना करता है। पर ये रचनाएँ होती हैं कवियों के स्वाभाविक तारतम्य के कारण ही, किसी प्रदेश विशेष में निवास के कारण नहीं। वस्तुतः इस कथन में पूरी सच्चाई भी निहित है। एक ओर गौड़ जनपद में उत्पन्न कवि जयदेव ने सरस एवं कोमल-कान्त शब्दावली में (वैदर्भी रीति या सुकुमार मार्ग) काव्य-रचना की। दूसरी ओर विदर्भ प्रदेश में उत्पन्न होने पर भी भवभूति जैसे कवि ने अपने नाटकों में परुष वर्णों से युक्त, दीर्घ-समास-बहुल (गौडी रीति या विचित्र मार्ग) श्लोक रचे हैं

---

१ अन्तराले तु पाञ्चाली वैदर्भ्योर्याऽवतिष्ठते
साऽवन्तिका समस्तैः स्यात् द्वित्रैस्चतुरै पदैः।
समस्तरीतिव्यामिश्रा लाटीया रीतिरिष्यते
पूर्वरीतेरनिर्वाहे खण्डरीतिस्तु मागधी।
—सरस्वतीकण्ठाभरण। २।३२–३३

२ वक्रोक्तिजीवित—१।२४ की वृत्ति।

३ सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कवि प्रस्थान हेतवः।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः॥
—व० जी० प्रथम उन्मेष, कारिका–२४।

अतएव प्रान्तों की सीमा में बाँध कर रीतियों के भेदों का निर्धारण युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता है। फलतः कुन्तक का रीति-निरूपण अत्यन्त मौलिक एवं समीचीन है।

कुन्तक के अनन्तर ध्वनिवादी आनन्दवर्द्धन ने रीतियों के भेद आदि तो नहीं बनाए, पर अत्यन्त संक्षेप में रीति-तत्व पर प्रकाश डाला है। आनन्दवर्द्धन, काव्यात्मा ध्वनि का अन्य तत्वों से कौन सा सम्बन्ध है, इसके सफल विवेचक हैं। इन्होंने स्पष्ट शब्दों में रीति को पद-संघटना कहा है। पद-संघटना से उनका तात्पर्य है पदों की सम्यक् या शोभन योजना से। जैसे मानव शरीर में अङ्गों का गठन होता है, वैसे ही काव्य के शब्दार्थ-कलेवर के गठन का कार्य रीतियाँ सम्पादित करती हैं। साथ ही, ये रीतियाँ रस, ध्वनि आदि मुख्य तत्वों (आत्मभूत) का उपकार भी करती हैं। माधुर्य आदि गुणों के आश्रय में रह कर ये रीतियां रसों को भी व्यंजित करती हैं[1]। रीति के स्वरूप, महत्त्व और अन्य काव्य तत्त्वों से उसके सम्बन्ध का भलीभांति विवेचन करने के उपरान्त आनन्दवर्द्धन ने रीति के नियामक तत्त्वों–वक्त औचित्य, वाच्यौचित्य, विषयौचित्य, रसौचित्य, का भी विवेचन किया है।

आनन्दवर्द्धन के अनन्तर रीति पर मौलिक प्रकाश डालने वाला आचार्य कोई नहीं हुआ। मम्मट ने रीतियों का वृत्तियों से तादात्म्य कर दिया। पूर्ववर्त्ती आचार्य उद्भट ने जिन वृत्तियों का उल्लेख किया था, उन्हीं से रीतियों का एकत्व स्थापित करते हुए इन्होंने तीन वृत्तियों का निरूपण किया–उपनागरिका, परुषा और कोमला[2]। वस्तुतः वैदर्भी रीति और उपनागरिका वृत्ति एक है। परुषा वृत्ति और गौड़ी रीति में कोई अन्तर नहीं हैं तथा कोमला वृत्ति और पंचाली रीति भी समान हैं। विश्वनाथ ने स्पष्टतः रुद्रट की वैदर्भी, गौडी, पांचाली और लाटी–इन चार रीतियों का उल्लेख किया और उनका आधार वर्ण गुम्फन को माना। प्रत्येक रीति का पृथक्-पृथक् रस से आपने सम्बन्ध भी प्रतिपादित किया है। जगन्नाथ ने भी विश्वनाथ से भिन्न कोई नवीन उद्भावना रीतियों के क्षेत्र में नहीं की। यद्यपि आपने काव्य के वाह्य अंग का पर्याप्त विवेचन किया है, पर आपने रीति पर कोई नया प्रकाश नहीं डाला।

इस प्रकार जिस रीतिवाद का उद्भव बीज रूप में भामह-बाण और दण्डी के ग्रन्थों में हुआ, उसका चरम विकास कुन्तक के युग में आकर हो गया। तदनन्तर अन्य आचार्यों ने उसी का पिष्ट-पेषण किया। इस सुदीर्घ अवधि में रीतियों का आधार कभी भौगोलिक रही, कभी युद्ध, प्रेम आदि प्रतिपाद्य वस्तुओं के आधार पर

---

१ गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा रसान्।
—ध्वन्यालोक। ३।६।

२ मम्मट : काव्यप्रकाश। ९।८०।

निर्वाह नहीं होने पर मागधी नामक खण्डरीति की स्थापना की है।[1] पर आश्चर्य की बात है कि भोज के शृङ्गार-प्रकाश में पूर्व-प्रतिपादित मात्र चार रीतियों का ही उल्लेख है। आवन्तिका और मागधी नाम की भोज की नवोद्भावित रीतियों की उसमें चर्चा नहीं है। शृङ्गार-प्रकाश के रीति-निरूपण में भोजराज राजशेखर से अत्यधिक प्रभावित हैं। कुन्तक जैसे क्रान्तदर्शी एवं मौलिक सूझ-बूझ के चिन्तक को रीति सम्बन्धी परम्परागत मान्यता सह्य नहीं हुई। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की कि काव्य·रीति का सम्बन्ध किसी जनपद विशेष से नहीं है बल्कि कवियों के स्वभाव से है। एक ही जनपद में अनेक स्वभाव एवं प्रवृत्ति के कवि हो सकते हैं। स्वभाव भेद से उनकी रचनाएँ भी भिन्न होंगी। अतएव यदि रीतिभेदों की सूक्ष्मता को ध्यान में रखा जाय तो असंख्य रीतियाँ ढूँढ़ी जा सकती हैं। पर व्यावहारिक दृष्टि से उन्हें असंख्य न मानकर परिमित संख्या में बाँट दिया जा सकता है। यदि भौगोलिक आधार पर संकेतित रीतियों के नामों को मात्र रूढ़ शब्द मान लिया जाय तो कुन्तक को उन प्राचीन नामों से कोई आपत्ति भी नहीं है।[2] कुन्तक ने रीतियों को "मार्ग" कहा तथा उसके तीन भेद किए। वे हैं—सुकुमार मार्ग, विचित्र मार्ग तथा मध्यम मार्ग।[3] सुकुमार स्वभाव का कवि स्वभावतः ऐसी रचना करता है जिसमें समासों का अभाव, कोमल कान्त पदावली, सरसता और रसोद्रेक के लिए अलंकारों के प्रयोग आदि विशेषताएँ होती हैं। पर विचित्र (उग्र) स्वभाव का कवि, इसके विपरीत, ऐसी रचना करता है जिसमें समास बहुलता, वर्ण-परुषता, अलङ्कार-प्रियता आदि होती हैं। मध्यम स्वभाव का कवि इन दोनों अतिवादों के बीच में रहकर रचना करता है। पर ये रचनाएँ होती हैं कवियों के स्वाभाविक तारतम्य के कारण ही, किसी प्रदेश विशेष में निवास के कारण नहीं। वस्तुतः इस कथन में पूरी सच्चाई भी निहित है। एक ओर गौड़ जनपद में उत्पन्न कवि जयदेव ने सरस एवं कोमल-कान्त शब्दावली में (वैदर्भी रीति या सुकुमार मार्ग) काव्य-रचना की। दूसरी ओर विदर्भ प्रदेश में उत्पन्न होने पर भी भवभूति जैसे कवि ने अपने नाटकों में परुष वर्णों से युक्त, दीर्घ-समास-बहुल (गौडी रीति या विचित्र मार्ग) श्लोक रचे हैं

---

१ अन्तराले तु पाञ्चाली वैदर्भ्योर्याऽवतिष्ठते
साऽवन्तिका समस्तैः स्यात् द्वित्रैस्त्चतुरै पदैः।
समस्तरीतिव्यामिश्रा लाटीया रीतिरिष्यते
पूर्वरीतेरनिर्वाहे खण्डरीतिस्तु मागधी।
—सरस्वतीकण्ठाभरण। २।३२–३३

२ वक्रोक्तिजीवित—१।२४ की वृत्ति।

३ सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कवि प्रस्थान हेतवः।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः॥
—व० जी० प्रथम उन्मेष, कारिका—२४।

अतएव प्रान्तों की सीमा में बाँध कर रीतियों के भेदों का निर्धारण युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता है। फलतः कुन्तक का रीति-निरूपण अत्यन्त मौलिक एवं समीचीन है।

कुन्तक के अनन्तर ध्वनिवादी आनन्दवर्द्धन ने रीतियों के भेद आदि तो नहीं बनाए, पर अत्यन्त संक्षेप में रीति-तत्व पर प्रकाश डाला है। आनन्दवर्द्धन, काव्यात्मा ध्वनि का अन्य तत्वों से कौन सा सम्बन्ध है, इसके सफल विवेचक हैं। इन्होंने स्पष्ट शब्दों में रीति को पद-संघटना कहा है। पद-संघटना से उनका तात्पर्य है पदों की सम्यक् या शोभन योजना से। जैसे मानव शरीर में अङ्गों का गठन होता है, वैसे ही काव्य के शब्दार्थ-कलेवर के गठन का कार्य रीतियाँ सम्पादित करती हैं। साथ ही, ये रीतियाँ रस, ध्वनि आदि मुख्य तत्त्वों (आत्मभूत) का उपकार भी करती हैं। माधुर्य आदि गुणों के आश्रय में रह कर ये रीतियां रसों को भी व्यंजित करती हैं[1]। रीति के स्वरूप, महत्त्व और अन्य काव्य तत्त्वों से उसके सम्बन्ध का भलीभांति विवेचन करने के उपरान्त आनन्दवर्द्धन ने रीति के नियामक तत्त्वों--वक्त औचित्य, वाच्यौचित्य, विषयौचित्य, रसौचित्य, का भी विवेचन किया है।

आनन्दवर्द्धन के अनन्तर रीति पर मौलिक प्रकाश डालने वाला आचार्य कोई नहीं हुआ। मम्मट ने रीतियों का वृत्तियों से तादात्म्य कर दिया। पूर्ववर्त्ती आचार्य उद्भट ने जिन वृत्तियों का उल्लेख किया था, उन्हीं से रीतियों का एकत्व स्थापित करते हुए इन्होंने तीन वृत्तियों का निरूपण किया--उपनागरिका, परुषा और कोमला[2]। वस्तुतः वैदर्भी रीति और उपनागरिका वृत्ति एक है। परुषा वृत्ति और गौड़ी रीति में कोई अन्तर नहीं हैं तथा कोमला वृत्ति और पंचाली रीति भी समान हैं। विश्वनाथ ने स्पष्टतः रुद्रट की वैदर्भी, गौडी, पांचाली और लाटी--इन चार रीतियों का उल्लेख किया और उनका आधार वर्ण गुम्फन को माना। प्रत्येक रीति का पृथक्-पृथक् रस से आपने सम्बन्ध भी प्रतिपादित किया है। जगन्नाथ ने भी विश्वनाथ से भिन्न कोई नवीन उद्भावना रीतियों के क्षेत्र में नहीं की। यद्यपि आपने काव्य के वाह्य अंग का पर्याप्त विवेचन किया है, पर आपने रीति पर कोई नया प्रकाश नहीं डाला।

इस प्रकार जिस रीतिवाद का उद्भव बीज रूप में भामह-बाण और दण्डी के ग्रन्थों में हुआ, उसका चरम विकास कुन्तक के युग में आकर हो गया। तदनन्तर अन्य आचार्यों ने उसी का पिष्ट-पेषण किया। इस सुदीर्घ अवधि में रीतियों का आधार कभी भौगोलिक रही, कभी युद्ध, प्रेम आदि प्रतिपाद्य वस्तुओं के आधार पर

---

१ गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा रसान्।

—ध्वन्यालोक। ३।६।

२ मम्मट : काव्यप्रकाश। ९।८०।

रीतियों का वर्गीकरण किया गया तो कभी कवियों के स्वभाव के आधार पर रीतियों के भेदों की व्यवस्था की गई। हिन्दी काव्य शास्त्र में रीतियों का विवेचन हुआ ही नहीं।

अन्य सम्प्रदायों से सम्बन्ध

प्रारम्भिक काल में रीतियों का गुणों के साथ अत्यन्त घनिष्ट सम्बन्ध था। भरत, भामह, दण्डी, यहां तक कि रीतिवाद के प्रवर्तक स्वयं वामन ने भी रीति की आत्मा गुणों को ही माना था। वामन की "विशिष्टा-पद-रचना रीतिः, विशेषो-गुणात्मा'—इस उक्ति से यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है। अतएव रीतिवाद और गुणवाद में कोई अन्तर ही नहीं है। अलंकारों के साथ भी रीतियों का सम्बन्ध अति निकट का ही है। सर्वप्रथम ये दोनों तत्त्व (रीति और अलंकार) काव्य के बाह्य पक्ष से ही सम्बन्ध रखते हैं। अतएव महत्त्व की दृष्टि से दोनों समान हैं। दूसरी बात यह कि यदि अलंकारों को व्यापक अर्थ में लिया जाय तो काव्य की शोभा को बढ़ाने वाले सभी धर्म अलंकार ही हैं। आचार्य दण्डी ने "काव्य-शोभाक-रान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते"—कहकर पहले ही स्पष्ट कर दिया है। इस दृष्टि से रीतियां भी अलंकार ही हैं।

ध्वनिवाद के साथ रीतियों का क्या सम्बन्ध है—इस पर स्वयं आनन्दवर्द्धन ने यत्किंचित् प्रकाश डाला है। ध्वनि काव्य की आत्मा है। शब्द और अर्थ उसके शरीर हैं, पर रीति उसके अंगों की सुघराई या गठन की स्थानापन्न है। साथ ही ध्वनियों के मुख्य भेद (रस) का उपकारक भी है। अतः ध्वनिसम्प्रदाय के साथ भी रीतिसम्प्रदाय का निकट सम्बन्ध मानना चाहिए। रस-सम्प्रदाय के साथ भी रीति-सम्प्रदाय स्वतः सम्बद्ध हो जाता है। यदि रसों को ध्वनियों में अन्तर्भुक्त माना जाय या उन्हें स्वतंत्र रखा जाय, प्रत्येक स्थिति में रीतियों के साथ रसों का सम्बन्ध अत्यन्त प्रबल है। विश्वनाथ ने कहा है—'उत्कर्षहेतवः प्रोक्ताः गुणालंकार-रीतयः" अर्थात् गुण, अलंकार और रीति सब के सब काव्यात्मभूत रस के उत्कर्ष बढ़ाने वाले हैं। फलतः रीतिवाद और रसवाद का सम्बन्ध स्पष्ट है। वक्रोक्तिवादी कुन्तक तो काव्य के सभी तत्त्वों को वक्रोक्ति में ही समाविष्ट मानते हैं; अतएव उनकी दृष्टि में वक्रोक्ति और रीति में अंगी और अंग का ही सम्बन्ध स्थापित होता है। यद्यपि औचित्यवादी क्षेमेन्द्र का औचित्य कोई स्वतन्त्र काव्यतत्त्व नहीं है, पर रसौचित्य और अलंकारौचित्य की तरह रीत्यौचित्य की भी चर्चा क्षेमेन्द्र ने की है। अतएव औचित्य की आवश्यकता रीतियों को भी है।

(३) वक्रोक्ति—सम्प्रदाय

वक्रोक्ति शब्द का अर्थ

कुन्तक का वक्रोक्ति-शब्द अत्यन्त व्यापक अर्थ रखता है। कुन्तक का यह वक्रोक्ति-सिद्धान्त ही वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के नाम से अभिहित किया जाता है। आश्चर्य

की बात यह है कि कुन्तक के परवर्ती किसी आचार्य ने काव्य-जीवित के अर्थ में वक्रोक्ति सिद्धान्त का न समर्थन किया और न वक्रोक्ति पर कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ ही लिखा। अतएव कई विद्वानों को वक्रोक्ति को एक स्वतन्त्र काव्य-सम्प्रदाय मानने में आपत्ति है। पर वस्तुस्थिति कुछ और है। पहली बात यह कि वक्रोक्ति-वाद संस्कृत काव्यशास्त्र के अन्य वादों की तरह प्राचीन काल से चला आ रहा था और उसकी परिणति कुन्तक के "वक्रोक्ति-जीवितम्" में आकर हुई। ठीक जिस प्रकार ध्वनि-सिद्धान्त आनन्दवर्द्धन में पूर्णतः विकसित हुआ, वैसे ही वक्रोक्ति-सिद्धात कुन्तक में। इस सिद्धान्त के उद्भव और विकास की भी एक लम्बी कहानी है। अतएव इसे एक काव्य-सम्प्रदाय मानने में किसी प्रकार की शंका की गुंजायश नहीं है। दूसरी बात यह कि समस्त भारतीय काव्यशास्त्र में सौन्दर्य और भाव को काव्य का मूलतत्व मान कर जैसा व्यवस्थित, सन्तुलित और युक्तियुक्त विवेचन कुन्तक ने किया है, वैसा सर्वतोभद्र एवं सूक्ष्मदर्शी माने जाने वाले ध्यनिवादी आनन्दवर्द्धन ने भी नहीं किया[1]। अतएव अपने सिद्धान्त की स्थापना में यदि कुन्तक को अकेला भी मान लिया जाय तो भी उनका सिद्धान्त इतना प्रबल एवं युक्तिसंगत है कि काव्यशास्त्र के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय कहलाने का अधिकारी माना जा सकता है। नीचे इसी वक्रोक्ति-सम्प्रदाय के उद्गम और विकास पर प्रकाश डाला जा रहा है।

उद्भव और विकास

कुन्तक के वक्रोक्ति-सिद्धान्त का उदय आकस्मिक नहीं था प्रत्युत यह एक सुदीर्घ परम्परा की चरम परिणति के रूप में हमें उपलब्ध हुआ है। वक्रोक्ति-सिद्धान्त का बीज प्राचीन अनेक आचार्यों में पाया जाता है। भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट, आनन्दवर्द्धन आदि अनेक आचार्यों ने किसी न किसी रूप में वक्रोक्ति की सत्ता स्वीकार की थी। परवर्ती आचार्यों में भी मम्मट और विश्वनाथ ने वक्रोक्ति का उल्लेख किया है। भामह से पहले के गद्यकार बाण ने भी अप्रत्यक्ष रूप से वक्रोक्ति की चर्चा की है। वे शास्त्रकार नहीं थे, पर उस समय तक जो काव्य-शास्त्रीय मान्यता थी, उसका प्रभाव स्वभावतः उन पर पड़ा होगा। अतः उनकी रचनाओं में जो तथ्य उपलब्ध होते हैं उन्हें प्रामाणिक ही मानना चाहिए।

यह सर्वविदित विषय है कि कुन्तक ने वक्रोक्ति का प्रयोग अत्यन्त व्यापक अर्थ में किया है और अन्य अधिकांश आचार्यों ने इसे एक अलंकार-विशेष ही माना है। पर गद्यकार बाण ने वक्रोक्ति का प्रयोग वाक्छल रूप शब्दालंकार या अर्थालंकार के अर्थ में नहीं किया[2]। इन्होंने चमत्कारपूर्ण शैली का द्योतन वक्रोक्ति शब्द से किया

---

१ हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर (एस० एन० दासगुप्ता), खंड १, पृ०-५९२।

२ वक्रोक्ति निपुणेन आख्यानपरिणयचतुरेण विलासिजनेन...

—बाणः। कादम्बरी। चन्द्रापीड़राजधानी वर्णन।

है। आप स्वयं इसी वैदग्ध्यपूर्ण, अनेक काव्यात्मक विशेषताओं से मण्डित तथा चमत्कारकारी शैली के लेखक थे। कुन्तक की वक्रोक्ति-योजना भी लोकोत्तर चमत्कार तथा वैचित्र्य की सिद्धि के लिए ही थी[1]। अतएव कुन्तक के वक्रोक्तिवाद का बीज वाण में उपलब्ध होता है। वाण की तरह सुबन्धु, और कविराज भी वक्रोक्ति मार्ग के निपुण कवि माने जाते थे[2]।

काव्यशास्त्र में वक्रोक्ति का प्रयोग करने वाले सर्व-प्रथम आचार्य भामह हैं। इन्होंने कुन्तक की तरह वक्रोक्ति का स्वतन्त्र चिन्तन तो नहीं किया, पर इतना अवश्य है कि आपने वक्रोक्ति को सभी अलंकारों का मूल मान कर यत्र-तत्र उस पर प्रकाश डाला है। भामह की दृष्टि में काव्य की आत्मा अलंकार है, पर उन सारे अलंकारों का मूल आधार है वक्रोक्ति[3]। वक्रोक्ति के अभाव में, अलङ्कारों में सौन्दर्याधायक तत्व की कल्पना ही नहीं की जा सकती। वक्रोक्ति का तात्पर्य है शब्द और अर्थ की वक्रता[4]। शब्द-वक्रता और अर्थ-वक्रता के समन्वित रूप के अतिरिक्त, वस्तुतः कुन्तक की दृष्टि में भी, वक्रोक्ति और कुछ नहीं है। यही कारण है कि वक्रोक्ति से शून्य हेतु, लेश, सूक्ष्म आदि अलंकारों को भामह ने स्वीकार नहीं किया। भामह वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति में कोई अन्तर नहीं मानते हैं। गुणों के अतिशय योग होने पर अतिशयोक्ति कहलाती है[5]। यह अतिशयोक्ति लोकातिक्रान्त गोचर होती है अर्थात् सामान्य कथन (वार्ता) से विलक्षण होती है[6]। वस्तुतः शब्दार्थ वक्रतारूप वक्रोक्ति भी लोकातिक्रान्त गोचर—चमत्कारपूर्ण—विलक्षण उक्ति ही है। इससे निम्न कथन भामह की दृष्टि में वार्ता है। "सूरज डूब गया", "चांद चमकता है"—ऐसी उक्तियां इतिवृत्त मात्र हैं। वक्रता के अभाव में यहाँ काव्यात्मकता नहीं है। इस प्रकार भामह की वक्रोक्ति अत्यन्त व्यापक अर्थ में प्रत्युक्त हुई है।

काव्यादर्श के रचयिता दण्डी ने भी वक्रोक्ति का उल्लेख किया है। इन्होंने

---

१ लोकोत्तर चमत्कारकारि — वैचित्रसिद्धये।
काव्यस्यायमलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते ॥ —वक्रोक्तिजीवित । १।२ ।

२ सुबन्धुर्वाणभट्टश्च कविराज इति त्रयः ।
वक्रोक्ति मार्ग निपुणाश्चतुर्थो विद्यतेनवा ॥ —राघव पाण्डवीय । १।१४१ ।

३ सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना । —काव्यालंकार । २।८५ ।

४ वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः । —वही १।६ ।

५ इत्येवमादिरुदिता गुणातिशययोगतः ।
सर्वैवातिशयेक्तिस्तु तर्कयेत् तां यथागमम् ॥ —काव्यालंकार । २।८४ ।

६ निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम ।
मन्यतेऽतिशयोक्तिं तामलंकारतया यथा ॥ —वही २।८१ ।

सर्वप्रथम वाङ्मय को दो भागों में बाँट दिया है—स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति।[1] पदार्थों के यथातथ्य वर्णन को आपने स्वभावोक्ति कहा है। ऐसी उक्ति में जाति नामक अलंकार होता है।[2] वक्रोक्ति इससे भिन्न है। वक्रोक्ति में जो वस्तु जैसी है उसका उसी रूप में वर्णन नहीं करके वक्रता के साथ चमत्कारपूर्ण वर्णन किया जाता है। इसी के अन्तर्गत उपमा, रूपक से लेकर संकीर्ण पर्यन्त के सारे अलंकार आ जाते हैं। वक्रोक्ति का आधार भी दण्डी ने श्लेष को माना है। वक्रोक्ति की शोभा श्लेष के द्वारा ही सम्पन्न होती है।[3] पर जब अतिशयोक्ति अलंकार के वर्णन का प्रसंग आता है तो दण्डी ने स्पष्ट रूप से उसे भी सभी अलंकारों का आधार घोषित कर दिया है।[4] इससे स्पष्ट है कि दण्डी वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति में कोई पार्थक्य नहीं मानते। जिसे इनके पूर्ववर्ती भामह ने अतिशयोक्ति कहा, उसी को आप वक्रोक्ति कहते हैं। अन्यथा आप दोनों को सभी अलंकारों का आश्रय या परायण नहीं कहते। अतएव भामह और दण्डी दोनों के वक्रोक्ति के सम्बन्ध में समान विचार हैं। दोनों ही वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को पर्यायवाची मानते हैं तथा दोनों ने ही वक्रोक्ति को सभी अलंकारों का जनक स्वीकार किया है। यदि दोनों में कोई अन्तर है भी तो वह यह कि दण्डी ने समस्त वाङ्मय को स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति—इन दो भागों में बाँट दिया है, पर भामह स्वभावोक्ति को भी वक्रोक्ति में ही सन्निविष्ट रखते हैं। स्वभावोक्ति में भी भामह के अनुसार एक प्रकार की वक्रता या चमत्कार है—अतएव वह भी वक्रोक्ति ही है। इतिवृत्तात्मक वस्तु या "वार्ता" भी कवि-कल्पना या कवि-प्रतिभा के विलक्षण रंग से अनुरंजित हो जाने पर वक्रता से विशिष्ट हो जाती है। फलतः उसे भी (स्वभावोक्ति को भी) वक्रोक्ति मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार वक्रोक्ति के सम्बन्ध में जो धारणा भामह की थी, लगभग वही दण्डी की भी बनी रही।

वामन ने वक्रोक्ति को अत्यन्त संकीर्ण बना दिया। इन्होंने वक्रोक्ति को एक विशेष प्रकार का अर्थालंकार मान लिया। आपकी दृष्टि में सादृश्य सम्बन्ध से गृहीत लक्ष्यार्थ के प्रतिपादक लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग होने पर वक्रोक्ति नामक अलंकार होता है।[5] कहने का तात्पर्य यह कि जहाँ गौणी लक्षणा होती है, वहाँ वक्र उक्ति होने के कारण वक्रोक्ति नामक अलंकार मानना चाहिए। पर वामन का यह दृष्टिकोण अत्यन्त एकांगी है। यदि लाक्षणिक प्रयोग में वक्रता ही माननी है तो लक्षणा के अन्य प्रभेदों में भी वक्रता की अपेक्षा रखनी चाहिए। विशेषतः विपरीत

---

१ द्विधा भिन्नं स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्। —काव्यादर्श २।३६२।
२ वही २।८।
३ वही २।३६३।
४ वही २।२२०।
५ सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः। —काव्यालंकार-सूत्रप्रवृत्ति। ४।३।८।

लक्षणा में जहाँ पूरी की पूरी कविता का अर्थ (ग्राह्य) वाच्यार्थ से सर्वथा विपरीत होने के कारण अत्यन्त वक्र एवं चमत्कारपूर्ण होता है वहाँ वक्रोक्ति मानना अधिक न्याय्य प्रतीत होता है। पर वामन ने केवल गौणी में (सादृश्य-निबन्धना में) क्यों वक्रोक्ति की कल्पना की इसका कोई दूसरा समाधान उनके ग्रन्थ में कहीं नहीं मिलता है। जो हो, पर उन्होंने वक्रोक्ति को व्यापकता नहीं प्रदान की वरन् उसे एक अर्थालंकार विशेष मानकर अत्यन्त संकीर्ण बना दिया।

यों वामन ने जिन दशविध शब्द गुणों और अर्थगुणों का उल्लेख किया है, उनके उदाहरणों में भी वक्रता का अभाव नहीं है। उनके लक्षण भी उसी वक्रता, चमत्कार या चारुता का निर्देश करते हैं। पर शब्दतः वक्रोक्ति या वक्र का कहीं उल्लेख नहीं है। वामन के ओज, श्लेष, उदारता, कान्ति आदि शब्दगुणों में कुन्तक की वर्ण-विन्यास वक्रता तथा ओज आदि अर्थगुणों में कहीं पर्यायवक्रता (विशेषण-वक्रता), तो कहीं पदार्थ-वक्रता आदि उपलब्ध होती है। पर वामन ने स्वयं इन गुणों को वक्रता-विशिष्ट नहीं माना है और न कहीं इस प्रसंग में वक्रता शब्द का उल्लेख ही किया है।

वामन के बाद रुद्रक ने भी वक्रोक्ति को अलंकार-विशेष ही स्वीकार किया। इन्होंने भी वक्रोक्ति को वह व्यापक रूप नहीं प्रदान किया जो भामह अथवा दण्डी ने दिया था। सच पूछिए तो रुद्रट ने वामन से भी अधिक संकीर्णता वक्रोक्ति को प्रदान की। वामन ने कम से कम उसे एक अर्थालंकार माना था, पर रुद्रट ने वक्रोक्ति को वाक्छल रूप शब्दालंकार ही स्वीकार किया। परवर्ती काल के मम्मट और विश्वनाथ पर भी रुद्रट की इसी मान्यता का प्रभाव पाया जाता है। रुद्रट के वक्रोक्ति नामक शब्दालंकार के दो भेद हैं—काकु-वक्रोक्ति और समंगश्लेष-वक्रोक्ति। कण्ठ ध्वनि अथवा उच्चारण और स्वर के उतार-चढ़ाव के द्वारा जहाँ उक्त विषय का वक्र अर्थ गृहीत किया जाता है, वहाँ काकुवक्रोक्ति और जहाँ श्लेष के द्वारा वक्र अर्थ किया जाय, वहाँ श्लेष वक्रोक्ति रुद्रट ने बताई है। इस प्रकार रुद्रट ने वक्रोक्ति के क्षेत्र में सर्वथा नवीन विचार प्रस्तुत किया।

रुद्रट के बाद ध्वनिवादी आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त के युग में गौण रूप से वक्रोक्ति पर प्रकाश डाला गया। आनन्दवर्द्धन ने मात्र एक स्थान पर वक्रोक्ति को अर्थालंकार के रूप में स्वीकार किया है।[1] आनन्दवर्द्धन अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति में कोई भेद नहीं मानते हैं। एक दूसरे को पर्यायवाची बताते हैं। ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में आनन्दवर्द्धन का जो विवेचन प्राप्त होता है[2] उससे उन्हें वक्रोक्ति की दिशा में भामह का समर्थक माना जा सकता है। ऐसा लगता है

१ तत्रवक्रोक्त्यादिवाच्यालंकार व्यवहार एव। —ध्वन्यालोक। २/२१ (वृत्ति)।
२ हिन्दी ध्वन्यालोक। पृष्ठ—३९४-९५।

कि आपने भी व्यापक अर्थ में वक्रोक्ति को सभी अलंकारों का मूल माना हो। यों कुन्तक का वक्रोक्ति सिद्धान्त पूर्णत: आनन्दवर्द्धन के ध्वनिसिद्धान्त पर ही आधारित है। जैसे आनन्दवर्द्धन ने उपसर्ग, निपात, प्रत्यय, शब्द, वाक्य आदि सभी भाषा-तत्त्वों को व्यंजक माना है, उसी प्रकार कुन्तक ने इन सबों को वक्रताविधायक स्वीकार किया है। दोनों के अधिकांश उदाहरण भी समान है। इससे भली भांति स्पष्ट हो जाता है कि जिसे आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि कहा है उसे ही कुन्तक ने वक्रोक्ति कहा है और इस दृष्टि से देखें तो ध्वनिसिद्धान्त और वक्रोक्तिसिद्धान्त में बहुत कम का ही अन्तर रह जाता है। ध्वन्यालोक के प्रमुख टीकाकार अभिनवगुप्त ने भी वक्रोक्ति का सामान्य रूप ही गृहीत किया है। उन्होंने भामह के वक्रोक्ति-लक्षण "वक्राभिधेय-शब्दोक्तिरिष्टा वाचां त्वलंकृति:" १/३२६ (काव्यालंकार) की व्याख्या करते हुए कहा है "शब्द और अर्थ की वक्रता का आशय है उनका लोकोत्तर रूप से अवस्थान, लोकोत्तर का अर्थ है अतिशय, इस प्रकार अतिशयोक्ति सामान्य अलंकार है।[1] फलत: ध्वनिवादी आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त भामह से सहमत हैं।

भोजराज ने सरस्वतीकण्ठाभरण और शृङ्गार-प्रकाश में वक्रोक्ति का विवेचन अनेक स्थलों पर किया है। उन्होंने वक्रोक्ति को विभिन्न अर्थों में लिया है। कभी वे भामह की तरह वक्रोक्ति को अलंकार सामान्य मानते हैं[2] तो कभी दण्डी की तरह उसके क्षेत्र को संकुचित कर केवल उपमा आदि अलंकारों को ही[3] वक्रोक्ति के अन्तर्गत स्वीकार करते हैं। आपने सभी आलंकारिक उक्तियों को वक्रोक्ति, रसोक्ति और स्वभावोक्ति इन तीन वर्गों में बांट दिया है। दण्डी ने अलंकारों के केवल दो वर्ग किए थे—स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति, पर भोज ने रसोक्ति नामक तृतीय भेद की भी कल्पना की। वामन ने वक्रोक्ति को एक अर्थालंकार माना था—जहां सादृश्य-निबन्धना लक्षणा रहती है। पर भोज उनके दृष्टिकोण से भी वक्रोक्ति का विचार करते हैं और लक्षणा के सारे प्रपंच को वक्रोक्ति के अन्तर्गत ही रख लेते हैं। रुद्रट की मान्यता थी कि वक्रोक्ति वाक्छल रूपी एक शब्दालंकार है। पर भोजराज ने इस दृष्टि से वक्रोक्ति को वाकोवाक्य नामक एक शब्दालंकार स्वीकार किया है। इसके छ: भेदों में श्लेषमूलक वक्रोक्ति भी एक भेद है। काकुमूला वक्रोति के लिए भोज ने "पठित" नामक एक पृथक् शब्दालङ्कार की कल्पना की है

---

१ शब्दस्य हि वक्रता, अभिधेयस्य च वक्रता लोकोत्तरेण रूपेण अवस्थानम् लोकोत्तरेण चैवतिशय:। तेन अतिशयोक्ति: सर्वालङ्कार समान्यम्।
—अभिनवगुप्त। लोचन, पृष्ठ २०८।

२ शृङ्गार प्रकाश /९/६।

३ सरस्वतीकण्ठाभरण ५/८ तथा शृङ्गार प्रकाश २/११।

इस प्रकार भोजराज अपने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों की वक्रोक्ति सम्बन्धी मान्यताओं को कुल परिवर्तन एवं संशोधन के साथ स्वीकार कर लेते हैं।

अभी तक वक्रोक्ति अपने व्यापक अर्थ में किम्बा संकुचित अर्थ में अलंकारवाद का ही एक अंग बनी हुई थी। कोई आचार्य उसे अलंकार-सामान्य मानते थे, कोई अधिकांश अलंकारों को (स्वभावोक्ति को छोड़ कर) वक्रोक्ति कहते थे। कोई अर्थालंकार-विशेष को और कोई शब्दालंकार विशेष को वक्रोक्ति कहते थे। प्रत्येक स्थिति में यह शब्दार्थ वक्रता अलंकारों के क्षेत्र तक ही सीमित थी। कुन्तक ने वक्रोक्ति को विराट् रूप प्रदान किया। काव्य के सारे तत्त्वों और प्रभेदों को आपने वक्रोक्ति में समाविष्ट कर लिया। रीति, गुण, अलंकार, ध्वनि, रस, मुक्तक, प्रबन्ध आदि जितने भी काव्य-तत्त्व अथवा काव्य-भेद हैं—सबों को वक्रोक्ति की ज्योति से आपने उद्भासित पाया। वस्तुतः आपको प्रेरणा मिली थी अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से हो, पर आपने वक्रोक्ति को जो व्यापक, विशाल और विराट रूप प्रदान किया, वह अत्यन्त दुर्लभ है। कुन्तक ने "वैदग्ध्य-भंगी-भणिति" को वक्रोक्ति कहा है। इसका तात्पर्य है वचन की यह विचित्रता जो कवि-प्रतिभाश्रित वाणी-वैचित्य सर्वत्र मुक्तक, प्रबन्ध, रस-ध्वनि, अलंकार-गुण आदि में दृष्टिगोचर होता है। फलतः वक्रोक्ति ही काव्यजीवित है।

कुन्तक ने वक्रोक्ति के छः भेद किए हैं—(१) वर्ण-विन्यास वक्रता (२) पद-पूर्वार्ध वक्रता (३) प्रत्यय-वक्रता (४) प्रत्यय-वक्रता (पद-परार्ध वक्रता) (५) वाक्य-वक्रता (६) प्रकरण-वक्रता (७) प्रबन्ध-वक्रता। पुनः पदपूर्वार्ध वक्रता के रूढ़ि-वक्रता, पर्यायवक्रता और विशेषणवक्रता—ये तीन उपभेद किए गए हैं। इस प्रकार वक्रता के विविध रूपों ने काव्य के समस्त तत्त्वों को आत्मसात् कर लिया है। जैसा व्यवस्थित और सन्तुलित चिन्तन कुन्तक ने प्रस्तुत किया है, संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में आनन्दवर्द्धन के सिवा दूसरा कोई आचार्य इनके जोड़े का नहीं मालूम होता है। आपके व्यवस्थित एवं तर्कपूर्ण चिन्तन का ही यह परिणाम हुआ कि वक्रोक्ति-वाद "वक्रोक्ति-सम्प्रदाय" के नाम से अभिहित किया जाने लगा। पर यह चिन्तन आपके साथ ही समाप्त हो गया और परवर्ती काल में कोई ऐसा व्यक्ति दृष्टगोचर नहीं हुआ जिसने आपके सम्प्रदायवाद का उन्नयन किया हो।

परवर्ती काल में मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने वक्रोक्ति की चर्चा पुनः अलंकार-विशेष के अर्थ में ही की। इन्होंने इसे वक्रीकृता उक्ति के अर्थ में एक शब्दालंकार ही माना तथा श्लेष और काकु के आधार पर इसके दो भेद कर दिए।[1] वक्ता द्वारा कही गयी उक्ति को यदि श्रोता श्लेष अथवा काकु के आधार पर दूसरे

---

१ यदुक्तमन्यथावाक्यमन्यजाऽन्येत् योज्यते।
श्लेषेण काक्वा व ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा। —काव्यप्रकाश /९/७८।

अर्थ में ग्रहण करे तो आपकी दृष्टि में वक्रोक्ति नामक शब्दालंकार होता है । इस प्रकार वक्रोक्ति का पुनः वही संकुचित रूप आ गया जो रुद्रट के युग में था। वस्तुतः वक्रोक्ति का बीज भामह के काव्यालंकार में था पर वह पल्लवित एवं पुष्पित हुआ कुन्तक के वक्रोक्ति जीवित में आकर । उसके बाद कोई नामलेवा आचार्य भी न रहा ।

अन्य सम्प्रदायों से सम्बन्ध

वक्रोक्तिसम्प्रदाय का सबसे घनिष्ट सम्बन्ध अलंकार-सम्प्रदाय से है । वक्रोक्ति के जन्मदाता भामह अलंकारवादी ही थे । इन्होंने अलंकार-सामान्य के लिए वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग किया था । "वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते" । (काव्यालंकार—५।६६) अर्थात् वक्रार्थ का प्रतिपादन ही अलंकार है। फलतः वक्रोक्ति अलंकार का पर्यायवाची माना जा सकता है । दण्डी, रुद्रट, भोज, मम्मट विश्वनाथ प्रभृति अनेक आचार्यों ने वक्रोक्ति को किसी न किसी रूप में अलंकार ही माना है । किसी ने इसे अलंकार-सामान्य तो किसी ने अलंकार विशेष माना है, पर इतना निश्चित है कि वक्रोक्ति का अलंकार से घनिष्ट सम्बन्ध है ।

वामन ने यों स्पष्टतः वक्रोक्ति को एक अर्थालंकार माना था। पर उनके जो दशविध शब्दगुण और दशविध अर्थ-गुण हैं, उनके लक्षणों और उदाहरणों को ध्यान से देखने पर उन्हें वक्रोक्तिमूलक मानना असंगत नहीं होगा[1] यदि वक्रोक्ति और गुण में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है तो स्वभावतः वक्रोक्ति का सम्बन्ध रीतियों से भी मानना पड़ेगा । वामन की रीति गुणात्मकम है । अतएव गुण-रीति-वक्रोक्ति परस्पर-सम्बद्ध हैं । दूसरी बात यह कि वामन ने रीति को "विशिष्टा पद-रचना" कहा है । यह विशिष्टता ही वक्रता है । वक्रता वस्तुतः कविप्रतिभा-जन्य वचन-वैचित्र्य है । अतएव रचना की विशिष्टता के अतिरिक्त और क्या हो सकती है । निष्कर्ष यह कि रीतिवाद और वक्रोक्तिवाद दोनों एक दूसरे से बहुत दूर नहीं हैं ।

ध्वनिवाद और रसवाद से वक्रोक्तिवाद का आपाततः कोई सम्बन्ध नहीं है । पर यह सर्वविदित है कि आनन्दवर्द्धन की ध्वनि-स्थापना के खण्डन के लिए ही वक्रोक्ति जीवित जैसे विशाल-ग्रन्थ का सभारम्भ किया गया था । कुन्तक ने ध्वनि को वक्रोक्ति में ही गतार्थ कर दिया है । वर्ण-विन्यास-वक्रता और वर्णध्वनि में, पद-वक्रता और पद ध्वनि में तत्त्वतः कोई मौलिक भेद नहीं है । यही कारण है कि आनन्दवर्द्धन के द्वारा उद्धृत अनेक उदाहरणों को लेकर कुन्तक ने उनमें वक्रोक्ति का ही सन्निवेश किया है । विवेचन की शैली तो दोनों ग्रन्थों की लगभग समान है ।

---

१ हिन्दी वक्रोक्ति जीवित—भूमिका पृ० ६-७

इस प्रकार भोजराज अपने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों की वक्रोक्ति सम्बन्धी मान्यताओं को कुल परिवर्तन एवं संशोधन के साथ स्वीकार कर लेते हैं।

अभी तक वक्रोक्ति अपने व्यापक अर्थ में किम्बा संकुचित अर्थ में अलंकारवाद का ही एक अंग बनी हुई थी। कोई आचार्य उसे अलंकार-सामान्य मानते थे, कोई अधिकांश अलंकारों को (स्वभावोक्ति को छोड़ कर) वक्रोक्ति कहते थे। कोई अर्थालंकार-विशेष को और कोई शब्दालंकार विशेष को वक्रोक्ति कहते थे। प्रत्येक स्थिति में यह शब्दार्थ वक्रता अलंकारों के क्षेत्र तक ही सीमित थी। कुन्तक ने वक्रोक्ति को विराट् रूप प्रदान किया। काव्य के सारे तत्त्वों और प्रभेदों को आपने वक्रोक्ति में समाविष्ट कर लिया। रीति, गुण, अलंकार, ध्वनि, रस, मुक्तक, प्रबन्ध आदि जितने भी काव्य-तत्त्व अथवा काव्य-भेद हैं—सबों को वक्रोक्ति की ज्योति से आपने उद्भासित पाया। वस्तुतः आपको प्रेरणा मिली थी अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से हो, पर आपने वक्रोक्ति को जो व्यापक, विशाल और विराट रूप प्रदान किया, वह अत्यन्त दुर्लभ है। कुन्तक ने "वैदग्ध्य-भंगी-भणिति" को वक्रोक्ति कहा है। इसका तात्पर्य है वचन की यह विचित्रता जो कवि-प्रतिभाश्रित वाणी-वैचित्य सर्वत्र मुक्तक, प्रबन्ध, रस-ध्वनि, अलंकार-गुण आदि में दृष्टिगोचर होता है। फलतः वक्रोक्ति ही काव्यजीवित है।

कुन्तक ने वक्रोक्ति के छः भेद किए हैं—(१) वर्ण-विन्यास वक्रता (२) पद-पूर्वार्ध वक्रता (३) प्रत्यय-वक्रता (४) प्रत्यय-वक्रता (पद-परार्ध वक्रता) (५) वाक्य-वक्रता (६) प्रकरण-वक्रता (७) प्रबन्ध-वक्रता। पुनः पदपूर्वार्ध वक्रता के रूढ़ि-वक्रता, पर्यायवक्रता और विशेषणवक्रता—ये तीन उपभेद किए गए हैं। इस प्रकार वक्रता के विविध रूपों ने काव्य के समस्त तत्त्वों को आत्मसात् कर लिया है। जैसा व्यवस्थित और सन्तुलित चिन्तन कुन्तक ने प्रस्तुत किया है, संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में आनन्दवर्द्धन के सिवा दूसरा कोई आचार्य इनके जोड़े का नहीं मालूम होता है। आपके व्यवस्थित एवं तर्कपूर्ण चिन्तन का ही यह परिणाम हुआ कि वक्रोक्ति-वाद "वक्रोक्ति-सम्प्रदाय" के नाम से अभिहित किया जाने लगा। पर यह चिन्तन आपके साथ ही समाप्त हो गया और परवर्ती काल में कोई ऐसा व्यक्ति दृष्टगोचर नहीं हुआ जिसने आपके सम्प्रदायवाद का उन्नयन किया हो।

परवर्ती काल में मम्मट, विश्वनाथ आदि आचार्यों ने वक्रोक्ति की चर्चा पुनः अलंकार-विशेष के अर्थ में ही की। इन्होंने इसे वक्रीकृता उक्ति के अर्थ में एक शब्दालंकार ही माना तथा श्लेष और काकु के आधार पर इसके दो भेद कर दिए।[1] वक्ता द्वारा कही गयी उक्ति को यदि श्रोता श्लेष अथवा काकु के आधार पर दूसरे

---

१ यदुक्तमन्यथावाक्यमन्यजाऽन्येत् योज्यते।
श्लेषेण काक्वा व ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा। —काव्यप्रकाश /९/७८।

अर्थ में ग्रहण करे तो आपकी दृष्टि में वक्रोक्ति नामक शब्दालंकार होता है । इस प्रकार वक्रोक्ति का पुनः वही संकुचित रूप आ गया जो रुद्रट के युग में था। वस्तुतः वक्रोक्ति का बीज भामह के काव्यालंकार में था पर वह पल्लवित एवं पुष्पित हुआ कुन्तक के वक्रोक्ति जीवित में आकर । उसके बाद कोई नामलेवा आचार्य भी न रहा ।

अन्य सम्प्रदायों से सम्बन्ध

वक्रोक्तिसम्प्रदाय का सबसे घनिष्ट सम्बन्ध अलंकार-सम्प्रदाय से है । वक्रोक्ति के जन्मदाता भामह अलंकारवादी ही थे । इन्होंने अलंकार-सामान्य के लिए वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग किया था । "वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते" । (काव्यालंकार—५।६६) अर्थात् वक्रार्थ का प्रतिपादन ही अलंकार है । फलतः वक्रोक्ति अलंकार का पर्यायवाची माना जा सकता है । दण्डी, रुद्रट, भोज, मम्मट विश्वनाथ प्रभृति अनेक आचार्यों ने वक्रोक्ति को किसी न किसी रूप में अलंकार ही माना है । किसी ने इसे अलंकार-सामान्य तो किसी ने अलंकार विशेष माना है, पर इतना निश्चित है कि वक्रोक्ति का अलंकार से घनिष्ट सम्बन्ध है ।

वामन ने यों स्पष्टतः वक्रोक्ति को एक अर्थालंकार माना था । पर उनके जो दशविध शब्दगुण और दशविध अर्थ-गुण हैं, उनके लक्षणों और उदाहरणों को ध्यान से देखने पर उन्हें वक्रोक्तिमूलक मानना असंगत नहीं होगा[1] यदि वक्रोक्ति और गुण में पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित हो जाता है तो स्वभावतः वक्रोक्ति का सम्बन्ध रीतियों से भी मानना पड़ेगा । वामन की रीति गुणात्मकम है । अतएव गुण-रीति-वक्रोक्ति परस्पर-सम्बद्ध हैं । दूसरी बात यह कि वामन ने रीति को "विशिष्टा पद-रचना" कहा है । यह विशिष्टता ही वक्रता है । वक्रता वस्तुतः कविप्रतिभा-जन्य वचन-वैचित्र्य है । अतएव रचना की विशिष्टता के अतिरिक्त और क्या हो सकती है । निष्कर्ष यह कि रीतिवाद और वक्रोक्तिवाद दोनों एक दूसरे से बहुत दूर नहीं हैं ।

ध्वनिवाद और रसवाद से वक्रोक्तिवाद का आपाततः कोई सम्बन्ध नहीं है । पर यह सर्वविदित है कि आनन्दवर्द्धन की ध्वनि-स्थापना के खण्डन के लिए ही वक्रोक्ति जीवित जैसे विशाल-ग्रन्थ का सभारम्भ किया गया था । कुन्तक ने ध्वनि को वक्रोक्ति में ही गतार्थ कर दिया है । वर्ण-विन्यास-वक्रता और वर्णध्वनि में, पद-वक्रता और पद ध्वनि में तत्त्वतः कोई मौलिक भेद नहीं है । यही कारण है कि आनन्दवर्द्धन के द्वारा उद्धृत अनेक उदाहरणों को लेकर कुन्तक ने उनमें वक्रोक्ति का ही सन्निवेश किया है । विवेचन की शैली तो दोनों ग्रन्थों की लगभग समान है ।

---

१ हिन्दी वक्रोक्ति जीवित—भूमिका पृ० ६-७

कुन्तक रस को भी वैदग्ध्यभंगी-भणिति ही मानते हैं । अतएव ध्वनिसम्प्रदाय से अधिक और रससम्प्रदाय से भी किंचित् सम्बन्ध वक्रोक्ति सम्प्रदाय का स्थापित किया जा सकता है ।

औचित्यवाद के साथ जैसे, प्रत्येक काव्य-सम्प्रदाय का सम्बन्ध है, वैसे ही वक्रोक्ति-सम्प्रदाय भी उसकी व्याप्ति से अलग नहीं है । यदि कुन्तक ने शब्द, वाक्य, शब्दैक-देश प्रकृति-प्रत्यय आदि में वक्रता देखनी चाही है तो औचित्यवादी ने वहां औचित्य ढूंढ़ना चाहा है । वैदग्ध्यभंगीभणिति में औचित्य का होना अत्यावश्यक है । अत: औचित्यवाद से भी वक्रोक्तिवाद का सम्बन्ध है ।

(४) ध्वनि-सम्प्रदाय

ध्वनि शब्द का अर्थ

"ध्वनि" शब्द के कई अर्थ होते हैं । व्युत्पत्ति की भिन्नता के आधार पर इसके अनेक अर्थ हो सकते हैं और कई अर्थों में व्याकरण एवं काव्यशास्त्र में इसके प्रयोग भी किए गए हैं ।

व्याकरणशास्त्र में ध्वनि को स्फोट व्यंजक माना गया है । स्फोटवादी वैयाकरणों ने शब्दों के आभ्यन्तर रूप को "स्फोट" कहा है । "स्फुटति अर्थ: अस्मात्" अर्थात जिससे अर्थ स्फुटित हो वह शब्द ही स्फोट है । यह स्फोट (शब्द) नित्य है । प्रत्येक प्राणी के अन्दर यह अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है । इस स्फोट की तुलना वैयाकरणों ने दार्शनिकों के ब्रह्म से की है । इसी का व्यक्तरूप ध्वनि है । वक्ता जब किसी शब्द का उच्चारण करता है तो वह उच्चरित वर्ग— समूह (शब्द) तो आकाश में विलीन हो जाता है पर उस शब्द से दूसरा और दूसरे से तीसरा और तीसरे से चौथा इस प्रकार क्रमश: शब्द से शब्द उत्पन्न होता है । इस विलयोत्पत्ति-क्रम में जो अन्तिम शब्द होता है, वही श्रोता के कानों में पहुंच कर उसे तदनुरूप अर्थ का बोध कराता है । यह श्रोता की श्रोत्रेन्द्रिय तक पहुंचाने वाला अन्तिम शब्द ही ध्वनि कहलाता है[1] । यह उस मूल स्फोट का व्यक्त रूप है । वस्तुत: स्फोट यदि शब्द का आभ्यन्तर पक्ष है तो ध्वनि उसका बाह्य पक्ष । शब्द के इन दोनों तत्त्वों में प्रथम निमित्त है अर्थ बोध का और दूसरे अभिव्यक्त स्फोट या ध्वनि से अर्थ का ज्ञान होता है[2] । इन दोनों तत्त्वों में व्यंग्य-व्यंजक सम्बन्ध है । ध्वनितत्व व्यंजक है और स्फोट-तत्व है व्यंग्य । वस्तुत: ध्वनि तो केवल कानों से सुनी जाती है, पर बोध

---

१ य: संयोगविभागाभ्यां करणैरुपजन्यते ।
स: स्फोट शब्दजा: शब्दाध्वनयोऽयैरुदाहृता: । —वाक्य० । १।१०३ ।

२ द्वावुपादान शब्देषु शब्दौ शब्दविदो विदु: ।
एको निमित्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते ॥ —वाक्य० । १।४४ ।

होता है स्फोट का ही। अतएव ध्वनि व्यंजक है और स्फोट हुआ व्यंग्य। पतंजलि ने शब्द का लक्षण करते हुए उसकी श्रोत्रगोचरता एवं बुद्धिग्राह्यता[1] दोनों पर प्रकाश डाला है। अतएव ये दोनों स्फोट और ध्वनि एक ही शब्द के दो तत्त्व हैं। इनमें प्रथम बुद्धिग्राह्य है तो द्वितीय श्रोत्रग्राह्य। व्याकरण, न्याय एवं मीमांसा आदि शास्त्रों में स्फोटवाद का विशद विवेचन मिलता है। इस सिद्धान्त को लेकर विद्वानों में मतैक्य नहीं है, पर मूल बात इतनी ही है।

स्फोटवादी शब्दशास्त्रियों के इस ध्वनि शब्द का प्रयोग काव्यशास्त्र में होने लगा। प्रथमतः आनन्दवर्द्धन ने ही ध्वनि शब्द का प्रयोग काव्यशास्त्र में किया और इसी के आधार पर ध्वनिवाद की स्थापना की जो भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में ध्वनिसिद्धान्त या ध्वनिसम्प्रदाय के नाम से विख्यात है। वैयाकरणों ने ध्वनि को व्यंजक माना था पर काव्यशास्त्र के ध्वनिवादियों ने इसे व्यंजक और व्यंग्य दोनों माना है। तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति से ही अनेक अर्थ गृहीत किए जा सकते हैं:—

(१) "ध्वन्यते यः असौ ध्वनिः" अर्थात् जो ध्वनित हो वही ध्वनि है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर ध्वनि शब्द व्यंग्यार्थ का बोधक माना जा सकता है। इसी अर्थ को आनन्दवर्द्धन ने प्रतीयमान, व्यंग्य, सूच्य, आक्षिप्यमाण, ध्वनि आदि शब्दों से प्रतिपादित किया है। इस अर्थ की चमत्कारिता, मनोहारिता एवं सहृदयाह्लाद-क्षमता काव्य-शास्त्र के मर्मज्ञों के बीच सुप्रसिद्ध है। वस्तुतः इसी ध्वन्यर्थ को आनन्दवर्द्धन ने काव्य की आत्मा कहा है[2]।

(२) "ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः" अर्थात् जिसके द्वारा व्यंग्यार्थ ध्वनित किया जाय, वही ध्वनि है। इस व्युत्पत्ति के द्वारा ध्वनि शब्द से व्यंजना व्यापार का बोध होता है। ध्वनिवादी व्यंजना नामक एक शब्दशक्ति की कल्पना करते हैं। इस शब्द-व्यापार की सहायता से लाक्षणिक शब्दों के प्रयोजनभूत व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। "गंगा में गांव है" इस प्रयोग में गंगा शब्द का वाच्यार्थ प्रवाह है, पर उसमें गांव का होना असम्भव है। अतएव लक्षणा-शक्ति के द्वारा प्रवाहसमीपवर्ती तट का लक्ष्यार्थ गृहीत किया जाता है। परन्तु प्रश्न यह होता है कि तट के लिए

---

१ श्रोत्रोपलब्धिबुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेनाभिज्वलितः आकाशदेशः शब्दः।
एकं च पुनराकाशम्।—महाभाष्य, आह्निक—२, पृ०-८२। (अइउण् सूत्र के विचार-क्रम में)।

२ काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैः यः समाम्नातपूर्वः
तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये
केचिद् वाचां स्थितभविषये तत्त्वमूचुस्तदीयम्
तेन ब्रूमः सहृदय-मनः प्रीतये तत्स्वरूपम्॥ —ध्वन्यालोक। १।१।

प्रवाहवाची गंगा-शब्द के प्रयोग की आवश्यकता क्या थी ? इसका मात्र प्रयोजन (उद्देश्य) वक्ता की दृष्टि में यही था कि श्रोता गंगा-प्रवाह की तरह तट को भी अतिशय शीतल और पवित्र समझें। इस अतिशय शीतलता और पावनता रूपी व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिए अभिधा-लक्षणा से भिन्न व्यंजना नामक शब्द-व्यापार की अपेक्षा होती हैं। ध्वनिवादी ध्वनि शब्द से इसी व्यंजना व्यापार को कभी-कभी प्रतिपादित करते हैं[1]।

(३) "ध्वन्यते अस्मिन् इति ध्वनि:"—अर्थात् जिसमें व्यंग्यार्थ ध्वनित किया जाय उसे भी ध्वनि कहते हैं। इस व्युत्पत्ति के आधार पर ध्वनि शब्द ध्वनि-काव्य (उत्तम काव्य) का बोधक होता है। उस काव्य को ध्वनिकाव्य या उत्तमकाव्य कहते हैं जिसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक चमत्कारी होता है[2]। यह काव्य ही प्रतीयमान अर्थ का सामुदायिक रूप है जिसकी ओर अभिनवगुप्त ने संकेत भी किया है।

(४) "ध्वनति इति ध्वनि:"—व्यंग्यार्थ को ध्वनित करे वही ध्वनि है। इस व्युत्पत्ति के द्वारा ध्वनि व्यंजक-शब्द की बोधिका है। वस्तुत: व्यंजक शब्द ही व्यंग्यार्थ (प्रतीयमान) को ध्वनित करता है। यही वैयाकरणों के स्फोट का व्यक्त रूप भी है।

इस प्रकार चार तरह की व्युपत्तियों के आधार पर ध्वनि-शब्द चार अर्थों का द्योतक होता है। इस शब्द का प्रयोग ध्वनिवादियों ने व्यंजक शब्द, व्यंग्य अर्थ व्यंजना व्यापार और व्यंग्य काव्य (ध्वनिकाव्य) के लिए किया है। अभिनवगुप्त ने शब्द, अर्थ, व्यापार व्यंग्य और समुदाय—इन पाँच अर्थों[3] का द्योतक ध्वनि शब्द को माना है। "अर्थ" के अतिरिक्त "व्यंग्य" शब्द के प्रयोग का तात्पर्य यह है कि कभी कभी एक व्यंग्यार्थ से दूसरे व्यंग्यार्थ की भी प्रतीति होती है। जैसे,

लखहु बलाका कमल दल बैठी अचल सुहाय।
मरकत-भाजन माहिं ज्यों संख-सीप बिलसाय[4] ॥

यहाँ बलाका की निश्चलता से उसकी निर्भयता प्रतीत होती है। निर्भयता रूपी व्यंग्यार्थ से स्थान की निर्जनता का ध्वनन होता है। स्थान की निर्जनता से पुन: रति-प्रार्थना रूप व्यंग्य की प्रतीति होती है। फलत: एक व्यंग्य दूसरे व्यंग्य का व्यंजक

---

१ तस्मादभिधातात्पर्य-लक्षणा व्यतिरिक्तश्चतुर्थोसौ व्यापारो ध्वनन-द्योतन-व्यंजन-प्रत्यायानावगमनादि सौदर व्यपदेशनिरूपितोभ्युपगन्तव्य: ।—लोचन, पृ०-१८ ।
२ इदमुत्तममतिशपिनि व्यंग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधै: कथित: ।—मम्मट । १।४ ।
३ अभिनवगुप्त: लोचन,—पृ०-५१ (१।१७ की वृत्ति) ।
४ कन्हैयालाल पोद्दार: रसमंजरी ।—३।३८ ।

बनता है। अतएव अभिनवगुप्त ने अर्थ और व्यंग्य का अलग-अलग प्रयोग किया है। अर्थ शब्द सामान्यत: प्रतीयमान व्यंग्यार्थ के लिए है और व्यंग्य शब्द व्यंग्योत्थापित व्यंग्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार कुल मिला कर चार या पाँच अर्थों में काव्यशास्त्र में ध्वनि, शब्द का प्रयोग किया गया है।

उद्भव और विकास

ध्वनिवाद के प्रवर्तक आनन्दवर्द्धन को व्याकरण-शास्त्र के स्फोटवाद ने अत्यधिक प्रभावित किया और वहीं से "ध्वनि"—शब्द उधार लेकर आपने काव्यालोचन किया। पर दोनों में मुख्य अन्तर यह है कि वैयाकरणों ने ध्वनि को व्यंजक माना है और स्फोट को व्यंग्य, पर ध्वनिवादियों ने ध्वनि को व्यंजक और व्यंग्य दोनों अथवा मुख्यत: व्यंग्य ही माना। इस प्रकार ध्वनिवाद का उद्भव व्याकरण-शास्त्र से हुआ। स्फोटवाद के आदि मनीषी स्फोटायन ही थे जिनका उल्लेख पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में किया है।[1] इसके बाद तो फिर पाणिनि, व्याड़ि, पतंजलि, भर्तृहरि, नागेश आदि एक से एक उद्भट एवं दुर्धर्ष विद्वानों ने इस स्फोटवाद पर अपने अपने विचार अभिव्यक्त किए। इसी स्फोटवाद में काव्यशास्त्र के ध्वनिवाद का बीज निहित है।

दूसरी दृष्टि से देखें तो ध्वनिवाद कोई नवीन काव्य-सिद्धान्त नहीं है बल्कि रसवाद का ही विकसित रूप है। रसवादियों ने रस को सदा वाच्यार्थ से विलक्षण (फलत: व्यंग्य) ही स्वीकार किया था। अतएव ध्वनि सिद्धान्त के उद्भव और विकास की कहानी वही है जो रस-सिद्धान्त के उद्भव और विकास का इतिहास है। कहने का तात्पर्य यह है कि रस-सिद्धान्त के प्रथम आचार्य भरत से लेकर अन्तिम आचार्य जगन्नाथ तक के इतिहास को ही ध्वनि-सिद्धान्त का इतिहास मानना चाहिए।

साधारण: सर्वसम्मत एक तीसरा दृष्टिकोण भी इस सम्बन्ध में प्रस्तुत किया जा सकता है। ध्वनिवाद रसवाद की अपेक्षा अधिक व्यापक है। रस-सिद्धान्त के अनुयायियों ने केवल रस को ही वाच्य-विलक्षण या व्यंग्य माना था—पर ध्वनि-सिद्धान्त के प्रवर्तक आनन्दवर्द्धन ने सर्वप्रथम वस्तु, अलंकार और रस (भाव, रसाभास आदि भी)इन तीनों को ध्वनि या व्यंग्य माना। इतना ही नहीं, रसवादियों ने केवल रस को ही काव्य की आत्मा माना था पर आनन्दवर्द्धन ने वस्तु, अलंकार और रस इन तीनों को समाविष्ट करने वाली ध्वनि को काव्य की आत्मा स्वीकार किया। यह ठीक है कि इन तीन प्रकार की ध्वनियों में रस-ध्वनि को ही आनन्दवर्द्धन ने सर्वाधिक महत्व प्रदान किया पर वस्तु और अलंकार को भी रस-पर्यवसायी होने के कारण साधारण वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट ही ठहराया

---

१ अवङ् स्फोटायनस्य। अष्टाध्यी /६/१/१२३।

है ।[1] रसवादियों की दृष्टि में रसमय काव्य ही एकमात्र काव्यभेद है पर ध्वनिवादी ध्वनिकाव्य, गुणीभूतव्यंग्य काव्य तथा चित्रकाव्य ये तीन भेद मानते हैं। इनमें प्रथम काव्य भेद उत्तम है पर अवशिष्ट अन्य दोनों की सत्ता भी स्वीकार्य है। इस प्रकार ध्वनिवाद रसवाद की अपेक्षा अधिक विस्तीर्ण भूमि पर खड़ा है। और इस दृष्टि से देखने पर रस-सिद्धान्त से ध्वनि-सिद्धान्त पृथक् हो जाता है। नवाविष्कृत इस ध्वनि-सिद्धान्त के प्रवर्तक ध्वन्यालोक के प्रणेता आनन्दवर्द्धन थे जिन्होंने सभी काव्य-सम्प्रदायों के साथ समुचित सम्बन्ध दर्शाते हुए ध्वनि-सिद्धान्त की युक्तियुक्त स्थापना की। अभिनवगुप्त, मम्मट, जगन्नाथ प्रभृति इनके अनुयायी हुए। बीच में ध्वनि सिद्धान्त का विरोध भी खूब हुआ। प्रतीहारेन्दुराज, भट्टनायक, कुन्तक और महिमभट्ट प्रभृति काव्यालोचकों ने आनन्दवर्द्धन के ध्वनिसिद्धान्त का घोर विरोध किया। अतएव ध्वनिवाद का इतिहास वस्तुतः आनन्दवर्द्धन से लेकर जगन्नाथ तक का इतिहास है। और इस कालावधि में यदि इस सिद्धान्त का मण्डन हुआ तो खण्डन भी कम नहीं। यही ध्वनिवाद के खण्डन-मण्डन का साहित्य ध्वनि-सम्प्रदाय के विकास पर प्रकाश डालता है।

आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना। ध्वन्यर्थ या प्रतीयमान अर्थ को वाच्यार्थ से सर्वथा विलक्षण माना। महाकवियों की वाणी (कविता) में वाच्यार्थ-विलक्षण प्रतीयमान अर्थ की स्थिति उसी तरह होती है जैसे अंगनाओं के शरीर में विभिन्न अंगों के सौन्दर्य से अतिरिक्त एवं विलक्षण लावण्य (कान्ति) की स्थिति।[2] वाच्य की अपेक्षा अधिक चमत्कार होने पर ही इसे "ध्वनि" कहा जाता है। अन्यथा व्यंग्य को गौण मान कर उसे गुणीभूत व्यंग्य की प्रधानता या गौणता का निर्धारण किया जाता है।[3] ध्वनि सम्प्रदाय में प्रतीयमान अर्थ को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है, इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं समझना चाहिए कि ध्वनिवादियों ने वाच्यार्थ की सर्वथा उपेक्षा कर दी है। सच्ची बात तो यह है कि वाच्यार्थ से ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। अतएव ध्वनिवादियों की दृष्टि में, कवियों को व्यंग्यार्थ के लिए वाच्यार्थ का आदर उसी प्रकार करना चाहिए जैसे आलोक (प्रकाश) की इच्छा रखने वाला दीपशिखा के लिए प्रयत्नशील होता है अथवा उसका आदर

१ तेन रस एव वस्तुतः आत्मा। वस्त्वलंकारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यात् उत्कृष्टौ तौ, इत्यभिप्रायेण ध्वनिः काव्यस्यात्मा इति सामान्येन उक्तम्। —अभिनवगुप्तः लोचन, पृष्ठ—२७।

२ प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत् प्रसिद्धावयवतिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु। —ध्वन्यालोक /१/४।

३ चारुत्वोत्कर्ष निबधनाहि वाच्य-व्यंग्ययोः प्राधान्यविवक्षा।
—ध्वन्यालोक /१/१३। (वृत्ति) पृष्ठ ३७।

करता है।[1] पर यह वाच्यार्थ काव्य का ऊपरी या स्थूल अर्थ है। इसका सार अर्थ तो प्रतीयमान ही है, जिसे केवल काव्य-मर्मज्ञ सदस्य ही समझ सकते हैं। प्रत्येक कला में चाहे वह संगीत हो या चित्र, उसकी आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म होती है जिसे उस विषय के पारखी ही पकड़ पाते हैं। वीणा की स्वर-झंकार में प्रत्येक तार के स्पन्दित होने पर उसकी ध्वनि के बाद जो मधुर मनोहर प्रतिध्वनि जैसी गूंज सुनाई देती है, वस्तुतः वही उसकी आत्मा है। इसी प्रकार रंग-तूलिका के सहारे निर्मित चित्र में, उन स्थूल आकृतियों के अन्तराल से जो दीनता, करुणा, दया, भय आदि भाव झाँकते रहते हैं, वे ही उसके प्राण हैं। आनन्दवर्द्धन ने काव्य के इसी मूल तत्त्व को ढूँढ़ निकाला और उस काव्यात्मा को ही ध्वनि कहा है।[2]

आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि को तीन भागों में बांट दिया है—रसध्वनि, अलंकार ध्वनि और वस्तुध्वनि के अन्तर्गत रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावसन्धि, भावोदय, भावशवलता आदि रस के अवान्तर भेद में समाविष्ट हैं। इन्हें वस्तुतः असंलक्ष्य-क्रमव्यंग्य ध्वनि कहा गया है। वाच्य और व्यंग्य (रस) में क्रम रहने के बावजूद भी शीघ्रता के कारण वह संलक्षित नहीं हो पाता है, अतएव सारे रस-प्रपंच को असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि मान लिया गया है। जब कविता का प्रतीयमान अर्थ इतिवृत्तात्मक होता है अर्थात् न उसमें कोई विशेष रस अथवा अलंकार रहता है, तो वह ध्वनि वस्तुध्वनि कहलाती है। जब प्रतीयमान अर्थ किसी अलंकार के रूप में अभिव्यक्त होता हो तो उसे अलंकार-ध्वनि मानना चाहिए। इस प्रकार सारी ध्वनियां तीन वर्गों में विभक्त हैं। इन तीन प्रकार की ध्वनियों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रस-ध्वनि ही है। अन्य दोनों ध्वनियां भी रस में ही पर्यवसित होती हैं। अतएव ध्वनि का भी सार रस ही है।

ध्वन्यालोक में काव्य के तीन भेद बताए गए हैं—(१) ध्वनिकाव्य (२) गुणीभूतव्यंग्य काव्य (३) चित्रकाव्य। ध्वनिकाव्य वह है जहाँ वाच्यार्थ से ध्वन्यर्थ की प्रतीति होती है और वह व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारी और सुन्दर होता है।[3] गुणीभूतव्यंग्य में प्रतीयमान अर्थ तो विद्यमान रहता है पर वह व्यंग्य या तो वाच्यार्थ के समान ही चमत्कारी होता है अथवा उससे भी कम।[4] अतएव व्यंग्य की अप्रधानता (गौणता) हो जाने के कारण उस काव्य को

---

१ आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः।
तदुपाय तथा तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः। —ध्वन्यालोक /१/९

२ सारभूतो हि अर्थः स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रकाशितः सुतरामेव शोभामावहति। प्रसिद्धि श्चेयमस्त्येव विदग्धविद्वत्परिषत्सु यदभिमततरवस्तु व्यंगयत्वेन प्रकाश्यते न साक्षात् शब्वाच्यत्वेनेव। —ध्वन्यालोक, पृष्ठ–२१

३ वही, २।४।

४ वही, ३।३५।

गुणीभूतव्यंग्य कहा जाता है। चित्रकाव्य में व्यंग्यार्थ का अस्तित्व बिलकुल ही नहीं रहता है, केवल शब्दालंकार और अर्थालङ्कार ही उस काव्य के सौन्दर्य का वर्द्धन करते हैं।[1] इन काव्य प्रभेदों में ध्वनिकाव्य उत्तम है, गुणीभूतव्यंग्य मध्यम और चित्रकाव्य अधम हैं। अतएव सच्चे कवि को ध्वनिकाव्य लिखने का प्रयत्न करना चाहिए। चित्रकाव्य की रचना अभ्यास के लिए भले ही की जा सकती है, पर उसे ही यथार्थ कवि-कर्म नहीं समझना चाहिए।[2]

आनन्दवर्द्धन के अनन्तर अभिनवगुप्त ने ध्वनि-सिद्धान्त को अत्यन्त सुस्थिर कर दिया। आनन्दवर्द्धन के ध्वनि-सिद्धान्त का भट्टनायक, कुन्तक, महिमभट्ट प्रभृति विद्वानों ने घोर विरोध किया था। पर अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक पर 'लोचन' टीका लिख कर उनके प्रबल तर्कों का दृढ़तर खण्डन किया। इन्होंने व्यंजना के द्वारा रस की अभिव्यक्ति पर अत्यन्त जोर डाला तथा भट्टनायक के भोजकत्व का विरोध किया। इन्होंने न कुन्तक की तरह ध्वनि को शब्दार्थ वक्रता माना और न महिम-भट्ट की तरह उसे अनुमान-प्रमाण-गम्य (अनुमेय) ही स्वीकार किया। अतएव यदि ध्वनिसिद्धान्त के प्रवर्तन का श्रेय आनन्दवर्द्धन को है तो उसे सुस्थिर करने का श्रेय अभिनवगुप्त को ही है। आप ध्वनिवादी होते हुए भी तत्वतः रसवादी ही थे।

मम्मट ने भी ध्वनिवाद का ही समर्थन किया। इन्होंने भी ध्वनि-विरोधी सारे विचारों का खण्डन किया है और आनन्दवर्द्धन की तरह ध्वन्यर्थ के आधार पर उत्तम, मध्यम और अधम नामक तीन काव्य-प्रभेद माने। इनके युग में आकर ध्व-नियों की संख्या में पर्याप्त विकास हुआ। ध्वनियों की संख्या अब तक बढ़ कर १०, ४, ५५ तक पहुंच गई। विश्वनाथ ने ध्वनि की सत्ता तो स्वीकार की, पर काव्य की आत्मा रस को ही माना। 'वाक्य रसात्मकम् काव्यम्'—का स्पष्ट उद्घोष आपने किया। फलतः आपको विशुद्ध ध्वनिवादी नहीं माना जा सकता है।

विश्वनाथ के अनन्तर जगन्नाथ का आविर्भाव हुआ। इन्होंने विश्वनाथ की 'रसात्मकता' का निरसन किया और पुनः आनन्दवर्द्धन की ध्वन्यात्मकता पर साधि-कार प्रकाश डाला। आनन्दवर्द्धन से आपका मतभेद केवल काव्य-प्रभेदों को लेकर पाया जाता है। जहाँ आनन्दवर्द्धन ने केवल तीन काव्य-भेद माने थे, वहीं आपने उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम और अधम नामक चार काव्य-भेद स्वीकार किए। गुणी-भूतव्यंग्य को भी आपने उत्तम काव्य माना और आनन्दवर्द्धन के उत्तम काव्य को उत्तमोत्तम कहा। अर्थालङ्कार-युक्त काव्य को मध्यम और केवल शब्दालङ्कार-युक्त काव्य को अधम प्रतिपादित किया। इस प्रकार जगन्नाथ के युग में आकर ध्वनिवाद

---

१ ध्वन्यालोक ३।४२-४३।

२ प्राथमिकानां अभ्यासार्थिनां यदि परं चित्रेन व्यवहारः प्राप्त परिणतीनां तु ध्वनिरेव प्राधान्येन काव्यमिति स्थितमेतत्। —लोचन पृ० २७।

की नींव इतनी मजबूत हो गई कि उसके बाद इसे हिलाने का दुःसाहस किसी ने नहीं किया।

ध्वनि-विरोधी आचार्य

आनन्दवर्द्धन और मम्मट के बीच अनेक ध्वनि विरोधी आचार्य हुए। इनमें से अधिकांश तो लगभग अभिनवगुप्त के समकालीन ही थे। ध्वनि-विरोधी आचार्यों में सर्वाधिक उल्लेखनीय आचार्य हैं—प्रतीहारेन्दुराज, भट्टनायक, कुन्तक और महिमभट्ट। प्रतीहारेन्दुराज अलङ्कारवादी थे। इन्होंने कोई स्वतन्त्र सिद्धान्त ग्रन्थ नहीं लिखा था, पर उद्भट के अलङ्कार-सार-संग्रह पर 'लघुवृत्ति' नामक एक प्रसिद्ध टीका लिखी थी। इन्होंने आनन्दवर्द्धन प्रतिपादित समस्त ध्वनिप्रपंच को अलङ्कारों में समाविष्ट कर दिया। रसध्वनि, वस्तुध्वनि और अलङ्कार-ध्वनि इन सभी प्रकार की ध्वनियों को आपने अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति आदि अलंकारों में अंतर्भुक्त किया। भट्टनायक ने अपने 'हृदय-दर्पण' नामक ग्रन्थ में आनन्दवर्द्धन की व्यंजना नामक शब्द-शक्ति का खण्डन किया। आप थे तो रसवादी, पर व्यंजना के द्वारा रस को प्रतीयमान मानने में आपको विप्रतिपत्ति थी। अतः आपने रस की निष्पत्ति के लिए अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व नामक तीन व्यापारों की कल्पना की है। अभिधा के द्वारा वाच्यार्थ बोध के अनन्तर भावकत्व व्यापार के द्वारा भावों का साधारणीकरण (वैयक्तिकता का नाश) होता है और अन्ततोगत्वा भोजकत्व के द्वारा काव्य का पाठक या रूपक का प्रेक्षक आनन्द (रस) का उपभोग करता है। इस प्रकार भट्टनायक ने रस की अभिव्यक्ति नहीं मान कर मुक्ति मानी और व्यंजना के स्थान में भावकत्व और भोजकत्व नामक व्यापारों की उद्भावना की। कुन्तक ने काव्य की आत्मा ध्वनि नहीं मानी प्रत्युत उसके बदले वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा स्वीकार किया। आपने ध्वनि की सत्ता का स्पष्ट विरोध तो नहीं किया, पर ध्वनि को वक्रोक्ति में ही अन्तर्भुक्त माना। महिमभट्ट ने आनन्दवर्द्धन-प्रतिष्ठापित ध्वनि की सशक्त आलोचना की और ध्वनि को आपने अनुमेद सिद्ध किया। 'व्यक्ति-विवेक' नामक ग्रन्थ लिखने का उद्देश्य आरम्भ में ही आपने यह बताया कि ध्वनि को अनुमेद सिद्ध करने के लिए ही इसकी रचना की गई है।[1] इस प्रकार इन सभी आचार्यों ने किसी न किसी प्रकार ध्वनि-सिद्धान्त का विरोध किया। पर अभिनव गुप्त एवं मम्मट ने सबों का युक्तिपूर्वक खण्डन करते हुए पुनः आनन्दवर्द्धन-प्रवर्तित ध्वनि-सिद्धान्त को सुदृढ़ किया।

अन्य-सम्प्रदायों से सम्बन्ध

ध्वनि-सिद्धान्त रस-सिद्धान्त का ही रूपान्तर है, इसका विवेचन पहले भी किया जा चुका है। ध्वनि के तीन भेदों में रस-ध्वनि सबसे मुख्य मानी गई है।

---

१ अनुमानान्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा-परां वाचम्॥ —व्यक्तिविवेक। १।१।

अतएव ध्वनि-सम्प्रदाय के अनुसार यदि ध्वनि काव्य की आत्मा है तो रस ध्वनि की भी आत्मा है। फलतः दोनों में कोई विरोध नहीं है, बल्कि यह कहा जा सकता है कि ध्वनिसिद्धान्त ने रस-सिद्धान्त को थोड़ी अधिक व्यापकता और विस्तीर्णता प्रदान की। गुणों और अलंकारों के सम्बन्ध में भी ध्वनिवादी आनन्दवर्द्धन ने अपनी स्पष्ट मान्यता प्रस्तुत की है। गुणों को रस का नित्य धर्म माना है। अतएव रसध्वनि के साथ किसी न किसी गुण का अस्तित्व अनिवार्य है। ठीक उसी तरह जैसे आत्मा के साथ शौर्य, वीर्य आदि धर्म नित्यरूप से विद्यमान रहते हैं। अलङ्कार रस या ध्वनि के अनिवार्य धर्म नहीं हैं। उनका सम्बन्ध शब्द या अर्थ के साथ रहता है। शब्दार्थ-रूप काव्य शरीर के आश्रित होने के कारण रस-रूप काव्यात्मा के साथ उनका अप्रत्यक्ष सम्बन्ध है। पर ध्वनि को यदि व्यापक अर्थ में लें तो कभी अलंकार के द्वारा वस्तु या अलंकार का ध्वनन भी होता है। इसके अतिरिक्त अलंकारों के आश्रय-भूत शब्द और अर्थ व्यंजक तथा व्यंग्य भी होते हैं। फलतः अलङ्कारों के साथ ध्वनि-सिद्धान्त का प्रत्यक्ष सम्बन्ध भी माना जा सकता है। केवल रस-ध्वनि को यदि काव्यात्मा मानें तो गुणों का उससे नित्य सम्बन्ध और अलंकारों का अनित्य एवं अप्रत्यक्ष सम्बन्ध है।[1]

आनन्दवर्द्धन ने रीति को संघटना कहा है। सङ्घटना के उन्होंने तीन प्रकार बताए हैं—असमासा, मध्यमसमासा और दीर्घसमासा। इनके स्वरूप भी वस्तुतः वे ही हैं जो क्रमशः वैदर्भी, पाञ्चाली और गौडी रीतियों के हैं। प्रत्येक संघटना पृथक्-पृथक् रस के लिए निश्चित है। ये संघटनाएँ रस की संवाहिका हैं। अतएव रीति-सिद्धान्त (संघटना) के साथ भी ध्वनिसिद्धान्त का घनिष्ट सम्बन्ध है। औचित्य का महत्व तो ध्वनिवादी भी मानते हैं। रस हो, ध्वनि हो या कोई अन्य काव्य-तत्व, प्रत्येक के लिए औचित्य की अनिवार्य अपेक्षा है। अतएव औचित्य कोई स्वतन्त्र काव्य तत्त्व न रहते हुए भी ध्वनि-सिद्धान्त के साथ अपना निकट सम्बन्ध रखता है।

(५) औचित्य-सम्प्रदाय

औचित्य शब्द का अर्थ

औचित्य शब्द का उद्भव "उचित" शब्द से हुआ है—'उचितस्य भावः औचित्यम्"। जो वस्तु जिसके अनुरूप (सदृश) होती है, उसे उचित कहते हैं। क्षेमेन्द्र ने उचित शब्द की व्युत्पत्ति और अर्थ इसी प्रकार बताये हैं।[2] वस्तुतः

---

१ तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अंगाश्रितास्त्वलंकाराः मन्तव्याः कटकादिवत्॥ —ध्वन्यालोक। २।७।

२ उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्यं च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥
—औचित्यविचार-चर्चा। ७ वीं कारिका।

लोक-जीवन में भी प्रत्येक वस्तु का औचित्यानौचित्य-विवेक अत्यन्त महत्त्व रखता है। जिस वस्तु से जो काम होना चाहिए, उससे वही काम लेना उचित है। इसमें महान्-लघु का, ऊँच-नीच का, मूल्यवान् और अल्प-मूल्य का ध्यान नहीं रखना चाहिए। कपड़ा सीने का काम यदि एक लघु, तुच्छ और अल्पमूल्य-लभ्य सुई से सम्पन्न किया जा सकता है तो इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए उसी का उपयोग करना उचित है। इसके बदले बड़े-बड़े बलवानों की हत्या में समर्थ, महान, वजनदार और बहुमूल्य कृपाण का उपयोग करना अनुचित एवं उपहासास्पद है। हिन्दी के रहीम कवि ने ठीक ही कहा था—"जहाँ काम आवे सुई, काह करे तलवार"। प्रत्येक वस्तु अपनी जगह पर दुरुस्त है। अपनी सीमा के भीतर ही उसकी शोभा है। सीमा का उल्लंघन सबके लिए अनुचित है। भारतीय वैद्यक शास्त्र में गोदुग्ध और घृत की बड़ी महिमा गाई गई है। यहां तक कि उसे "अमृत" कहा गया है। घृत को इतना पुष्टिकारक एवं स्वास्थ्यवर्द्धक माना गया कि प्राचीन भारत के मनीषी उसे "आयुर्घृतम्" ही कह बैठे—अर्थात घी ही आयु है। इस लाक्षणिक प्रयोग से भी उसका महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। पर दूध और घी का यदि आवश्यकता से अधिक सेवन कोई मनुष्य करे तो उसे बदहजमी का शिकार होना पड़ेगा और लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक होगी। तात्पर्य यह कि उसकी अपेक्षित मात्रा से अधिक सेवन अनुचित है।

इसी प्रकार काव्य में भी उसके तत्त्वों की सीमाएं हैं। रस, ध्वनि, अलंकार, रीति, गुण आदि काव्यतत्त्व सीमा का अतिक्रमण करने पर काव्य की शोभा बढ़ाने की बजाय उसे दोषभाजन ही बना देते हैं। वयोनुकूल किसी नायक और नायिका के प्रेम-वर्णन से शृंगार-रस की निष्पत्ति सहृदय पाठकों को होती है। पर किसी षोड्शवर्षीया सुन्दरी को अस्सी बरस के बूढ़े के गले का हार बनाकर यदि कोई कवि शृंगार-रस पूर्ण काव्य रचना चाहे तो महान् अनुचित होगा। शास्त्रीय भाषा में वहां रस-दोष माना जायगा। गुरुजन के साथ किसी शिष्य की भद्दी हास्य-योजना में विशुद्ध हास्य रस का आस्वाद नहीं होगा। प्रत्येक रस में उचित-अनुचित, प्रयोग-अभिव्यक्ति आदि का ध्यान रखना पड़ता है। अन्यथा दश प्रकार के रस-दोषों[१] की सम्भावना हो जाती है। उपमा-रूपक आदि अलंकार काव्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। काव्य-सौन्दर्य की वृद्धि में, कवियों की अभिव्यक्ति में चमत्कार लाने में तथा पाठकों या श्रोताओं के मनोरंजन में ये अलंकार अत्यन्त सफल हैं। पर सादृश्य के अभाव में अथवा आंशिक सादृश्य रहने पर भी जाति, प्रमाण आदि की अधिकता-न्यूनता का ध्यान नहीं रखने पर, वही उपमालंकार दोषभाक् माना जाता है। किसी साहसी वीर की तुलना चण्डाल से, भानु की तुलना वह्नि-स्फुलिंग से अथवा किसी युवती की नाभि और पयोधर की तुलना क्रमशः पाताल और पर्वत से[२]

---

१ काव्यप्रकाश ।७।६०-६२।

२ काव्यप्रकाश-दशम उल्लास, उदाहरण संख्या ५८४-५८७।

करने पर उपमा का अनुचित प्रयोग ही कहा जायगा। इसी प्रकार काव्य के अन्य सौन्दर्यधायक तत्वों में भी औचित्य देखा जा सकता है।

उद्भव और विकास

क्षेमेन्द्र ने "औचित्य-विचार-चर्चा" नामक सिद्धान्त ग्रन्थ में औचित्य का अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन किया है। इनका कहना है कि अलंकार और गुण काव्य में उतना महत्व नहीं रखते हैं। अलंकार काव्य के बाह्य धर्म मात्र हैं। गुण काव्य के अन्तरंग धर्म रहते हुए भी आत्मतत्व का स्थान नहीं ले सकते हैं। काव्य का मुख्य तत्व है रस जिसके कारण वह सहृदयों को आह्लादित करने की योग्यता प्राप्त करता है। पर इस सर्वाधिक-महत्वपूर्ण रस का भी जीवन औचित्य ही है।[1] आपने अपने ग्रंथ के आरम्भ में ही औचित्य की स्थापना करते हुए कहा है—काव्य में चमत्कार उत्पन्न करने वाले तथा रस के प्राणभूत औचित्य का विवेचन करने जा रहा हूं।[2] इससे स्पष्ट है कि क्षेमेन्द्र ने औचित्य को ही काव्य की आत्मा माना है, पर इसका अर्थ यह कदापि नहीं किया जा सकता कि आप रस का अनादर करते हैं। वस्तुतः रस काव्य का मुख्य चमत्कारी तत्व है पर उसका चमत्कार औचित्याश्रित होता है।

क्षेमेन्द्र से पूर्व भी भारतीय काव्यशास्त्र में "औचित्य" का उल्लेख किया गया है। भरत ने नाट्यशास्त्र में पात्रों के वेष के औचित्यानौचित्य पर अत्यन्त ध्यान रखा है। प्रत्येक प्रान्त के पुरुषों और स्त्रियों के वेष का आपने विधान किया है तथा उनके उचित उपयोग एवं प्रयोग से ही आहार्य-अभिनय की सफलता आपने प्रतिपादित की है। देश (प्रान्त) के प्रतिकूल वेषों के विधान से उसी प्रकार शोभा नहीं होती है, जैसे गले में मेखला (करधनी) और हाथ में नुपुर पहनने से कोई व्यक्ति उपहास का कारण बन जाता है।[3] परवर्ती काल में भरत के इसी औचित्य विवेक का विकास क्षेमेन्द्र ने किया। नाट्यशास्त्र में वर्णित जो वेषौचित्य है उसका प्रभाव स्पष्ट रूप से क्षेमेन्द्र के ऊपर पड़ा है।[4] इतना ही नहीं, आनन्दवर्द्धन एवं कुन्तक ने भी औचित्य की महिमा गाई है। आनन्दवर्द्धन ने सभी रस-दोषों का मूल कारण अनौचित्य को ही माना है तथा औचित्य के उपनिबन्धन को रस-सिद्धान्त

---

१ अलंकारास्त्वलंकाराः गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्। —औचित्यविचार चर्चा।१२

२ औचितस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना।
—औचित्य विचार चर्चा।३ (कारिका)

३ अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते। —नाट्यशास्त्र।२१।७१

४ बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्यशास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ—४५

की "परा उपनिषत्" कहा है।[1] बड़े विस्तार के साथ इन्होंने अलंकार, गुण, संघटना, रीति, रस आदि सभी तत्वों में औचित्य ढूँढ़ा है और उसके अभाव को दोष स्वीकार किया है। इसी प्रकार कुन्तक ने भी रीतियों के आधार पर किए गए सुकुमार, विचित्र और मध्यम नामक तीन काव्यभेदों में सामान्य रूप से औचित्य का अस्तित्व स्वीकार किया है।[2] फलतः भरत, आनन्दवर्द्धन एवं कुन्तक ने जिस औचित्य का बीज अपने ग्रन्थों में प्रस्तुत किया था, उसी को पल्लवित करते हुए क्षेमेन्द्र ने औचित्य-विचार-चर्चा नामक ग्रन्थ में इसे एक काव्य-सिद्धान्त का रूप प्रदान किया। आपने काव्य के प्रत्येक अंग और उपांग पर औचित्य का प्रभाव माना है। २७ प्रकार के औचित्य का विवेचन इनके ग्रन्थ में हैं। पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश, कुल, व्रत, तत्व, सत्व, अभिप्राय, स्वभाव, सार-संग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम और आशीर्वाद—ये २७ प्रकार के औचित्य इस ग्रन्थ में वर्णित किए गए हैं और इन्हें काव्य का जीवित कहा गया है।

औचित्य की साम्प्रदायिकता

यह ठीक है कि काव्य में औचित्य का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। काव्य या कला ही क्यों, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में औचित्य का साम्राज्य है। कौन ऐसा व्यक्ति है जो उचित और अनुचित के विचार को गर्हित कहेगा। सच पूछिए तो मानवों के इतिहास के साक्ष्य पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जिसने भी कभी कुछ उचित ढंग से किया उसकी प्रशंसा हुई और जिसने उसे अनुचित ढंग से किया उसकी निन्दा या अवहेलना हुई। औचित्य के आधार पर ही वस्तुतः सभ्यता का विकास हुआ है। कला और काव्य के मर्मज्ञ भी औचित्य की खोज में रह कर ही उन्हें विकसित, समृद्ध एवं सुधर बनाते रहे हैं।

पर विचारणीय बात यह है कि औचित्य को एक काव्यतत्त्व मानकर औचित्य सम्प्रदाय की स्थिति में विश्वास रखा जाय या नहीं? भारतीय काव्य-शास्त्र के विभिन्न इतिहासकारों ने क्षेमेन्द्र की मान्यता का उल्लेख भर किया है। किसी ने इसे एक विशेष काव्य-सम्प्रदाय स्वीकार नहीं किया। प्रो० बलदेव उपाध्याय ने, संभवतः पहली बार, औचित्य-सम्प्रदाय का उल्लेख एवं उसका विशद-विवेचन किया है।[3] आपकी इस मान्यता का आधार कुप्पुस्वामी शास्त्री-प्रणीत "हाइवेज एन्ड बाइवेज आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म इन् संस्कृत" नामक ग्रन्थ है। शास्त्री जी ने एक

१ अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धुस्तु रसस्योपनिषत् परा॥ —ध्वन्यालोक, पृष्ठ—१४७५।

२ हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स, पृष्ठ—२५३ (अवतरणिका)

३ भारतीयकाव्य-शास्त्र, खंड १, पृ० २५-१३२।

ग्राफ के द्वारा भारतीय-काव्य-सम्प्रदायों के पारस्परिक सम्बन्ध एवं आपेक्षिक महत्व को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। प्रो० उपाध्याय ने उनसे शत प्रतिशत सहमत होकर औचित्य को काव्य में मूर्धन्य तत्त्व स्वीकार किया और उसकी परम्परा का निरूपण करते हुए औचित्य की सोदाहरण व्याख्या एवं मीमांसा भी की है। औचित्य के उद्भव, और विकास को निरूपित करते हुए आपने भरत, माघ (कवि), भामह, दण्डी, यशोवर्मा (नाटककार), भट्टलोल्लट, रुद्रट, आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्त, भोज-राज, कुन्तक, महिमभट्ट और क्षेमेन्द्र (अन्तिम आचार्य) प्रभृति आचार्यों की औचित्य-सम्बन्धी मान्यताओं पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला है। इनमें से अधिकांश आचार्यों की चर्चा तो अपनी विषय-वस्तु को विस्तार प्रदान करने के लिये तथा इसे भारी-भरकम बनाने के लिए ही प्रायः किया गया है। भरत, आनन्दवर्द्धन, भोजराज, कुन्तक और क्षेमेन्द्र के अतिरिक्त प्रायशः सभी अन्य आचार्यों के ग्रन्थों में औचित्य की दूरारूढ़ कल्पना की गई है[1]। इन आचार्यों ने दोष-परिहार अथवा परिस्थिति विशेष में दोषों के नहीं होने का जो उल्लेख किया है उसका कारण प्रो० उपाध्याय ने औचित्य को ही माना है। बात अंशतः बैठ भी जाती है। पर स्वयं उन आचार्यों ने औचित्य का शब्दतः उल्लेख भी नहीं किया है। और यदि "औचित्य" का प्रयोग हुआ भी है तो आनन्दवर्द्धन और क्षेमेन्द्र प्रतिपादित "काव्यजीवित" औचित्य के अर्थ में नहीं। अतएव जबर्दस्ती खींच-तान कर किसी आचार्य को औचित्यवादी सिद्ध करना "वदतो व्याघात"—दोष का भागी होना है। औचित्य की चर्चा में अनौचित्य का समावेश असंगत-सा लगता है।

औचित्य-वाद को एक काव्य-सम्प्रदाय की मान्यता देने के पूर्व हमें निम्न प्रश्नों पर विचार कर लेना चाहिए:—

(१) औचित्य एक काव्य-तत्त्व है या नहीं ?

(२) यदि यह एक काव्य-तत्त्व है तो संस्कृत के आचार्यों ने इसे उस रूप में ग्रहण किया है या नहीं ?

(३) संस्कृत के आचार्यों ने काव्य के सम्बन्ध में जिस किसी भी विषय का वर्णन या निरूपण परम्परागत रूप में किया है, उसके आधार पर सम्प्रदाय-विशेष की कल्पना करनी चाहिए या नहीं?

सर्वप्रथम औचित्य कोई ऐसा काव्योपादान या काव्य तत्त्व नहीं है, जैसा रीति, अलंकार, रस, ध्वनि आदि। क्योंकि काव्य के दो पक्ष हैं—आभ्यन्तर और बाह्य। कुछ काव्य तत्त्व आभ्यन्तर पक्ष से सम्बन्ध रखते हैं और कुछ बाह्य से। आधुनिक भाषा में इन्हें ही भावपक्ष और कलापक्ष कहते हैं। रस और ध्वनि काव्य के भाव-

---

१ भारतीयकाव्य-शास्त्र, खंड १, पृ० ४६-५०।

पक्ष या अनुभूतिपक्ष से सम्बन्ध रखते हैं तथा रीति, अलंकार और गुण उसके कलापक्ष या अभिव्यक्तिपक्ष से प्रत्यक्षतः सम्बद्ध हैं। यों अभिव्यक्ति और अनुभूति में भी पारस्परिक निर्भरता रहने के कारण कलापक्षीय काव्य तत्त्व (रीति, अलंकार, गुण) भी परोक्ष रूप में भाव पक्ष से सम्बद्ध हैं। ऐसा सभी काव्यशास्त्रियों ने स्वयं स्वीकार भी किया है। प्रत्येक सम्प्रदाय का अन्य सम्प्रदायों से सम्बन्ध दिखाने के क्रम में इस पर यथासंभव मैंने प्रकाश डालने की चेष्टा की है। औचित्य स्वयं कोई काव्यतत्व नहीं है। क्योंकि काव्य-पुरुष का शरीर शब्दार्थ स्वरूप है। अन्य सभी तत्व शब्दाश्रित हैं या अर्थाश्रित अथवा उभयाश्रित। यहाँ तक कि रस और ध्वनि भी शब्दों और अर्थों के अन्तराल से ही अभिव्यक्त हो पाते हैं। फिर, इन सभी काव्य तत्वों का स्वरूप भी आरम्भिक काल से ही निर्धारित होता आया है। यह बात अलग है कि सभी आचार्यों में रीति, गुण, अलंकार, रस, ध्वनि आदि काव्य-तत्वों के स्वरूप को लेकर मतभेद रहा है। पर इनके लक्षण या स्वरूप सभी ने अपने-अपने ढंग से प्रतिपादित किए हैं। जहाँ तक औचित्य का प्रश्न है, किसी आचार्य ने इसे काव्यजीवित या काव्यांग मानकर स्वरूप-निर्धारण नहीं किया है। एक मात्र क्षेमेन्द्र ही ऐसे हैं जिन्होंने औचित्य-विचार-चर्चा में पहली बार इसके स्वरूप पर प्रकाश डाला—

"उचितं प्राहुराचार्याः, सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावः, तदौचित्यं प्रचक्षते" ।। औ॰ वि॰ च॰/७ वीं कारिका।

इस लक्षण में क्षेमेन्द्र ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की ओर भी संकेत किया है। पर इससे उन आचार्यों की मान्यता स्पष्ट नहीं होती है। इतना तो निश्चित है कि जो वस्तु जिसके योग्य है, उसकी उसी के साथ योजना करना उचित है। इस सिद्धान्त का अपलाप कोई नहीं कर सकता है। अलंकार, रीति, गुण अथवा रस-ध्वनि जिसका जैसा स्वरूप है तदनुसार ही काव्य में उसे प्रस्तुत करना चाहिए। तभी वह शोभा-धायक हो भी सकता है। अन्यथा, ये अलंकार और गुण भी उसी तरह उपहासास्पद होंगे जैसे गले में करधनी, नितम्ब पर हार, पांव में केयूर और हाथ में नूपुर धारण करने पर कोई सुन्दरी उपहासास्पद बनती है[1]। अतएव काव्य के प्रत्येक तत्व में औचित्यानौचित्य का ध्यान रखना चाहिए। पर इस आधार पर औचित्य स्वयं कोई काव्यतत्व नहीं प्रमाणित होता है। यदि औचित्य को हम एक काव्योपकरण मान लें तो फिर काव्यगतभाषा की सुस्पष्टता, सरलता और शुद्धता आदि को क्यों नहीं काव्यतत्व स्वीकार कर लें। ये काव्यगत विशेषताओं में भले ही गिने जायं, पर इन्हें काव्य तत्व नहीं स्वीकार किया जा सकता है।

थोड़ी देर के लिए क्षेमेन्द्र के कथनानुसार औचित्य को काव्यजीवित मान भी लें तो इसकी परम्परा कहां ढूंढ़ी जायगी? काव्यजीवित के अर्थ में किसी ने

१ भारतीय साहित्य शास्त्र, पृ०—३२।

औचित्य की चर्चा नहीं की है। औचित्य शब्द के स्पष्ट अथवा अस्पष्ट उल्लेख मात्र के आधार पर यदि औचित्य-सम्प्रदाय की कल्पना की जाय तो फिर शब्द-शक्ति-सम्प्रदाय आदि भी मानने पड़ेंगे। क्योंकि इनकी भी चर्चा तो काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक काल से ही चली आ रही है।

अतएव मेरी दृष्टि में, औचित्य को काव्य के प्रत्येक सौन्दर्याधायक उपकरण का निर्दोषिता-सूचक धर्म के रूप में भले ही स्वीकार किया जाय, पर इसे काव्य का कोई महान् चमत्कारी उपकरण मानना बहुत बड़ी भूल होगी। जब इसे हम कोई काव्योपकरण या काव्य–तत्त्व ही नहीं मानें तो फिर इसे लेकर किसी काव्य-सम्प्रदाय की कल्पना तो और अनुचित प्रतीत होती है। क्षेमेन्द्र के औचित्यवाद को एक काव्य-सिद्धान्त भले ही कहा जा सकता है, काव्य-सम्प्रदाय नहीं।

अन्य सम्प्रदायों से सम्बन्ध

क्षेमेन्द्र रस-ध्वनिवादी अभिनवगुप्त के प्रधान शिष्य थे। अतएव गुरु-परम्परा से प्राप्त काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों में आपकी दृढ़ आस्था थी। यही कारण है कि आपने रस को काव्य की आत्मा माना और उस रस की जीवित औचित्य को कहा[1]। इस दृष्टि से देखने पर क्षेमेन्द्र विशुद्ध रसवादी प्रतीत होते हैं। आपने अपने ग्रन्थ में रसौचित्य नामक एक स्वतंत्र औचित्य-भेद ही रखा है। फलतः रस और औचित्य का घनिष्ट सम्बन्ध है। औचित्य के अभाव में ही रसों में अनेक दोष आ जाते हैं। अभिनवगुप्त ने भी औचित्य को रसाश्रित माना है[2]। उनका तो यहाँ तक कहना है कि रस की सत्ता में ही औचित्य का अस्तित्व है। ध्वनि के आधार पर क्षेमेन्द्र ने औचित्य का कोई पृथक् भेद तो नहीं बताया है, पर यत्र-तत्र ध्वनिगत औचित्य पर प्रकाश डाला है। श्रीहर्ष ने विरहिणी दमयन्ती की विरहदशा का वर्णन करते हुए कहा था—"कृशांगयाः सन्तापं वदित विसनीयत्र-शयनम्" (नैषधीय चरित)। यहाँ पर किए गए "कृशांगी" शब्द के प्रयोग में क्षेमेन्द्र ने औचित्य का समावेश स्वीकार किया है[3]। "कृशांगी"—शब्द विरहजन्य तनुता एवं खेद का व्यंजक है। अतएव इस ध्वन्यात्मक प्रयोग के औचित्य की ओर क्षेमेन्द्र ने निर्देश किया है। ध्वनिवादी आनन्दवर्द्धन ने भी ध्वनि के सर्वश्रेष्ठ प्रभेद रस का औचित्य के

---

१ औचित्य विचार चर्चा, कारिका—३।

२ उचितशब्देन रसविषयौचित्यं भवनीति दर्शयन् रसध्वनेः जीवित्वं सूचयति। तदभावे हि किमपेक्षया इदमौचित्यं नाम सर्वत्र उद्घोष्यते इति भावः॥
—लोचन, पृ० १३।

३ विरहावस्थासूचकं "कृशांगयाः इति पदं परमौचित्यं पुष्णाति।
—औ० वि० च०, पृ० ११८।

साथ घनिष्ट सम्बन्ध माना है। इन्होंने औचित्य को ध्वनि-मुख्य रस की "परा उपनिषद्" ही कहा है। अतएव ध्वनि और औचित्य में भी रस-औचित्य की तरह निकट सम्बन्ध मानना पड़ेगा। इसी प्रकार गुणों, अलंकारों, और रीतियों में भी औचित्य के सन्निवेश पर आनन्दवर्द्धन तथा क्षेमेन्द्र ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। क्षेमेन्द्र ने औचित्य के जो २७ प्रभेद किए हैं, उनमें गुणौचित्य और अलंकारौचित्य भी दो भेद हैं। रस के अनुकूल गुण-योजना को क्षेमेन्द्र ने उचित माना है। विप्रलम्भ-शृंगार के वर्णन में यदि माधुर्य गुण का समावेश किया जाय तो परमोत्तम है। प्रसाद भी सह्य है। पर इनके विपरीत वीर-रसोचित ओज गुण का समावेश यदि विप्रलम्भ शृंगार में कर दिया जाय तो वहाँ औचित्य का त्याग कहा जायगा। इसी प्रकार काव्य-सर्वस्व रस को पुष्ट बनाने वाले अलंकारों का प्रयोग तो उचित है, पर काव्य के ऊपर, रस-तत्त्व को गौण बनाकर अलंकारों को लादना नितान्त अनुचित है। प्रस्तुत अर्थ (रस) के अनुरूप अलंकारों का विन्यास ही अलंकारौचित्य है[1]। आनन्दवर्द्धन का संघटनौचित्य रीति और औचित्य के पारस्परिक सम्बन्ध पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। निष्कर्ष यह कि औचित्य-सिद्धान्त का किसी भी काव्य-सम्प्रदाय से विरोध नहीं है। सच्ची बात तो यह है कि उन्हीं काव्य-सम्प्रदायों द्वारा प्रतिपादित काव्य-सिद्धान्तों में औचित्य के सन्निवेश के लिए ही क्षेमेन्द्र ने औचित्य-वाद की स्थापना की है। अतएव किसी भी काव्य-सम्प्रदाय से औचित्यवाद का विरोध संभव नहीं है।

(६) रस-सम्प्रदाय

रस शब्द का अर्थ

रस शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जाती है। (१) 'रस्यते आस्वाद्यते इति रसः' अर्थात जिसका आस्वाद किया जाय, वह रस है। (२) 'सरते इति रसः' अर्थात जो प्रवाहित हो, वही रस है। वर्ण-विपर्यय के द्वारा सरः से रस बन जाता है। इन दोनों व्युत्पत्तियों के आधार पर रस की दो विशेषताएँ स्पष्ट हो जाती हैं— आस्वादनीयता और द्रवत्व। इन्हीं दोनों गुणों के कारण संस्कृत वाङ्मय की विभिन्न शाखाओं में भिन्न-भिन्न अर्थों में इस शब्द का प्रयोग किया गया है।

वैशेषिक दर्शन में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि गुण के २४ भेद किए गए हैं। इन्हीं भेदों में रस-नामक एक भेद भी है। यहाँ 'रस'–शब्द रसना (जिह्वा) के द्वारा आस्वादनीय मधुर, अम्ल, तिक्त, कषाय, कटु और लवण के अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। आयुर्वेद में पारद के अर्थ में इसका प्रयोग किया गया है। आयुर्वेद में एक

---

१ अर्थौचित्यवता सूक्तिरलंकारेण शोभते।
पीनस्तन, स्थितेनेव हारेण हरिणेक्षणा।। —औचित्य विचार चर्चा। १५

दूसरा अर्थ भी रस शब्द का है। प्रत्येक मुक्त पदार्थ से उदर में पाचन-क्रिया के द्वारा एक प्रकार का रस (द्रव) निकलता है। यह पहले हृदय में और बाद में शरीरस्थ समस्त स्नायुयों में फैल कर 'शरीर' को परिपुष्ट करता है। 'रस'—शब्द का सर्व-सामान्य भाषा में तीसरा अर्थ भी है। सर्वसाधारण शिक्षित एवं अशिक्षित लोग सामान्यतः ऊख का रस, आम का रस या संतरे का रस कहते हैं। कभी-कभी पुष्प-मकरन्द के लिए भी पुष्प-रस शब्द का प्रयोग किया जाता है। द्रवत्व गुण के कारण ही इन्हें 'रस' शब्द से अभिहित किया जाता है। ऋग्वेद में सोमरस को रस कहा गया है।[1]

उपनिषदों में रस को ब्रह्म का पर्यायवाची माना गया है। वेदान्त दर्शन में मोक्ष-रस की कल्पना की गई है। वस्तुतः ब्रह्मानन्द ही वेदान्तियों का मोक्ष-रस है। पर साहित्य-शास्त्र में रस शब्द एक विशिष्ट एवं पारिभाषिक अर्थ का बोधक है। काव्याध्ययन एवं रूपक-दर्शन से उत्पन्न आनन्द को काव्यशास्त्र में रस कहा गया है। यद्यपि काव्य-गत रस भी 'रस्यते इति रसः'—इस व्युत्पत्ति के आधार पर आस्वाद-नीयता का ही अर्थ रखता है,[2] परन्तु पूर्वोक्त मधुर-लवण आदि आस्वादात्मक रस में तथा काव्यात्मक रस में महान् अंतर है। प्रथम आस्वाद ऐन्द्रिय अर्थात जिह्वा का विषय है और द्वितीय आस्वाद का सम्बन्ध आत्मा और उसकी अनुभूति से है। फलतः एक आस्वाद स्थूल है और द्वितीय अत्यन्त सूक्ष्म। पर वेदान्तियों के मोक्ष-रस में तथा काव्यशास्त्रियों के काव्य-रस में अत्यधिक सादृश्य है। यही कारण है कि काव्य-रस को 'ब्रह्मास्वाद-सहोदर' भी कहा जाता है।[3]

रस के स्वरूप और निष्पत्ति पर सर्वप्रथम भरत ने सूत्रात्मक शैली में कहा कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।[4] इस सूत्र की व्याख्या अनेक आचार्यों ने भिन्न-भिन्न ढंग से की। पर अभिनवगुप्त के अभि-व्यक्तिवादी सिद्धान्त ने संस्कृत के रस-सिद्धान्त को स्थिरता प्रदान की। इनके अनु-सार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी (व्यंजक) के द्वारा अभिव्यक्त (व्यंजित) स्थायिभाव ही रस है। काव्यशास्त्र में रस का यही पारिभाषिक अर्थ है।

---

१ दधानः कलशे रसम्। ऋग्वेद ९।६।१३।

२ (क) रसनाद्रसत्वमेषां मधुरादीनामिवोक्ताचार्यैः। रुद्रट। काव्यालंकार। १२।४।
(ख) विभावानुभावसात्विक व्यभिचारि भावैरूपनीयमानः परिपूर्णः स्थायिभावो रस्यमानो रसः। —रसतरंगीणी। ४।

३ द्र० विश्वनाथः साहित्यदर्पण। तृतीय परिच्छेद। २-३ (कारिका)।

४ विभावानुभाव व्यभिचारिसंयोगात् रस-निष्पत्तिः।
—नाट्यशास्त्र। अध्याय ६, पृ० ९३

उद्भव और विकास

भरत-प्रणीत नाट्यशास्त्र के आधार पर ज्ञात होता है कि रसों का आदि स्रोत 'अथर्ववेद' है। रूपकों की उत्पत्तिचर्चा के क्रम में भरत मुनि ने बताया है कि ब्रह्मा ने देवताओं के मनोरंजन के लिए 'नाट्यवेद' नामक पाँचवाँ वेद निर्मित किया। यह पाँचवाँ भेद ऋकु, यजु, साम और अथर्व नामक चारों वेदों से लिए गए तत्वों का सम्मिश्रण मात्र है। ऋग्वेद से कथनोपकथन, यजुर्वेद से अभिनय, सामवेद से गीत तथा अथर्वन् वेद से रस का संकलन कर नाट्यवेद का प्रणयन हुआ।[1] इस प्रसंग का 'रसानाथर्वणादपि' ध्यान देने योग्य है। 'रसान्' के बहुवचन प्रयोग द्वारा रस की अनेकता का भी सूचन हो रहा है। स्पष्ट है कि अथर्ववेद में भी अनेक रसों का अस्तित्व था। तथापि बात रह जाती है रस-विवेचना की, जिसकी ओर भरत ने ही सर्वप्रथम प्रयास किया है। भरत-पूर्ववर्ती कुछ ऐसे रस विवेचकों की चर्चा भी हम आगे करेंगे जिनके ग्रन्थ अभी तक अनुपलब्ध हैं।

उपनिषदों में भी रस का उल्लेख मिलता है। तैत्तरीय उपनिषद में रस को ब्रह्म का पर्याय माना गया है। उसी ब्रह्म-स्वरूप रस का साक्षात्कार होने पर योगियों को आनन्द की उपलब्धि होती है।[2] वस्तुतः रसास्वाद की अवस्था में सहृदय काव्य के पाठक या रूपकों के प्रेक्षक उसी प्रकार आनन्द मग्न होते हैं जैसे निर्विकल्पक समाधि की स्थिति में ब्रह्म साक्षात्कार-परायण योगीजन। छान्दोग्य उपनिषद्, कठोपनिषद् और सर्वोपनिषत् में भी रस शब्द का उल्लेख है। छान्दोग्य ब्रह्मपर्याय रस से वेदों की सृष्टि बताता है।[3] कठ और सर्व में रसनास्वाद के अर्थ में रस शब्द का प्रयोग हुआ है। फलतः औपनिषदिक विवेचन के अनुसार रसों की "ब्रह्मास्वाद-सहोदरता" प्रमाणित होती है।

उपनिषदों के अनन्तर पौराणिक काल का आगमन होता है। अग्निपुराण में अन्य विषयों की चर्चा के साथ साहित्य-शास्त्र का भी थोड़ा बहुत विवरण मिलता है। भगवान व्यास ने अग्निपुराण में रस को काव्य का जीवन ही माना है। वाणी के वैदग्ध्य की महत्ता को आप अस्वीकार नहीं करते हैं।[4] अग्निपुराणकार ने रस की

---

१ जग्राह पाठ्यमृग्वेदात सामभ्यो गीतमेव च
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ।। भरत-नाट्यशास्त्र् । १।१७ ।

२ रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वा ऽऽनन्दी भवति । आनन्दादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रथमन्त्यर्सेविशन्ति ।
तैत्तरीय उपनिषत्, ११।७।१ ।

३ छान्दोग्यउपनिषत् ४।१७ ।

४ वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात् जीवितम् । अग्नि-पुराण ३३७।३३ ।

महत्ता तो स्वीकार की है परन्तु श्रृंगार को विशेष महत्व प्रदान किया। नीरस वाणी को आप काव्य ही नहीं मानते हैं[1]।

लेकिन ध्यान देने योग्य विषय यह है कि अग्नि-पुराण जैसे धर्म-ग्रन्थ में काव्य-सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए भी परवर्ती आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में कहीं इसकी चर्चा तक नहीं की है। एक मात्र विश्वनाथ ने अपने साहित्य-दर्पण में अग्नि-पुराण के उद्धरण जहाँ तहाँ दिए हैं। इस सिलसिले में हमें विष्णु-पुराण को भी नहीं भूलना चाहिए। आचार्य मम्मट ने अपने काव्य-प्रकाश में विष्णु पुराण के कुछ-एक अंश दिए हैं। फलतः यह प्रमाणित होता है कि विष्णु-पुराण में भी अग्नि-पुराण की भांति काव्य-शास्त्र सम्बन्धी बातें हैं किन्तु रस का उल्लेख उसमें नहीं है।

जहाँ तक रस के सैद्धान्तिक विवेचन का सम्बन्ध है, सबसे पहले नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरत मुनि का नाम अत्यादर के साथ लिया जायगा। भरत को रस-सम्प्रदाय का प्रधान प्रवर्तक माना जाता है। यद्यपि इनके नाट्यशास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय दृश्यकाव्य या रूपक है, परन्तु रूपकों की मुख्य सम्पत्ति इन्होंने रस ही मानी है। इनके अनुसार रस-रहित नाटक निरर्थक हैं[2]। रूपकों का प्रधान उद्देश्य प्रेक्षकों के हृदय-निष्ठ इत्यादि भावों को उद्रिक्त कर रसास्वाद कराना ही है। इन्होंने रस-सम्प्रदाय को ही नाट्य स्वीकार किया है। जैसे अनेक प्रकार के व्यंजनों से युक्त भोजन का आस्वाद भोक्तागण करते हैं उसी प्रकार भाव एवं अभिनय से युक्त स्थायीभाव का आस्वाद नाटकों द्वारा दर्शक-गण करते हैं[3]। इस प्रसंग के "नाट्य-रसाः स्मृताः" की व्याख्या करने वाले अभिनवगुप्त का कथन है "नाट्यात् समुदायरुपात् रसाः। यदि वा नाट्यमेव रसः" अर्थात् रस-समुदाय ही नाट्य है। तात्पर्य यह कि रस से पृथक् नाट्य का अस्तित्व असंभव है।

नाट्यशास्त्र-प्रणेता भरत मुनि सैद्धान्तिक विवेचना की दृष्टि से आदि आचार्य कहे गए हैं। परन्तु इनके पूर्व भी रस-सिद्धान्त के प्रतिपादन करने वाले अनेक आचार्य थे जिनका उल्लेख स्वयं भरत ने ही अपने नाट्यशास्त्र में तथा अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों में भी अन्य लेखकों द्वारा किया गया है। भरत के "अत्रानुवंश्यौ श्लोकौ भवतः" से स्पष्ट है कि भरत मुनि के पूर्व भी रस-सिद्धान्त का स्थापन हो चुका था। परन्तु खेद का विषय है कि उन आचार्यों तथा उनकी कृतियों के नाम

---

१ लक्ष्मीरिव विना त्यागान्न वाणी भाति नीरसा
श्रृंगारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्
सचेत् कविर्वीतरागो नीरसं व्यक्तमेव तत्॥—अग्निपुराण। ९, ११। पृ०-३३९।

२ तत्र रसानेव तावदभिधास्यामः। न हि रसादृते कश्चिदप्यर्थ प्रवर्तते।
—नाट्यशास्त्र, अध्याय ६ (३२ कारिका के बाद)।

३ नाट्यशास्त्र, अध्याय, ६/ ३३-३४।

अज्ञात हैं। राजशेखर ने अपनी "काव्यमीमांसा" नामक प्रसिद्ध पुस्तक में बताया है कि अलंकार-शास्त्र का ज्ञान पहले पहल शिव से ब्रह्मा को प्राप्त हुआ और तदन्तर दूसरों को। समस्त अलंकार-शास्त्र को अठारह अधिकरणों में बांटा गया और प्रत्येक अधिकरण के अध्यापन का भार पृथक्-पृथक् कृत-विद्य विद्वन्मूर्धन्य के ऊपर पड़ा[1]। इस तालिका के अनुसार भरत रूपकों के निरूपण-कार्य में लगे और रस-निरूपण का कार्य नन्दिकेश्वर ने अपने हाथ में लिया। परन्तु रूपक-निरूपण के प्रसंग में भरत ने भी वाचिक अभिनय में रस का विवेचन किया। फलत:, विद्वानों का मत है, रसों की दो परम्पराएं हो गईं। प्रथम भरत की रस-परम्परा और दूसरी नन्दिकेश्वर की। नन्दिकेश्वर की कोई भी कृति अद्यावधि उपलब्ध नहीं हुई है। इसलिए नन्दि-केश्वर वाली रस परम्परा विलुप्त हो गई और भरत की परम्परा आज तक उज्जीवित है। डा० भगीरथ मिश्र इन दोनों आचार्यों की दो नाट्य परिपाटियां भी मानते हैं[2]।

शारदातनय विरचित "भाव-प्रकाशन" नामक ग्रन्थ में वासुकि, नारद तथा व्यास की एक तीसरी रस-परम्परा का भी उल्लेख मिलता है[3]। इस परम्परा के आदि-प्रवर्त्तक आचार्य वासुकि हैं। ब्रह्मा द्वारा प्रवर्तित भरत की रस-परम्परा से भिन्न विशेषता इसकी इतनी ही भर है कि जहाँ भरत ने आठ ही रस माने हैं वहाँ वासुकि ने नौ रस माने हैं। भरत ने शान्त को नाट्य-रस नहीं माना परन्तु वासुकि ने इसे भी रसों के अन्तर्गत परिगणित किया है। संभवत: इस परम्परा का सम्बन्ध भवत्यात्मक कीर्तनपद्धति से था। इनके अतिरिक्त भी कुछ अज्ञात-कृति प्राचीन आचार्यों के नामों का उल्लेख तत्र-तत्र मिलता है। पता नहीं, उन्होंने रस-सिद्धान्त पर अपने विचार अभिव्यक्त किए थे या नहीं। सातवीं सदी के आचार्य दण्डी रचित "काव्यादर्श" ग्रन्थ की हृदयंगमा और श्रुतानुपालिनी नामक टीकाओं में कश्यप, वररुचि, नन्दिस्वामी और ब्रह्मदत्त प्रभृत्ति काव्यशास्त्रियों के नाम पाए जाते हैं। नन्दिस्वामी तो सम्भवत: उपर्युक्त नन्दिकेश्वर हो सकते हैं परन्तु ये अन्य आलंकारिक कौन थे तथा इनकी रचनाएं कौन थीं—ये सब अभी तक अज्ञात हैं। हो सकता है, इन्होंने भी रस-सिद्धान्त पर अपना विचार प्रकट किया हो। पाणिनि की अष्टाध्यायी

---

१ राजशेखर। काव्यमीमांसा, पृ० १।

२ भरत और नन्दिकेश्वर की दो नाट्य-परिपाटियां थीं। भरत नाट्यशास्त्र के पंडित थे और नन्दिकेश्वर नृत्य एवं भावाभिनय के। भरत-पद्धति का उद्भव ब्रह्मा के "नाट्यवेद" से हुआ था और नन्दिकेश्वर पद्धति का सम्बन्ध सदाशिव की रसाभिनय पद्धति से था।

—अवन्तिका (पटना) काव्यालोचनांक, जनवरी, १९५४ पृ०-५६।

३ शारदानतय, भावप्रकाशन।अधिकार २, पृ०-४७।

में कृशाश्व और शिलालिन् नामक दो नटसूत्रों का का नामोल्लेख पाया जाता है[1]। महर्षि पाणिनि का समय ख्रिष्ट पूर्व पंचम शतक माना जाता है। इससे स्पष्ट है कि ईसा के पांच सौ वर्ष पूर्व भी नाटकों का अभिनय तथा नाट्यशास्त्र भारत में विद्यमान था। अतएव रस-सिद्धान्त के विवेचन का ईसा पूर्व में होना निश्चित है।

अभी तक भरत, नन्दिकेश्वर प्रभृति आचार्यों ने दृश्य-काव्य में ही रस-सिद्धान्त की योजना की थी। केवल रूपकों में संभावित आठ या नव रसों की आलोचना प्रत्यालोचना होती रही। श्रव्य-काव्य का क्षेत्र रस-सिद्धान्त विवेचना की दृष्टि से अछूता था। ऐस लगता है कि आचार्यों ने श्रव्य-काव्य की शास्त्रीय समीक्षा की दृष्टि से उपेक्षा की हो। सबों का ध्यान मात्र नाटकों पर केन्द्रित था। परन्तु भले ही आचार्यों का ध्यान इस ओर आकृष्ट नहीं हुआ हो, हमारे प्राचीन बाल्मीकि एवं कालिदास जैसे रस-सिद्ध कवियों की दृष्टि इस दिशा में गई थी। बाल्मीकि ने "शोकार्त्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवति नान्यथा" कह कर करुणरस का ही संकेत किया है। रस सम्पृक्त काव्य के अस्तित्व एवं उसके व्यापक प्रभाव की सूचना इससे मिलती है। महाकवि कालिदास ने भी अपने रघुवंश नामक महाकाव्य में प्रातः स्मरणीय कवि बाल्मीकि के दृष्टिकोण का समर्थन किया है[2]। भरत के बाद आचार्य भामह, दण्डी, उद्भट, वामन आदि ने श्रव्य-काव्य की सैद्धान्तिक समीक्षा अपने-अपने ग्रन्थों में प्रस्तुत की। उन्होंने काव्य में रस नामक तत्त्व का उल्लेख भी किया है। परन्तु उनके हाथों रस को विशेष महत्व नहीं प्राप्त हुआ। उन्होंने रस को काव्य में एक गौण स्थान दिया परन्तु प्रधानता अलंकारों की मानी। भामह ने "रस" को भी अलंकारों के अन्तर्गत माना और उनका नाम "रसवत् अलंकार"[3] रक्खा। इन्हीं आचार्यों के सम्प्रदाय को अलंकार सम्प्रदाय के नाम से अभिहित किया जाता है। भावों से युक्त अलंकारों का नाम "प्रेय" अलंकार किया। किन्तु महाकाव्य में रस होना इन्होंने भी आवश्यक बतलाया है। महाकाव्य में रस की उपादेयता की ओर लक्ष्य करते हुए इन्होंने कहा कि—सभी रसों से युक्त महाकाव्य एक विशेष काव्य-कृति है[4]।

दण्डी ने भी अलंकारों को ही काव्य-शोभावर्द्धक धर्म माना है[5]। परन्तु इनका "अलंकार" शब्द व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस व्यापक अलंकार शब्द के अन्तर्गत रस, रीति, अलङ्कार आदि विभिन्न काव्य-तत्त्व सन्निविष्ट हैं। फलतः दण्डी के हाथों भी रस को प्राधान्य या महत्व नहीं प्राप्त हुआ।

---

१ पाणिनि, अष्टाध्यायी ।४।३।११०,१११ ।

२ निषादविद्धाऽण्डजदर्शनोत्थः श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः —रघुवंश, १४।७० ।

३ रसवत् दर्शित-स्पष्ट-शृंगारादिरसं तथा ।—भामह, काव्यालंकार, ३।६ ।

४ काव्यालंकार । १।२१ ।

५ काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते । —दण्डी, काव्यादर्श । २।१ ।

उद्भट ने भी भामह और दण्डी के अलंकारवाद का समर्थन किया। इनके अनुसार पूर्ववत् काव्य में अलंकार एक प्रधान धर्म और रस गौणधर्म माना गया। भामह की तरह इन्होंने भी रसवत् आदि अलंकार माने[1]। विशेषता इतनी भर थी कि जहाँ भामह ने रस-युक्त अलंकार तीन ही माने थे—रसवत्, प्रेयस् और ऊर्जास्विन, वहाँ इन्होंने रसालंकारों के चार भेद किए तथा भामहोक्त तीन रसालंकारों के अतिरिक्त "समाहित" नामक एक चतुर्थ रसालंकार की भी उद्भावना की।

उपर्युक्त तीन आलंकारिकों के बाद वामन ने काव्य-मीमांसा की। भामह, दण्डी और उद्भट से इनका मतभेद इतना ही पाया जाता है कि इन्होंने अलंकारों की अपेक्षा गुणों को काव्य में अधिक महत्व प्रदान किया। रीति को इन्होंने काव्य की आत्मा माना[2] तथा रस को गुणों के अवान्तर्गत रखा। रसयुक्त गुण को इन्होंने "कांति" नाम दिया[3] है। कहने का तात्पर्य यह कि वामन के समय तक महत्व की दृष्टि से रस गौण ही रहा। अभी तक अलंकारयुक्त या गुण-युक्त काव्य को ही सत्काव्यता की उपाधि मिली थी और रस अलंकारों या गुणों में रहने वाला धर्म मात्र ही स्वीकृत किया गया।

इसके बाद "काव्यालंकार" के रचयिता रुद्रट का काल आता है। सर्वप्रथम इन्होंने ही रसों को काव्य में मान्यता दी। इन्होंने रसों को रूपकों के संकीर्ण कठघरे से निकाल कर काव्य के उन्मुक्त प्रांगण में समाविष्ट होने का अवसर प्रदान किया। रुद्रट ने अलंकारों को शब्द और अर्थ को अलंकृत करने वाला माना। अन्य अलंकारवादियों की तरह इन्हें काव्य का अनिवार्य एवं अपरिहार्य परमतत्व नहीं स्वीकार किया। इन्होंने स्पष्ट रूप से उद्घोषित किया कि काव्य में रस का होना परमावश्यक है[4]। रस-हीन काव्य की काव्यता को स्वीकार करने के पक्ष में आप नहीं थे वरन् आपके अनुसार वैसे नीरस काव्य को उपादेय अर्थ से युक्त शास्त्रमात्र कहना चाहिए। रस-सिद्धान्त के विकास-क्रम में इनकी विशेष देन यह भी हुई कि आपने भरत-निर्दिष्ट आठ रसों को बढ़ा कर नौ कर दिए। साथ ही, आपने यह भी स्वीकार किया कि सभी रसों के जितने भी व्यभिचारी तथा सात्विक भाव हैं वे समुचित उद्भावक तत्वों को पाकर रस रूप में परिणत हो सकते हैं। इस तरह आचार्य रुद्रट के अनुसार रसों के अनेक प्रभेद किए जा सकते हैं। जो हो, किन्तु काव्य के क्षेत्र में रस को महत्व सर्वप्रथम इन्हीं के द्वारा प्राप्त हुआ। अब रस "नाट्य-रस" ही नहीं रहा, प्रत्युत वह "काव्य-रस" भी हो गया।

---

१ रसवत् दर्शितस्पष्ट श्रृंगारादि रसादयम्।
—उद्भट, काव्यालंकार-सार-संग्रह, ४।४४।

२ रीतिरात्मा काव्यस्य। —काव्यालंकारसूत्रवृत्ति। १।२।६।

३ दीप्तरसत्वं कांति।—वही-३।२।१५।

४ तस्मातत्कर्त्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्। —काव्यालंकार। १२।२।

क्रमशः रस-सिद्धान्त में विकास होता जा रहा था। भरत से रुद्रट तक आते-आते, इस सिद्धान्त का क्षेत्र कुछ अधिक व्यापक तथा दृढ़-मूल हो गया था। अब ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन का उदय हुआ। इन्होंने रस को ध्वनि के अन्तर्गत ही निरूपित किया। रस सदैव व्यंग्य होता है। यद्यपि रस को ध्वनि के अन्तर्गत डाल कर इन्होंने उसे अतिव्यापक बनने से वंचित रखा तथापि ध्वनि में रस-ध्वनि को इन्होंने सर्वोत्कृष्ट ठहराया। आनन्दवर्द्धन ध्वनि की काव्यात्मकता में विश्वास करने वाले ध्वनिसम्प्रदाय के प्रधान आचार्य एवं प्रवर्तक हैं परन्तु इन्होंने रस की काव्यात्मकता की ओर भी संकेत किया है[1]। फलतः ध्वनि-सिद्धान्त के भीतर रस-सिद्धान्त का भी निरूपण हो जाता है। सारांश यह कि व्यंग्यार्थमूलक ध्वनि-सिद्धान्त के भीतर रस को उत्कृष्ट तथा श्रेष्ठ स्थान अवश्य मिला, किन्तु पूर्ववर्ती या परवर्ती काल की तरह "रसात्मकम्" की व्यापकता नहीं प्राप्त हुई। रुद्रट की तरह आनन्दवर्द्धन ने भी रूपकों एवं काव्यों में समान रूप से रसों की आवश्यकता एवं उपयोगिता स्वीकार की।

ध्वनि-सम्प्रदाय के प्रवर्तित हो जाने के अनन्तर धनंजय, धनिक, प्रतिहारेन्दुराज, भट्टनायक आदि विद्वानों ने ध्वनि-सिद्धान्तों का बड़ी दृढ़ता के साथ खण्डन किया। ये भामह और उद्भट आदि अलंकारवादियों के विचारों के समर्थक थे। इन्होंने ध्वनि को अलंकारों के भीतर गतार्थ किया। इनका कहना था कि ध्वनि पर्यायोक्ति, श्लेष आदि अलंकारों से पृथक् कोई नूतन वस्तु नहीं। परन्तु भामह और उद्भट आदि अलंकारवादियों की अपेक्षा इन उपर्युक्त ध्वनि-सिद्धान्त-विरोधी आचार्यों की उदार-दृष्टिता इस अंश में हम मानते हैं कि इन्होंने रस को अलंकारों में सन्निविष्ट नहीं किया प्रत्युत रस को अलंकारों से पृथक् काव्य के आत्मतत्त्व के रूप में ही निरूपित किया। कहने का आशय यह कि इन लोगों ने आनन्दवर्द्धन के ध्वनि-सिद्धान्त का विरोध तो अवश्य किया; परन्तु काव्य में रस तत्त्व की चमत्कारिता तथा उपादेयता स्वीकार की। इन्होंने ध्वनि को काव्य की आत्मा नहीं माना परन्तु रस की काव्यात्मकता स्वीकार की। रसोद्बोध के लिए ध्वनिवादियों की तरह इन्होंने व्यंजना व्यापार की भी आवश्यकता स्वीकृत नहीं की, प्रत्युत तात्पर्यशक्ति के द्वारा रस-प्रतीति का समर्थन किया। धनंजय और धनिक प्रणीत "दशरूपक" और "दशरूपकावलोक" क्रमशः इन्हीं विचारों से भरे पड़े हैं। भट्टनायक ने रस-प्रतीति के लिए व्यंजना की जगह भोजकत्व व्यापार की उद्भावना की।

मैंने पहले ही चर्चा की है कि प्राचीन काव्यानुशीलन खण्डन और मण्डन का विशाल साहित्य है। अब उपर्युक्त ध्वनि-विरोधियों के समर्थ तथा युक्तियुक्त

---

१ काव्यस्यात्मा स एवार्थः तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥—आनन्दवर्द्धन, ध्वन्यालोक, १।५

खण्डन करने वाले अभिनवगुप्त आचार्य का आगमन होता है। इन्होंने फिर से ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना की और उसी के भीतर आनन्दवर्द्धन की भांति रस-सिद्धान्त का भी निरूपण कर दिया। इन्होंने रस को असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के अन्तर्गत रखा तथा इसके अतिरिक्त लक्षणामूला या अविवक्षित वाच्य ध्वनि तथा संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य ध्वनि की भी काव्यात्मकता स्वीकार की। इन्होंने रस-ध्वनि मात्र के समर्थक और वस्तुध्वनि के विरोधी भट्टनायक का उपहास किया है।[1] निष्कर्ष यह कि पुन: ध्वनि सिद्धान्त के अन्तर्गत रस-सिद्धान्त का अनुमोदन हुआ। अभिनवगुप्त की स्थापना के बाद एक बार पुन. ध्वनि-विरोध का आन्दोलन "वक्रोक्तिजीवितंकार" कुन्तक तथा "व्यक्तिविवेकंकार नैयायिक महिमभट्ट के नेतृत्व में चल पड़ा। एक ने रस के साथ ध्वनि को "वक्रोक्ति"[2] में गतार्थ किया और दूसरे ने "अनुमिति" में।[3]

ध्वनि-सिद्धान्त के खण्डन-मण्डन के लम्बे अर्से के बाद "सरस्वती कण्ठाभरण" तथा "श्रृंगार-प्रकाश" जैसे अमूल्य काव्य-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। भोजराज उन दोनों ग्रन्थों के प्रणेता थे। इन्होंने ध्वनि-विरोधी तथा ध्वनि-समर्थक अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की भांति ध्वनि, वक्रोक्ति आदि सिद्धान्तों के समर्थन एवं विरोध में अपनी शक्ति का अपव्यय नहीं किया। इन्होंने इस विवाद से तटस्थ हो कर वक्रोक्ति, रसोक्ति और स्वभावोक्ति नामक काव्य-त्रितय की कल्पना की। परन्तु इन तीनों में "रसोक्ति" को आपने सर्व प्रधान माना।[4] फलत: इनकी दृष्टि में रस को काव्य में अत्यधिक महत्त्व प्राप्त हुआ। इन्होंने काव्य को रसवत् कहा है परन्तु भामह और दण्डी के ',रसवत् अलंकार" वाले अर्थ में नहीं, प्रत्युत इनके अनुसार इसका अर्थ है रसयुक्त होना।[5]

भोजराज ने रस का मनोवैज्ञानिक तथा दार्शनिक विश्लेषण भी प्रस्तुत किया। इन्होंने अहंकार, रस और श्रृंगार को पर्यायवाची माना :—

---

१ किं च वस्तुध्ववनिं दूषयता रसध्वनिस्तदनुग्राहक: समर्थात इति सुष्ठुतरां ध्वनिध्वंसोऽयम्। अभिनवगुप्त, ध्वन्यालोक—लोचन (का० मा० संस्करण, २५) १/४ की व्याख्या, पृष्ठ—२०

२ कुन्तक-समर्थक जयरथ। अलंकारसर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ ८।

३ अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्येव ध्वने: प्रकाशयितुम्,
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमापरां वाचम्।
—महिमभट्, व्यक्तिविवेक।१।१।

४ वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम्,
सर्वासु ग्राहिणीं तासु रसोक्तिं प्रतिजानते।
—भोजराज, सरस्वतीकण्ठाभरण।५।८

५ रसवतो रामादेर्वच: तद्रसमूलत्वात् रसवत्।
[illegible] [illegible] प्रवर्द्धते तद्रसवंत। —श्रृंगार प्रकाश, २, पृष्ठ १७०

रसोऽभिमानोऽहंकारः शृंगार इति गीयते
योऽर्थं तस्यान्वयात् काव्यं कमनीयत्वमश्नुते । [1]

इनके अनुसार रसोत्पत्ति की जड़ अहंकार है और इसकी तीन अवस्थायें हैं। तृतीय अवस्था में यह अहंकार ही रस रूप में परिणत हो जाता है। रसों में भी शृंगार मौलिक रस है तथा उसी से अन्य रस उत्पन्न होते हैं। इस दार्शनिक रहस्य का सूत्र भरत के नाट्यशास्त्र में भी मिलता है।[2]

भोजराज के अनन्तर मम्मट के रस-सिद्धान्त निरूपण का काल आता है। इन्होंने भी ध्वनि-सम्प्रदाय के प्रवर्तक आनन्दवर्द्धन का ही अनुसरण किया है। जहां तक रस-सिद्धान्त निरूपण का सम्बन्ध है, इन्होंने कोई मौलिकता नहीं दिखाई। दोष-रहित, गुण-सहित, अलंकार-सहित वा रहित शब्दार्थ को इन्होंने काव्य माना है।[3] "अर्थ" शब्द वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य (ध्वनि) इन तीनों का बोधक है। काव्य के उत्तम, मध्यम और अधम नाम से तीन भेद किए हैं परन्तु इन तीनों में ध्वन्यर्थयुक्त काव्य को ही इन्होंने अधिक चमत्कारी होने के कारण उत्तमता प्रदान की।[4] गुणीभूतव्यंग्य और चित्रकाव्य का अस्तित्व इन्होंने भी ध्वनिकार की तरह अस्वीकार नहीं किया। ध्वनि के असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य नामक भेद के भीतर ही रस, भाव, रसाभास, भावाभास आदि का अन्तर्भाव किया। फलतः इनकी दृष्टि में भी रस ध्वनि से अपृथक् कोई वस्तु नहीं और इससे युक्त काव्य उत्तम है। परन्तु एकमात्र रस-ध्वनि का अस्तित्व ही उत्तमता की कसौटी नहीं प्रत्युत इसी तरह वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि से युक्त काव्य को भी उत्तम मानना चाहिए। पुनः काव्य-प्रकाश के आठवें उल्लास में गुणों और अलंकारों के पार्थक्य एवं महत्त्व-विमर्श के प्रसंग में इन्होंने "रस" को काव्य में अंगी माना है।[5] इस तरह एक ओर व्यंगार्थ-युक्त (रस जिसका एक प्रभेद मात्र है) काव्य को उत्तम मानना तथा दूसरी ओर रसमात्र को काव्य का अंगी या आत्मा मानना—विरोधात्मक सा तो लगता है किन्तु इतना निश्चित है कि इनकी दृष्टि में रस काव्य का अति महत्त्वपूर्ण, उपादेय एवं प्राणभूत तत्व है।

---

१ सरस्वतीकण्ठाभरण ।५।१

२ प्रायेण सर्वभावानां कामान्निष्पत्तिरिष्यते,
न चेच्छागुणसम्पन्नो वहुधा काम इष्यते । —नाट्यशास्त्र ।२२।८९ ।

३ तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि ।
—मम्मट, काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास । ४ कारिका (पूर्वार्द्ध)

४ इदमुत्तममतिशायिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः ।
—मम्मट, काव्यप्रकाश । १।४ (उत्तरार्द्ध)

५ काव्यप्रकाश, ८।६६

काव्यप्रकाश में ध्वनि तथा रस का विश्लेषण-विवेचन समीचीन रूप से हो जाने के बाद की दो ही प्रसिद्ध कृतियां साहित्यशास्त्र में देखी जाती हैं। उनमें एक है विश्वनाथ की 'साहित्य दर्पण'' और दूसरी है पण्डितराज जगन्नाथ की ''रस-गंगाधर''। विश्वनाथ ने काव्य में रस को सर्वाधिक मान्यता प्रदान की। रसात्मक वाक्य के अतिरिक्त स्थल में उन्होंने काव्यत्व ही नहीं माना। रस की ध्वनि आत्मा भी माना है परन्तु रस रहित वस्तुध्वनि या अलंकार-ध्वनि में भी काव्यत्व उनको मान्य नहीं है।

''वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'' की व्याख्या में आपने काव्य में रस की अनिवार्य आवश्यकता प्रमाणित कर दी। इस सम्बन्ध में मम्मट की तरह आपका विचार सन्दिग्ध तथा उलझा हुआ नहीं है। आप स्पष्ट रूप से एकमात्र रस की काव्यात्मकता में विश्वास रखते हैं। एक और विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि विश्वनाथ ने चमत्कार या चित्तविद्रुति को रस का सार माना है और इसी के आधार पर अद्भुत रस को प्रमुख तथा अन्य रसों को अद्भुत के अंग माना है। यह इनका वैयक्तिक विचार ही नहीं था प्रत्युत कौटुम्बिक था। इस प्रसंग में इन्होंने अपने वृद्ध प्रपितामह श्रीमन्नारायण के विचारों को उद्धृत किया है जिसमें स्पष्ट रूप से अदभुत को मुख्य और अन्य रसों को गौण माना गया है।[1] भवभूति ने इसी प्रकार करुण को मुख्य रस तथा अन्य अवशिष्ट रसों को गौण माना था—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्,
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्,
आवर्त्तबुद्बुदतरंगमयान् विकारान्,
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्।[2]

''जैसे जल परिस्थितवश भ्रमि, बुद्बुद ऊर्मि आदि विभिन्न रूपों को प्राप्त करता है परन्तु वे उस जल से अपृथक उसके विकार मात्र हैं, उसी तरह काव्य या नाटक में एक मात्र प्रमुख रस करुण ही है और वह निमित्त भेद से शृंगार, वीर हास्य आदि अनेक रूपों को प्राप्त कर लेता है।''

विश्वनाथ के इस उग्र रस सिद्धान्त का विरोध अठारहवीं शताब्दी में पण्डित-राज जगन्नाथ ने किया और फिर से ध्वनिकार की ही स्थापना को सर्वमान्य घोषित किया। विश्वनाथ के 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' को संकीर्ण कह कर उन्होंने काव्य को 'रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' माना, और इस प्रकार भाव के अतिरिक्त

---

१ रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते
तच्चमत्कार सारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः।
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्॥ साहित्यदर्पण ३।३ (वृत्ति)

२ उत्तररामचरित ३।४७

रसोऽभिमानोऽहंकारः शृंगार इति गीयते
योऽर्थं तस्यान्वयात् काव्यं कमनीयत्वमश्नुते। [1]

इनके अनुसार रसोत्पत्ति की जड़ अहंकार है और इसकी तीन अवस्थायें हैं। तृतीय अवस्था में यह अहंकार ही रस रूप में परिणत हो जाता है। रसों में भी शृंगार मौलिक रस है तथा उसी से अन्य रस उत्पन्न होते हैं। इस दार्शनिक रहस्य का सूत्र भरत के नाट्यशास्त्र में भी मिलता है।[2]

भोजराज के अनन्तर मम्मट के रस-सिद्धान्त निरूपण का काल आता है। इन्होंने भी ध्वनि-सम्प्रदाय के प्रवर्तक आनन्दवर्द्धन का ही अनुसरण किया है। जहां तक रस-सिद्धान्त निरूपण का सम्बन्ध है, इन्होंने कोई मौलिकता नहीं दिखाई। दोष-रहित, गुण-सहित, अलंकार-सहित वा रहित शब्दार्थ को इन्होंने काव्य माना है।[3] "अर्थ" शब्द वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य (ध्वनि) इन तीनों का बोधक है। काव्य के उत्तम, मध्यम और अधम नाम से तीन भेद किए हैं परन्तु इन तीनों में ध्वन्यर्थयुक्त काव्य को ही इन्होंने अधिक चमत्कारी होने के कारण उत्तमता प्रदान की।[4] गुणीभूतव्यंग्य और चित्रकाव्य का अस्तित्व इन्होंने भी ध्वनिकार की तरह अस्वीकार नहीं किया। ध्वनि के असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य नामक भेद के भीतर ही रस, भाव, रसाभास, भावाभास आदि का अन्तर्भाव किया। फलतः इनकी दृष्टि में भी रस ध्वनि से अपृथक् कोई वस्तु नहीं और इससे युक्त काव्य उत्तम है। परन्तु एकमात्र रस-ध्वनि का अस्तित्व ही उत्तमता की कसौटी नहीं प्रत्युत इसी तरह वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि से युक्त काव्य को भी उत्तम मानना चाहिए। पुनः काव्य-प्रकाश के आठवें उल्लास में गुणों और अलंकारों के पार्थक्य एवं महत्त्व-विमर्श के प्रसंग में इन्होंने "रस" को काव्य में अंगी माना है।[5] इस तरह एक ओर व्यंगार्थ-युक्त (रस जिसका एक प्रभेद मात्र है) काव्य को उत्तम मानना तथा दूसरी ओर रसमात्र को काव्य का अंगी या आत्मा मानना—विरोधात्मक सा तो लगता है किन्तु इतना निश्चित है कि इनकी दृष्टि में रस काव्य का अति महत्त्वपूर्ण, उपादेय एवं प्राणभूत तत्व है।

---

१ सरस्वतीकण्ठाभरण।५।१

२ प्रायेण सर्वभावावनां कामान्निष्पत्तिरिष्यते,
न चेच्छागुणसम्पन्नो वहुधा काम इष्यते। —नाट्यशास्त्र।२२।८९।

३ तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।
—मम्मट, काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास। ४ कारिका (पूर्वार्द्ध)

४ इदमुत्तममत्तिशापिनि व्यंग्ये वाच्यात् ध्वनिर्बुधे कथितः।
—मम्मट, काव्यप्रकाश। १।४ (उत्तरार्द्ध)

५ काव्यप्रकाश, ८।६६

काव्यप्रकाश में ध्वनि तथा रस का विश्लेषण-विवेचन समीचीन रूप से हो जाने के बाद की दो ही प्रसिद्ध कृतियां साहित्यशास्त्र में देखी जाती हैं। उनमें एक है विश्वनाथ की 'साहित्य दर्पण" और दूसरी है पण्डितराज जगन्नाथ की "रस-गंगाधर"। विश्वनाथ ने काव्य में रस को सर्वाधिक मान्यता प्रदान की। रसात्मक वाक्य के अतिरिक्त स्थल में उन्होंने काव्यत्व ही नहीं माना। रस को ध्वनि आपने भी माना है परन्तु रस रहित वस्तुध्वनि या अलंकार-ध्वनि में भी काव्यत्व आपको मान्य नहीं है।

"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" की व्याख्या में आपने काव्य में रस की अनिवार्य आवश्यकता प्रमाणित कर दी। इस सम्बन्ध में मम्मट की तरह आपका विचार सन्दिग्ध तथा उलझा हुआ नहीं है। आप स्पष्ट रूप से एकमात्र रस की काव्यात्मकता में विश्वास रखते हैं। एक और विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि विश्वनाथ ने चमत्कार या चित्तविद्रुति को रस का सार माना है और इसी के आधार पर अद्भुत रस को प्रमुख तथा अन्य रसों को अद्भुत के अंग माना है। यह इनका वैयक्तिक विचार ही नहीं था प्रत्युत कौलिक था। इस प्रसंग में इन्होंने अपने वृद्ध प्रपितामह श्रीमन्नारायण के विचारों को उद्धृत किया है जिसमें स्पष्ट रूप से अदभुत को मुख्य और अन्य रसों को गौण माना गया है।[1] भवभूति ने इसी प्रकार करुण को मुख्य रस तथा अन्य अवशिष्ट रसों को गौण माना था—

एको रसः करुण एवं निमित्तभेदात्,
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान्,
आवर्त्तबुद्बुदतरंगमयान् विकारान्,
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्।[2]

"जैसे जल परिस्थितवश भ्रमि, बुद्बुद ऊर्मि आदि विभिन्न रूपों को प्राप्त करता है परन्तु वे उस जल से अपृथक उसके विकार मात्र हैं, उसी तरह काव्य या नाटक में एक मात्र प्रमुख रस करुण ही है और वह निमित्त भेद से शृंगार, वीर हास्य आदि अनेक रूपों को प्राप्त कर लेता है।"

विश्वनाथ के इस उग्र रस सिद्धान्त का विरोध अठारहवीं शताब्दी में पंडित-राज जगन्नाथ ने किया और फिर से ध्वनिकार की ही स्थापना को सर्वमान्य घोषित किया। विश्वनाथ के 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' को संकीर्ण कह कर उन्होंने काव्य को 'रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' माना, और इस प्रकार भाव के अतिरिक्त

---

१ रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते
तच्चमत्कार सारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः।
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्॥ साहित्यदर्पण ।३।३ (वृत्ति)

२ उत्तररामचरित ३।४७

कल्पना और बुद्धितत्वों को भी काव्य में उचित स्थान दिया है ।[1] इन्होंने काव्य के चार भेद किए—उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम और अधम । मम्मट प्रतिपादित गुणीभूतव्यंग्य नामक मध्यम काव्य को आपने उत्तम ही माना है । जो हो, ध्वनिवादी होते हुए भी आपने रस के महत्व को मुक्तकंठ से स्वीकार किया है तथा उसी का विस्तृत विवेचन अपने रसगङ्गाधर नामक ग्रंथ में प्रस्तुत किया है । इनके अनुसार काव्य की आत्मा ध्वनि और ध्वनि की आत्मा रस है । फलतः रस की सर्वोत्कृष्टता स्वतः सिद्ध है । जगन्नाथ के अनन्तर भानुदत्त या भानुमिश्र ने दो रस-ग्रन्थ लिखे—रसतरंगिणी और रसमंजरी । इनमें न तो विवेचन की गम्भीरता है और न सैद्धांतिक नवीनता । विषय का सरलता के साथ प्रतिपादन ही ग्रन्थकार का मुख्य उद्देश्य है । तथापि शृङ्गार की रसराजता पर आपने बल अवश्य दिया है ।

इस प्रकार ईसापूर्व प्रथम शतक के भरत मुनि से लेकर अठारहवीं सदी के पण्डितराज जगन्नाथ के काल तक रस-सिद्धान्त का विकास कभी स्वतन्त्र रूप में और कभी ध्वनि सिद्धान्त के अन्तर्गत होता रहा । फलतः रसात्मक काव्य की सर्वोत्कृष्टता ध्वनिवादियों तथा रसवादियों दोनों को मान्य हुई । जगन्नाथ के बाद रस-सिद्धान्त पर संस्कृत में कोई भी उल्लेखनीय विवेचन-ग्रन्थ नहीं लिखा गया और इस परम्परा का स्रोत संस्कृत के काव्य-शास्त्र में अवरुद्ध सा हो गया ।

अन्य सम्प्रदायों से सम्बन्ध

ऊपर वर्णित सभी काव्य-सम्प्रदायों के ऐतिहासिक अध्ययन से यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि सभी सम्प्रदाय परस्पर सम्बद्ध है । उनके पारस्परिक सम्बन्ध का कारण है विभिन्न काव्य तत्वों का अन्तर्निवेश । एक सम्प्रदाय के आचार्य किसी विशेष काव्य तत्त्व के प्रति अधिक आग्रह दिखाते हैं, पर उनका दूसरे काव्यतत्त्वों से परिचय नहीं है अथवा उनसे विरोध है—यह नहीं कहा जा सकता । अलंकार सम्प्रदाय वालों ने अलंकार को काव्य में अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया पर रसतत्त्व से वे अविदित नहीं थे । उन्होंने अलंकार-प्रियता के कारण 'रस' को भी अलंकारों में ही अंतर्निविष्ट कर दिया तथा उन्हें 'रसवदलंकार' के नाम से अभिहित किया । अलंकार सम्प्रदाय में रुद्रट ही ऐसे आलंकारिक थे जिन्होंने अलंकारवादी होते हुए भी रस को पर्याप्त महत्त्व दिया । प्रत्येक महान् काव्य के लिए रस तत्त्व की नितान्त अपेक्षा एवं आवश्यकता आपने घोषित की ।[2] भामह ने महाकाव्य में रस की आवश्यकता प्रतिपादित की तथा रसयुक्त महाकाव्य को एक विशेष काव्यकृति स्वीकार किया ।[3] फलतः यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि अलंकार-

---

१ नगेन्द्र: रीतिकाव्य की भूमिका । पृ० ३९ ।

२ रुद्रटः काव्यालंकार । १२।२ ।

३ भामह : काव्यालंकार । १।२१ ।

सम्प्रदाय के आचार्य अलंकार के पक्षपाती होते हुए भी रस के विरोधी नहीं थे प्रत्युत उसे अलंकारान्तभु क्त ही मानते थे। रीति सम्प्रदाय में रस को महत्व प्राप्त नहीं हुआ। रीतिवाद के अग्रणी आचार्य दण्डी और वामन थे। दण्डी ने अन्य अलंकार-वादियों की तरह 'रसवदलंकार' की कल्पना की और रस को अलंकारों से भिन्न नहीं माना। पर वामन ने रस को अत्यन्त गौण माना। इनकी दृष्टि में काव्य की आत्मा रीति थी और उनके आधार गुण थे। इन्हीं गुणों के धर्म रस थे। रस-युक्त गुण को आपने 'कांतिगुण' नाम दिया।[1] रसवादियों के ठीक विपरीत आपका सिद्धान्त था। रसवाद में गुण को रस का नित्य धर्म माना गया है, पर वामन ने रस को ही गुण का धर्म माना। एक की दृष्टि में रस अंगी (आत्मा) है और गुण उस अंगी या आत्मा का धर्म। दूसरे की दृष्टि में गुण (या रीति) अंगी है। अतएव इन दोनों सम्प्रदायों में स्पष्टतः मतवैपरीत्य है। फिर भी दोनोंसम्प्रदायों ने अपने ढंग से रीति-गुण और रस का सम्बन्ध-निर्णय किया है।

वक्रोक्ति सम्प्रदाय और रस-सम्प्रदाय में भी घनिष्ट सम्बन्ध है। यों सामा-न्यतः वक्रोक्तिवाद को रसवाद का विरोधी माना जाता है। पर वस्तुस्थिति कुछ और है। कुन्तक ने वक्रोक्ति शब्द का अत्यन्त व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है। ध्वनि रस, अलंकार आदि सभी काव्य तत्वों को इन्होंने वक्रोक्ति के भीतर ही माना है।[2] फिर भी अन्य काव्य तत्वों की अपेक्षा आपने र। को ज्यादा महत्व दिया है। काव्य के जितने भी प्रयोजन हैं, उनमें काव्यामृत-रस के द्वारा प्राप्त अन्तश्चमत्कार[3] को सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना गया है। कुन्तक ने अन्तश्चमत्कार के अतिरिक्त, आस्वाद, आह्लाद, अलौकिक आह्लाद आदि रस सूचक शब्दों का बार बार प्रयोग किया है। अतएव ऐसा प्रतीत होता है कि कुन्तक रसवाद के वैसे विरोधी नहीं थे जैसे महिमभट्ट। आपको वक्रता शब्द अधिक प्रिय है और उसे इतनी व्यापकता प्रदान कर देते हैं कि रस और ध्वनि जैसे सर्वमान्य चमत्कारी काव्यतत्व को भी उसी में अन्तर्निविष्ट कर लेते हैं। जो हो, पर वक्रोक्तिवाद रसवाद का विरोधी काव्य-सम्प्रदाय नहीं है।

ध्वनि-सम्प्रदाय और रस-सम्प्रदाय में तो तत्त्वतः कोई अन्तर ही नहीं है। भरत के रसवाद का ही विकसित रूप ध्वनिवाद है। ध्वनिवाद ने एक ओर रस-वाद के सिद्धान्त को अपनाया और दूसरी ओर व्याकरण शास्त्र के स्फोटवाद से प्रभाव ग्रहण किया। इन दोनों के समन्वित रूप को ही आनन्दवर्धन ने ध्वनि शब्द से अभि-हित किया। आनन्द ने काव्य की आत्मा ध्वनि को माना और इस ध्वनि के रस ध्वनि, वस्तुध्वनि और अलंकार ध्वनि-नाम से तीन मुख्य भेद किए। इन तीनों

१ वामन : काव्यालंकार, सूत्रवृत्ति। ३।२।१५।

२ जयरथ : अलंकार सर्वस्वविमर्शिनी, पृष्ठ–९।

३ वक्रोक्तिजीवित। १।५।

ध्वनियों में रसध्वनि को ही सर्वप्रमुख स्वीकार किया। अलंकार ध्वनि और वस्तु-
ध्वनि को भी आपने रसपर्यवसायी माना है। इस प्रकार ध्वनि को काव्यात्मा
घोषित करने वाले आनन्दवर्द्धन ने रस की ही काव्यात्मकता स्वीकार की है।[1]
ध्वनि-सम्प्रदाय के दूसरे मूर्धन्य आचार्य अभिनवगुप्त ने भी रस को ही काव्य की
आत्मा माना है। पर आप रस को ध्वनि या व्यंग्य कहते हैं। भरत के रस-सूत्र की
व्याख्या में आपने जिस अभिव्यक्तिवादी सिद्धान्त की स्थापना की है, उसमें भी यही
प्रमाणित होता है। फलतः ध्वनि सम्प्रदाय और रस-सम्प्रदाय एक दूसरे के विरोधी
नहीं, प्रत्युत पूरक हैं।

क्षेमेन्द्र के औचित्यवाद को मैंने स्वतन्त्र काव्य-सम्प्रदाय नहीं माना है।
इसका मूल कारण यही है कि आप विशुद्ध रसवादी थे। रस के दोषों के विवेचन में
ही आपने औचित्य शब्द का प्रयोग किया है। आपकी दृष्टि में काव्य की आत्मा रस
है, पर वह रस तभी आस्वादनीय या आह्लादजनक होता है जब उसमें औचित्य हो[2]।
कहने का तात्पर्य यह है कि सर्वथा निर्दोष रस ही सहृदयों को आनन्दित करने की
क्षमता रखता है। फलतः यह सिद्ध होता है कि औचित्यवाद की आधार भित्ति
रसवाद ही है। दोनों में कोई तात्विक भेद नहीं है। रस-सम्प्रदाय के अन्य आचार्यों
ने भी रस-दोषों की चर्चा तो की ही थी। क्षेमेन्द्र ने उन दोषों के अभाव में रसौ-
चित्य स्वीकार किया। ऐसी स्थिति में कोई मौलिक मतान्तर कहां रह जाता है ?

रस-सम्प्रदाय का महत्व

ऊपर जितने भी काव्य-सम्प्रदायों की चर्चा की गई है, उनमें सर्वतोधिक
स्थायी एवम् महत्वपूर्ण रस-संप्रदाय ही है। इन सम्प्रदायों की पारस्परिक तुलना से
भी यह बात भलीभाँति स्पष्ट हो चुकी है। रस के महत्व का मुख्य कारण है उसका
काव्योत्पत्ति का आदि स्रोत या उत्स होना। काव्य के अन्य उपकरणों या तत्वों
(रीति, अलंकार, गुण आदि) को यह श्रेय नहीं प्राप्त है। काव्य-रचना की प्रक्रिया
पर ध्यान देने से यह विषय नितान्त स्पष्ट हो जायगा।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। प्रत्येक मनुष्य पर उसके आभ्यन्तर और बाह्य
वातावरण का प्रभाव पड़ता है। मनुष्य इतना संवेदनशील प्राणी है कि संसार की
छोटी घटना या व्यापार की प्रतिक्रिया पर होती है। ये प्रतिक्रियायें मानवीय संवे-
दनाओं को भाव रूप में परिणत कर देती है। इन भावों का विस्तार इतना होता है
कि उन्हें मनुष्य अपने हृदय की सीमित परिधि में बांध कर नहीं रख सकता है।
उन्हें अभिव्यक्त कराने के लिए वह वाध्य हो जाता है। कला-प्रवण मनुष्य भावों की
इस विस्तार दशा में अपनी योग्यता के अनुसार शब्द, रेखा, लय, गति आदि के

---

१ ध्वन्यालोक। १।५।

२ ... (कारिका)

माध्यम से उन्हें अभिव्यक्त कर क्रमशः कविता, चित्र, संगीत, नृत्य आदि ललित कलाओं का सृजन करता है।[1] जिन मनुष्यों को भावाभिव्यक्ति की ऐसी शक्ति (या प्रतिभा) उपलब्ध नहीं है, वे भी रो-हंस करके, बातचीत करके या अन्य किसी विकृत ढंग से अपने हृद्गत भावों को व्यक्त कर लेते हैं। फलतः यह सिद्ध होता है कि भावाभिव्यक्ति ही काव्य या अन्य किसी कला के सृजन का मूल कारण है। यह भावाभिव्यक्ति ही रस है। इसी प्रकार काव्य के पाठक भी भावों की विस्तार-दशा में ही रस का आस्वाद करते हैं। हृदय की मुक्तावस्था में ही काव्य की सर्जना होती है और उसका आस्वाद भी।[२] कहने का तात्पर्य यह है कि कवि और भावक दोनों के लिए रस अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

भरत से लेकर जगन्नाथ तक प्रायः प्रत्येक आचार्य काव्य के रस-तत्व से परिचित हैं। विभिन्न सम्प्रदायों में विश्वास रखते हुए भी रस की महिमा सबों ने गाई है। अतएव काव्यशास्त्र पर रस-वाद का महत्व अक्षुण्ण है। शास्त्रीय उलझनों से तटस्थ होकर, सर्वसाधारण अशिक्षित मनुष्य काव्य से क्या समझता है—इस पर भी यदि विचार किया जाय तो रस की अक्षुण्ण सत्ता ही प्रमाणित होगी। अशिक्षित या अर्द्धशिक्षित ग्रामीणजन भी नाटक, नौटंकी, रामलीला या सिनेमा आदि देखते हैं। कभी कभी रामायण, महाभारत और पुराणों के प्रवचन तथा ग्राम्य गायकों के संगीत भी सुनते हैं। इन सबों के देखने और सुनने में उन्हें भले ही थोड़ी-बहुत शिक्षा भी मिलती हो, पर सबसे बढ़कर जो उन्हें प्राप्त होता है, वह है आनन्द। यह आनन्द भी अनेक प्रकारों का होता है। इसका स्वरूप चाहे हास्यात्मक हो, करुणात्मक हो, शृंगारात्मक हो, विस्मयात्मक हो—परन्तु वह है आनन्द ही। वस्तुतः यह आनन्दोपलब्धि रसास्वाद से अभिन्न है। रस की आनन्द-स्वरूपता किसी से अविदित नहीं है।

इस प्रकार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखें या काव्यशास्त्रीय ढंग से विचार करें किम्बा साधारण जनों के स्थूल दृष्टिकोण से सोचें, काव्य में रस की उपादेयता माननी ही पड़ेगी। अतएव सर्वमान्य रसतत्व के आधार पर काव्यानुशीलन करने वाले 'रस-सम्प्रदाय' की चिन्तनधारा की व्यापकता एवं महत्व में सन्देह की थोड़ी भी गुंजायश नहीं है।

—::—

1 Man has a fund of emotional energy which is not at all occupied with his self-preservation. This surplus seeks its outlet in the creation of art; for man's civilization is built upon this.
—रवीन्द्रनाथ ठाकुर : व्हाट इज आर्ट (निबन्ध)

२ जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है। रामचन्द्र शुक्ल : कविता क्या है (निबन्ध)

३

संस्कृत काव्य-शास्त्र में रस-सिद्धान्त

१—रस-स्वरूप और अभिव्यक्ति

(क) दार्शनिक

उपनिषदों में आत्मा को ही रस कहा गया है।[1] वस्तुतः रस चित्स्वरूप और आनन्द-स्वरूप आत्मा से अभिन्न है। जिस प्रकार चित् (ज्ञान) और आनन्द सत् (विद्यमान) पदार्थ के ही होते हैं, उसी प्रकार सत् (सत्ताधारी या विद्यमान) काव्य का पहले ज्ञान होता है और तदनन्तर असंलक्षित-क्रम में उससे आनन्द-स्वरूप रस की उपलब्धि होती है। यह आनन्द या रस कहीं बाहर से उपलब्ध नहीं होता है प्रत्युत यह आत्मा में ही पूर्वतः प्रच्छन्न रहता है और काव्य-सामग्री के प्रस्तुत होने पर मन की एकाग्रता के परिणाम-स्वरूप आत्मा के ऊपर का आवरण-भंग हो जाता है और वह प्रच्छन्न आनन्द उद्‌भूत हो जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा स्वयं अनुभविता (आस्वादयिता) भी है और अनुभाव्य (आस्वाद्य रस) भी। अतएव अग्निपुराण में आनन्द-स्वरूप के व्यक्त रूप को चैतन्य, चमत्कार और रस कहा है।[2] श्रीमन्नारायण (विश्वनाथ के अतिवृद्ध प्रपितामह) ने भी "अनुभूयमान चमत्कार" को ही रस स्वीकार किया है।[3]

संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने रसानुभूति को ऐन्द्रिय नहीं माना है बल्कि, उनकी दृष्टि में यह एक प्रकार की आध्यात्मिक अनुभूति है। तिक्त, मधुर आदि स्थूल रसों का आस्वाद रसनेन्द्रिय के द्वारा होता है, अतएव वह एक ऐन्द्रिय आस्वाद

---

१ तैत्तिरीय उपनिषद् ।११।७।१

२ आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्य-चमत्काररसाह्वया ॥ अग्निपुराण। ३४०।१।२

३ साहित्यदर्पण ।३।३ (वृत्ति)

है। पर रसानुभूति सत्व मन[1] या अन्तःकरण के द्वारा की जाती है, अतएव यह एक प्रकार की आध्यात्मिक अनुभूति है। सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण—इन तीनों का समन्वय ही अन्तःकरण है। रजोगुण और तमोगुण से आवृत्त अन्तःकरण की तुलना उस मलिन दर्पण से की जा सकती है जिस पर किसी प्रकार का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता है। अलौकि (विलक्षण) काव्यार्थ के परिशीलन के उपरान्त रजोगुण और तमोगुण को अभिभूत कर सत्त्वगुण उद्रिक्त हो जाता है[2] और तब वह 'सत्त्व मन" या अन्तःकरण आनन्द-स्वरूप आत्मा को प्रतिबिम्बित कर लेता है। फलतः रसास्वाद अन्तःकरण या सत्त्व मन के द्वारा अनुभूत होने के कारण आध्यात्मिक है।

रस की इसी आत्मस्वरूपता, आनन्दमयता और सत्त्वमनः-आस्वादनीयता का स्पष्टीकरण संस्कृत के परवर्ती आचार्य विश्वनाथ ने विशद रूप में किया—"सत्त्वगुण के उद्रिक्त होने पर ही कतिपय पुण्यवान् प्रमाता (सहृदय) अपने से अभिन्न रूप में अखण्ड, स्वप्रकाश, आनन्दमय, चिन्मय, वेद्यान्तर-स्पर्श-शून्य, ब्रह्मास्वाद-सहोदर, लोकात्तर-चमत्कार-प्राण रस का आस्वाद करते हैं।"[3] मम्मट, भानुदत्त और जगन्नाथ ने भी शब्द-भेद से इसी मान्यता का समर्थन किया है। इस प्रकार संस्कृत काव्य-शास्त्र में रस-रूप की दार्शनिक मीमांसा की गई है। हिन्दी की आधुनिक रसमीमांसा में दर्शन का स्थान मनोविज्ञान ने ले लिया है। आज आत्मा के स्थान में मन की सत्ता ही मान्य है।

(ख) काव्य-शास्त्रीय

संस्कृत काव्यशास्त्र में रस-सामग्री या उपकरणों के आधार पर भी रस-स्वरूप की व्याख्या की गई है। रस-सिद्धान्त के प्रथम आचार्य भरत ने सूत्ररूप में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस-निष्पत्ति का उल्लेख किया था। सूत्रात्मक शैली के कारण भरत-निर्धारित रस-स्वरूप अस्पष्ट ही रह गया था। इस सूत्र के संयोग और निष्पत्ति—इन दोनों व्याख्या-सापेक्ष शब्दों को लेकर

---

१ रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्वमिहोच्यते।
—भोजदेव। सरस्वतीकण्ठाभरण।५।२० (पूर्वार्द्ध)

२ बाह्यमेयविमुखतापादकः कश्चनान्तरो धर्मः सत्वम्। तस्योद्रेको रजस्तमसी अभिभूय आविर्भावः। अत्र च हेतुस्तथाविधालौकिक-काव्यार्थ-परिशीलनम्।
—साहित्य दर्पण। ३।३ (वृत्ति)

३ सत्त्वोद्रेकादखण्ड-स्वप्रकाशानन्द चिन्मयः,
वेद्यान्तर-स्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वाद-सहोदरः।
लोकोत्तर-चमत्कार-प्राणः केश्चित् प्रमातृभिः,
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥ —सा० द०।३।२-३।

३

संस्कृत काव्य-शास्त्र में रस-सिद्धान्त

१—रस-स्वरूप और अभिव्यक्ति

(क) दार्शनिक

उपनिषदों में आत्मा को ही रस कहा गया है।[1] वस्तुत: रस चित्स्वरूप और आनन्द-स्वरूप आत्मा से अभिन्न है। जिस प्रकार चित् (ज्ञान) और आनन्द सत् (विद्यमान) पदार्थ के ही होते हैं, उसी प्रकार सत् (सत्ताधारी या विद्यमान) काव्य का पहले ज्ञान होता है और तदनन्तर असंलक्षित-क्रम में उससे आनन्द-स्वरूप रस की उपलब्धि होती है। यह आनन्द या रस कहीं बाहर से उपलब्ध नहीं होता है प्रत्युत यह आत्मा में ही पूर्वत: प्रच्छन्न रहता है और काव्य-सामग्री के प्रस्तुत होने पर मन की एकाग्रता के परिणाम-स्वरूप आत्मा के ऊपर का आवरण-भंग हो जाता है और वह प्रच्छन्न आनन्द उद्भूत हो जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा स्वयं अनुभविता (आस्वादयिता) भी है और अनुभाव्य (आस्वाद्य रस) भी। अतएव अग्निपुराण में आनन्द-स्वरूप के व्यक्त रूप को चैतन्य, चमत्कार और रस कहा है।[2] श्रीमन्नारायण (विश्वनाथ के अतिवृद्ध प्रपितामह) ने भी "अनुभूयमान चमत्कार" को ही रस स्वीकार किया है।[3]

संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने रसानुभूति को ऐन्द्रिय नहीं माना है बल्कि, उनकी दृष्टि में यह एक प्रकार की आध्यात्मिक अनुभूति है। तिक्त, मधुर आदि स्थूल रसों का आस्वाद रसनेन्द्रिय के द्वारा होता है, अतएव वह एक ऐन्द्रिय आस्वाद

---

१ तैत्तिरीय उपनिषद्।११।७।१

२ आनन्द: सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्ति: सा तस्य चैतन्य-चमत्काररसाह्वया॥ अग्निपुराण। ३४०।१।२

३ साहित्यदर्पण।३।३ (वृत्ति)

है। पर रसानुभूति सत्व मन[1] या अन्तःकरण के द्वारा की जाती है, अतएव यह एक प्रकार की आध्यात्मिक अनुभूति है। सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण—इन तीनों का समन्वय ही अन्तःकरण है। रजोगुण और तमोगुण से आवृत्त अन्तःकरण की तुलना उस मलिन दर्पण से की जा सकती है जिस पर किसी प्रकार का प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता है। अलौकि (विलक्षण) काव्यार्थ के परिशीलन के उपरान्त रजोगुण और तमोगुण को अभिभूत कर सत्त्वगुण उद्रिक्त हो जाता है[2] और तब वह 'सत्त्व मन" या अन्तःकरण आनन्द-स्वरूप आत्मा को प्रतिबिम्बित कर लेता है। फलतः रसास्वाद अन्तःकरण या सत्त्व मन के द्वारा अनुभूत होने के कारण आध्यात्मिक है।

रस की इसी आत्मस्वरूपता, आनन्दमयता और सत्त्वमनः-आस्वादनीयता का स्पष्टीकरण संस्कृत के परवर्ती आचार्य विश्वनाथ ने विशद रूप में किया—"सत्त्वगुण के उद्रिक्त होने पर ही कतिपय पुण्यवान् प्रमाता (सहृदय) अपने से अभिन्न रूप में अखण्ड, स्वप्रकाश, आनन्दमय, चिन्मय, वेद्यान्तर-स्पर्श-शून्य, ब्रह्मास्वाद-सहोदर, लोकात्तर-चमत्कार-प्राण रस का आस्वाद करते हैं।"[3] मम्मट, भानुदत्त और जगन्नाथ ने भी शब्द-भेद से इसी मान्यता का समर्थन किया है। इस प्रकार संस्कृत काव्य-शास्त्र में रस-रूप की दार्शनिक मीमांसा की गई है। हिन्दी की आधुनिक रसमीमांसा में दर्शन का स्थान मनोविज्ञान ने ले लिया है। आज आत्मा के स्थान में मन की सत्ता ही मान्य है।

(ख) काव्य-शास्त्रीय

संस्कृत काव्यशास्त्र में रस-सामग्री या उपकरणों के आधार पर भी रस-स्वरूप की व्याख्या की गई है। रस-सिद्धान्त के प्रथम आचार्य भरत ने सूत्ररूप में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस-निष्पत्ति का उल्लेख किया था। सूत्रात्मक शैली के कारण भरत-निर्धारित रस-स्वरूप अस्पष्ट ही रह गया था। इस सूत्र के संयोग और निष्पत्ति—इन दोनों व्याख्या-सापेक्ष शब्दों को लेकर

---

१ रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्वमिहोच्यते।

—भोजदेव। सरस्वतीकण्ठाभरण।५।२० (पूर्वार्द्ध)

२ बाह्यमेयविमुखतापादकः कश्चनान्तरो धर्मः सत्वम्। तस्योद्रेको रजस्तमसी अभिभूय आविर्भावः। अत्र च हेतुस्तथाविद्यालौकिक-काव्यार्थ-परिशीलनम्।

—साहित्य दर्पण। ३।३ (वृत्ति)

३ सत्त्वोद्रेकादखण्ड-स्वप्रकाशानन्द चिन्मयः,
वेद्यान्तर-स्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वाद-सहोदरः।
लोकोत्तर-चमत्कार-प्राणः केश्चित् प्रमातृभिः,
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥ —सा० द०।३।२-३।

भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, अभिनवगुप्त प्रभृति आचार्यों ने विभिन्न सिद्धान्तों के स्तूप खड़े किए। परिणामस्वरूप उपकरणात्मक रस-स्वरूप को लेकर एक विशाल रस-शास्त्र प्रस्तुत हुआ। परवर्ती काल में मम्मट, विश्वनाथ और भानुदत्त ने भी उक्त सूत्र के आधार पर रस-स्वरूप का स्पष्टीकरण किया है। हिन्दी के रसशास्त्र को विशेषत: इन्हीं तीनों आचार्यों की मान्यताओं ने प्रभावित किया, अतएव क्रमश: उनके विचार प्रस्तुत हैं।

मम्मट :—इनकी दृष्टि में लोक-जीवन में रति आदि स्थायी भावों के जिन्हें कारण, कार्य और सहकारी कारण कहा जाता है उन्हें ही नाट्य और काव्य में क्रमश: विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव कहते हैं। इन्हीं उपादानों से व्यक्त स्थायी भाव रस कहलाता है।[1] मम्मट के कहने का तात्पर्य यह है कि नाटक के सामाजिकों और काव्य के सहृदयों के हृदय में रत्यादि स्थायी भाव वासना के रूप में पूर्वत: विद्यमान रहते हैं। नाटक और काव्यनिष्ठ विभावादि उपकरणों के द्वारा ये वासनात्मक स्थायी भाव आनन्दमय रस के रूप में उसी तरह व्यक्त हो जाते हैं, जैसे मिट्टी में छिपी हुई गन्ध वर्षा की बूँदों से संयोग में आकर व्यक्त हो जाती है। इससे तीन बातें स्पष्ट हुईं—स्थायी भाव की सत्ता पूर्वत: रहती है, वही रस-रूपता को प्राप्त करता है तथा आस्वाद-क्षण में ही उसके रस-रूप का निर्माण होता है। साथ ही, रस-प्रतीति के क्षण में विभाव आदि प्रत्येक उपकरण का पृथक्-पृथक् आस्वाद नहीं होता है—"पानक-रस-न्याय" से उन सभी उपकरणों का सम्मिलित आस्वाद ही होता है। इसके अतिरिक्त, रस अलौकिक चमत्कार-कारी, ब्रह्मास्वाद की तरह प्रतीयमान, हृदय में प्रवेश करता हुआ सा तथा सर्वाङ्ग को व्याप्त करता हुआ-सा अनुभूत होता है।[2]

विश्वनाथ :—इन्होंने भी विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के द्वारा व्यक्त स्थायी की रस-रूपता को स्वीकार किया है।[3] स्पष्ट है कि विश्वनाथ की दृष्टि में

---

१ कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादे: स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययो: ।।
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणि: ।
व्यक्त: स तैर्विभावाद्यै: स्थायी भावो रस: स्मृत: ।। —काव्यप्रकाश ।४।५७-२८

२ सामाजिकानां वासनात्मतया स्थित: स्थायी रत्यादिका। ....विभावादि-जीवितावधि: पानक-रस-न्यायेन चर्व्यमाण: पुर इव परिस्फुरन् हृदयमिव प्रविशन् सर्वांगीणमिव आलिंगन् अन्यत्सर्वमिव तिरोदधत् ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिक चमत्कार-कारी शृङ्गारादिका रस: ।।
—काव्यप्रकाश ।४।२८ की अभिनवगुप्त-सम्बन्धी व्याख्या।

३ विभावेनानुभावेन व्यक्त: संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादि: स्थायी भाव: सचेतसाम् ।। —साहित्यदर्पण ।३।१

स्थायी भाव ही आस्वाद को धारण कर लेता है। इसकी स्पष्टता के लिए विश्वनाथ ने सर्वथा नूतन उदाहरण प्रस्तुत किया है—जिस प्रकार मट्ठे की सहायता से दूध दही के रूप में परिणत हो जाता है उसी प्रकार विभावादि का साहाय्य प्राप्त कर स्थायी भाव रस-दशा में परिवर्तित हो जाता है। दीप-प्रकाशित घट की तरह रस का पूर्वतः अस्तित्व नहीं रहता है अर्थात् अनुभूति के क्षण में ही स्थायी भाव रस-रूपत्व को प्राप्त होता है।[1] लोक जीवन में जिन्हें कार्य, कारण और सहकारी कारण कहा जाता है, वे काव्य और नाटक में विभाव, अनुभाव और संचारी भाव तो कहलाते हैं पर रसानुभूति की दृष्टि वे सभी उपकरण सामान्यतः कारण ही हैं।[2] रस-प्रतीति को विश्वनाथ भी समूहालम्बनात्मक ही मानते हैं। विभाव आदि प्रत्येक उपकरण रस का कारण तो है; पर अनुभूति इन सभी तत्त्वों की सामूहिक ही होती है। जैसे प्रपाणक-रस में अनेक तत्त्वों के रहते हुए भी सम्मिलित आस्वाद होता है, उसी प्रकार रस-दशा में विभाव आदि की पृथक्-पृथक् प्रतीति न होकर सम्मिलित ही होती है और तभी उस आस्वाद में विलक्षणता भी आती है।[3] यदि काव्य अथवा नाटक में ये सारे उपकरण उपलब्ध न भी हों और मात्र एक दो ही उपलब्ध हों तो अन्य सामग्रियों की प्रसंगानुकूल योजना की जा सकती है और रसानुभूति में किसी तरह की बाधा न होगी।[4] तात्पर्य यह कि विभाव के रहने पर अनुभाव और संचारी की, अनुभाव के न रहने पर विभाव और संचारी की तथा संचारी के रहने पर विभाव और अनुभाव की—प्रसंगानुकूल योजना होगी। इस प्रसंग में विशेषतः ध्यान देने योग्य विषय यह है कि जिन उपकरणों के आधार पर अन्य तत्त्वों की योजना (आक्षेप) की जाय, उन्हें अनैकान्तिक-अनेक-रस-निष्ठ नहीं होना चाहिए।

भानुदत्तः—इन्होंने उपकरणों के आधार पर रस के तीन लक्षण प्रतिपादित किए हैं। हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों में अधिकांश ने इन्हीं तीन लक्षणों में से किसी न किसी को ब्रज भाषा में रूपान्तरित किया है। वे लक्षण इस प्रकार हैं:—

१—विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव और व्यभिचारी भाव के द्वारा उपनीय-

---

१ व्यक्तो दध्यादिन्यायेन रूपान्तर-परिणतो व्यक्तीकृत एव रसो न तु दीपेन घट इव पूर्वसिद्धो व्यज्यते। —साहित्यदर्पण। ३।१ (वृत्ति)

२ कार्य-कारण-संचारिरूपा अपि हि लोकतः।
रसोद्बोधे विभावाद्यः कारणन्येथ ते मतः॥ —वही।३।१४

३ प्रतीयमानः प्रथमं प्रत्येकं हेतुरुच्यते। ततः सम्बलितः सर्वो विभावादिः सचेतसाम्।
प्रपाणक-रस-न्यायाच्चर्व्यमाणो रसो भवेत्। —साहित्यदर्पण।३।१५-१६

४ सद्भावश्चेद्विभावादे र्द्वयोरेकस्य वा भवेत्।
झटित्यन्य-समाक्षेपे तदा दोषो न विद्यते॥ वही।३।१६-१७

मान और परिपूर्ण स्थायी भाव ही रस्यमान होने पर रस है[1]। तात्पर्य यह कि आलम्बन से उत्पादित, उद्दीपन से उद्दीपित, अनुभाव से प्रतीति-योग्य और व्यभिचारी भाव से पुष्ट होने पर स्थायी भाव ही रस है। यह अर्थ "परिपूर्ण" शब्द के द्वारा व्यक्त किया गया है। रस मूलतः तो अनुकार्य रामादि में स्थित रहता है किन्तु तुल्यतानुसन्धान+बलात् अनुकर्त्ता नटों में भी आरोप्यमाण होता है—यह "उपनीयमान" शब्द का तात्पर्य है। रस आस्वादनीय स्थायीभाव से अभिन्न है अर्थात् स्थायीभाव ही चर्वणावस्थापन्न होने पर रस कहलाता है... यह "रस्यमान" शब्द का अर्थ है। इस प्रकार भानुदत्त का उक्त लक्षण अन्य दृष्टियों से तो समीचीन है किन्तु रस की स्थिति की दृष्टि से आरोपवादी भट्ट लोल्लट की मान्यता के समकक्ष होने के कारण त्रुटिपूर्ण है। वस्तुतः रसों की स्थिति सामाजिकों और सहृदयों में होती है। "सात्त्विक" पद का पृथक् उल्लेख अनुभाव और संचारी से इसकी विशिष्टता प्रदर्शित करने के लिए किया गया है।

२—भाव (स्थायी भाव), विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के द्वारा (सहृदय) जहाँ मनोविश्राम करते हैं, वही रस है[2]। इस लक्षण के द्वारा भानुदत्त ने रस की आनन्द-रूपता पर प्रकाश डाला है। रसतरंगिणी के टीकाकार पं. जीवनाथ झा ने इस लक्षण में भोगवादियों के भोज्य-भोजक सम्बन्ध का स्वारस्य पाया है। किन्तु शब्दों को खींच-तान कर किसी अर्थविशेष को भानुदत्त के रस-लक्षण पर लादना समुचित नहीं है।

३—वासनात्मक स्थायी भाव ही प्रबुद्ध होने पर रस रूप में परिणत हो जाता है। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव इसके प्रबोधक हैं[3]। इस लक्षण से दो बातें स्पष्ट होती हैं—स्थायी भावों की स्थिति सहृदयों के हृदय में वासना के रूप में रहती है और स्थायी भाव ही आस्वाद दशा में रसरूपत्व को प्राप्त कर लेता है।

भानुदत्त ने रस को लौकिक और अलौकिक दोनों माना है। किन्तु काव्यगत रस को अलौकिक ही प्रतिपादित किया है। अलौकिक औपनायिक प्रभेद के अन्तर्गत ही इन्होंने शृंगारादि सभी परम्परागत रसों का निरूपण किया है[4]। हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों में अनेक ने इसी परम्परा का अनुसरण किया।

---

१ विभावाऽनुभाव-सात्त्विकभाव-व्यभिचार भावैरुपनीयमानः परिपूर्णः स्थायिभावो रस्यमानो रसः। —रसतरंगिणी। तरंग ६, पृ० ११५।

२ भावविभावाऽनुभाव व्यभिचारिभावैर्मनोविश्रामो यत्र क्रियते सवा रसः।
—रसतरंगिणी। तरंग ६, पृ० ११७।

३ प्रबुद्धस्थायिभाव-वासना वा रसः। प्रबोधका विभावाऽनुभाव व्यभिचारिणः।
—वही। पृ० ११८, १२०।

४ स च रसौ द्विविधः—लौकिकोऽलौकिकश्चेति। लौकिक-सन्निकर्षजन्मा रसो-

२—रस-निष्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्त

रसास्वाद किस व्यक्ति को होता है—यह विषय संस्कृत काव्य-शास्त्र में विवादास्पद रहा है । रस-सिद्धान्त के प्रवर्त्तक भरत ने रस-स्वरूप को तो सूत्रात्मक ढंग से प्रस्तुत कर दिया किन्तु रस की स्थिति के सम्बन्ध में आप सर्वथा मौन रहे । इधर काव्य और नाटक से सम्बद्ध व्यक्तियों की अनेक कोटियाँ दृष्टिगोचर होती हैं । एक ओर वे ऐतिहासिक (यथार्थ) पात्र हैं जिन्हें कवि और नाटककार अपनी रचनाओं में निवद्ध करते हैं, दूसरी ओर उन्हीं ऐतिहासिक पात्रों के कल्पित रूप हैं जो काव्य स्रष्टाओं के मानस-लोक में विम्बित होकर उपस्थित होते हैं । तृतीय कोटि में कवि और नाटककार स्वयं हैं । चतुर्थ कोटि में काव्य के पाठक और नाटक के प्रेक्षक हैं जिन्हें शास्त्रीय भाषा में सहृदय और सामाजिक कहा गया है । नाटकों के क्षेत्र में नट-नटियों (अभिनेता और अभिनेत्रियों) का भी एक पृथक् वर्ग है । इनमें से किसे और कैसे रसास्वाद होता है—इस समस्या को ध्यान में रख कर अनेक आचार्यों ने "विभावानुभाव-व्यभिचारि-संयोगात् रस-निष्पत्तिः"—इस भरत-सूत्र की व्याख्या की । व्याख्याकारों में चार सुप्रसिद्ध हैं—भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त ।इनके अतिरिक्त जगन्नाथ ने "नवीन विद्वानों के मत" के रूप में अन्य व्याख्याकारों की भी चर्चा की है ।

इन व्याख्याकारों में भट्टलोल्लट, शंकुक और भट्टनायक के मूल ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं । अभिनवगुप्त की अभिनवभारती में इनकी मान्यताओं के साथ अभिनव की अपनी मान्यता भी उल्लिखित है[1] । इसके अतिरिक्त मम्मट के काव्य-प्रकाश में भी इन चारों व्याख्याकारों की मान्यताएं उपलब्ध हैं[2] । शब्द-भेद रहने के बावजूद भी दोनों ग्रन्थों में प्रतिपाद्य तत्त्वतः एक ही हैं । नवीन विद्वानों की व्याख्याएं जगन्नाथ के रसगंगाधर में निहित हैं, पर न तो इन तथाकथित नवीन व्याख्याकारों के नाम ज्ञात हैं और न इनके ग्रन्थों का ही कोई पता है । इनमें एक मात्र दोषवादी व्याख्या में ही वस्तुतः नवीनता है । उपर्युक्त पांच विचारकों की मान्यताओं को क्रमशः पांच सैद्धान्तिक अभिधानों से अभिहित किया जाता है—(क) आरोपवाद या उत्पत्तिवाद (ख) अनुमितिवाद (ग) भोगवाद (घ) अभिव्यक्तिवाद और (ङ) दोषवाद ।

(क) आरोपवाद या उत्पत्तिवाद

आचार्य भट्टलोल्लट मीमांसक थे । अतएव मीमांसा-दर्शन का आधार लेकर इन्होंने भरत-सूत्र की व्याख्या की । तदनुसार सूत्र-निष्ठ 'संयोग" और "निष्पत्ति"—

लौकिकः । अलौकिक-सन्निकर्ष-जन्मा रसोऽलौकिकः ।... औपनायिकश्च काव्य-पद-पदार्थ-चमत्कारे नाट्ये च । —रसतरंगिणी । पृ० १२१-१२३ ।

१ अभिनवभारती । प्रथम भा० । पृ० २७२-२८४ ।

२ काव्यप्रकाश । ४।२८ की वृत्ति ।

इन दोनों शब्दों के अर्थ के आधार पर रस-स्वरूप की भी व्याख्या की और रस की आस्वादयिता का भी विवेचन किया । इनके अनुसार संयोग शब्द का अर्थ है "सम्बन्ध" और यह सम्बन्ध भी तीन प्रकारों का—उत्पाद्योत्पादक-भाव-सम्बन्ध, गम्य-गमकभाव सम्बन्ध और पोष्यपोषक भाव सम्बन्ध । इसी प्रकार "निष्पत्ति" शब्द के भी तीन अर्थ हैं—उत्पत्ति, अभिव्यक्ति और पुष्टि । फलतः भट्टलोल्लट की दृष्टि में भरत के रस-सूत्र का अर्थ हुआ—

"ललनादि आलंबन तथा उद्यानादि उद्दीपन विभावों से उत्पाद्योत्पादक-भाव सम्बन्ध के द्वारा उत्पन्न, कटाक्ष-भुजक्षेप प्रभृति अनुभावों से गम्य-गमक भाव-सम्बन्ध के द्वारा अभिव्यक्त (प्रतीतियोग्य) और निर्वेदादि व्यभिचारी भावों से पोष्यपोषक भाव सम्बन्ध के द्वारा पुष्ट (उपचित) रत्यादि स्थायी भाव ही रस है । इस रस की स्थिति मुख्यतः तो अनुकार्य रामादि में है पर उन्हीं के रूप का अभिनेता होने के कारण अनुकर्त्ता नटों में भी सामाजिकों को रस-प्रतीति होती है"[1] ।

निष्कर्ष यह कि भट्टलोल्लट की दृष्टि में सामाजिकों (प्रेक्षकों) को रसानुभूति अपने में नहीं होती है प्रत्युत उन अनुकर्त्ता नटों में होती है जिन पर ऐतिहासिक पात्रों का आरोप किया जाता है । इस आरोप के परिणाम-स्वरूप सामाजिक स्वयं भी चमत्कृत होकर आनन्द का अनुभव करता है[2] ।

चूंकि प्रेक्षकों की रसानुभूति नटों में ऐतिहासिक पात्रों के आरोप के कारण मानी गई है, अतएव भट्टलोल्लट के मत को "आरोपवाद" कहा जाता है । अनुकर्त्ता नटों में ही रस की उत्पत्ति मानी जाने के कारण, इस सिद्धान्त को उत्पत्तिवाद के नाम से भी अभिहित किया जाता है ।

समीक्षा:—भरत-सूत्र के परवर्ती व्याख्याकार शंकुक और भट्टनायक ने भट्टलोल्लट की आरोपवादी व्याख्या को अयुक्तिपूर्ण एवं असंगत प्रमाणित किया है। उन्हीं के द्वारा दिए गए तर्कों के आधार पर आरोपवाद की समीक्षा-प्रस्तुत है:—

१—उपर्युक्त आरोपवाद-अभिमत न्यायशास्त्रीय कार्य-कारण सिद्धान्त पर आधारित नहीं है । कारण सदा कार्य का नियतपूर्ववर्ती होता है । भट्टलोल्लट रस को असंलक्ष्यक्रम मानते हैं किन्तु इससे विभावादि कारण और रस कार्य का पौर्वापर्य अस्वीकृत हो जाता है । इसके अतिरिक्त आरोपवादी भट्टलोल्लट ने रस को "विभा-

---

१ विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणैः रत्यादिको भावोजनितः अनुभावैः कटाक्ष-भुजक्षेपप्रभृतिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्यः कृतः व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभिः सहकारिभिरुपचिता मुख्यया वृत्त्या रामादावनकार्ये तद्रूपतानुसंधान्नर्तकेऽपि प्रतीयमानो रसः । —काव्यप्रकाश । ४।२८ के आगे ।

२ नटे तु तुल्यरूपतानुसंधानवशादारोप्यमाणः सामाजिकानां चमत्कारहेतुः । —गोविन्द ठाकुर । काव्यप्रदीप । पृ० ८८ ।

वादि जीवितावधि" माना है। तात्पर्य यह कि विभावादि के नष्ट होने पर रस का भी विनाश हो जाता है। किन्तु घट-निर्माण रूप कार्य में निमित्त कारण कुम्भकार के विनाश के अनन्तर भी कार्य का अस्तित्व अक्षुण्ण रहता है। अतएव विभावादि-स्वरूप निमित्त कारण के विनाशानन्तर रस रूप कार्य का अवसान मानना भी असंगत है।

२—कारण और कार्य को समानाधिकरण (एक निष्ठ) होना चाहिए। पर भट्टलोल्लट के आरोपवाद में रस की सत्ता तो अनुकार्य में मानी गई है और रसास्वाद का अधिकारी प्रेक्षक को स्वीकार किया गया है। एतावता कारण और कार्य का सामानाधिकरण्य खंडित हो जाता है।

३—उपचित स्थायी भाव को रस मानने में भी कई आपत्तियाँ हैं। ऐसी स्थिति में हास्य के स्मित, हसित आदि छः भेदों की कल्पना निरर्थक हो जायगी। एतदर्थ अखंड और परिपूर्ण रस की तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम आदि कई अनुचित कोटियां माननी होंगी[1]।

४—अनुकर्त्ता नट में अनुकार्य रामादि का आरोप भी सम्भव नहीं है। आरोप्यमाण वस्तु या व्यक्ति का पूर्वतः परिचय आवश्यक है क्योंकि आरोप क्षण में उसका स्मरण भी वांछित है। अनुकार्य पात्र कई कोटि के व्यक्ति हो सकते हैं—ऐतिहासिक, पौराणिक, काल्पनिक और समकालीन। इन सभी प्रकार के व्यक्तियों के साथ प्रेक्षकों का प्रत्यक्ष-परिचय कैसे हो सकता है? जनश्रुति या पुस्तकादि के आधार पर न तो ठीक परिचय ही प्राप्त किया जा सकता है और न सभी प्रेक्षकों के लिए यह संभव ही है।

५—दूसरों के प्रतिकूल-वेदनीय शोक, भय, जुगुप्सा आदि दुःखात्मक भाव नटों में आरोपित होने के अनन्तर सामाजिकों के लिए भी दुःखपर्यवसायी ही होंगे। वैसे भावों से आनन्द-स्वरूप रस की प्रतीति संभव नहीं है। यह तो विभावन व्यापार की अलौकिकता का परिणाम है जिससे प्रतिकूल भावों की प्रतीति भी आनन्दमय होती है, पर भट्टलोल्लट ने वैसे किसी व्यापार की कल्पना नहीं की है।

६—भट्टलोल्लट ने अनुकार्य-निष्ठ रस के ज्ञान के आधार पर सामाजिकों के रसास्वाद का उल्लेख किया है। पर ज्ञान के आधार पर अनुभूति की कल्पना भी बेतुकी है। वस्तुतः रस की अनुभूति होती है, ज्ञान नहीं। ज्ञान बौद्धिक होता है। और उसकी उपलब्धि मस्तिष्क के द्वारा होती है। इसके विपरीत अनुभूति आत्मा, हृदय, अन्तःकरण या मन (जो भी मानें) के द्वारा लभ्य होती है। फलतः आरोपित अनुकार्य में रस के शुष्कज्ञान के सहारे रसानुभूति सम्भव नहीं है[2]।

---

१ अभिनवभारती। पृ० २७२।

२ गोविन्द ठाकुर। प्रदीप टीका। पृ० ६३।

७—आरोपवाद में नटों की रसानुभूति की भी भ्रान्तिपूर्ण बात कही गई है। ऐसा सम्भव नहीं है। प्रथम तो यथार्थ विभावादि के अभाव में उनके स्थायी भाव रसरूप में परिणत हो ही नहीं सकते हैं। वे विभावादि उनके अपने नहीं होते हैं। अतएव इनसे नट तटस्थ ही रहते हैं। यदि इन्हें रसानुभूति होती तो धन-लिप्सा से ये अभिनय कार्य में प्रवृत्त नहीं होते।

फलतः भट्टलोल्लट की आरोपवादी व्याख्या न संस्कृत के परवर्ती आचार्यों को मान्य हुई और न आज किसी को मान्य हो सकती है।

(ख) अनुमितिवाद

भरत-सूत्र के द्वितीय व्याख्याकार नैयायिक शंकुक थे। इन्होंने रस को अनुमान-प्रमाण-गम्य (अनुमेय) प्रतिपादित किया—अतएव इनका मत अनुमानवाद या अनुमितिवाद के नाम से विख्यात है।

शंकुक की दृष्टि में भरत-सूत्र के 'संयोग' का अर्थ है अनुमाप्य-अनुमापक-सम्बन्ध और 'निष्पत्ति' का अर्थ है अनुमान। तदनुसार इनकी व्याख्या इस प्रकार है :—

"सामाजिक अभिनय कुशल अभिनेता में ऐतिहासिक दुष्यन्तादि की अभिन्नता का अनुभव करते हुए प्रासंगिक आलम्बन-उद्दीपन विभाव, अनुभाव और संचारीभाव रूप हेतुओं से उस नट में शृंगारादि रस का अनुमान करता है। यह अनुमान भी व्याप्तिग्रह-पूर्वक धूम रूप हेतु से पर्वतरूप पक्ष में अग्नि के अनुमान के सदृश ही है। इस रसानुमिति की प्रक्रिया में सामाजिक है अनुमाता, नट है पक्ष, विभावादि उपकरण हैं हेतु या साधन और रस है अनुमेय। यद्यपि रस का वास्तविक अस्तित्व उन नटों में ही रहता है, तथापि अनुमेय रस की विलक्षणता एवं रसनीयता के कारण अनुमान करने वाले सामाजिकों को भी इसका आस्वाद होता है।"

इन्होंने रसानुमिति को 'सम्यक्, मिथ्या, संशय और सादृश्य ज्ञान से सर्वथा विलक्षण माना है। अनुमाता सामाजिक को अनुकर्ता नट में अनुकार्य दुष्यन्तादि का ज्ञान 'चित्र-तुरग-न्याय' से होता है। अतएव रस-ज्ञान (अनुमिति) सर्वथा विलक्षण है। चूँकि नट वास्तविक दुष्यन्तादि नहीं है, अतएव इसके ज्ञान को सम्यक् ज्ञान नहीं माना जा सकता है। इसे मिथ्या-ज्ञान भी नहीं कहा जा सकता है—क्योंकि किसी पदार्थ के पहले एक रूप में और बाद में दूसरे रूप में प्रतीत होने पर ही मिथ्या-ज्ञान माना जाता है। यह संशय-ज्ञान इसलिए नहीं है कि संशय-ज्ञान में हमेशा दो कोटियां होती हैं—'अमुक वस्तु है या नहीं' इस रूप में। अनुकर्ता नट दुष्यन्तादि-सदृश भी नहीं है प्रत्युत दुष्यन्तादि ही है—अतएव इसे सादृश्य-ज्ञान भी नहीं कह सकते हैं। फलतः चित्र-लिखित तुरग के ज्ञान की तरह रसानुमिति सर्वथा एक विलक्षण ज्ञान है। वैलक्षण्य के कारण ही इसमें आनन्दमयता भी है।[1]

1 काव्यप्रकाश। ४।२८ की शंकुक-सम्बन्धी व्याख्या।

निष्कर्ष यह कि सामाजिक नट को ही वास्तविक दुष्यन्तादि समझ कर उसमें शृंगारादि रसों का अनुमान करता है। यह अनुमान विलक्षणता एवं रसनीयता के कारण अनुमाता सामाजिक को भी आनन्द-मग्न (रस-मग्न) कर देता है।

समीक्षा:—१–तर्कशास्त्र की कसौटी पर रस या भाव की व्याख्या सम्भव नहीं है। अनुमान एक बौद्धिक व्यापार है और रसानुभूति हृदय की वृत्ति है। इन दोनों की बेमेल अन्विति उपहासास्पद है।

२–शंकुक की दृष्टि में सामाजिक मूल नायकगत रस का नट में अनुमान कर आनन्दित होता है। प्रथम तो एक के हृदय के रस या भाव का अनुमान दूसरे के हृदय में सम्भव ही नहीं है। यदि ऐसा सम्भव भी हो तो जिन विभावादि हेतुओं से इस अनुमान की बात कही गई है, उनका निर्दोष होना भी अनिवार्यतः आवश्यक है। स्वयं नैयायिकों ने निर्दुष्ट हेतुओं के द्वारा ही अनुमान स्वीकृत किया है। रसानुमिति के हेतु अवसर पाकर हेत्वाभास भी हो सकते हैं–अनैकान्तिक, विरुद्ध, असिद्ध, सन्दिग्ध आदि। अतएव तथाकथित रसानुमिति में सदोषता की सम्भावना दृष्टिगोचर होती है।

३–सामाजिक मूल नायक और नट से सर्वथा भिन्न है। अतएव इनके मनोगत भावों का आस्वाद सामाजिकों को कैसे होगा? थोथी विलक्षणता के आधार पर व्यावहारिक अनुभव का अपलाप नहीं किया जा सकता है।

४–यदि थोड़ी देर के लिए हम यह स्वीकार भी कर लें कि सामाजिक नटों के रत्यादि भावों को अपने भावों की तरह प्रतीत करता है और इसीलिए उसे आनन्दानुभूति होती है, तो इसमें भी अनेक बाधायें दृष्टिगोचर होती हैं। अनुकार्य कई प्रकार के होते हैं–देवतुल्य राम-कृष्ण जैसे महापुरुष; नारद, वशिष्ठ और विश्वामित्र जैसे पूज्य धर्मगुरु; दुष्यन्त, दशरथ, रघु, हरिश्चन्द्र–जैसे श्रद्धेय राजा आदि। इनके रति भाव को पहले तो सामाजिक संस्कारवश आत्मगत्वेन प्रतीत ही नहीं कर सकता है और यदि ऐसा करे भी तो उसे नैतिकता की दृष्टि से पापभागी होना पड़ेगा। गुरुजनों का रहस्य-दर्शन पाप-जनक है। यह पहली बाधा है। दूसरी बाधा यह है कि एक की भावानुभूति दूसरे के हृदय में तभी उतर सकती है जब दोनों समान स्तर के हों। किसी धन-कुबेर राजा के मनोभाव एक रंक को आत्मतुल्य नहीं प्रतीत हो सकते हैं। एक दुर्दान्त हत्यारे या डाकू को जिस पर क्रोध होगा, उसी पर एक दयालु सामाजिक को दया भी आ सकती है।

५–डा० राकेश गुप्त के अनुसार चित्र-तुरग ज्ञान उक्त ज्ञान-चतुष्टय से भिन्न नहीं है। चित्र-लिखित घोड़े को देखनेवाला चित्र-लिखित घोड़ा ही समझता है–कुछ विलक्षण नहीं। हाँ, चित्र-कला के अनभिज्ञ के सामने दूर में यदि कोई सजीव अश्व-चित्र रखा जाय तो उसे या तो अश्व का यथार्थ ज्ञान होगा किम्बा संशयात्मक

ज्ञान ।[1] डा० गुप्त के तर्क के पूर्वार्द्ध से तो मैं सहमत हूँ पर उत्तरार्द्ध से नहीं। आपने जो उदाहरण गृहीत किया है उसमें प्रथम तो चित्रकला से अनभिज्ञ दर्शक को सामने रखा है तथा चित्र को बहुत दूर करके विचार किया है। इसके विपरीत, नाटक में नट सामाजिक से न तो बहुत दूर होते हैं और न सामाजिक उनकी पहचान से ही अनभिज्ञ होते हैं।

फलतः शंकुक की अनुमानवादी रस-व्याख्या भी मान्य न हो सकी और आज भी इसे कोई मानने को प्रस्तुत न होगा।

(ग) भुक्तिवाद या भोगवाद

सांख्य-मत के अनुयायी भट्टनाथक की भरत-सूत्रीय व्याख्या भोगवाद के नाम से विख्यात है। इन्होंने सूत्र-निष्ठ 'संयोग' शब्द का अर्थ भोज्य-भोजक सम्बन्ध तथा 'निष्पत्ति' का अर्थ भोग या भुक्ति माने, अतएव आपका अभिमत भोगवाद के नाम से अभिहित किया जाता है। इनकी दृष्टि नाटक के सामाजिक के साथ काव्य के सहृदय पाठक की ओर भी गई तथा पहली बार साधारणीकरण की दृष्टि से भी इन्होंने रस विवेचन किया।

एतदर्थ इन्होंने सर्वप्रथम तीन शब्द-व्यापारों की उद्भावना की—अभिधा, भावना (भावकत्व) और भोग (भोजकत्व)। इनमें अभिधा व्यापार तो पूर्वतः स्वीकृत थी, अन्य दोनों की इन्होंने स्वयं उद्भावना की। तदनुसार इनके कहने का तात्पर्य यह है कि 'काव्य के पाठक और नाटक के सामाजिक सर्वप्रथम अभिधा व्यापार के द्वारा अर्थ-ग्रहण करते हैं। तदनन्तर वे व्यक्ति-विशेष में उत्पन्न रत्यादि भावों की प्रतीति भावना-व्यापार के द्वारा व्यक्ति-सम्बन्ध-शून्य रूप में अर्थात् सामान्य रूप में करने लगते हैं। इस व्यापार के प्रभाव से केवल भावों की ही नहीं प्रत्युत विभाव, अनुभाव, संचारी आदि सभी उपकरणों की प्रतीति इन्हें वैयक्तिक-सम्बन्ध-विहीन रूप में होने लगती है। तात्पर्य यह कि उन्हें भावना व्यापार के द्वारा विभावादि का 'साधारणीकरण' हो जाता है। यह कार्य अभिधा से संभव नहीं है। यदि ऐसा होता तो काव्य में रसानुकूल अलंकार, रीति, वृत्ति आदि विधि-विधानों के उल्लेख की कोई अपेक्षा नहीं होती। काव्य के अर्थ को मन में रमा देने के लिए—उनका भावन करा देने के लिए अभिधान से भिन्न एक विलक्षण व्यापार की आवश्यकता है।[2] भट्टनायक की दृष्टि में यह व्यापार 'भावना' ही है तदनन्तर भावना

---

१ साइकोलाजिकल स्टडीज़ आफ रस। पृ० ४३-४४।

२ तत्राभिधा भावो यदि शुद्धः स्यात्तत्तन्त्रादिभ्यः शास्त्रन्यायेभ्यः श्लेषाद्यलंकाराणां को भेदः ? वृत्ति-भेद-वैचित्र्यं चाकिंचित्करम्। श्रुतिदुष्टादिवर्जनम् च किमर्थम् ? तेन रसभावनाख्यो द्वितीयो व्यापारः, च द्वशादभिधाविलक्षणैव।
—लोचन। द्वि० उ०। पृ० १८३।

के द्वारा विभावादि के साधारणीकृत हो जाने पर 'भोग' नामक तृतीय शब्द-व्यापार के द्वारा सहृदय और सामाजिक रस का आस्वाद करते हैं।'

भट्टनायक के अनुसार यह भावित रस का भोग (आस्वाद) साधारण लौकिक भोग से विलक्षण परब्रह्मास्वाद के समान है। सामान्य प्रत्यक्षानुभव और स्मृत्यात्मक अनुभव से भी यह रसास्वाद सर्वथा विलक्षण है।

समीक्षा १—अभिनवगुप्त ने भट्टनायक-प्रतिपादित भावना और भोग नामक दो सर्वथा नवीन शब्द-व्यापारों का खंडन किया है। लक्षणा और व्यंजना नामक शब्द-शक्तियों के अस्तित्व में दो नवीन शब्द-शक्तियों की स्वीकृति श्रेयस्कर नहीं है। अभिनवगुप्त की दृष्टि में शब्दों में व्यंजकता होती है जिससे विभावन नामक एक विलक्षण व्यापार का स्वतः उद्भव होता है और वही विभावादि को विभावित कर सहृदयों को साधारणीकरण करा देने की सामर्थ्य रखता है।

२—वस्तुतः विचार-पूर्वक देखा जाय तो भट्टनायक-प्रतिपादित भावना-व्यापार-जन्य साधारणीकरण होता ही नहीं है। भट्टनायक के साधारणीकरण में वैयक्तिक सम्बन्ध और देश-कालादि के भाव का परिहार बताया गया है किन्तु सभी स्थलों में यह संभव नहीं है। उदाहरणार्थ एक ऐसे नाटक को लीजिए जिसमें किसी एक ही धीरोदात्त नायक की दो नायिकाओं का शील-निरूपण किया गया हो और इसमें से एक तो ईर्ष्यालु, द्रष्टा और कलह की साकार प्रतिमूर्ति हो एवं दूसरी शान्त, नेक और सतीसाध्वी हो। क्या ऐसे प्रसंग में हम दोनों के साथ तादात्म्य स्थापित कर सामान रस-बोध कर सकते हैं? अभिनय के समाप्ति-काल पर्यन्त हमें दोनों के वैयक्तिक अन्तर को बनाए रखना होगा। इसी प्रकार साधारणीकरण-क्रम में देश और काल के मान को भी भुलाया नहीं जा सकता है। अभिनय के समय किसी अनुकार्य को भारतीय पोशाक में देखकर तथा किसी अरब-निवासी को विशुद्ध हिन्दी में बोलते हुए सुनकर साधारणीकरण करना दुष्कर है।

३—तथापि भट्टनायक के भोगवादी सिद्धान्त का महत्व कम नहीं है। इनके द्वारा प्रतिपादित सत्त्वोद्रेक, विश्रान्ति, साधारणीकरण आदि विषयों को अभिनवगुप्त ने भी यथावत् स्वीकार किया और इसी को स्पष्ट कर रस को ब्रह्मास्वाद सहोदर प्रमाणित किया। रसमीमाँसा में आज भी इन विषयों को किसी-न-किसी रूप में स्वीकृति प्राप्त है। नाटक के सामाजिक के अतिरिक्त काव्य के पाठक की रसानुभूति की दृष्टि से भी प्रायः इन्होंने ही पहली बार विवेचन किया। अभिनवगुप्त के सर्वमान्य अभिव्यक्तिवाद से भोगवाद का अन्तर केवल भावना और भोग व्यापारों के नामों के आधार पर ही है, अन्यथा दोनों में कोई तात्त्विक भेद नहीं है।

(घ) अभिव्यक्तिवाद

अभिनवगुप्त के द्वारा प्रस्तुत भरत-सूत्र की व्याख्या भिव्यक्तिवाद के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी है। इन्होंने सूत्रनिष्ठ संयोग

शब्द का अर्थ व्यंग्य-व्यंजक सम्बन्ध या प्रकाश्य प्रकाशक सम्बन्ध तथा निष्पत्ति का अर्थ अभिव्यक्ति निर्धारित किया। तदनुसार भरत सूत्र का अर्थ इस रूप में स्वीकृत हुआ :—

"रति, हास आदि स्थायी भाव सामाजिकों के अन्तःकरण में वासनात्मक संस्कार के रूप में पूर्वतः विद्यमान रहते हैं। काव्य के श्रवण तथा नाटक के दर्शन से सहृदयों के मनोगत स्थायी भावों का विभावादि के साथ संयोग होता है और वे सुप्त स्थायी भाव ही रस रूप में अभिव्यक्त हो जाते हैं। रसाभिव्यक्ति के पूर्व सामाजिक और सहृदय विभावन नामक एक अलौकिक व्यंजना-व्यापार के द्वारा उन विभावादियों के साथ साधारणीकरण भी कर लेता है। रसनिष्पत्ति की इस प्रक्रिया में विभावादि हुए व्यंजक या प्रकाशक और रस हुआ व्यंग्य या प्रकाश्य। स्थायी भाव की रस-रूप में अभिव्यक्ति उसी प्रकार होती है जैसे मिट्टी के पात्र में पूर्वतः स्थितगंध जल के संयोग से अभिव्यक्त हो जाती है।"[1] चूँकि अभिनव ने रस की अभिव्यक्ति या व्यंजना स्वीकार की है, अतएव इनका सिद्धान्त अभिव्यक्तिवाद के नाम से विख्यात है।

समीक्षा १—अभिनव साधरणीकरण तो मानते हैं किन्तु भट्टनायक की तरह उसे भावना-व्यापार का परिणाम न बताकर व्यंजना के विभावन-व्यापार का परिणाम स्वीकार कर लेते हैं।

२—रस की स्थिति के सम्बन्ध में भी अभिनव का विचार अधिक सुलझा हुआ है एवं स्पष्ट है। रस की स्थिति इन्होंने न तो मूलनायक में मानी और न अनुकर्त्ता नटों में, प्रत्युत सामाजिकों और सहृदयों के हृदय में। काव्य के पाठकों और नाटक के प्रेक्षकों का अनुभाव ही इसका साक्ष्य है।

३—भट्टनायक और अभिनवगुप्त इन दोनों व्याख्याकारों की व्याख्यायें समानतः युक्तियुक्त हैं किन्तु भट्टनायक ने जहाँ भावना और भोग नामक दो नवीन शब्द-व्यापारों की कल्पना वहाँ अभिनव ने व्यंजना के विभावन व्यापार से ही रस-व्याख्या प्रस्तुत कर दी।

४—अभिनव ने भट्टनायक के भोगवादी सिद्धान्त की यत्किंचित् त्रुटियों का भी परिमार्जन अभिव्यक्तिवाद में कर दिया, अतएव यह सिद्धान्त दोष-रहित होने के कारण सर्वमान्य हो सका है। आज भी यह सिद्धान्त सर्वमान्य है।

(ङ) दोषवाद

पण्डिराज जगन्नाथ ने "रसगंगाधर" नामक ग्रन्थ में नवीन विद्वानों के मतानुसार रसनिष्पत्ति के सम्बन्ध में दोषवाद नामक एक नवीन मत का उल्लेख किया

---

१ अभिनवभारती। प्रथम भाग, पृ० २८४

है। ये नवीन विद्वान् कौन थे तथा किस ग्रन्थ में उन्होंने इस अभिमत को प्रस्तुत किया—इस सम्बन्ध में जगन्नाथ मौन हैं। इन तथाकथित नवीन विद्वानों ने भरत-सूत्र के "संयोग" शब्द का अर्थ "भावना रूपी दोष" तथा "निष्पत्ति" का अर्थ "उत्पत्ति" स्वीकार किया है। तदनुसार रसनिष्पत्ति की व्याख्या इस प्रकार की गई है :—

"काव्य में कवि के द्वारा और नाटक में नट के द्वारा, जब विभाव आदि प्रकाशित कर दिए जाते हैं, वे उन्हें सहृदयों के सामने उपस्थित कर चुकते हैं, तब हमें, व्यंजना वृत्ति के द्वारा, दुष्यन्त आदि की जो शकुन्तला आदि के विषय में रति थी, उसका ज्ञान होता है—हमारी समझ में यह आता है कि दुष्यन्त आदि का शकुन्तला आदि के साथ प्रेम था। तदन्तर सहृदयता के कारण एक प्रकार की भावना उत्पन्न होती है जो कि एक प्रकार का दोष है। इस दोष के प्रभाव से हमारा अन्तरात्मा कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छादित हो जाता है—अर्थात् हम उस दोष के कारण अपने को, मन ही मन, दुष्यन्त समझने लगते हैं। तब जैसे (हमारे) अज्ञान से ढँके हुए सीप के टुकड़े में चांदी का टुकड़ा उत्पन्न हो जाता हैं—हमें सीप के स्थान में चांदी की प्रतीति होने लगती है; ठीक इसी तरह पूर्वोक्त दोष के कारण कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छादित अपने आत्मा में शकुन्तला आदि के विषय में, अनिर्वचनीय सत्असत् से विलक्षण (अतएव जिनके स्वरूप का ठीक निर्णय नहीं किया जा सकता ऐसी) रति आदि चित्तवृत्तियां उत्पन्न हो जाती हैं—अर्थात् हमें शकुन्तला आदि के साथ व्यवहारतः बिलकुल झूठे प्रेम आदि उत्पन्न हो जाते हैं, और वे (चित्तवृत्तियां) आत्मचैतन्य के द्वारा प्रकाशित होती हैं। बस, उन्हीं विलक्षण चित्त-वृत्तियों का नाम "रस" है।[1]

समीक्षा १—अज्ञातनामा नवीन विद्वानों ने भावना नामक एक विचित्र दोष की उद्भावना की है। इससे कहीं अधिक युक्ति संगत तो भोगवादियों का भावना नामक शब्द-व्यापार है यह एक कष्ट-कल्पना है।

२—दोषवादियों की दृष्टि में वासना या संस्कार का कोई महत्त्व नहीं है। प्रत्येक काव्य-पाठक और नाटक-दर्शक के हृदय में चित्रवृत्तियां उत्पन्न हो सकती हैं और उन्हें रसानुभूति हो सकती है। किन्तु वस्तुस्थिति इससे भिन्न है। यह प्रत्यक्षानुभूत विषय है कि काव्य के सभी श्रोताओं और नाटक के सभी प्रेक्षकों को रसानुभूति नहीं होती है। "वासना" से युक्त व्यक्ति ही रसवाद के अधिकारी हैं, शेष व्यक्ति तो प्रेक्षागृह के भीतर बने लकड़ी या पत्थर के खम्भे के समान ही होते हैं।[2]

१ पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी : हिन्दी रसगंगाधर, प्र० भा०। पृ० ६७-६८

२ सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्।
निर्वासनास्तु रंगांतः काष्ठ-कुड्याश्म-सन्निभाः॥

—सा० द० ।३।८ (वृत्ति)

३—रत्यादि चित्तवृत्तियों को अनिर्वचनीय मानना भी युक्तिसंगत नहीं है। चित्तवृत्तियां तो वस्तुत: मनोविकार हैं। इनकी व्याख्या प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने स्थायी और संचारी भावों के रूप में तथा आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने मनोवृत्ति और मनोविकार के रूप में की है।

४—सीप के टुकड़े में चांदी की भ्रमात्मक प्रतीति से रसानुभूति की तुलना भी सर्वथा हास्यास्पद है। भ्रम और रसानुभूति में किसी प्रकार का साम्य नहीं है। वस्तुत: भ्रमात्मक ज्ञान बाधित होता है अर्थात् भ्रम के दूर हो जाने पर सीप को हम सीप ही समझने लगते हैं, चाँदी नहीं। इसके विपरीत, रसप्रतीति के अनन्तर भी हमें उसको बोध तद्वत् बना रहता है। सहृदयों का हृदय ही इसका प्रमाण है।

फलत: रस-निष्पत्ति की व्याख्या के लिए प्रस्तुत किए गए उपर्युक्त पाँच सिद्धान्तों में अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवादी सिद्धान्त ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण, युक्तिसंगत एवं समीचीन है। यही कारण है कि समीक्षा-शास्त्र के इतने विकास के बाद आज भी यह सिद्धान्त सर्वमान्य है।

(३) साधारणीकरण

संस्कृत के रस शास्त्र में साधारणीकरण सिद्धान्त का स्वतन्त्र चिन्तन नहीं हुआ है। रस-निष्पत्ति सिद्धान्त के अन्तर्गत ही विवेचन का अंग बन कर यह सिद्धांत भी आया है। साधारणीकरण के स्वतन्त्र-चिन्तन की प्रवृत्ति आधुनिक हिन्दी के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में दृष्टिगोचर होती है। तथापि रसनिष्पत्ति के अन्तर्गत भी अंग-रूप में साधारणीकरण की चिन्तना करने वाले संस्कृत के आचार्यों में उल्लेखनीय हैं—भट्टनायक, अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ और जगन्नाथ। क्रमश: उनके विचारों का सार संकलित है :—

भट्टनायक :—इनकी दृष्टि में, रसानुभूति के पूर्व सामाजिक और सहृदय निविड़ निजमोह रूपी संकट से ग्रस्त रहते हैं। अतएव काव्यगत या नाटकगत विभावादि आत्मीय, तटस्थ या साधारण रूप में इन्हें ज्ञात नहीं होते हैं। अभिधा व्यापार के द्वारा अर्थबोध के अनन्तर भावकत्व (भावना) व्यापार के द्वारा यह "मोहसंकट" दूर हो जाता है और तब ये विभावादि साधारणी कृत होकर उन्हें प्रतीत होते हैं। तदनन्तर सत्त्व गुण के उद्रेक से भोजकत्व (भोग) व्यापार के द्वारा अनुभव-स्मृत्यादि-विलक्षण, परब्रह्मास्वादतुल्य आनन्दमय रस की अनुभूति उन सामाजिकों को होती है।[1]

अभिनवगुप्त :—इन्होंने भट्टनायक की साधारणीकरण-सम्बन्धी मान्यता को ही थोड़े से संशोधन के साथ अंगीकृत किया। भट्नायक के नवोद्भावित भावना और भोग नामक शब्द-व्यापारों के स्थान में इन्होंने विभावन और व्यंजना नामक

१ अभिनवभारती। प्र० भा० पृ० २७७

व्यापारों को स्वीकार किया। तदनुसार, अभिनव की दृष्टि में, अभिधा के द्वारा अर्थबोध के अनन्तर, विभावन के द्वारा पाठकों और प्रेक्षकों का विभावादि के साथ सम्बन्ध-विशेष का (यह मेरा है, यह शत्रु का है और यह तटस्थ का है--इस प्रकार के सम्बन्ध का), परिहार हो जाता है और अन्ततोगत्वा व्यंजना व्यापार के द्वारा उन्हें आनन्दस्वरूप विलक्षण रस की अनुभूति होती है। सम्बन्ध-विशेष-परिहार के परिणामस्वरूप ही भयादिक प्रतिकूल भावों की भी सुख-दुःखादिहीन निर्विघ्न प्रतीति होती है।[1]

मम्मट और विश्वनाथ:--इन दोनों आचार्यों ने अभिनवगुप्त की ही मान्यता का समर्थन एवं विश्लेषण किया। तात्पर्य यह कि विभावन और व्यंजना नामक दो व्यापार इन्हें भी मान्य हुए। मम्मट ने इस दिशा में दो विशेष बातों की ओर संकेत किया—(१) अपरिमित प्रमातृत्व और (२) सम्बन्ध-विशेष-स्वीकार परिहारानियमनाध्यवसाय[2]। "अपरिमितप्रमातृत्व" को तो शब्द-भेद से अभिनवगुप्त ने भी स्वीकार किया था। तात्पर्य यह कि रसानुभूति मात्र एक सहृदय या सामाजिक को नहीं होती है बल्कि उन सभी सहृदयों या सामाजिकों को होती है जिनके हृदय में वासना विद्यमान रहती है। दूसरी बात यह कि रसानुभूति के क्षण में किसी आलम्बन के सम्बन्ध में न आत्मीयता की स्वीकृति का निश्चय होता है और न स्वत्व के परिहार का ही। तात्पर्य यह कि सामाजिक सामान्य रूप में उसे गृहीत करते हैं। आलम्बनभूत सीता या शकुन्तला का ग्रहण सामान्य कामिनीत्व के रूप में होता है। विश्वनाथ ने अभिनवगुप्त की साधारणीकरण-सम्बन्धी मान्यता के स्पष्टीकरण-प्रसंग में आश्रय और प्रमाता के तादात्म्य की ओर भी संकेत किया। इनकी दृष्टि में विभावन व्यापार के प्रभाव से प्रमाता समुद्र लांघने वाले आश्रयभूत हनुमान् के साथ भी तादात्म्य स्थापित कर वैसा ही अनुभव करने लगता है। यह साधारणीकरण केवल आलम्बन का ही नहीं होता है प्रत्युत स्थायी, संचारी और अनुभाव आदि सभी उपकरणों का[3]। इस प्रकार मम्मट और विश्वनाथ ने

---

१ अभिनवभारती। पृ० २७९।

२ काव्य-प्रकाश। ४।२८ की अभिनवगुप्त सम्बन्धी व्याख्या।

३ व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः।
तत्प्रभावेण यस्सासन् पाथोधिप्लवनदयः ॥
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानंप्रतिपद्यते ।
उत्साहादि-समुद्बोधः साधारण्याभिमानतः ॥
नृणामपि समुद्रादिलंघनादौ न दुष्यिति ।
साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत् प्रतीयते ॥
परस्य न हरस्येति ममेति न ममेति च ।
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते ॥ —साहित्यदर्पण। ३।९-१२।

साधारणीकरण के सम्बन्ध में मूलतः तो अभिनवगुप्त की मान्यता को ही स्वीकृत किया किन्तु उसके विशदीकरण के क्रम में कई नई बातों का भी उल्लेख किया ।

जगन्नाथः—इन्होंने "नवीन विद्वानों" की ओर से सर्वथा चौंका देने वाली नई बात कही । इनके अनुसार आश्रय के साथ तादात्म्य या अभेदाभ्यास स्थापित कराने वाली रसानुभूति एक भ्रमात्मक ज्ञान है । वस्तुतः यह साधारणीकरण न तो भट्टनायक-प्रतिपादित भावना-व्यापार से होता है और न अभिनवगुप्त-स्वीकृत विभावन-व्यापार से, बल्कि सतत् काव्यानुशीलन के परिणाम स्वरूप सामाजिक में एक "दोष" उत्पन्न होता है जिसके प्रभाव से वह दुष्यन्तादि आश्रयों के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है[1] । यह एक प्रकार की कष्ट-कल्पना है ।

इस प्रकार समस्त संस्कृत काव्य-शास्त्र में विवेचित साधारणीकरण सिद्धान्त का सिंहावलोकन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वहाँ आलम्बन, आश्रय, उद्दीपन (विभाव), अनुभाव, स्थायी और संचारी—इन सभी रस-तत्त्वों का समानतः साधारणीकरण स्वीकृत किया गया है । आश्रय और आलम्बन की प्रतिकूलता के आधार पर साधारणीकरण में बाधा होने की समस्या उठायी ही नहीं गई है । इतना अवश्य है कि ऐसी स्थिति में प्रकृति विपर्यय नामक एक प्रकार का रस दोष स्वीकार किया गया है । यों, रस-दोष विवेचन के साथ साधारणीकरण का परोक्ष सम्बन्ध तो है ही; तथापि इन सारे बिखरे हुए विचारों की एकसूत्रता की अपेक्षा ज्यों की त्यों बनी रहती है ।

(४) रस के उपकरण

रस को सैद्धान्तिक रूप में प्रस्तुत करने वाले प्रथम आचार्य भरत ने अपने रस-सूत्र के द्वारा रस-निष्पत्ति के प्रतिपादन के अतिरिक्त उसके उपकरणों पर भी प्रकाश डाला है । विभाव, अनुभाव, और संचारीभाव—इन उपकरणों का आख्यान तो उस सूत्र में ही हुआ है तथा शेष स्थायीभाव-सदृश महत्त्वपूर्ण उपकरण को नाट्यशास्त्र के छठे और सातवें अध्यायों में वर्णित किया गया है । प्रत्येक उपकरण को भिन्न-भिन्न रस के आलोक में रख कर भी भरत ने विवेचन किया है । अनन्तर रस-शास्त्र की परम्परा में आने वाले सभी आचार्यों ने इस दिशा में भी भरत का अनुसरण किया और रस के प्रत्येक उपकरण का विशद विवेचन एवं विश्लेषण किया । इन्हीं उपकरणों को काव्य-शास्त्र में रस-सामग्री भी कहते हैं । अतएव इस अध्ययन-खंड में परम्परागत रस-शास्त्रीय प्रमुख ग्रन्थों के आधार पर विभाव, अनुभाव, संचारी भाव और स्थायी भाव—इन चार रसोपकरणों का शास्त्रीय परिचय दिया जाता है ।

---

१ हिन्दी गंगाधर, पृ० ६८ ।

(क) विभाव

संस्कृत काव्य शास्त्र में रस को अलौकिक मानने के कारण उसके निष्पादक उपकरणों के नामकरण में भी विलक्षणता प्रदर्शित करने की प्रवृत्ति देखी जाती है। लोक-व्यवहार में जिसे हेतु, करण, निमित्त आदि शब्दों से अभिहित किया जाता है उसे ही भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में "विभाव" कहा। इसे विभाव कहने का मुख्य कारण यह है कि यह उपकरण वाचिक, आंगिक और सात्त्विक अभिनय की सहायता से सामाजिकों की वासनात्मक मनोवृत्तियों को विभावित अर्थात् विशेष ज्ञान करा देता है[1]। परवर्ती काल में श्रव्य काव्यात्मक रस की विवेचना के प्रसंग में अभिनय के साहाय्य की चर्चा को छोड़ कर भरत-निरूपित शेष विभाव-स्वरूप को ही अन्य आचार्य भी शब्द-भेद से दुहराते रहे। मम्मट ने लौकिक कारण को ही काव्य और नाट्य में विभाव स्वीकृत किया। विश्वनाथ ने रत्यादि के उद्‌बोधकों (लोक-व्यवहार में) को काव्य और नाट्य में विभाव माना[२]। इसी प्रकार भानुदत्त ने रस को विशेष रूप में भावित-उत्पन्न कराने वाले उपकरण को विभाव की संज्ञा दी[3]।

इस विभाव के मुख्यतः दो भेद माने गए—आलम्बन और उद्दीपन। चित्तवृत्ति के विषय को आलम्बन तथा उसके निमित्त को अर्थात् उद्दीपक-सामग्री को उद्दीपन विभाव स्वीकृत किया गया है[४]। इस आलम्बन विभाव के भी दो भेद माने गए हैं—विषयालम्बन और आश्रयालम्बन। जिसे अवलम्ब या विषय बनाकर रत्यादि स्थायी-भाव जाग्रत होते हैं, वह तो विषयालम्बन है और उस विषयालम्बन के प्रति जिस व्यक्ति के चित्त में ये भाव जागते हैं वह आश्रयालम्बन है। इस प्रकार विषय, आश्रय और उद्दीपन—इन तीनों की गणना विभाव के अन्तर्गत की गई। परवर्तीकाल में विषयालम्बन के लिए मात्र आलम्बन शब्द का प्रयोग किया जाने लगा[५]।

(अ) **आलम्बन विभाव**:—संस्कृत के अधिकांश रस-ग्रन्थों में आलम्बन विभाव के अन्तर्गत विशद रूप में नायक-नायिका भेदों को प्रस्तुत किया गया है।

---

१ विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः विभाव्यतेऽनेन वागंगसत्वाभिनय इति विभावः। यथा विभावितं विज्ञातमिति अर्थान्तरम्।
बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागंगाभिनयाश्रयाः।
अनेन यस्मात् तेनायं विभाव इति संज्ञितः॥ —नाट्यशास्त्र। ७।४।

२ रत्याद्युद्‌बोधका लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः। —साहित्यदर्पण। ३।२९।

३ विशेषेण भावयन्त्युत्पादयन्ति ये रसांस्ते विभावाः —रसतरंगिणी। पृ० १।

४ यस्याः चित्तवृत्तेः यो विषयः स तस्या आलम्बनम्।
निमित्तानि ज उद्दीपकानि इति बोध्यम्। —रसगंगाधर। पृ० ३३।

५ आलम्बनं नायकादिस्तमालम्ब्य रसोद्‌गमात्।—सा० द०। ३।२९।

वस्तुतः, ये नायक और नायिकाओं के विपुल भेद एक मात्र शृंगार रस के आलम्बन हैं। अन्य रसों के प्रसंग में मात्र दो-एक आलम्बनों का ही उल्लेख किया गया है। तात्पर्य यह कि शृंगार-रस के आलम्बन का विवरण तो बड़े विस्तार के साथ प्रस्तुत किया गया है और अन्य हास्य-वीरादि रसों के आलम्बन की चर्चा अत्यन्त संक्षेप में की गई है। इसी परम्परा का अतिशय प्रभाव हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों पर भी पाया जाता है। समस्त संस्कृत साहित्य में आलम्बन विभाव के विवरण की दृष्टि से देखें तो भरत और शारदातनय–ये दो ही ऐसे आचार्य उपलब्ध होते हैं जिन्होंने सभी रसों के आलम्बन को समान महत्व प्रदान किया तथा शृंगार के आलम्बन-नायक-नायिका को अतिविस्तार के साथ निरूपित नहीं किया। शारदातनय के अनुसार शृंगार रस के मधुर, सुकुमार, तथा रूप-यौवन-सम्पन्न तन्वंगी और तरुण; हास्य रस के व्यंग्य, विकृताकार तथा परचेष्टानुकारी व्यक्ति; और वीर रस के त्यागी, सत्य-सम्पन्न, शूरवीर तथा विक्रमशील पुरुष; रौद्र रस के बहुबाहु, बहुमुख, भीमदंष्ट्र तथा क्रूर, उद्धत और शठ; अद्भुत रस के विचित्र आकृति, वेश, आचार तथा विभ्रम, माया-लीला-विलासी व्यक्ति; करुण रस के कृश, विषण्ण, मलिन, रोगी तथा दरिद्र आदि; बीभत्स रस के निन्दित आकृति, वेश, या आचार वाले तथा पिशाच आदि; भयानक रस के महारण्य में प्रविष्ट, महान् संग्राम में गए हुए अथवा गुरु तथा राजा के अपराधी लोग–आलम्बन हैं[1]। इसी प्रकार भरत ने भी सभी रसों के आलम्बन का सन्तुलित निरूपण किया है किन्तु संक्षेप में नायक-नायिका भेदों का भी उल्लेख किया है।

नायक-नायिका भेद :—संस्कृत के अधिकांश रस-ग्रन्थों में शृंगार के आलम्बन नायक-नायिकाओं का ही विस्तृत निरूपण पाया जाता है। अतएव उनकी पृथक् चर्चा वांछित है। भिन्न-भिन्न आधारों पर नायक-नायिकाओं के वर्गीकरण हुए हैं।

नायक भेद :—भरत ने नायक को प्रकृति के आधार पर तीन प्रकार का माना—उत्तम, मध्यम और अधम; शील के आधार पर चार प्रकार का—धीरोद्धत, धीर-ललित, धीरोदात्त और धीरप्रशांत; नारी के प्रति व्यवहार के आधार पर पांच प्रकार का—चतुर, उत्तम, मध्यम, अधम और संप्रवृद्ध। रुद्रट ने नायिका के प्रति व्यवहार के आधार पर चार भेद किए—अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट। तत्पश्चात् भोज ने कथावस्तु के आधार पर—नायक, प्रतिनायक, उपनायक, नायकाभास, उभयाभास और तिर्यगाभास, प्रकृति के आधार पर तीन भेद--सात्विक, राजस और तामस, परिग्रह के आधार पर—साधारण (अनेकानुरक्त) और अनन्यजाति (अनन्यानुरक्त), भरत सम्मत उत्तमादि तीन भेद तथा धीरोद्धतादि चार भेद। विश्वनाथ

१ भावप्रकाशन, बड़ौदा–१९३० ई०। अधिकरण ३, पृ० ५६।

ने भी इन्हीं भेदों को दुहराया, कोई नई उद्भावना नहीं की। मम्मट ने इस दिशा में कुछ लिखा ही नहीं। "रसमंजरी" के प्रणेता भानुमिश्र ने नए ढंग से नायक-भेदों को प्रस्तुत किया। प्रथम तो पति, उपपति और वैशिक—ये तीन भेद स्वीकार किए। पति के पुनः चार भेद—अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट और शठ। शठ के मानी और चतुर नामक दो भेद किए तथा चतुर को भी वाक्चतुर और चेष्टाचतुर नामक उपभेदों में बांट दिया। प्रवास के आधार पर भी इन्होंने नायक के तीन भेद किए—प्रोषितपति, प्रोषितोपपति और प्रोषित वैशिक। विश्वनाथ द्वारा जाति के आधार पर किए गए तीन भेदों-दिव्य, अदिव्य, दिव्यादिव्य-को भानुमिश्र ने स्वीकार नहीं किया। शृंगारमंजरी के लेखक संत अकबर साह ने भी कुछ एक नवीन उद्भावनाएं इस क्षेत्र में कीं। शठ नायक के अन्तर्गत प्रच्छन्न और प्रकाश नामक दो नए भेद इन्होंने माने। दो अन्य आधारों पर क्रमशः प्रोषित, अमिलित और विरही नामक तीन भेद तथा भद्र, दत्त, कुचुमार और पांचाल नामक चार भेद इन्होंने स्वीकार किए।

नायिकाभेद—भरत ने कई आधारों पर नायिका के भेद किए हैं। तदनुसार-सामाजिक व्यवहार के आधार पर बाह्या (कुलीना), आभ्यंतरा (वेश्या) और बाह्याभ्यंतरा अथवा कृतशोचा (वेश्यावृत्ति छोड़कर शुद्धरूप से प्रेमी के साथ रहने वाली); फिर इसी आधार पर कुलजा और कन्यका नामक दो अन्य भेद; नायक के साथ संयोग या वियोग के आधार पर आठ भेद—वासकसज्जा, विहोत्कंठिता, स्वाधीनपतिका, कलहांतरिता, खंडिता, विप्रलब्धा, प्रोषितभर्तृका और अभिसारिका; नायक के प्रति प्रेम के आधार पर तीन भेद—मदनातुरा, अनुरक्ता और विरक्ता; प्रकृति के आधार पर तीन भेद—उत्तमा, मध्यमा और अधमा; यौवन-लीला के आधार पर चार भेद—प्रथम यौवना, द्वितीय यौवना, तृतीय यौवना और चतुर्थ यौवना, तथा गुण के आधार पर चार भेद—दिव्या, नृपपत्नी, कुलस्त्री और गणिकानामक भेद किए गए हैं।

भरत के अनन्तर रुद्रट ने नायिका-भेदों में सुव्यवस्था ला दी और उनके द्वारा निर्धारित भेद ही परवर्ती काल के आचार्यों द्वारा स्वीकृत हुए। इन्होंने प्रथम तो नायिका के तीन भेद किए—आत्मीय, परकीया और वेश्या। तदनन्तर आत्मीया के रतिविलास के आधार पर तीन भेद—मुग्धा, मध्या, और प्रगल्भा; इनमें से अन्तिम दो के पतिप्रेम और मान के आधार पर क्रमशः ज्येष्ठा, कनिष्ठा और धीरा, अधीरा, मध्या। परकीया के भी दो भेद इन्होंने किए—कन्या और परोढ़ा। आत्मीया के दो अन्य भेद भी हैं—स्वाधीनपतिका और प्रोषितपतिका तथा आत्मीया, परकीया और वेश्या—इनतीनों भेदों के दो अन्य भेद भी हैं—अभिसारिका और खंडिता।

भोजराज के नायिका-भेद के आधार तथा वर्गीकरण भिन्न कोटि के हैं। इन्होंने कथावस्तु के आधार पर नायिका, प्रतिनायिका, उपनायिका, अनुनायिका और नायिकाभास; विवाह के आधार पर ज्येष्ठा और निष्ठा; मानबृद्धि के आधार

पर उद्धता, उदात्ता, शांता और ललिता; वृत्ति के आधार पर सामान्या, पुनर्भू और स्वैरिणी; जीविका के आधार पर गणिका, रूपजीवा और विलासिनी। इसके अतिरिक्त इन्होंने शृंगार-प्रकाश में पुनर्भू नायिका के चार उपभेदों का तथा सामान्या नायिका के पाँच उपभेदों का उल्लेख किया है। पुनर्भू के अन्तर्गत अक्षता, क्षता, यातायाता और यायावरा; सामान्या के अन्तर्गत ऊढा, अनूढा, स्वयंवरा, स्वैरिणी और वेश्या।

भानुमिश्र ने अपने समय तक प्रचलित सभी महत्त्वपूर्ण नायिका भेदों को व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत किया। तदनुसार प्रथम तीन भेद हैं—स्वीया, परकीया और सामान्या। स्वीया के प्रमुख तीन भेद हैं—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा। मुग्धा के भी दो भेद—अज्ञात यौवना और ज्ञात-यौवना तथा नवोढ़ा और विश्रब्ध-नवोढ़ा। प्रगल्भा के भी दो भेद हैं—रतिप्रीतिमती और आनंदसंमोहवती। मध्या और प्रगल्भा नायिकाओं के मानावस्थाजन्य तीन-तीन भेद हैं—धीरा, अधीरा और धीराधीरा। पुनः इन छः प्रकार की नायिकाओं के पति-स्नेह के आधार पर दो-दो भेद हैं—ज्येष्ठा और कनिष्ठा। फलतः स्वीया के तेरह भेद हो जाते हैं। परकीया के भी दो भेद हैं—परोढा और कन्यका। परकीया के अन्तर्गत ही गुप्ता, विदग्धा, लक्षता, कुलटा, अनुशयना, मुदिता आदि भेद समाविष्ट कर दिए गए हैं। सामान्या का कोई अवान्तर्भेद नहीं वर्णित किया गया है। फलतः स्वीया १३, परकीया २ और सामान्या १—कुल मिलाकर १६ भेद हो गए। इन सभी भेदों को पुनः स्वाधीनपतिकादि आठ भेदों तथा उत्तमादि तीन भेदों में विभक्त कर दिया गया है और इस प्रकार नायिका-भेदों की संख्या ३८४ (१६×८×३=३८४) तक पहुंचा दी गई है। उक्त भेदों के अतिरिक्त अन्यसंभोगदुःखिता, वक्रोक्तिगर्विता (प्रेमगर्विता और सौंदर्यगर्विता) और मानवती तथा अवस्थानुसार किए गए भेदों में प्रवत्स्यत्पतिका नामक भेदों का भी उल्लेख इन्होंने किया है।

नायिका-भेद विषयक अन्तिम संस्कृत ग्रंथ है शृंगारमंजरी (अकबर साह)। इसमें कतिपय नवीन भेद हैं। तदनुसार मध्या नायिका के प्रच्छन्न और प्रकाश, प्रगल्भा नायिका के परकीया और सामान्या, परोढा के उद्बुद्धा और उद्बोधिता, उद्बुद्धा नायिका के सात-उपभेदों में से निपुणा (स्वयंदूती), लक्षिता, और साहसिका उपभेद; उद्बोधिता नायिका के धीरा, अधीरा आदि तीन उपभेद, सामान्या के पाँच-उपभेद-स्वतंत्रा, अनन्याधीना, नियमिता, क्लृप्तानुरागा और कल्पितानुरागा उल्लेख्य हैं। अवस्थानुसार किए गए भेदों में 'वक्रोक्तिगर्विता' नामक भेद भी नूतन है। अकबर साह ने हस्तिनी, चित्रणी आदि कामशास्त्रीय भेदों का भी नायिका-भेद के प्रसंग में समावेश कर दिया है।

हिन्दी के रीतिकालीन ग्रन्थों में किए गए नायिका-भेदों पर भानुमिश्र एवं अकबर साहि के ग्रन्थों का ही अत्यधिक प्रभाव है।

उद्दीपन विभाव—रस को उद्दीपित करनेवाली सामग्री को उद्दीपन विभाव कहा गया है।[1] सामान्यतः अधिकांश काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में आलम्बन की चेष्टा, रूप, भाषण, तथा देशकालादि को उद्दीपन विभाव स्वीकार किया गया है।[2] इनकी वृहत् सूची नहीं दी गई है। इनकी संख्या गिनाई भी नहीं जा सकती है। तथापि शृंगार रस के अन्तर्गत कभी कभी सखा-सखी, दूती, उनके वचन, षड्ऋतु, चन्द्रिका, उपवन, पुष्प आदि अनेक उपादानों की एक वृहत् सूची देने का व्यर्थ प्रयास किया गया है। 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' के प्रणेता विद्यानाथ ने आलम्बन की चेष्टादि तथा देशकालादि नामक सर्वमान्य उद्दीपनों को चार वर्गों में विभाजित कर बड़े व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत किया है—आलम्बन के गुण, उनकी चेष्टायें, उनका अलंकरण तथा तटस्थ। तदनुसार इन्होंने आलम्बन के गुणों के अन्तर्गत रूप-यौवन, चेष्टाओं के अन्तर्गत हावभावादि, अलंकरण के अन्तर्गत नूपुर-अंगरागादि का धारण तथा तटस्थ के अन्तर्गत चन्द्र-मलयानिलादि परिगणित किए हैं।[3]।

शारदातनय ने आलम्बन विभाव के समान ही सभी रसों के उद्दीपन विभाव की भी एकत्र चर्चा की है। इन्होंने उनकी विशेषताओं के आधार पर आठ रसों से सम्बद्ध आठ प्रकार के उद्दीपनों का पृथक् पृथक् नामोल्लेख भी किया है—ललित, ललिताभास, स्थिर, चित्र, रूक्ष, खर. निन्दित और विकृत। मन में आह्लादकारी तथा विभिन्न इन्द्रियों से गोचर होने वाले शृंगार के उद्दीपन को ललित, दृष्ट, श्रुत, स्मृत और सूचित हास्यकारी हास्य के उद्दीपन को ललिताभास, वीररस के उत्कर्षकारी उद्दीपन को स्थिरता-प्रदायक होने के कारण स्थिर; विचित्रता के अनुभावक और अद्भुत रस के ऐश्वर्य विधायक उद्दीपन विभाव को चित्र; करुण रस के उद्दीपन विभाव को रूक्ष; रौद्र रस के उत्कर्षकारी विभाव को खर; बीभत्स के उल्लासकारी विभाव को निन्दित और इन्द्रिय स्पर्शमात्र से विकृति-जनक भयानक के उद्दीपन विभाव को विकृत प्रतिपादित किया गया है।[4]

---

१ (क) उद्दीपन विभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये। सा० द०। ३।१३१।
(ख) यो रसमुद्दीपयति स उद्दीपनविभावः। रसतरंगिणी। तरंग २, पृ० ३२।

२ आलम्बनस्य चेष्टादया देश-कालादयस्तथा।
चेष्टाद्या इत्याद्य शब्दाद्रूप भाषणादयः ॥
कालादीत्याद्यशब्दाच्चन्द्र-चन्दन-कोकिलालाप-भ्रमर-झंकारादयः।
—सा० द० ३।१३२ (पू० वृ०;

३ आलम्बनगुणो रूपयौवनादि रूदाहृतः। तच्चेष्टा यौवनाद्भूत हावभावादिका मताः।
नूपुरांगदहारादि तदलंकरणं मतम्। मलयानिल चन्द्राद्यास्तटस्थाः परिकीर्तिताः।
—प्रतापरुद्र यशोभूषण। पृ० १५९।

४ शारदातयय। भावप्रकाशन। अधि० ३ पृ० ४५।

वस्तुतः उद्दीपनों की कोई सीमा नहीं है। किन्तु इनकी देश-काल-सापेक्षता-पर ध्यान रखना नितान्त आवश्यक है। एक स्थान में या एक समय जो वस्तु उद्दीपनकारी होती है, वही दूसरे स्थान में किम्बा दूसरे समय में प्रभाव-शून्य होती है।

(ख) अनुभाव

रस-निष्पत्ति के लिए अनुभाव को भी एक अन्यतम उपकरण माना गया है। इसे ही मम्मट एवं विश्वनाथ ने रत्यादि स्थायी भावों का कार्य प्रतिपादित किया है।[1] इसमें रस को अनुभवगोचर (अनुभावित) बनाने की क्षमता है, अतएव भानुदत्त ने इसे अनुभाव कहा है।[2] आश्रय के हृदयगत भावों को अभिव्यक्त करने वाली चेष्टाएँ तथा वचन ही मुख्यतः अनुभाव हैं। इसी अर्थ में अनुभाव शब्द की व्युत्पत्ति—'अनु पश्चात् भावः उत्पत्तिः येषाम्'—की जाती है। अतएव इन्हें कारण और कार्य दोनो माना गया है। रस को अनुभवगोचर बनाने की दृष्टि से तो ये कारण कहे जाते हैं और स्थायी भाव के पश्चात् उत्पन्न होने के कारण इन्हें कार्य भी स्वीकार किया गया है। रस के अनुभावक कारण होने की दृष्टि से तो रसास्वाद-कर्ता के लिए ये आश्रय की चेष्टाएँ और वचन उद्दीपन विभाव भी बन जाते हैं। संस्कृत के सभी परवर्ती आचार्यों ने अनुभावों के परिगणन में सामान्यतः भरत का ही अनुसरण किया है, अतएव भरत के अनुसार विभिन्न रसों के अनुभाव निर्दिष्ट हैं—शृंगार के कटाक्ष-भुजक्षेपादि; हास्य के आस्याधर-विवरण, दशन-दर्शन, नासा-कपाल-स्पन्दन, दृष्टि-व्याकुंचन आदि; करुण के मुखशोष, प्रलाप, वैवर्ण्य आदि, रौद्र के भृकुटी-दन्तोष्ठ-पीड़न आदि; वीर रस के विजयवल (शौर्य-पराक्रमादि-जन्य आक्षेपकारी वचन) आदि; भयानक के रोमांच, वदन-वैवर्ण्य, स्वरभेद आदि; अद्भुत के निर्निमेष प्रेक्षण, रोमांच आदि। शांत को भरत ने नाट्य-रस नहीं माना था, अतएव उसके भावों के उल्लेख की इन्हें कोई अपेक्षा ही नहीं हुई। भरतानुसारी भानुमिश्र शांत को नाट्यरस तो नहीं मानते हैं किन्तु उसे काव्यरस मानने में आपको कोई आपत्ति नहीं है। अतएव काव्यात्मक शांत रस के अनुभाव इन्होंने आनन्दाश्रु, पुलक हर्ष-गद्‌गदवचनादि को निर्दिष्ट किया है और विश्वनाथ ने शांत के अनुभाव रोमांचादि तथा वत्सल रस के अनुभाव पुलकानन्द और बाष्पादि प्रतिपादित किए हैं।[3]

---

१ काव्यप्रकाश। ४।२७ और साहित्यदर्पण। ३।१३२-१३३।

२ रसाननभावयन्ति अनुभवगोचरतां नयन्तिते अनुभावाः कटाक्षादयः,
का रणत्वेनानुभावकता। —रसतरंगिणी। तरंग २, पृ० ४५।

३ (क) नाट्यभिन्नं परं निर्वेद-स्थायिभावकः शान्तोऽपि नवमो रसो भवति।
.........अनुभावा आनन्दाश्रुपुलकहर्षगद्‌गदवचनादयः।
—रसतरंगिणी। तरंग ७। पृष्ठ १६३-६४।

(ख) साहित्यदर्पण। ३।२४८ और ३।२५३।

भरत ने अभिनय की दृष्टि से वाचिक, आंगिक और सात्त्विक--ये तीन अनुभावों के प्रकार स्वीकार किए थे। आहार्य को इन्होंने अभिनय तो माना पर अभाव नहीं। परवर्ती काल में भानुमिश्र ने आहार्य नामक एक चतुर्थ प्रकार भी अनुभावों का स्वीकार कर लिया। शारदातनय ने अनुभावों का वर्गीकरण तो किया किन्तु नाम भिन्न रखे थे--मन आरम्भानुभाव, वागारम्भानुभाव और बुद्ध्यारम्भानुभाव। इस प्रकार अनुभावों के वर्गीकरण की प्रवृत्ति भी संस्कृत के परम्परागत आचार्यों में पाई जाती है।

(ग) सात्त्विक भाव

संस्कृत काव्य-शात्र में आठ प्रकार के सात्त्विकभावों का उल्लेख सामान्यतः पाया जाता है--स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभङ्ग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय। भरत ने स्थायी भावों और व्यभिचारी भावों (संचारी भावों के साथ) स्तम्भादि आठ सात्त्विकभावों को भी भाव की ही संज्ञा दी है।[1] पर इन्हें भाव कहना समुचित नहीं है। भाव वस्तुतः मानसिक आवेग हैं। सात्त्विक भावों का जन्म भी मानसिक आवेगों से ही होता है, पर ये प्रकट होते हैं स्थूल शारीरिक चेष्टाओं के रूप में। अतएव इन अष्टविध सात्त्विकभावों को अनुभाव स्वीकार करना ही अधिक समीचीन है। यही कारण है कि परवर्ती संस्कृत के सिद्धान्तग्रन्थों में सात्त्विकभावों को अनुभाव मान लिया गया है। विश्वनाथ ने इसे सुस्पष्ट करते हुए कहा है कि सत्त्वमात्र से उद्भूत होने के कारण ये अनुभाव से भिन्न हो सकते हैं, पर हैं ये भी अनुभाव ही। अनुभाव और सात्त्विकभाव का अन्तर "गोवलीवर्दन्याय" से समझा जा सकता है। तात्पर्य यह कि गो-शब्द गायवाची होने पर भी वलीवर्द से भिन्न और वृषभवाची होने पर उससे अभिन्न। तद्वत् सात्त्विकभाव भी सत्त्वसंभूत होने के कारण अनुभाव से भिन्न है; किन्तु शारीरिक चेष्टाओं के रूप में व्यक्त होने के कारण इससे अभिन्न। अतएव विश्वनाथ ने सात्त्विक भावों को अनुभाव-रूप (तद्रूप) मानकर इन्हें अनुभावों की तालिका में ही डाल दिया है।[3]

(घ) संचारी भाव

संचारी भाव अथवा व्यभिचारी भाव रस के सहकारी कारण कहलाते हैं। रत्यादि स्थायी भाव तो रसानुभूति के क्षणों में स्थिरतयावर्तमान रहते हैं; किन्तु

---

१ तत्राष्टौ भावाःस्थायिनः। त्रयस्त्रिंशद् व्याभिचारिणः अष्टौ सात्त्विका इति त्रिभेदाः। एवमेते काव्यरसाभिव्यक्तिहेतव एकोनपंचाशद्भावा प्रत्यवगन्तव्याः।
— नाट्यशास्त्र ।७।६ (वृत्ति)

२ साहित्य दर्पण। ३।१३४-१३५ और वृत्ति।

३ उक्ताः स्त्रीणामलंकारा अंगजाश्च, स्वभावजाः।
तद्रूपाः सात्त्विकाः भावास्तथा चेष्टाः परा अपि ॥ सा० द० ३।१३३-१३४

व्यभिचारीभाव कभी उनमें तिरोभूत हो जाते हैं तथा कभी प्रादुर्भूत (व्यक्त) होते हैं।[1] ये विभिन्न रसों में संचरण करते हैं अर्थात् एक ही व्यभिचारी भाव अनेक रस निष्ठ हो सकता है।[2] अतएव इन्हें संचारीभाव या व्यभिचारी भाव की संज्ञा दी गई है। भरत के युग से लेकर विश्वनाथ के समय तक इनके ३३ भेद ही स्वीकार किए गए हैं। भरत-प्रतिपादित ३३ व्यभिचारी भावों का उल्लेख एवं समर्थन भानुदत्त ने भी किया है। भरत-प्रतिपादित व्यभिचारी भाव हैं—निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, स्मृति, धृति, व्रीड़ा, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद्, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, सुप्ति, विवोध, अमर्ष, अवहित्थ, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास और वितर्क। इन्हीं ३३ व्यभिचारी भावों को मम्मट एवं विश्वनाथ ने भी दुहराया है।[3] इनमें से निर्वेद नामक व्यभिचारी भाव शान्त रस का स्थायी भाव भी है।[4] भरत ने शान्त रस को स्वीकार नहीं किया था, अतएव निर्वेद को स्थायीभाव का रूप देने का प्रयोजन ही आपको नहीं हुआ। काव्य-प्रकाश के टीकाकार ठाकुर ने शान्त का स्थायी भाव शम को माना है। दशरूपक के प्रणेता धनंजय की भी मान्यता यही थी।

(ङ) स्थायी भाव

जितने भी मनोविकार हैं उसमें स्थायी भावों के नाम से अभिहित मनोविकार ही प्रधान हैं। रसनिष्पत्ति पर्यन्त ये मनोविकार स्थिर रूप से विद्यमान रहते हैं, अतएव इन्हें स्थायी भाव कहा जाता है।[5] अभिनवगुप्त और मम्मट के अनुसार ये स्थायी भाव वासना के रूप में सहृदयों के अन्तःकरण में पूर्वतः विद्यमान रहते हैं और विभावादियों के संयोग से रसरूप में उसी प्रकार व्यक्त हो जाते हैं, जैसे मिट्टी में गन्ध तो पूर्वतः विद्यमान रहती है और जल का संयोग प्राप्त होने पर वही गन्ध व्यक्त होकर घ्राण-योग्य हो जाती है।[6] विश्वनाथ ने स्थायीभावों के इस

---

१ विशेषादाभिमुख्येन चरणाद्व्यभिचारिणः। स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रयस्त्रिंशश्च तद्भिदा॥ स्थिरतया वर्तमाने हि रत्यादौ निर्वेदादयः प्रादुर्भावतिरोभावाभ्यामाभिमुख्येन चरणाद् व्यभिचारिणः कथ्यन्ते। सा० द०।३।१४० और वृत्ति।

२ इतस्ततो रसेषु संचारित्वमनेकरस निष्ठत्वमनेकरस-व्याप्यत्वं व्यभिचारित्वम्।
—रसतरंगिणी। तरंग, ५, पृ० ७१।

३ काव्यप्रकाश। ४।३१-३४ और सा० द० ३।१४१

४ निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः। का० प्र० ४।३५ (पूर्वार्द्ध)

५ पराऽनभिभाव्यो मनोविकारो वा सकलप्रधानो विकारो वा स्थायिभावः। ......। चरमसमय पर्यन्तस्थायित्वादस्य स्थायित्व-व्यपदेशः।
—रसतरंगिणी। तरंग १, पृ० ११-१२

६ काव्यप्रकाश। ४।२८ (वृत्ति)

स्वरूप को दूसरे उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है। उनका कहना है कि दही का पूर्वरूप दूध है। उन दोनों में तत्त्वतः कोई पार्थक्य नहीं है। मट्ठे की सहायता प्राप्त कर दूध ही दही के रूप में परिणत हो जाता है इसी प्रकार स्थायीभाव ही विभावादि का संयोग पाकर रसों के रूप में परिणत हो जाते हैं। अन्तर यही है कि स्थायीभाव अव्यक्त रहते हैं और उनमें आस्वादनीयता नहीं रहती है किन्तु जब उनकी रसरूपों में परिणति हो जाती है तो वे आस्वाद-योग्य हो जाते हैं। इसी अवस्था में आने पर स्थायीभावों को रस की संज्ञा दी जाती है। पूर्वतः रसों की सत्ता नहीं रहती है। अन्धकार में उपस्थित घट को दीपक से जैसे जाना जाता है, उस तरह पूर्वतः विद्यमान रस का आस्वाद नहीं होता है। आस्वाद के क्षणों में ही वासना रूप से विद्यमान स्थायी भावों का रसरूपों में परिणमन होता है।[1] सच पूछिए तो स्थायीभाव रसास्वाद के लिए एक अंकुरकन्द है जिसे विरुद्ध अथवा अविरुद्ध कोई भी तिरोहित नहीं कर सकता है।[2] उपर्युक्त विवेचन से स्थायी भावों का स्वरूप और उनका रसों के साथ कौन-सा सम्बन्ध है—यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है।

संख्या :—स्थायी भावों की संख्या तो भरत ने आठ ही मानी थी—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय। भरत ने आठ ही नाट्यरस माने थे, अतएव आठ स्थायी भावों की ही उन्हें अपेक्षा थी। परवर्ती काल में आकर आनन्दवर्द्धन प्रभृति आचार्यों ने शान्त को भी नवम रस स्वीकार किया और "तृष्णाक्षयसुख" को इसका स्थायीभाव माना। शान्त रस का बीज भरत के नाट्य-शास्त्र में भी मिल जाता है।[3] अंगीरूप में शान्त-रस प्रधान कोई नाटक भरत को उपलब्ध नहीं था, अतएव स्पष्टतः शान्त को आपने नाट्यरस नहीं माना था। अभिनवगुप्त ने भी भरत की शान्तरस सम्बन्धी परोक्ष-मान्यता की ओर संकेत

---

१ विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिण तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम्॥
व्यक्तो दध्यादिन्यायेन रूपान्तर-परिणतो व्यक्तीकृत एव रसो न तु दीपेन घट इव पूर्वसिद्धो व्यज्यते। —साहित्यदर्पण।३।१ और वृत्ति

२ अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः।
आस्वादांकुर-कन्दोऽसौ भावः स्थायीति संमतः॥ —सा० द० ३।१७४

३ (क) क्वचिद्धर्मः क्वचित् क्रीडा क्वचिदर्थः क्वचित् शमः।
—नाट्यशास्त्र।१।१०६

(ख) दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद्भविष्यति॥ —वही।१।११५

(ग) ब्रह्मर्षीणां च विज्ञेयं नाट्यं वृत्तान्तदर्शनम्। —वही।१।१२१

किया है[1]। जो हो, शान्त रस को मान्यता चाहे जबसे मिली हो किन्तु जब यह सर्वस्वीकृत रस हुआ तो इसके अनेक स्थायीभाव काल-क्रम में निर्दिष्ट किए गए— तृष्णाक्षयसुख, शम, निर्वेद, वैराग्य और धृति।

बाद में प्रेय, वात्सल्य, प्रीति, स्नेह, भक्ति, श्रद्धा, लौल्य, उदात्त, उद्धत, माया, कार्पण्य और क्रीडनक नामक अतिरिक्त रसों की चर्चा भी भिन्न-भिन्न सिद्धान्त-ग्रन्थों में की गई और क्रमशः इनके स्थायी भाव मित्र विषयक रीति, आर्द्रता बालविषया रति, राजविषयक रति, भगवद्विषया रति, विश्वास, गर्ध, मति, गर्व, मिथ्याज्ञान, स्पृहा और लज्जा प्रतिपादित किए गए। इनमें से कई रसों का तो पूर्वोक्त नौ रसों में ही अन्तर्भाव हो जाता है। और अन्य कई तो इनमें व्यभिचारी भाव ही हैं, इन्हें स्थायी भावों का पद नहीं दिया जा सकता है। अतः वैसे स्थायी-भावों से निष्पन्न तथाकथित रसों की गणना का प्रश्न ही नहीं रह जाता है। उपर्युक्त रसों में केवल वात्सल्य और भक्ति ही ऐसे रस हैं, जिन्हें महत्त्व दिया गया। भक्तिरस का विस्तृत विवेचन चतुर्थ अध्याय में किया जा चुका है। वात्सल्य को परवर्ती काल के विश्वनाथ ने भी मान्यता दी[2]। मायारस को भानुदत्त की रसतरंगिणी में समर्थन प्राप्त हुआ[3] और इस ग्रन्थ का प्रभाव हिन्दी काव्य-शास्त्र पर अत्यधिक पड़ा। फलतः पूर्वोक्त नौ स्थायी भावों के अतिरिक्त बालविषयक रति, भगवद्विषया रति और मिथ्या ज्ञान—ये तीन स्थायीभाव महत्त्वपूर्ण हैं। इस प्रकार संस्कृत काव्य शास्त्र के आरम्भ में आठ या नौ स्थायी भावों को और परवर्ती काल में बारह स्थायी भावों को स्वीकृति मिली।

(५) रस-भेद

सर्वमान्य रस

संस्कृत काव्य-शास्त्र में परिनिष्ठित एवं सर्वमान्य रस आठ हैं—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में ये ही आठ नाट्यरस माने थे किन्तु शान्त-रस का संकेत आपने भी कर दिया था। अभिनेयता को ध्यान में रखकर इन्होंने नाट्यरसों के मध्य शान्ति को स्थान

---

१ प्रतीयते एवेति मुनिनाप्यंगीक्रियत एव "क्वचिच्छमः" इत्यादि वदता।
—लोचन, पृ० १७७।

२ साहित्यदर्पण। ३।२५१-२५४।

३ चित्तवृत्ति द्विधा-प्रवृत्तिर्विवृतिश्चेति। निवृत्तौ यथा शान्तरसस्तथाप्रवृत्तौ माया-रस इति।...। लक्षणं च प्रबुद्ध मिथ्या-ज्ञानवासना माया रसः। मिथ्याज्ञानमस्य स्थायिभावः। विभावाः सांसारिकभोगार्जक-धर्माधर्माः। अनुभावाः पुत्रकलत्रविजय-साम्राज्यादयः। —रस-तरंगिणी, तरंग ७, पृ० १६१-१६२।

किया है[1]। जो हो, शान्त रस को मान्यता चाहे जबसे मिली हो किन्तु जब यह सर्वस्वीकृत रस हुआ तो इसके अनेक स्थायीभाव काल-क्रम में निर्दिष्ट किए गए—तृष्णाक्षयसुख, शम, निर्वेद, वैराग्य और धृति।

बाद में प्रेय, वात्सत्य, प्रीति, स्नेह, भक्ति, श्रद्धा, लौल्य, उदात्त, उद्धत, माया, कार्पण्य और व्रीडनक नामक अतिरिक्त रसों की चर्चा भी भिन्न-भिन्न सिद्धान्त-ग्रन्थों में की गई और क्रमशः इनके स्थायी भाव मित्र विषयक रीति, आर्द्रता बालविषया रति, राजविषयक रति, भगवद्विषया रति, विश्वास, गर्ध, मति, गर्व, मिथ्याज्ञान, स्पृहा और लज्जा प्रतिपादित किए गए। इनमें से कई रसों का तो पूर्वोक्त नौ रसों में ही अन्तर्भाव हो जाता है। और अन्य कई तो इनमें व्यभिचारी भाव ही हैं, इन्हें स्थायी भावों का पद नहीं दिया जा सकता है। अतः वैसे स्थायी-भावों से निष्पन्न तथाकथित रसों की गणना का प्रश्न ही नहीं रह जाता है। उपर्युक्त रसों में केवल वात्सल्य और भक्ति ही ऐसे रस हैं, जिन्हें महत्त्व दिया गया। भक्तिरस का विस्तृत विवेचन चतुर्थ अध्याय में किया जा चुका है। वात्सल्य को परवर्ती काल के विश्वनाथ ने भी मान्यता दी[2]। मायारस को भानुदत्त की रसतरंगिणी में समर्थन प्राप्त हुआ[3] और इस ग्रन्थ का प्रभाव हिन्दी काव्य-शास्त्र पर अत्यधिक पड़ा। फलतः पूर्वोक्त नौ स्थायी भावों के अतिरिक्त बालविषयक रति, भगवद्विषया रति और मिथ्या ज्ञान—ये तीन स्थायीभाव महत्त्वपूर्ण हैं। इस प्रकार संस्कृत काव्य शास्त्र के आरम्भ में आठ या नौ स्थायी भावों को और परवर्ती काल में बारह स्थायी भावों को स्वीकृति मिली।

(५) रस-भेद

सर्वमान्य रस

संस्कृत काव्य-शास्त्र में परिनिष्ठित एवं सर्वमान्य रस आठ हैं—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत। भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में ये ही आठ नाट्यरस माने थे किन्तु शान्त-रस का संकेत आपने भी कर दिया था। अभिनेयता को ध्यान में रखकर इन्होंने नाट्यरसों के मध्य शान्ति को स्थान

---

१ प्रतीयते एवेति मुनिनाप्यंगीक्रियत एव "क्वचिच्छमः" इत्यादि वदता।
—लोचन, पृ० १७७।

२ साहित्यदर्पण। ३।२५१-२५४।

३ चित्तवृत्ति द्विधा-प्रवृत्तिर्वितिश्चेति। निवृत्तौ यथा शान्तरसस्तथाप्रवृत्तौ माया-रस इति।...। लक्षणं च प्रबुद्ध मिथ्या-ज्ञानवासना माया रसः। मिथ्याज्ञानमस्य स्थायिभावः। विभावाः सांसारिकभोगार्जक-धर्माधर्माः। अनुभावाः पुत्रकलत्रविजय-साम्राज्यादयः। —रस-तरंगिणी, तरंग ७, पृ० १६१-१६२।

नहीं दिया था। दशरूपक के प्रणेता धनंजय ने भी शान्त रस का विरोध ही किया[1], क्योंकि आपकी दृष्टि भी नाट्यशास्त्रीय ही थी, काव्यशास्त्रीय नहीं। शान्तरस के विरोध में धनंजय का तर्क यह था कि शान्त का स्थायीभाव शम या निर्वेद है। इसमें राग और द्वेष का, सुख और दुःख का सर्वथा परिहार हो जाता है। सामान्यतः मनुष्य राग-द्वेष हीन अवस्था को नहीं प्राप्त हो सकता है—अतएव शान्त रस सामाजिकों द्वारा संवेदनीय नहीं होगा[2]। परवर्ती काल में अभिनवगुप्त आनन्दवर्द्धन, मम्मट और विश्वनाथ प्रभृति आचार्यों ने शान्त रस का सप्रमाण समर्थन किया। अभिनवगुप्त ने तो भरत-प्रणीत नाट्यशास्त्र से ही कई उद्धरणों को प्रस्तुत कर यह सिद्ध कर दिखाया कि शान्त-रस भरत-मान्य है। विश्वनाथ ने शान्तरस की असंवेदनीयता का खण्डन करते हुए कहा कि इसी समाज में युक्त और वियुक्त (युक्त वे हैं जो विषय-परांमुख होकर ब्रह्मचिन्तन में लीन रहते हैं तथा वियुक्त वे हैं जो योगजसिद्धियों के द्वारा अतीन्द्रिय विषयों का भी साक्षात्कार कर लेते हैं) मनुष्य भी हैं। भले ही ऐसे लोगों की संख्या अत्यल्प हो। इन्हीं लोगों को शान्तरस का आस्वाद होता है[3]। वस्तुतः सभी रसों का आस्वाद सबों को समानरूप से होता भी नहीं है। एक विलासी युवक को शृंगार का आस्वाद जितनी तन्मयता के साथ होता है, उतनी तन्मयता से एक वृद्ध को कदापि न होगा। अतएव आस्वादयिता की संख्या के आधार पर रस-विशेष की स्वीकृति अस्वीकृति तथ्यहीन है। भक्ति और वात्सल्य रसों को भी परवर्ती संस्कृत काव्य-शास्त्र में मान्यता मिली। भक्ति-रस का विशेष महत्व गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के सिद्धान्त ग्रन्थों में प्रतिपादित किया गया। इस प्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय में इसका विशद विवेचन हम कर चुके हैं। वात्सल्य रस का प्रथम उल्लेख रुद्रट के काव्यालंकार में मिलता है[4]। तदनन्तर भामह और दण्डी प्रभृति अलंकारवादी आचार्यों ने भी इसे स्वीकार किया। किन्तु इन अलंकारवादी आचार्यों ने इसे स्पष्टतः वात्सल्य रस न कह कर प्रेयस् अलंकार माना। अभिनवगुप्त ने इसे एक भाव मात्र माना तथा भयानक रस में अन्तर्भुक्त कर दिया। मम्मट भी वात्सल्य को भाव से अधिक मानने को प्रस्तुत नहीं हुए। भोजराज ने स्पष्टतः

---

१ रत्युत्साहजुगुप्साः क्रोधो हासः स्मयो भयं शोकः।
शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य ॥ —दशरूपक। ४।३५।

२ अन्ये तु वस्तुतस्यस्याभाव वर्णयन्ति। अनादिकाल प्रवाहायात-रागद्वेषयोरुच्छेत्तुम शक्यत्वात्। —वही। ४।३५ (वृत्ति), पृ० ९२।

३ युक्त वियुक्तदशायामवस्थितो यः शमः स एव यतः।
रसतामेति तदस्मिन् संचार्यादिः स्थितिश्च न विरुद्धा ॥
—साहित्यदर्पण। ३।२५०।

४ काव्यालंकार। १२।३।

"वत्सल" रस का उल्लेख किया और इसे अन्य रसों के समकक्ष माना[1] । विश्वनाथ ने अपने साहित्यदर्पण में वत्सल रस का सांगोपांग निरूपण एवं पल्लवन किया । विश्वनाथ के अनुसार वत्सलता या स्नेह इसका स्थायीभाव है; पुत्रादि आलम्बन हैं; उसकी चेष्टाएं, विद्या, शौर्य आदि उद्दीपन हैं; आलिंगन, अंग-संस्पर्श, शिरश्चुम्बन, ईक्षण, पुलकानन्द, बाष्प आदि अनुभाव हैं; अनिष्ट शंका, हर्ष, गर्व आदि संचारी भाव हैं; इसका वर्ण पद्मगर्भ छवि के समान है तथा इसके देवता जगदम्बा हैं । इस प्रकार स्फुट चमत्कार के कारण यह एक स्वतन्त्र रस है[2] । फलतः शान्त, भक्ति और वत्सल को जोड़कर रसों की संख्या ग्यारह हो गई और ये विश्वनाथ के युग तक आकर सर्वमान्य रस हो गए ।

अमान्य रस

इनके अतिरिक्त लौल्य, मृग्य या अक्ष, व्यसन, सुख, दुःख, उदात्त, उद्धत, पारवश्य, कार्पण्य, व्रीडनक, ब्राह्म, प्रशान्त आदि अनेकविध रसों का उल्लेख भिन्न-भिन्न संस्कृत काव्य शास्त्र के ग्रन्थों में होता रहा किन्तु उन्हें रस की मान्यता प्राप्त न हुई । प्रत्येक तथाकथित रस को लेकर समीक्षा करने का अवकाश हमें यहाँ प्राप्त नहीं है किन्तु संक्षेप में इतना कह देना ही पर्याप्त समझते हैं कि इनमें से किसी को भी पूर्ण रसावस्था को प्राप्त होने की योग्यता नहीं है । कुछ तो अन्य एकादश रसों में अन्तर्भुक्त हो जाते हैं, कुछ मात्र संचारी भाव हैं, कुछ खेल हैं और कुछ रुचि-विशेष के द्योतक हैं । अतएव इनमें से किसी एक को भी रस मानना समीचीन नहीं है ।

रसतरंगिणी का भानुदत्त ने इन सबों से पृथक् एक माया नामक रस की उद्भावना की । हिन्दी काव्यशास्त्र के आचार्यों पर भानुदत्त का सर्वाधिक प्रभाव पाया जाता है, अतएव मायारस की विस्तृत चर्चा वांछित है । भानुदत्त ने प्रवृत्त्यात्मक और निवृत्त्यात्मक चित्तवृत्ति के आधार पर माया और शान्त रस की कल्पना की है । आपका कहना है कि जैसे ज्ञान, भक्ति, शम, वैराग्यादि के आधार पर निवृत्तिमुख शांत रस का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है, वैसे ही काम क्रोधादि के आधार पर प्रवृत्तिमुख मायारस का अस्तित्व स्वीकार कर लेना चाहिए । शान्तरस का स्थायीभाव यदि आत्मज्ञान या निर्वेद है तो मायारस का स्थायीभाव भी मिथ्याज्ञान है । मायारस का लक्षण निरूपित करते हुए भानुमिश्र ने लिखा है—मिथ्या ज्ञान इसका स्थायी भाव है, सांसारिक भोगार्जक धर्म अधर्म उसके विभाव हैं तथा पुत्र-कलत्र-विजय-साम्राज्यादि उसके अनुभव हैं । अन्य सभी रसों के स्थायी भाव अर्थात्

---

१ श्रृंगार प्रकाश । ११६ ।

२ साहित्यदर्पण । ३।२५१-२५४ ।

रति, हास, शोक, क्रोधादि इसके संचारी भाव हैं[1]। मन्दारमरन्द-चम्पू के लेखक ने भी भानुदत्त के इस प्रवृत्तिपरक मायारस का समर्थन किया है।

किन्तु विवेचना के उपरान्त भानुदत्त का मायारस एक स्वतन्त्र रस नहीं ठहरता है शृंगार-हास्यादि जितने भी आठ रस हैं (शान्त को छोड़ कर), वे सब प्रवृत्ति-परक हैं। रति, हास्य, शोक, क्रोध, आदि चित्त की प्रवृत्त्यात्मक वृत्ति के ही परिणाम हैं, निवृत्ति से एक मात्र शम या निर्वेद की ही उत्पत्ति होती है। अतएव माया रस शृंगार-हास्य-करुणादि से भिन्न कोई स्वतन्त्र रस नहीं है। डा० राघवन ने माया रस की समीक्षा करते हुए कहा है कि किसी ऐसे दार्शनिक नाटक को जिसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों चित्रित हों उदाहरणार्थ लेकर देखने से माया रस का स्वतन्त्र अस्तित्व खंडित प्रतीत होता है। सर्वसाधारण दर्शकों को ज्योंही प्रवृत्तिमूलक कामक्रोधादि का अभिनय चित्रण देखने को मिलेगा, स्वभावत: शृंगार-रौद्र आदि रसों का आस्वाद होगा। उनकी अनित्यता या मिथ्यात्व के आधार पर यदि वे इन्हें माया मानने लगें तो फिर इन सामाजिकों और तत्त्वज्ञानी सामाजिकों में कोई अन्तर नहीं रह जायगा। यदि ये तत्वज्ञानी सामाजिक हों तो फिर इन्हें निवृत्त्यात्मक शान्त रस के सिवाय किसी दूसरे रस का आस्वाद ही नहीं होगा। फलत: प्रत्येक स्थिति में माया रस का स्वतन्त्र अस्तित्व खंडित हो जाता है। यदि इसका अस्तित्व है तो शृंगारादि रसों में अन्तर्भुक्त होकर ही, अन्यथा इसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है[2]। चिरंजीव भट्टाचार्य ने दूसरे ढंग से माया रस का खंडन किया है। आपका कहना है कि रस नित्य, आनन्दस्वरूप एवं ब्रह्मस्वरूप है। माया तुच्छ, विनाशशालिनी एवं ब्रह्मभिन्न है। अतएव ब्रह्मस्वरूप रस का स्थान माया नहीं ले सकती है। दूसरी बात कि माया अनादि होने के कारण जन्य नहीं है, किन्तु इसके विपरीत अन्य सभी रस उत्पन्न होते हैं[3]। भट्टाचार्य जी का तर्क विशेष प्रबल नहीं है। ब्रह्मभिन्नता के कारण यदि माया रस का खंडन किया जाय तो शृंगारादि रस भी स्वत: खण्डित हो जायेंगे।

परिणामत: शास्त्रीय दृष्टि से मान्यता प्राप्त रस अधिक से अधिक ग्यारह हो सकते हैं– शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, बीभत्स, भयानक, अद्भुत, शाँत, भक्ति और वात्सल्य। इनमें से अन्तिम दो रसों को सभी आचार्यों ने स्वतन्त्ररूप से गृहीत नहीं किया। विशेषत: हिन्दी काव्यशास्त्र के मुख्य उपजीव्य ग्रन्थ रसतरंगिणी में वात्सल्य को करुण रस में और भक्ति को शान्त रस में अन्तर्भुक्त किया गया है। बदले में माया रस नामक एक दशम रस को स्वीकार किया गया है।

---

१ रसतरंगिणी। तरंग ७, पृ० १६१-१६२।

२ डा० वी० राघवन् : दी, नम्बर आफ रसाज़, पृ० १३९-१४०।

३ नम्बर आफ रसाज पृ० १३९–से उद्धृत काव्यविलास का अंश।

भानुदत्त ने रसों का वर्गीकरण भी विचित्र ढंग से किया है और इस वर्गीकरण का प्रभाव हिन्दी-काव्य-शास्त्र पर पर्याप्त पड़ा है। लौकिक तथा अलौकिक सन्निकर्ष के आधार पर रसों को पहले दो वर्गों में बाँटा गया है—(१) लौकिक और (२) अलौकिक। शृंगारादि सभी परम्परागत रस लौकिक हैं, क्योंकि लौकिक सन्निकर्ष के कारण ही इन रसों का आस्वाद होता है। अलौकिक रसों के तीन भेद हैं—(१) स्वापनिक (२) मानोरथिक और (३) औपनयिक। स्वप्न में अलौकिक सन्निकर्ष के कारण जो रसानुभूति होती है वह स्वाप्निक रस है। इसी प्रकार भावकों या मनुष्यों के हृदय में जो मनोरथ उत्पन्न होते हैं और तज्जन्य जो आनन्दानुभूति होती है—इन्हें मानोरथिक अलौकिक रस कहते हैं। अनुभवों की इच्छा-निरपेक्ष भावना ही उपनय है। इसी उपनय-जन्य आनन्दानुभूति को औपनयिक रस कहते हैं।[1] सच्ची बात तो यह है कि ये सारे रस के भेद हो ही नहीं सकते। परम्परागत काव्यशास्त्र में सभी रसों को ब्रह्मास्वादसहोदर तथा अलौकिक माना गया है। ऐसी स्थिति में उन शृंगारादि नव, दश या एकादश रसों को लौकिक कहना कहाँ तक समीचीन होगा? पुनः स्वप्न, मनोरथ और उपनय के आधार पर रसों की कल्पना निराधार है। ये सारे लौकिक अनुभव मात्र हैं—इन्हें रस कहना समाचीन नहीं। इन्हें व्यभिचारी भाव भी कह लिया जा सकता है, किन्तु रस नहीं। भानुदत्त द्वारा प्रस्तुत अभिमुख, विमुख और परमुख[2] नामक रसभेद भी निरर्थक ही हैं।

भावविभावादि की अभिव्यक्ति में अभिमुख रस तो ठीक है। रसोपादानों की अनुक्ति के कारण कष्ट-कल्पना-जन्य रस विमुख कहलाता है। वस्तुतः यह रस नहीं, इतिवृत्ति मात्र है। इसी प्रकार परमुख के अन्तर्गत भावमुख और अलंकारमुख, ये दो भेद किए गए हैं। इन्हें रस न कहकर काव्य भेद ही कहना चाहिए। इस प्रकार रस-भेद के सम्बन्ध में भानुदत्त ने अनेक नूतन उद्भावनाएँ की हैं। चाहे उनकी उद्भावनाओं से हम सहमत हों या नहीं, हिन्दी के रीतिकालीन काव्यशास्त्र को आपने अत्यधिक प्रभावित किया है।

(६) अपूर्ण रस (भाव, रसाभास आदि)—

संस्कृत के रस-शास्त्र में नौ रसों के अतिरिक्त भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भवोदय, भावसन्धि, भाव-शबलता—इन सात प्रकार के (अपूर्ण) रसों का भी निरूपण हुआ है। वस्तुतः रस तो शृंगार के शांत पर्यन्त नौ किम्बा वात्सल्य और भक्ति को जोड़कर ग्यारह ही हैं और ये भाव-रसाभासादि रस-पदवी के अधिकारी नहीं हैं, तथापि आस्वादनीयता को ध्यान में रखकर इन्हें भी उपचारवश

---

१ रसतरंगिणी, तरंग ६, पृ० १२१-१२४।

२ वही। तरंग ८ पृ० १८१।

'रस' शब्द से अभिहित किया गया है।[1] इनका विवेचन नाट्यशास्त्र में उपलब्ध नहीं है। परवर्ती आचार्यों ने ही इसका निरूपण किया है। विशेषत: मम्मट, विश्वनाथ और जगन्नाथ के ग्रन्थों में इन सभी भेदों का विवेचन प्राप्त होता है। भाव और रसाभास की चर्चा मम्मट के पूर्ववर्ती आचार्यों ने की है। भानुदत्त की रसतरंगिणी में भी इनका निरूपण नहीं हुआ है। क्रमश: प्रत्येक का स्वरूप-निरूपण प्रस्तुत है—

(क) भाव

मम्मट और जगन्नाथ के अनुसार देवता, मुनि, गुरु, राजा और पुत्र आदि विषया रति तथा प्रधानता से व्यंजित निर्वेदादि संचारी भाव, 'भाव' कहलाते हैं।[2] विश्वनाथ ने देवादिविषया रति और प्रधानता से व्यंजित संचारी भावों के अतिरिक्त, विभावादि सामग्री से अपूर्ण उद्बुद्ध स्थायी भाव मात्र को (नौ स्थायी भावों में से कोई भी हो) भी भाव स्वीकार किया है।[3] काव्यप्रकाश के टीकाकार गोविन्द ठाकुर ने मम्मटोक्त भाव-लक्षण के रति शब्द को ही स्थायी भाव का उपलक्षण प्रतिपादित किया है।[4] तदनुसार मम्मट की दृष्टि में भी उपर्युक्त तीनों—देवादि विषया रति, प्रधानतया व्यंजित व्यभिचारी भाव और उद्बुद्ध मात्र स्थायी भाव—'भाव' हैं; तथापि इनकी स्पष्टता विश्वनाथ ने ही की है। व्यभिचारी भावों को 'भाव' मानने के संबन्ध में विश्वनाथ ने एक समस्या की ओर इंगित कर इसका समाधान भी प्रस्तुत किया है। समस्या यह है कि निर्वेदादि व्यभिचारी भावों की उपस्थिति किसी न किसी रस में ही संभव है। ऐसी दशा में वहां रस न मानकर व्यभिचारी भाव की प्रधानता से प्रतीति और तत्प्रयुक्त 'भाव' क्यों माना जाय ? विश्नाथ ने इसका समाधान दो लौकिक उदाहरणों के आधार पर किया है। जैसे प्रपाणक रस के आस्वाद में अनेक सामग्रियों के रहते हुए भी किसी सामग्री विशेष

---

१ रसभावौ तदाभासौ भावस्यं प्रशमोदयो ॥
सन्धि: शबलता चे ति सर्वेऽपि रसनाद्रसा: ॥
रसधर्मयोगित्वाद्भावादिष्वपि रसत्वमुपचारादित्यभिप्राय: ।
—सा० द० । ३।२५९, २६० और वृत्ति ।

२ रतिर्देवादिविषया, व्यभिचारी तथा ऽंजित: ॥ भाव: प्रोक्त: ।
—का० प्र० ४।३५ और वृत्ति ॥

३ संचारिण: प्रधानानि देवादिविषया रति: ।
उदबुद्धमात्र: स्थायी च भाव इत्यभिधीयते ॥ —सा० द० । ३।२६०-२६१ ।

४ रतिरिति स्थायीभावोपलक्षणम् ।
कान्तादि विषयाऽप्यपूर्णरति हासादयश्चाप्राप्तरसावस्था:
प्राधान्येन व्यंजितो व्यभिचारी च भाव इत्यवधातव्यम् ।
—काव्यप्रदीप (आनन्दाश्रम संस्क०) पृ० १२६ ।

की मात्रा के आधिक्य के कारण उसका उत्कट स्वाद अनुभूत होता है तथा जैसे किसी राजकर्मचारी के विवाह में सम्मिलित होने पर राजा तो गौण हो जाता है किन्तु उसका कर्मचारी जो दुलहा के रूप में उपस्थित रहता है—प्रधान माना जाता है, ठीक उसी तरह शृंगारादि रसों के साथ उत्कट संचारी भावों की प्रतीति प्रधानता से होती है और तत्प्रयुक्त उन्हें 'भाव' की संज्ञा भी प्राप्त होती है ।[1]

(ख) रसाभास और भावाभास

रसाभास और भावाभास का मूल कारण अनौचित्य को माना गया है। अतएव मम्मट और विश्वनाथ प्रभृति आचार्यों ने अनौचित्य-प्रवर्तित रस और भाव को क्रमशः रसाभास तथा भावाभास घोषित किया है ।[2] ध्वनिवादी आनन्दवर्द्धन ने भी अनौचित्य को रस-भंग का मूल कारण, तथा औचित्योपनिबन्धन को रस की परा उपनिषत् स्वीकार किया है ।[3] संस्कृत के अन्य आचार्यों ने भी औचित्य के उल्लंघन को रसदोष स्वीकार किया है । फलतः रसदोषों के रूप में भी रसाभास और भावाभास का ही विवेचन हुआ है ।

इस प्रसंग में सर्वाधिक विवेचनीय दो बातें हैं । प्रथम यह है कि जिस अनौचित्य के आधार पर रसाभास और भावाभास की भित्ति अवलम्बित है उसका स्वरूप क्या है तथा उसकी व्याप्ति कहां तक है ? दूसरी विवेचनीय बात यह है कि अनौचित्य-प्रवर्तित रसाभास और भावाभास को आस्वादनीय रस माना जाय या नहीं ? इन दोनों प्रश्नों की ओर स्वयं संस्कृत के अनेक आचार्यों ने ध्यान दिया है तथा इनके तर्कपूर्ण समाधान भी प्रस्तुत किए हैं ।

जहाँ तक प्रथम प्रश्न का सम्बन्ध है, संस्कृत काव्य-शास्त्र के आचार्यों में मतैक्य नहीं है । प्रत्येक की दृष्टि में अनौचित्य का स्वरूप और व्याप्ति पृथक्-पृथक् है । पर इतना निश्चित है कि उन सभी मान्यताओं के अनुसार किसी न किसी प्रकार के अनौचित्य को ही दिग्दर्शित किया गया है । अतएव अनौचित्य को एकविध न मानकर, अनेकविध मानना चाहिए और इनमें से किसी एक प्रकार के अनौचित्य से प्रवर्तित होने पर रसाभास और भावाभास की सत्ता स्वीकार करनी चाहिए । हमें सभी आचार्यों के समन्वित विचारों में ही अनौचित्य की व्यप्ति माननी होगी, क्योंकि प्रत्येक मान्यता में आंशिक सत्य विद्यमान है । संस्कृत के विशाल रस-शास्त्र में अनेकविध रसानौचित्य का उल्लेख उपलब्ध है—रसविरोधमूलक, अंगी तथा अंगरसमूलक, विभावानौचित्यमूलक, भावानौचित्यमूलक, स्वभावानौचित्यमूलक, लोक

---

१ (क) साहित्य दर्पण । ३।२६१-२६२ ।
(ख) वही । २६१, पूर्वार्द्ध की वृत्ति ।
२ (क) का० प्र० । ४ । सूत्र ४९ और वृत्ति । (ख) सा० द० ३।२६२ ।
३ ध्वन्यालोक । ३ । पृ० ३३० ।

शास्त्रानौचित्यमूलक तथा नैतिकतामूलक। रसविरोधमूलक अनौचित्य की चर्चा तो प्राय. प्रत्येक रस-शास्त्री ने की है। अंगी तथा अंगरमूलक अनौचित्य का उल्लेख शिंगभूपाल और शारदातनय ने किया है।[1] इनके कहने का तात्पर्य यह है कि अंगी रस की अपेक्षा अंग रस को विस्तार यह महत्त्व प्रदान करना अनुचित है। इसे ही परवर्ती काल में मम्मट ने "अंगस्याप्यतिविस्तृति:" नामक रसदोष स्वीकर किया। विश्वनाथ ने सामाजिक एवं नैतिक आधार पर रसानौचित्य का विचार किया है। इनकी दृष्टि में, उपनायक (अन्य पुरुष) में नायिका का प्रेम, मुनि और गुरु की पत्नी में नायक की रति, एक स्त्री की अनेक नायकों में रति, प्रेम की एक-निष्ठता, प्रतिनायक निष्ठता तथा अधमपात्र, पशुपक्षी आदि का प्रेम-वर्णन शृंगार रस के लिए अनुचित है और इससे शृंगार रस का नहीं बल्कि शृंगार रसाभास का आस्वाद होगा। इसी प्रकार गुरु आदि के प्रति कोप की व्यंजना रौद्र रस में; गुरु अदिश्रेष्ठ जनों के प्रति हास्य की योजना हास्य रस में; ब्रह्मबधादि जघन्य कार्यों के प्रति उत्साह वीर रस में; उत्तम पात्रों में भय का वर्णन भयानक रस में तथा हीन पात्रों में शम का वर्णन शान्त रस में—सर्वथा अनुचित है।[2] विभावमूलक तथा स्वभावमूलक अनौचित्य का उल्लेख मम्मट ने किया है—किन्तु इन्होंने इसके आधार पर "प्रकृतीनां विपर्यय:" नामक रस-दोष की चर्चा की है।[3] मम्मट एवं विश्वनाथ के अनौचित्य में विभावमूलक अनौचित्य की ओर भी संकेत था किन्तु जगन्नाथ ने उसे भावमूलक अनौचित्य सिद्ध किया और उसी के आधार पर रसाभास और भावाभास की अवस्थिति प्रतिपादित की।[4] जो हो, अनौचित्य का कारण भिन्न रहते हुए भी तत्प्रयुक्त रसाभास और भावाभास की सत्ता प्रत्येक आचार्य को स्वीकार्य है।

रसाभास के सम्बध में जो दूसरा प्रश्न उठाया गया है, वह, यह कि रसाभास रस है अथवा उससे भिन्न। इसका विस्तृत विवेचन जगन्नाथ ने किया है। समस्या यह है कि भाव-रसाभास आदि को आस्वादनीयता के कारण विश्वनाथ ने रस (रसनाद्रसा:) स्वीकार किया है। किन्तु रसाभास अनौचित्य-प्रवर्त्तित होता है और रस औचित्य-प्रवर्तित। ऐसी स्थिति में अनौचित्य और औचित्य की तथा रसाभास और रस की एकत्र स्थिति सम्भव नहीं है। पर जगन्नाथ का कहना है कि किसी वस्तु में अनौचित्य के सन्निवेश के कारण उसकी सत्ता का अभाव नहीं माना जा सकता है। उसमें दोष अवश्य माना जायगा पर उसका अभाव नहीं। किसी दोष-युक्त, अश्व को कोई अश्वाभास भले ही कहले पर अश्वत्वा की सत्ता में सन्देह नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार दोष-ग्रस्त रस को ही रसाभास कहा जाता है किन्तु

१ रससुधाकर, पृ० २६३ और भाव-प्रकाशन, पृ० १३३

२. साहित्यदर्पण। ३।२६३-२६६। ३. काव्यप्रकाश।७।६२ की वृत्ति

४. हिन्दी रसगंगाधर, पृ० २६९-२७०।

की मात्रा के आधिक्य के कारण उसका उत्कट स्वाद अनुभूत होता है तथा जैसे किसी राजकर्मचारी के विवाह में सम्मिलित होने पर राजा तो गौण हो जाता है किन्तु उसका कर्मचारी जो दुलहा के रूप में उपस्थित रहता है—प्रधान माना जाता है, ठीक उसी तरह शृंगारादि रसों के साथ उत्कट संचारी भावों की प्रतीति प्रधानता से होती है और तत्प्रयुक्त उन्हें 'भाव' की संज्ञा भी प्राप्त होती है।[1]

(ख) रसाभास और भावाभास

रसाभास और भावाभास का मूल कारण अनौचित्य को माना गया है। अतएव मम्मट और विश्वनाथ प्रभृति आचार्यों ने अनौचित्य-प्रवर्तित रस और भाव को क्रमशः रसाभास तथा भावाभास घोषित किया है।[2] ध्वनिवादी आनन्दवर्द्धन ने भी अनौचित्य को रस-भंग का मूल कारण, तथा औचित्योपनिबन्धन को रस की परा उपनिषत् स्वीकार किया है।[3] संस्कृत के अन्य आचार्यों ने भी औचित्य के उल्लंघन को रसदोष स्वीकार किया है। फलतः रसदोषों के रूप में भी रसाभास और भावाभास का ही विवेचन हुआ है।

इस प्रसंग में सर्वाधिक विवेचनीय दो बातें हैं। प्रथम यह है कि जिस अनौचित्य के आधार पर रसाभास और भावाभास की भित्ति अवलम्बित है उसका स्वरूप क्या है तथा उसकी व्याप्ति कहां तक है ? दूसरी विवेचनीय बात यह है कि अनौचित्य-प्रवर्तित रसाभास और भावाभास को आस्वादनीय रस माना जाय या नहीं ? इन दोनों प्रश्नों की ओर स्वयं संस्कृत के अनेक आचार्यों ने ध्यान दिया है तथा इनके तर्कपूर्ण समाधान भी प्रस्तुत किए हैं।

जहाँ तक प्रथम प्रश्न का सम्बन्ध है, संस्कृत काव्य-शास्त्र के आचार्यों में मतैक्य नहीं है। प्रत्येक की दृष्टि में अनौचित्य का स्वरूप और व्याप्ति पृथक्-पृथक् है। पर इतना निश्चित है कि उन सभी मान्यताओं के अनुसार किसी न किसी प्रकार के अनौचित्य को ही दिग्दर्शित किया गया है। अतएव अनौचित्य को एकविध न मानकर, अनेकविध मानना चाहिए और इनमें से किसी एक प्रकार के अनौचित्य से प्रवर्तित होने पर रसाभास और भावाभास की सत्ता स्वीकार करनी चाहिए। हमें सभी आचार्यों के समन्वित विचारों में ही अनौचित्य की व्याप्ति माननी होगी, क्योंकि प्रत्येक मान्यता में आंशिक सत्य विद्यमान है। संस्कृत के विशाल रस-शास्त्र में अनेकविध रसानौचित्य का उल्लेख उपलब्ध है—रसविरोधमूलक, अंगी तथा अंगरसमूलक, विभावानौचित्यमूलक, भावानौचित्यमूलक, स्वभावानौचित्यमूलक, लोक

---

१ (क) साहित्य दर्पण। ३।२६१-२६२।
(ख) वही। २६१, पूर्वार्द्ध की वृत्ति।

२ (क) का० प्र०। ४। सूत्र ४९ और वृत्ति। (ख) सा० द० ३।२६२।

३ ध्वन्यालोक। ३। पृ० ३३०।

शास्त्रानौचित्यमूलक तथा नैतिकतामूलक। रसविरोधमूलक अनौचित्य की चर्चा तो प्रायः प्रत्येक रस-शास्त्री ने की है। अंगी तथा अंगरमूलक अनौचित्य का उल्लेख शिगभूपाल और शारदातनय ने किया है।[1] इनके कहने का तात्पर्य यह है कि अंगी रस की अपेक्षा अंग रस को विस्तार यह महत्त्व प्रदान करना अनुचित है। इसे ही परवर्ती काल में मम्मट ने "अंगस्याप्पतिविस्तृतिः" नामक रसदोष स्वीकर किया। विश्वनाथ ने सामाजिक एवं नैतिक आधार पर रसानौचित्य का विचार किया है। इनकी दृष्टि में, उपनायक (अन्य पुरुष) में नायिका का प्रेम, मुनि और गुरु की पत्नी में नायक की रति, एक स्त्री की अनेक नायकों में रति, प्रेम की एक-निष्ठता, प्रतिनायक निष्ठता तथा अधमपात्र, पशुपक्षी आदि का प्रेम-वर्णन शृंगार रस के लिए अनुचित है और इससे शृंगार रस का नहीं बल्कि शृंगार रसाभास का आस्वाद होगा। इसी प्रकार गुरु आदि के प्रति कोप की व्यंजना रौद्र रस में; गुरु अदिश्रेष्ठ जनों के प्रति हास्य की योजना हास्य रस में; ब्रह्मबधादि जघन्य कार्यों के प्रति उत्साह वीर रस में; उत्तम पात्रों में भय का वर्णन भयानक रस में तथा हीन पात्रों में शम का वर्णन शान्त रस में—सर्वथा अनुचित है।[2] विभावमूलक तथा स्वभावमूलक अनौचित्य का उल्लेख मम्मट ने किया है—किन्तु इन्होंने इसके आधार पर "प्रकृतीनां विपर्ययः" नामक रस-दोष की चर्चा की है।[3] मम्मट एवं विश्वनाथ के अनौचित्य में विभावमूलक अनौचित्य की ओर भी संकेत था किन्तु जगन्नाथ ने उसे भावमूलक अनौचित्य सिद्ध किया और उसी के आधार पर रसाभास और भावाभास की अवस्थिति प्रतिपादित की।[4] जो हो, अनौचित्य का कारण भिन्न रहते हुए भी तत्प्रयुक्त रसाभास और भावाभास की सत्ता प्रत्येक आचार्य को स्वीकार्य है।

रसाभास के सम्बध में जो दूसरा प्रश्न उठाया गया है, वह, यह कि रसाभास रस है अथवा उससे भिन्न। इसका विस्तृत विवेचन जगन्नाथ ने किया है। समस्या यह है कि भाव-रसाभास आदि को आस्वादनीयता के कारण विश्वनाथ ने रस (रसनाद्रसाः) स्वीकार किया है। किन्तु रसाभास अनौचित्य-प्रवर्तित होता है और रस औचित्य-प्रवर्तित। ऐसी स्थिति में अनौचित्य और औचित्य की तथा रसाभास और रस की एकत्र स्थिति सम्भव नहीं है। पर जगन्नाथ का कहना है कि किसी वस्तु में अनौचित्य के सन्निवेश के कारण उसकी सत्ता का अभाव नहीं माना जा सकता है। उसमें दोष अवश्य माना जायगा पर उसका अभाव नहीं। किसी दोष-युक्त, अश्व को कोई अश्वाभास भले ही कहले पर अश्वत्वा की सत्ता में सन्देह नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार दोष-ग्रस्त रस को ही रसाभास कहा जाता है किन्तु

१ रससुधाकर, पृ० २६३ और भाव-प्रकाशन, पृ० १३३

२. साहित्यदर्पण। ३।२६३-२६६। ३. काव्यप्रकाश।७।६२ की वृत्ति

४. हिन्दी रसगंगाधर, पृ० २६९-२७०।

उसके रसत्व का प्रतिवाद नहीं किया जा सकता।[1] अभिनव ने भी शुक्तिका में रजत के आभास के सादृश्य के आधार पर रसाभास की सत्ता स्वीकार की है।[2] तात्पर्य यह कि दोष के रहते हुए भी पाठकों को काव्य में रस का आभास होता है।

संस्कृत रस-शास्त्र में जिन दश प्रकार के रस-दोषों[3] का उल्लेख हुआ है उनका सम्बन्ध रसाभास और भावाभास के मूल अनौचित्य से ही है। इन्हें रसाभास-विवेचन का ही अंग मानना चाहिए।

(ग) भावशान्ति, भावोदय आदि

भाव, रसाभास और भावाभास की भांति चार अन्य अपूर्ण रसों को भी संस्कृत काव्य-शास्त्र में मान्यता मिली है। इनकी कल्पना व्यभिचारी भाव की शान्ति, उदय, सन्धि (मिलन) और शबलता (सम्मिश्रण) के आधार पर की गई है।[4] इनमें भी आस्वादयोग्यता और चमत्कार माने गये हैं। अतएव रस-विशेष का अस्तित्व रहने पर भी चमत्काराधिक्य के कारण इनकी प्रतीति अंगी के रूप में उसी तरह होती है जैसे विवाह-प्रवृत्त राज-भृत्य राजा की उपस्थिति रहने पर भी प्रधान (अंगी) माना जाता है।[5] इनके सम्बन्ध में विशेष विवेचन नहीं हुआ है—केवल सूत्र-शैली में ही इनका उल्लेख किया गया है। मम्मट और विश्वनाथ के सूत्रों के आधार पर उनके स्वरूप की स्पष्टता क्रमशः प्रस्तुत है।

जब एक भाव (संचारी भाव) दूसरे विरुद्ध भाव के उदित होने पर शान्ति होता हुआ भी चमत्कारी प्रतीत हो तब "भावशान्ति" की अनुभूति होती है। यदि एकभाव की शान्ति के अनन्तर दूसरे भाव का उदय हो और उस नवोदित भाव में ही चमत्कार का पर्यवसान हो तो "भावोदय" की अनुभूति होगी। जब तुल्य-चमत्कारकारक दो भावों की सन्धि होती है अर्थात् एक साथ उपस्थिति होती है तो "भाव-सन्धि" मानी जाती है। इसी प्रकार जब समान चमत्कार वाले अनेक भावों का सम्मेलन हो अर्थात् पूर्वापर रूप में एकत्र उपस्थिति हो तो "भाव-शबलता" माननी चाहिए।

भाव-शबलता के स्वरूप के सम्बन्ध में काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण की टीकाओं में कई मत उपलब्ध होते हैं :—

(१) तिल-तण्डुल-न्याय से पृथक्-पृथक् भावों का एकत्र हो जाना ही भाव शबलता है।

---

१. रसगंगाधर, पृ० ९९। २. —लोचन, पृ० १७८।
३. काव्यप्रकाश।७।६०-६२ और साहित्यदर्पण।७।१२-१५।
४. (क) —काव्यप्रकाश।४।३६। (ख) —साहित्यदर्पण।३।२६७।
५. का० प्र०।४।सूत्र ५१ और वृत्ति।

(२) एक भाव के उपमर्दन (निवृत्त) होने के पीछे दूसरे भाव का उदय होकर उपमर्दित भाव का (जो निवृत्त हो गया है) फिर न होना ही शबलता है। इस लक्षण के द्वारा "भाव-सन्धि" की अतिव्याप्ति से भी भाव-शबलता बच जाती है।

(३) युद्ध में जिस प्रकार कोई योद्धा गिरता हुआ और कोई गिराता हुआ दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार कोई भाव उपमर्दित और कोई उपमर्दन करता हुआ प्रतीत होता है। इस लक्षण के द्वारा भी भाव-शबलता को भाव-सन्धि से बचाने का प्रयास किया गया है।

इनके अतिरिक्त "भाव-स्थिति" की भी चर्चा मम्मट ने की है किन्तु स्वयं इन्होंने इसे भाव-शान्त्यादि चार अवस्थाओं से अतिरिक्त नहीं माना और इसे "भाव" में अन्तर्भुक्त कर दिया।[1]

वस्तुतः उपर्युक्त सभी अपूर्ण रस (रसाभास को छोड़कर) भावों की विभिन्न अवस्थाओं के ही नाम है। इनका आधार हैं व्यभिचारी भावों की चमत्कारातिशयता और तत्प्रयुक्त प्रधानता से व्यंजना। तत्त्वतः ऐसे स्थलों में सहृदयों को होती है भावानुभूति ही किन्तु भावों की शान्ति, उदय, सन्धि और शबलता के आधार पर इसके अवान्तर्भेदों की गणना की गई है।

१. का० प्र०। सूत्र ५० की व्या० की अन्तिम पंक्ति।

उसके रसत्व का प्रतिवाद नहीं किया जा सकता।[1] अभिनव ने भी शुक्तिका में रजत के आभास के सादृश्य के आधार पर रसाभास की सत्ता स्वीकार की है।[2] तात्पर्य यह कि दोष के रहते हुए भी पाठकों को काव्य में रस का आभास होता है।

संस्कृत रस-शास्त्र में जिन दश प्रकार के रस-दोषों[3] का उल्लेख हुआ है उनका सम्बन्ध रसाभास और भावाभास के मूल अनौचित्य से ही है। इन्हें रसाभास-विवेचन का ही अंग मानना चाहिए।

(ग) भावशान्ति, भावोदय आदि

भाव, रसाभास और भावाभास की भांति चार अन्य अपूर्ण रसों को भी संस्कृत काव्य-शास्त्र में मान्यता मिली है। इनकी कल्पना व्यभिचारी भाव की शान्ति, उदय, सन्धि (मिलन) और शबलता (सम्मिश्रण) के आधार पर की गई है।[4] इनमें भी आस्वादयोग्यता और चमत्कार माने गये हैं। अतएव रस-विशेष का अस्तित्व रहने पर भी चमत्काराधिक्य के कारण इनकी प्रतीति अंगी के रूप में उसी तरह होती है जैसे विवाह-प्रवृत्त राज-भृत्य राजा की उपस्थिति रहने पर भी प्रधान (अंगी) माना जाता है।[5] इनके सम्बन्ध में विशेष विवेचन नहीं हुआ है—केवल सूत्र-शैली में ही इनका उल्लेख किया गया है। मम्मट और विश्वनाथ के सूत्रों के आधार पर उनके स्वरूप की स्पष्टता क्रमशः प्रस्तुत है।

जब एक भाव (संचारी भाव) दूसरे विरुद्ध भाव के उदित होने पर शान्ति होता हुआ भी चमत्कारी प्रतीत हो तब "भावशान्ति" की अनुभूति होती है। यदि एकभाव की शान्ति के अनन्तर दूसरे भाव का उदय हो और उस नवोदित भाव में ही चमत्कार का पर्यवसान हो तो "भावोदय" की अनुभूति होगी। जब तुल्य-चमत्कारकारक दो भावों की सन्धि होती है अर्थात् एक साथ उपस्थिति होती है तो "भाव-सन्धि" मानी जाती है। इसी प्रकार जब समान चमत्कार वाले अनेक भावों का सम्मेलन हो अर्थात् पूर्वापर रूप में एकत्र उपस्थिति हो तो "भाव-शबलता" माननी चाहिए।

भाव-शबलता के स्वरूप के सम्बन्ध में काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण की टीकाओं में कई मत उपलब्ध होते हैं :-

(१) तिल-तण्डुल-न्याय से पृथक्-पृथक् भावों का एकत्र हो जाना ही भाव शबलता है।

---

१. रसगंगाधर, पृ० ९९। २. —लोचन, पृ० १७८।
३. काव्यप्रकाश। ७।६०-६२ और साहित्यदर्पण।७।१२-१५।
४. (क) —काव्यप्रकाश। ४।३६। (ख) —साहित्यदर्पण।३।२६७।
५. का० प्र०।४।सूत्र ५१ और वृत्ति।

(२) एक भाव के उपमर्दन (निवृत्त) होने के पीछे दूसरे भाव का उदय होकर उपमर्दित भाव का (जो निवृत्त हो गया है) फिर न होना ही शबलता है। इस लक्षण के द्वारा "भाव-सन्धि" की अतिव्याप्ति से भी भाव-शबलता बच जाती है।

(३) युद्ध में जिस प्रकार कोई योद्धा गिरता हुआ और कोई गिराता हुआ दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार कोई भाव उपमर्दित और कोई उपमर्दन करता हुआ प्रतीत होता है। इस लक्षण के द्वारा भी भाव-शबलता को भाव-सन्धि से बचाने का प्रयास किया गया है।

इनके अतिरिक्त "भाव-स्थिति" की भी चर्चा मम्मट ने की है किन्तु स्वयं इन्होंने इसे भाव-शान्त्यादि चार अवस्थाओं से अतिरिक्त नहीं माना और इसे "भाव" में अन्तर्भुक्त कर दिया।[1]

वस्तुतः उपर्युक्त सभी अपूर्ण रस (रसाभास को छोड़कर) भावों की विभिन्न अवस्थाओं के ही नाम है। इनका आधार हैं व्यभिचारी भावों की चमत्कारातिशयता और तत्प्रयुक्त प्रधानता से व्यंजना। तत्त्वतः ऐसे स्थलों में सहृदयों को होती है भावानुभूति ही किन्तु भावों की शान्ति, उदय, सन्धि और शबलता के आधार पर इसके अवान्तर्भेदों की गणना की गई है।

१. का० प्र०। सूत्र ५० की व्या० की अन्तिम पंक्ति।

४

गौड़ीय वैष्णव साहित्यशास्त्र की परम्परा और रससिद्धांत

गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय

चैतन्य महाप्रभु की अनन्य भगवद्भक्ति से उद्भूत वैष्णव-भावना ने कालक्रम में बंगाल से लेकर वृदावन के करील-कुंजों तक पहुंच कर जो साम्प्रदायिक रूप धारण किया, उसे ही गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के नाम से अभिहित किया जाता है। यद्यपि स्वयं श्रीकृष्ण चैतन्य ने (पहले के विश्वरूप) किसी सम्प्रदाय-विशेष का प्रवर्तन अपना अभीष्ट नहीं बनाया था, तथापि उनके जैसे महापुरुषों की परिधि में होने वाले भक्ति-आन्दोलन ने, उनके असंख्य अनुगामी भक्तों ने तथा उनसे प्रभावित भक्त लेखकों और कवियों के कृतित्वों ने परवर्ती काल में उस युग की भक्ति-संवलित भावना को अनायास एक सम्प्रदाय विशेष की संख्या प्राप्त करा दी। यही कारण है कि चैतन्य ने अन्य वैष्णव-सम्प्रदायों के प्रवर्तकों की भांति प्रस्थानत्रयी (ब्रह्मसूत्र, श्री भगवद्गीता, और श्री मद्भगवत्पुराण) पर न कोई भाष्य लिखा और न किसी सम्प्रदायायिक ग्रन्थ विशेष की ही रचना की। आपके द्वारा लिखित आठ श्लोक मात्र मिलते हैं जो 'चैतन्य-शिक्षाष्टक' के नाम से प्रसिद्ध हैं।[1] इन श्लोकों में भी भगवान् कृष्ण का गुण-माहात्म्य, उनकी कृपा-याचना तथा भक्तों को नम्रता के उपदेश आदि ही वर्णित हैं।

वस्तुतः यह गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदाय कोई वैसा दार्शनिक वैष्णव सम्प्रदाय नहीं है जैसा शंकर, रामानुज, मध्व, निम्बार्क, विष्णुस्वामी और वल्लभ आदि आचार्यों द्वारा प्रवर्तित भिन्न-भिन्न वैष्णवभक्ति के सम्प्रदाय हैं। इसके अन्तर्गत केवल कृष्ण को परब्रह्म मानकर उनकी लीलाओं का गायन किया गया। भक्ति की जो धारा वैदिक युग से मन्द-मन्थर गति से प्रवाहित होकर, दक्षिण के आलवार वैष्णव

---

१ प्रभुदत्त ब्रह्मचारी : श्री श्रीचैतन्यचरितावली खं० ५, पृ० २५७-२५८।

भक्तों के बीच पहुंच कर प्रखर-वेग हो गई, तथा व्यास के श्रीमद्भागवत्, जयदेव के गीत-गोविन्द, विद्यापति और चण्डीदास के गीतों में तरंगायित हुई, वही अवसर पाकर श्रीकृष्ण चैतन्य के मन-महासागर में समाहित हो गई वृन्दावन की इस विशुद्ध भक्ति लहरी का द्रविड, कर्नाटक, महाराष्ट्र, गुजरात—होते हुए पहुंचने का संकेत श्रीमद्भागवत् में भी मिलता है ।[1] वृन्दावन की भक्ति-भावना ही गौड़ीय भक्ति-भावना थी । चैतन्य महाप्रभु के गौड़ (बंगाल) देश में उत्पन्न होने के कारण ही इस वैष्णव-भावना को गौड़ीय विशेषण से मंडित होना पड़ा ।

यदि किसी कारण-विशेष से गौड़ीय वैष्णव-भक्ति को साम्प्रदायिक चश्मे से देखा भी जाय तो इसका सारा श्रेय या उत्तरदायित्व चैतन्य के शिष्यों को ही सौंपना चाहिए । चैतन्य के शिष्यों ने बंगाल तथा वृन्दावन में राधा-कृष्ण की भक्ति का भरपूर प्रचार और प्रसार किया । नित्यानन्द अद्वैताचार्य ने बंगाल में छः शिष्यों ने (जो गोस्वामी के नाम से प्रसिद्ध हैं) वृन्दावन में हरिकीर्त्तनों के द्वारा तथा कुछ काव्यात्मक कृतित्वों और काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों के प्रणयन द्वारा वैष्णव-भत्ति का जो व्यवस्थित प्रचार किया, वह भक्ति साहित्य के इतिहास में चिर-स्मरणीय रहेगा । वृन्दावन के छः गोस्वामियों के नाम है—श्रीरूप, श्रीसनातन, श्रीजीव, श्रीगोपालभट्ट, श्रीरघुनाथभट्ट और श्रीरघुनाथदास । इनमें से प्रथम तीन गोस्वामी तो एक ही परि-वार से आए हुए थे । ये विद्वान होने के साथ लेखक भी थे । इनकी अनेक कृतियां उपलब्ध हैं । श्रीरूप गोस्वामी विरचित छोटी-बड़ी १६ पुस्तकें प्राप्त हैं— (१) हंसदूत (२) उद्धव सन्देश (३) कृष्ण जन्मतिथिविधि (४) गणोद्देश दीपिका (५) स्तव माला (६) विदग्धमाधव (७) ललितमाधव (८) दानलीला (९) दानकेलि-कौमुदी (१०) भक्तिरसामृत सिन्धु (११) उज्ज्वलनीलमणि (१२) मथुरा माहात्म्य (१३) आख्यातचन्द्रिका (१४) पद्यावली (१५) नाटकचन्द्रिका (१६) लघुभावगवतामृत । सनातन गोस्वामीरचित चार ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—— वृहद्भागवतामृत (दो खंड), हरिभक्तिविलास, वैष्णव तोषिणी (भागवत के दशम स्कंध की टिप्पणी) और लीलास्तव । जीवगोस्वामी ने चार कृतियां प्रस्तुत की थीं— श्री भागवत षट्सन्दर्भ, वैष्णवतोषिणी, लघुतोषिणी और गोपालचम्पू । रघुनाथदास गोस्वामी-रचित तीन पुस्तकें उपलब्ध हैं—स्तवमाला, स्तवावली और दानचरित । रघुनाथभट्ट गोस्वामी और गोपालभट्ट गोस्वामी का कोई कृतित्व उपलब्ध नहीं है । इनके अतिरिक्त, गौड़ीय वैष्णवभावना से प्रभावित कुछ अन्य कवि और लेखक भी हुए जिनमें अलंकार-कौस्तुभ के प्रणेता कविकर्णपूर, काव्य-चन्द्रिका के रचयिता कविचन्द्र और चैतन्य-चरितामृत के लेखक कृष्णदास कविराज प्रसिद्ध हैं ।

---

१ श्रीमद्भागवतमाहात्म्य, अध्याय १, श्लोक ४८-५० ।

गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के काव्य सिद्धान्त-ग्रन्थ और उनकी प्रयोगात्मक परिणति

रस-शास्त्रीय अथवा काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से उपर्युक्त सभी ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण नहीं हैं पर रूपगोस्वामी-रचित भक्तिरसामृत सिन्धु, उज्ज्वलनीलमणि और नाटक-चन्द्रिका; जीवगोस्वामी-प्रणीत प्रीतिसन्दर्भ और भक्ति-सन्दर्भ; कविकर्णपूर लिखित अलंकार-कौस्तुभ तथा कृष्णदास कविराजलिखित चैतन्य चरितामृत (मध्य) अत्यधिक उपादेय हैं। वस्तुतः ये ग्रन्थ ही गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्त ग्रंथ हैं। इनकी प्रयोगात्मक परिणति निम्नोक्त रचनाओं में हुई हैं :—

ग्रन्थ	रचना-वर्ग	लेखक
चैतन्यचन्द्रोदय	नाटक	कविकर्णपूर
जगन्नाथवल्लभ	"	रामान्द
विदग्धमाधव	"	रूपगोस्वामी
ललितमाधव	"	"
कृष्णाह्निक कौमुदी	लीलाकाव्य	कविकर्णपूर
गोविन्दलीलामृत	"	कृष्णदास कविराज
कृष्णभावनामृत	"	विश्वनाथ चक्रवर्ती
मुक्तकचरित चम्पू	चम्पू काव्य	रघुनाथ दास
आनन्दवृन्दावन चम्पू	"	कविकर्णपूर
गोपाल चम्पू	"	जीवगोस्वामी
हंसदूत	दूतकाव्य	रूपगोस्वामी
उद्धवसंदेश	"	वही
मुकुन्द मुक्तावली	गीतिकाव्य	अज्ञात
विलासमंजरी	"	"
उत्कलिकावल्लरी	"	"

इन सभी काव्य कृतियों में—चाहे वे नाटक हों अथवा गीतिकाव्य, लीलाकाव्य हों अथवा स्तोत्र या दूतकाव्य, सर्वत्र कृष्ण और उनकी बल्लभाओं को ही आलम्बन का रूप प्रदान किया गया है। कृष्ण और कृष्णवल्लभाओं के आधार पर भक्ति-रस-निष्पत्ति की समग्र योजना इन कृतियों में पाई जाती है। भक्ति-रस के अनुकूल आलम्बन-उद्दीपन विभाव, अनुभाव, संचारी, स्थायी आदि सभी उपकरणों को भी प्रस्तुत किया गया है।

हिन्दी के रीतिकालीन सिद्धांत ग्रंथों में भी कई ऐसे ग्रन्थ हैं जिनमें अलंकार-निरूपण, रस-विवेचन, नायिकाभेद कथन आदि के आधार रूप में कृष्ण अथवा राम

लिए गए हैं। रीतिकालीन कवि भूषण ने शिवाजी को इसी रूप में ग्रहण किया है। यह प्रभाव, सम्भवतः गौड़ीय-वैष्णवीय रस-शास्त्र के ग्रन्थों का ही था कि हिन्दी के रीतिकालीन कवियों और आचार्यों ने सामान्यतः राधा-कृष्ण को आलम्बन बना कर काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों के स्तूप भी खड़े किए और उनकी काव्यात्मक परिणति भी प्रस्तुत की। देव, पद्माकर, बिहारी, घनानन्द, मतिराम प्रभृति रीतिकालीन कवियों और आचार्यों की रचनाओं में गौड़ीय भक्तिरस का प्रभाव सुस्पष्ट है। उपर्युक्त भक्ति रसात्मक काव्य-सिद्धान्त की झांकी अष्टछाप के कवियों की रचनाओं में भी भलीभांति पाई जा सकती है[1]। सूरदास का तो यहां तक कहना था कि श्याम (कृष्ण) पर दृष्टि पड़ते ही मनुष्य रस-सुधा में निमग्न हो जाता है[2]। नन्ददास ने तो कृष्ण-भक्ति का अमृतरस के सरोवर के साथ रूपक बांध कर मोक्षादि को उसके निर्झर ही सिद्ध कर दिए[3]। निष्कर्ष यह कि गौड़ीय वैष्णव-भक्ति-रस की काव्यात्मक परिणति उपर्युक्त गौड़ीय साहित्य में ही नहीं प्रत्युत हिन्दी के भक्तिकालीन और रीतियुगीन साहित्य में भी हुई।

गौड़-वैष्णवीय रस-शास्त्र और उसका प्रेरणा-स्रोत

गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के गोस्वामियों ने काव्यशास्त्रीय रस-सिद्धान्त की व्याख्या भक्ति के आलोक में की अथवा यों कहिए कि वैष्णव-भक्ति की व्याख्या काव्यशास्त्रीय रस-सिद्धान्त के आधार पर की। जो हो, पर यह वैष्णव-भक्ति और काव्य-शास्त्रीय रस-सिद्धान्त की समन्वित व्याख्या आकस्मिक नहीं थी। इसके मूल में अनेक दार्शनिक और काव्यात्मक प्रवृत्तियां आधारभूत हैं। इन्हीं की प्रेरणा के फलस्वरूप धार्मिक भक्ति और काव्यात्मक रस की समन्विति चैतन्य सम्प्रदा में प्रस्तुत हुई। विषय की स्पष्टता के लिए कतिपय प्रेरक स्रोतों का उल्लेख आवश्यक है:—

(१) काव्यात्मक रस-सिद्धान्त का दार्शनिक विश्लेषण

संस्कृत काव्य-शास्त्र में जब रस-सिद्धान्त अत्यन्त सुदृढ़ हो गया तो रस के स्वरूप, उसकी निष्पत्ति और स्थिति आदि के निर्धारण-क्रम में आई हुई अनेक पेंचीदी समस्याओं और गांठों को सुलझाने तथा खोलने के लिए कई आचार्यों और टीका-

---

१ (क) अमृत निचोय कीयो एक ठौर।... —कृष्णदास
(ख) सोभा अमित अपार, सदा एक रस एक अखण्डित। —वही
(ग) रसिक सिरोमनि नंदनंदन। —परमानंददास

२ नैन परे रस श्याम सुधा में —सूरदास

३ तुम्हारी भगति अमी रस सरवर। —नन्ददास

कारों ने दर्शन-शास्त्र का सहारा लिया। विशेषतः रस-निष्पत्ति-विधायक भरतसूत्र के व्याख्याताओं ने जिस दार्शनिक शब्दावली का प्रयोग किया, वह विद्वानों के बीच सुप्रसिद्ध है। आरोपवाद, अनुमितिवाद, भोगवाद, अभिव्यक्तिवाद, दोषवाद आदि अनेक मतवाद भरत-सूत्र की व्याख्या में प्रस्तुत किए गए। आरोपवादी भट्टलोल्लट ने मीमांसा-दर्शन (पूर्व मीमांसा) का आश्रय ग्रहण कर विभाव-अनुभाव-संचारी और रस के मध्य उत्पाद्योत्पादक भाव, गम्म-गमकभाव और पोष्य-पोषक भाव संबंध स्वीकार किए तथा रस की क्रमशः उत्पत्ति, अभिव्यक्ति और पुष्टि बताई । ये सारे शब्द मीमांसा दर्शन के पारिभाषिक शब्द थे। जिस प्रकार मीमांसा दर्शन में कर्म और पुण्य (फलोपलब्धि) के बीच सम्बन्ध माना जाता है, उसी तरह उन्हीं शब्दों में भट्टलोल्लट ने भरत-सूत्र की व्याख्या भी कर दी। अनुमितिवादी शंकुक नैयायिक थे। न्यायदर्शन अनुमान प्रमाण को स्वीकार करता है। न्यायदर्शन का अनुमान खण्ड वस्तुतः भाषा के पेंचीदेपन के कारण पहेली का दर्शन है। "अवच्छेदक" और "अवच्छिन्न" से प्रच्छन्न विचार सर्वसामान्य जनों के बोध के बाहर हैं। अनुमान प्रमाण के द्वारा साधक—साधन (हेतु) के सहारे पक्ष में साध्य का अनुमान करता है। इस प्रसंग में साधक, साधन, साध्य, पक्ष, सपक्ष, विपक्ष, अन्वय, व्यक्तिरेक, व्याप्तिग्रह, हेत्वाभास आदि अनेक विशेषार्थ-गुम्फित पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग न्यायदर्शन में हुए हैं। न्याय-दर्शन के पंडित शंकुक ने इन्हीं दार्शनिक शब्दों के माध्यम से रस को अनुमेय सिद्ध किया और भरत-सूत्र की व्याख्या में अनुमितिवाद का सिद्धान्त प्रशस्त किया है। पुनः इसी सूत्र को व्याख्या में सांख्य दर्शन के विशेषज्ञ भट्टनायक ने भोगवाद का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। भोग, भावना आदि व्यापारों की कल्पना सांख्यदर्शन से उधार लेकर अपने काव्य-शास्त्रीय रस-सिद्धान्त पर दार्शनिक रंग चढ़ाया। अभिव्यक्तिवादी आचार्य अभिनवगुप्त ही किसी से पीछे क्यों रहते? दर्शनशास्त्र, भक्तिशास्त्र और काव्य-शास्त्र पर समान अधिकार रखने वाले अभिनवगुप्त ने रस-सिद्धान्त के विरोधियों के खण्डन में समस्त ज्ञान-संभार का उपयोग किया और उसकी व्याख्या में जिस अभिव्यक्तिवादी सिद्धान्त की स्थापना की उस पर स्वभावतः तर्कपूर्ण दार्शनिक शैली और उन शास्त्रों में प्रयुक्त शब्द-व्यूह हावी हो गए हैं। जगन्नाथ ने भरत-सूत्र की व्याख्या के प्रसंग में जिन नवीन विद्वानों[२] के मत का उल्लेख किया है, वह भी दार्शनिक का पुट लिए हुए है। इस प्रकार काव्य-शास्त्र ने विभिन्न विद्वानों के योगदान से दार्शनिकता का आधार ग्रहण किया। फलतः परवर्ती काल के गौड़वैष्णवीय सम्प्रदाय के गोस्वामी भी इनसे प्रभावित हुए और भक्ति-दर्शन का संभार लेकर काव्य-शास्त्र की धरातल पर उतर आये।

---

१ नाट्यशास्त्र। अध्याय ६, पृ० ९३।

२ हिन्दी रसगंगाधर, पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी। प्रथम भाग। पृ० ८६-८७।

(२) परम्परागत भक्ति-दर्शन

भक्ति-सूत्रों और भक्ति-दर्शनों में भक्ति की व्याख्या इस रूप में की गई जिससे उसकी रस-रूपता प्रकट होती थी। नारदीय भक्तिसूत्र में कहा गया— "भक्ति परम प्रेमस्वरूपा है, अमृत स्वरूपा है, जिसे उपलब्ध कर मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमृत हो जाता है, तृप्त हो जाता है, जिसे प्राप्त कर मनुष्य किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं करता, न वह शोक करता है और न द्वेष करता है, न किसी वस्तु में आसक्त होता है और न उसके प्रति उत्साही होता है"[1]। अतः परवर्ती काल में विश्वनाथ ने रस-स्वरूप के निर्धारण-क्रम में रस को स्व-प्रकाशानन्दचिन्मय, वेद्यान्तरस्पर्शशून्य, ब्रह्मास्वादसहोदर लोकोत्तरचमत्कार-प्राण आदि विविध विशेषणों से विभूषित किया[2]। शाण्डिल्य भक्तिसूत्र में भी भक्ति को ईश्वर में परानुरक्ति या परमराग कहा गया। राग के लिए "रस" शब्द को उपयुक्त माना गया[3]। यहाँ भी रस और भक्ति के साम्य की स्पष्ट झलक उपलब्ध हो जाती है। इतना ही नहीं, इन सूत्रों से भी पहले, उपनिषदों में ब्रह्म को ही रस कहा गया था। इस ब्रह्म-रूप रस की उपलब्धि से मनुष्य परमानन्दित हो जाता है[4]। पण्डित राज जगन्नाथ ने अपने "रसगंगाधर" में रस-स्वरूप के निर्धारण में तैत्तिरीयोपनिषद् की इसी ब्रह्मवल्ली का साक्ष्य उपस्थित कर उसे पल्लवित किया। अग्नि पुराण, में जिसे यह भारतीय मनीषा का एक ज्ञानकोष कहते हैं, आत्मा के अभिव्यक्त रूप को ही चैतन्य, चमत्कार और रस कहा गया। अग्निपुराणकार के अनुसार आनन्द आत्मा स्वरूप है जो प्रच्छन्न रहता है तथा विशेष परिस्थितियों में अभिव्यक्त होता है[5]। फलतः परमात्मा के साथ-साथ आत्मा (जो उस विभु परमात्मा का ही अंश है) का भी सम्बन्ध रस के साथ जोड़ा गया। कृष्ण के स्वरूप में वैष्णव भक्तों ने यह आनन्दमयता पाई, अतएव उन्हें और उनकी वल्लभाओं को भक्तिरस का आलम्बन माना[6]। सिद्धान्त मुक्तावली में वल्लभाचार्य ने कृष्ण को "आत्मानन्द समुद्रस्थ" कहा था[7]। इन सभी ग्रन्थों के अतिरिक्त गौड़ीय और वल्लभीय वैष्णव सम्प्रदाय को सर्वाधिक प्रभावित करने वाला ग्रन्थ था श्रीमद्भागवतपुराण। वस्तुतः, श्रीमद्भागवत को "सर्ववेदान्तसार" ही कहा गया[8]। इसमें वर्णित कृष्ण-लीला की रसमयता

---

१ नारदीय भक्तिसूत्राणि। १-५।

२ साहित्यदर्पण। ३।२-३।

३ शाडिल्यभक्तिसूत्रात्राणि। २ और ६।

४ तैत्तिरीपोयनिषद्। ११।७।१।

५ अग्निपुराण, ३४०,१।२।

६ भेद प्रकरण। श्लोक, ४।

७ सिद्धान्त मुक्तावली। ३।

८ श्रीमद्भागवत। १२।१३।१५।

ने गौड़ीय सम्प्रदाय को भक्तिरस-निबन्धन की सशक्त प्रेरणा दी। स्वयं चैतन्य महाप्रभु कृष्ण के श्याम रूप, उनके किशोर वय, उनके निवासस्थान वृन्दावन और उनकी लीला के दर्शन और अध्ययन से उत्पन्न आनन्द (रस) से अत्यधिक प्रभावित थे। चैतन्यचरितामृत में ऐसा उल्लेख मिलता है कि गौरांग महाप्रभु को माधवेन्द्रपुरी का यह श्लोक अतिप्रिय था और वे बहुधा इसे गाया भी करते थे—"श्याममेव परं रूपं, पुरी मधुपुरी वरा। वयः कैशोरकं ध्येयम्, आद्य एवं परा रसः।" इन्हीं सारे कारणों के फलस्वरूप कृष्ण को आधार मानकर भक्तिरस की सर्वश्रेष्ठता सिद्ध करने की प्रेरणा गौड़ी सम्प्रदायों के विद्वान और भक्त गोस्वामिय को मिली।

(३) एक रस में अन्यरसों के अन्तर्भोग की प्रवृत्ति।

संस्कृत काव्य-शास्त्र के इतिहास का सिंहावलोकन करने पर यह भलीभांति ज्ञात होता है कि अनेक आचार्यों ने अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार किसी एक रस को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व प्रदान किया। अपनी मान्यता के अनुसार रस-विशेष की उत्कृष्टता सिद्ध करने के लिए अन्य सभी रसों को उसी में अन्तर्निविष्ट करने का तर्कपूर्ण प्रयास भी किया। गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय की अनेकविध समस्याओं में एक समस्या यह भी थी कि भक्तिरस को सर्वोत्कृष्ट प्रमाणित करने के लिए अन्य सभी रसों को इसी में अन्तर्भुक्त कर दिया जाय। जिस प्रकार अन्य समस्याओं के समाधान का आधार या प्रेरणा प्राचीन साहित्य में ही उन्हें उपलब्ध हुई, उसी प्रकार एक रस में (भक्तिरस में) अन्य रसों के अन्तर्भाव की प्रेरणा भी इन्हें पूर्ववर्ती लक्षण-ग्रन्थों के प्रणेता आचार्यों और कवियों से ही प्राप्त हुई।

सर्वप्रथम रस-सिद्धान्त के मूल प्रवर्तक भरत ने ही एक रस में दूसरे रस के अन्तर्भाव या एक रस से दूसरे रस की उत्पत्ति का उल्लेख किया था। यों भरत ने सामान्यतः नाट्य में आठ प्रकार के रस स्वीकार किए थे, पर इनमें शृङ्गार, रौद्र, वीर और बीभत्स—ये चार ही मूल रस माने थे। इन मूल रसों से क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक रसों की उत्पत्ति बताई।[1] इतना ही नहीं, भिन्न-भिन्न रसों के विवरण-प्रसंग में आपने कहा कि जैसे गोत्र, कुल, आचार, आप्तोपदेश आदि के आधार पर किसी व्यक्ति का नामकरण किया जाता है, ठीक उसी तरह रसों के नाम भी आचारोत्पन्न और—आप्तोपदेश-सिद्ध होते हैं। शृंगार का नाम शृंगार इसलिए है कि समाज में जो कुछ पवित्र, मेध्य, उज्ज्वल और दर्शनीय है, उसकी उपमा शृंगार से दी जाती है। अतः जो उज्ज्वलवेष है, उसे शृंगारवान् कहा जाता है।[2] शृंगार के नामकरण के सम्बन्ध में जिस व्यापक और उदात्त पृष्ठाधार को प्रस्तुत किया गया है, इससे स्पष्टतया प्रतीत होता है कि भरत की

---

१. नाट्यशास्त्र : ६।४०४२।

२. नाट्यशास्त्र (का० मा० संस्करण) अध्याय ६, पृ०—९५।

दृष्टि में शृंगार ही सर्वाधिक वरेण्य एवं श्रेष्ठ है। शृंगार का स्थायीभाव रति (या काम) है। अन्य सभी भावों की उत्पत्ति काम से होती है।[1] अतएव सूक्ष्मतया विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि मूल रस चार भी नहीं प्रत्युत एक ही है। वह मूल रस है शृंगार। अन्य सभी रस इसी में अन्तर्भुक्त हैं।

"सरस्वती-कण्ठाभरण" और "शृंगार-प्रकाश" के प्रणेता भोजराज ने भी रस-सिद्धान्त की तह में जाने का प्रयास किया था। आपने रसोक्ति, वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति नामक काव्य के तीन भेदों की कल्पना की थी और उनमें रसोक्ति को सर्वाधिक गरिमा प्रदान की। इस प्रसंग में आपने रसोक्ति या रसवत् काव्य की मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक मीमांसा भी की। रस, अभिमान और शृंगार—इन तीनों को भोजराज ने पर्यायवाची माना।[2] उनका कथन था कि अहंकार ही रसोत्पत्ति की जड़ है। इस अहंकार की तीन अवस्थायें होती हैं। तृतीय अवस्था में आकर अहंकार ही शृंगार रस के रूप में परिणत होता है और बाद में शृंगार रस से अन्य रस भी उत्पन्न होते हैं। इस मीमांसा की समीक्षा में आज हम जो कुछ कहें पर इतना स्पष्ट है कि भोजराज ने भी शृंगार को ही मूल रस स्वीकार किया और उसी से अन्य सभी रसों का उद्भव प्रमाणित किया।

"साहित्यदर्पण" के रचयिता विश्वनाथ के वृद्ध प्रपितामह थे 'श्रीमन्नारायण'। आप काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ आचार्य थे पर आपका कोई खण्डित कृतित्व भी आज उपलब्ध नहीं है। विश्वनाथ ने अपने सिद्धान्त-ग्रन्थ में इनके विचारों को यत्र-तत्र उद्धृत किया है। इसी आधार पर ज्ञात होता है कि श्रीमन्नारायण अद्भुत-रस को मूल रस मानते थे। इनका कथन था कि रस का सार चमत्कार या विस्मय है, क्योंकि यही सभी रसों में अनुभूत होता है। फलतः विस्मय (चमत्कार) स्थायीभाव वाले अद्भुत रस की अनुभूति ही मूल रसानुभूति है और अन्य सभी रस इसी के अवान्तर्भेद हैं।[3] जो हो; पर इतना निश्चित है कि नारायण और उनके समर्थक विश्वनाथ ने अद्भुत को मूल रस माना और उसी में अन्य सभी रसों को गतार्थ किया।

रस-सिद्धान्त या किसी अन्य काव्य-सिद्धान्त का विश्लेषण सिद्धान्त-ग्रन्थों के प्रणेता आचार्यों तक ही सीमित नहीं था। रससिद्ध कवियों ने भी प्रसंगवश अपनी मान्यतायें, अप्रत्यक्ष रूप से ही सही, अभिव्यक्त की हैं। इस प्रसंग में करुण-रसावतार भवभूति का नाम उल्लेखनीय है। भवभूति करुणरस को ही मूलरस मानते थे। इनकी दृष्टि में एक मात्र करुण रस (मूल रस) ही निमित्तभेद से शृंगार, वीर,

---

१. ना० शा० ।२२।८९ ।

२. सरस्वतीकण्ठाभरण ।५।१ ।

३. साहित्यदर्पण । तृतीय परिच्छेद । श्लोक—३ की व्याख्या के प्रसंग में उद्धृत धर्मदत्त के गन्थ से ।

ने गौड़ीय सम्प्रदाय को भक्तिरस-निबन्धन की सशक्त प्रेरणा दी। स्वयं चैतन्य महाप्रभु कृष्ण के श्याम रूप, उनके किशोर वय, उनके निवासस्थान वृन्दावन और उनकी लीला के दर्शन और अध्ययन से उत्पन्न आनन्द (रस) से अत्यधिक प्रभावित थे। चैतन्यचरितामृत में ऐसा उल्लेख मिलता है कि गौरांग महाप्रभु को माधवेन्द्रपुरी का यह श्लोक अतिप्रिय था और वे बहुधा इसे गाया भी करते थे—
"श्याममेव परं रूपं, पुरी मधुपुरी वरा। वयः कैशोरकं ध्येयम्, आद्य एवं परा रसः।"
इन्हीं सारे कारणों के फलस्वरूप कृष्ण को आधार मानकर भक्तिरस की सर्वश्रेष्ठता सिद्ध करने की प्रेरणा गौड़ी सम्प्रदायों के विद्वान और भक्त गोस्वामिय को मिली।

(३) एक रस में अन्यरसों के अन्तर्भोग की प्रवृत्ति।

संस्कृत काव्य-शास्त्र के इतिहास का सिंहावलोकन करने पर यह भलीभाँति ज्ञात होता है कि अनेक आचार्यों ने अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार किसी एक रस को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व प्रदान किया। अपनी मान्यता के अनुसार रस-विशेष की उत्कृष्टता सिद्ध करने के लिए अन्य सभी रसों को उसी में अन्तर्निविष्ट करने का तर्कपूर्ण प्रयास भी किया। गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय की अनेकविध समस्याओं में एक समस्या यह भी थी कि भक्तिरस को सर्वोत्कृष्ट प्रमाणित करने के लिए अन्य सभी रसों को इसी में अन्तर्भुक्त कर दिया जाय। जिस प्रकार अन्य समस्याओं के समाधान का आधार या प्रेरणा प्राचीन साहित्य में ही उन्हें उपलब्ध हुई, उसी प्रकार एक रस में (भक्तिरस में) अन्य रसों के अन्तर्भाव की प्रेरणा भी इन्हें पूर्ववर्ती लक्षण-ग्रन्थों के प्रणेता आचार्यों और कवियों से ही प्राप्त हुई।

सर्वप्रथम रस-सिद्धान्त के मूल प्रवर्तक भरत ने ही एक रस में दूसरे रस के अन्तर्भाव या एक रस से दूसरे रस की उत्पत्ति का उल्लेख किया था। यों भरत ने सामान्यतः नाट्य में आठ प्रकार के रस स्वीकार किए थे, पर इनमें शृङ्गार, रौद्र, वीर और बीभत्स—ये चार ही मूल रस माने थे। इन मूल रसों से क्रमशः हास्य, करुण, अद्भुत और भयानक रसों की उत्पत्ति बताई।[1] इतना ही नहीं, भिन्न-भिन्न रसों के विवरण-प्रसंग में आपने कहा कि जैसे गोत्र, कुल, आचार, आप्तोपदेश आदि के आधार पर किसी व्यक्ति का नामकरण किया जाता है, ठीक उसी तरह रसों के नाम भी आचारोत्पन्न और—आप्तोपदेश-सिद्ध होते हैं। शृंगार का नाम शृंगार इसलिए है कि समाज में जो कुछ पवित्र, मेध्य, उज्ज्वल और दर्शनीय है, उसकी उपमा शृंगार से दी जाती है। अतः जो उज्ज्वलवेष है, उसे शृंगारवान् कहा जाता है।[2] शृंगार के नामकरण के सम्बन्ध में जिस व्यापक और उदात्त पृष्ठाधार को प्रस्तुत किया गया है, इससे स्पष्टतया प्रतीत होता है कि भरत की

१. नाट्यशास्त्र : ६।४०४२।
२. नाट्यशास्त्र (का० मा० संस्करण) अध्याय ६, पृ०—९५।

दृष्टि में शृंगार ही सर्वाधिक वरेण्य एवं श्रेष्ठ है। शृंगार का स्थायीभाव रति (या काम) है। अन्य सभी भावों की उत्पत्ति काम से होती है।[1] अतएव सूक्ष्मतया विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि मूल रस चार भी नहीं प्रत्युत एक ही है। वह मूल रस है शृंगार। अन्य सभी रस इसी में अन्तर्भुक्त हैं।

"सरस्वती-कण्ठाभरण" और "शृंगार-प्रकाश" के प्रणेता भोजराज ने भी रस-सिद्धान्त की तह में जाने का प्रयास किया था। आपने रसोक्ति, वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति नामक काव्य के तीन भेदों की कल्पना की थी और उनमें रसोक्ति को सर्वाधिक गरिमा प्रदान की। इस प्रसंग में आपने रसोक्ति या रसवत् काव्य की मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक मीमांसा भी की। रस, अभिमान और शृंगार—इन तीनों को भोजराज ने पर्यायवाची माना।[2] उनका कथन था कि अहंकार ही रसोत्पत्ति की जड़ है। इस अहंकार की तीन अवस्थायें होती हैं। तृतीय अवस्था में आकर अहंकार ही शृंगार रस के रूप में परिणत होता है और बाद में शृंगार रस से अन्य रस भी उत्पन्न होते हैं। इस मीमांसा की समीक्षा में आज हम जो कुछ कहें पर इतना स्पष्ट है कि भोजराज ने भी शृंगार को ही मूल रस स्वीकार किया और उसी से अन्य सभी रसों का उद्‌भव प्रमाणित किया।

"साहित्यदर्पण" के रचयिता विश्वनाथ के वृद्ध प्रपितामह थे 'श्रीमन्नारायण'। आप काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ आचार्य थे पर आपका कोई खण्डित कृतित्व भी आज उपलब्ध नहीं है। विश्वनाथ ने अपने सिद्धान्त-ग्रन्थ में इनके विचारों को यत्र-तत्र उद्‌धृत किया है। इसी आधार पर ज्ञात होता है कि श्रीमन्नारायण अद्‌भुत-रस को मूल रस मानते थे। इनका कथन था कि रस का सार चमत्कार या विस्मय है, क्योंकि यही सभी रसों में अनुभूत होता है। फलतः विस्मय (चमत्कार) स्थायीभाव वाले अद्‌भुत रस की अनुभूति ही मूल रसानुभूति है और अन्य सभी रस इसी के अवान्तर्भेद हैं।[3] जो हो; पर इतना निश्चित है कि नारायण और उनके समर्थक विश्वनाथ ने अद्‌भुत को मूल रस माना और उसी में अन्य सभी रसों को गतार्थ किया।

रस-सिद्धान्त या किसी अन्य काव्य-सिद्धान्त का विश्लेषण सिद्धान्त-ग्रन्थों के प्रणेता आचार्यों तक ही सीमित नहीं था। रससिद्ध कवियों ने भी प्रसंगवश अपनी मान्यतायें, अप्रत्यक्ष रूप से ही सही, अभिव्यक्त की हैं। इस प्रसंग में करुण-रसावतार भवभूति का नाम उल्लेखनीय है। भवभूति करुणरस को ही मूलरस मानते थे। इनकी दृष्टि में एक मात्र करुण रस (मूल रस) ही निमित्तभेद से शृंगार, वीर,

---

१. ना० शा० ।२२।८९।
२. सरस्वतीकण्ठाभरण ।५।१।
३. साहित्यदर्पण। तृतीय परिच्छेद। श्लोक—३ की व्याख्या के प्रसंग में उद्‌धृत धर्मदत्त के गन्थ से।

बीभत्स आदि अन्य रसों में परिणत होता है। ठीक उसी तरह जैसे जल निमित्तभेद से आवर्त्त, बुद्बुद, तरंग आदि विभिन्न रूपों में परिणत होता है, पर वह आपाततः जल ही है, चाहे उसके अन्य विकार या रूपान्तर क्यों न हों।[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि भवभूति भी उपर्युक्त आचार्यों की तरह एक रसवादी थे। पर अन्तर इतना है कि आप सबों से पृथक् होकर 'करुण रस'' की आद्यता या मौलिकता का पोषण करते हैं और इसी करुण-रस में अन्य सभी रसों का अन्तर्भाव करते हैं।

गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के गोस्वामियों को भी वस्तुतः इन्हीं से प्रेरणा मिली और उन्होंने अपनी भक्ति-भावना की प्रबलता को सिद्ध करने के लिए न केवल भक्ति रस का समर्थन ही किया, प्रत्युत उसे मूलरस मानकर अन्य सभी रसों को इसमें अन्तर्निविष्ट भी कर डाला। इस प्रकार हम देखते हैं कि गौड़ीय वैष्णव रस-शास्त्र का उदय आकस्मिक नहीं है, प्रत्युत वह परम्परागत भक्तिसाहित्य एवं रस-शास्त्र से प्रेरणा ग्रहण कर ही विकसित हुआ है। उसके पारिभाषिक शब्द, निरूपण-शैली और प्रतिपाद्य विषय भी तत्त्वतः वही हैं जो परम्परागत रस-शास्त्रीय निरूपण में हमें उपलब्ध हो चुके हैं। मुख्य अन्तर इतना ही है कि गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के गोस्वामियों ने भक्तिरस को अत्यधिक महत्ता दी तथा भक्ति-रस निरूपण के लिए कृष्ण और राधा तथा अन्य ब्रजवनिताओं को उसके आलम्बन मानकर उन्हीं से सम्बन्धित अनुभाव, संचारी और व्यभिचारी का वाग्जाल फैलाया। एक नई मंजूषा में आपने प्राचीन रस सामग्री को ही निहित करने का प्रयास किया—इतना ही कहा जा सकता है। और इस प्रयास के प्रेरक तत्त्व मुख्यतः तीन हैं जिनकी विवेचना हम ऊपर प्रस्तुत कर चुके हैं। वे हैं—

(१) काव्यात्मक रस-सिद्धान्त का दार्शनिक विश्लेषण;
(२) परम्परागत भक्ति-दर्शन;
(३) एक रस में अन्य रसों के अन्तर्भोग की प्रवृत्ति।

गौड़ वैष्णवीय भक्ति-रस : उद्भव और विकास

संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों ने भक्ति को स्वतन्त्र रस नहीं माना था। वे सदा ही इसे "भाव" की संज्ञा देते रहे हैं। देवादिविषयक रतिभाव भक्ति, वात्सल्य, गुरुभक्ति आदि का बाधक भाव था। पर अलंकार-सम्प्रदाय के कतिपय आचार्यों ने अलंकारों के विवेचन-प्रसंग में भक्ति-रस का बीज बो दिया था जो आगे चलकर गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय में पूर्णतः पल्लवित, पुष्पित एवं फलित हुआ। भक्ति-रस के उद्भव और विकास के पूर्व हमें संक्षेप में भक्ति-रस के विरोधियों की मान्यताओं को देख लेना चाहिए।

---

१. भवभूति; उत्तरचरितम्, अंक ३, श्लोक ४७।

भक्ति-रस-विरोधी आचार्य

आचार्य अभिनवगुप्त ने चार पुरुषार्थों के आधार पर केवल नौ रसों की कल्पना की थी। शेष रसों को इन्होंने रस माना ही नहीं बल्कि भावों (संचारी या व्यभिचारी) के अन्तर्गत परिगणित किया।[1] फलतः अभिनवगुप्त की दृष्टि में भक्ति एक स्वतन्त्र रस नहीं है प्रत्युत एक भाव है। वस्तुतः इसे शान्त रस के संचारी धृति, मति, स्मृत तथा उत्साह आदि के खाते में डाल दिया गया है।[2] धनंजय ने भी भक्ति को एक भाव मात्र ही स्वीकार किया तथा इसे हर्ष, उत्साह आदि संचारी भावों में अन्तर्भुक्त किया।[3] भोजराज ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की अपेक्षा रसों की संख्या तो बढ़ाई पर भक्ति को आपने भी रस स्वीकार नहीं किया। मम्मट ने अपने काव्य प्रकाश में देवादिविषया रति को भक्ति-रस नहीं माना पर उसे विभावादि के द्वारा प्रधानतया व्यंजित व्यभिचारी भाव ही स्वीकार किया।[4] विश्वनाथ ने वात्सल्य को स्वतन्त्र रस तो स्वीकार किया पर भक्ति को आपने भी रस नहीं माना। देवादिविषया रति के लिए आपको भी 'भाव' की संज्ञा ही उचित प्रतीत हुई।[5] विश्वनाथ के अनन्तर मूर्धन्य आचार्य जगन्नाथ का युग आया। आपने शान्त का आधार स्थायी वैराग्य को माना तथा भक्ति का स्थायी अनुराग को और इस प्रकार दोनों में पृथक्-पृथक् रसयोग्यता पाई। फिर भी विषय को स्पष्टतया समझकर भी परम्परागत मान्यताओं की दृष्टि से आपने भक्ति को स्वतन्त्र रस न मान कर उसे एक 'भाव' ही माना। इस सम्बन्ध में आपने कई रूढ़िग्रस्त तर्क भी उपस्थित किए। सबसे पहली बात यह कि शृंगार से भिन्न देव, गुरू, द्विज, वत्स आदि विषयक रति या अनुराग के आधार पर यदि रस की कल्पना की जाय तो एक मात्र भक्तिरस की समस्या ही नहीं वरन् गुरुभक्ति, वात्सल्य, द्विजभक्ति आदि अनेक रसों की समस्याएं उठ खड़ी होंगी। ऐसी स्थिति में देवविषया रति को भी भक्ति-रस नहीं मानना ही आपने श्रेयस्कर समझा। दूसरा तर्क उनका यह था कि परम्परानुमोदन भी एक जबर्दस्त वस्तु है। जब पूर्ववर्ती आचार्यों ने देव-विषया रति को भक्तिरस नहीं माना तो मैं ही क्यों इसे मान्यता दूं।[6] अतएव आपने इस प्रसंग में मुंह खोलना उचित नहीं समझा। जो हो, आपमें पैनी पकड़ तो थी पर परम्परा के नाम पर तथ्य की ओर से आंख मूँद लेना रूढ़िवादिता का परिचायक है। स्वयं संस्कृत साहित्य का इतिहास खण्डन-मण्डन का साक्ष्य उपस्थित करता है। फिर गुरुभक्ति आदि अन्य रसों की समस्याओं का निराकरण उन्हें दूसरे ढंग के विवेचन

---

१ अभिनवभारती, भाग १, पृ० ३४१। २ वही, पृ० ३४०।

३ धनंजय, दशरूपक, ४।८३।

४ मम्मट, काव्यप्रकाश, ४।३५। ५ विश्वनाथ; साहित्य दर्पण।

६ जगन्नाथ : रसगंगाधर, प्रथम आनन, पृ० ७६।

द्वारा करना चाहिए था। क्योंकि वैसे स्थलों में पाठकों को तन्मय करने की वैसी क्षमता नहीं होती है जैसी भक्तों द्वारा भगवान् के प्रति किए गए आत्मनिवेदन के पदों में। पर इतना तो मानना ही होगा कि जगन्नाथ ने गौड़ीय सम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा प्रस्तुयभाग भक्तिरस का पथ अपनी स्पष्ट मीमांसा द्वारा प्रशस्त किया. भले ही आपने उसे पूरी मान्यता न दी हो।

इनके अतिरिक्त आधुनिक काल में आकर कई मराठी लेखकों ने भक्ति-रस का विरोध किया है। इन विरोधियों में मुख्य हैं—श्री रंगाचार्य रेड्डी, प्रो॰ मा॰दा॰ अलतेकर, प्रो॰ श्री वि॰ परांजपे, श्री पी॰ वी॰ काणे और प्रो॰ द॰ सी॰ पंगु। इन लेखकों के मतों का पृथक्-पृथक् उल्लेख न करके इनके द्वारा प्रस्तुत सभी तर्कों को मैं एकत्र प्रस्तुत कर देता ही उचित समझता हूं—

(१) भक्ति-रस के अनुमोदन से परम्परागत काव्य-शास्त्र पर आघात पहुंचा कर नई समस्या काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में उठ खड़ी होगी।
(२) भक्ति का अन्तर्भाव अन्य रसों में हो सकता है और इसे एक भाव ही माना जा सकता है;
(३) निर्जीव पाषाण-मूर्ति के प्रति निवेदन होने के कारण इसमें वैसी तीव्रता या उत्कटता नहीं है जैसी अन्य सजीव प्राणियों के प्रति उन्मुख भावनाओं में;
(४) देवविषया रति जिसे हम भक्ति कहते हैं, मानव-मन की मूल भावना नहीं है;
(५) यह भावना उतनी व्यापक नहीं है जितनी अन्य मानवीय भावनाएं।

इन सभी तर्कों का युक्तिपूर्ण उत्तर समीक्षा के प्रसंग में हम प्रस्तुत करेंगे। यहां केवल इतना संकेत पर्याप्त है कि संस्कृत काव्य शास्त्र के युग से लेकर अभी तक अनेक आचार्यों और लेखकों ने भक्ति-रस का विरोध किया है और उसे (देवविषया रति) मात्र भाव की संज्ञा प्रदान की है।

भक्ति-रस के समर्थक आचार्य

हम पहले ही कह आये हैं कि संस्कृति काव्य शास्त्र के परवर्ती आचार्यों ने भले ही भक्ति-रस का विरोध किया हो पर सर्वप्राचीन अलंकार-सम्प्रदाय के कई आचार्यों ने अनजाने ही भक्ति-रस का बीज बो दिया था। इसी बीज को, अनेक प्रेरणा स्रोतों से प्रेरित होकर, गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के गोस्वामियों ने अंकुरित, पल्लवित एवं पुष्पित कर भक्ति-रस का विशद विवेचन प्रस्तुत किया। सर्वप्रथम भक्ति रस का संकेत हमें दण्डी के काव्यादर्श में उपलब्ध होता है। प्रेयोऽलंकार के विवेचन-प्रसंग में यह संकेत मिलता है। उस अलंकार के उदाहरण में दण्डी ने कृष्ण के प्रति विदुर का तथा महेश्वर के प्रति रातवर्म नामक राजा के प्रीतिप्रकाशक वचनों का उल्लेख किया है। और 'भक्ति मात्र समाराध्यः सुप्रीतश्च ततो हरिः (का॰ द॰। २।२७७) कहकर अनजाने ही आपने भक्ति रस की स्थापना कर दी

है। दण्डी ने शृंगार का स्थायीभाव रति को स्वीकार किया है और इससे पृथक भक्ति का स्थायी भाव प्रीति को माना है।[1] भामह और दण्डी दोनों आलंकारिकों ने 'प्रेयस्' को प्रीति अथवा रति से सम्बन्धित माना हैं। प्रेयस् को प्रियतर आख्यान मानकर उसके मधुर स्वरूप का भी उद्घाटन इन्होंने किया है। उद्भट ने इस प्रेयस् को रसवत् अलंकार से पृथक् स्वीकार किया है। प्रेयस् (जिनका आधार प्रीति या रति है) को आपने भाव-काव्य के रूप में एक अलंकार-माना है तथा जितने भाव हैं उन सबों को इसी प्रेयस् के अन्तर्गत रख दिया है। जो हो, पर अभी तक दण्डी, भामह, उद्भट आदि अलंकारों ने प्रीतिमूलक भक्ति को प्रेयस् अलंकार ही कहा था। सर्वप्रथम रुद्रट ही ऐसे हुए जिन्होंने 'प्रेयान्' नामक एक सर्वथा नवीन रस को स्वीकार किया। प्रेयान् को अलंकारों की श्रेणी से हटाकर आपने इसे रस श्रेणी में रखा। इस प्रेयान् (भक्ति) नामक रस का स्थायीभाव आपने स्नेह को माना। कालान्तर में इसी के आधार पर प्रेयस् वात्सल्य, प्रीति, श्रद्धा, स्नेह आदि रसों की चर्चा हुई। पर इन सभी नवोद्भावित रसों में प्रीति (भक्ति) और वात्सल्य इन दो रसों को ही समर्थन प्राप्त हुआ। यों इन दोनों रसों के भी विरोधियों की कमी नहीं थी, फिर भी किसी न किसी रूप में ये रस अपना अस्तित्व बनाए रहे। भक्ति या प्रीति रस के विरोधियों की चर्चा अभी की जा चुकी है। पर समय पाकर गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के गोस्वामियों और भक्तों के हाथों में पकड़कर जो भक्ति-रस अभी तक दबा हुआ था, एक बार फिर से अपनी वैजयन्ती फहराने लगा और अन्य सभी रसों को अपने में अन्तर्निविष्ट कर अपने अस्तित्व को सुदृढ़ बना लिया।

गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदाय में भक्ति-रस

गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के जिन ग्रन्थों में भक्ति-रस के व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक पक्ष प्रस्तुत किए गए हैं, उनकी विस्तृत चर्चा हम इस अध्याय के आरम्भ में ही कर चुके हैं। किन्तु सैद्धान्तिक स्थापना की दृष्टि से मधुसूदन सरस्वती प्रणीत भगवद्भक्तिरसायन, रूपगोस्वामीकृत हरिभक्तिरसामृतसिन्धु और उज्ज्वल नीलमणि और कविकर्णपूर विरचित अलंकारकौस्तुभ ही प्रमुख ग्रन्थ हैं। इन्हीं ग्रन्थों में मुख्यतः भक्ति-रस के स्वरूप, भेद-उपभेद, उनके उपकरण आदि का विश्लेषण किया गया है। विशेषतः हरि भक्तिरसामृत सिन्धु और उज्ज्वलनीलमणि—ये दोनों ग्रन्थ बड़े विस्तार में भक्ति-रस की स्थापना एवं विश्लेषण करते हैं। यों भक्ति के व्यावहारिक पक्ष पर प्रकाश डालने वाले श्रीमद्भागवत, श्रीमद्भगवद्गीता, भगवद्भक्तिचन्द्रिका, शांडिल्यसूत्र, नारदीयसूत्र, नाटकचन्द्रिका, काव्यचन्द्रिका, प्रीतिसन्दर्भ आदि ग्रन्थों में भी यत्र-तत्र भक्ति की रसात्मकता के संकेत हैं।

---

१ प्राक् प्रीतिर्दर्शिता सेयं रतिः शृंगारतां गता। काव्यदर्पण। २।२८१।

सर्वप्रथम भगवद्भक्तिचन्द्रिका नामक धार्मिक ग्रन्थ में भक्ति को रस कहा गया है। इस ग्रन्थ के रसोल्लास में भक्ति की रस-रूप में स्थापना करते हुए कहा गया है–"अनासंग की जननी, परापर के बोध के विपरीत सामरस्य की उपस्थापिका परमप्रेमरूपा, परमानन्ददायिनी मधुरा भक्ति ही भक्तों की दृष्टि में पराभक्ति है और रसपोषकों की दृष्टि में रस है"[1]। मधुसूदन सरस्वती ने इस पराभक्ति रूप रस को ब्रह्मानन्द या परमानन्द तुल्य बताया है[2]। कहने का तात्पर्य यह कि योगियों को समाधिजन्य ब्रह्मानन्द में जो सुख मिलता है वही काव्यरसिकों को भक्तिरसानुभूति में मिलता है। मधुसूदन सरस्वती का कहना है कि नायिकादिविषयक शृंगार, वीर आदि रसों में पूर्ण सुख की अनुभूति सहृदयों को नहीं होती है। पूर्ण आनन्द की अनुभूति एकमात्र भक्तिरस में ही होती है। यह भक्तिरस अन्य रसों की अपेक्षा उसी प्रकार बलवान् है जैसे जुगुनुओं के प्रकाश के समक्ष आदित्य की प्रभा[3]।

मधुसूदन के विचार से भक्तियोग की अवस्था ऐसी विलक्षण होती है जिसमें स्वयं तथाकथित काव्यशास्त्रीय नव रस मिश्रित रहते हैं। भक्तिरस के आलम्बन—उद्दीपन आदि उपकरण भी अन्य रसों के समान ही होते हैं और वह चित्र-निबद्ध रूप की तरह रसनीयता को प्राप्त होता है। काव्यशास्त्र के जिन आचार्यों ने भक्ति-रस को देवविषयक रतिभाव मात्र कहकर विराम ले लिया है वे विषय की गहराई तक नहीं पहुंच सके हैं। अन्य तीस कोटि देवों से (वैदिक और पौराणिक) सम्बन्धित होने पर भले ही वह "रति" भाव की पदवी धारण कर ले पर जब वही रति परात्पर, अक्षर, परमात्मा की ओर विनिवेशित होती है तो वह भक्ति रस कहलाने की अधिकारिणी हो जाती है[4]। अभिनवगुप्त आदि आचार्यों का, जिन्होंने पुरुषार्थ-चतुष्टय के आधार पर नौ रसों की मानना की थी, मधुसूदन सरस्वती ने खण्डन किया है। इनका कहना है कि इस दृष्टि से भी एक मात्र भक्ति को ही रस मानना चाहिए क्योंकि दुःख से असंस्पृष्ट सुख ही पुरुषार्थ है। यह पुरुषार्थ (दुःखासंस्पृष्ट सुखावस्था) केवल भक्ति की स्थिति में ही पाया जाता है, अतएव मात्र उसे ही रस स्वीकार करना चाहिए। द्रुतचित्त व्यक्ति के लिए भक्ति ही साध्य है और अद्रुतचित्त व्यक्ति के लिए ज्ञान[5]। द्रुतचित्त भक्तों के लिए ज्ञान एक साधन है, अतएव उसे भक्तिरस का संचारी मात्र मानना चाहिए। यों सामान्यतः भक्ति की उपलब्धि के लिए भक्ति ही साधन भी है। भक्ति रस का स्थायीभाव है अन्तःकरण की भगवदाकारता। स्वयं भगवान् इसके आलम्बन हैं, अक्षतचन्दन-फूल-तुलसी आदि पूजोपकरण इसके उद्दीपन हैं और हर्षजन्य अश्रु नेत्र-विकार-रोमांच-पुलक आदि इसके अनुभाव

---

१ भगवद्भक्तिचन्द्रिका। रसोल्लास। २ भगवद्भक्तिरसायन, मधुसूदन सरस्वती १।६।
३ भगवद्भक्तिरसायन २।७७-७८।
४ वही। १।३
५ वही पृ० ५।

हैं। ध्यान से देखा जाय तो स्वयं भगवान् ही इस रस के आलम्बन भी हैं और स्थायी भी, क्योंकि अन्तःकरण की भगवदाकारता और भगवान् में कोई अन्तर नहीं है[1]। भगवद्भक्तिरसायन के अनुसार वीर, रौद्र, भयानक, बीभत्स और शान्त रसों का अन्तर्भाव भक्तिरस में नहीं किया जा सकता है। वीर रस का सन्निवेश इसलिए नहीं हो सकता है कि भगवान् के आलम्बन होने के कारण धर्मवीर और दयावीर आदि आलम्बनों की कल्पना असंभव हो जायगी। रौद्र और भयानक रसों का समावेश इसलिए नहीं होगा कि ये दोनों रस प्रीति के विरोधी हैं और प्रीति ही भक्तिरस का आधार है। प्रीति में जुगुप्सा (घृणा) का स्थान नहीं होने के कारण बीभत्स का अन्तर्निवेश भी न्याय्य नहीं होगा। इसी प्रकार शान्त रस को भी भक्ति में समाविष्ट नहीं किया जा सकता है क्योंकि शान्त का सम्बन्ध अद्रुतचित्त व्यक्ति से भी होता है (ज्ञान की उपलब्धि होने पर भी मनुष्य शान्त रहता है)। पर भक्ति का सम्बन्ध केवल द्रुतचित्त व्यक्तियों से ही होता है। अतएव भक्ति-रस के अन्तर्गत शान्तरस को रखना ठीक नहीं है[2]। तात्पर्य यह कि मधुसूदन सरस्वती के अनुसार केवल शृंगार, करुण और हास्य रस ही भक्तिरस में गृहीत हो सकते हैं। अन्य शास्त्रीय रस भक्ति की दृष्टि से निराधार एवं निष्प्रयोजन हैं।

मधुसूदन सरस्वती के अनन्तर भक्तिरस को विस्तारपूर्वक प्रस्तुत करने वालों में रूपगोस्वामी का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन्होंने हरिभक्तिरसामृतसिन्धु और उज्ज्वलनीलमणि नामक दो ग्रन्थ लिखे थे। हरिभक्तिरसामृतसिन्धु में सामान्य भक्तिरस का निरूपण और उसी के अन्तर्गत, अन्य शास्त्रीय रसों को भक्ति के सांचे में ढालकर अन्तर्भुक्ति भी प्रदर्शित की है। इन सभी रसों में मधुरा भक्तिरस (लौकिक शृंगार का भक्त्यात्मक रूपान्तर) को आपने विशेष महत्त्व दिया। अतएव उज्ज्वल नीलमणि नामक एक स्वतन्त्र सिद्धान्त ग्रन्थ लिखकर विस्तार पूर्वक इसकी स्थापना की।

" हरि भक्तिरसामृतसिन्धु" चार विभागों में विभक्त है—पूर्वविभाग, दक्षिण-विभाग, पश्चिम विभाग और उत्तर विभाग। पुनः प्रत्येक विभाग कई लहरियों में बँटा हुआ है। ये लहरियां और विभाग सिन्धु शब्द की आलंकारिक सार्थकता प्रमाणित करते हैं। पूर्व विभाग की चार लहरियों में भक्ति का निरूपण है। प्रथम लहरी में भक्ति के चार भेद बताए गए हैं—सामान्य भक्ति, साधनांकिता भक्ति, भावाश्रिता भक्ति और प्रेमनिरूपिका भक्ति। सामान्यभक्ति को आपने उत्तमा भक्ति स्वीकार किया है। अन्याभिलाष शून्य, ज्ञान और कर्म आदि से अनावृत तथा अनुकूलता के साथ कृष्ण का अनुशीलन ही उत्तमा या सामान्य भक्ति है[3]। दूसरी

---

१ भगवद्भक्तिरसायन, पृ० १८। २ वही २।२७-३३।
३ रूपगोस्वामी, हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, पूर्व विभाग। १।१०-११।

लहरी में साधन-भक्ति की चर्चा की गई है[1] । साधन-भक्ति के वैधी और रागानुगा नामक द्विविध भेद किए गए हैं । इसी लहरी में भक्ति के अधिकारियों की भी चर्चा है । उनके स्वरूप का तथा उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ—ये तीन भेद बताए गए हैं । इनके अतिरिक्त साधन-भक्ति के चौंसठ अंगों का भी प्रतिपादन किया गया है । रागानुगा भक्ति के भी दो भेद हैं—कामरूपा और सम्बन्धरूपा । इन दोनों प्रकार की रागानुगा भक्तियों के अधिकारियों की भी चर्चा है ।

पूर्व विभाग की तृतीय लहरी में भाव भक्ति (भावाश्रिता भक्ति) का निरूपण किया गया है । यह भक्ति शुद्धसत्व विशेषात्मा, प्रेमसूर्यांशुसदृश, रुचियों के द्वारा चित्त को मसृण करने वाली होती है[2] । यह स्वयं आस्वादरूपिणी रति होकर भी कृष्णादिकर्मक आस्वाद का हेतु होती है[3] । अतएव यह तीन प्रकार की बताई गई है—साधनाभिनिवेशज, कृष्णप्रसादज और कृष्णभक्तप्रसादज । इनमें अन्तिम दोनों को सामान्यतः प्रसादज कहा जाता है । साधनाभिनिवेशज को भी वैधी तथा रागानुगा नामक दो भेदों में विभक्त किया गया है । प्रसादज (कृष्णप्रसादज और कृष्णभक्त-प्रसादज) भक्ति बिना किसी साधन के अकस्मात् उत्पन्न होती है । यह भी वाचिक, आलोकदान और हार्द—इन तीन भेदों में विभाजित कर दी गई है । फलतः भाव-भक्ति पांच प्रकार की हो जाती है । इस पंचविध भावाश्रिता भक्ति के शान्ति, अव्यर्थकालत्व, विरक्ति, मानशून्यता, आशाबंध, समुत्कण्ठा, नामगान में रुचि, कृष्ण के गुण-गान में आसक्ति, उनके निवास-स्थल में प्रीति आदि अनुभाव भक्तों के होते हैं[4] । पुनः इसी लहरी में आगे चलकर इन अनुभावों का स्पष्टीकरण किया है । पूर्व विभाग की चतुर्थ लहरी में प्रेमभक्ति का निरूण हुआ है । उसी भक्ति को बुधजनों ने प्रेमा कहा है जो मसृण अन्तःकरण और ममत्व की अतिशयता के कारण उत्पन्न होती है[5] । प्रेमभक्ति के भी दो भेद हैं—भावोत्थ और प्रसादोत्थ । भावोत्थ प्रेमभक्ति के भी वैधभावोत्थ और रागानुगभावोत्थ तथा प्रसादोत्थ प्रेमभक्ति के भी माहात्म्य ज्ञानयुक्तऔर केवला नामक दो-दो भेद होते हैं । माहात्म्यज्ञानयुक्त को वैधी शब्द से और केवला को रागानुश्रिता शब्द से भी कहा जा सकता है । प्रेमभक्ति के आरम्भ में क्रमशः श्रद्धा, साधुसंग, भजन व्यापार होते हैं और तदनन्तर क्रमशः अनर्थ निवृत्ति के कारण निष्ठा, रुचि, और आसक्ति होने पर अन्ततोगत्वा प्रेमभाव का उदय होता है[6] । इस प्रकार 'हरि भक्तिरसामृतसिन्धु" के पूर्व विभाग में रूप-गोस्वामी ने भक्ति और उसकी विविध विधाएं तथा इनके अधिकारी और भक्ति के क्रमिक विकास आदि का सांगोपांग निरूपण किया है । ग्रन्थ के आरम्भ में भक्ति का निरूपण इसलिए हुआ है कि यह भक्ति ही भक्ति-रस का स्थायीभाव है । इसे समझे बिना भक्तिरस के स्वरूप को हृदयंगम नहीं किया जा सकता है । इसीलिए पूर्व

१. हरि भक्तिरसामृतसिन्धु, पूर्व विभाग । २।१-२ । २. वही, ३।१ । ३. वही १।३ । ४. वही, ३।१२-१३ । ५. वही, ४।१ । ६. वही, ४।६-७ ।

विभाग की समाप्ति सूचिका पुष्पिका में इन विभाग को "रसोपयोगिस्थायिभावोपपादन" कहा गया है[1]।

भक्ति के स्वरूप और उसकी विधाओं के निरूपण के अनन्तर रूपगोस्वामी ने हरि भक्तिरसामृतसिन्धु के अन्य दक्षिण, पश्चिम और उत्तर विभागों में भक्तिरस, उसके उपकरण तथा भक्तिरस के प्रभेदों का विस्तृत वर्णन किया है। दक्षिण विभाग में स्थायी भाव की चर्चा के अनन्तर उसे भक्तिरस के रूप में आस्वाद्य बनाने वाले विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी, सात्विक आदि उपकरणों का विवरण दिया गया है। पश्चिम विभाग में शान्त भक्ति, प्रीतिभक्ति, प्रेयोभक्ति, वत्सलभक्ति और मधुरा भक्ति—इन पांच मुख्य भक्तिरसों[2] का विशद विवेचन एवं निरूपण किया गया है। उत्तर विभाग में सात प्रकार के गौण भक्ति रसों, भक्तिरसविरोध, भक्तिरस मैत्री तथा भक्तिरसाभास का निरूण किया गया है[3]।

हम पहले ही निर्दिष्ट कर चुके हैं कि परम्परागत काव्यशास्त्र में भक्ति को रस का रूप प्राप्त नहीं था बल्कि इसे एक भाव माना गया है। यह ठीक है कि भक्ति की रसरूपता का बीज हमें उसी परम्परागत काव्य शास्त्र में मिल जाता है जो अनेक प्रेरणाओं के परिणामस्वरूप गौड़ीय वैष्णव भक्ति शास्त्र में आकर भक्ति के रूप में विकसित हुआ। भक्ति की रसात्मकता का प्रतिपादन एवं उसके सम्बन्ध में तर्क स्वरूप स्वयं रूपगोस्वामी एवं जीवगोस्वामी का कहना है कि भक्तिरस का आस्वाद काव्यशास्त्रीय सहृदयों या सामाजिकों को नहीं होता है। इसके आस्वादयिता वस्तुतः वे भक्त हैं जिनके हृदय में प्राक्तनी (पूर्व जन्मगत) या आधुनिकी (वर्तमान जन्म की) भक्ति-वासना विद्यमान रहती है तथा जो भक्ति के कारण दोषरहित हैं, जिनका हृदय प्रसन्न एवं उज्ज्वल है, भगवान में रत हैं, रसिकों (भक्तों) के संसर्ग में रहते हैं, गोविन्द के चरणों की भक्ति से ही जिनके जीवन में सुख मिलता हैं। मात्र प्रेममय कृत्य का अनुष्ठान करते हैं। ऐसे भगवद्भक्तों के हृदय की कृष्णरति (भक्ति प्रीति) ही भक्तिरस का रूप धारण कर लेती है[4]। कृष्णरति की रस-परिणति के लिए यहां भी उसी प्रकार का विभाव, अनुभाव, संचारी आदि सामग्रियां या उपकरण स्वीकार किए गए हैं जैसे परम्परागत स्थायीभावों की रस-परिणति के लिए। अन्तर केवल इतना ही है कि इन सभी उपकरणों का सम्बन्ध कृष्ण से जोड़ दिया गया है। प्रतिपादन एवं सिद्धान्त निरूपण की शैली और सामग्री वे ही हैं, पर पारिभाषिक शब्दावली में अनिवार्यतः अन्तर पाया जाता है। भक्ति रस का स्वीकृत स्थायीभाव है कृष्णरति। यह मूलतः सामाजिकों (प्रस्तुत प्रसंग में पाठक भक्तों) के हृदय में रहती है, पर कभी कभी इसे अनुकार्य

१. हरिभक्तरसामृतसिन्धु, पूर्व विभाग, पृ०—११९। २. वही पश्चिम विभाग।१।१।
३. वही उत्तर विभाग। १।२-३। ४. ह० भ० र० सि०। दक्षिण विभाग। १।६-१०।

कृष्ण और अनुकर्त्ता भक्त के हृदय में भी देखा जा सकता है।[1] जीवगोस्वामी ने भक्ति रस की स्वीकृति के लिए सबसे बड़ा तर्क यह दिया है कि परम्परागत काव्यशास्त्रियों ने रस को अलौकिक माना है, पर विभाव, अनुभाव आदि उपकरणों के अलौकिक हुए बिना उनसे निष्पन्न रस कदापि अलौकिक नहीं हो सकता है। इस दृष्टि से देखने पर भक्ति-रस ही वस्तुतः रस कहलाने का अधिकारी है क्योंकि कृष्ण-रति में ही विभावों, अनुभावों, व्यभिचारियों और स्थायिभावों में अलौकिकता पाई जा सकती है। लौकिक नायक और नायिका के इतिवृत्तों भावों को प्रतिपादित करने वाले काव्य में अलौकिक रस का अस्तित्व स्वीकार करना अज्ञानता का परिचय देना है। यदि किसी सहृदय को लौकिक काव्य के रसोपकरण अलौकिक प्रतीत होते हैं तो उनकी अलौकिकता के कारण नहीं होता है प्रत्युत कवियों की चतुराई के कारण उन्हें ऐसा आभासित होता है।[2] अतएव अलौकिकता की दृष्टि से भी एक मात्र भक्ति ही रस है। अन्य शृंगार, हास्य आदि इसी के भक्तयात्मक रूपान्तर भले ही हों, पर वे लौकिक जनों से सम्बन्धित रहकर अलौकिक रस कहलाने के अधिकारी नहीं हो सकते हैं। भक्तिरस की अलौकिकता का अनुमोदन रूपगोस्वामी ने भी किया है।[3] पुनः असंख्य भक्तों का हृदय जो भक्तिरस-पूर्ण काव्य को पाकर आनन्दानुभूति करता है, उन्हें दृष्टि-पथ से ओझल नहीं किया जा सकता है। ऐसे भक्तों को परम्परागत शास्त्रीय-मान्यता-प्राप्त शृंगार, वीर आदि नौ रसों की अपेक्षा इसी भक्ति-रस का वस्तुतः आनन्दमय आस्वाद होता है। अतएव कृष्ण-रति नामक स्थायी ही अपेक्षित विभावादियों के सम्पर्क में आकर भक्तिरस के रूप में परिणत हो जाता है और इसके आस्वादयिता या सामाजिक भक्त ही होते हैं। 'श्रुतियों के अनुसार जिस ब्रह्मानन्द पर रस का रसत्व अवलम्बित होना सभी साहित्याचार्य मानते हैं, उस ब्रह्मानन्द से भी अधिक जो भक्ति-जन्य आनन्द तदीय भक्तजनों को होता है, उस भक्ति को स्वतन्त्र रस न मानना और क्रोध, शोक, भय, एवं जुगुप्सा आदि की व्यंजना को रस-संज्ञा देना वस्तुतः युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होता है।'[4] फलतः भक्ति की रसरूपता सिद्ध हो जाती है।

गौडीय भक्ति-रस के उपकरण

(क) विभाव

भक्तिरस का विभाव परम्परागत रूप में आलम्बन और उद्दीपन नामक दो भेदों में बँटा हुआ है। कृष्ण और कृष्ण-भक्त इसके आलम्बन हैं। प्रथम (कृष्ण)

---

१. वैष्णव फेथ एन्ड मूवमेन्ट : एस० के० डे, पृष्ठ १३५, फुटनोट। २. जीवगोस्वामी : प्रीतिसन्दर्भ। पृष्ठ-५७४। ३. हरिभक्तिरसामृतसिन्धु। दक्षिण वि० ५।८९-९०। ४. कन्हैयालाल पोद्दार, काव्यकल्पद्रुम, प्रथम भाग (पंचम संस्करण), पृष्ठ २४४।

कृष्ण-ति के विषय हैं और कृष्ण-भक्त आधार हैं। कृष्ण स्वयं भगवान् हैं और इसके नायकों के शिरोरत्न हैं। अन्य नायकों को भक्तिरस का आलम्बनत्व नहीं प्रदान किया जा सकता है। कृष्ण ही एक ऐसे नायक हैं जिनमें सभी महागुण विद्यमान हैं।[1] (कृष्ण-रति के विषय) स्वरूप और अन्यरूप के भेद से द्विविध आलम्बनत्व धारण करते हैं। इनका स्वरूपालम्बनत्व कभी आवृत और कभी प्रकट होता है। कृष्ण के चौंसठ गुण हैं।[2] इन्हीं गुणों की अल्पता और पूर्णता के आधार पर इन्हें पूर्णतम, पूर्णतर और पूर्ण माना गया है। स्वभाव के आधार पर लौकिक नायक की तरह इन्हें भी धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीर-ललित और धीरशान्त बताया गया है। यों कृष्ण को जो स्वयं भगवान् हैं (कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्), धीरोद्धत कहना तो उचित प्रतीत नहीं होता है, पर लीला-विशेष के कारण उन्हें ऐसा भी स्वीकार कर लिया जाता है।[3] शोभा, विलास, माधुर्य, मंगल्य, स्थैर्य्य, तेज, ललित और औदार्य्य ये आठ पौरुष गुण भी कृष्ण के स्वीकार किए गए हैं। इनके अतिरिक्त, कृष्ण के सहायकों की भी चर्चा है।

कृष्ण-भक्त आलम्बन के भी भेदोपभेद बताये गए हैं। पहले कृष्ण-भक्तों के साधक और सिद्ध ये दो भेद बताए गए हैं। इनमें सिद्ध भी संप्राप्तसिद्ध और नित्य-सिद्ध—दो प्रकार के होते हैं। संप्राप्तसिद्ध भक्त भी साधनासिद्ध और कृपासिद्ध नामक दो तरह के वर्णित किए गए हैं। नित्यसिद्ध भक्तों में वे सभी गुण पाए जाते हैं जो स्वयं भगवान् कृष्ण में हैं।[4] ऐसे भक्तों में गोप, लक्ष्मण, संकर्षण आदि भक्तों की गणना की जाती हैं। इन सभी कोटि के साधक और सिद्ध भक्तों को क्रमशः शान्त, दास-सुतादि, सखा, गुरुवर्ग और प्रेमीवर्ग में बाँट दिया गया है।[5] इन्हीं वर्गों के आधार पर दास्य, सख्य आदि कई प्रकार की भक्तियां बताई गई हैं—अतएव भक्तों का यह वर्गीकरण ध्यातव्य है।

भाव को (कृष्ण-रति) उद्दीपित करने वाले पदार्थ उद्दीपन विभाव कहलाते हैं। इसके अन्तर्गत कृष्ण के गुण, उनकी चेष्टाएं और प्रसाधन आदि स्वीकार किए गए हैं।[6] गुणों को पहले कायिक, वाचिक और मानसिक इन तीनों भेदों में बांट दिया गया है। वाचिक और मानसिक गुण तो वे ही हैं जिनकी गणना आलम्बन कृष्ण के चौंसठ गुणों के अन्तर्गत की गई है। कायिक गुण को वय, सौन्दर्य, रूप और मृदुता—इन चार भागों में बांटा गया है। पुनः वय के भी कई भेद बताए गए हैं—कौमार्य्य (पाँच वर्षों तक), पौगंड (दश वर्ष पर्यन्त), कैशोर (सोलह वर्ष पर्यन्त) और यौवन (सोलह के बाद)। कैशोर वय को भी आद्य, मध्य और शेष भागों में बांटा गया है। ये सभी कृष्ण के गुण उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत परिगणित किये गए हैं। गुणों के बाद चेष्टाओं को उद्दीपन स्वीकार किया गया है। चेष्टाएं भी

१. हरिभक्तिरसामृतसिन्धु। दक्षिण विभाग ।१।१६-१७। २. वही, १।१९-३६। ३. वही, ।१।८९। ४. वही। १।०९। ५. वही ।१।११३। ६. वही ।१।११-१५४।

रास, दुष्टवध आदि कई प्रकार की बताई गई हैं। प्रसाधन नामक उद्दीपन विभाग के भी अनेक भेदोपभेद किए गए हैं। मुख्यतः प्रसाधन के तीन भेद किए गए हैं— वसन, आकल्प (सजावट), और मण्डन (भूषण)। फिर इन तीनों के अगणित भेद हरि भक्तिरसामृतसिन्धु के उद्धरणों में (दक्षिण विभाग, १/३७-१५४) देखे जा सकते हैं। उद्दीपन विभावों के सम्बन्ध में जीवगोस्वामी का कहना है कि वे उद्दीपन सर्वश्रेष्ठ हैं जिनका सम्बन्ध वृन्दावन से है।[1] आपने उद्दीपन विभावों का वर्गीकरण कृष्ण की जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य के आधार पर किया है।

(ख) अनुभाव

अनुभावों को चित्तस्थ भावों का अवबोधक बाह्य विकार कहा गया है। इन्हें प्रथमतः उद्भासुर तथा सात्त्विक नामक दो वर्गों में बांटा गया है। उद्भासुर अनुभावों के अन्तर्गत नृत्य, विलुण्ठित, गीत, क्रोशन, तनुमोहन, हुंकार, जृम्भण, श्वासभूमन्, लोकानपेक्षिता, लालास्रव, अट्टहास, घूर्णा, हिक्का आदि गृहीत किये गए हैं। इन सभी उद्भासुर अनुभावों को भी शीत और क्षेपण नामक दो वर्गों में विभाजित कर दिया गया है। शीत के अन्तर्गत गीत-जृम्भा आदि आते हैं और क्षेपण के अन्तर्गत नृत्यादि।[2] यहां ध्यान देने योग्य विषय यह है कि जहां परम्परागत काव्य-शास्त्र में स्त्रियों के अंगज और स्वभावज अलंकारों तथा प्रत्येक रस के अनुकूल अन्य चेष्टाओं को अनुभाव कहा गया है,[3] वहां गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के भक्ति-रस में पृथक् अनुभावों की कल्पना की गई है तथा ये सुनिश्चित एवं सुविचारित रूप में गिना दिए गये हैं। यों मूलतः दोनों में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि स्थायी भाव के अवबोधक बाह्य व्यापार ही वस्तुतः अनुभाव कहलाते हैं। इन्हें ही लोक-जीवन में कार्य की संज्ञा दी जाती है।

(ग) सात्विक भाव

रूपगोस्वामी ने सात्त्विक भावों को पृथक् निरूपित किया है पर जीवगोस्वामी ने सात्त्विकों को भी अनुभाव ही कहा है। इन्होंने उद्भासुर और सात्त्विक ये दो प्रकार के अनुभाव स्वीकार किए हैं। सात्त्विकों की तालिका में वे ही भाव आते हैं जो परम्परागत काव्यशास्त्र में स्वीकृत किए गए हैं।[4] स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वर-भंग, वैपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय।[5] कृष्ण सम्बन्धी साक्षात् या अप्रत्यक्ष भावों (विचारों) से जब चित्त भर जाता है तो उसे सत्त्व अवस्था कहते हैं। इसी सत्वावस्था से उत्पन्न भाव सात्त्विक कहलाते हैं। इन्हें स्निग्ध, दिग्ध तथा रूक्ष नामक

---

१. जीवगोस्वामी, प्रीतिसन्दर्भ, पृ० ७२४। २. हरिभक्तरसामृतसिन्धु। दक्षिण विभाग।२।१-४। ३. विश्वनाथ : साहित्य दर्पण, ३।१३३-१३४ ४. वही।३।१३५-१३६। ५. हरिभक्तरसामृतसिन्धु।दक्षिण विभाग।३।१०।

तीन भेदों में बाँट दिया गया है ।[1] इस वर्गीकरण में ही वस्तुतः गौड़ वैष्णवीय रस-शास्त्र की मौलिकता निहित है । स्निग्ध सात्त्विक भी मुख्य और गौड़ नाम से द्विविध होते हैं । कृष्ण से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होने पर मुख्य स्निग्ध सात्त्विक होते हैं और उनसे अप्रत्यक्षतया सम्बन्ध होने पर मुख्य स्निग्ध सात्त्विक होते हैं और उनसे अप्रत्यक्षतया सम्बन्ध होने पर गौण कहलाते हैं । स्वेदादि मुख्य के अंतर्गत हैं और वैवर्ण्य तथा स्वरभेद गौण के अंतर्गत स्वीकृत किए गए हैं । कम्प को दिग्ध सात्त्विक कहा गया है । रूक्ष सात्त्विक का आविर्भाव ऐसे ही जनों में होता है जिन्हें कृष्ण के प्रति अत्यल्प या नहीं के बराबर रति होती है ।[2] उद्दीपन की मात्रा के अनुसार पुनः सात्त्विकों को धूमायित, ज्वलित, दीप्त, और उद्दीप्त नामक चार भेदों में बांट दिया गया है । यह भावोद्रेक कभी तो भूरि कालव्यापी, कभी बहुअङ्गव्यापी और कभी स्वरूपोत्कर्ष होता है । इसके अतिरिक्त वैष्णवीय रस-शास्त्र में सात्त्विकाभासों की भी कल्पना की गयी है। यह इसकी नवीनता है । ये हैं—रत्याभासभाव, सत्वाभासभाव, निःसत्व और प्रतीप ।[3] सत्वाभास भाव शुष्क वैयाकरणों और मीमांसकों में पाया जाया है तथा प्रतीप कृष्ण-विरोधी कंस आदि में । यों स्वयं रूपगोस्वामी ने सात्विकाभास के विवेचन को विशेष महत्व नहीं दिया है[4] तथापि नवीनता के लोभ में आकर इनकी योजना कर ली है । एक बात और है—प्रलय चेतना-शून्य अवस्था का नाम है । ऐसी अवस्था में निष्क्रियता का होना स्वाभाविक है । पर जीवगोस्वामी का कहना है कि उस अवस्था में भी कृष्णभक्त भीतर से सक्रिय होते हैं, भले ही बाह्यतः वे चेष्टा-रहित प्रतीत हों ।[5]

(घ) व्यभिचारी भाव

वे भाव जो विशेषतया अथवा अभिमुख्येन स्थायीभाव के साथ संचरण करते हैं, व्यभिचारीभाव कहलाते हैं । वाक्, अंग और सत्व के द्वारा ये व्यक्त होते हैं । ये व्यभिचारीभाव स्थायीभाव की गति को संचारित करते हैं, अतएव इन्हें संचारीभाव भी कहा जाता है । इनकी स्थिति सागर में तरंगों की तरह होती है । जैसे सागर में तरंगें उठती हैं और उसी में विलीन होकर सागर रूप में परिणत हो जाती है, ठीक उसी तरह संचारी या व्यभिचारीभाव भी स्थायीभाव रूपी सागर में उठते-गिरते तथा तद्रूपता को प्राप्त करते हैं ।[6] परम्परागत ३३ संचारीभावों को गौड़ीय रस-शास्त्र में ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया गया है । इनके अतिरिक्त मात्सर्य, उद्वेग दम्भ, ईर्ष्या, विवेक, निर्णय, क्लैब्य, क्षमा, कुतुक, उत्कण्ठा, विनय, संशय, धाष्ट्र्य आदि १३ नए संचारीभावों की गणना की गई है । पर इन्हें स्वयं रूपगोस्वामी ने

---

१. हरिभक्तरसामृतसिन्धु । दक्षिण विभाग ।३।१-२ । २. वही ३।७-८ । ३. वही ३।३८-४४ । ४. वही ।३।४५ । ५. जीवगोस्वामी : प्रीतिसन्दर्भ, पृष्ठ-७३० ।
६. हरिभक्तरसामृतसिन्धु, दक्षिण विभाग ।४।१-३ ।

परम्परागत तैंतीस भावों में अन्तर्मुक्त कर दिया है ।[1] अतएव इनका पृथक् निरूपण भी आपने नहीं किया है । प्रत्येक मुख्य या गौण रस के निरूपण प्रसंग में भी कतिपय नए संचारीभावों का परिकथन किया गया है, पर वे विशेष संचारीभाव उन-उन विशेष रसों से ही सम्बद्ध हैं । अतएव उनका निर्देश यहाँ निष्प्रयोजन है । ये उपर्युक्त सभी व्यभिचारी स्वतन्त्र तथा परतन्त्र नामक दो भेदों में रखे गए हैं । पुनः परतन्त्र के वर तथा अवर नामक दो भेद स्वीकार किए गए हैं । वर को भी साक्षात् और व्यवहित नामक दो भेदों में बाँट दिया गया है । मुख्य रति को पोषण करने वाला भाव वर कहा जाता है तथा गौणी रति का पोषक भाव व्यवहित कहलाता है । स्वतन्त्र व्यभिचारी के भी तीन भेद माने गए हैं—रतिशून्य, रत्यनुस्पर्शन और रतिगन्धि ।[2]

इसी सिलसिले में रूपगोस्वामी ने भावों के प्रतिकूल्य और अनौचित्य की चर्चा की है । इन संचारीभावों की विपक्षवृत्तिता होने पर प्रातिकूल्य तथा निर्जीव और पशु-पक्षी में भावों की वृत्ति होने पर अनौचित्य दोष होता है । अतएव वैसी स्थिति में इन्हें भावाभास कहना चाहिए । इसी प्रसंग में चार प्रकार की भावदशाओं का भी वर्णन किया गया है—भावोत्पत्ति, भाव-सन्धि, भाव-शावल्य और भाव-शान्ति ।[3]

[ङ] स्थायी भाव

अविरुद्ध और विरुद्ध भावों को सुशासक एवं कुशल राजा की तरह वश में रखने वाला स्थायी भाव ही स्थायीभाव कहलाता है ।[4] परम्परागत रस-शास्त्र में नौ रसों के नौ स्थायीभाव माने गए हैं । पर वैष्णव रस-शास्त्र में, इसके विपरीत, श्रीकृष्ण विषया रति को ही एक मात्र स्थायीभाव माना गया है । और परम्परागत नौ स्थायीभावों का विकास इसी कृष्ण-विषया रति से सिद्ध किया गया है । कृष्ण-विषया रति को पहले मुख्या और गौणी नामक दो भेदों में बांट दिया गया है । प्रत्यक्षतः कृष्ण से सम्बन्धित, शुद्ध सत्वविशेषात्मा रति ही मुख्या रति कहलाती है तथा अप्रत्यक्ष या व्यवहित रूप में कृष्ण से सम्बन्धित रति गौणी कही जाती है । फिर मुख्या रति को स्वार्था और परार्था नामक द्विविध अवान्तर्भेदों में विभाजित किया गया है ।[5] पुनः मुख्या रति के (स्वार्था और परार्था दोनों के) पाँच और भेद बताए गए हैं—शुद्धा, प्रीति, सख्य, वात्सल्य और प्रियता । प्रियता रति को मधुरा रति भी कहा गया है । यद्यपि इन सभी रतियों में मूल रति (स्थायिभाव) कृष्ण-विषया रति ही है, पर वही एक रति पात्रों की विशेषता से उसी तरह भिन्न रूप

---

१ हरिभक्तरसामृतसिन्धु । दक्षिण विभाग । ४।७४-७६ ।
२ वही, दक्षिण विभाग । ४।९३-९४ । ३. वही, दक्षिण विभाग । ४।१०१-१०५ ।
४ वही, दक्षिण विभाग । ५।१ । ५. वही, दक्षिण विभाग । ५।३-५ ।

धारण कर लेती है, जैसे एक ही सूर्य-प्रतिबिम्ब स्फटिक, नीलमणि आदि पात्रों की भिन्नता के कारण अनेक-रूपता को प्राप्त कर लेता है ।[1] शुद्धा रति को भी सामान्या, स्वच्छा और शान्ति—इन त्रिविध भेदों में वर्गीकृत किया गया है । प्रीति, सख्य और वात्सल्य नामक तीन मुख्य रतियों के सामान्यतः केवला और संकुला नामक दो-दो भेद कर लिए गए हैं ।

गौणी रति को क्रमशः हास, विस्मय, उत्साह, शोक, क्रोध, भय तथा जुगुप्सा नामक सात भेदों में बांटा गया है । ये सभी गौणी रतियां परम्परागत सात स्थायिभावों (रति और निर्वेद को छोड़कर) के ही भक्त्यात्मक रूपान्तर हैं । हास-रति में परम्परागत हास-भेदों की तरह स्मित, हसित, विहसित, अवहसित, अपहसित और अतिहसित का उल्लेख किया गया है । वस्तुतः ये हास भेद भरत-प्रणीत नाट्शास्त्र के युग से ही चले आ रहे हैं । उत्साह रति भी परम्परागत शास्त्रीय उत्साह की तरह दान, युद्ध, दया और धर्म मूलक मानी गई है । इसके अतिरिक्त वैष्णव रस-शास्त्र में विस्मय रति को भी दृष्ट, श्रुत, संकीर्तित और अनुमित—इन चार भेदों में विभाजित किया गया है। वैष्णव रस-शास्त्र कृत स्थायीभावों के विवेचन को ध्यान से देखने पर निष्कर्ष यह निकलता है कि जहां परम्परागत आठ या नौ (निर्वेद को जोड़कर) स्थायीभाव थे और तदनुसार आठ या नौ रस थे, वहां वैष्णव रस शास्त्र में मूलतः तो एक मात्र कृष्ण-रति को ही स्थायीभाव माना गया और उसी का विकास बारह स्थायीभावों में किया गया जिसमें पांच मुख्या-रति मानी गई और सात गौणी-रति । तदनुसार पांच मुख्य-रस और सात गौण रस भी माने गए । पंच-विधि मुख्य रतियों में परम्परागत रति (शृंगार का स्थायीभाव) और निर्वेद (शान्त का स्थायीभाव) के अतिरिक्त शेष तीन स्थायीभाव-प्रीति, सख्य और वात्सल्य सर्वथा नवीन हैं । गौण-रतियों में जो सात प्रकार की रतियां हैं (हास रति, उत्साह रति, शोक-रति, क्रोध-रति, भय-रति, विस्मय-रति, जुगुप्सा-रति)—वे सभी परम्परागत हास, उत्साह, शोक, क्रोध, भय, विस्मय और जुगुप्सा नामक स्थायीभावों के ही कृष्ण-रत्यात्मक रूपान्तर या विकास हैं ।

भक्ति-रस और उसके भेदों की मीमांसा

भक्ति-रस के स्वरूप निर्धारण के प्रसंग में हम विवेचन कर चुके हैं कि वैष्णवीय रस शास्त्र में एक मात्र भक्ति को ही रस माना गया है । इसका कारण यह है कि भक्तों के हृदय में स्थायीभाव के रूप में एक मात्र कृष्ण-रति ही विद्यमान रहती है । उनके हृदय में अन्य सारी सहजवृत्तियां शोक, क्रोध रति (शृंगारिक) आदि संयमित हो जाती हैं या ऐसा कहा जा सकता है कि वे सारी लौकिक वास-

---

१ हरिभक्तरसामृतसिंधु, दक्षिण विभाग । ५।७ ।

नाएं नष्ट हो जाती हैं। फलत: उनके हृदय में एक मात्र कृष्ण-रति ही रह जाती है जो भक्ति-रस पूर्ण काव्य को पढ़कर या नाटक को देखकर भक्तिरस में परिणत होती है।[1] पर कृष्ण-सम्बन्धी अन्य भाव भी भक्तों के सामने उपस्थित होते हैं। कृष्ण के बालभाव, सखाभाव या हास, क्रोध आदि भाव भी प्रस्तुत होते हैं। ऐसी स्थिति में मूल कृष्ण-रति के ही अनेक प्रभेद स्वीकार किए गए। पांच प्रकार की मुख्या कृष्ण-रतियां और सात प्रकार की गौणी कृष्ण-रतियां। कृष्ण के साथ प्रत्यक्ष या परम्परा सम्बन्ध के आधार पर ही मुख्या और गौणी रति की कल्पना वैष्णवों ने की है। परिणामत: स्थायीभाव की बाह्य-भिन्नता के कारण ही भक्तिरस को पहले दो भागों में बांट दिया गया—मुख्य भक्ति रस और गौण-भक्ति-रस। पुन: पांच मुख्या रतियों के आधार पर पांच मुख्य भक्ति-रस भी स्वीकार किए गए हैं—शान्त, प्रीति, प्रेयान्, वत्सल और मधुर या उज्ज्वल। सात प्रकार की गौण रतियों के आधार पर सात गौण भक्ति-रस भी माने गए—हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक और बीभत्स। इस प्रकार कुल मिलाकर बारह प्रकार के भक्ति-रस हुए। यद्यपि पुराणों में केवल पांच प्रकारके मुख्य भक्ति-रसों का ही उल्लेख मिलता है फिर भी कृष्ण-रति के सात गौण भेदों को भी दृष्टि-पथ से ओझल नहीं किया गया है। अतएव वैष्णव रस शास्त्र के आचार्यों ने सात प्रकार के गौण भक्ति-रस भी उन्हीं के आधार पर स्वीकार किए।

परम्परागत काव्यशास्त्रीय रसों की तरह वैष्णव रस-शास्त्र में भी प्रत्येक भक्तिरस के वर्ण (रंग) और अधिष्ठातृ देवता की कल्पना की गई है। उनकी तुलना भरत के नाट्यशास्त्र और विश्वनाथ के साहित्यदर्पण से करने पर भिन्नता दृष्टिगोचर होती है—

मुख्य-भक्ति-रस

मु० भ० रस के भेद	वै० र० शा० के अनु० वर्ण	देवता	ना० शा० के अनु० वर्ण	देवता	विश्वनाथ के अनु० वर्ण	देवता
(१) शान्त	श्वेत	कपिल	—	—	कुन्देन्दुच्छाय	नारायण
(२) प्रीत	चित्र	माधव	—	—	—	—
(३) प्रेयान	अरुण	उपेन्द्र	—	—	—	—
(४) वत्सल	शोण	नृसिंह	—	—	पद्मगर्भच्छवि	लोकमाता
(५) मधुर (उज्ज्वल)	श्याम	कृष्ण	श्याम	विष्णु	श्याम	विष्णु

गौण-भक्ति-रस

गौ० भ० र० के भेद	वै० र० शा० के अनु० वर्ण	देवता	ना० शा० के अनुसार वर्ण	देवता	विश्वनाथ के अनु० वर्ण	देवता
(१) हास्य	पाण्डर	बलराम	सित	प्रमथ	श्वेत	प्रमथ

1 हरिभक्तरसामृतसिन्धु, दक्षिण विभाग। १।६-१० और ५।११४-१५।

(२) अद्भुत	पिंगल	कूर्म	पीत	ब्रह्म	पीत	गन्धर्व
(३) वीर	गौर	कल्की	गौर	महेन्द्र	हेमवर्ण	महेन्द्र
(४) करुण	धूम्र	राघव	कपोत (धूसर)	यम	कपोत	यम
(५) रौद्र	रक्त	भार्गव	रक्त	रुद्र	रक्त	रुद्र
(६) भयानक	काल	वराह (किरि)	कृष्ण	काल	कृष्ण	भूत
(७) बीभत्स	नील	बुद्ध	नील	महाकाल	नील	महाकाल

प्रीत, प्रेयान् और वत्सल भक्ति-रस वैष्णव सम्प्रदाय के नवोद्भावित रस हैं, अतएव भारत ने इन रसों के वर्णों और देवों का उल्लेख नहीं किया है। विश्वनाथ ने प्रीत और प्रेयान् रसों के वर्णों और देवों को नहीं लिखा है। शेष रसों के देवताओं में विशेषतः अन्तर पाया जाता है। वर्णों में अधिकांशतः साम्य है।

(१) मुख्य भक्ति-रस

(क) **शान्त भक्ति-रस**—इस भक्त-रस का स्थायीभाव शान्ति-रति माना गया है। यह शान्ति-रति भी कृष्ण-रति-मूला है—यह पहले ही कहा जा चुका है। शान्ति-रति नामक स्थायीभाव की भी द्विविध कल्पना की गई है—समा और सान्द्रा। शान्ति-रति वस्तुतः असम्प्रज्ञात या निर्विकल्प समाधि की स्थिति में ही होती है। फिर भी निर्विकल्पता की मात्रा के भेदानुसार इसके दो भेद कर लिए गए हैं। समा शान्ति-रति की स्थिति में शरीर में उत्कम्प या रोमांच भी हो सकता है, पर सान्द्रा की स्थिति शरीर-विकार से सर्वथा शून्य होती है।[1] शांत भक्तिरस के आलम्बन चतुर्भुज और शान्त जन होते हैं।[2] शांत जनों के भी दो भेद हैं—आत्माराम और तापस। सनक, सनन्दनप्रभृति भक्त जन आत्माराम शांत हैं और तापस शांत वे हैं जो भक्ति से ही सन्तुष्ट रहकर मोक्ष की कल्पना तक नहीं करते। शान्त भक्ति रस के उद्दीपन भी दो प्रकार के माने गए हैं—असाधारण और साधारण। असाधारण उद्दीपनों में उपनिषदों का श्रवण, विविक्त स्थान का सेवन, स्फूर्ति (अन्तर्वृत्ति विशेष) तत्त्वविवेचन, विश्वरूप-प्रदर्शन (विराट्रूप जैसे चैतन्य प्रभु को हुए थे) ज्ञानियों और भक्तों का संसर्ग, ब्रह्मसूत्र आदि परिगणित किए गए हैं। साधारण उद्दीपनों के अन्तर्गत पादाब्ज, तुलसीगन्ध, शंखनाद, पुण्यशैल, शुभ अरण्य, सिद्ध क्षेत्र, गंगा नदी, विषयादि के प्रति क्षयिष्णुता की भावना आदि आते है।[3] नासा के अग्र भाग में नेत्रों को न्यस्त रखना, अवधूत की तरह व्यवहार, युगमात्रेक्षितगति[4] (चार हाथ के हल की सीमा तक देखकर चलना), तर्जनी और अंगुष्ठा को मिला कर ज्ञान मुद्रा का प्रदर्शन, भगवान के भक्तों के प्रति न अधिक प्रेम दिखाना और न उनके विरोधियों के प्रति अधिक

---

१. हरिभक्तरसामृतसिन्धु, पश्चिम विभाग। १।२४ के उदाहरण। २. वही १।७-९।

३. हरिभक्तरसामृतसिन्धु, पश्चिम विभाग। १।१३-१७।

४. जीवगोस्वामी: दुर्गससंगभिनी टीका, पृष्ठ-३२०।

नाएं नष्ट हो जाती हैं। फलतः उनके हृदय में एक मात्र कृष्ण-रति ही रह जाती है जो भक्ति-रस पूर्ण काव्य को पढ़कर या नाटक को देखकर भक्तिरस में परिणत होती है।[1] पर कृष्ण-सम्बन्धी अन्य भाव भी भक्तों के सामने उपस्थित होते हैं। कृष्ण के बालभाव, सखाभाव या हास, क्रोध आदि भाव भी प्रस्तुत होते हैं। ऐसी स्थिति में मूल कृष्ण-रति के ही अनेक प्रभेद स्वीकार किए गए। पांच प्रकार की मुख्या कृष्ण-रतियां और सात प्रकार की गौणी कृष्ण-रतियां। कृष्ण के साथ प्रत्यक्ष या परम्परा सम्बन्ध के आधार पर ही मुख्या और गौणी रति की कल्पना वैष्णवों ने की है। परिणामतः स्थायीभाव की बाह्य-भिन्नता के कारण ही भक्तिरस को पहले दो भागों में बांट दिया गया—मुख्य भक्ति रस और गौण-भक्ति-रस। पुनः पांच मुख्या रतियों के आधार पर पांच मुख्य भक्ति-रस भी स्वीकार किए गए हैं—शान्त, प्रीति, प्रेयान्, वत्सल और मधुर या उज्ज्वल। सात प्रकार की गौण रतियों के आधार पर सात गौण भक्ति-रस भी माने गए—हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक और बीभत्स। इस प्रकार कुल मिलाकर बारह प्रकार के भक्ति-रस हुए। यद्यपि पुराणों में केवल पांच प्रकारके मुख्य भक्ति-रसों का ही उल्लेख मिलता है फिर भी कृष्ण-रति के सात गौण भेदों को भी दृष्टि-पथ से ओझल नहीं किया गया है। अतएव वैष्णव रस शास्त्र के आचार्यों ने सात प्रकार के गौण भक्ति-रस भी उन्हीं के आधार पर स्वीकार किए।

परम्परागत काव्यशास्त्रीय रसों की तरह वैष्णव रस-शास्त्र में भी प्रत्येक भक्तिरस के वर्ण (रंग) और अधिष्ठातृ देवता की कल्पना की गई है। उनकी तुलना भरत के नाट्यशास्त्र और विश्वनाथ के साहित्यदर्पण से करने पर भिन्नता दृष्टिगोचर होती है—

मुख्य-भक्ति-रस

मु० भ० रस के भेद	वै० र० शा० के अनु० वर्ण	देवता	ना० शा० के अनु० वर्ण	देवता	विश्वनाथ के अनु० वर्ण	देवता
(१) शान्त —	श्वेत	कपिल	—	—	कुन्देन्दुच्छाय-नारायण	
(२) प्रीत —	चित्र	माधव	—	—	—	—
(३) प्रेयान —	अरुण	उपेन्द्र	—	—	—	—
(४) वत्सल —	शोण	नृसिंह	—	—	पद्मगर्भच्छवि	लोकमाता
(५) मधुर (उज्ज्वल)	श्याम	कृष्ण	श्याम	विष्णु	श्याम	विष्णु

गौण-भक्ति-रस

गौ० भ० र० के भेद	वै० र० शा० के अनु० वर्ण	देवता	ना० शा० के अनुसार वर्ण	देवता	विश्वनाथ के अनु० वर्ण	देवता
(१) हास्य —	पाण्डर	बलराम	सित	प्रमथ	श्वेत	प्रमथ

1 हरिभक्तरसामृतसिन्धु, दक्षिण विभाग। १।६-१० और ५।११४-१५।

(२) अद्‌भुत —	पिंगल — कूर्म	पीत — ब्रह्म	पीत — गन्धर्व
(३) वीर —	गौर — कल्की	गौर — महेन्द्र	हेमवर्ण — महेन्द्र
(४) करुण —	धूम्र — राघव	कपोत (धूसर) — यम	कपोत — यम
(५) रौद्र —	रक्त — भार्गव	रक्त — रुद्र	रक्त — रुद्र
(६) भयानक —	काल - वराह (किरि)	कृष्ण — काल	कृष्ण — भूत
(७) बीभत्स —	नील — बुद्ध	नील — महाकाल	नील — महाकाल

प्रीत, प्रेयान् और वत्सल भक्ति-रस वैष्णव सम्प्रदाय के नवोद्भावित रस हैं, अतएव भारत ने इन रसों के वर्णों और देवों का उल्लेख नहीं किया है। विश्वनाथ ने प्रीत और प्रेयान् रसों के वर्णों और देवों को नहीं लिखा है। शेष रसों के देवताओं में विशेषतः अन्तर पाया जाता है। वर्णों में अधिकांशतः साम्य है।

(१) मुख्य भक्ति-रस

(क) **शान्त भक्ति-रस**—इस भक्त-रस का स्थायीभाव शान्ति-रति माना गया है। यह शान्ति-रति भी कृष्ण-रति-मूला है—यह पहले ही कहा जा चुका है। शान्ति-रति नामक स्थायीभाव की भी द्विविध कल्पना की गई है—समा और सान्द्रा। शान्ति-रति वस्तुतः असम्प्रज्ञात या निर्विकल्प समाधि की स्थिति में ही होती है। फिर भी निर्विकल्पता की मात्रा के भेदानुसार इसके दो भेद कर लिए गए हैं। समा शान्ति-रति की स्थिति में शरीर में उत्कम्प या रोमांच भी हो सकता है, पर सान्द्रा की स्थिति शरीर-विकार से सर्वथा शून्य होती है।[1] शांत भक्तिरस के आलम्बन चतुर्भुज और शान्त जन होते हैं।[2] शांत जनों के भी दो भेद हैं—आत्माराम और तापस। सनक, सनन्दनप्रभृति भक्त जन आत्माराम शांत हैं और तापस शांत वे हैं जो भक्ति से ही सन्तुष्ट रहकर मोक्ष की कल्पना तक नहीं करते। शान्त भक्ति रस के उद्दीपन भी दो प्रकार के माने गए हैं—असाधारण और साधारण। असाधारण उद्दीपनों में उपनिषदों का श्रवण, विविक्त स्थान का सेवन, स्फूर्ति (अन्तर्वृत्ति विशेष) तत्त्वविवेचन, विश्वरूप-प्रदर्शन (विराट्‌रूप जैसे चैतन्य प्रभु को हुए थे) ज्ञानियों और भक्तों का संसर्ग, ब्रह्मसूत्र आदि परिगणित किए गए हैं। साधारण उद्दीपनों के अन्तर्गत पादाब्ज, तुलसीगन्ध, शंखनाद, पुण्यशैल, शुभ अरण्य, सिद्ध क्षेत्र, गंगा नदी, विषयादि के प्रति क्षयिष्णुता की भावना आदि आते है।[3] नासा के अग्र भाग में नेत्रों को न्यस्त रखना, अवधूत की तरह व्यवहार, युगमात्रेक्षितगति[4] (चार हाथ के हल की सीमा तक देखकर चलना), तर्जनी और अंगुष्ठा को मिला कर ज्ञान मुद्रा का प्रदर्शन, भगवान के भक्तों के प्रति न अधिक प्रेम दिखाना और न उनके विरोधियों के प्रति अधिक

१. हरिभक्तरसामृतसिन्धु, पश्चिम विभाग। १।२४ के उदाहरण। २. वही १।७-९।
३. हरिभक्तरसामृतसिन्धु, पश्चिम विभाग। १।१३-१७।
४. जीवगोस्वामी: दुर्गसंगभिनी टीका, पृष्ठ-३२०।

द्वेष दिखाना आदि शान्ति भक्ति रस के अनुभाव हैं। अनुभावों में भी कुछ तो शीत-असाधारण अनुभव कहलाते है और कुछ शीत-साधारण। उपर्युक्त अनुभाव शीत-असाधारण हैं और जृम्भा, अंगमोहन, स्तव, भक्तत्युपदेश, नति आदि शीत-साधारण अनुभाव कहलाते हैं। प्रलय को छोड़ कर रोमांच, स्वेद, कम्प आदि शेष सात इसके सात्त्विक होते हैं।[1] इस रस के संचारीभाव हैं—निर्वेद, धृति हर्ष, मति, विषाद, उत्सुकता, आवेग, वितर्क आदि। शांत भक्ति रस के परोक्ष और साक्षात्कार की भिन्नता के कारण दो भेद किए गए हैं। भगवान् कृष्ण के साथ जैसा सम्बन्ध होगा स्थायी रति का, तदनुसार पारोक्ष्य शांतरस और साक्षात् शांतरस बताए गए हैं। इस शान्त भक्ति रस जन्य आनन्द की अनुभूति में शुक जैसे भक्त ही निपुण हो सके हैं। परम्परागत काव्य शास्त्र में शान्तरस का स्थायीभाव शम या निर्वेद माना गया है। गौड़ीय वैष्णवों ने शम को शान्ति का स्थायीभाव स्वीकार नहीं किया है। उनका कहना है कि बुद्धि की भगवन्निष्ठता ही शम है। बुद्धि की भगवन्निष्ठता शान्ति-रति के बिना असम्भव है।[2] अतएव शान्तरस का स्थायीभाव शान्ति-रति को ही मानना समुचित है। निर्वेद को स्थायीभाव स्वीकार करने के सम्बन्ध में वैष्णव रस-शास्त्र की मान्यता यह है यदि विषयों के प्रति निर्वेद (अनासक्ति) तत्त्व ज्ञान जन्य हो तो उसे स्थायी माना जा सकता है पर अभीप्सित विषवों की अप्राप्ति और अनभीप्सित वस्तुओं की प्राप्ति के कारण यदि निर्वेद हुआ हो तो उसे स्थायीभाव नहीं माना जा सकता है। ऐसा निर्वेद क्षणस्थायी होने के कारण व्यभिचारीभाव के अन्तर्गत परिगणित किया जाना चाहिए।[3] यह मत वस्तुतः श्रीविष्णु धर्मोत्तर का है जिसे 'भक्ति-रसामृतसिन्धु' में उद्धृत किया गया है। शान्त रस के स्थायीभाव राम की निर्विकारता के कारण नाट्यशास्त्री भरत प्रभृति आचार्यों ने उसे नाट्यरस स्वीकार नहीं किया है, पर वैष्णव रसशास्त्र के अनुसार शान्ति-रति को स्थायीभाव मान लेने पर रत्यात्मकता के कारण इसे भी नाटकों में स्थान मिलना चाहिए।[4] वस्तुतः परम्परागत शान्त रस में और वैष्णव शान्त-भक्तिरस में यही तात्त्विक अन्तर है। प्रथम नाट्यरस नहीं हो सकता है (अभिनय की कठिनाई उपस्थित हो जाने के कारण) पर द्वितीय भलीभांति नाट्यरस हो सकता है।

(ख) **प्रीत भक्ति-रस** :—प्रीत भक्ति-रस को वैष्णवरस-शास्त्र में दो भागों में बाँट दिया गया है—(अ) संभ्रम प्रीति और (ब) गौरव-प्रीति। यद्यपि दोनों का स्थायीभाव प्रीति ही है पर यह प्रीति कभी दास की स्वामी के प्रति जैसी होती है और कभी लालन करने वाले ज्येष्ठ व्यक्तियों की कनिष्ठों के प्रति जैसी होती है। अतएव प्रथम प्रीति में संभ्रम या आदर का भाव रहता है और दूसरी में गुरुता या महानता का। इन दोनों प्रकार के प्रीतभक्तिरसों के विभाव, अनुभाव आदि उपकरण

---

१. हरिभक्तरसामृतसिन्धु। पश्चिम विभाग। १।२२। २. वही। १।२८-२९।
३. वही, प० वि०। १।१३२। ४ वही। १२७।

पृथक्-पृथक् स्वीकार किए गए हैं, अतएव दोनों का विवरण अलग कर देना ही श्रेयस्कर है ।

(अ) संभ्रम प्रीति--कृष्ण के प्रति दासभाव से संभ्रम प्रीति ही इसका स्थायी-भाव है ।[1] हरि और उनके दास इसके आलम्बन हैं । हरि यहां द्विभुज कृष्ण के रूप में माने गए हैं । दासों के भी कई प्रकार बताए गए हैं—अधिकृत, आश्रित, परिषद और अनुग । आदेश के अधीन रहने वाले ब्रह्मा, शंकर, इन्द्र आदि देव अधिकृत दासों में गिने जाते हैं । आश्रित दास वे हैं जिन्होंने मोक्षकामना को छोड़ कर हरि के आश्रय में रह कर उनकी सेवा करना ही अपना चरम लक्ष्य मान लिया है । कालिय, सैनिक, चन्द्रध्वज प्रभृति भक्त आश्रित दास माने गए हैं । कृष्ण के दरबार में विभिन्न पदों पर नियुक्त उद्धव, दारुक, जैत्र, श्रुतदेव प्रभृति दास परिषद दास कहलाते हैं । सर्वदा प्रभु की परिचर्या में निरत पुरस्थ और व्रजस्थ भक्त अनुग दास माने गए हैं । इन सभी कोटियों के दासों के भी कई उपभेद किए गए हैं । उद्दीपनों में भी असाधारण और साधारण ये द्विविध भेद बताए गए हैं । असाधारण उद्दीपन के अन्तर्गत हरि के अनुग्रह की प्राप्ति, उनके चरणों की धूल लेना, प्रसाद-ग्रहण तथा भक्तों की संगति आदि आते हैं । साधारण उद्दीपनों में मुरली और शृंग का स्वर, स्मितपूर्वक देखना, गुणोत्कर्ष का श्रवण, हरि के अंगों की सुगन्ध आदि गिनाए गए हैं । सम्भ्रम प्रीतभक्ति के अनुभावों के रूप में स्वनियोग (अपने आपको हरि-चरणों में सर्वथा लगा देना), ईर्ष्याहीन मैत्री (हरि के भक्तों के साथ) आदि लिए गए हैं । ये शीत असाधारण अनुभाव हैं । पुनः शीत साधारण अनुभावों में पूर्वोक्त उद्भास्वर अनुभावों की गणना की गई है ।[2] स्तम्भ आदि सभी सात्विक भाव इसमें होते हैं । व्यभिचारी जितने भी गिनाए गए हैं, लगभग सभी इस रस में होते हैं । केवल मद, श्रम, त्रास, अपस्मार, आलस्य, उग्रता, क्रोध, असूया और निद्रा—इन नौ व्यभिचारिभावों की इसमें गुंजायश नहीं है ।[3]

(ब) गौरव प्रीति :—इसका स्थायीभाव भी प्रीति ही है, पर इस प्रीति में भक्त व्यक्तिगत सम्बन्ध की दृष्टि से अपने को हीन समझता है । इसके आलम्बन विभाव वे लालनीय कृष्ण के सम्बन्धी हैं जो या तो कनिष्ठ भाई हैं अथवा पुत्र आदि । शरण, गद आदि कनिष्ठ भाई और प्रद्युम्न आदि पुत्र इसके उदाहरण हैं । कृष्ण का अनुराग और उनकी मुस्कान आदि उद्दीपन है । इसके अनुभाव हैं—कृष्ण के नीचे बैठना, उनके चरणचिन्हों का अनुसरण करना, उनके आदेश का पालन, प्रणति, नम्रता आदि । इसमें पूर्ववत् आठो प्रकार के सात्विक भावों का समावेश माना गया है । सम्भ्रम प्रीति की तरह नौ व्यभिचारियों को छोड़ कर शेष सभी व्यभिचारीभाव इसमें भी होते हैं ।

---

१. हरिभक्तरसामृतसिन्धु, प० वि० । २।५ । २. वही, प० वि० । २।३४-३५ ।
३. वही, प० वि० २।३६-३८ ।

प्रीतभक्तिरस के उपर्युक्त दोनों भेदों में से सम्भ्रमप्रीति क्रमशः उत्तरोत्तर विकास के अनुसार प्रेम, स्नेह और राग की संज्ञा धारण करती है।[1] जीवगोस्वामी ने अपने प्रीति सन्दर्भ नामक ग्रन्थ में प्रीतरस का वर्गीकरण दूसरे ढंग से किया है—आश्रयभक्ति, दास्यभक्ति और प्रश्रय भक्ति।

(ग) **प्रेयोभक्तिरस** :—इसे ही कतिपय भक्ताचार्यों ने सख्य भक्ति भी कहा है। इस रस का स्थायीभाव सख्य-रति है अर्थात कृष्ण के प्रति विस्रम्भपूर्ण मित्रता की रति ही इसका स्थायीभाव है। इसके आलम्बन हैं द्विभुज हरि और उनके वयस्य (उसी उम्र के मित्र)। पुर तथा व्रज सम्बन्ध से वयस्यों के दो भेद हैं--पुरवयस्य और व्रजवयस्य। पुरवयस्यों में अर्जुन, भीमसेन, द्रौपदी, प्रभृति की गणना की गई है। इनमें वानरध्वज अर्जुन सर्वश्रेष्ठ हैं। व्रजवयस्य वे हैं जो सदा साथ में रहते हैं तथा एक क्षण का वियोग भी जिन्हें असह्य है। अतएव सभी वयस्यों में ये प्रधान हैं। इनमें श्रीदामा प्रभृति की गिनती की जाती है। पुनः इन वयस्यों के उम्र की अधिकता और अल्पता के आधार पर चार भेद कर दिए गए हैं--सुहृद (उम्र में कुछ अधिक), सखा (उम्र में कुछ कम), प्रियसखा (समान वयस्क) और प्रियनर्म-सखा (अत्यन्त रहस्यात्मक नायिका-प्रेम का सहायक सुबल उज्जवल प्रभृति)। इनके नाम, कार्य और अन्य विशेषताओं की विशद चर्चा की गई है।[2] प्रेयोभक्ति के अनुभावों में अनेक क्रीड़ाएँ, पर्यंक, आसन, झूला आदि पर साथ सोना और बैठना, जल विहार, सह-गान और सह-नृत्य आदि आते हैं। इस प्रसंग में क्रीड़ाओं की विस्तृत चर्चा है। उग्रता, त्रास तथा आलस्य के अतिरिक्त सभी संचारी काम आते हैं और योग में मृति, क्लम आदि तथा अयोग में मद, हर्ष, गर्व, निद्रा, धृति आदि को त्याग दिया जाता है।[3] विमुक्त सम्भ्रमा और विश्रम्भात्मा सख्यरति ही प्रेयान् भक्ति रस का स्थायीभाव कही गई है। यह सख्यरति भी प्रणय, प्रेम, स्नेह और राग भेद से कई प्रकार की हो जाती है।

(घ) **वत्सल भक्तिरस**—अपेक्षित विभावादियों से परिपुष्ट वात्सल्य-रति ही वत्सलभक्तिरस कहलाती है। इसका स्थायीभाव वात्सल्य-रति (माता-पिता की सन्तति के प्रति रति) है। इसके आलम्बन हैं कृष्ण और उनके गुरुजन। इन दोनों के अनेक गुणों की चर्चा की गई है।[4] गुरुजनों में यशोदा, नन्द, देवकी, उसकी सपत्नी, रोहिणी आदि गिनी गई हैं पर उनमें सर्वश्रेष्ठ हैं वृजेश्वरी और ब्रजाधीश अर्थात् यशोदा और नन्द। इस रस के उद्दीपन विभाग हैं कौमार आदि वय, रूप, वेष, शैशवजन्य चपलता, जल्पित (तुतलाकर बोलना), स्मित और अन्य बाललीलाएं आदि। वय, रूप, वेष आदि के अनेक भेद भी किए गए हैं। वत्सल भक्ति रस के

---

१. हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, प० वि०। २।४३। २. वही प० वि०। ३।१०-२६।
३. वही प० वि०। ३।५२-५४। ४. हरिभक्त० प० वि०। ४।२-५।

अनुभाव हैं—सिर सूंघना, हाथ से शरीर का स्पर्श करना, आशीर्वाद देना, निदेश (आज्ञा देना) लालन (स्वपनादि), पालन (रक्षण) हितोपदेश आदि। मित्रों के साथ चुम्बन, आलिंगन, नाम लेकर पुकारना, उलाहना देना आदि जो साधारण क्रियाएं की जाती हैं, उन्हें भी अनुभावों की कोटि में ही मानना चाहिए।[1] इस रस के सात्त्विक भावों में पूर्वोक्त आठ के अतिरिक्त स्तन्यस्राव (स्तन से दूध का गिरना) नामक एक नवमां सात्त्विक भी जोड़ दिया गया है। प्रेयोभक्तिरस के जितने भी व्यभिचारी हैं, वे ही वत्सल भक्ति के भी व्यभिचारी हैं। इनके अतिरिक्त अपस्मार नामक एक और व्यभिचारी की गिनती की जाती है। वत्सलभक्ति के भी प्रेम, स्नेह और राग नाम के तीन भेद हो जाते हैं। अन्त में रूपगोस्वामी ने परम्परागत काव्यशास्त्रियों की चर्चा करते हुए कहा है कि वे भी वत्सल रस को स्वीकार करते हैं।[2] इस प्रसंग में आपने समर्थन के लिए विश्वनाथ के साहित्य दर्पण से एक उद्धरण भी उद्धृत कर दिया है—'स्फुटंचमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः। स्थायी वत्सलताऽस्येह पुत्राद्यालम्बनं मतम्॥ (साहित्य दर्पण, ३।२५१)। पर यदि ध्यान पूर्वक परम्परागत काव्यशास्त्र का विहंगावलोकन किया जाय तो वत्सल रस के समर्थन से निराश ही होना पड़ेगा। एक मात्र विश्वनाथ ही ऐसे आचार्य है जिन्होंने वात्सल्य को रस की पदवी दी है।[3] विश्वनाथ के पूर्व अलंकार सम्प्रदाय के आचार्यों में रुद्रट,[4] भामह, दण्डी प्रभृति आचार्यों ने कभी अलंकार के रूप में तो कभी प्रेयस् नामक रस के रूप में इसे स्वीकार किया था। पर वत्सल रस नाम से इन्होंने भी इसे अभिहित नहीं किया था। परवर्ती काल में भोजराज ने अन्य रसों के साथ वत्सल को भी एक अखण्ड रस माना।[5] अन्य सभी आचार्यों ने इसे बाल विषयक रतिभाव ही माना था। अतएव इस रस का पूर्ण विकास वैष्णव सम्प्रदाय के रस-शास्त्र में ही वस्तुतः हुआ। संभवतः विश्वनाथ ने भी यहीं से प्रेरणा ग्रहण की हो।[6] यों हरिभक्तरसामृतसिन्धु की 'स्वीकुर्वंतरसमिमं नाट्यज्ञा अपि केंचन' इस भक्ति के 'कंचन' शब्द को पूर्ववर्ती आलंकारिक और भोज का प्रतिपादक भी माना जा सकता है, स्वयं रूपगोस्वामी ने साहित्यदर्पण के उद्धरण को प्रस्तुत कर भ्रामक स्थिति उत्पन्न कर दी है।

(ङ) मधुर-भक्ति रस—मधुर भक्तिरस को उज्ज्वल या श्रृङ्गार भक्तिरस भी कहते हैं। इसे मुख्य-रस के भेदों के बीच रूपगोस्वामी ने भक्तिरसराट् स्वीकार किया है। इस रस की प्रधानता इससे भी सिद्ध होती है कि हरिभक्तरसामृतसिन्धु में जहां सभी मुख्य और गौड़ रसों का सांगोपांग विश्लेषण एवं विवेचन किया गया है, वहां मधुरभक्तिरस का संक्षेप में उल्लेख करके एक स्वतन्त्र उज्ज्वलनीलमणि

---

१. ह० र० । प० वि० । ४।२२ । २. वही । ४।२७ ।
३. विश्वनाथ । साहित्यदर्पण । ३।२५१-२५४ । ४. रूद्रट । काव्यालंकार १२।३ ।
५. भोजराजः श्रृङ्गार प्रकाश । १।६ । ६. एस० के० डे । सं० पो० । २ पृ०-३४८ ।

नामक ग्रन्थ में इसका विशद विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। हरिभक्तिरसामृत सिन्धु के पश्चिम विभाग की पांचवीं लहरी में केवल १२ कारिकाओं में चलते हाथ मधुरभक्तिरस के आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव, संचारी, स्थायी और मधुररस के भेद आदि का उल्लेख किया है। पर इस भक्तिरस-राट् की विस्तृत व्याख्या के लिए रूपगोस्वामी को उज्ज्वलनीलमणि जैसे विशाल एवं स्वतन्त्र ग्रन्थ की अवतारणा करनी पड़ी।[1] मधुर भक्तिरस का आधार वस्तुतः परम्परागत शृङ्गार-रस ही है पर श्रीकृष्ण और उनकी वल्लभाओं को इसका आलम्बन बनाकर इसकी शृङ्गारिकता या कामुकता का निराकरण कर दिया गया है। पर विश्लेषण-क्रम के सारे तरीके वे ही हैं जो लौकिक शृंगार-रस में पाए जाते हैं। लौकिक शृंगार की तरह ही इसमें भी नायक-नायिका भेद, नायक और नायिकाओं के सहायकों के भेद तथा सम्भोग-विप्रलम्भ आदि रस-भेद बताए गए हैं। मूल अन्तर, इन दोनों में, यही है कि शृंगार का स्थायीभाव रति (लौकिक नायिका या नायक विषयक प्रेम जिसमें कामवासना है) है पर मधुररस का स्थायीभाव मधुरारति (कृष्ण और उनकी वल्लभाओं की पारस्परिक रति) है। भक्तों को इसमें वासना की कोई गन्ध प्रतीत नहीं होती है।

मधुरा रति ही (स्थायीभाव) अनुकूल विभाव, अनुभाव और संचारी के द्वारा आस्वादनीय अवस्था को प्राप्त होकर मधुर भक्ति रस कहलाती है[2]। मधुर भक्तिरस का स्थायीभाव मधुरा रति[3] या प्रियता[4] है जिससे कृष्ण और गोपियां परस्पर सम्भोग सुख प्राप्त करती हैं। जीवगोस्वामी ने भगवान् की लीला के ऐश्वर्य और माधुर्य नामक दो पक्ष बताए हैं जिनमें माधुर्य को ही आपने श्रेष्ठ बताया है। फलतः वैष्णव रस-शास्त्र के अनुसार मधुर भक्तिरस की सर्वश्रेष्ठता प्रमाणित होती है। अतएव इसे भक्तिरसराज माना गया है।

(क) **विभावः**—इसके आलम्बन हैं कृष्ण और उनकी वल्लभाएं (गोपियां)[5]। सुरम्य, मधुर, वलीयान्, वावदूक, प्रियंवद आदि कृष्ण के २५ विशेषण दिए गए हैं। ये सारे गुण वे ही हैं जो हरिभक्तिरसामृतसिन्धु में उल्लिखित ६० गुण हैं। आलम्बन कृष्ण के धीरोदात्त, धीरललित, आदि परम्परागत भेद तो स्वीकार किए गए हैं पर पति और उपपति नामक भेदों को विश्रुत कहा गया है[6]। इन दोनों में भी उपपति को ज्यादा महत्त्व दिया गया है (अत्रैव परमोत्कर्षः शृंगारस्य प्रतिष्ठितः उ० नी० मणि, पृ० १४)। उपपति के रूप में नायक जब परकीया नायिका के साथ प्रेम करता है तो वह प्रेम (रति) श्रेष्ठतम माना जाता है, क्योंकि इसमें अनेक बाधाएं

---

१. रूपगोस्वामी : उज्ज्वलनीलमणि। नायक भेद प्रकरण। २। २. वही पृ० ५।
३. ह० र० प० वि० ५।६। ४. जीवगोस्वामी : प्रीतिसन्दर्भ। पृष्ठ—७०४।
५. उ० नी० मणि। काव्यमाला, द्वितीय संस्करण। पृ०—५ ६. उ० नी० म० पृ० ९

उपस्थित होती हैं, कामुकता प्रच्छन्न रहती है एवं यह दुर्लभ होता है। नीतिशास्त्र या धर्मशास्त्र प्राकृतनायक के परकीया-प्रेम की निन्दा करते हैं पर कृष्ण जो स्वयं भगवान् हैं तथा जिन्होंने लीला-जन्य रसास्वाद के लिए ही अवतार ग्रहण किया है, वे इसके अपवाद हैं[1]। परकीया नायिकाओं में कन्यका और परोढ़ा के साथ किसी नायक की रति परम्परागत काव्यशास्त्र में गर्हित मानी गई हैं। पर वैष्णवीय भक्तिसाहित्य में परोढ़ा परकीया को सर्वोत्कृष्ट नायिका माना गया है और परवर्ती काल में इसे परमात्म-रति में अनुरक्त जीवात्मा की प्रतीक स्वीकार कर लिया गया। कृष्ण को व्रज में पूर्णतम माना गया है, मथुरा में पूर्णतर और द्वारका में पूर्ण। अतएव धीरोदात्तादि चार प्रकार के कृष्ण पूर्णतमादि भेद से त्रिगुणित होकर १२ प्रकार के हो जाते हैं तथा ये १२ प्रकार के भेद पति—उपपति भेद से २४ हुए। पुनः २४ भेदों को परम्परागत अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट भेदों में बांट कर आलम्बन कृष्ण के ९६ भेद बना लिए गए हैं।

आलम्बन-भूत वल्लभाओं के भी अनेक भेद परम्परागत नायिका-भेद-पद्धति पर ही किए गए हैं। व्रज में श्रीकृष्ण की १६ हजार वल्लभाएं बताई गई हैं। और द्वारका में १०८। फिर उनकी असंख्य सखियां और दासियां थीं। सखियों के रूप और गुण हरिबल्लभाओं के समान ही थे पर दासियां उनसे रूप-गुण में हीन थीं। इन बहुसंख्यक वल्लभाओं में रुक्मिणी, सत्या, जाम्बवंती, अर्कनन्दिनी, शैव्या, भद्रा, कौशल्या और भाद्री ये आठ गोपियां प्रसिद्ध मानी गई हैं। इनमें भी अपेक्षाकृत रुक्मिणी और सत्या ये दोनों अत्यन्त वरीयसी थीं[2]। इन सभी नायिकाओं (वल्लभाओं) के पहले दो भेद किए गए हैं – स्वीया और परकीया। इन वल्लभाओं ने श्रीकृष्ण के साथ गान्धर्वरीति से विवाह कर लिया था, अतएव इन्हें स्वीया नायिका ही कहना चाहिए। पर प्राकृत-लीला में इन्हें परकीया ही माना गया है, क्योंकि प्रथमतः इनका विवाह भी अव्यक्त था और द्वितीयतः ये छिप छिप कर कृष्ण से प्रेम करती थीं[3]। कहा जाता है कि इन वल्लभाओं के पति कृष्ण से चिढ़ते इसलिए नहीं थे कि माया के परिणाम-स्वरूप उन्हें अपनी पत्नी पास में दिखाई देती थीं, चाहे वे रास-लीला में कृष्ण के साथ क्यों न हों[4]। दूसरी बात यह कि कृष्ण का विवाहिताओं के साथ गान्धर्व विवाह कहां तक न्याय्य था, यह भी विचारणीय है। स्वयं रूपगोस्वामी ने स्वीकार किया है कि इन व्रजांगनाओं का अपने पतियों के साथ यथार्थ सम्भोग कभी नहीं हुआ था—"न जातु व्रजदेवीनां पतिभिः संगमः (उ० नी० म० पृ० ५८), अतएव वे विवाहिता रहकर भी कन्यकाएं ही थीं। फलतः कृष्ण का गान्धर्व विवाह न्याय्य एवं उचित था। ये दोनों स्वीया और परकीया वल्लभाएं

---

१. उ० नी० म० पृष्ठ १५। २. वही पृष्ठ ५०। ३. वही, पृष्ठ ५२।
४. श्रीमद्भागवत। १०।३३।३७।

नामक ग्रन्थ में इसका विशद विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। हरिभक्तिरसामृत सिन्धु के पश्चिम विभाग की पांचवीं लहरी में केवल १२ कारिकाओं में चलते हाथ मधुरभक्तिरस के आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव, संचारी, स्थायी और मधुररस के भेद आदि का उल्लेख किया है। पर इस भक्तिरस-राट् की विस्तृत व्याख्या के लिए रूपगोस्वामी को उज्ज्वलनीलमणि जैसे विशाल एवं स्वतन्त्र ग्रन्थ की अवतारणा करनी पड़ी।[1] मधुर भक्तिरस का आधार वस्तुतः परम्परागत शृङ्गार-रस ही है पर श्रीकृष्ण और उनकी वल्लभाओं को इसका आलम्बन बनाकर इसकी शृङ्गारिकता या कामुकता का निराकरण कर दिया गया है। पर विश्लेषण-क्रम के सारे तरीके वे ही हैं जो लौकिक शृंगार-रस में पाए जाते हैं। लौकिक शृंगार की तरह ही इसमें भी नायक-नायिका भेद, नायक और नायिकाओं के सहायकों के भेद तथा सम्भोग·विप्रलब्ध आदि रस-भेद बताए गए हैं। मूल अन्तर, इन दोनों में, यही है कि शृंगार का स्थायीभाव रति (लौकिक नायिका या नायक विषयक प्रेम जिसमें कामवासना है) है पर मधुररस का स्थायीभाव मधुरारति (कृष्ण और उनकी वल्लभाओं की पारस्परिक रति) है। भक्तों को इसमें वासना की कोई गन्ध प्रतीत नहीं होती हैं।

मधुरा रति ही (स्थायीभाव) अनुकूल विभाव, अनुभाव और संचारी के द्वारा आस्वादनीय अवस्था को प्राप्त होकर मधुर भक्ति रस कहलाती है[2]। मधुर भक्तिरस का स्थायीभाव मधुरा रति[3] या प्रियता[4] है जिससे कृष्ण और गोपियां परस्पर सम्भोग सुख प्राप्त करती हैं। जीवगोस्वामी ने भगवान् की लीला के ऐश्वर्य और माधुर्य नामक दो पक्ष बताए हैं जिनमें माधुर्य को ही आपने श्रेष्ठ बताया है। फलतः वैष्णव रस-शास्त्र के अनुसार मधुर भक्तिरस की सर्वश्रेष्ठता प्रमाणित होती है। अतएव इसे भक्तिरसराज माना गया है।

(क) **विभावः**–इसके आलम्बन हैं कृष्ण और उनकी वल्लभाएं (गोपियां)[5]। सुरम्य, मधुर, वलीयान्, वावदूक, प्रियंवद आदि कृष्ण के २५ विशेषण दिए गए हैं। ये सारे गुण वे ही हैं जो हरिभक्तिरसामृतसिन्धु में उल्लिखित ६० गुण हैं। आलम्बन कृष्ण के धीरोदात्त, धीरललित, आदि परम्परागत भेद तो स्वीकार किए गए हैं पर पति और उपपति नामक भेदों को विश्रुत कहा गया है[6]। इन दोनों में भी उपपति को ज्यादा महत्त्व दिया गया है (अत्रैव परमोत्कर्षः शृंगारस्य प्रतिष्ठितः उ० नी० मणि, पृ० १४)। उपपति के रूप में नायक जब परकीया नायिका के साथ प्रेम करता है तो वह प्रेम (रति) श्रेष्ठतम माना जाता है, क्योंकि इसमें अनेक बाधाएं

---

१. रूपगोस्वामी : उज्ज्वलनीलमणि। नायक भेद प्रकरण। २। २. वही पृ० ५।
३. ह० र० प० वि० ५।६। ४. जीवगोस्वामी : प्रीतिसन्दर्भ। पृष्ठ—७०४।
५. उ० नी० मणि। काव्यमाला, द्वितीय संस्करण। पृ०–५ ६. उ० नी० म० पृ० ९

पुनः मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा नामक तीन भेदों में बांट दी गई है। मध्या और प्रगल्भा के भी मानावस्थानुसार धीरा, अधीरा और धीराधीरा ये तीन भेद किए गए हैं। पुनः इन सबों के परिस्थिति या अवस्था के अनुसार आठ भेद कर दिए गए हैं—अभिसारिका, वासकसज्जा, उत्कण्ठिता, विप्रलब्धा, खण्डिता, कलहान्तरिता, प्रोषितभर्तृका, स्वाधीन भर्तृका। फिर से सभी प्रकार की नायिकाएं उत्तमा, मध्यमा और कनिष्ठा नामक त्रिविध भेदों में वर्गीकृत की गई हैं। ये सारे भेद परम्परागत हैं और उन्हीं को हरिवल्लभाओं के वर्गीकरण में भी बैठा दिया गया है। पर भक्ति और साधना की दृष्टि से भी इन हरिवल्लभाओं का रूपगोस्वामी ने वर्गीकरण किया है। नायिका-भेद का यह अंश सर्वथा नवीन है और यह वर्गीकरण केवल वैष्णव रस-शास्त्र तक ही सीमित रह सकता है। लौकिक (प्राकृत) नायिकाओं के ये भेद नहीं हो सकते हैं क्योंकि उनमें भक्ति और साधना के प्रश्न उठाये ही नहीं जा सकते। इस दृष्टि से हरिवल्लभाओं को प्रथमतः तीन भेदों में विभाजित किया गया है—साधनपरा, देवी, और नित्यप्रिया। पुनः साधनपरा के दो भेद माने गए हैं—यौथिकी और अयौथिकी। यौथिकी हरिवल्लभाएं भी दो तरह की होती हैं—मुनि और उपनिषत्। वे मुनि जो हरि प्रेम एवं साधन के परिणामस्वरूप गोपी हो गए, मुनि यौथिकी कहलाते हैं। कतिपय सूक्ष्मदर्शिनी उपनिषदें भी तप करके गोपी हो गईं, वे ही उपनिषद् यौथिकी कहलाती हैं[1]। अनेक मर्त्य अमर्त्य योनियों से कुछ ऐसे व्यक्ति भी हरिवल्लभाएं हुए जिन्होंने साधना एवं उत्कण्ठा के द्वारा हरि से प्रेम किया। ऐसी हरिवल्लभाएं ही अयौथिकी कहलाती है। इनमें भी कुछ तो प्राचीना हैं और कुछ नव्या[2]। बिना किसी आभास या साधना के जो हरिवल्लभाएं हुईं वे नित्यसिद्धा कहलाती हैं, जैसे राधा चन्द्रावली आदि। इनमें कृष्ण के समान ही नित्यसौन्दर्य, वैदग्ध्य आदि गुण होते हैं (कृष्ण वन्नित्य सौन्दर्यवैदग्ध्यादि गुणाश्रया/उ० नी० म० पृ० ७०)। जो देवयोनि से आकर हरिवल्लभाएं हुई हैं उन्हें देवी कहा गया है। उपर्युक्त सभी हरिवल्लभाओं में राधा को महाभावस्वरूपा (कृष्ण से अभिन्ना) वृन्दावनेश्वरी माना गया है। इसे तन्त्रों में वर्णित कृष्ण की ह्लादिनी महाशक्ति ही कहा गया है[3]। इसके संख्यातीत गुण हैं। पूरे प्रकरण में इसके गुणों का बखान किया गया है। यद्यपि हालसप्तशती से पूर्व राधा के नाम का स्पष्ट निर्देश कहीं भी नहीं पाया जाता है, फिर भी वैष्णवरस-शास्त्र ने गोपालतायनी उपनिषद्, ऋक्परिशिष्ट, पद्मपुराण आदि का हवाला देते हुए इसकी प्राचीनता सिद्ध करने की भरपूर कोशिश की है[4]। राधा की पांच प्रकार की सखियों की भी चर्चा है—सखी, नित्यसखी, प्राणसखी, प्रियसखी और परम-श्रेष्ठ सखी। उज्जवल नील मणि में रूपगोस्वामी ने इन सखियों का कार्य एवं पारस्परिक अन्तर नहीं स्पष्ट

---

१. उज्जवलनीलमणि। पृ० ६४-६६।　　२. वही, ६७।　　३. वहीं, पृ०-७६; ४. प्रीतिसन्दर्भ, पृ० ५६४-५६९।　　वृन्दावनेश्वरीप्रकरण।६।

किया है पर उन्होंने अपने राधाकृष्णगणोद्देश दीपिका नामक ग्रन्थ में इस पर ज्यादा प्रकाश डाला है। साथ ही विश्वनाथ चक्रवर्ती ने भी इसकी व्याख्या की है।[1] इसके अतिरिक्त सौभाग्य, स्वभाव, प्रतिस्पर्धा आदि के आधार पर भी इन हरिवल्लभावों के भेद किए गए हैं। सौभाग्य के अनुसार ये हरिवल्लभाएं तीन तरह की होती है—अधिका, समा और लघ्वी। स्वभाव के अनुसार भी ये तीन प्रकार की बताई गई हैं—प्रखरा, मध्या और मृद्वी। पारस्परिक प्रतिस्पर्धा की दृष्टि से भी ये स्वपक्षा, सुहृत्पक्षा, तटस्था और विपक्षा होती है। पुनः इनके भी कतिपय अवान्तर भेद हैं।

इन नायक-नायिका-भेदों के अतिरिक्त नायकों और नायिकाओं के सहायकों की भी चर्चा परम्परागत काव्य-शास्त्र की तरह ही है। नायक के सहायक पांच प्रकार के हैं—विट, चेटक, विदूषक, पीठमर्द, प्रियनर्मसखा। इन सबों के कार्य और गुणों का भी विशद वर्णन है।[2] नायिकाओं की सहायिका दूती कहलाती है। दूतियों (सखियों) के भेद पहले भी बताए गए हैं, पर इनके भेदों और कार्यों पर उज्ज्वल-नीलमणि में एक प्रकरण लिखा गया है। दूतियों के पहले दो भेद हैं—स्वयंदूतिका और आप्ता। नायिका जब स्वयं दूती का कार्य सम्पादित करती है तो कभी संकेतों से, कभी शब्दों से और कभी चितवनों से प्रेमी कृष्ण को अपना मन्तव्य (संदेश) पहुंचाती है। आप्ता दूती भी तीन प्रकार की होती है—अमितार्था, निस्त्रस्तार्था और पत्रहारिका। पुनः इनके शिल्पकारिणी, दैवज्ञा, लिंगिनी (सन्यासिनी), परिचारिका, धात्रेयी, सखी, वनदेवी आदि भेद किए हैं। ये दूतियाँ नायिका के सन्देश को कभी वाच्य (अर्थ) रूप में और कभी व्यंग्य रूप में प्रेषित करती थीं। जो हो, पर वैष्णव रस-शास्त्र एवं वैष्णव काव्य (नाटक, स्तोत्र, चम्पू, गीतिकाव्य) में दूतियों का अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान है। इनका प्रवेश हर स्थान में अव्याहत रहता था और ये नायिकाओं और नायक की रहस्यात्मक बातों की जानकारी रखती थीं। वैष्णव साहित्य में सखियों और दूतियों का इतना महत्त्व है कि बड़े-बड़े वैष्णव भक्त अपने को इन सखियों का अवतार समझ कर तदनुकूल आचरण करने में ही अपना श्रेय समझते थे।[3] इसी भावना का विकास सखी-सम्प्रदाय के रूप में हुआ जो आज भी किसी न किसी रूप में प्रचलित है।

उद्दीपन विभावों का वर्णन करते हुए रूप गोस्वामी ने हरिभक्तरसामृत सिन्धु में एकमात्र कृष्ण के वंशी-रव की[4] चर्चा की थी, पर उज्ज्वल नीलमणि में आपने इस पर भी एक पूरा प्रकरण लगाया है। कृष्ण और उनकी वल्लभाओं के सारे गुण उद्दीपन विभावों के अन्तर्गत गिनाए गए हैं। वल्लभाओं के गुणों को भी

१. एस० के० डे। वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेन्ट। पृष्ठ-१५७। २. उज्ज्वलनीलमणि। सहायभेद प्रकरण, पृष्ठ ४१-४६। ३. वैष्णव फेथ एन्ड मूवमेन्ट इन बंगाल, पृष्ठ-१५८, फुटनोट। ४. हरिभक्तरसामृतसिन्धु। पश्चिम विभाग।५।५ (पूर्वार्द्ध)

नामक ग्रन्थ में इसका विशद विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। हरिभक्तरसामृत सिन्धु के पश्चिम विभाग की पांचवीं लहरी में केवल १२ कारिकाओं में चलते हाथ मधुरभक्तिरस के आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव, संचारी, स्थायी और मधुररस के भेद आदि का उल्लेख किया है। पर इस भक्तिरस-राट् की विस्तृत व्याख्या के लिए रूपगोस्वामी को उज्ज्वलनीलमणि जैसे विशाल एवं स्वतन्त्र ग्रन्थ की अवतारणा करनी पड़ी।[1] मधुर भक्तिरस का आधार वस्तुतः परम्परागत शृङ्गार-रस ही है पर श्रीकृष्ण और उनकी वल्लभाओं को इसका आलम्बन बनाकर इसकी शृङ्गारिकता या कामुकता का निराकरण कर दिया गया है। पर विश्लेषण-क्रम के सारे तरीके वे ही हैं जो लौकिक शृंगार-रस में पाए जाते हैं। लौकिक शृंगार की तरह ही इसमें भी नायक-नायिका भेद, नायक और नायिकाओं के सहायकों के भेद तथा सम्भोग-विप्रलब्ध आदि रस-भेद बताए गए हैं। मूल अन्तर, इन दोनों में, यही है कि शृंगार का स्थायीभाव रति (लौकिक नायिका या नायक विषयक प्रेम जिसमें कामवासना है) है पर मधुररस का स्थायीभाव मधुरारति (कृष्ण और उनकी वल्लभाओं की पारस्परिक रति) है। भक्तों को इसमें वासना की कोई गन्ध प्रतीत नहीं होती हैं।

मधुरा रति ही (स्थायीभाव) अनुकूल विभाव, अनुभाव और संचारी के द्वारा आस्वादनीय अवस्था को प्राप्त होकर मधुर भक्ति रस कहलाती है[2]। मधुर भक्तिरस का स्थायीभाव मधुरा रति[3] या प्रियता[4] है जिससे कृष्ण और गोपियां परस्पर सम्भोग सुख प्राप्त करती हैं। जीवगोस्वामी ने भगवान् की लीला के ऐश्वर्य और माधुर्य नामक दो पक्ष बताए हैं जिनमें माधुर्य को ही आपने श्रेष्ठ बताया है। फलतः वैष्णव रस-शास्त्र के अनुसार मधुर भक्तिरस की सर्वश्रेष्ठता प्रमाणित होती है। अतएव इसे भक्तिरसराज माना गया है।

(क) **विभावः**—इसके आलम्बन हैं कृष्ण और उनकी वल्लभाएं (गोपियां)[5]। सुरम्य, मधुर, वलीयान्, वावदूक, प्रियंवद आदि कृष्ण के २५ विशेषण दिए गए हैं। ये सारे गुण वे ही हैं जो हरिभक्तिरसामृतसिन्धु में उल्लिखित ६० गुण हैं। आलम्बन कृष्ण के धीरोदात्त, धीरललित, आदि परम्परागत भेद तो स्वीकार किए गए हैं पर पति और उपपति नामक भेदों को विश्रुत कहा गया है[6]। इन दोनों में भी उपपति को ज्यादा महत्त्व दिया गया है (अत्रैव परमोत्कर्षः शृंगारस्य प्रतिष्ठितः उ० नी० मणि, पृ० १४)। उपपति के रूप में नायक जब परकीया नायिका के साथ प्रेम करता है तो वह प्रेम (रति) श्रेष्ठतम माना जाता है, क्योंकि इसमें अनेक बाधाएं

१. रूपगोस्वामी : उज्ज्वलनीलमणि। नायक भेद प्रकरण। २। २. वही पृ० ५।
३. ह० र० प० वि० ५।६। ४. जीवगोस्वामी : प्रीतिसन्दर्भ। पृष्ठ—७०४।
५. उ० नी० मणि। काव्यमाला, द्वितीय संस्करण। पृ०—५ ६. उ० नी० म० पृ० ९

उपस्थित होती हैं, कामुकता प्रच्छन्न रहती है एवं यह दुर्लभ होता है। नीतिशास्त्र या धर्मशास्त्र प्राकृतनायक के परकीया-प्रेम की निन्दा करते हैं पर कृष्ण जो स्वयं भगवान् हैं तथा जिन्होंने लीला-जन्य रसास्वाद के लिए ही अवतार ग्रहण किया है, वे इसके अपवाद हैं[1]। परकीया नायिकाओं में कन्यका और परोढ़ा के साथ किसी नायक की रति परम्परागत काव्यशास्त्र में गर्हित मानी गई हैं। पर वैष्णवीय भक्तिसाहित्य में परोढ़ा परकीया को सर्वोत्कृष्ट नायिका माना गया है और परवर्ती काल में इसे परमात्म-रति में अनुरक्त जीवात्मा की प्रतीक स्वीकार कर लिया गया। कृष्ण को व्रज में पूर्णतम माना गया है, मथुरा में पूर्णतर और द्वारका में पूर्ण। अतएव धीरोदात्तादि चार प्रकार के कृष्ण पूर्णतमादि भेद से त्रिगुणित होकर १२ प्रकार के हो जाते हैं तथा ये १२ प्रकार के भेद पति—उपपति भेद से २४ हुए। पुनः २४ भेदों को परम्परागत अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट भेदों में बांट कर आलम्बन कृष्ण के ९६ भेद बना लिए गए हैं।

आलम्बन-भूत वल्लभाओं के भी अनेक भेद परम्परागत नायिका-भेद-पद्धति पर ही किए गए हैं। व्रज में श्रीकृष्ण की १६ हजार वल्लभाएं बताई गई हैं। और द्वारका में १०८। फिर उनकी असंख्य सखियां और दासियां थीं। सखियों के रूप और गुण हरिबल्लभाओं के समान ही थे पर दासियां उनसे रूप-गुण में हीन थीं। इन बहुसंख्यक वल्लभाओं में रुक्मिणी, सत्या, जाम्बवंती, अर्कनन्दिनी, शैव्या, भद्रा, कौशल्या और भाद्री ये आठ गोपियां प्रसिद्ध मानी गई हैं। इनमें भी अपेक्षाकृत रुक्मिणी और सत्या ये दोनों अत्यन्त वरीयसी थीं[2]। इन सभी नायिकाओं (वल्लभाओं) के पहले दो भेद किए गए हैं – स्वीया और परकीया। इन वल्लभाओं ने श्रीकृष्ण के साथ गान्धर्वरीति से विवाह कर लिया था, अतएव इन्हें स्वीया नायिका ही कहना चाहिए। पर प्राकृत-लीला में इन्हें परकीया ही माना गया है, क्योंकि प्रथमतः इनका विवाह भी अव्यक्त था और द्वितीयतः ये छिप छिप कर कृष्ण से प्रेम करती थीं[3]। कहा जाता है कि इन वल्लभाओं के पति कृष्ण से चिढ़ते इसलिए नहीं थे कि माया के परिणाम-स्वरूप उन्हें अपनी पत्नी पास में दिखाई देती थीं, चाहे वे रास-लीला में कृष्ण के साथ क्यों न हों[4]। दूसरी बात यह कि कृष्ण का विवाहिताओं के साथ गान्धर्व विवाह कहां तक न्याय्य था, यह भी विचारणीय है। स्वयं रूपगोस्वामी ने स्वीकार किया है कि इन व्रजांगनाओं का अपने पतियों के साथ यथार्थ सम्भोग कभी नहीं हुआ था—"न जातु व्रजदेवीनां पतिभिः संगमः (उ० नी० म० पृ० ५८), अतएव वे विवाहिता रहकर भी कन्यकाएं ही थीं। फलतः कृष्ण का गान्धर्व विवाह न्याय्य एवं उचित था। ये दोनों स्वीया और परकीया वल्लभाएं

१. उ० नी० म० पृष्ठ १५। २. वही पृष्ठ ५०। ३. वही, पृष्ठ ५२।
४. श्रीमद्भागवत। १०।३३।३७।

नामक ग्रन्थ में इसका विशद विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। हरिभक्तरसामृत सिन्धु के पश्चिम विभाग की पांचवीं लहरी में केवल १२ कारिकाओं में चलते हाथ मधुरभक्तिरस के आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव, संचारी, स्थायी और मधुररस के भेद आदि का उल्लेख किया है। पर इस भक्तिरस-राट् की विस्तृत व्याख्या के लिए रूपगोस्वामी को उज्ज्वलनीलमणि जैसे विशाल एवं स्वतन्त्र ग्रन्थ की अवतारणा करनी पड़ी।[1] मधुर भक्तिरस का आधार वस्तुतः परम्परागत श्रृङ्गार-रस ही है पर श्रीकृष्ण और उनकी वल्लभाओं को इसका आलम्बन बनाकर इसकी श्रृङ्गारिकता या कामुकता का निराकरण कर दिया गया है। पर विश्लेषण-क्रम के सारे तरीके वे ही हैं जो लौकिक श्रृंगार-रस में पाए जाते हैं। लौकिक श्रृंगार की तरह ही इसमें भी नायक-नायिका भेद, नायक और नायिकाओं के सहायकों के भेद तथा सम्भोग-विप्रलब्ध आदि रस-भेद बताए गए हैं। मूल अन्तर, इन दोनों में, यही है कि श्रृंगार का स्थायीभाव रति (लौकिक नायिका या नायक विषयक प्रेम जिसमें कामवासना है) है पर मधुररस का स्थायीभाव मधुरारति (कृष्ण और उनकी वल्लभाओं को पारस्परिक रति) है। भक्तों को इसमें वासना की कोई गन्ध प्रतीत नहीं होती हैं।

मधुरा रति ही (स्थायीभाव) अनुकूल विभाव, अनुभाव और संचारी के द्वारा आस्वादनीय अवस्था को प्राप्त होकर मधुर भक्ति रस कहलाती है[2]। मधुर भक्तिरस का स्थायीभाव मधुरा रति[3] या प्रियता[4] है जिससे कृष्ण और गोपियां परस्पर सम्भोग सुख प्राप्त करती हैं। जीवगोस्वामी ने भगवान् की लीला के ऐश्वर्य और माधुर्य नामक दो पक्ष बताए हैं जिनमें माधुर्य को ही आपने श्रेष्ठ बताया है। फलतः वैष्णव रस-शास्त्र के अनुसार मधुर भक्तिरस की सर्वश्रेष्ठता प्रमाणित होती है। अतएव इसे भक्तिरसराज माना गया है।

(क) **विभावः**—इसके आलम्बन हैं कृष्ण और उनकी वल्लभाएं (गोपियां)[5]। सुरम्य, मधुर, वलीयान्, वावदूक, प्रियंवद आदि कृष्ण के २५ विशेषण दिए गए हैं। ये सारे गुण वे ही हैं जो हरिभक्तिरसामृतसिन्धु में उल्लिखित ६० गुण हैं। आलम्बन कृष्ण के धीरोदात्त, धीरललित, आदि परम्परागत भेद तो स्वीकार किए गए हैं पर पति और उपपति नामक भेदों को विश्रुत कहा गया है[6]। इन दोनों में भी उपपति को ज्यादा महत्त्व दिया गया है (अत्रैव परमोत्कर्षः श्रृंगारस्य प्रतिष्ठितः उ० नी० मणि, पृ० १४)। उपपति के रूप में नायक जब परकीया नायिका के साथ प्रेम करता है तो वह प्रेम (रति) श्रेष्ठतम माना जाता है, क्योंकि इसमें अनेक बाधाएं

---

१. रूपगोस्वामी : उज्ज्वलनीलमणि। नायक भेद प्रकरण। २। २. वही पृ० ५। ३. ह० र० प० वि० ५।६। ४. जीवगोस्वामी : प्रीतिसन्दर्भ। पृष्ठ—७०४। ५. उ० नी० मणि। काव्यमाला, द्वितीय संस्करण। पृ०—५ ६. उ० नी० म० पृ० ९

उपस्थित होती हैं, कामुकता प्रच्छन्न रहती है एवं यह दुर्लभ होता है। नीतिशास्त्र या धर्मशास्त्र प्राकृतनायक के परकीया-प्रेम की निन्दा करते हैं पर कृष्ण जो स्वयं भगवान् हैं तथा जिन्होंने लीला-जन्य रसास्वाद के लिए ही अवतार ग्रहण किया है, वे इसके अपवाद हैं[1]। परकीया नायिकाओं में कन्यका और परोढ़ा के साथ किसी नायक की रति परम्परागत काव्यशास्त्र में गर्हित मानी गई हैं। पर वैष्णवीय भक्तिसाहित्य में परोढ़ा परकीया को सर्वोत्कृष्ट नायिका माना गया है और परवर्ती काल में इसे परमात्म-रति में अनुरक्त जीवात्मा की प्रतीक स्वीकार कर लिया गया। कृष्ण को व्रज में पूर्णतम माना गया है, मथुरा में पूर्णतर और द्वारका में पूर्ण। अतएव धीरोदात्तादि चार प्रकार के कृष्ण पूर्णतमादि भेद से त्रिगुणित होकर १२ प्रकार के हो जाते हैं तथा ये १२ प्रकार के भेद पति—उपपति भेद से २४ हुए। पुनः २४ भेदों को परम्परागत अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट भेदों में बांट कर आलम्बन कृष्ण के ९६ भेद बना लिए गए हैं।

आलम्बन-भूत वल्लभाओं के भी अनेक भेद परम्परागत नायिका-भेद-पद्धति पर ही किए गए हैं। व्रज में श्रीकृष्ण की १६ हजार वल्लभाएं बताई गई हैं। और द्वारका में १०८। फिर उनकी असंख्य सखियां और दासियां थीं। सखियों के रूप और गुण हरिबल्लभाओं के समान ही थे पर दासियां उनसे रूप-गुण में हीन थीं। इन बहुसंख्यक वल्लभाओं में रुक्मिणी, सत्या, जाम्बवंती, अर्कनन्दिनी, शैव्या, भद्रा, कौशल्या और भाद्री ये आठ गोपियां प्रसिद्ध मानी गई हैं। इनमें भी अपेक्षाकृत रुक्मिणी और सत्या ये दोनों अत्यन्त वरीयसी थीं[2]। इन सभी नायिकाओं (वल्लभाओं) के पहले दो भेद किए गए हैं – स्वीया और परकीया। इन वल्लभाओं ने श्रीकृष्ण के साथ गान्धर्वरीति से विवाह कर लिया था, अतएव इन्हें स्वीया नायिका ही कहना चाहिए। पर प्राकृत-लीला में इन्हें परकीया ही माना गया है, क्योंकि प्रथमतः इनका विवाह भी अव्यक्त था और द्वितीयतः ये छिप छिप कर कृष्ण से प्रेम करती थीं[3]। कहा जाता है कि इन वल्लभाओं के पति कृष्ण से चिढ़ते इसलिए नहीं थे कि माया के परिणाम-स्वरूप उन्हें अपनी पत्नी पास में दिखाई देती थीं, चाहे वे रास-लीला में कृष्ण के साथ क्यों न हों[4]। दूसरी बात यह कि कृष्ण का विवाहिताओं के साथ गान्धर्व विवाह कहां तक न्याय्य था, यह भी विचारणीय है। स्वयं रूपगोस्वामी ने स्वीकार किया है कि इन व्रजांगनाओं का अपने पतियों के साथ यथार्थ सम्भोग कभी नहीं हुआ था—"न जातु व्रजदेवीनां पतिभिः संगमः (उ० नी० म० पृ० ५८), अतएव वे विवाहिता रहकर भी कन्यकाएं ही थीं। फलतः कृष्ण का गान्धर्व विवाह न्याय्य एवं उचित था। ये दोनों स्वीया और परकीया वल्लभाएं

---

१. उ० नी० म० पृष्ठ १५। २. वही पृष्ठ ५०। ३. वही, पृष्ठ ५२।
४. श्रीमद्भागवत। १०।३३।३७।

पुनः मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा नामक तीन भेदों में बांट दी गई है। मध्या और प्रगल्भा के भी मानावस्थानुसार धीरा, अधीरा और धीराधीरा ये तीन भेद किए गए हैं। पुनः इन सबों के परिस्थिति या अवस्था के अनुसार आठ भेद कर दिए गए हैं—अभिसारिका, वासकसज्जा, उत्कण्ठिता, विप्रलब्धा, खण्डिता, कलहान्तरिता, प्रोषितभर्तृका, स्वाधीन भर्तृका। फिर से सभी प्रकार की नायिकाएं उत्तमा, मध्यमा और कनिष्ठा नामक त्रिविध भेदों में वर्गीकृत की गई हैं। ये सारे भेद परम्परागत हैं और उन्हीं को हरिवल्लभाओं के वर्गीकरण में भी बैठा दिया गया है। पर भक्ति और साधना की दृष्टि से भी इन हरिवल्लभाओं का रूपगोस्वामी ने वर्गीकरण किया है। नायिका-भेद का यह अंश सर्वथा नवीन है और यह वर्गीकरण केवल वैष्णव रस-शास्त्र तक ही सीमित रह सकता है। लौकिक (प्राकृत) नायिकाओं के ये भेद नहीं हो सकते हैं क्योंकि उनमें भक्ति और साधना के प्रश्न उठाये ही नहीं जा सकते। इस दृष्टि से हरिवल्लभाओं को प्रथमतः तीन भेदों में विभाजित किया गया है—साधनपरा, देवी, और नित्यप्रिया। पुनः साधनपरा के दो भेद माने गए हैं—यौथिकी और अयौथिकी। यौथिकी हरिवल्लभाएं भी दो तरह की होती हैं—मुनि और उपनिषत्। वे मुनि जो हरि प्रेम एवं साधन के परिणामस्वरूप गोपी हो गए, मुनि यौथिकी कहलाते हैं। कतिपय सूक्ष्मदर्शिनी उपनिषदें भी तप करके गोपी हो गईं, वे ही उपनिषद् यौथिकी कहलाती हैं[1]। अनेक मर्त्य अमर्त्य योनियों से कुछ ऐसे व्यक्ति भी हरिवल्लभाएं हुए जिन्होंने साधना एवं उत्कण्ठा के द्वारा हरि से प्रेम किया। ऐसी हरिवल्लभाएं ही अयौथिकी कहलाती है। इनमें भी कुछ तो प्राचीना हैं और कुछ नव्या[2]। बिना किसी आभास या साधना के जो हरिवल्लभाएं हुईं वे नित्यसिद्धा कहलाती हैं, जैसे राधा चन्द्रावली आदि। इनमें कृष्ण के समान ही नित्यसौन्दर्य, वैदग्ध्य आदि गुण होते हैं (कृष्ण वन्नित्य सौन्दर्यवैदग्ध्यादि गुणाश्रया/उ० नी० म० पृ० ७०)। जो देवयोनि से आकर हरिवल्लभाएं हुई हैं उन्हें देवी कहा गया है। उपर्युक्त सभी हरिवल्लभाओं में राधा को महाभावस्वरूपा (कृष्ण से अभिन्ना) वृन्दावनेश्वरी माना गया है। इसे तन्त्रों में वर्णित कृष्ण की ह्लादिनी महाशक्ति ही कहा गया है[3]। इसके संख्यातीत गुण हैं। पूरे प्रकरण में इसके गुणों का बखान किया गया है। यद्यपि हालसप्तशती से पूर्व राधा के नाम का स्पष्ट निर्देश कहीं भी नहीं पाया जाता है, फिर भी वैष्णवरस-शास्त्र ने गोपालतायनी उपनिषद्, ऋक्परिशिष्ट, पद्मपुराण आदि का हवाला देते हुए इसकी प्राचीनता सिद्ध करने की भरपूर कोशिश की है[4]। राधा की पांच प्रकार की सखियों की भी चर्चा है–सखी, नित्यसखी, प्राणसखी, प्रियसखी और परम-श्रेष्ठ सखी। उज्जवल नील मणि में रूपगोस्वामी ने इन सखियों का कार्य एवं पारस्परिक अन्तर नहीं स्पष्ट

---

१. उज्जवलनीलमणि। पृ० ६४-६६। २. वही, ६७। ३. वही, पृ०-७६, वृन्दावनेश्वरीप्रकरण। ६।
४. प्रीतिसन्दर्भ, पृ० ५६४-५६९।

किया है पर उन्होंने अपने राधाकृष्णगणोद्देश दीपिका नामक ग्रन्थ में इस पर ज्यादा प्रकाश डाला है। साथ ही विश्वनाथ चक्रवर्ती ने भी इसकी व्याख्या की है।[1] इसके अतिरिक्त सौभाग्य, स्वभाव, प्रतिस्पर्धा आदि के आधार पर भी इन हरिवल्लभावों के भेद किए गए हैं। सौभाग्य के अनुसार ये हरिवल्लभाएं तीन तरह की होती है—अधिका, समा और लध्वी। स्वभाव के अनुसार भी ये तीन प्रकार की बताई गई हैं—प्रखरा, मध्या और मृद्वी। पारस्परिक प्रतिस्पर्धा की दृष्टि से भी ये स्वपक्षा, सुहृत्पक्षा, तटस्था और विपक्षा होती है। पुनः इनके भी कतिपय अवान्तर भेद हैं।

इन नायक-नायिका-भेदों के अतिरिक्त नायकों और नायिकाओं के सहायकों की भी चर्चा परम्परागत काव्य-शास्त्र की तरह ही है। नायक के सहायक पांच प्रकार के हैं—विट, चेटक, विदूषक, पीठमर्द, प्रियनर्मसखा। इन सबों के कार्य और गुणों का भी विशद वर्णन है।[2] नायिकाओं की सहायिका दूती कहलाती है। दूतियों (सखियों) के भेद पहले भी बताए गए हैं, पर इनके भेदों और कार्यों पर उज्ज्वल-नीलमणि में एक प्रकरण लिखा गया है। दूतियों के पहले दो भेद हैं—स्वयंदूतिका और आप्ता। नायिका जब स्वयं दूती का कार्य सम्पादित करती है तो कभी संकेतों से, कभी शब्दों से और कभी चितवनों से प्रेमी कृष्ण को अपना मन्तव्य (संदेश) पहुंचाती है। आप्ता दूती भी तीन प्रकार की होती है—अमितार्था, निस्त्रस्तार्था और पत्रहारिका। पुनः इनके शिल्पकारिणी, दैवज्ञा, लिंगिनी (सन्यासिनी), परिचारिका, धात्रेयी, सखी, वनदेवी आदि भेद किए हैं। ये दूतियाँ नायिका के सन्देश को कभी वाच्य (अर्थ) रूप में और कभी व्यंग्य रूप में प्रेषित करती थीं। जो हो, पर वैष्णव रस-शास्त्र एवं वैष्णव काव्य (नाटक, स्तोत्र, चम्पू, गीतिकाव्य) में दूतियों का अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान है। इनका प्रवेश हर स्थान में अव्याहत रहता था और ये नायिकाओं और नायक की रहस्यात्मक बातों की जानकारी रखती थीं। वैष्णव साहित्य में सखियों और दूतियों का इतना महत्त्व है कि बड़े-बड़े वैष्णव भक्त अपने को इन सखियों का अवतार समझ कर तदनुकूल आचरण करने में ही अपना श्रेय समझते थे।[3] इसी भावना का विकास सखी-सम्प्रदाय के रूप में हुआ जो आज भी किसी न किसी रूप में प्रचलित है।

उद्दीपन विभावों का वर्णन करते हुए रूप गोस्वामी ने हरिभक्तरसामृत सिन्धु में एकमात्र कृष्ण के वंशी-रव की[4] चर्चा की थी, पर उज्ज्वल नीलमणि में आपने इस पर भी एक पूरा प्रकरण लगाया है। कृष्ण और उनकी वल्लभाओं के सारे गुण उद्दीपन विभावों के अन्तर्गत गिनाए गए हैं। वल्लभाओं के गुणों को भी

---

१. एस० के० डे। वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेन्ट। पृष्ठ-१५७। २. उज्ज्वलनीलमणि। सहायभेद प्रकरण, पृष्ठ ४१-४६। ३. वैष्णव फेथ एन्ड मूवमेन्ट इन बंगाल, पृष्ठ-१५८, फुटनोट। ४. हरिभक्तरसामृतसिन्धु। पश्चिम विभाग।५।५ (पूर्वार्द्ध)

कायिक, मानसिक और वाचिक इन तीन भेदों में बांट दिया गया है। इनमें मानसिक और वाचिक गुणों की अपेक्षा कायिक का अधिक विस्तार से वर्णन हुआ है। इसके अन्तर्गत रूप, लावण्य, मार्दव और यौवन आदि की चर्चा है। कृष्ण के नाम, चरित, लीला (वंशीवादन, गोदोहन, गोवर्द्धनधारण) और अन्य तत्सम्बन्धी बाह्य विषय भी उद्दीपन के अन्तर्गत वर्णित किए गए हैं।[1] तटस्थ उद्दीपनों में (कृष्ण और वल्लभाओं से भिन्न) जलद, मलयपवन, पूर्णचन्द्र, वृन्दावन, यमुना नदी, लता, गुल्म आदि अनेक प्राकृत पदार्थों का उल्लेख है।

(ब) **अनुभाव** :–अनुभावों में कोई विशेष नवीनता नहीं है। अभी अनुभावों को तीन भेदों में बाँट दिया गया है—अलंकार, उद्भास्वर और वाचिक।[2] अलंकारों की संख्या २० बताई गई है, उद्भास्वरों की सात और वाचिकों की बारह। इन बाइस अलंकारों में परम्परागत अंगज ३, अयत्नज ७ और स्वभावज १० अलंकारों की ही चर्चा है। जिन सात उद्भास्वर अनुभावों का उल्लेख किया गया है, वे सर्वथा नवीन हैं। वे हैं—नीवीस्रंसन, उत्तरीय-स्रंसन, धम्मिल्ल स्रंसन, गात्रमोहन, जृम्भा, घ्राण-फुल्लता, निश्वास आदि। यद्यपि इन्हें मोट्टायित और विलास नामक स्वभावज अलंकारों के अन्तर्गत समाविष्ट किया जा सकता है, पर विशेष शोभा के पोषक होने के कारण इनका पृथक् निर्देश किया गया है।[3] बारह प्रकार के जिन वाचिक अनुभावों का उल्लेख किया है, वे हैं—आलाप, विलाप, संलाप, अनुलाप, अपलाप, सन्देश, अतिदेश, अपदेश, उपदेश, निर्देश और व्यपदेश। इन सबों का सूक्ष्म पार्थक्य क्रमशः प्रतिपादित किया है।[4] जहाँ तक सात्त्विक-भावों के विवेचन का प्रश्न है, मधुर रस के सात्त्विकों में कोई नवीनता नहीं पाई जाती है। परम्परागत स्तम्भ, स्वेद आदि आठ सात्विकों को ज्यों का त्यों स्वीकार लिया गया है। पर एक सात्विक के उदय के भी अनेक कारण बताए गए हैं। यथा स्तम्भ की उत्पत्ति हर्ष, भय, आश्चर्य, विषाद, अमर्ष, आदि कई कारणों से सम्भव है। इसी प्रकार स्वेद की उत्पत्ति भी भय और क्रोध से बताई गई है। पुनः जैसे अन्य मुख्य भक्तिरसों में प्रत्येक सात्विक भाव को चार प्रभेदों में विभाजित किया, उसी तरह मधुर रस में भी प्रत्येक सात्विक को धूमायित, ज्वलित, दीप्त और उद्दीप्त—इन चार भेदों में बांट दिया गया है।

(ग) **व्यभिचारी** :—मधुर रस में भी परम्परागत ३३ व्यभिचारियों को स्वीकृत किया गया है। पर उग्रता और आलस्य इन दोनों को मधुर भक्ति का अपवाद माना गया है।[5] सात्विकभावों की तरह प्रत्येक अनुभाव के उत्पत्ति के भी अनेक कारण बताए गए हैं। केवल निर्वेद व्यभिचारी की उत्पत्ति महार्त्ति, विप्रयोग,

---

१. उज्ज्वलनीलमणि। पृ० २६४। २. वही। पृष्ठ-२९९। ३. वही। पृष्ठ-३२१
४. वही। पृष्ठ ३२२-३२८। ५. वही। पृ० ३४२ (व्यभिचारी प्रकरण)

ईर्ष्या, विषाद, प्रारब्धकार्य-सिद्धि, विपत्ति और अपराध प्रभृत्ति अनेक कारणों से बताई गई है तथा प्रत्येक के उदाहरण देकर स्पष्टीकरण भी हुआ है। इसी प्रकार दैन्य का दु:ख, त्रास और अपराध इन तीन कारणों से उद्भव बताया गया है। इसी क्रम में अनेक भावों (व्यभिचारीभावों) की सन्धि, शबलता तथा शान्ति की भी चर्चा कर दी गई है। कभी तो दो सरूप भावों की सन्धि होती है और कभी दो भिन्न भावों में भी। कभी दो भाव एकहेतुज होकर मिलते हैं और कभी वे भिन्न-हेतुज रहकर भी मिलते हैं। कभी चापल्य, शंका, औत्सुक्य, आमर्ष आदि भावों की शबलता (भावों का उत्तरोत्तर संभर्द अर्थात एक भाव दूसरे भाव को दबा दे) भी होती है और कभी किसी व्यभिचारी की शान्ति भी होती है।

स्थायीभाव :—विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों की अपेक्षा स्थायी भाव में वैष्णवीय रस-शास्त्र ने अधिक मौलिकता प्रदर्शित की है। मधुर-भक्ति-रस का स्थायीभाव मधुरारति[1] माना गया है। जिन लौकिक परिस्थितियों के कारण मधुरा रति आविर्भूत होती है वे कई प्रकार की बताई गई है—अभियोग, विषय, सम्बन्ध, अभिमान, तदीयविशेष उपमा, स्वभाव। इन कारणों से आविर्भूत मधुरारति क्रमश: उत्तमोत्तम स्वीकार की गई है। अभियोग के अन्तर्गत भावव्यक्ति स्व और पर भेद से दो प्रकार की होती है। विषय के अन्तर्गत शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पाँच विषयों की गणना की गई है। सम्बन्ध के द्वारा कुल, रूप आदि सामग्रियों का गौरव गृहीत किया गया है (सम्बन्ध: कुलरूपादि सामग्रीगौरवं भवेत्—उ० नी० मणि, पृष्ठ ३९५)। अनेक रम्य पदार्थों में मुझे एकमात्र यही वस्तु चाहिए—इसे ही विद्वानों ने अभिमान कहा है।[2] इस अभिमान के कारण भी मधुरा रति उत्पन्न होती है। पद (पद-चिह्न), गोष्ठ (वृन्दावनाश्रित अष्ट क्रोशी परिमित स्थान) और प्रियजन इत्यादि का ग्रहण तदीय-विशेष के अन्तर्गत किया गया है। स्वभाव भी दो तरह के बताए गए हैं—निसर्ग स्वभाव और स्वरूप स्वभाव। सुदृढ़ अभ्यास-जन्य संस्कार को निसर्ग स्वभाव और स्वत: सिद्ध भाव को स्वरूप स्वभाव कहा गया है। यह स्वरूप भी कृष्ण-निष्ठ, ललनानिष्ठ, तथा उभय-निष्ठ होता है। पुन: स्वभावजा मधुरा रति साधारणी, स्वीया और परकीया नामक त्रिविध नायिका भेदों के आधार पर क्रमश: साधारणी, समंजसा और समर्था प्रतिपादित की गई है। साधारणी स्वभावजा मधुरारति कुब्जा आदि में, समंजसा महिषी आदि नायिकाओं में तथा समर्था गोकुलदेवियों में पाई जाती है। इनकी तुलना क्रमश: मणि, चिन्तामणि और कौस्तुभमणि के साथ की गई है। इन्हें क्रमश: नातिसुलभ, सुदुर्लभ और अनन्यलभ्य भी कहा गया है। साधारणी रति कृष्ण के साक्षात् दर्शन से उत्पन्न होकर संभोगेच्छा उत्पन्न करती है, पर अतिसान्द्रा नहीं होती है। रति की असान्द्रता के कारण संभोगेच्छा की मात्रा में भी अन्तर होता है और संभोगेच्छा की कमी रहने पर

१. उज्ज्वल नीलमणि। स्थायीभाव प्रकरण, पृष्ठ ३८८। २. वही। पृष्ठ ३९९।

तज्जन्य रति में भी कमी हो जाती है।[1] गुणादि के श्रवण से उत्पन्न, पत्नी-भावक अभिमान से युक्त, संभोग-तृष्णा-शून्य सान्द्रा रति ही समंजसा कहलाती है। जिस रति से संभोगेच्छा तादात्म्य (एकी-भाव) को प्राप्त कर ले वह समर्था रति कहलाती है।[2] साधारणी रति केवल आत्मासुख के लिये होती है (जैसे कुब्जा में), समंजसा रति आत्मसुख एवं कृष्ण सुख दोनों के लिए होती है (जैसे रुक्मिणी आदि महिषी में) तथा समर्थारति केवल कृष्ण के सुख के लिए होती है (जैसे गोपियों में)। यही रति महाभाव-दशा को प्राप्त करती है। श्रेष्ठ भक्तजन और विभक्तजन इसी रति की खोज करते हैं।[3]

यह समर्था रति जब दृढ़ होती है तो इसे प्रेमा कहते हैं। प्रेमा रूप में क्रमशः स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग और भाव-दशा को यह रति प्राप्त हो जाती है। इस विकास-क्रम को रूपगोस्वामी ने एक लौकिक उदाहरण के द्वारा (उज्ज्वलनीलमणि, पृष्ठ ४१७) भलीभांति स्पष्ट कर दिया है। जैसे बीज से ऊख, ऊस से रस, रस से गुड़, गुड़ से खांड (खांड), खांड से शकर और शकर से मिश्री बनती है, उसी तरह स्नेहादि छः भावों का क्रमिक विकास होता है। इन सबों में प्रेमा युवक-युवतियों के उस भाव-बन्धन को कहते हैं, जहां ध्वंसकारण के रहते हुए भी भाव-बन्ध का ध्वंस न हो।[4] इस प्रेमा के भी तीन भेद होते हैं—प्रौढ़, मध्य और मन्द। प्रेमा पराकाष्ठा को पहुंचकर जब हृदय को द्रवित करने लगती है तथा दर्शनादि में जब तृप्ति नहीं होने लगती है तो समर्थारति की उस अवस्था को स्नेह कहा जाता है।[5] इसे भी अंगसंग, विलोकन और श्रवण में प्रगाढ़ता के भेद से क्रमशः कनिष्ठ, मध्यम और श्रेष्ठ कहा गया है। इस स्नेह को भी घृतस्नेह और मधुस्नेह नामक दो भेदों में बांट दिया गया है। जब स्नेह अत्यन्त उत्कृष्ट होकर नवीन माधुर्य को धारण करता है तथा जिसमें दाक्षिण्य नहीं रहता है तो उसे 'मान' कहा जाता है।[6] इस मान को भी उदात्त और ललित नामक दो भेदों में बांट दिया गया है। उदात्त मान भी दक्षिण्योदात्त और वाम्यगन्धोदात्त नामक दो भेदों में विभाजित किया गया है। इसी प्रकार ललित मान के दो भेद होते हैं—कौटिल्य और निर्मलललित। मान में जब विश्वास की मात्रा बढ़ जाती है तो उसे प्रणय कहते हैं।[7] इस प्रणय को विस्रम्भ कहते हैं और इस विस्रम्भ के भी मैत्र और सख्य नामक दो भेद कर दिए गए हैं। प्रणयोत्कर्ष के कारण चित्तगत दुःख भी जब सुख की तरह प्रतीत होने लगता है तो उसे राग कहते हैं।[8] यह राग भी नीलिमा और रक्तिमा भेद से द्विविध होता है। नीलिमा राग के भी नीलीराग और श्यामाराग ये दो भेद होते हैं। इसी

---

१. उ० नी० म०। पृष्ठ ४०८। २. वही। पृष्ठ ४०९ और ४१२।
३. उ० नी० म०। पृ० ४१५। ४. वही, पृ० ४१८। ५. वही, ४२५।
६. वही, पृ० ४३२। ७. वही, पृ० ४३७। ८. वही, पृ० ४४३।

प्रकार रक्तिमा राग के भी कुसुम्भ राग, माञ्जिष्ठ राग—ये दो भेद कर दिए गए हैं। सदा अनुभूत होने पर भी जो राग नित-नवीनता को धारण करे उसे अनुराग कहते हैं।[1] अनुराग की स्थिति में नायक-नायिका दोनों एक दूसरे के वश में रहते हैं तथा इन दोनों में प्रेम की विचित्रता पाई जाती है। अप्राणियों में जन्म-ग्रहण के द्वारा अनुराग की लालसा पाई जाती है। विप्रलम्भ में विशेषतः अनुराग की विस्फूर्ति पाई जाती है। अनुराग ही जब स्वसंवेद्य-दशा को प्राप्त कर लेता है तो उसे भाव कहा जाता है। सभी प्रकार के साधक और सिद्ध भक्तों में यह भाव पाया जाता है।[2] यही भाव जब वृजदेवियों द्वारा संवेदनीय होता है तो उसे महाभाव कहते हैं। महाभाव की स्थिति श्रीकृष्ण की महिषियों के लिए भी दुर्लभ है।[3] इसके भी रूढ़ और अधिरूढ़ नामक दो भेद किए गए हैं। जहाँ सात्विक उद्दीप्त हो उसे रूढ़ कहते हैं। अधिरूढ़ में भी रूढ़ के समान ही अनुभाव रहते हैं पर विशेषतः कामावाप्ति रूप अनुभावों के दर्शन होते हैं। पुनः अधिरूढ़ महाभाव के मोदन और मादन नामक दो भेद कर दिए गए हैं। मोदन का सम्बन्ध राधिका-यूथ से बताया गया है पर मोहन का सम्बन्ध मात्र वृन्दावनेश्वरी (राधिका) से कहा गया है। मोहन की भ्रमात्मकदशा को दिव्योन्माद कहा जाता है। इस दिव्योन्माद के भी अनेक भेद कर लिए गए हैं—उद्‌घूर्णा, चित्रजल्प, प्रजल्प परिजल्पित, विजल्प, उज्वल्प, संजल्प, अवजल्प, अभिजल्पित, अजल्प, प्रतिजल्प, और सुजल्ह। इन सबों के स्वरूप और पार्थक्य का सोदाहरण निरूपण किया गया है। मादन को सर्वभावोद्‌गमोल्लासी, परात्पर, ह्लादिनीसार और केवल राधा में विद्यमान रहने वाला महाभाव कहा गया है।[4] इस मादन महाभाव का सम्बन्ध अनेक लीलाविलासों के साथ प्रतिपादित किया है। इस प्रकार स्थायीभाव के निरूपण में गौड़ीय वैष्णवों ने पर्याप्त मौलिकता प्रदर्शित की है। परम्परागत शृंगार के स्थायीभाव रति को मधुरा रति मान कर उसके अनेक भेदोपभेदों के निरूपण में ही उनकी तात्त्विक मौलिकता है।

मधुर भक्ति रस के भेद--

पूर्वोक्त विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी आदि भावों के द्वारा पुष्ट होकर मधुरा रति नामक भक्तों के हृदय का स्थायी ही मधुर भक्तिरस या उज्ज्वल रस के रूप में परिणत हो जाता है। इस मधुर रस और परम्परागत शृङ्गार में तत्वतः कोई अन्तर नहीं है। केवल श्रीकृष्ण विषयक रति होने के कारण मधुर रति (स्थायी) और उससे निष्पन्न रस मधुरभक्ति रस (शृंगार) कहा गया है। वस्तुतः यह परम्परागत शृंगार की तरह ही दो भागों में विभक्त किया गया है—विप्रलम्भ और सम्भोग। संयुक्त अथवा वियुक्त युवक-युवतियों का पारस्परिक रतिभाव अभीष्ट आलिंगन आदि की अप्राप्ति होने पर विप्रलम्भ शृंगार या विप्रलम्भ मधुर भक्ति-

---

१. उ० नी० म० पृष्ठ ४५४। २. वही, ४५९-४६०।
३. वही, ४६२-४६३। ४. वही, ४९९।

रस के रूप में परिणत होता है। यह विप्रलम्भ सम्भोग का पोषक और उन्नति-कारक है।[1] पुन: विप्रलम्भ के भी चार भेद किए गए हैं—पूर्वराग, मान, प्रेमवैचित्य और प्रवास।

(क) **पूर्वराग**—संगम (मिलन) के पूर्व दर्शन, श्रवण आदि के द्वारा जो रति विकसित होती है, उसे ही पूर्वराग कहते हैं। दर्शन में भी चित्र, स्वप्न आदि का तथा श्रवण में भी दूतीमुख, सखीवक्र, गीत आदि का रूढ़िबद्ध वर्णन किया गया है। रति-जन्म के हेतु जो अभियोग आदि पूर्व वर्णित किए गए हैं, उन्हें पूर्वराग का भी कारण स्वीकार किया गया है। इस पूर्वराग को भी तीन भेदों में विभक्त किया गया है—प्रौढ़, समंजस तथा साधारण। समर्थरति को प्रौढ़ कहा गया है।[2] इसमें परम्परा-गत[3] दशं कामदशाओं की तरह लालसा, उद्वेग, जागर्या, तानव, जडिमा, वैयग्रय, व्याधि, उन्माद, मोह और मृत्यु दश दशाएँ बताई गई हैं। पूर्व राग की प्रौढ़ता के कारण सभी कामदशाओं को भी प्रौढ़ कहा गया है। जिस पूर्वराग में रति सन्तुलित हो (समंजस-रति-स्वरूप) उसे समंजस पूर्वराग कहते हैं। इसकी कामदशाएँ हैं—अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुणसंकीर्तन, उद्वेग, सविलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मृति। जिस पूर्वराग में रति साधारण हो (साधारण-रति-प्राय: साधारण इती-रित: —उ० नी० म०। पृ० ५२३) उसे साधारण पूर्वराग कहते हैं। इसकी काम-दशाएँ मात्र छ: होती हैं—अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुणसंकीर्तन, उद्वेग, सविलाप। रति (प्रेम) की साधारणता के कारण उन्माद, व्याधि, जड़ता और मृति की स्थिति नहीं आती है।

(ख) **मान**—मान का वर्णन वैष्णव रस-शास्त्र में रूढ़िबद्ध पाया जाता है। पर इसे वैष्णवीय भक्तिसाहित्य में अत्यधिक महत्व दिया गया है। डा० सुशीलकुमार डे का कहना है कि वैष्णवीय 'मान' शब्द का अनुवाद अंग्रेजी जैसी समृद्ध भाषा में भी नहीं किया जा सकता है। 'रस' शब्द की तरह 'मान' भी विलक्षण पारिभाषिक शब्द है। प्रेम की इस अवस्था की विचित्रता यह है कि इसमें सुख और दु:ख, भय और आशा, अभिमान और क्रोध, प्रेम और घृणा—ये परस्पर विरोधी भाव मिश्रित रहते हैं। अतएव मान जैसे विचित्र प्रेम-भाव का अनुवाद कठिन है।[4] मान के भी दो भेद किए गए हैं—सहेतु और निर्हेतु। निर्हेतु मान का मोचन तो आसानी से होता है। सहेतु मान के शमन के लिए साम, दान, भेद, उपेक्षा रसान्तर (दूसरे भावों का सहसा उदय, जैसे भय आदि) आदि आवश्यक माने गए हैं। ये शमनोपाय आदि बिलकुल परम्परागत काव्यशास्त्रीय विचारों के समान हैं। फलत: इसमें वैष्णवीय रस-शास्त्र की कोई मौलिकता दृष्टिगोचर नहीं होती है।

---

१ उज्ज्वलनीलमणि, पृ० ५०६-५०७। २. वही, पृ० ५१२।
३ साहित्यदर्पण। ३।१९०। ४. वैष्णव फेथ एन्ड मूवमेन्ट, पृ० १६४

(ग) **प्रेम-वैचित्य**–प्रिय के समीप रहने पर भी प्रेम की उत्कृष्टता के कारण स्वभावतः जब वियोग-भय-अन्य पीड़ा हो तो उसे प्रेम-वैचित्य कहते हैं।[1] इसके भेदोपभेद आदि का वर्णन नहीं किया गया है। यह वैष्णव रस-शास्त्र का नवोद्भावित विप्रलम्भ है। परम्परागत विप्रलम्भ-भेदों में पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण–ये चार भेद पाए जाते हैं।[2] पर उज्ज्वलनीलमणि में रूपगोस्वामी ने तीन भेद तो ज्यों के त्यों ले लिए हैं और करुण को हटा कर उसकी जगह पर प्रेम-वैचित्य की उद्भावना की है। करुण को आपने प्रवास-विप्रलम्भ का ही एक भेद स्वीकार किया है।[3] डा० आनन्दस्वरूप दीक्षित ने रूपगोस्वामी के प्रेम-वैचित्य को विरह-विप्रलम्भ स्वीकार करना चाहा है, (रस सिद्धान्त : स्वरूप विश्लेषण, पृ० २८० राजकमल प्रकाशन)। पर विरह विप्रलम्भ शब्द आपाततः निरर्थक सा प्रतीत होता है। विरह और विप्रलम्भ दोनों लगभग पर्यायवाची शब्द हैं और विरह शब्द की स्पष्टता के अभाव में आपकी यह नवोद्भावना चिन्त्य है।

(घ) **प्रवास**.–पहले से साथ रहने वाले युवा-युवतियों में देशान्तर-गमन के कारण जो व्यवधान पैदा होता है, उसे प्रवास कहते हैं। इस प्रवास के कारण जो विप्रलम्भ होता है उसे प्रवास-विप्रलम्भ कहते हैं। इसके दो भेद हैं–बुद्धिपूर्व और अबुद्धिपूर्व। कार्यवश जब नायक देशान्तर-गमन करता है तो बुद्धिपूर्व कहते हैं। इसके भी तीन भेद किए गए हैं–भावी, भवन् (वर्तमान) और भूत। परतन्त्रता के कारण जो प्रवास होता है उसे अबुद्धिपूर्व कहा गया है। यह भी दिव्य-जन्य, अदिव्य जन्य आदि भेद से अनेक होते हैं। चिन्ता, जागरण, उद्वेग, तानव (तनुता), मलिनांगता, प्रलाप, व्याधि, उन्माद, मोह और मृत्यु–ये इसकी दश दशाएं होती हैं।

कृष्ण और व्रजदेवियों में तो वस्तुतः कभी वियोग होता नहीं है। क्योंकि वृन्दावन में जो कृष्ण की लीला होती है, वह नित्य एवं शाश्वतिक है। मथुरा में कृष्ण ने प्राकृत-लीला की। उस प्राकृत-लीला में (प्रकट लीला) ही विरह की सम्भावना है। उसी को ध्यान में रख कर विप्रलम्भ का विवेचन किया गया है।[4] यों अप्रकट-रूप से तो भगवान कृष्ण सर्वत्र विद्यमान हैं ही। अतएव लौकिक दृष्टि से ही उनके साथ वियोग की कल्पना की जा सकती है, पारमार्थिक दृष्टि से वियोग की कल्पना निराधार एवं निष्प्रयोजन है। जीवगोस्वामी ने उज्ज्वल नीलमणि की लोचन-रोचनी टीका में स्मृति, पद्मपुराण, स्कन्द-पुराण, गोपालतापनी श्रुति आदि अनेक आर्ष भक्ति-ग्रन्थों से उद्धरण देकर यह प्रमाणित करने की चेष्टा की है कि कृष्ण की वृन्दावन-लीला नित्य थी और वहां विप्रलम्भ की (विशेषतः प्रवास विप्रलम्भ की) सम्भावना नहीं की जा सकती है।[5]

---

१ उज्ज्वल नीलमणि। पृ० ५४८। २. साहित्यदर्पण। ३।१८७।
३ उज्ज्वल नीलमणि। पृ० ५५९। ४. उज्ज्वल नील मणि। पृ० ५६०-५६२।
५ जीवगोस्वामी : उज्ज्वल नीलमणि–लोचनरोचनी टीका, पृ० ५६५-५७०।

दर्शन-आलिंगन आदि की अनुकूलता रहने पर नायिका-नायक का उल्लासयुक्त भाव सम्भोग कहा जाता है। इसके भी दो भेद हैं—मुख्य और गौण। मुख्य सम्भोग जाग्रत अवस्था में होता है और गौण सम्भोग स्वप्नावस्था में। मुख्य सम्भोग प्रत्यक्ष होता है और गौण अप्रत्यक्ष। मुख्य सम्भोग के भी पुनः पूर्वराग, मान, प्रवास और दीर्घप्रवास के आधार पर क्रमशः संक्षिप्त, संकीर्ण, संपन्न और समृद्धिमान् ये चार भेद किए गए हैं। पूर्वराग के अनन्तर होने वाला सम्भोग संक्षिप्त है, मान के बाद का सम्भोग संकीर्ण कहा गया है, प्रवास के बाद का सम्भोग संपन्न और दीर्घकालीन प्रवास के अनन्तर के सम्भोग को समृद्धिमान् कहा गया है। इन सभी प्रकार के मुख्य सम्भोगों में समृद्धिमान को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। इसे निर्भरानन्द की परम अवधि माना गया है[1]। पुनः मुख्य सम्भोग के छन्न और प्रकाश ये दो भेद बताए गए हैं। पर इसे स्वयं रूपगोस्वामी ने अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं माना है। स्वप्न के मिलन को गौण सम्भोग कहा गया है। स्वप्न भी दो तरह के होते हैं—सामान्य और विशेष। सामान्य स्वप्न वही हैं जिसे व्यभिचारी में परिणत किया गया है। विशेष स्वप्न जाग्रत अवस्था में ही होता है। इसे महाद्भुत, भावोत्कण्ठा-मय आदि कहा गया है। इस विशेष स्वप्न के भी संक्षिप्त, संकीर्ण, सम्पन्न और समृद्धिमान् ये चार भेद किए गए हैं। प्रेम की प्रगाढ़ता या उत्कण्ठा की अधिकता के कारण जाग्रत अवस्था में भी प्रिय के सपने आते हैं। ऊषा और अनिरुद्ध की प्रेम कथा को साक्ष्य के रूप में लिया जा सकता है। अनेक सिद्ध—पुरुष भी जाग्रत अवस्था में भगवान् कृष्ण के स्वप्न देखते हैं[२]। फलतः गौण सम्भोग के भी कई भेद हो जाते हैं।

अभी तक पांच प्रकार के मुख्य भक्तिरसों का विस्तृत निरूपण वैष्णव रस-शास्त्र (हरिभक्तिरसामृतसिन्धु और उज्ज्वल नीलमणि) के आधार पर किया जा चुका है। इन मुख्य भक्तिरसों में सर्वाधिक महत्त्व मधुरभक्तिरस को दिया गया है। इसी के निरूपण के लिए उज्ज्वल नीलमणि की स्वतन्त्र रूप से रचना की गई है। अब ७ प्रकार के गौण भक्तिरसों की चर्चा की जाती है।

(२) गौण-भक्ति रस

रूप गोस्वामी ने हरिभक्तिरसामृतसिन्धु के उत्तर विभाग में सात प्रकार के भक्तिरसों का, इनकी पारस्परिक मैत्री (रसमैत्री) और इनके विरोधों का तथा रसाभासों का वर्णन किया है। यद्यपि रूपगोस्वामी और गौड़ीय वैष्णव रस-शास्त्र के जीवगोस्वामी प्रभृति अन्य आचार्यों ने भक्तिरस के बारह प्रभेद किए हैं, पर इन लोगों ने स्पष्टतः स्वीकार किया है कि पुराणादि में मुख्य भक्तिरस पांच ही बताए

---

१. उज्ज्वल नीलमणि। पृ० ५७५। २. वही पृ०—५९३।

गए हैं[1] । हास्य, उत्साह आदि मुख्य भक्तिरसों के व्यभिचारी हो सकते हैं । वस्तुत: ये सात गौण भक्तिरस परम्परागत हास्य, वीर आदि रसों को भक्तिरस में अन्तर्भूत करने की दृष्टि से ही माने गए हैं । पूर्वोक्त पांच मुख्य रसों में शान्त भक्तिरस और मधुर भक्तिरस ये दोनों ही परम्परागत शान्त और शृंगार नामक शास्त्रीय रसों के आध्यात्मिक रूपान्तर थे; पर हास्य, वीर, रौद्र, भयानक, बीभत्स और अद्भुत ये सात सर्वमान्य परम्परागत रस भक्ति में अन्तर्भुक्त होने से वंचित रह गए थे । अत-एव इन्हें गौण भक्तिरसों के अन्तर्गत रखने की योजना की गई । ये सात रस गौण इसलिए कहे गए हैं कि भक्ति साहित्य में कदाचित ही ये उपस्थित होते हैं तथा इनके आधार अनियत हैं[2] । मुख्यत: वे पांच मुख्य रस ही भक्तिसाहित्य में अनुभूत होते हैं । ये सात गौण रस तभी भक्तिरस कहलाते हैं जब इनका स्थायीभाव कृष्ण-रति होता है । कृष्ण-सम्बन्ध के बिना ये भक्ति रस की कोटि में नहीं आ सकते हैं । यों सामान्यत: हास्य, उत्साह क्रोध आदि प्राकृत रसों के स्थायी अथवा उनसे निष्पन्न हास, वीर, रौद्र आदि रसों की कोई अपेक्षा कृष्ण-भक्ति को नहीं है; पर जब किसी न किसी रूप में कृष्ण-रति के साथ इनका सम्बन्ध हो जाता है, तो इन्हें क्रमश: हास्यभक्तिरस, वीरभक्तिरस, रौद्रभक्ति रस आदि की पदवी प्राप्त हो जाती है । फिर भी भक्तिरसों में इनका स्थान गौण ही रहता है ।

यद्यपि पांच प्रकार के मुख्य भक्तिरस और सात प्रकार के गौण भक्तिरस माने गए हैं पर तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर भक्तिरस का एक ही भेद होना चाहिए । इसका कारण यह है कि परम्परागत काव्यशास्त्रीय (प्राकृत) रसों की तरह यहां स्थायीभाव अनेक नहीं हैं । भक्तों के हृदय में कृष्ण-रति नामक एक ही स्थायी है जो अपेक्षित आलम्बन-उद्दीपन, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के संयोग से भक्तिरस के रूप में परिणत हो जाता है । फलत: कृष्ण-रति की एकता के कारण मुख्यत: भक्तिरस का एक ही भेद मानना चाहिए[3] । अन्य सभी मुख्य भक्तिरसों और गौण भक्तिरसों का अन्तर्भाव इसी में हो जाता है । पर शास्त्रीय उपचार की दृष्टि से इसके भेदोपभेदों की कल्पना वैष्णवाचार्यों ने भी की है । परम्परागत काव्यशास्त्रीय रस-सिद्धान्त की दृष्टि से भी रस तो अखण्ड है । आनन्द की अखण्डता का समर्थन "रसो वै स:" का उद्घोष करने वाले उपनिषद् युग से ही प्राप्त है । अतएव भक्ति-रस की एकता में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं की जा सकती है ।

गौणभक्तिरस के भेद और अपकरण

गौण भक्तिरस के सात भेद किए गये हैं—हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र,

---

१. (क) ह० भ० र० सि० । द० वि० ।५।९९ । (ख) वही, उत्तर विभाग । ७।९-१० (ग) वही, पश्चिम विभाग । ५।११ ।   २. वही उत्तर विभाग १।३ ।
३. वही । दक्षिण विभाग । ५।९५ ।

भयानक और बीभत्स[1]। इन सबों के आलम्बन-उद्दीपन विभाग, अनुभाव और व्यभिचारी आदि का तथा इनके भेदोपभेदों का निरूपण परम्परागत प्राकृत रस की तरह ही किया गया है। अतएव इनका पृथक् निर्देश अनावश्यक है। इस प्रसंग में हम केवल उन्हीं विषयों की चर्चा कर संतोष करेंगे जहाँ वैष्णव रस-शास्त्र में कुछ नवीनता का समावेश किया गया है। गौण भक्तिरसों के उपकरणों में सदा ध्यान देने की बात केवल इतनी ही है कि इनका सम्बन्ध कृष्ण के साथ किसी न किसी रूप में अवश्य रहना चाहिए। तभी ये गौण रूप में भी भक्तिरस कहला सकते हैं, अन्यथा ये वीर, हास्य, करुण आदि परम्परागत प्राकृत रसों की कोटि में भले ही आ जायं पर भक्तिरस के उपभेद नहीं बनाये जा सकते हैं।

हास्य-भक्तिरस और अद्भुत भक्तिरस में कोई नवीन उद्भावना नहीं की गई है। केवल कृष्ण को आलम्बन मान कर तद्भक्तिसंवालित हास-रति और विस्मय-रतिको क्रमशः हास्यभक्तिरस और अद्भुतभक्तिरस में परिणत किया गया है। वीरभक्तिरस के प्रसंग में वैष्णव आचार्यों ने भी युद्ध वीर, दयावीर, दानवीर और धर्मवीर की योजना की है। पर नवीनता यह है कि इन्होंने कृष्ण के सुहृदों को ही युद्ध का आलम्बन माना है, शत्रुओं को नहीं। सुहृदों को कृष्ण के साथ अनुराग रहेगा और कृष्ण को अपने सुहृदों के साथ। शत्रुओं को युद्ध का आलम्बन मान लेने पर रौद्र–रस की उपस्थिति की समस्या उठ खड़ी होती है[2]। दानवीर के भी कई नूतन भेद किए गए हैं—बहुप्रद और उपस्थितदुरापार्थत्यागी। बहुप्रद दानवीर वह है जो दामोदर (कृष्ण) के सौख्य के लिए अपना सर्वस्व दान कर दे तथा उपस्थित-दुरापार्थत्यागी दानवीर वह कहा गया है जो प्रभु के द्वारा दिए जाने पर भी किसी वस्तु की इच्छा न करे।[3] प्रथम के भी अभ्युदयिक और तत्संप्रदानक नामक दो भेद किए गए हैं। दान के भी दो भेद हैं—प्रतिदान और पूजादान। कृष्ण के अभ्युदय के लिए सर्वस्व दान करने वाला अभ्युदयिक बहुप्रद और अपने को कृष्ण का ममतापात्र जानकर सर्वस्व निछावर करने वाला तत्संप्रदानक बहुप्रद कहा गया है। करुण भक्तिरस के प्रसंग में स्वयं रूपगोस्वामी ने यह प्रश्न उठाया है कि भगवान् के शोक की सम्भावना नहीं की जा सकती है, यों हास आदि का उद्गम तो स्वीकार किया जा सकता है[4]। कारण यह है कि भगवान् को स्वरूपभूत-भगवत्ताविशिष्ट परमानन्दस्वरूप माना गया है फिर उसमें शोक के उदय की कल्पना कैसे की जा सकती है ? यह भी नहीं कहा जा सकता है कि अविद्या के कारण कृष्ण के ऐश्वर्य का भक्तों को मान ही नहीं होता

---

१. हरिभक्तिरसामृतसिन्धु। द० वि०। ५।९७-९८। २. वही, उ० वि० ल० ३। १२-१३।
३. वही, उत्तर विभाग ३। १५ और २३।
४. वही, । ४।९।

है और वे प्राकृतजनों की तरह भगवान् कृष्ण में भी शोक की सम्भावना करने लगते हैं। सच्ची बात तो यह है कि भक्तगण (सहृदय-स्थानापन्न रसास्वादयिता या प्रमाता) प्रेमोत्तररस-विशेष के कारण अर्थात् प्रेमाधिक्य के कारण लीला-विशेष के प्रसंग में कृष्ण को संकटापन्न स्थिति में देखकर उनके सम्बन्ध में भी शोक करने लगते हैं और ऐसे अवसर पर उन्हें करुण-भक्तिरस की अनुभूति होती है। स्पष्टता के लिए कालिय-नाग-दमन प्रसंग को रूपगोस्वामी ने उदाहृत किया है। कृष्ण की इसी संकटापन्न और आशंकोत्पादक स्थिति में भक्तों को करुणरस का आस्वाद होता है। यह शोक या करुणा प्रेमाधिक्य के कारण ही होती है, अज्ञानता (अविद्या) के कारण नहीं। रौद्रभक्तिरस के निरूपण में एक नवीनता यह है कि कृष्ण, हित और अहित ये तीन आलम्बन माने गए हैं और सखी और जरती के क्रोध के विचार से इसका दो रूपों में वर्णन किया गया है। इनके अतिरिक्त, इन सात गौणभक्तिरसों में परम्परागत हास्यादि सात रसों की अपेक्षा कोई विशेष अन्तर नहीं है।

भक्ति-रस-मैत्री और भक्ति रस-विरोध

परम्परागत रसों की तरह भक्ति-रसों की भी पारस्परिक मैत्री और वैर बताये गये हैं। कभी-कभी दो या दो से अधिक रसों का आश्रय एक ही व्यक्ति होता है। ऐसी स्थिति में वे रस ही एक साथ रह सकते हैं जो मित्र-रस हैं। परिपन्थि रस कभी एक साथ नहीं रह सकते हैं। जब अनेक रस एक साथ मिलते हैं तो उनके मिलन में तुलाधृत साम्य असम्भव है, अतएव उनमें से कोई एक रस तो अंगी हो जाता है और अन्य रस उसके अंगभूत होते हैं।[1] मुख्य अथवा गौण कोई भी भक्ति-रस अंगी हो सकता है, पर उसके अंग के रूप में उन्हीं रसों को रखना चाहिए जो उसके सुहृद् हों। एतादृश अनेक रसों के मिश्रण किए जाने पर ही रस का सम्यक् आस्वाद होता है, अन्यथा नहीं।[2] इसी प्रकार कुछ रस ऐसे भी हैं जो परस्पर-विरोधी हैं। वे शत्रु-रस कहलाते हैं। वैरी रसों का एकत्र समावेश नितान्त कठिन है। वैरी रसों के एक साथ रहने पर भक्तिरस का आस्वाद कदापि नहीं हो सकता है बल्कि वैरस्य (नीरसता) का अनुभव उसी तरह होने लगता है जैसे पानक के आस्वादन के समय क्षार और तिक्त आदि विरोधी स्वादों का आस्वाद असह्य होता है।[3] नीचे भक्तिरसामृत सिन्धु के आधार पर मित्र और शत्रु रसों की एक तालिका दी जाती है।[4] जो रस न मित्र हैं और न शत्रु ही, वे तटस्थ रस कहलाते हैं। ऐसे रसों के मिश्रण से न आस्वाद में कोई विशेषता ही आती है और न फीकापन ही।

रसों के नाम	उनके मित्ररस	उनके शत्रुरस
(१) शान्त-भक्तरस	प्रीत, बीभत्स, धर्मवीर, अद्भुत	मधुररस, युद्धवीर, रौद्र, भयानक

१. ह० भ० र० सि० । उ० वि० । ल० ८ । १६-१७ । २. वही । ८।१५
३. वही ।८।२८ । ४. वही ।८।१-१५ ।

	(२)	प्रीत-भक्तरस	बीभत्स, शान्त, धर्मवीर, दानवीर	मधुर, युद्धवीर, रौद्र
मुख्य	(३)	प्रेयान-भक्तिरस	मधुर, हास्य, युद्धवीर	वत्सल, बीभत्स, रौद्र, भयानक
	(४)	वत्सल-भक्तिरस	हास्य, करुण, भयानक	मधुर, युद्धवीर, प्रीत, रौद्र
	(५)	मधुर-भक्तिरस	हास्य, प्रेयान्	वत्सल, बीभत्स, शान्त, रौद्र, भयानक
गौण	(६)	हास्य-भक्तिरस	बीभत्स, मधुर, प्रेयान, वत्सल	करुण, भयानक
	(७)	अद्भुत-भक्तिरस	वीर, पाँच मुख्य रस	रौद्र, बीभत्स
	(८)	वीर-भक्तिरस	अद्भुत, हास्य, प्रेयान्, प्रीत	भयानक और शान्त
	(९)	करुण-भक्तिरस	रौद्र, वत्सल	हास्य, सम्भोग, शृंगार(मधुर), अद्भुत
	(१०)	रौद्र-भक्तिरस	करुण, वीर	हास्य, मधुर, भयानक
	(११)	भयानक-भक्तिरस	बीभत्स, करुण	वीर, शृंगार, हास्य, रौद्र
	(१२)	बीभत्स-भक्तिरस	शान्त, हास्य, प्रीत	मधुर, प्रेयान् ।

रस-मैत्री के कारण ही एक भक्त में अनेक भक्ति-रसों की धारा प्रवाहित होती है। और उन्हें मिश्रित भक्ति-रस का विलक्षण आस्वाद होता है। जैसे, सख्य, प्रीत (दास्य) और वात्सल्य भक्तिरस वलराम में पाए जाते हैं. वात्सल्य और सख्य युधिष्ठिर तथा भीम में तथा सख्य और प्रीत (दास्य) अर्जुन, उद्धव, नकुल और सहदेव में। इसी प्रकार भक्तों को भी देखा जा सकता है।

भक्तिरसाभास

परम्परागत काव्य शास्त्र की अपेक्षा रसाभासों के क्षेत्र में वैष्णव साहित्य-शास्त्र ने अत्यधिक मौलिकता प्रदर्शित की है। अनौचित्य-प्रवर्तित रसों को काव्य-शास्त्र में रसाभास कहा गया है। पर वैष्णवों ने रसाभास के दो कारण माने हैं:—(१) अंगहीनत्व (२) अंगवैरूप्य। रस के अंग हैं विभाव, अनुभाव आदि। इन रसोपकरणों में जब किसी तरह की हीनता (कमी) या विरूपता आती है तो उन तथा-कथित रसों को रसाभास कहा जाता है। इस प्रकार भक्तिरस के जितने भी १२ भेद हैं उतने ही रसाभास भी होंगे।

इन सभी रसाभासों को पुन: तीन वर्गों में बांट दिया गया है—(१) उपरस (२) अनुरस और (३) अपरस। इन्हें क्रमश: उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ भी कहा गया है। जिन रसाभासों के विभाव, अनुभाव और स्थायीभाव विरूपता-प्राप्त होते हैं,

वे 'उपरस' हैं, जैसे निर्जीव पदार्थों (लता, पुलिन्द, पशु आदि) में कृष्ण-रति का वर्णन करना आदि। जहां विभावादि कृष्ण-सम्बन्ध वर्जित हों वहां अनुरस माना गया है। इस दृष्टि से सभी लौकिक नायक-नायिका—विषयक रस 'अनुरस' के अन्तर्गत आ जायेंगे। अपरस ऐसे रसों को कहा गया है जिनका अस्तित्व कृष्ण-विपक्षी जनों (कंस आदि) में बताया गया हो।[1]

निष्कर्ष:—

गौड़ वैष्णवीय रस-शास्त्र के जिन दो प्रमुख ग्रन्थों (हरि भक्तरसामृतसिन्धु और उज्ज्वल नीलमणि-रूपगोस्वामी) की अधिकांशतः ऊपर मैंने चर्चा की है, उसमें पाण्डित्य का प्रदर्शन अधिक पाया जाता है। उस युग में बंगाल नव्य न्याय के आतंक से छाया हुआ था, अतएव वैष्णव भक्ति-शास्त्र भी उस प्रभाव से अछूता नहीं रह सका। यही कारण है कि भक्ति-रस के निरूपण में भी बाल की खाल निकाली गयी है। भक्ति-रस में सभी परम्परागत रसों को गतार्थ करने का दुराग्रह तो है ही, साथ ही उन्हें सिद्ध करने के लिए दुराग्रहणपूर्ण तर्कों का भी सहारा लिया गया है। इसके अतिरिक्त, इन ग्रन्थों में विवेचन कम है, विश्लेषण ज्यादा। रस के प्रत्येक उपकरण और भेद को अनेक उपभेदों में बांटने की प्रवृत्ति युक्ति-संगत रहते हुए भी कभी कभी हास्यास्पद-सी लगती है। वस्तुतः इस विश्लेषण के मूल में पाण्डित्य-प्रदर्शन की भावना ही निहित है। प्रत्येक स्थल में नवीनता का समावेश, किसी न किसी रूप में, करने की चेष्टा की गई है। इस नवीनता के लोभ में पाठकों की बौद्धिकता एवं धर्य की सीमा का ध्यान भी नहीं रखा गया है। फिर भी इनके अखण्ड काव्यशास्त्रीय ज्ञान की भूरि-भूरि प्रशंसा तो करनी ही होगी।

बैष्णवीय रस शास्त्र के मुख्य आधार कतिपय पुराण और भक्ति-ग्रन्थ हैं। पर जिन परम्परागत काव्यशास्त्रीय रसों का अन्तर्भाव भक्ति-रस में किया गया है, उनके सिद्धान्तों और उद्धरणों को अत्यल्प मात्रा में प्रस्तुत किया गया है। किसी भी आलोचक के लिए यह स्पृहणीय है कि वह आलोच्य विद्वान् के मत को पूर्वपक्ष के रूप में पहले पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करे और तदनन्तर अपनी नवीन मान्यता से उसे आक्रान्त करे। इस दृष्टि से देखने पर गौड़ीय रस-शास्त्र में एक महान् त्रुटि मिलेगी। उनके उद्धरणों का यदि लेखा-जोखा कर के देखा जाय तो यह बात नितान्त स्पष्ट हो जायगी। हरिभक्तरसामृतसिन्धु में लगभग ४०० उद्धरण आए हैं तथा उज्ज्वलनीलमणि में भी लगभग २५० उद्धरण हैं। पर ये सारे उद्धरण विविध स्रोतों के रहते हुए भी मुख्यतः श्रीमद्भागवत्, पद्म और स्कन्द पुराणों से, लीलाशुक के श्रीकृष्णकर्णामृत, कुलशेखर की मुकुन्दमाला, जयदेव के गीतगोविन्द तथा रूपगोस्वामी

---

१. हरिभक्तिरसामृतसिन्धु। उ० वि०। ९।३, २० और २२।

एवं जीवगोस्वामी प्रणीत धार्मिक नाटकों एवं काव्यों से ही संकलित किए गए हैं।[1] लौकिक संस्कृत के अन्य परम्परागत काव्यग्रन्थों और लक्षण-ग्रन्थों के अत्यल्प उद्धरण उपलब्ध होते हैं। लक्षण-ग्रन्थों का यदि हिसाब करके देखा जाय तो बड़ी निराशा होती है। समस्त ह० भ० र० सि० में मात्र आपने एकबार भरत के नाट्यशास्त्र का, एक बार धनंजय के दशरूपक का, एक बार शिंगभूपाल के रसार्णवसुधाकर का तथा एक बार विश्वनाथ के साहित्यदर्पण का (बिना नाम दिए हुए) सोद्धरण उल्लेख किया है। क्या इतने में ही संस्कृत का सुविशाल काव्य-शास्त्र (भरत से जगन्नाथ पर्यन्त) सन्निहित है ? यदि नहीं, तो फिर परम्परा-मान्य रस-सिद्धान्त में क्रान्तिकारी परिवर्तन की चाह रखने वाले वैष्णवाचार्यों को समस्त काव्य-शास्त्र के प्रतिनिधि लक्षण-कर्त्ताओं की मान्यताओं को सामने रखकर छीछालेदर समीक्षा करनी चाहिए थी। फिर भी वैष्णव-रसशास्त्र के ये दोनों प्रमुख ग्रन्थ अपने आप में विश्वकोष हैं और इनके विद्वतापूर्ण सूक्ष्म विश्लेषण और गरिमा की जितनी भी प्रशंसा कीजाय, थोड़ी है।

गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के रस-सिद्धान्त में सर्वाधिक विवेचनीय विषय यह है कि पहले भक्ति को एक स्वतन्त्र रस माना जाय या नहीं ? यदि उसे हम अन्य रसों की तरह एक स्वतन्त्र रस मान भी लें तो क्या उसे इतनी व्यापकता प्रदान की जाय जिससे अन्य सभी रस उसी में अन्तर्भूत होकर उसके भेदमात्र रह जांय ? साथ ही इस विषय का भी निर्णय कर लेना होगा कि वैष्णव रस-शास्त्र के सिद्धान्त सर्वसामान्य काव्य-पाठकों को ध्यान में रखकर प्रवर्तित किए गए हैं अथवा केवल उन पाठकों को जिनके तन-मन भक्ति के मंजीठे रंग से बेतरह अनुरंजित हैं ? एक दूसरी समस्या भी स्वतः उठ खड़ी होती है कि यदि परम्परा से भाव मात्र मानी जाने वाली भक्ति को हम वैष्णवाचार्यों के पूर्वाग्रह के कारण एक अखण्ड रस मान भी लें तो फिर भक्ति जैसे अन्य अनेक भावों को हम किस कोटि के अन्तर्गत रक्खें ? अन्यथा पक्षपात का दोषारोपण हमारे विवेचन पर होगा। इस प्रकार अनेक दृष्टियों और पहलुओं से भक्ति-रस-साहित्य के विवेचन की अपेक्षा बनी है। इस प्रसंग में हम उन्हीं का विचार कर लेना आवश्यक समझते हैं।

सबसे पहले हमें इस प्रश्न को लेना चाहिए कि भक्ति एक स्वतन्त्र (अखण्ड) रस है या नहीं अथवा यह एक भाव (संचारी या व्यभिचारी) मात्र है ? यह ठीक है कि परम्परागत काव्य-शास्त्र में इसे रस की संज्ञा नहीं दी गई है। पर पण्डितराज जगन्नाथ ने 'रसगंगाधर' में इसकी रस-रूपता सिद्ध करके भी परम्परागत अनुमोदन नहीं रहने के कारण इसकी ओर आंख मूँद ली है। साथ ही वैष्णव रस-शास्त्र के समर्थकों ने भक्ति-काव्य के अनेक उद्धरण प्रस्तुत करके यह सिद्ध कर

---

१. वैष्णव फेथ एन्ड मूवमेन्ट इन बंगाल। पृ० १५१-१५३ और १६६-१६७।

दिखाने की युक्तियुक्त चेष्टा की है कि भक्ति एक स्वतन्त्र रस है, जैसे अन्य परम्परागत आठ या नौ रस हैं। ऐसी स्थिति में मात्र परम्परागत शास्त्रीय समर्थन नहीं रहने का कारण भक्ति को रस नहीं मानना युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता है। हम यह भलीभांति जानते हैं कि काव्य-शास्त्र या कोई अन्य शास्त्र सदा परिवर्तनशील एवं विकासशील रहा है। काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में किसी नई मान्यता को पनपने या फटकने नहीं देना उसके विकास पथ को अवरुद्ध करना है। स्वयं प्राचीन आचार्यों ने (जिन्हें हम आदर्श एवं ऋषि-तुल्य समझते हैं) अपने पूर्वजों की ज्ञानाधारशिला पर नए-नए काव्य-सिद्धान्त के स्तूप खड़े किए हैं। इसका यह अर्थ कदापि नहीं होता है कि इन्हें अपने पूर्वज आचार्यों के लिए सम्मान का भाव नहीं था। सच पूछिए तो खण्डन-मण्डन के माध्यम से ही भारतीय एवं विदेशी सुविशाल काव्य-शास्त्र का विकास हुआ है। भारतीय काव्य-शास्त्र के आदि आचार्य भरत ने अलंकारवाद, रीतिवाद, ध्वनिवाद, वक्रोक्तिवाद आदि मान्य-अमान्य सिद्धान्तों की स्थापना तो नहीं की थी, फिर उनके परवर्ती समीक्षकों एवं विद्वानों ने इन सिद्धांतों का प्रतिपादन क्यों कर किया तथा इन्हें आंशिक अथवा पूर्ण मान्यता क्यों मिली? जब हमारे भास्कराचार्य अथवा किसी अन्य चूड़ान्त ज्योतिर्विद ने यह बताया कि धरती 'अचला' है और सूर्य चल रहा है (सरति इति सूर्यः) तो आज हम यह क्यों मानने लगे हैं कि सूरज स्थिर है और पृथ्वी उसकी परिक्रमा करती है? इसी प्रकार ज्ञान-विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में सदा ही सिद्धातों और विचारों में हेर-फेर होते रहे हैं। फिर काव्य-शास्त्र में ही अतीत-श्रद्धा के कारण परिवर्तनशील विकास-पथ को क्यों अवरुद्ध कर दिया जाय?

कुछ आलोचनों ने भक्ति-रस के सम्बन्ध में यह भी आपत्ति उठाई है कि 'भगवद्विपया रति' मूल-भावना (मनोवृत्ति) नहीं है। इसका खण्डन करते हुए डा० आनन्द-प्रकाश दीक्षित ने कहा है कि साहित्य के क्षेत्र में मनोविज्ञान ज्यों का त्यों लागू नहीं किया जा सकता। शोक मूल भावना न होते हुए भी करुण-रस के स्थायी रूप में अस्वीकृत नहीं किया जा सकता और करुण रस की उपेक्षा नहीं की जा सकती।[1] पर मैं डा० दीक्षित जी के इस तर्क से पूर्णतः सहमत नहीं हूं। यदि आप रति, हास्य, उत्साह, क्रोध आदि को मूलभावनाएं मानने के लिए तैयार हैं तो फिर शोक भी उन्हीं की तरह एक मूल-भावना है, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता है। बचपन से ही मनुष्य प्रिय वस्तु की अप्राप्ति अथवा नाश के कारण शोक का अनुभव करता पाया जाता है। एक छोटे से बच्चे को भी अपने प्रिय-जनों की मृत्यु अथवा विश्लेष के कारण फूट-फूट कर रोते देखा है और इसी प्रकार युवकों और बूढ़ों को भी। शोक मानव-मन की शाश्वतिक एवं स्थायी प्रवृत्तिहै, इसे संचारी कहकर टाला

---

१. डा० आनन्द प्र० दीक्षित : रस-सिद्धान्त : स्वरूप–विश्लेषण। पृ० २८३।

नहीं जा सकता। मनोविज्ञान की सहजवृत्तियों से मिलाकर देखें तो भारतीय काव्य-शास्त्र के सभी (नौ) स्थायीभाव खरे उतरते हैं। फिर शोक के सम्बन्ध की पूर्वोक्त आपत्ति युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होतीहै। यों शोक-नामक स्थायी वृत्ति भूख, प्यास और काम-वासना की तरह उत्कट नहीं है। यह स्पष्ट है कि बच्चे के पैदा होने के चार दिनों के बाद यदि उसकी मां मर जाय तो वह शोक में रोएगा नहीं, पर भूख के कारण वह पैदा होते ही रोने लगता है। अतएव भूख-जैसी स्थायी प्रवृत्ति शोक नहीं है। पर दूसरी दृष्टि से देखिए तो वुभुक्षा के मूल में भी शोक ही है। भूख और प्यास के शमन नहीं होने पर हर नव-जात शिशु रोता ही है, हंसता क्यों नहीं है? यही कारण है कि भवभूति ने मात्र शोक को प्रबलतम स्थायी मानकर, 'एको रसः करुण एव' की कल्पना की थी और अन्यरसों को उसी के रूपान्तर माने थे। ऐसी स्थिति में शोक के अस्थायिभावत्व के आधार पर भगवद्विषया रति की भक्ति-रस-परिणति के समर्थक डा० दीक्षित से मैं नम्रतापूर्वक मत-भेद प्रकट करता हूं।

भक्ति-रस का स्थायीभाव भगवद्विषया या कृष्ण-विषया या राम-विषया (जो भी कहें) रति है। यह मानव-मन की मूलभावना है। इसके साक्ष्य में मानव-जाति के इतिहास को प्रस्तुत किया जा सकता है। आरम्भ में मनुष्य ने जगत् की विशालता और प्रकृति के कोप (भूकम्प, झंझा, वृष्टि आदि) से विस्मय-विमुग्ध होकर किसी अज्ञात देव की कल्पना की। फिर भिन्न-भिन्न वैदिक और पौराणिक देवों की कल्पना आई। उन्हीं के चरणों में प्रणति एवं भक्ति का निवेदन कर श्रेय एवं प्रेय की सिद्धि करना मनुष्यों ने अपना अभीष्ट बनाया। इस प्रकार क्रमशः भक्ति-साहित्य का विकास हुआ। आज भी अधिकांश मनुष्य सुख-दुख में ईश्वर को पुकारते पाये जाते हैं। जो ऐसा नहीं करते हैं, वे अपने प्राकृतिक रूप को खोकर कृत्रिम-सभ्यता के आवरण से आवृत हैं। अतएव भगद्विषया रति एक मूल-भावना होने के कारण भक्ति-काव्य के पाठकों का स्थायीभाव बन सकती है। इस समस्या का समाधान एक दूसरे ढंग से भी किया जा सकता है। रति (प्रेम करने की प्रवृत्ति) मानव-मन की मूल-भावना है, पर यह सामाजिक सम्बन्धों की विविधता के कारण अनेक रूप धारण करती है और भगवान् विषयक होने पर भगवद्विषया रति नाम से अपना पृथक स्थान बना लेती है। इस रति से निष्पन्न रस को शृङ्गार नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि शृङ्गार शब्द का प्रयोग अत्यन्त संकुचित अर्थ में होता आया है (केवल भोज, और उनके जैसे दो-अन्य आचार्यों के दृष्टिकोणों को छोड़कर)। अतःशृंगार के अन्तर्गत भक्ति, वात्सल्य, राष्ट्रप्रेम आदि का समावेश नहीं किया जा सकता है। फलतः रति ही भगवान के साथ सम्बद्ध होकर भगवद्विषया रति नामक एक विशेष स्थायी-भाव का रूप धारण करती है और वही अपने विभावादियों के सम्पर्क के कारण भक्तिरस में परिणत हो जाती है। आधुनिक मनोविज्ञान के मूर्धन्य आचार्य फ्रायड भी सेक्स इंसटिक्ट (रति) को प्रबलतम मानते हैं। उनका यह सेक्स इंसटिक्स

अत्यन्त व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसकी विविधताओं में भगवद्विषया रति को भी समेट लें तो कोई विशेष आपत्ति नहीं होनी चाहिए। भले ही आपाततः यह एक अतिवाद-जैसा मालूम हो।

भक्ति की रस-रूपता को मान लेने के पश्चात् दूसरा प्रश्न यह आता है कि भक्ति को एकमात्र रस मानकर अन्य सभी परम्परागत रसों का इसमें अन्तर्भाव कहां तक न्याय्य है ? मेरी दृष्टि में गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदाय की यह अतिवादिता है। मुझे यह बात समझ में नहीं आती कि विश्व के विविध साहित्यों में क्या केवल कृष्ण या भगवान् की लीलाओं का ही गान किया गया है या और कुछ ? यदि "और कुछ" का गान किया गया है तो उन सर्व-साधारण हाड़ मांस के पुतलों से सम्बद्ध कविताओं में भक्ति-रस का आस्वाद कैसे किया जाय ? पाठकों को उन स्थलों में भी रसानुभूति (आनन्दानुभूति) होती है, इसे इन्कार तो नहीं किया जा सकता है। साथ ही, उसकी विविधताएं भी स्पष्ट हैं। फलतः परम्परागत शृङ्गार, वीर, करुण आदि रसों का अन्तर्भाव "भक्ति" में करना अतिवादिता ही नहीं, वास्तविकता से विमुख होना है। भगवान् की लीला में विविधताओं को देखते हुए भक्ति-रस को मुख्य और गौण तथा इनके अवान्तर्भेदों को मिला कर द्वादश भेदोपभेदों में बांट देने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है। इन बारह भेदों में भी मूलतः भक्ति-रस का ही आस्वाद होता है चाहे उसे आप मधुर भक्ति कहें या वत्सल भक्ति अथवा भयानक भक्तिरस कहें या अद्भुत भक्तिरस। इन सबों में भक्त-पाठकों को भक्तिरस की अनुभूति होती है इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता और अनुभूति की औपादानिक भिन्नता के कारण इसे अनेक भेदों में बांट देने में भी मैं कोई विप्रतिपत्ति नहीं देखता हूं।

डा० दीक्षित-भक्ति-रस को तो स्वीकार करते हैं पर उसके भेदों में उन्हें गड़बड़ी दिखाई देती है[1]। आपका कहना है कि विद्यापति, घनानन्द, सूर, तुलसी आदि कवियों के भक्ति-काव्यों में जहां विशुद्ध आत्म–निवेदन के पद हैं, वहां तो भक्तिरस का आस्वाद सर्वमान्य पाठकों को होता है पर अन्य स्थलों में नहीं। उदाहरण के लिए विद्यापति की नचारियों में भक्तिरस का आस्वाद तो होता है पर दूती, नोंकझोंक, नखशिख आदि वर्णनों में राधा-कृष्ण का नाम रहने पर भी शृङ्गार (लौकिक, आध्यात्मिक नहीं) का ही आस्वाद होता है। पर मेरी दृष्टि में भक्त-पाठकों को यहां मधुर-भक्तिरस का आस्वाद होता है। यही कारण है कि चैतन्य महाप्रभु इन गीतों को गाकर भक्ति-बेसुध हो जाया करते थे। यह ठीक है कि उनके मन पर भक्ति का मीटर लगा हुआ था और इसी कारण ऐसे स्थलों में भी भक्ति-रस का आस्वाद होता था पर साधारण पाठकों के लिए यह कठिन है। इस प्रसंग

१. डा० आनन्द प्र० दीक्षित : रस-सिद्धान्त : स्वरूप–विश्लेषण पृ० २८३।

में मेरा निवेदन है कि भक्ति-रसास्वाद के लिए पाठकों के हृदय में भक्ति-सम्बन्धी रति-वासना अपेक्षित है। आत्म-निवेदन-परक पदों में भी भक्ति की अनुभूति उन्हें ही होती है जिनके हृदय में भगवद्विषया रति विराजमान है। जो पाठक ईश्वर और उनकी विभूति (ऐश्वर्य) तथा लीलाओं के विषय में सन्दिग्ध हैं अथवा इन्हें मानते ही नहीं हैं, उन्हें तो इन विशुद्ध आत्मनिवेदन परक भक्तिगीतों में भी भक्ति-रस का आस्वाद नहीं होता है। यदि उन्हें रसानुभूति होती भी है तो हास्य-रस की या ज्यादा से ज्यादा करुण-रस की। हास्य की इसलिए कि वे नास्तिक पाठक उन आत्म-निवेदक कवियों की मूर्खता पर हंसते हैं और करुण की अनुभूति इसलिए होती है कि वे उनकी दयनीय दशा पर शोक का अनुभव करते हैं। फलतः जिन पाठकों के हृदय में भगवद्विषया रति (भक्ति) विद्यमान है तथा ईश्वर के प्रति श्रद्धा और विश्वास है, उन्हें आत्मनिवेदन-परक भक्तिकाव्यों में तो भक्ति-रस की अनुभूति होती ही है बल्कि भगवान् की लीला के अन्य रूपों में भी जहां शृङ्गार, भय, विस्मय, आदि का पुट है, वहां भी भक्ति-रस के विविध भेदों की अनुभूति होती है।

भक्ति-रस के आस्वादयिता सहृदय पाठकों का भी विचार कर लेना आवश्यक है। अन्य परम्परागत लौकिक रसों के अधिकारी वे पाठक माने गए हैं जिन्होंने काव्य के निरन्तर अनुशीलन और अभ्यास के कारण अपने हृदय-दर्पण को विशद बना लिया है तथा काव्यगत वर्ण्य विषय में तन्मय होने की योग्यता हासिल कर ली है। ऐसे पाठकों को ही अभिनवगुप्त ने सहृदय कहा है[1]। पर भक्ति-रस के आस्वाद के लिए केवल सहृदयता ही अपेक्षित नहीं है। इसके अतिरिक्त भक्ति की भी अपेक्षा है। भक्ति के अधिकारियों का विशद विवेचन भक्ति-रस-शास्त्र में किया गया है[2]। ज्ञान, वैराग्य, भगवान के अस्तित्व और उनकी लीलाओं में अखण्ड विश्वास और श्रद्धा के परिणामस्वरूप हृदय में भक्ति का उदय होता है। यों मूलभावना बीज के रूप में तो निहित रहती ही है; पर उसका उद्रेक ज्ञान, वैराग्य और श्रद्धा तथा विश्वास से ही होता है। कहने का तात्पर्य यह कि भक्ति-युक्त सहृदयों को भक्ति-काव्यों में भक्ति-रस का आस्वाद होता है। ऐसे पाठक भक्ति-रस की विविधताओं का भी (जिनका उल्लेख वैष्णव-रस शास्त्र में किया गया है) आस्वाद कर सकते हैं। पर सर्वमान्य काव्य के सहृदय पाठक अधिक से अधिक मुख्य चार प्रकार के भक्तिरसों का (मधुर भक्ति को छोड़कर) आस्वादन कर सकते हैं क्योंकि भक्ति-रस वैसे स्थलों में अत्यन्त उत्कट या घनीभूत रहता है। ऐसे पाठकों को गौण-भक्ति-रस का या मधुर-भक्तिरस का आस्वाद इसलिए नहीं होगा कि भक्ति के अभाव में

---

१. अभिनवगुप्त—अभिनवभारती।

२. भक्तिरसामृतसिन्धु। पूर्व विभाग। द्वितीय लहरी (सम्पूर्ण)।

उनका ध्यान लौकिक शृङ्गार, वीर, रौद्र, भयानक आदि रसों की ओर ही उन्मुख होगा। महाकवि कालिदास के कुमार संभव में शंकर और पार्वती के उद्दाम शृङ्गार-चित्रण को पढ़कर सामान्य सहृदय पाठकों को सम्भोग शृङ्गार का आस्वाद होता है, पर शैव भक्तों को वहां भी सम्भोग मधुर-भक्ति रस का आस्वाद हो सकता है और होता है। इसी प्रकार विद्यापति की नचारियों में किम्बा वन्दना के गीतों में सामान्य सहृदय पाठकों को भी भक्ति-रस की अनुभूति होती है पर राधा-कृष्ण से सम्बद्ध मिलन और विरह के अधिकांश गीतों में केवल तदीय भक्तजनों को ही भक्ति-रस की अनुभूति होगी। अतएव गौड़ वैष्णवीय भक्ति-रस-शास्त्र पाठकों के वर्ग-विशेष के लिए भले ही पूर्णतः समीचीन हो, पर अन्य जनों के लिए अंशतः उपादेय है।

देवादि-विषया रति को प्राचीन आचार्यों ने भाव कहा है[1]। आदि शब्द को स्पष्ट करते हुए मम्मट ने मुनि, गुरु, नृप, पुत्र—आदि विषयारति बताई है[2]। इनमें से देव विषयक रति को भक्ति-रस मान लिया गया है। इसी प्रकार पुत्र-विषयक रति को भी वात्सल्य रस की संज्ञा प्राप्त हो गई है। मुनि और गुरु विषयक रीति के आधार पर अत्यल्प साहित्य रचा गया है। अतएव कोई जवर्दस्त समस्या नहीं है। प्राचीन प्रबन्धकाव्यों में व्यास और वाल्मीकि प्रभृति कवि-गुरुओं की तथा अन्य दीक्षा गुरुओं की भी वन्दना पाई जाती है, तथापि आज के युग में मुनि और गुरु के प्रति भक्ति रखने वालों की संख्या की अत्यल्पता के कारण उसे भाव ही मानना चाहिए। जिनके हृदय में इनके प्रति भी अटूट प्रेम, श्रद्धा और भक्ति है, उन्हें रसास्वाद से वंचित तो नहीं किया जा सकता है पर इसे भक्ति-रस का ही कोई भेद मान लेना श्रेयस्कर होगा। आज की सबसे बड़ी समस्या है राष्ट्र-प्रेम से ओत-प्रोत कविताओं की। नृप-विषयक रतिभाव का युग तो आज लद गया और न वैसी कविताएं ही आज लिखी जाती हैं। पर नृप का स्थान आज राष्ट्र ने ले लिया है और राष्ट्र-सम्बन्धी काव्य की विपुलता को देखते हुए 'राष्ट्र-प्रेम" या राष्ट्र-विषया रति को भाव माना जाय या उसे एक स्वतन्त्र रस माना जाय—यह एक ध्यानपूर्वक विचारणीय प्रश्न है। जैसे भक्ति-साहित्य की विपुलता और भक्तों की तन्मयता ने वैष्णवाचार्यों को भक्ति-रस मानने के लिए बाध्य किया था, उसी प्रकार राष्ट्रीय काव्य की श्रेष्ठता, विपुलता और राष्ट्र-प्रेमियों की एकतानता आज राष्ट्र-भक्ति-रस मानने को बाध्य कर रही है। प्रसाद, पन्त, निराला, मैथिलीशरण गुप्त, दिनकर, इकबाल, वंकिमचन्द्र और रविबाबू की असंख्य ऐसी कविताओं का समाहार एकत्र किया जा सकता है जहां सोलह आने राष्ट्र-भक्ति की व्यंजना होती है। क्या ऐसे प्रसंगों में भी हम मात्र राष्ट्र-विषयक रतिभाव मानकर छुट्टी ले सकते हैं? नहीं, कम

---

१. काव्यप्रकाश। ४। ३५। २. वही। ४।३५ (वृत्ति)।

से कम उन कविताओं में जहां देश का गुण-गान या गौरव-गान किया गया है, राष्ट्र-भक्ति भाव-दशा की सीमा को लांघ कर रस-दशा तक पहुंच जाती है और सहृदय पाठकों को उसी तरह की अखण्ड रसानुभूति होती है जैसी अन्यत्र परम्परागत अन्य सरस काव्यों में होती है। फलतः रसों की संख्या को निरर्थक-वृद्धि से बचाने के लिए भक्ति-रस को ही राष्ट्र-भक्ति और देव-भक्ति नामक भेदों में बांट लेना चाहिए और आवश्यकतानुसार राष्ट्र-भक्ति के भी देव-भक्ति की तरह कतिपय भेद स्वीकार किए जा सकते हैं। पर ध्यान रखने की आवश्यकता यह है कि उत्साह, ग्लानि, वितर्क आदि संचारियों को भी राष्ट्र-भक्ति के अवान्तर्भेद न स्वीकार कर लिए जायं तथा उनके लिए नए नए नाम न गढ़ लिए जावें। भक्ति-रस के भेदों में जिन्हें गौण-भक्ति-रस कहा गया है, स्वयं वैष्णव गोस्वामियों ने भी उन्हें मुख्य-भक्ति-रस का संचारी ही तत्त्वतः स्वीकार किया है[1]। राष्ट्र-भक्ति-रस का स्थायीभाव राष्ट्रानुराग या देश-रति को मानना चाहिए। मराठी के लेखक श्री शिवराम पंत ने अपने ग्रन्थ "जीवन आणि साहित्य" में राष्ट्र-भक्ति-रस का स्थायीभाव "देशाभिमान" को स्वीकार किया है। पर डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित ने सुचिन्तित तर्कों के सहारे इनका युक्तिपूर्ण खण्डन किया है[2]। मैं स्वयं डा० दीक्षित से सहमत भी हूं। इस सम्बन्ध में विनम्र निवेदन है कि देशाभिमान को मात्र संचारी कह कर टाला नहीं जा सकता है। अभिमान या अहं (इगो) मनुष्य की अनेक मूल-भावनाओं में से एक है। प्राचीन भारतीय सांख्य-दर्शन के विकासवादी सिद्धान्त में प्रकृति और पुरुष के मिलन से सर्वप्रथम "अहम्" की सृष्टि ही बताई गई है। आज का मनोविज्ञान भी अहम् या इगो को कम महत्त्व नहीं देता है। फिर भी राष्ट्र-भक्ति-रस के समर्थक श्री शिवराम पंतजी की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि उन्होंने इस रस का स्थायीभाव 'देशाभिमान' स्वीकार कर लिया। देशाभिमान रूप स्थायीभाव राष्ट्र-भक्ति-रस के रूप में परिणत नहीं हो सकता है। अभिमान से वीरता जागती है या और जो कुछ, पर भक्ति कदापि नहीं जग सकती है। भक्ति या प्रेम रति से उत्पन्न होती है। अभिमान के अनेक भेद रति की तरह हो सकते हैं—देशाभिमान, स्वाभिमान, वंशाभिमान, राज्याभिमान। इनके अवान्तर्भेद किए जा सकते हैं। पर इनके आधार पर जो रस तैयार होंगे वे वीर रस के ही प्रभेद हो सकते हैं, भक्ति-रस के नहीं। अतएव मेरी दृष्टि में यदि पंत जी की स्थायीभाव-स्थापना में त्रुटि है तो डा० दीक्षित जी के खण्डन में भी विषयान्तर आ गया है। समुचित निष्कर्ष तो यह होना चाहिए कि भक्ति-रस-प्रपंच में राष्ट्र-भक्ति को भी स्थान मिले और इस राष्ट्र-भक्ति रस का स्थायीभाव राष्ट्र-रति या राष्ट्रानुराग को माना जाय। अभिमान के

---

१. हरिभक्तिरसामृतसिन्धु। उत्तर विभाग। ल० ७।९-१०।
२. रस-सिद्धान्त-स्वरूप विश्लेषण। पृ० १८४-१८५।

महत्त्व की ओर सच पूछिए तो रस-शास्त्रियों का ध्यान अभी नहीं गया है। उसमें सम्भावनाएं निहित हैं और एक दिन "रति" की तरह उसकी भी व्यापकता को विकेन्द्रित कर नए नए भेदों को वीर-रस में समाहित किया जायगा। और तभी अनेक प्राचीन कवियों जगन्नाथ, मल्लिनाथ, आदि की गर्वोक्तियों और भूषण और उनके जैसे कवियों की कविताओं का रस-सिद्धान्त की दृष्टि से सही मूल्यांकन होगा।

५

हिन्दी काव्य-शास्त्र : उद्भव और वर्गीकरण

उपक्रम

अपने अध्ययन के पूर्वार्द्ध में संस्कृत काव्य-शास्त्र के संक्षिप्त इतिहास और विचारधाराओं के भेद से बने विभिन्न काव्य-सम्प्रदायों की रूपरेखा तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध की चर्चा मैं कर चुका हूं। यदि एक बार पुनः उनका विहगावलोकन करूँ तो रस-सिद्धान्त के विकास की दृष्टि से यही करना पड़ेगा कि रस-सिद्धान्त भारतीय काव्य-शास्त्र में उत्थान-पतन की चार अवस्थाओं को पार करता हुआ हिन्दी काव्य-शास्त्र में प्रविष्ट हुआ। वे हैं—आदियुग, ध्वनिपूर्वयुग, ध्वनियुग और ध्वन्युत्तरयुग। आदियुग से मेरा तात्पर्य भरत और उनके पूर्व के युग से है। इस काल में दृश्य-काव्य का मुख्य प्रतिपाद्य एवं ग्राह्य तत्त्व रस ही रहा। ध्वनिपूर्व-युग मैंने भामह-दण्डी से लेकर रुद्रट तक के काल को कहा है। इस युग में अलंकारों की प्रधानता तो रही, पर रस तत्त्व की ओर से सर्वथा आँखें मूंद नहीं ली गई थीं। इतना अवश्य कि रसों को भी अलंकारों में अन्तर्निविष्ट कर लिया गया था और उनका स्वतन्त्र अस्तित्व लुप्त सा हो गया था। ध्वनिकाल में आनन्दवर्द्धन, कुन्तक और महिमभट्ट तीन मूर्धन्य आचार्य हुए। इस युग में स्थापना की अपेक्षा खण्डन-अधिक हुआ। इससे पूर्व के युग में स्थापनाएं और काव्यशास्त्र का विस्तार ही अधिक हुआ। फलतः ध्वनिकाल में ध्वनि की सार्वभौम सत्ता तो स्वीकृत की गई, पर रस-ध्वनि के रूप में रस-सिद्धान्त को पर्याप्त महत्त्व एवं स्थायित्व प्राप्त हुआ। ध्वन्युत्तर काल अनेक विरोधी विचारधाराओं के सम्मिश्रण का काल है। एक ओर तो मम्मट, विश्वनाथ और जगन्नाथ जैसे आचार्य हुए जिन्होंने ध्वनिकाल का अनुगमन ही नहीं किया प्रत्युत स्पष्ट शब्दों में रस की महत्ता एवं अनिवार्यता उद्घोषित की, दूसरी ओर जयदेव, केशवमिश्र एवं अप्पयदीक्षित जैसे आलंकारिकों का उदय हुआ जिन्होंने प्रतिपादन की दृष्टि से ध्वनिपूर्वयुग (भामह से रुद्रट तक के अलंकारयुग) के स्वर में स्वर मिलाया। तीसरी ओर गौड़ीय वैष्णवों का एक अलग सम्प्रदाय ही उठ खड़ा हुआ। इन पर भक्ति का ऐसा गाढ़ा रंग चढ़ा हुआ था कि भक्ति-

साहित्य के दायरे से बाहर जाकर काव्य का रसास्वाद करना इनके लिए नितान्त कठिन एवं अवांछनीय था। इन वैष्णव आचार्यों ने परम्परागत रस-सिद्धान्त को गौरवपूर्ण मान्यता तो दी, पर उसे संकुचित बना कर। एक मात्र भक्तिरस की रट लगाकर आपने भक्ति-साहित्य से पृथक् लौकिक साहित्य के सम्बन्ध में मानों अपना मुँह खोलना अनुचित समझ रखा हो। सच पूछिए तो ये काव्य-शास्त्रीय आचार्य थे भी नहीं। अपने वैष्णवभक्ति-साहित्य पर काव्य-शास्त्र की मुहर लगाना ही इनका उद्देश्य था, फिर भी भक्ति रस से ही आपने रस-सिद्धान्त का पर्याप्त विश्लेषण किया। यदि इनके विवेचन के ऊपर से भक्ति की पर्त उठा ली जाय तो निःसन्देह यह स्वीकार करना पड़ेगा कि मात्र "रस" को लेकर अभी तक इतने विशाल ग्रन्थ नहीं लिखे गए थे। इन सभी वर्गों से अलग होकर भानुदत्त केवल श्रृंगार रस का निरूपण कर रहे थे।

ऐसे ही परस्पर-विरोधी विचारधाराओं के सम्मिश्रण के समय हिन्दी में भी (ब्रजभाषा में) काव्य-शास्त्र की रचना का प्रारम्भ हुआ। यही कारण है कि हिन्दी काव्य-शास्त्र इन समस्त प्रभावों का संभार लेकर अवतीर्ण हुआ। एक ओर कुछ काव्य-शास्त्री जयदेव, केशवमिश्र और अप्पयदीक्षित की तरह मात्र अलंकारों के निरूपण में प्रवृत्त हुए तो दूसरी ओर अन्य आचार्य मम्मट और विश्वनाथ की तरह काव्य के सभी अंगों (रीति, वृत्ति, गुण, दोष, रस, अलंकार आदि) के प्रतिपादन में संलग्न हुए। अनेक ऐसे भी आचार्य हुए जिन्होंने मात्र रस-राज श्रृंगार का निरूपण भानुदत्त की रसतरंगिणी और रस-मंजरी की पद्धति पर किया। मेरी धारणा है कि इन पर गौड़ीय वैष्णवों के प्रतिपाद्य रस विषय का पर्याप्त प्रभाव था। शैली तो इन्होंने रुद्रट के श्रृङ्गार तिलक और भानुदत्त की रसतरंगिणी की अपनायी पर विचार लिया रूपगोस्वामी के उज्ज्वलनीलमणि से। रूपगोस्वामी ने भी भक्तिरस के सभी भेदों में माधुर्यरस को सर्वप्रधान उद्घोषित किया था और इसे रसराज माना था। ठीक उसी तरह हिन्दी काव्य-शास्त्र के भी कतिपय आचार्यों ने माधुर्य-रस (गौड़ीय) का श्रृंगार के नाम से निरूपण किया।[1] हरि और ब्रजराज को रस-राज श्रृंगार का नायक मानना ही यह सिद्ध करता है कि आप गौड़ीय वैष्णव-काव्य-शास्त्र से अंशतः प्रभावित थे। यों आपके उदाहरणों में इतनी मांसलता है कि उन्हें माधुर्य रस के उदाहरण मानना कठिन हो जाता है। साथ ही, रसतत्त्वों के निरूपण में भी बहुत अन्तर हैं। फिर भी इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जिस प्रकार संस्कृत काव्यशास्त्र की अन्य विचारधाराओं का प्रभाव हिन्दी के आचार्यों पर पड़ा उसी तरह गौड़ीय रस-सिद्धान्त के भी, अंशतः ही सही, प्रभाव से आप अछूते न रह सके।

---

१. (क) केशव, रसिकप्रिया। प्रभाव १, छन्द १६। (ख) देव, शब्द-रसायन। (ग) बेनीप्रवीन, नवरसतरंग। ४११, पृष्ठ-५७।

रीति काव्य-शास्त्र के प्रारम्भ के पूर्व ब्रजभाषा में जो काव्य-ग्रन्थ एवं काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ भक्ति-काल में लिखे गए हैं, उनमें शृङ्गार की आध्यात्मिकता और अधिक स्पष्ट है। पुष्टिमार्गी नन्ददास ने "रसमंजरी" और "रूपमंजरी" नामक दो काव्य-शास्त्रीय रचनायें प्रस्तुत की हैं। रसमंजरी के प्रारम्भ में ही आपने स्पष्टतः उल्लेख किया है कि "इस संसार में जो कुछ 'रस' है उसका एकमात्र आधार परमात्मा है। जिस प्रकार जल अनेक नदियों में बहता हुआ अन्ततोगत्वा सागर में समाहित हो जाता है, उसी प्रकार सभी रस परमात्मोन्मुख हैं। इतना ही नहीं, इस विश्व में जो कुछ रूप, प्रेम और आनन्द विषयक रस है, वह सब परमात्मा का ही है। अतएव निःसंकोच होकर उस आध्यात्मिक शृंगार (माधुर्य) का वर्णन करना चाहिए।"[1] सच पूछिये, तो इसी आधार को लेकर ब्रजभाषा-साहित्य के अधिकांश भक्त कवियों ने अपनी भक्ति-रस पूर्ण कविताएं रचीं। पर जैसे मैंने पहले भी निवेदन किया है कि रस-तत्त्वों के निरूपण या प्रयोग में ब्रजभाषा-काव्य और काव्य-शास्त्र तथा गौड़ीय रस-शास्त्र में महान् अन्तर है। जहाँ गौड़ीय सम्प्रदाय के आचार्यों ने राधा को परकीया माना है, वहाँ ब्रजभाषा के भक्त कवियों ने उसे स्वकीया स्वीकार किया है। इस दिशा में ब्रजभाषा के कवियों और आचार्यों ने परम्परागत संस्कृत काव्य-शास्त्र के नायिका-भेदों का ही अनुसरण किया, गौड़ीय वैष्णवों का नहीं। इन्होंने नायिकाओं के रूप में गोपियों की संख्या निर्धारित करना आध्यात्मिक दृष्टि से उचित नहीं समझा। उनका तर्क प्रायः यह था कि आध्यात्यिक पक्ष में श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं और गोपियां जीवात्माओं का प्रतीक हैं। जीवात्माओं की असंख्यता के कारण गोपियों की सीमित संख्या बताना असमीचीन है। अतएव धार्मिक दृष्टि से प्रचलित गौड़ीय सम्प्रदाय के नायिकाभेद की यह प्रणाली धार्मिक दृष्टि से ही हिन्दी के ब्रजभाषा काव्य में स्वीकृत न हो सकी।[2] परिणामतः अन्य रसोपादानों में भी ब्रजभाषा का काव्य-शास्त्र गौड़ीय सम्प्रदाय से प्रभावित न हुआ वरन् इसके विपरीत उसमें संस्कृत के परम्परागत काव्यशास्त्र का ही अनुसरण हुआ।

(२) हिन्दी काव्य-शास्त्र का उद्भव और विकास

(क) परिप्रेक्ष्य :—हिन्दी काव्य की धारा १०५० विक्रम संवत्[3] से ही विभिन्न प्रवृत्तियों का संभार लिए प्रवाहित होती चली आ रही थी। पर अब तक इसे वह प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं थी जो संस्कृत काव्य-शास्त्र को प्राप्त थी।[4] संस्कृत साहित्य क्रमशः ह्रासोन्मुख था और जगन्नाथ के बाद कोई वैसी प्रतिभा दृष्टिगोचर

---

१. नन्ददास : रसमंजरी, छन्द २ और ७। २. प्रभुदयाल मीतल, ब्रजभाषा साहित्य का नायिका भेद (द्वि० संस्करण) पृ० ९७। ३. हिन्दी साहित्य का इतिहास : रामचन्द्र शुक्ल (सातवां संस्करण), पृष्ठ १। ४. केशवदास : कविप्रिया। प्रभाव २, छन्द १७।

नहीं हुई। जो दो-चार कवि और आचार्य संस्कृत में पैदा हुए भी, वे महत्त्वपूर्ण प्रमाणित नहीं हुए। इधर अकबर के शासनकाल में हिन्दी-साहित्य का पूर्ण विकास हुआ। एक ओर अवधी (हिन्दी की बोली) के माध्यम से रामचरित मानस जैसे अमूल्य ग्रन्थरत्न के प्रणेता तुलसीदास का आविर्भाव हुआ तो दूसरी ओर 'सूरसागर' के सरस प्रवाह में बहा ले जाने वाले सूरदास ने ब्रजभाषा के माध्यम से हिन्दी साहित्य भंडार की वृद्धि की। परिणामत: सामान्य जनता के अतिरिक्त शिष्ट एवं शिक्षित जन भी भाषा-काव्य को समादर की दृष्टि से देखने लगे। भारतीय शासन के विकेन्द्रीकरण के अनन्तर तो पुन: रईसों, अमीरों और छोटे-छोटे राजाओं के दरबारों की ही शोभा कविगण बढ़ाने लगे। ये कला-प्रेमी तो थे पर संस्कृत साहित्य एवं शास्त्र के ज्ञान से विहीन थे। अतएव इन कलाप्रेमियों के मनोरंजन के लिए विशेषत: और हिन्दीकाव्य-प्रेमी अन्य जनों के लिए समान्यत: काव्य-शास्त्रों की हिन्दी में रचना करना हिन्दी के कवियों के लिए आवश्यक-सा हो गया। ऐसी ही परिस्थिति में हिन्दी-काव्य शास्त्र की सर्जना का आरम्भ हुआ। एक और कारण हुआ। वह यह कि मध्यकाल में अनेक परिवार काव्य-जीवी थे। उनमें कवि बनने की प्रतिभा चाहे न भी रही हो, पर जीविकोपार्जन के लिए काव्य-रचना करना उनका धन्धा था। ऐसे कवियश:प्रार्थी जनों के लिए भी कतिपय आचार्य भाषा के माध्यम से संस्कृत के काव्य-शास्त्रीय ज्ञान को प्रस्तुत कर देते थे जिससे छन्द, अलंकार, रस, नायिकाभेद आदि काव्यांगों की जानकारी के आधार पर वे काव्य-प्रणयन कर सकें।[1] इन सारे कारणों के परिणामस्वरूप जब दो चार काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ हिन्दी में प्रस्तुत हो गये, फिर तो उनका अम्बार लग गया। 'गतानुगतिको लोक:' इस न्याय के अनुसार जितने भी कवि ख्याति-प्राप्त होना चाहते थे, उनके लिए यह आवश्यक हो गया कि वे काव्य-रचना के साथ ही लक्षण-ग्रन्थ भी लिखें। अतएव कुछ ने तो स्वतन्त्र काव्य-ग्रन्थ रचे और फिर स्वतन्त्र रूप से लक्षण-ग्रन्थ भी लिखे, जिनमें उदाहरण भी उनके अपने हैं। पर कुछ ऐसे भी कवि या आचार्य हुए जिन्होंने लक्षण-ग्रन्थ प्रस्तुत करने के क्रम में ही अपनी कवित्व-शक्ति का परिचय दिया। लगभग दो सौ बर्षों तक (सं० १७००-१९०० विक्रम संवत्) हिन्दी में इसी तरह के साहित्य की सर्जना हुई। अतएव इस युग को इतिहासकारों ने प्रवृत्ति के आधार पर "रीतिकाल" ही कहा है। काव्य-शास्त्र रचने की परम्परा जो हिन्दी के रीतिकाल में चली, वह रूप बदल कर आज तक प्रचलित है। जो कार्य पहले पद्य के माध्यम से होता था, वही आज गद्य के माध्यम से हो रहा है। आज भी आलोचना-ग्रन्थों के रूप में, प्राचीन लक्षण ग्रन्थों की टीकाओं के रूप में, शोध-प्रबन्धों के रूप में तथा फुटकर लेखों के रूप में हिन्दी की काव्य शास्त्रीय परम्परा जीवित है। यह बात अलग है कि पाण्डित्य की प्रखरता, शिक्षा के विस्तार, विदेशी साहित्यों का

१. हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास : डा० भगीरथ मिश्र, पृष्ठ ३८।

सम्पर्क और गद्यात्मक माध्यम के कारण अर्वाचीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में विवेचना की मौलिकता, प्राचीन हिन्दी काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक है। जो हो, उपर्युक्त परिप्रेक्ष्य में हिन्दी काव्य-शास्त्र की अवतारणा हुई।

(ख) उद्भव:—अब प्रश्न यह उठता है कि किसे हिन्दी काव्य-शास्त्र का आदि आचार्य माना जाय ? इस विषय को लेकर विद्वानों में मतभेद है। हिन्दी साहित्य के लब्ध प्रतिष्ठ इतिहासकार रामचन्द्र शुक्ल ने कृपाराम की हिततरंगिणी को हिन्दी का आदि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ स्वीकार किया है।[1] कृपाराम का समय आपके अनुसार वि० संवत् १५९८ है। कृपाराम, मोहनलाल मिश्र (शृंगार-सागर के प्रणेता) और करनेस कवि (कर्णाभरण, श्रुतिभूषण नामक अलंकार ग्रन्थों के लेखक) के द्वारा रस-निरूपण किये जाने के बाद शुक्ल जी ने समस्त काव्यांग-निरूपक केशव का उदय स्वीकार किया है। इसके विपरीत 'शिवसिंह सरोज' के अनुसार हिन्दी काव्य-शास्त्र का प्रथम आचार्य पुष्य नामक कवि था जिसने सातवीं शताब्दी में अपभ्रंश में एक अलंकार-ग्रन्थ लिखा था।[2] उक्त ग्रन्थ की अनुपलब्धि के कारण विद्वानों को यह तथ्य मान्य नहीं है, पर शान्त चित्त से विचार करने पर यह बात अविश्वसनीय भी नहीं प्रतीत होगी। हिन्दी साहित्य अनेक दिशाओं में अप्रभंश साहित्य का ऋणी रहा है—वर्ण्य-विषय, शैली, प्रवृत्ति, छन्द आदि परम्परा प्राकृत और अप्रभ्रंश साहित्य से ही हिन्दी में आई। कबीर आदि निर्गुण कवियों के काव्य-विषय को अपभ्रंश के सिद्ध-साहित्य ने प्रभावित किया है। जायसी तथा अन्य प्रेमाख्यानक कवियों की कथावस्तु में प्रेमवर्णना का मूलाधार जैनाचार्यों द्वारा लिखी अपभ्रंश कथाओं में (भविष्यदत्त कथा और रयणसेहरी नटवर कहा आदि) पाया जाता है। जायसी और तुलसी आदि की दोहे-चौपाई वाली शैली भी अपभ्रंश काव्य ग्रन्थों (पुष्पदन्त के जसहर चरिउ और णायकुमार उरिउ) से ही हिन्दी में प्रवर्तित हुई। अतः हिन्दी की साहित्यिक प्रवृत्तियों की परम्परा का अनुसन्धान करते हुए हम भले ही अपभ्रंश और प्राकृत काव्यों में पहुंच जांय, किन्तु काव्य-शास्त्र की वैसी कोई स्पष्ट परम्परा हमें अपभ्रंश और प्राकृत में उपलब्ध नहीं होती है। हिन्दी के रीतिग्रन्थों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध संस्कृत काव्य-शास्त्र से ही है। तथापि काव्य-शास्त्र की एक क्षीण-धारा जो अपभ्रंश से आई, उसका प्रभाव भी हिन्दी काव्य-शास्त्र पर माना जा सकता है। वह भी केवल इस अर्थ में कि अपभ्रंश के काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों में अपभ्रंश के माध्यम से लक्षणों और उदाहरणों की अभिव्यक्ति देखकर जन सामान्य में एक जागृति और प्रेरणा आई। परिणामतः बोलचाल की भाषा (ब्रजभाषा) में भी काव्य शास्त्रीय लक्षण, उदाहरण आदि रचे जाने लगे। इस प्रसंग में अपभ्रंश में रचे कति-

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास (७ वां सं०) रा० चं० शुक्ल, पृष्ठ २३२।
२. मिश्रबन्धु विनोद : भाग १, पृष्ठ ७३ (सं० १९९४ विक्रम)।

पय काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का नाम लिया जा सकता है—सिद्ध शान्ति या रत्नाकर शान्ति (सन् १००० ई०) का लिखा 'छन्दोरत्नाकर', आचार्य हेमचन्द्र सूरि प्रणीत (सन् १०८८ ई० से ११७९ ई०) प्राकृत व्याकरण, छन्दो-शासन और देशीनाममाला कोष।[1] जैनाचार्य नयनंद (११ वीं शताब्दी विक्रमीय) द्वारा लिखा हुआ 'सुदर्शन चरित्र' नामक काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ भी उल्लेखनीय है। इस ग्रन्थ में धार्मिक विषयों के उल्लेख के अलावा ऋतु, नखशिख, शृंगार और नायिकाभेद आदि भी वर्णित पाए जाते हैं। नायिकाभेद के आधार भी इनके अपने ढंग के हैं। सर्वप्रथम इंगितों के आधार पर इन्होंने नायिकाओं के भेद बताए हैं, फिर पृथक् पृथक् वर्गों के आधार पर विद्याधरी, यक्षिणी, ऋषिपत्नी आदि भेदों में इन्हें बांट दिया है। पुनः प्रान्तों तथा देशों के आधार पर भी नायिकाओं का विभाजन किया है। अन्त में कफ, पित्त, वात को भी आधार मान कर इनके भेद कर लिए गए हैं। सबसे अन्त में उपर्युक्त सभी भेदों के शुद्ध गुणान्विता, अशुद्धगुणान्विता नामक उपभेद-त्रितय की कल्पना की गई है। इतना ही नहीं, पूर्वराग, संयोग, वियोग और नायिकाओं को वश में रखने के उपायों का उल्लेख भी उपलब्ध होता है।[2] उपर्युक्त अपभ्रंश ग्रन्थों को हिन्दी के काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ मान लेने पर हिन्दी काव्य-शास्त्र का उद्भव भी वहीं से मानना होगा। नहीं तो कम से कम इन ग्रन्थों का प्रभाव या प्रेरणा तो हिन्दी की ब्रजभाषा में लिखे काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों पर स्वीकार करना ही पड़ेगा।

अपभ्रंश को यदि हिन्दी-साहित्य का अंग नहीं स्वीकार करें तो हिन्दी-काव्य-शास्त्र के प्रथम आचार्य के रूप में हिततरंगिणीकार 'कृपाराम' को ही स्वीकार करना होगा। हिततरंगिणी की रचना विक्रम संवत् १५९८ की माघ शुक्ल तृतीया को हुई थी। यों कृपाराम ने हिततरंगिणी में संकेतित किया है कि आपने तो दोहों में 'शृंगाररस' का वर्णन किया है पर आपके पूर्ववर्ती कई आचार्यों और कवियों ने बड़े बड़े छन्दों (कवित्त-सवैया आदि) में रस-रीति का निरूपण किया है।[3] इससे ज्ञात होता है कि कृपाराम के पूर्व भी कतिपय काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का प्रणयन हो चुका था, पर ग्रन्थों की अनुपलब्धि के कारण हिततरंगिणी को ही हिन्दी का आदि काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ स्वीकार करना पड़ेगा। इस ग्रन्थ का आधार भानुदत्त कृत रस-तरंगिणी है—क्योंकि अवस्थाओं के अनुसार नायिकाओं के दस भेद कृपाराम ने प्रतिपादित किए हैं। ऐसे भेद रसतरंगिणी में ही पाए जाते हैं। यों कृपाराम ने अपने ग्रन्थ में भरत के नाट्यशास्त्र को आधार स्वीकार किया है—'कृपाराम यों कहत हैं,

---

१. राहुल सांकृत्यायन : हिन्दी काव्यधारा, अवतरणिका, पृष्ठ ४३।
२. साप्ताहिक 'वीर', १५ जून १९४६ ई० (जैन साहित्य द्वारा हिन्दी साहित्य में श्रीवृद्धि—लेखक—रामसिंह तोमर, शान्ति निकेतन)।
३. कृपाराम : हिततरंगिणी। प्रथम तरंग दोहा संख्या २, ३, ४।

भरत ग्रन्थ अनुमानि"। पर नाट्यशास्त्र में अवस्थाओं के अनुसार नायिकाएँ आठ प्रकार की ही बताई गई हैं, दस प्रकार की नहीं। डा० रामशंकर शुक्ल "रसाल' अपने "एवोल्यूशन आव् हिन्दी पोइटिक्स" में करनेस बन्दीजन की हिततरंगिनी का उल्लेख करते हैं और उसका समय स० १२०० ई० के लगभग बताते हैं। सम्भवत: उनका अर्थ इसी कृपाराम की ही हिततरंगिणी से है, क्योंकि करनेस ने कोई भी 'हिततरंगिणी" नहीं लिखी"।[1] करनेस का समय भी १७ वीं शताब्दी माना जाने लगा है। यह अकबर के जमाने का आचार्य कवि था। जो हो, इस ग्रन्थ में नायिकाओं के भेद बताए गए हैं, पर सिद्धान्त—निरूपण की दृष्टि से इसमें न कोई मौलिकता है और न इसका विशेष महत्व आंका जा सकता है।

हिततरंगिणी के पश्चात् "साहित्य लहरी" को कतिपय विद्वानों ने हिन्दी काव्य शास्त्र का दूसरा ग्रंथ स्वीकार किया है।[2] साहित्यलहरी के प्रणेता और रचना-काल को लेकर अलग ही विवाद है। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों ने इसे सूरदास की रचना बताया है तथा इसका रचना काल सं० १६०७ माना है।[3] इसका रचना काल निम्नोक्त पद के अधार पर निर्णीत किया गया है:—

मुनि पुनि रसन के रस लेष।
दसन गौरीनंद को लिषि, सवल संवत पेष॥
नंदनंदन मास, छै ते हीन तृतिया वार।
नंदनंदन जनम ते हैं वान, सुख आगार॥
तृतीय रीछ, सुकर्म योग विचार "सूर"-नवीन।
नंदनंदनदास हित, साहित्यलहरी कीन॥

—साहित्यलहरी, पुस्तकभंडार। छ० सं० १०९।

इस पद में प्रयुक्त "रसन" शब्द के अर्थ को लेकर विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान इसका अर्थ शून्य, तो कुछ एक और कुछ दो लगाते हैं। फलत: साहित्यलहरी के रचना-काल विक्रम संवत् १६०६, १६१७ और १६२७ प्रमाणित होते हैं। चाहे यह ग्रन्थ किसी संवत् में रचा गया हो, पर यह सूरदास का कृतित्व है या नहीं, यह मुख्यत: विचारणीय विषय है। साहित्यलहरी के प्रत्येक पद में किसी न किसी नायिका का तथा किसी न किसी अलंकार का उदाहारण प्रस्तुत किया गया है। अतएव उसे विशुद्ध रीति-काव्यशास्त्र का ग्रंथ नहीं मान कर रीतिबद्ध रचना ही मानना चाहिए। इस ग्रंथ की रीति-प्रवणता को देखकर कई विद्वान इसे सूरदास जैसे कृष्ण-भक्त

१. डा० भगीरथ मिश्र : हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास, पृष्ठ ५० फुटनोट।
२. सम्मेलन पत्रिका, पौष संवत् २००२, महावीर सिंह गहलौत का लेख।
३. रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १६०—१६१।

कवि की रचना मानने में भी आपत्ति करते हैं। पर उन्हें यह जानना चाहिए कि सूर, मीरा, नन्द, तुलसी, आदि अनेक भक्त कवियों के काव्य में अतिशय शृंगारिकता भक्ति के आवरण में व्यंजित हुई है। स्वयं सूरदास के अनेक पदों में भी रीति-कवि की तरह नग्नशृंगार का चित्रण पाया जाता है।[1] जो हो, यह परम्परा बहुत प्राचीन है। भक्ति के नाम पर शृंगार की धारा गीतगोविन्दकार जयदेव के युग से ही प्रवाहित होती आ रही है। अतएव रीत्यात्मकता या शृंगारिकता के कारण साहित्यलहरी को भक्त कवि सूरदास की रचना नहीं मानने वालों से मैं पूरी तरह सहमत नहीं हूँ। यदि साहित्य लहरी को सूरदास की रचना न भी मानें तो कृपाराम की हिततरंगिनी के पश्चात् हिन्दी का अपर रीति-ग्रंथ इसे ही मानना चाहिए।

सूरदास की साहित्य लहरी के पश्चात् अष्टछाप के दूसरे उल्लेखनीय कवि नन्ददास ने भी रूपमंजरी, रसमंजरी और विरह-मंजरी नामक काव्य-शास्त्रीय रचनाएँ प्रस्तुत कीं। रसमंजरी में स्पष्टतः नायिका भेदों और उदाहरण को एक साथ मिलाकर आपने इस ढंग से अपनी पद्य-रचना की है कि नायिकाओं का स्वरूप नितांत स्पष्ट हो गया है। "अज्ञात जोबना" नायिका का स्पष्टीकरण आपने इस प्रकार किया है:—

सखि जब सर-स्नान ले जाही। फूले अमलनि कमलनि माहीं॥
पौछै डारति रोम की धारा। माननि बाल सिवालक डारा॥
दीरघ नैन चलति जब कौने। सरद कमल-दल हूँ ते लौने।
तिनहिं श्रवन बिच पकर्‌यो चहै। अंबुज दल से लागे कहै॥
इहि परकार तिया जो लहिये। सो अज्ञात जौबना कहिए॥

—रसमंजरी (नन्ददास ग्रन्थावली, पृष्ठ १४६)

विरहमंजरी में वियोगशृंगार का निरूपण और उसके भेदों का उल्लेख है। ग्रंथ के प्रारम्भ में विरहणी ब्रजबनितायें चन्द्र को दूत बनाकर मथुरा-निवासी कृष्ण के पास संदेश भेजना चाहती हैं। अन्त में शृंगार रस के भेद—संभोग और विप्रलम्भ किए गये हैं तथा विप्रलम्भ शृंगार प्रत्यक्ष, पलकान्तर, वनान्तर और देशान्तर नामक चार प्रभेदों में बाँटा गया है। रूप-मंजरी तो प्रेमाख्यानक काव्य है, पर इसके प्रेम वर्णन की शैली में भी रीत्यात्मकता स्पष्टः दृष्टिगोचर होती है। यों नन्ददास एक भक्त थे, आचार्य नहीं पर उनकी उपर्युक्त रचनाओं में रीत्यात्मक प्रवृत्ति एवं आंशिक रीति निरूपण स्पष्ट है। नन्ददास का जन्म संवत् १५७० के लगभग माना गया है। अतएव रसमंजरी और रूपमंजरी का रचना-काल

१. सूरसागर।

अनुमानत: ५० वर्षों के बाद सं० १६२० के आसपास मानना चाहिये। नन्ददास के अन्तर रीति-ग्रन्थ प्रस्तुत करने वाले आचार्यों में "रहीम" का नाम उल्लेखनीय है। आपने अवधी में सर्वप्रथम "बरवानायिका" नामक रीतिग्रन्थ रचा। दोहा छन्द में आपने नायिकाओं का निरूपण किया है। लगभग १६४० विक्रम संवत् में इस ग्रन्थ का प्रणयन हुआ होगा, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। पर आश्चर्य होता है यह देखकर कि अवधी में यह परम्परा चली नहीं।

अब्दुर्रहीम खानखाना की 'बरवा नायिका' की रचना के समकाल रचे गये कतिपय अन्य काव्य-शास्त्रीय ग्रंथों का संकेत भी मिलता है। मोहनलाल मिश्र प्रणीत "शृंगार-सागर" और कर्णेश (करनेस) कवि द्वारा रचित कर्णाभरण, श्रुति-भूषण और भूपभूषण नामक तीन अलंकार ग्रंथों के संकेत इतिहास ग्रंथों में मिलते हैं। ये सभी ग्रंथ ब्रजभाषा में ही लिखे गये थे। करनेस का स्थान अकबरी दरबार के कवियों में भी था। मिश्रबन्धुओं के अनुसार करनेस बन्दीजन नरहरि के साथ अकबर के दरबार में जाया करते थे[1]। अकबर के दरबारी हिन्दी कवियों में गंग, मनोहर और गंगा प्रसाद भी ऐसे कवि थे जिनकी रचनाओं में रीत्यात्मकता पाई जाती है[2]। मनोहर और गंग की तो कई स्फुट रचनाएँ भी उपलब्ध हैं, पर गंगाप्रसाद की रचना संभवत: अभी तक प्राप्त नहीं हुई। इन्होंने स्वतंत्र रूप से काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ नहीं रचे थे। इसी समय के आसपास मुनिलाल और बलभद्र नामक दो रीतिकवियों के उदय का उल्लेख मिलता है। बलभद्र ने "नखशिख" और "दूषण विचार" नामक दो रीति-ग्रन्थ रचे थे तथा मुनिलाल ने "रामप्रकाश" नामक ग्रंथ लिखा था। प्रतिपाद्य काव्यशास्त्रीय विषयों के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कह सकना तब तक नितान्त कठिन है जब तक ये ग्रंथ देखने को न मिलें। कम से कम, प्रयास करने के बावजूद भी ये ग्रंथ मुझे अभी तक अप्राप्त ही रहे।

उपर्यंकित सभी आचार्यों को (कृपाराम से लेकर मुनिलाल तक अर्थात् संवत् १५९८ से १६४२–४५ तक) हिन्दी काव्य-शास्त्र का आरम्भक ही मानना चाहिये। काव्यानुशीलन की सामर्थ्य या प्रौढ़ अभिनिवेश इनमें से किसी भी आचार्य में नहीं पाया जाता है। इनका श्रेय यही है कि युग की नब्ज टटोल कर आपने ब्रजभाषा-हिन्दी में काव्य-शास्त्रीय विषयों का निरूपण या प्रतिपादन (चाहे जैसा भी हुआ हो) कर सर्व साधारण जनों के लिये काव्य-शास्त्रीय ज्ञान को सुलभ बना दिया। हिन्दी के मूर्धन्य आचार्य केशव का उदय इसी काल में हुआ। यों अभी तक काव्य-शास्त्रीय

---

१. मिश्रबन्धु विनोद, भाग १ संवत् १९९४, पृष्ठ ३२४।
२. डा० सरयू प्रसाद अग्रवाल : अकबरी दरबार के हिन्दी कवि (सं०, तृतीय अध्याय।

विषयों का थोड़ा-बहुत प्रतिपादन पूर्वोक्त ग्रन्थों में हो चुका था, पर काव्य के सभी अंगों का सुव्यवस्थित एवं सुचिन्तित निरूपण पहली बार केशव से ही संभव हुआ। आपके पास संस्कृत काव्य-शास्त्र का प्रगाढ़ ज्ञान था तथा काव्य-रचने की भी अद्भुत प्रतिभा थी। कवित्व और आचार्यत्व के मणि-काँचन योग से आपने हिन्दी में काव्य-शास्त्रीय ग्रंथ व प्रणयन आरम्भ किया। जो हो, पर आचार्य केशवने अपने अपार-बेध्य और अप्रतिम कवित्व शक्ति के क्षेत्र को यदि पृथक-पृथक रखा होता तो हिन्दी काव्य-शास्त्र की परम्परा आज कुछ और होती। आचार्यत्व और कवित्व के समन्वयन से लक्षणोदाहरणात्मक जो ग्रंथ आपने प्रस्तुत किये, उन्हीं की नकल समस्त रीतिकाल में होती रही। परिणामत. ये रीतिकालीन आचार्य-कवि सच्चे अर्थ में न आचार्य ही बन पाये और न कवि ही। केशव-प्रवर्तित रीति-धारा से पृथक् होकर दो चार कवियों ने केवल कवितायें रचीं और उन्हें कवि कर्म में सफलता एवं श्रेय भी मिले। बिहारी, घनानन्द, बोधा, आलम, ठाकुर आदि कवि इसी प्रवृत्ति की उपज है। इन खांटी कवियों में भी स्वभावत: प्रवृत्ति अपने युग की ही थी। इनकी कविताओं को भी (रामचन्द्र शुक्ल प्रभृति) समीक्षकों ने रीतियुक्त होते हुये भी रीति-प्रभावित (रीतिबद्ध) घोषित किया है। पर विचित्र बात यह है कि काव्य शास्त्र के क्षेत्र में ऐसे दो-चार भी आचार्य मध्यकाल में (१६५० विक्रम् संवत् से १६०० वि० संवत् पर्यन्त) नहीं हुये जो स्वतन्त्र रूप से केवल काव्य शास्त्रीय ग्रन्थ ही रचते और उनमें स्व-रचित उदाहरण भरने में अपनी प्रतिभा का अपव्यय न कर काव्य-शास्त्रीय गुत्थियों को सुलझाने में सारी शक्ति लगा देते। निष्कर्ष यह कि उस युग में कवि पैदा हुये और आचार्य-कवि पैदा हुये, पर आचार्य नहीं उत्पन्न हो सके। और इसका दु:श्रेय अंशत: केशव को भी मिलना चाहिये, क्योंकि कवित्व और आचार्यत्व का प्रथम-समन्वयन आपने ही किया। यों यह परम्परा भी कृपाराम से ही चल पड़ी थी, पर केशव-पूर्व आचार्यों को पांडित्याभाव के कारण हम दोषी नहीं ठहरा सकते हैं।

अस्तु, हिन्दी-काव्य शास्त्र की पूर्वपीठिका पर केशवदास का जन्म संवत् १६१८ विक्रम में हुआ।[1] आपने तीन काव्य-शास्त्रीय ग्रंथ रचे—(१) रसिक प्रिया (२) कविप्रिया (३) छन्दमाला। रसिकप्रिया की रचना आपने रसिकों के लिए की।[2] इसमें रस-रीति का निरूपण किया गया है। आचार्य केशव इसमें श्रृंगार की रसराजता सिद्ध करना चाहते हैं। अतएव अन्य रसों की चर्चा को चलता कर देते हैं और मात्र श्रृंगार का सांगोपांग प्रतिपादन करने लग जाते हैं। 'कविप्रिया' अधिक विस्तृत आधार भूमि पर खड़ी की गई है। इस ग्रंथ के आरम्भ में केशव ने स्वयं स्वीकार किया है कि काव्य-शिक्षार्थियों के लिए यह ग्रन्थ रचा गया है।[3]

१. डा० विजयपाल सिंह : केशव और उनका साहित्य;
२. रसिक प्रिया, १।१२।
३. कविप्रिया, प्रथम प्रभाव, छन्द ६१।

अतएव इसमें समस्त काव्यांगों का निरूपण किया गया है। एक साथ ही इस ग्रन्थ में आपने कवित्तदूषण (काव्यदोष), कवि व्यवस्था (कवियों के भेद) कविप्रसिद्धि, कविरीति, अलंकार, काव्य-भेद आदि सभी काव्य-शास्त्रीय तत्त्वों एवं विषयों का प्रतिपादन किया है। "छन्दमाला" में आपने भाषा-कवियों को शिक्षा देने के लिए एकाक्षर से लेकर २६ अक्षरों वाले ७६ वर्णिक छन्दों के लक्षण एवं उदाहरण रचे हैं। इस ग्रन्थ का पता हाल ही में गवेषकों को चला है। यह ग्रन्थ हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के पुस्तकालय में सुरक्षित है। "रसिक-प्रिया" की रचना संवत् १६४८ विक्रम में हुई, जैसा स्वयं केशव ने ग्रन्थारम्भ में संकेतित किया है[1]। इसके दश वर्षों के अनन्तर आपने कविप्रिया की रचना की अर्थात् १६५८ वि० संवत् में कविप्रिया रची गई[2]।

(ग) **विकास (पूर्वार्द्ध)**—केशवदास के काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों में आकर हिन्दी काव्य-शास्त्र का स्वरूप निखर गया है। कृपाराम की हिततरंगिनी से लेकर केशव-पूर्ववर्ती मुनिलाल-रचित "रामप्रकाश" तक हिन्दी काव्य-शास्त्र का वीज उद्भूत ही हुआ था। केशव के ग्रन्थों में आकर वह अंकुरित या प्रस्फुटित हुआ। १६५८ वि० सं० में रची गई केशव की कविप्रिया के अनन्तर लगभग १७०० वि० सं० में आचार्य चिन्तामणि त्रिपाठी—प्रणीत अनेक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ (काव्य विवेक, कविकुल-कल्पतरु, काव्यप्रकाश, पिंगल, रसमंजरी आदि) उपलब्ध होते हैं। इस बीच का दीर्घ व्यवधान हाल तक लोगों को खलता था। शुक्ल जी प्रभृति इतिहासकारों ने काव्य-शास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से इस काल-खंड को सर्वथा अंधकाराच्छन्न ही माना है। वस्तुस्थिति आज भी वैसी ही है। पर कतिपय नगण्य काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का पता चला है, जो इसी कालखंड में रचे गये थे। इनमें से कुछ तो मात्र रीतिकालीन प्रवृत्तियां लिए हुए काव्यग्रन्थ हैं और कुछ में वस्तुतः रीति-निरूपण भी है, आंशिक ही सही। सं० १६५० के पश्चात् मोहनदास ने वारहमासा और हरिराम एवं बालकृष्ण ने क्रमशः छन्दरत्नावली और रसचंद्रिका जैसी पिंगल विषयक रचनाएं कीं। सं० १६६० में मुबारक ने और संवत् १६७६ में लीलाधर ने नखशिख विषय की रचनाएं कीं जिनमें मुबारक कृत अलकशतक और तिलशतक प्रसिद्ध पुस्तकें हैं[3]। संवत् १६८८ में सुन्दर कवि ने सुन्दर श्रृङ्गार का प्रणयन किया। इस ग्रन्थ का उल्लेख चिन्तामणि ने अपने ग्रन्थ "श्रृङ्गार-मंजरी" में किया है। आप शाहजहां के आश्रित कवि थे। संवत् १६८८ में आपने यह ग्रन्थ रचा था, जैसा आपने स्वयं अपने ग्रन्थ के आरम्भ में लिखा है[4]। इस पुस्तक में केवल श्रृङ्गार-रस का वर्णन है

---

१. रसिक प्रिया, प्रथम प्रभाव, छन्द ११।   २. कविप्रिया १।४।

३. प्रभुदयाल मीतल : ब्रजभाषा साहित्य का नायिकाभेद, २००५ वि० पृ०-७२।

४. डा० म० मिश्र प्रणीत हि० का० शा० का इतिहास, पृ० ७२।

तथा इसी से सम्बद्ध नायिकाभेद, हाव, भाव आदि का भी उल्लेख है। इसी प्रकार केशव और चिन्तामणि के बीच की कड़ी भी जुटी हुई है। इन दोनों आचार्यों के बीच के लगभग ५० वर्षों को काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों से सर्वथा शून्य नहीं कहा जा सकता।

अस्तु, १७०० विक्रम संवत् के आसपास चिन्तामणि के द्वारा काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के प्रणयन ने अनन्तर तो फिर व्रजभाषा-हिन्दी में रीतिग्रन्थों की बाढ़ आ गई। निरन्तर आचार्यम्मन्य कवियों के द्वारा काव्य-शास्त्रीय विभिन्न तत्त्वों एवं अङ्गों का निरूपण होता रहा। इन ग्रन्थकारों और ग्रन्थों की संख्या विपुल है। अभी भी कई ग्रन्थकारों का पता नहीं चला है। उनके ग्रन्थ वैयक्तिक पुस्तकालयों की शोभा बढ़ा रहे हैं अथवा कहीं अनपढ़ व्यक्तियों के घरों में दीमक का भक्ष्य बन रहे हैं। इस दिशा में अभी भी खोज का प्रयास जारी है और उन्हें प्रकाश में लाने की आवश्यकता बनी है। फिर भी सर्वविदित एवं उल्लेखनीय आचार्यों की चर्चा मात्र से हमें इस प्रसंग में रीतिग्रन्थों के विकास को हृदयंगम कर लेने से संतोष करना होगा।

आचार्य चिन्तामणि के बाद "तोष" ने सुधानिधि नामक रस-ग्रन्थ रचा। इस ग्रन्थ की रचना तोष ने संवत् १६९१ में की थी—जैसा उनके निजी छन्द से ही ज्ञात होता है[1]। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने प्रायः बिना किसी आधार के ही तोषनिधि की सुधानिधि का रचना-काल १७९१ संवत् माना है[2]। पर मिश्रवन्धुओं ने उद्धृत छन्द के आधार पर १६९१ संवत् ही इसका रचना-काल स्वीकार किया है। डा० भगीरथ मिश्र भी मिश्रबन्धु विनोद के रचना-काल से ही सहमत हैं[3]। इस ग्रन्थ में नवरसों, भावों, भावादयादि, वृत्ति तथा नायिकाभेद आदि का समुचित प्रतिपादन है जोधपुर के नरेश महाराजा जसवन्त सिंह ने भाषाभूषण नामक अलंकार-ग्रंथ अठारवीं सदी के प्रारम्भ में लिखा। यद्यपि इसमें संस्कृत के चन्द्रालोक की पद्धति पर मुख्यतः अलङ्कारों का ही सोदाहरण प्रतिपादन दोहों में किया गया है, पर ग्रंथ के प्रथम प्रकरण में रस-निरूपण भी है। इसी समय के आसपास चिन्तामणि के भाई मतिराम, भूषण और जटाशंकर ने रीतिग्रंथों की रचना की। मतिराम ने रसराज, ललितललाम, साहित्यसार, अलङ्कार-पंचाशिका और लक्षणशृङ्गार नामक पांच काव्य-शास्त्रीय ग्रंथ रचे थे। इनमें रसराज और ललितलाम तो अत्यन्त ही प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। रसराज, साहित्यसार और लक्षण-शृङ्गार रसशास्त्रीय ग्रन्थ हैं, शेष दो अलंकार-ग्रन्थ हैं। रसराज में समस्त अंगों के साथ रीतिकालीन परम्परा के अनुसार रसराज शृङ्गार का निरूपण है। साहित्यसार में केवल नायिकाभेद का उल्लेख है और लक्षण-शृङ्गार में भावों और विभावों का वर्णन है। ललितललाम की रचना संवत्

---

१. सुधानिधि, छन्द। ५५५। २. हिन्दी साहित्य का इतिहास। पृ०-२८२

३. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास। पृ०—८५।

१७१६ और १७४५ के बीच हुई थी और रसराज की रचना संभवत: इसके बाद हुई[1]। भूषण ने संवत् १७३० के लगभग "शिवराजभूषण" नामक प्रसिद्ध अलंकार ग्रन्थ की रचना की[2]। आप वीर रस के कवि होने के नाते अधिक प्रसिद्ध हैं। चिन्तामणि के भाइयों में जयशंकर ने प्राय: कोई काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ नहीं रचा।

इसी समय के आसपास आचार्य कुलपति मिश्र का आविर्भाव हुआ। इन्होंने "रसरहस्य" और "गुण-रस-रहस्य" नामक दो काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ रचे। रस रहस्य की रचना आपने संवत् १७२७ में की थी, जैसा आपकी निजी उक्ति से ही प्रमाणित होता है[3]। रसरहस्य के आठ वृत्तान्तों में आपने काव्य के समस्त अंगों का निरूपण किया है। आप सच्चे अर्थ में आचार्य प्रतीत होते हैं, क्योंकि विभिन्न संस्कृत के आचार्यों के लक्षणों को अपनी "बचनकाओं" में समीक्षात्मक ढंग से प्रस्तुत करने के बाद ये अपने लक्षणों को सप्रमाण निर्धारित करते पाये जाते हैं। सुखदेव मिश्र भी इसी काल के प्रसिद्ध आचार्य हैं। इन्होंने संवत् १७२० से लेकर १७६० संवत् के बीच अपनी अनेक रचनाएं प्रस्तुत कीं। वे हैं—वृत्तविचार, छन्दविचार, रसार्णव, शृङ्गार लता, पिंगल और फाजिल अली प्रकाश। इनमें से वृत्तविचार, छन्दविचार और पिंगल ये तीन ग्रन्थ तो छन्दसम्बन्धी हैं। शृंगारलता का परिचय अभी तक अप्राप्त है। रसार्णव में रसों का सामान्यत: और विशेषत: रसराज शृंगार तथा नायक-नायिक भेदों का विस्तृत निरूपण है। सुखदेव के बाद रामजी, गोपालराय, बलिराम, बलवीर, कल्यानदास प्रभृति कवियों ने भी रीति-ग्रंथों की रचना की, पर वे ग्रन्थ सर्वथा अमहत्वपूर्ण हैं[4]।

अब हिन्दी काव्य-शास्त्र के सुप्रसिद्ध आचार्य देव का रचना-काल आया। आपका रचना-काल संवत् १७४६ से लेकर १७९० संवत् तक माना जाता है। आपके द्वारा रचित ७२ ग्रन्थों की चर्चा की जाती है[5]। इनमें २५ ग्रंथों को रीति-ग्रन्थ बताया जाता है। पर प्रसिद्धि की दृष्टि से तथा काव्य-शास्त्रीय प्रतिपादन के महत्त्व की दृष्टि से ये चार ग्रंथ ही उल्लेखनीय हैं—रसविलास, भवानीविलास, भावविलास, और काव्य-रसायन। रसविलास इनके अन्तिम काल की रचना है। इसे १७८३ सं० में रचा गया था[6]। रस विलास और भवानी विलास में रस निरूपण है, भाव विलास में रसों और अलंकारों का तथा काव्य-रसायन में काव्य के विभिन्न अंगों का प्रतिपादन किया गया है।

---

१. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास। पृ०—८५।
२. प्रभुदयाल मीतल : ब्रजभाषा साहित्य का नायिका भेद। पृ०—७३।
३. रस रहस्य। वृत्तान्त ८, छन्द—३२। ४. हि. का. शा. का इतिहास। पृ.-९५-९६
५. शुक्ल: हिन्दी साहित्य का इतिहास। पृ०—२६४। ६. रसविलास।

अब तक हिन्दी-साहित्य में रीति-परम्परा बद्धमूल-सी हो गई। १७५० संवत् के बाद १९०० विक्रम संवत् तक का काल रीति-साहित्य का उत्कर्ष काल है। इस बीच हिन्दी कवियों के मध्य यह प्रथा सी हो गई कि वे अनिवार्यतः लक्षण-ग्रंथों का निर्माण करें। लक्षण-ग्रन्थों के प्रणयन के बिना साहित्य जगत् में किम्वा राजदरबारों में प्रसिद्धि पाना नितान्त कठिन हो गया। यों अपवादस्वरूप दो-चार ऐसे भी कवि हुए जिन्होंने लक्षण-ग्रंथों की रचना न कर स्वतन्त्र रूप से काव्य-प्रणयन करना ही अपना उद्देश्य बनाया। विक्रम संवत् १७५० के बाद विरचित काव्य-ग्रंथों के रचयिताओं में उल्लेखनीय आचार्य हैं—सूरतिमिश्र, कुमारमणिभट्ट, श्रीपति, सोमनाथ, रसलीन, उदयनाथ, भिखारीदास, रतनकवि, करनकवि, पद्माकर, रसिक गोविन्द, प्रतापसाहि आदि। आगरे के सूरतिमिश्र ने अनेक काव्य-ग्रन्थ रचे। उनके नाम हैं,—अलंकार माला, रसरत्नमाला, रस-ग्राहक चन्द्रिका, काव्य-सिद्धान्त, रसरत्नाकर, सरस आदि। इन्होंने व्रजभाषा गद्य में केशव की कविप्रिया और रसिक-प्रिया पर टीकाएं भी लिखी थीं। इन टीकाओं के नाम हैं "जोरावर प्रकाश" और "रस-ग्राहक चन्द्रिका" जो अभी भी हस्तलिखित रूप में रमणलाल चौधरी, बाजार कोसी (मथुरा) के पास सुरक्षित हैं[1]। सुरतिमिश्र के सभी ग्रंथ रस और अलंकार से सम्बद्ध हैं, पर इनके ग्रन्थों में "काव्य-सिद्धान्त" सर्वतोऽधिक प्रसिद्ध है। इसमें काव्य के समस्त अंगों का एकत्र निरूपण किया गया है। कुमार मणि भट्ट ने रसिक-रसाल नामक ग्रन्थ संवत् १७७६ में लिखा था[2]। इसमें काव्य-प्रकाश के आधार पर काव्य के सभी अंगों का निरूपण है।

हिन्दी काव्यशास्त्र की इसी उत्कर्षकालीन परम्परा में आचार्य श्रीपति का जन्म हुआ। आपने कई लक्षण-ग्रन्थों का प्रणयन कर प्रसिद्ध पाई। आपके ग्रन्थ हैं—कविकुल कल्पद्रुम, रससागर, अनुप्रासविनोद, विक्रमविलास, सरोज कलिका, अलंकार गंगा और काव्य-सरोज। इन सभी ग्रन्थों में काव्य-सरोज अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसकी रचना १७७७ संवत् में हुई थी।[3] एकमात्र यही ग्रंथ उपलब्ध भी है। तेरह दलों में यह ग्रन्थ विभाजित है और काव्य के विभिन्न अंगों के प्रतिपादन के साथ अन्तिम दल में रस-निरूपण किया गया है। श्रीपति के इस ग्रन्थ की विशेषता यह भी है कि इसके दोष-दल (दोष-प्रकरण) में अन्य कवियों और आचार्यों की रचनाओं को उदाहृत किया गया है। संवत् १७८६ में रसिक सुमति ने अलंकार-चन्द्रोदय की रचना की जिसमें कुवलयानन्द की पद्धति पर अलंकारों का प्रतिपादन है। तदनन्तर संवत् १७९४ में आचार्य सोमनाथ ने रसपीयूषनिधि नामक लक्षण-ग्रन्थ रचा।[4] इस ग्रन्थ में एक साथ ही पिंगल, काव्य-लक्षण, प्रयोजन, भेद, शब्द-

१. डा० विजयपाल सिंह : केशव और उनका साहित्य, १९६१ ई०। पृ०-६८।
२. रसिक-रसाल (हि० का० शा० का इतिहास के पृ०—११८ से उद्धृत)।
३. काव्यसरोज।१।४। ४. रसपीयूष निधि। अन्तिम अंश।

१७१६ और १७४५ के बीच हुई थी और रसराज की रचना संभवतः इसके बाद हुई[1]। भूषण ने संवत् १७३० के लगभग "शिवराजभूषण" नामक प्रसिद्ध अलंकार ग्रन्थ की रचना की[2]। आप वीर रस के कवि होने के नाते अधिक प्रसिद्ध हैं। चिन्तामणि के भाइयों में जयशंकर ने प्रायः कोई काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ नहीं रचा।

इसी समय के आसपास आचार्य कुलपति मिश्र का आविर्भाव हुआ। इन्होंने "रसरहस्य" और "गुण-रस-रहस्य" नामक दो काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ रचे। रस रहस्य की रचना आपने संवत् १७२७ में की थी, जैसा आपकी निजी उक्ति से ही प्रमाणित होता है[3]। रसरहस्य के आठ वृत्तान्तों में आपने काव्य के समस्त अंगों का निरूपण किया है। आप सच्चे अर्थ में आचार्य प्रतीत होते हैं, क्योंकि विभिन्न संस्कृत के आचार्यों के लक्षणों को अपनी "बचनकाओं" में समीक्षात्मक ढंग से प्रस्तुत करने के बाद ये अपने लक्षणों को सप्रमाण निर्धारित करते पाये जाते हैं। सुखदेव मिश्र भी इसी काल के प्रसिद्ध आचार्य हैं। इन्होंने संवत् १७२० से लेकर १७६० संवत् के बीच अपनी अनेक रचनाएं प्रस्तुत कीं। वे हैं—वृत्तविचार, छन्दविचार, रसार्णव, शृङ्गार लता, पिंगल और फाजिल अली प्रकाश। इनमें से वृत्तविचार, छन्दविचार और पिंगल ये तीन ग्रन्थ तो छन्दसम्बन्धी हैं। शृंगारलता का परिचय अभी तक अप्राप्त है। रसार्णव में रसों का सामान्यतः और विशेषतः रसराज शृंगार तथा नायक-नायिक भेदों का विस्तृत निरूपण है। सुखदेव के बाद रामजी, गोपालराय, बलिराम, बलवीर, कल्यानदास प्रभृति कवियों ने भी रीति-ग्रंथों की रचना की, पर वे ग्रन्थ सर्वथा अमहत्वपूर्ण हैं[4]।

अब हिन्दी काव्य-शास्त्र के सुप्रसिद्ध आचार्य देव का रचना-काल आया। आपका रचना-काल संवत् १७४६ से लेकर १७९० संवत् तक माना जाता है। आपके द्वारा रचित ७२ ग्रन्थों की चर्चा की जाती है[5]। इनमें २५ ग्रंथों को रीति-ग्रन्थ बताया जाता है। पर प्रसिद्धि की दृष्टि से तथा काव्य-शास्त्रीय प्रतिपादन के महत्त्व की दृष्टि से ये चार ग्रंथ ही उल्लेखनीय हैं—रसविलास, भवानीविलास, भावविलास, और काव्य-रसायन। रसविलास इनके अन्तिम काल की रचना है। इसे १७८३ सं० में रचा गया था[6]। रस विलास और भवानी विलास में रस निरूपण है, भाव विलास में रसों और अलंकारों का तथा काव्य-रसायन में काव्य के विभिन्न अंगों का प्रतिपादन किया गया है।

---

१. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास। पृ०—८५।

२. प्रभुदयाल मीतल : ब्रजभाषा साहित्य का नायिका भेद। पृ०—७३।

३. रस रहस्य। वृत्तान्त ८, छन्द—३२। ४. हि. का. शा. का इतिहास। पृ.-९५-९६

५. शुक्लः हिन्दी साहित्य का इतिहास। पृ०—२६४। ६. रसविलास।

अब तक हिन्दी-साहित्य में रीति-परम्परा बद्धमूल-सी हो गई। १७५० संवत् के बाद १९०० विक्रम संवत् तक का काल रीति-साहित्य का उत्कर्ष काल है। इस बीच हिन्दी कवियों के मध्य यह प्रथा सी हो गई कि वे अनिवार्यतः लक्षण-ग्रंथों का निर्माण करें। लक्षण-ग्रन्थों के प्रणयन के बिना साहित्य जगत् में किम्वा राजदरबारों में प्रसिद्धि पाना नितान्त कठिन हो गया। यों अपवादस्वरूप दो-चार ऐसे भी कवि हुए जिन्होंने लक्षण-ग्रंथों की रचना न कर स्वतन्त्र रूप से काव्य-प्रणयन करना ही अपना उद्देश्य बनाया। विक्रम संवत् १७५० के बाद विरचित काव्य-ग्रंथों के रचयिताओं में उल्लेखनीय आचार्य हैं—सूरतिमिश्र, कुमारमणिभट्ट, श्रीपति, सोमनाथ, रसलीन, उदयनाथ, भिखारीदास, रतनकवि, करनकवि, पद्माकर, रसिक गोविन्द, प्रतापसाहि आदि। आगरे के सूरतिमिश्र ने अनेक काव्य-ग्रन्थ रचे। उनके नाम हैं,—अलंकार माला, रसरत्नमाला, रस-ग्राहक चन्द्रिका, काव्य-सिद्धान्त, रसरत्नाकर, सरस आदि। इन्होंने व्रजभाषा गद्य में केशव की कविप्रिया और रसिक-प्रिया पर टीकाएं भी लिखी थीं। इन टीकाओं के नाम हैं "जोरावर प्रकाश" और "रस-ग्राहक चन्द्रिका" जो अभी भी हस्तलिखित रूप में रमणलाल चौधरी, बाजार कोसी (मथुरा) के पास सुरक्षित हैं[1]। सुरतिमिश्र के सभी ग्रंथ रस और अलंकार से सम्बद्ध हैं, पर इनके ग्रन्थों में "काव्य-सिद्धान्त" सर्वतोऽधिक प्रसिद्ध है। इसमें काव्य के समस्त अंगों का एकत्र निरूपण किया गया है। कुमार मणि भट्ट ने रसिक-रसाल नामक ग्रन्थ संवत् १७७६ में लिखा था[2]। इसमें काव्य-प्रकाश के आधार पर काव्य के सभी अंगों का निरूपण है।

हिन्दी काव्यशास्त्र की इसी उत्कर्षकालीन परम्परा में आचार्य श्रीपति का जन्म हुआ। आपने कई लक्षण-ग्रन्थों का प्रणयन कर प्रसिद्ध पाई। आपके ग्रन्थ हैं—कविकुल कल्पद्रुम, रससागर, अनुप्रासविनोद, विक्रमविलास, सरोज कलिका, अलंकार गंगा और काव्य-सरोज। इन सभी ग्रन्थों में काव्य-सरोज अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसकी रचना १७७७ संवत् में हुई थी।[3] एकमात्र यही ग्रंथ उपलब्ध भी है। तेरह दलों में यह ग्रन्थ विभाजित है और काव्य के विभिन्न अंगों के प्रतिपादन के साथ अन्तिम दल में रस-निरूपण किया गया है। श्रीपति के इस ग्रन्थ की विशेषता यह भी है कि इसके दोष-दल (दोष-प्रकरण) में अन्य कवियों और आचार्यों की रचनाओं को उदाहृत किया गया है। संवत् १७८६ में रसिक सुमति ने अलंकार-चन्द्रोदय की रचना की जिसमें कुवलयानन्द की पद्धति पर अलंकारों का प्रतिपादन है। तदनन्तर संवत् १७९४ में आचार्य सोमनाथ ने रसपीयूषनिधि नामक लक्षण-ग्रन्थ रचा।[4] इस ग्रन्थ में एक साथ ही पिंगल, काव्य-लक्षण, प्रयोजन, भेद, शब्द-

१. डा० विजयपाल सिंह : केशव और उनका साहित्य, १९६१ ई०। पृ०-६८।
२. रसिक-रसाल (हि० का० शा० का इतिहास के पृ०—११८ से उद्धृत)।
३. काव्यसरोज।१।४। ४. रसपीयूष निधि। अन्तिम अंश।

शक्ति, रस, ध्वनि, रीति, गुण और दोष आदि सभी काव्यांगों का निरूपण किया गया है। यह एक विशाल ग्रन्थ है और इतिहासकारों ने इसकी बड़ी प्रशंसा की है। इसके बाद गोविन्द के कर्णाभरण की रचना १७९७ वि० संवत् में हुई। इसमें भी मात्र अलंकारों के लक्षणोदाहरण हैं। रसलीन ने १७९८ संवत् में रस-प्रबोध की रचना की जिसमें नौ रसों और उनके उपादानों का परम्परागत ढंग से विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया गया है। रघुनाथ ने काव्य-कलाधर और रसिक मोहन नामक दो काव्य ग्रंथ रचे। दोनों में रस-निरूपण ही है। रसिक मोहन में सभी रसों का उल्लेख और काव्यकलाधर में नायिका-भेद पर विशेष जोर दिया गया है।

इसी समय हिन्दी काव्यशास्त्र के सुप्रसिद्ध आचार्य भिखारी दास (या दास) का प्रादुर्भाव हुआ। दासकृत काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में ये निर्विवाद हैं—रस सारांश, छन्दार्णव पिंगल, काव्य-निर्णय और शृंगार-निर्णय।[1] इन सभी ग्रन्थों में भी काव्य-निर्णय अधिक प्रसिद्ध है। इसमें काव्य के सभी अंगों का निरूपण है। काव्य सिद्धान्त की दृष्टि से भिखारीदास ध्वनिवादी प्रतीत होते हैं।[2] ग्रन्थ के छठे उल्लास में ध्वनि का बड़ा स्पष्ट एवं मार्मिक निरूपण आपने किया है। दूलह कवि, बैरीसाल, समनेस और ऋषिनाथ प्रभृति आचार्य-कवियों ने रीति-ग्रन्थ रचे, पर वे उतने प्रसिद्ध नहीं हैं। अलंकार-निरूपण की दृष्टि से दूलह-प्रणीत कविकुल-कण्ठाभरण एक प्रसिद्ध रचना है। रतन कवि ने भी इसी समय के आसपास दो ग्रन्थ रचे थे—फतेहभूषण और अलंकार दर्पण। फतेहभूषण में काव्य के विभिन्न अंगों का प्रतिपादन है, पर अलंकारदर्पण में केवल अलंकारों के लक्षणों और उदाहरणों का विवरण है। शुक्ल जी के अनुसार इनका रचना-काल संवत् १८३० है। इसके अनन्तर जनराज का कवितारस विनोद, उजिवारे कवि के जुगुल रसप्रकाश और रस चन्द्रिका, यशवन्त सिंह का शृङ्गार शिरोमणि, जगत सिंह का साहित्य सुधानिधि आदि रीति-ग्रन्थ रचे गए।

रीतिकालीन काव्य-शास्त्र के अन्तिम मूर्धन्य आचार्य पद्माकर हुए। रामचन्द्र शुक्ल ने इनके आचार्यत्व की अपेक्षा कवित्व-शक्ति और कल्पना-नैपुण्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।[3] पद्माकर के जगद्विनोद को शुक्ल जी ने मतिराम के रसराज की कोटि की रचना मानी है। पद्माकर की अनेक रचनाओं में काव्य-शास्त्रीय रचनाएं दो ही हैं—पद्माभरण और जगद्विनोद। जगद्विनोद संवत् १८६७ के लगभग की रचना है और इसमें रस, भाव, नायिका भेद आदि का निरूपण है। पद्माभरण एक विशुद्ध अलंकार-ग्रन्थ है और इसकी रचना बैरीसाल के भाषाभरण के आधार पर की गई। इनके उदाहरण बड़े ही सरस एवं चित्रात्मक हैं।

---

१. जवाहर चतुर्वेदी सम्पादित काव्य-निर्णय की भूमिका, पृष्ठ-१३। २. काव्य-निर्णय षष्ठोल्लास। प्रथम छन्द। ३. हिन्दी साहित्य का इतिहास। पृ०–३०९–३१०।

पद्माकर को अन्तिम उल्लेख्य आचार्य मानने का यह तात्पर्य कदापि नहीं समझना चाहिए कि व्रजभाषा हिन्दी के काव्यशास्त्र (रीतिग्रन्थों) की परम्परा यहीं समाप्त हो गई। इसके बाद भी लगभग ५० वर्षों तक व्रजभाषा के माध्यम से रीतिग्रन्थों की रचना होती रही। उसके बाद यह दायित्व खड़ी बोली पर आ गया और गद्य के माध्यम से काव्य-शास्त्रीय चिन्तन की परम्परा का आरम्भ हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में हुए दो और आचार्यों की चर्चा हमें कर लेनी चाहिए। वे हैं—रसिक गोविन्द और प्रताप साहि। यों तो रसिक गोविन्द प्रणीत नौ पुस्तकों का पता चला है पर उनमें काव्य शास्त्रीय ग्रन्थ एकमात्र "रसिक गोविन्दानन्दधन" ही है[1]। इसमें रस, अलंकार आदि सभी काव्यांगों का निरूपण है। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें लक्षण तो व्रजभाषा गद्य में दिया गया है, पर उदाहरण पद्य में। साथ ही इसमें अनेक आचार्यों के मतों को उद्धृत करने के अनन्तर ग्रंथ-कर्त्ता ने अपने लक्षण और उदाहरण दिए हैं। प्रताप-साहि का रचना-काल संवत् १८८० से लेकर १९०० संवत् तक माना जाता है। प्रतापसाहि ने भी लगभग नौ ग्रंथ रचे थे[2]। पर इनमें काव्य-शास्त्रीय विषयों से सम्बद्ध ग्रंथ पांच हैं—काव्य विनोद, शृंगार मंजरी, अलंकार चिन्तामणि, काव्य विलास और व्यंग्यार्थ कौमुदी। इन सभी ग्रन्थों को मिलाकर देखने से शायद ही काव्य का कोई अंग निरूपित होने से अवशिष्ट मिल जाय।

१९०० विक्रम संवत् के बाद भी रीति ग्रन्थों या काव्य-शास्त्रीय ग्रंथों की रचना व्रजभाषा हिन्दी के माध्यम से होती रही पर जिस त्वरा और यशोलिप्सा से ये रचनाएं १९०० संवत् के पूर्व होती थीं वैसी परिस्थितियां अब नहीं रहीं। अतएव इस काल को व्रजभाषा काव्य-शास्त्र के इतिहास का ह्रास मानना ही उचित है। अब व्रजभाषा काव्य-शास्त्र की आधारशिला पर खड़ी बोली के गद्यात्मक काव्य शास्त्रीय ग्रन्थागार बनने जा रहे थे। तथापि क्षीणमाय युग में भी कई ऐसे आचार्य हुए जिन्होंने अलंकार, रस या नायिका भेद पर व्रजभाषा में रीति-ग्रन्थ लिखे। इस युग के काव्य शास्त्रियों में रामदास, ग्वालकवि, लछिराम, लेखराज, गुलाबसिंह कविराजा मुरारिदान, गंगाधर, महराजा प्रताप नारायण सिंह प्रभृति स्मरणीय हैं। रामदास ने संवत् १९०१ में समस्त काव्यांग निरूपक कवि—कल्पद्रुम नामक ग्रन्थ की रचना की[3]। ग्वाल कवि ने रस-निरूपक "रसरंग" नामक रीति-ग्रन्थ लिखा। लछिराम ने तो अनेक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ रचे जिनमें महेश्वर विलास और रावणेश्वर कल्पतरु प्रसिद्ध हैं। लेखराज ने संवत् १९३५ में गंगाभरण नामक एक

---

१. शुक्ल जी का इतिहास। पृ० ३२०—३२१। २. वही। पृ० ३१५—३१६।
३. कविकल्पद्रुम (हि० का० शा० का इतिहास से उद्धृत)।

अलंकार-ग्रन्थ रचा। आपने स्वयं स्वीकार किया है कि अलंकारों के व्याज से मैंने गंगा का गुण-गान किया है।[1] फलतः आप काव्य शास्त्री की अपेक्षा भक्त अधिक प्रतीत होते हैं। गुलाबसिंह ने वनिता भूषण नामक ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ की मुख्य विशेषता यह है कि नायिका भेदों और अलंकारों का एक साथ निरूपण किया गया है। कविराजा मुरारिदीन का जसवन्तभूषण, प्रतापनारायण सिंह का रसकुसुमाकर और गंगाधर कृत महेश्वर भूषण–ये सभी काव्य-शास्त्रीय पुस्तकें भी ब्रजभाषा-पद्य के माध्यम से ही लिखी गईं।

(घ) **विकास (उत्तरार्द्ध)** विक्रम संवत् १९५० के अनन्तर आज तक के युग को मैंने हिन्दी काव्य शास्त्र के इतिहास का उत्तरार्द्ध माना है। इस अवधि में भी दो चार आचार्यों ने ब्रजभाषा में अपने काव्य शास्त्रीय ग्रन्थ लिखे हैं पर बाद के सभी आचार्य खड़ी बोली गद्य में ही काव्य शास्त्रीय मीमांसा करने लगे हैं। गद्य के माध्यम से विवेचन किए जाने के कारण इस युग के काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ अधिक सुस्पष्ट, विवेचना पूर्ण, तर्कसंगत एवं उपादेय प्रतीत होते हैं। पर मौलिकता की दृष्टि से परवर्ती कतिपय ग्रन्थ ही मान्य हैं।

इस काल-खंड के बीच जगन्नाथ प्रसाद भानु, विहारीलाल भट्ट, अयोध्यासिंह उपाध्याय, कन्हैयालाल पोद्दार, रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दर दास, डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' रामदहिन मिश्र, बलदेव उपाध्याय, लक्ष्मीनारायण सिंह, 'सुधांशु', गुलाब राय, डा० नगेन्द्र प्रभृति काव्य शास्त्री उल्लेखनीय हैं।

जगन्नाथ प्रसाद भानु ने संवत् १९६६ में काव्य-प्रभाकर नामक ७८६ पृष्ठों का एक काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ रचा। यह ग्रन्थ खड़ी बोली गद्य में लिखा हुआ है, पर प्रस्तावना अंग्रेजी में लिखी हुई है। ग्रन्थ के बारह मयूखों में क्रमशः छन्द, ध्वनि, नायिका भेद, उद्दीपन, अनुभव, संचारी, स्थायी भाव, रस, अलंकार, दोष, काव्यनिर्णय और कोष-लोकोक्ति-संग्रह की अत्यन्त विस्तार के साथ विवेचना की गई है। ग्रन्थ के विशाल कलेवर होने के कारण मौलिक चिन्तन या प्रतिपादन नहीं बल्कि अनेक संस्कृत-हिन्दी के लक्षणों और उदाहरणों का संकलन ही है। विहारीलाल भट्ट ने संवत् १९९४ में साहित्य-सागर नामक ग्रन्थ रचा। ग्रन्थ दो भागों में विभाजित है और कुल मिलाकर इसमें १५ तरंगें हैं। ग्रन्थ में साहित्य के सभी अंगों का निरूपण किया गया है—यहां तक कि नाटक और गद्य-काव्य का भी। ग्रन्थ की अन्तिम तीन तरंगों में आध्यात्मिक नायिकाओं के भेद, निर्वाण और दान-प्रकरण भी जुटे हुए हैं। संवत् २००२ में कन्हैयालाल पोद्दार ने काव्य-कल्पद्रुम नामक ग्रन्थ के दो भागों (रस-

---

१. गंगाभरण। छन्द १०।

मंजरी और अलंकार मंजरी) को प्रकाशित किया। प्रायः इनके प्रथम संस्करण १९९१ और १९९३ में प्रकाशित हुए थे और उससे भी पहले दोनों मंजरियों का समन्वित रूप काव्यकल्पद्रुम नाम से संवत् १९८३ में ही प्रकाशित हो गया था।[1] प्रथम भाग (रसमंजरी) में समस्त काव्यांगों का निरूपण है और द्वितीय भाग (अलंकार मंजरी) में केवल अलंकारों का सोदाहरण प्रतिपादन है। ग्रन्थ सुचिन्तित, सुगठित एवं उपादेय है। सच पूछिए तो संस्कृत के काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों में काव्य-प्रकाश या साहित्य दर्पण को जो स्थान प्राप्त है, वही कन्हैयालाल पोद्दार के काव्य-कल्पद्रुम के दोनों भागों को आज भी प्राप्त है।

अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने भी पहली बार संवत् १९८८ में 'रस-कलस' नामक ग्रन्थ प्रकाशित कराया। हिन्दी काव्य-शास्त्र के परवर्ती आचार्यों में 'हरिऔध' जी महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इसका कारण यह है कि परवर्ती काल में स्वतन्त्र रूप से किसी ने केवल रस पर काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ नहीं लिखा था। इस ग्रन्थ में परम्परागत नौ रसों का विवेचन गद्य में किया गया है—पर उदाहरण आपने ब्रजभाषा में ही स्वयं रच कर दिए हैं। डा० रमाशंकर शुक्ल रसाल ने 'अलंकार-पीयूष' नामक ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ में मात्र अलंकारों का व्यवस्थित विवेचन है, उदाहरणों को भरने का प्रयास नहीं किया गया है। यहग्रन्थ उनके हिन्दी अलंकारों का विकास (इवोल्यूशन आफ हिन्दी अलंकाराज) शीर्षक शोध-प्रबन्ध का ही रूपान्तर है।

रामचन्द्र शुक्ल इस काल-खंड के अग्रणी आचार्य माने जाते हैं। इनकी 'रस-मीमांसा' (यह ग्रन्थ इनके निबन्धों का संग्रह है) और 'चिन्तामणि' दोनों भागों के कतिपय निबन्ध हिन्दी काव्य-शास्त्र के लिए युगान्तरकारी माने जाते हैं। आपने पूर्वी और पश्चिमी काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों के गहन अध्ययन के आधार पर सुचिन्तित विचार इनमें प्रस्तुत किए गए हैं। रसों के साधारणीकरण, रसात्मक प्रतीति की कोटियां, विभावों और अनुभावों के स्वरूप आदि के सम्बन्ध में आपके विचार सर्वथा मौलिक हैं। पडिण्तराज जगन्नाथ के बाद भारतीय काव्य-शास्त्र की जाह्नवी जो अवरुद्ध हो गई थी उसे शुक्ल जी ने भगीरथ बन कर पुनः प्रवाहित किया। ग्रंथ के प्रत्येक सन्दर्भ में मौलिकता एवं पांडित्य की छाप है।

श्यामसुन्दरदास ने संवत् १९७९ में 'साहित्यालोचन' नामक काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ पहली बार प्रकाशित कराया। यह ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य से सम्बन्ध रखने वालों

१. हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास। पृष्ठ—१९४।

के बीच बहुत ही लोकप्रिय हुआ। इस ग्रन्थ के छः प्रकाशन हुए हैं—इसीसे इसकी लोकप्रियता का अनुमान किया जा सकता है। क्रमशः संवत् १९८४, १९८८, १९९२ १९९४ और १९९९ में द्वितीय से लेकर षष्ठ आवृत्ति तक प्रस्तुत हुई है। पांचवें संस्करण में कुछ परिवर्द्धन एवं संशोधन भी स्वयं लेखक ने कर दिए हैं। इस ग्रंथ के सात अध्यायों में क्रमशः कला का विवेचन, साहित्य का विवेचन, काव्य का विवेचन, कविता का विवेचन, गद्य-काव्य का (दृश्य और काव्य) विवेचन, रस और शैली तथा साहित्य की आलोचना का प्रतिपादन ग्रन्थकार ने किया है। इस ग्रन्थ में किसी मौलिक सिद्धान्त की उद्भावना नहीं है प्रत्युत काव्य-शास्त्रीय सामग्रियों का ही अधिकाधिक संकलन है। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें डा० दास ने पूर्वीय और पश्चिमीय काव्य सिद्धान्तों का यथाप्रसंग सामंजस्य स्थापित किया है। ग्रन्थकर्त्ता ने स्वयं भी मौलिक काव्य शास्त्री होने का दावा नहीं किया वरन् भारतीय तथा यूरोपीय आलोचकों के मंतव्यों को हिन्दी के[1] विद्यार्थियों के लिए सुस्पष्ट शब्दों में सजाना ही अपना उद्देश्य बताया है।

रामदहिन मिश्र ने काव्यालोक 'प्रथम उद्योत', काव्यालोक 'द्वितीय उद्योत' और काव्यदर्पण नामक तीन ग्रंथ लिखे हैं। आपने पहले पाँच उद्योतों में काव्यालोक रचने की योजना बनाई थी। पर दो उद्योतों के प्रकाशन के अनन्तर ही बार्द्धक्य के कारण आपने यह योजना बन्द की और समस्त काव्यांगों का निरूपक ग्रन्थ 'काव्य-दर्पण लिखा। काव्य दर्पण का प्रथम प्रकाशन १९४७ ई० में हुआ था। ग्रन्थकर्ता ने स्वयं ग्रन्थरचना का उद्देश्य बताते हुए कहा कि काव्य-शास्त्र की सारी बातें नवीन विचारों और नवीन उदाहरणों के साथ रखना ही अभिप्रेत है। इस ग्रन्थ की मुख्य विशेषता यह है कि प्राचीन काव्य शास्त्रीय विचारों को नए युग की भाषा में खड़ी बोली कविता के उदाहरणों के साथ स्पष्टता से प्रतिपादित किया गया है। जहाँ-तहाँ पाश्चात्य समीक्षकों के उद्गारों को भी प्रस्तुत किया गया है तथा सामंजस्य बिठाने की चेष्टा की गई है। सबसे बड़ा दुर्गुण ग्रन्थ का यह है कि इसमें भारतीय आचार्यों के प्रति श्रद्धा और सम्मान का दुराग्रह है तथा पाश्चात्य समीक्षकों के प्रति उपेक्षा का भाव। यहाँ तक कि भारतीय आचार्यों के लिए प्रयुक्त क्रिया पदों को आदरार्थसूचक बहुवचन में रखा गया है पर विदेशी आलोचकों के लिए लाए गए क्रियापदों को सर्वदा एकवचन में ही व्यवहृत किया गया है। इसी क्रम से विचारों की स्वीकृति और अस्वीकृति में भी नितान्त दुराग्रह है। कहने का तात्पर्य यह कि काव्यदर्पण में नीर-क्षीर-विवेक का अभाव है, पर आधुनिक भाषा में काव्य-शास्त्रीय

१. साहित्यालोचन, प्रथम संस्करण, १९७९ (भूमिका)

विचारों के एकत्र संकलन की दृष्टि से ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ में १२ प्रकाश हैं जिनमें क्रमशः काव्य का सामान्य परिचय, अर्थ-निरूपण, रस स्वरूप और उपकरण, रसों के भेद, रसाभास, ध्वनि, काव्य के रूप, दोष, गुण, रीति और अलंकार विषयों का विवेचन है।

लक्ष्मीनारायण सिंह 'सुधांशु' ने काव्य में अभिव्यंजनावाद और 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त' नामक दो ग्रन्थ लिखे हैं। आपने इन दोनों ग्रन्थों में भारतीय एवं योरोपीय काव्य-सिद्धान्तों के आधार पर हिन्दी काव्य का निरीक्षण-परीक्षण किया है। कहीं-कहीं आपने अपनी नवीन मान्ताएं भी स्वतन्त्र रूप से प्रकट की हैं। ये दोनों ग्रन्थ परम्परागत काव्य-समीक्षा-पद्धति से सर्वथा हटकर लिखे गए हैं और इनमें रसों और अलंकारों आदि के सम्बन्ध में लेखक ने अपने सुचिन्तित विचार प्रकट किए हैं। 'जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त' नामक ग्रन्थ को आपने दस अध्यायों में लिखा है। जीवन के तत्वों और काव्य के तत्वों का पृथक्-पृथक निरूपण कर लेखक ने इनका निकटतम सम्बन्ध बताया है। हिन्दी काव्य-शास्त्र के इतिहास में यह ग्रंथ अपने ढंग का है और विद्वान लेखक के मौलिक चिन्तनों का परिचय इससे प्राप्त होता है। फिर भी इस ग्रन्थ से प्रतिपादित अनेक विचार विवादास्पद हैं।

डा० नगेन्द्र हिन्दी काव्य शास्त्र की वर्तमान पीढ़ी में बहुश्रुत बहुचर्चित हैं। आपने 'रीति काव्य की भूमिका' और 'देव और उनकी कविता' नामक दो ग्रन्थ अपने शोध-प्रबन्ध के आधार पर प्रस्तुत किए हैं। ग्रन्थों में व्यवस्थित अध्ययन का प्रतिफलन है। विशेषतः रीतिकालीन साहित्य की भूमिका बड़ी स्पष्टता के साथ उपस्थित की गई है। इधर भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका, हिन्दी काव्यालंकार सूत्र, हिन्दी वक्रोक्तिजीवित, हिन्दी ध्वन्यालोक आदि ग्रन्थों का आपने सफल सम्पादन भी किया है। इन ग्रन्थों में सामान्यतः भारतीय काव्य सम्प्रदायों का पुनराख्यान ही है, पर ग्रन्थकार ने विवेचन एवं विश्लेषण पद्धति में सर्वथा वैज्ञानिकता का परिचय दिया है। साथ ही अनुवाद भी प्रामाणिक हुए हैं। संस्कृत ग्रन्थों के इस पुनरुद्धार के जरिये लेखक हिन्दी में एक संश्लिष्ट काव्य-शास्त्र का निर्माण करना चाहता है। नगेन्द्र की धारणा है कि जैसे भारतीय और पाश्चात्य दर्शन एक दूसरे के पूरक है, उसी तरह भारतीय और पश्चिमी काव्य-शास्त्र भी।[1] अतएव आपने भारतीय काव्य-शास्त्रियों के अध्ययन-क्रम में पाश्चात्य समीक्षकों के विचारों को भी तुलनात्मक

१. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, १९५५ (वक्तव्य)

रूप में प्रस्तुत कर एकरूपता लाने की चेष्टा की है। वस्तुतः यह प्रयास सर्वथा नवीन और वरेण्य है।

बलदेव उपाध्याय संस्कृत के प्रौढ़ विद्वान् और सफल प्राध्यापक हैं। आपने अपने लेखन का माध्यम हिन्दी को ही बनाया है। काव्य शास्त्र पर आपने 'भारतीय काव्यशास्त्र' नामक ग्रन्थ दो खंडों में लिखा है। इन दोनों खंडों का प्रकाशन प्रसाद परिषद्, काशी की ओर से क्रमशः संवत् २००५ और संवत् २००७ में हुआ है। इन ग्रन्थों में संस्कृत काव्य-शास्त्र के उन अंशों का अध्ययन किया गया है जिन पर अभी तक हिन्दी में 'न कुछ' के बराबर ही लिखा गया था। विशेषतः औचित्य, रीति, वृत्ति, वक्रोक्ति (द्वितीय खंड में) और कविरहस्य जगन्नाथ के बाद के कतिपय संस्कृत आचार्यों का विवरण (प्रथम खंड में) इन ग्रन्थों के उल्लेखनीय अंश हैं। सामग्री की प्रचुरता तो है, पर शैली पण्डिताऊ है।

गुलाबराय ने काव्यालोचन पर तीन ग्रन्थ लिखे हैं। उनके नाम हैं—नवरस, सिद्धान्त और अध्ययन तथा काव्य के रूप। नवरस में परम्परागत मान्य नौ रसों का विवेचन किया गया है तथा प्रसंगवश अन्य काव्यांगों का भी वर्णन आया है। सिद्धान्त और अध्ययन तथा काव्य के रूप में क्रमशः रस, रीति, लक्षणा और व्यंजना तथा काव्य के विविध रूपों का अध्ययन किया गया है। साथ ही इस ग्रन्थ में वर्तमान साहित्यिक समस्याओं और वादों से अवगत कराने का प्रयास भी है। जहां-तहां पूर्व और पश्चिम के काव्य-सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन भी प्रस्तुत किया गया है। 'काव्य के रूप' में काव्य के भेदों का विवरण देने के साथ ही उनके सैद्धान्तिक विवेचन और हिन्दी साहित्य में उनके विकास को दरसाने का प्रयास भी है। इन सभी ग्रन्थों को मिलाकर देखने से साहित्यालोचन का पूरा क्षेत्र व्याप्त तो हो जाता है पर इनमें मौलिक चिन्तन की अत्यल्पता है। इन ग्रन्थों को लिखने का उद्देश्य ही लेखक का यह था कि हिन्दी साहित्य के विद्यार्थी काव्यांगों और काव्य-रूपों का सामान्य परिचय प्राप्त कर लें।[1] फलतः इन ग्रन्थों में रामचन्द्र शुक्ल जैसा सशक्त एवं मौलिक विवेचन का अभाव है।

उपर्युक्त सिद्धान्त-ग्रन्थों के अतिरिक्त इस युग में कई शोध-प्रबन्ध भी काव्य-शास्त्र पर लिखे गए हैं। इनमें से कुछ शोध-प्रबन्ध तो प्रकाशित भी हुए हैं और अवशिष्ट प्रबन्ध विश्वविद्यालयों की आलमारियों की ही शोभा बढ़ा रहे हैं। प्रकाशित शोध-प्रबन्धों में भागीरथ मिश्र का हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास, नारायण दास खन्ना का आचार्य भिखारी दास, सत्यदेव चौधरी का हिन्दी परम्परा के प्रमुख

---

१. गुलाबराय : सिद्धान्त और अध्ययन, १९५५ प्रस्तावना, पृष्ठ २९।

आचार्य (हिन्दी अनुसन्धान परिषद्—दिल्ली की ओर से प्रकाशित), पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की परम्परा आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। रामलाल सिंह ने आचार्य शुक्ल के समीक्षा-सिद्धान्त नामक शोध-प्रबन्ध लिखा है, जिसका प्रकाशन इसी नाम से कर्म-भूमि प्रकाशन-मन्दिर, वाराणसी से १९५८ ई० में हो चुका है। आनन्द प्रकाश दीक्षित-प्रणीत रस सिद्धान्त : स्वरूप विश्लेषण और छैलविहारी गुप्त लिखित मनोविज्ञान के प्रकाश में रस-सिद्धान्त का समालोचनात्मक अध्ययन भी उल्लेखनीय रस-ग्रन्थ हैं। डा० छैलविहारी गुप्त लिखित 'नायक-नायिका भेद' और डा० बृजवासी लाल श्रीवास्तव लिखित 'करुण-रस' (शोधात्मक रूप में हिन्दी काव्य में करुण-रस) भी शोधात्मक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ ही हैं। इन सभी शोधात्मक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ विवेच्य आचार्यों, कालों और काव्य सिद्धान्तों का सुचिन्तित अध्ययन है। फिर भी इन्हें पूर्व-प्रतिपादित ग्रन्थों की तरह सिद्धान्त-ग्रन्थ तो नहीं कहा जा सकता है।

अप्रकाशित शोध-प्रबन्धों में कई ऐसे ग्रन्थ हैं जो काव्य-शास्त्रीय विषयों से सम्बन्ध रखते हैं पर प्रकाश में नहीं आने के कारण उनके सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कह सकना नितान्त कठिन है। यहाँ केवल उनके नाम मात्र गिनाकर हमें सन्तोष करना होगा। इन शोध-प्रबन्धों की सूचना हमें डा० उदयभानु सिंह लिखित 'हिन्दी के शोध प्रबन्ध' नामक पुस्तक से मिली है।[1] अतएव विस्तृत विवरण के लिए उसी पुस्तक को देखना चाहिए। इन अप्रकाशित शोधात्मक काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों में उल्लेखनीय हैं—त्रिभुवन सिंह रचित मध्यकालीन अलंकृत कविता और मतिराम (हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा, १९५८ में स्वीकृत), रेवतीसिंह—लिखित पद्माकर तथा उनके रचित ग्रन्थों का आलोचनात्मक अध्ययन (आगरा विश्व-विद्यालय, आगरा द्वारा १९५९ में स्वीकृत), महेन्द्रकुमार द्वारा प्रस्तुत मतिराम : कवि और आचार्य (दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा १९५८ में स्वीकृत), जयचन्दराय लिखित आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—एक अध्ययन (आगरा विश्वविद्यालय द्वारा १९५८ में स्वीकृत) आदि। इनमें से त्रिभुवन सिंह और कुमार के शोध-प्रबन्ध अब प्रकाशित भी हो गए हैं।

(ङ) **सिंहावलोकन**—इस प्रकार सातवीं सदी के आचार्य पुष्य के युग से लेकर १९६२ ई० के शोध-प्रबन्धों के युग तक हिन्दी काव्य शास्त्रों का क्रमिक विकास होता रहा है। कृपाराम से प्रतापनारायण और गंगाधर के युग तक (संवत् १५९८ से संवत् १९५० पर्यन्त) जितने भी लक्षण ग्रन्थ हिन्दी में लिखे गए उनका

---

१. हिन्दी के शोध प्रबन्ध, १९५९, शोध-प्रबन्ध सूची, पृष्ठ ७-१६।

माध्यम ब्रजभाषा-पद्य था। इन ग्रन्थों में सर्वांशतः मौलिकता तो कहीं नहीं है, पर आंशिक मौलिकता अनेक आचार्यों में विद्यमान है। इस दृष्टि से केशव, चिन्तामणि, कुलपति, देव, सोमनाथ, भिखारी दास, प्रताप साहि आदि अधिक उल्लेख योग्य हैं। संवत् १९५० के अनन्तर हिन्दी काव्य शास्त्रीय चिन्तन का माध्यम खड़ी बोली का गद्य बना। इस युग को मैंने हिन्दी काव्य शास्त्र के विकास का उत्तरार्द्ध कहा है। जगन्नाथ प्रसाद भानु से लेकर डा० नगेन्द्र पर्यन्त जितने भी आचार्य हुए उन्होंने खड़ी बोली गद्य के माध्यम से ही अपने ग्रंथ रचे। इन आचार्यों में मौलिकता एवं महत्त्व की दृष्टि से रामचन्द्र शुक्ल, डा० नगेन्द्र प्रभृति विशेषतः ध्यान देने योग्य हैं। वर्तमान युग तो, वस्तुतः, शोध का युग है। अतएव इधर १९४६ ई० के अनन्तर तो केवल काव्य-शास्त्राधारित शोध-प्रबन्ध ही प्रस्तुत हो रहे हैं। सिद्धान्त-ग्रन्थों की सर्जना का काल समाप्त हो गया है और अब मौलिक विचार भी शोध-ग्रंथों के माध्यम से ही अभिव्यक्ति पा रहे हैं। यों इन काव्यशास्त्रीय शोध-ग्रन्थों का प्रारम्भ भी १९३७ ई० में लिखे गए रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' के 'हिन्दी काव्य-शास्त्र का विकास' नामक ग्रन्थ से ही मानना चाहिए।[1] पर यह शोध-स्रोत भी दश वर्षों तक अवरुद्ध प्रतीत होता है। काव्य-शास्त्रीय शोध-ग्रन्थों का प्रवर्तन डा० नगेन्द्र लिखित 'रीति काव्य की भूमिका में देव का अध्ययन' नामक ग्रंथ से वस्तुतः होता है। इसके बाद ही भगीरथ मिश्र, ओमप्रकाश, आनन्द-प्रकाश दीक्षित, राकेश प्रभृति उल्लेखनीय गवेषक इस क्षेत्र में उतर आते हैं। यह परम्परा अभी विकासशील है और उत्तरोत्तर उत्कृष्ट ग्रन्थों की संभावना की जा सकती है।

(३) हिन्दी काव्य-शास्त्र का साम्प्रदायिक वर्गीकरण

हिंदी काव्य-शास्त्र के इतिहास को दो खंडों (पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध) में बांट कर हमने अध्ययन किया है। अतएव वर्गीकरण भी दोनों खंडों का पृथक्-पृथक् ही वांछित है। पहले हम रीति ग्रन्थों को लेकर देखें कि इन ग्रन्थों के निर्माण-काल में कितने काव्य-सम्प्रदाय थे और उनके प्रवर्तक, पोषक और अनुयायी कौन-कौन आचार्य थे, फिर उत्तरार्द्धकालीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों को श्रेणीबद्ध करने का प्रयास करें।

(३-क) हिन्दी काव्य-शास्त्र के पूर्वार्द्ध का वर्गीकरण

रीति ग्रंथों का वर्गीकरण थोड़ा कठिन है क्योंकि इन आचार्यों की प्रवृत्ति अस्थिर प्रतीत होती है। किसी एक दिशा में प्रवृत्त हो अर्थात् किसी एक काव्य-

---

१. डा० उदयभानु सिंह : हिन्दी काव्य के स्वीकृत शोधप्रबन्ध, पृष्ठ २४।

सिद्धांत को अपनाकर रीति-ग्रंथ लिखना इन्होंने नहीं सीखा था। परम्परागत संस्कृत के काव्य-शास्त्र का ज्ञान संभार इन्हें उपलब्ध तो हुआ, पर उसे बिना पचाए ही आप काव्य-शास्त्र निर्माण में लग गए। परिणाम यह हुआ कि आपके काव्य-शास्त्रीय विचार नए काव्य-सम्प्रदाय को जन्म देने में तो नितान्त असमर्थ रहे ही बल्कि परम्परागत काव्य-सम्प्रदायों का अनुमोदन भी व्यवस्थित रूप में आपके हाथों संभव न हो सका।

(अ) डा० नगेन्द्र का वर्गीकरण—

डा० नगेन्द्र ने रीति ग्रन्थों का वर्गीकरण उनकी शैली के आधार पर किया है।[1] संस्कृत के जिन परवर्तीकालीन ग्रन्थों के आधार पर इन रीतिकालीन आचार्यों ने अपने ग्रन्थ लिखे उन्हीं ग्रन्थों के नाम पर आपने तीन निरूपण-शैलियों का उल्लेख किया है। वे शैलियां हैं—(१) काव्य-प्रकाश की निरूपण-शैली जिसमें काव्य के सभी अंगों पर थोड़ा-बहुत प्रकाश डाला गया है (२) श्रृंगार-तिलक, रसमंजरी आदि की श्रृंगाररसमयी नायिका-भेद वाली शैली जिसमें केवल श्रृंगार के विभिन्न अंगों—विशेषकर नायिका के भेद का ही निरूपण किया गया है और (३) चंद्रालोक की संक्षिप्त अलंकार-निरूपण शैली जिसमें अलंकारों के ही संक्षिप्त लक्षण और उदाहरण दिए गए हैं। यह वर्गीकरण अधिक उपयुक्त इसलिए नहीं जंचता है कि इसके अन्तर्गत उन रीति युगीन ग्रन्थों को हम भले ही समाविष्ट कर सकें, पर उन आचार्यों को नहीं बांध पाते जिन्होंने ये ग्रन्थ रचे थे। कारण यह कि एक ही आचार्य विभिन्न शैलियों के ग्रन्थों की रचना में प्रवृत्त पाए जाते हैं। उदाहरण के लिए केशव अथवा पद्माकर को लीजिए। केशव की 'रसिक प्रिया' को नगेन्द्र जी ने द्वितीय शैली के अन्तर्गत रक्खा है क्योंकि इसमें श्रृंगार-रस का तथा नायिका-भेदों का निरूपण है। पर इनकी 'कविप्रिया' को किस शैली के अन्तर्गत रक्खा जाय, यह प्रश्न ज्यों का त्यों बना रह जाता है। यदि विभिन्न काव्यांगों का निरूपण इस ग्रन्थ में देखकर इसे मम्मटी शैली में रख दिया जावे तो आचार्य केशव को किस कोटि का आचार्य माना जाय? भानुदत्त की परम्परा का, या मम्मट की परम्परा का यह प्रश्न उठ खड़ा होता है। केवल एक ग्रन्थ की निरूपण-शैली में भी अनेक विप्रतिपत्तियां पाई जाती हैं। केशव की रसिक-प्रिया में भी भानुदत्त की रसमंजरी या रुद्रभट्ट की श्रृंगारतिलक की तरह केवल श्रृंगार-रस का ही अथवा उसके आलम्बनभूत नायिकाओं का ही निरूपण नहीं है बल्कि उसके साथ हास्य-करुण आदि नौ रसों, चतुर्विध

---

१. डा० नगेन्द्र। रीतिकाव्य की भूमिका, १९४९ पृष्ठ १४९।

वृत्तियों और रस-अनरसों का वर्णन है ।[1] ऐसी स्थिति में केशव की रसिक-प्रिया को शृंगार-मंजरी की निरूपण-शैली में निबद्ध करना न्याय्य नहीं प्रतीत होता है। इसी प्रकार 'कविप्रिया' को भी मात्र अनेकांग निरूपक देखकर उसे काव्य-प्रकाश की शैली का ग्रन्थ नहीं माना जा सकता। क्योंकि इस ग्रन्थ में कई ऐसे काव्य शास्त्रीय विषय भी प्रतिपादित किए गए हैं जो स्वयं मम्मट के काव्य-प्रकाश में नहीं हैं। केशव की कवि-प्रिया में राजवंशवर्णन और कविवंशवर्णन के अतिरिक्त कवि व्यवस्था (जिसके अन्तर्गत कवियों का वर्गीकरण किया गया है तथा कविरीतियों और कविप्रसिद्धियों का उल्लेख है), श्वेतादि वर्णन (जिसके अन्तर्गत अलंकारों का सामान्य-विशेष वर्ग और उनके रंग आदि के आधार पर भेद बताए गए हैं), भूश्रीवर्णन और राज्यश्री-वर्णन आदि नवीन अंश हैं जो काव्य-प्रकाश में नहीं पाए जाते ।[2] इसके अतिरिक्त जिस किसी आचार्य के ग्रन्थों को लेने पर भी यही स्थिति दृष्टिगोचर होगी। पद्माकर का जगद्विनोद तो अपनी शृंगार निरूपकता के कारण रसमंजरी की शैली में और पद्माभरण अलंकार निरूपक होने के कारण चन्द्रालोकी पद्धति में आवेगा, पर स्वयं पद्माकर का आचार्यत्व किस कोटि में परिगणित किया जाय—यह समस्या बनी रह जाती है।

इतना ही नहीं, जयदेव के चन्द्रालोक और मम्मट के काव्य-प्रकाश की जो शैलीगत विशेषताएं हैं वे इन रीतिकालीन ग्रन्थों में कदापि उपलब्ध नहीं होती हैं। मम्मट के काव्य प्रकाश में लक्षणों की कसावट, गद्यात्मक वृत्ति, अन्य-रचित उदाहरण और लक्षण तथा परस्पर स्वतन्त्र छन्दों का निवेश आदि गुण पाए जाते हैं और रीतिकाल का कोई भी ग्रन्थ इन विशेषताओं से प्रायः विभूषित नहीं पाया जाता है। इसी प्रकार जयदेव के चन्द्रालोक की विशेषताओं में संक्षिप्त अविकसित लक्षण, लघुतम छन्द, एक श्लोक में ही लक्षण तथा लक्ष्य का समावेश, स्वरचित उदाहरण आदि स्वीकृत किए जा सकते हैं। ये गुण तो निस्संदेह अनेक अलंकार-निरूपक रीतिग्रन्थों में आए, पर विषय निरूपण में इन आचार्यों ने चन्द्रालोक की अपेक्षा अप्ययदीक्षित के कुवलयानन्द को ही आधार बनाया। ऐसी स्थिति में चन्द्रालोकी शैली में ये ग्रंथ रचे गए—ऐसा मानना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। ज्यादा से ज्यादा काव्यप्रकाश, चन्द्रालोक और रसमंजरी आदि ग्रन्थों का प्रभाव ही रीतिग्रन्थों पर माना जा सकता है।

(आ) डा० ओमप्रकाश और डा० भगीरथ मिश्र का वर्गीकरण—

रीतिग्रन्थों के वर्गीकरण का एक आधार यह भी बताया जा सकता है कि उस ग्रंथ में कितने काव्यांगों का निरूपण हुआ है। डा० ओमप्रकाश प्रभृति कई

१. केशवदास : रसिकप्रिया, १४-१६ प्रभाव।
२ वही : कविप्रिया, ४, ५, ७, ८ प्रभाव।

ऐतिहासिकों और समीक्षकों ने इसे आधार माना भी है। इस दृष्टि से देखने पर समस्त रीतिकालीन लक्षण-ग्रन्थों के दो वर्ग बनाये जा सकते हैं—एकांगनिरूपक और अनेकांग-निरूपक। जो ग्रन्थ केवल रस, अलंकार, छन्द, नायिकाभेद आदि काव्य के एक अंग मात्र का निरूपण करते हैं उन्हें एकांगनिरूपक की कोटि में और जो ग्रंथ एक से अधिक दो-तीन-चार काव्यांगों का उल्लेख एवं विश्लेषण करते हैं उन्हें अनेकांग-निरूपक की कोटि में रख लिया जायगा। इस प्रकार एकांगनिरूपक वर्ग के भी कई उपवर्ग बन जायंगे—अलंकार-निरूपक, छन्द-निरूपक, रस-निरूपक आदि, पर अनेकांगनिरूपक ग्रंथों का एक ही वर्ग मानना ठीक होगा। इस वर्गीकरण के अनुसार जसवन्त सिंह का भाषाभूषण, पद्माकर का पद्माभरण, मतिराम का ललित-ललाम, रसिक सुमति का अलंकार चन्द्रोदय आदि ग्रन्थ अलंकार-निरूपक होने के कारण; केशव की रसिक-प्रिया, तोष की सुधानिधि, देव का भवानीविलास और रसविलास, सूरतिमिश्र का रसरत्नाकर, रसलीन का रसप्रबोध आदि ग्रन्थ रसनिरूपक होने के कारण तथा कृपाराम की हिततरंगिनी, सूरदास की साहित्यलहरी, नन्ददास की रसमंजरी, चिन्तामणि की शृंगार मंजरी, मतिराम का रसराज और साहित्यसार, देव का सुखसागरतरंग, भिखारीदास का शृंगारनिर्णय आदि नायिका-भेद निरूपक होने के कारण एकांगनिरूपक वर्ग में परिगणित किये जायंगे। इसी प्रकार केशवदास की कविप्रिया, कुलपति का रसरहस्य, देव का भावविलास, सूरतिमिश्र का काव्यसिद्धान्त, श्रीपति का काव्यसरोज और काव्यकल्पद्रुम, भिखारी दास का काव्यनिर्णय, ग्वाल कवि का साहित्यदर्पण आदि ग्रंथ एकाधिक काव्यांगों के निरूपण के कारण अनेकांग-निरूपक वर्ग के अन्तर्गत समाविष्ट किए जायंगे। ठीक इसी वर्गीकरण से मिलता जुलता वर्गीकरण डा० भगीरथ मिश्र का भी है[1]। आपने समस्त रीति-ग्रन्थों को चार भागों में बांट दिया है—

(क) अलंकार-ग्रन्थ—वे ग्रन्थ जो केवल अलंकार पर लिखे गए हैं।

(ख) रस-ग्रन्थ—वे ग्रन्थ जिनमें केवल रसों का वर्णन मिलता है।

(ग) शृंगार एवं नायिका-भेद ग्रन्थ—वे ग्रन्थ जो केवल शृङ्गार-रस या नायिका-भेद अथवा दोनों का वर्णन करते हैं।

(घ) काव्य-शास्त्र ग्रन्थ—वे ग्रन्थ जिनमें काव्य-शास्त्र के समस्त, अधिकांश या एकाधिक अंगों का वर्णन मिलता है।

फिर इन सभी वर्गों के ग्रंथों की कालक्रमानुसार आपने विस्तृत सूची भी प्रस्तुत करदी है[2]।

---

१. डा० भगीरथ मिश्र : हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास संवत् २००५, पृ०-४०-४७

२. वही, पृ०-४१-४०

जहां तक ग्रन्थों के वर्गीकरण का प्रश्न है, यह वर्गीकरण पूर्णतः वैज्ञानिक है। इन दोनों वर्गीकरणों में किसी प्रकार अव्याप्ति या अतिव्याप्ति दोष नहीं लगाया जा सकता। मिश्र जी ने छन्द को काव्यांग का महत्त्व नहीं दिया है, अन्यथा उसमें एक और छन्द-ग्रन्थों का वर्ग जोड़ दिया जा सकता था। उपरिनिर्दिष्ट शैली के आधार पर किए वर्गीकरण की तरह इसमें दोषों का अनुसन्धान नहीं किया जा सकता है। तथापि इतना तो निश्चित है ही कि ग्रन्थों के वर्गीकरण के आधार पर हम रीति-कालीन आचार्यों को श्रेणीबद्ध नहीं कर सकते। क्योंकि एक ही आचार्य के लिखे गए भिन्न-भिन्न ग्रन्थ विभिन्न वर्गों में अपने प्रतिपाद्य विषय के आधार पर रखे गए हैं। और यह ग्रन्थ-वर्गीकरण स्वाभाविक भी है। उदाहरण के लिए देव को लीजिए। एक ही देव के भवानीविलास, रसविलास और कुशलविलास "रसग्रंथ" के अन्तर्गत हैं, पर उन्हीं के सुखसागर तरंग और जातिविलास "शृंगार और नायिका-भेद-ग्रंथ" के अन्तर्गत हैं और भावविलास, काव्यरसायन या शब्दरसायन "काव्यशास्त्र-ग्रन्थ" के अन्तर्गत आते हैं। फिर स्वयं आचार्य देव को किस कोटि का आचार्य माना जाय—यह समस्या ज्यों की ज्यों बनी रह जाती है। देव के ग्रन्थों में तो थोड़ा-बहुत प्रवृत्ति-साम्य देख कर उन्हें रसवादी स्वीकार भी कर लिया जा सकता है, पर सूरतिमिश्र, श्रीपति और मतिराम जैसे आचार्यों को क्या माना जाय जिनके अलंकार ग्रन्थ भी हैं और रसग्रंथ भी। इन्हें अलङ्कारवादी कहा जाय या रसवादी या रस ध्वनिवादी—यह एक जटिल समस्या ज्यों की त्यों बनी रह जाती है। अतएव प्रतिपाद्य विषयों की संख्या के आधार पर रीतिग्रन्थों का वर्गीकरण कर सन्तुष्ट हो जाना बहुत समीचीन नहीं प्रतीत होता है।

(इ) दूलह का वर्गीकरण

रीतिकालीन आचार्य -कवि दूलह ने अपने 'कवि - कुल-कण्ठाभरण' नामक ग्रन्थ की भूमिका में अपने युग के ग्रन्थ-निर्माताओं के कई प्रभेदों का संकेत किया है[1]। अतएव इन संकेतों के आधार पर (१) सत्कवि (२) कर्त्ता (३) अलंकृती (४) और कवि—ये चार वर्ग रीतियुग के कवियों और आचार्यों के बनाए जा सकते हैं। काव्य के अनेक अंगों का एक ग्रन्थ में विवेचन करने वाले आचार्य "सत्कवि" माने जायंगे। इस कोटि में केशव, चिन्तामणि, कुलपति, देव, सूरतिमिश्र, श्रीपति, भिखारी प्रभृति आचार्य आ जायंगे। पुनः केवल किसी एक रीति-शृंगार, नायिकाभेद या रस सामान्य को लेकर ग्रन्थ रचने वाले आचार्य "कर्त्ता" कहे जा सकते हैं। इस वर्ग के अन्तर्गत तोष, श्रीनिवास, लोकनाथ, रसलीन, कृपाराम, पद्माकर प्रभृति उन आचार्यों का समावेश किया जायगा जिन्होंने केवल रस-रीति को आधार मान कर काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों की रचना की। तीसरे वर्ग "अलंकृती" के अन्तर्गत उन्हें रखा जायगा,

---

१. दूलह: कविकुलकण्ठाभरण (भूमिका)

जिन्होंने केवल अलङ्कार-विषयक ग्रंथ लिखे हैं यथा मतिराम, भूषण, गोप, रसिक सुमति, दूलह आदि । चतुर्थ वर्ग के कवि वे हैं जिन्होने लक्षण नहीं गढ़े हैं बल्कि रीतिमुक्त कविताएं की हैं । इस वर्ग में स्पष्टतः बोधा, ठाकुर, घनानन्द, रसखान, आलम आदि रखे जायंगे[1] । यों इन कवियों के भी कई उपवर्ग बनेंगे—प्रबन्धकवि, सूक्तिकार, ज्ञानोपदेशक, भक्तकवि आदि[2] । पर प्रस्तुत प्रसंग में हमें इस चतुर्थ वर्ग के कवियों का अध्ययन वांछित नहीं है, अतएव सत्कवि, कर्त्ता और अलंकृती (जिन्होंने लक्षण-ग्रन्थ लिखे) केवल इन तीन वर्गों को ही ध्यान में रखें ।

इस वर्गीकरण की सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि इस वर्गीकरण के द्वारा ग्रन्थों को छोड़कर ग्रंथकार आचार्यों का वर्गीकरण हो जाता है । यों ग्रन्थकारों के वर्गीकरण में आनुषंगिक रूप से ग्रंथ भी आ ही जाते हैं । फिर भी इतना स्पष्ट है कि दूलह ने सत्कवि, कर्त्ता और अलंकृती आदि शब्दों के द्वारा उन ग्रन्थकार आचार्यों को ही संकेतित किया है, उनके ग्रन्थों को नहीं । पर इस वर्गीकरण को भी अव्याप्ति–अतिव्याप्ति दोषों से बचाया नहीं जा सकता । क्योंकि एक ही आचार्य जिन्होंने अपने ग्रन्थ में अनेक या सभी काव्यांगों का निरूपण किया है, दूलह के अनुसार "सत्कवि" कहलायंगे, फिर उन्होंने ही यदि स्वतन्त्र अलङ्कार ग्रन्थ लिखा तो उस रचना के आधार पर "अलंकृती" कहलायेंगे, या रस-रीति निरूपक पृथक् ग्रन्थ लिखा है तो "कर्त्ता" भी कहे जा सकते हैं । परिणामतः केशव, देव, भिखारी प्रभृति पूर्ववत् सत्कवि और कर्त्ता दोनों वर्गों में लाये जा सकते हैं क्योंकि इन्होंने अनेकांग-निरूपक काव्य-ग्रंथ भी रचे और शृंगार या नायिका-भेद परक ग्रन्थ भी लिखे । इसी प्रकार सूरतिमिश्र, पद्माकर प्रभृति आचार्य "कर्त्ता" और "अलंकृती" के दोनों वर्गों में समाविष्ट किये जायंगे क्योंकि इन्होंने पृथक्-पृथक् रस-ग्रन्थ भी लिखे और अलङ्कार-ग्रन्थ भी । अतएव यह वर्गीकरण भी निर्दोष नहीं है ।

(ई) साम्प्रदायिक वर्गीकरण

मेरी धारणा है कि रीतिकालीन आचार्य भी संस्कृत-काव्य-शास्त्र के प्रणेता आचार्यों की तरह किसी न किसी विचार-धारा-विशेष के पोषक या अनुयायी थे, चाहे यह विचार-धारा उन्हें परम्परा से ही क्यों न प्राप्त हुई हो । जिस प्रकार समस्त संस्कृत-काव्य शास्त्र के आचार्यों को हम रस, रीति-गुण, अलंकार, औचित्य ध्वनि आदि काव्य-तत्वों के प्रतिपादन-समर्थन के कारण छः सम्प्रदायों में विभक्त पाते हैं, उसी प्रकार ये रीतिकालीन आचार्य भी रस-सम्प्रदाय, अलंकार-सम्प्रदाय और ध्वनि-सम्प्रदाय में विभक्त है । इस युग में आकर रीति-गुण, वक्रोक्ति और औचित्य का प्रतिपादन किसी आचार्य ने नही किया[3] । सच पूछिए तो इन तथाकथित काव्य-

---

१. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ३२२ । २. वही,-पृ. ३२३-३२५
३. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित "पद्माकर" (सं० २०१६), पृ०-६

तत्त्वों के आधार पर बने काव्य-सम्प्रदाय संस्कृत युग में ही अमान्य हो गए थे, फलतः ये सम्प्रदाय हिन्दी के रीतियुग में भी उज्जीवित न हो सके। कहने का तात्पर्य यह कि रीति-गुण, वक्रोक्ति और औचित्य पर स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं लिखे गए। पर रीतिकालीन सिद्धान्त ग्रन्थों में भी किसी-किसी आचार्य ने रीति या वृत्ति का काव्यांग के रूप में निरूपण किया है। इसी प्रकार वक्रोक्तिपूर्ण अनेक कविताएं मतिराम, पद्माकर, बिहारी आदि की रचनाओं में उपलब्ध हो जाती है[1]। फिर भी वक्रोक्ति का कुन्तकीय वक्रोक्ति के अर्थ में शास्त्रीय निरूपण कहीं भी उपलब्ध नहीं होता है। अधिक से अधिक वक्रोक्ति को शब्दालंकार के रूप में ग्रहण किया गया है[2]। औचित्य की तो प्रायः चर्चा भी किसी रीति ग्रंथ में नहीं है। फलतः अलंकार-सम्प्रदाय, रस-सम्प्रदाय और ध्वनि-सम्प्रदाय—ये तीन काव्य-सम्प्रदाय ही हिन्दी के रीतिकालीन काव्य-शास्त्र में बचे रहे, ऐसा मानना चाहिए। इन्हीं तीन काव्य-सम्प्रदायों के आधार पर हिन्दी काव्य-शास्त्र के रीतिकालीन आचार्यों का वर्गीकरण नितान्त वांछनीय एवं उपयुक्त है।

साम्प्रदायिक वर्गीकरण के लिये हमने तीन आधार गृहीत किए हैं। इन्हीं आधारों पर रीतियुगीन आचार्यों को सम्प्रदाय-विशेष में बाँधा जा सकता। है वे आधार हैं—

(क) जिन्होंने केवल अलंकार-ग्रन्थ लिखे हैं, निःसंदेह उनकी प्रवृत्ति अलंकारों की ओर है। अतएव ऐसे आचार्य अलंकार सम्प्रदाय के हैं।

(ख) जिन आचार्यों ने केवल रस-निरूपक ग्रन्थ, नायिका-भेद-परक ग्रन्थ या शृंगार-निरूपक ग्रन्थ रचे हैं, वे वस्तुतः किसी न किसी रूप में रसतत्त्व का ही अनुमोदन करते हैं। फलतः इन रस-रीति-मात्र के निरूपक आचार्यों को रस-सम्प्रदाय में परिगणित करना चाहिए।

(ग) जिन आचार्यों ने अनेक प्रकार के रीति-ग्रन्थ लिखे हैं अर्थात् अलंकार-ग्रन्थ, रस-ग्रन्थ, नायिकाभेद ग्रन्थ, अनेकांग-निरूपक काव्यशास्त्र आदि किम्बा जिन्होंने मात्र अनेकांग-निरूपक काव्य-शास्त्र भी लिखे हैं, इन्हें इनके द्वारा प्रतिपादित काव्यादर्शों के आधार पर किसी सम्प्रदाय-विशेष में समाविष्ट करना चाहिए।

आगामी पृष्ठों में मैंने रीतिकाल के २५ आचार्यों के ग्रन्थों की एक सूची प्रस्तुत की है। प्रत्येक आचार्य के सामने उनके द्वारा रचित विभिन्न कोटियों के रीति-ग्रन्थों को अलग-अलग खाने में रख दिया है और अन्तिम खाने में उपर्युक्त

---

१. बलदेव उपाध्याय, भारतीय साहित्य शास्त्र २००५ सं०, पृ० ४६९-४७८।

२. दास : काव्यनिर्णय (जवाहर लाल चतुर्वेदी—सम्पादित, १९५६) पृ०-५७०।

तीन आधारों पर किए गए निर्णय के अनुसार उनके सम्प्रदाय विशेष का भी उल्लेख कर दिया है। सूची की समाप्ति के अनन्तर अपने निर्णय का विवरण भी मैंने प्रस्तुत कर दिया है। इस सूची में केवल उन्हीं आचार्यों को समाविष्ट किया गया है जिनके ग्रन्थ अधिक प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं तथा जो रीतिकाल के प्रतिनिधि आचार्यों की मान्यता प्राप्त कर गए हैं। आचार्यों की इस सूची में काल-क्रम को उतना महत्व नहीं दिया गया है जितना ग्रन्थों के विवरण[1] और सम्प्रदाय-विशेष के उल्लेख को दिया गया है। २५ आचार्यों की यह तालिका एक दिशा-निर्देश मात्र ही है। इसी भाँति रीतिकालीन सभी प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध आचार्यों का भी साम्प्रदायिक वर्गीकरण किया जा सकता है। इस संक्षिप्त तालिका को एक संकेत ही समझना चाहिए :—

क्रम संख्या	आचार्य	अलंकार निरूपक ग्रन्थ	रस-सामान्य निरूपक ग्रंथ	मात्र शृङ्गार और नायिका भेद निरूपक ग्रन्थ	अनेकांग-काव्य-शास्त्रीय ग्रंथ	सम्प्रदाय
१	२	३	४	५	६	७
१.	कृपाराम	—	—	१-हिततरंगिणी	—	रस-सम्प्रदाय
२.	सूरदास	—	—	१-साहित्य-लहरी	—	वही
३.	नन्ददास	—	—	१-रसमंजरी २-विरहमंजरी	—	वही वही
४.	केशवदास	—	१-रसिकप्रिया	—	१-कविप्रिया	वही
५.	चिन्तामणि त्रिपाठी	—	—	१-शृंगारमंजरी	१-कविकुल कल्पतरु २-काव्यप्रकाश	वही
६.	तोषनिधि	—	१-सुधानिधि	—	—	वही
७.	जसवन्तसिंह	१-भाषाभूषण	—	—	—	अलंकार-सम्प्रदाय
८.	मतिराम	१-ललितराम	—	१-रसराज २-साहित्यसार	—	रस-सम्प्रदाय

१. ग्रन्थ-विवरण के आधार-ग्रन्थ हैं—मिश्रबन्धु विनोद, रामचन्द्र शुक्ल का हिं०सा० का इतिहास, भगीरथ मिश्र का हि० का० शा० का इतिहास और ना० प्र० स० की खोज रिपोर्ट।

१	२	३	४	५	६	७
९.	भूषण	१-शिवराज-भूषण	—	—	—	अलंकार सम्प्रदाय
१०.	कुलपतिमिश्र	—	१-रसरहस्य	—	—	ध्वनि-सम्प्रदाय
११.	सुखदेव	—	१-रसार्णव २-फाजिल-अलीप्रकाश	१-शृंगारलता	—	रस-सम्प्रदाय
१२.	देव		१-भवानी-विलास २-रसविलास ३-कुशलविलास	१-सुखसागर-तरंग २-जाति-विलास	१-भाव-विलास २-काव्य-रसायन या शब्दरसायन	रस-सम्प्रदाय
१३.	सूरतमिश्र	१-अलंकार माला	१-रसरत्नाकर २-रसरत्नमाला ३-रसग्राहक-चन्द्रिका	—	१-काव्य-सिद्धांत	रस-सम्प्रदाय
१४.	कुमारमणिभट्ट	—	—	—	१-रसिक-रसाल	ध्वनि-सम्प्रदाय
१५.	श्रीपति	१-अलंकार-गंगा	१-रससागर	—	१-काव्य-सरोज २-काव्य-कल्पद्रुम	रस-सम्प्रदाय
१६.	गोप	१-रामचन्द्रा-भरण २-रामचन्द्र-भूषण	—	—		अलंकार सम्प्रदाय
१७.	रसलीन	—	१-रसप्रबोध	—	—	रस-सम्प्रदाय
१८.	सोमनाथ	—	—	—	१-रसपीयूष-निधि	ध्वनि-सम्प्रदय।

१	२	३	४	५	६	७
१९.	भिखारीदास	—	१-रससारांश	१-शृंगार-निर्णय	१-काव्य-निर्णय	वही
२०.	दूलह	१-कविकुल-कंठाभरण	—	—	—	अलंकार सम्प्रदाय
२१.	पद्माकर	१-पद्माभरण	१-जगद्विनोद	—	—	रस-सम्प्रदाय
२२.	रसिकगोविन्द				१-रसिकगोविन्दानन्दघन	वही
२३.	प्रतापसाहि				१-व्यंग्यार्थ-कौमुदी २-काव्यविलास ३-काव्यविनोद	ध्वनि-सम्प्रदाय
२४.	रामदास				१-कविकल्पद्रुम	वही
२५.	ग्वालकवि	१-अलंकार-भ्रमभंजन	१-रसरंग		१-साहित्यदर्पण २-साहित्यभूषण	अलंकार-सम्प्रदाय

उपर्युक्त आचार्यों और ग्रंथों की तालिका में स्पष्टतः रस-सम्प्रदाय, ध्वनि-सम्प्रदाय और अलंकार-सम्प्रदाय का उल्लेख है। प्रत्येक सम्प्रदाय में जितने आचार्य परिगणित हैं उनका विवरण आधार-सहित प्रस्तुत है :–

(च) रस-सम्प्रदाय

तालिका में कृपाराम, सूरदास, नन्ददास, केशव, चिन्तामणि, तोष, मतिराम, सुखदेव, देव, सूरतिमिश्र, रसलीन, पद्माकर, रसिक-गोविन्द, श्रीपति और ग्वाल रस-सम्प्रदाय के आचार्य स्वीकार किए गए हैं। इनमें से कृपाराम, सूरदास नन्ददास, तोष, सुखदेव और रसलीन इसलिए रस-सम्प्रदाय के आचार्य हैं कि उन्होंने मात्र रस-निरूपक या नायिका-भेद निरूपक या शृङ्गार निरूपक ग्रन्थ रचे हैं। ऐसे ग्रन्थ रच कर आपने रसवादिता का ही परिचय दिया है। यह बात और है कि रस-सिद्धान्त निरूपण की दृष्टि से आप में से किसी का महत्व अल्प हो या अधिक हो, पर आप सभी निःसन्देह रस-सम्प्रदाय के आचार्य हैं। आचार्य केशव को पं० रामचन्द्र शुक्ल ने अलंकारवादी कहा है। इसका मुख्य कारण यह था कि इन्होंने कविता, वनिता और मित्त की अलंकारयुक्तता पर जोर दिया है[1]। साथ ही कविप्रिया नामक

१, कवि-प्रिया ।१।५।

रीति-ग्रन्थ में अलंकारों का निरूपण भी किया है। मेरी दृष्टि में केशवदास रसवादी आचार्य हैं, क्योंकि आपने रस पर रसिक-प्रिया नामक एक स्वतन्त्र ग्रंथ रचा है। पहले तो कवि-प्रिया मात्र अलंकार-निरूपक ग्रन्थ ही नहीं है, बल्कि अनेकांगनिरूपक ग्रन्थ है। दूसरी बात यह कि रसिक प्रिया में भक्ति और शृंगार की मिश्रित रस-धारा के प्रवर्तन का श्रेय केशव को प्राप्त है। अलंकारों के क्षेत्र में आपने वैसी कोई सैद्धान्तिक नवीनता प्रदर्शित नहीं की है। इसके अतिरिक्त अपने दोनों ग्रन्थों के आरम्भ में आपने स्पष्टत: लिखा है कि कविप्रिया की रचना बालकों के लिए की गई है तथा रसिक प्रिया की रचना परिपक्वबुद्धि रसिकों के लिए।[1] अतएव केशवदास नि:सन्देह एक रसवादी आचार्य थे। इतना अवश्य कि कवि के रूप में अलंकार-प्रियता अत्यधिक है। आचार्य चिन्तामणि ने एक शृंगार-निरूपक शृंगार-मंजरी लिखी और दूसरी ओर अनेकांग-निरूपक कविकुलकल्पतरु और काव्य-प्रकाश जैसे ग्रन्थ लिखे, फिर भी आपके काव्यादर्श रस-सिद्धान्त के ही अनुकूल थे। मतिराम ने ललितललाम नामक अलंकार-ग्रन्थ लिखा और रसराज तथा साहित्यसार नामक नायिकाभेदपरक और शृंगार-निरूपक ग्रन्थ भी लिखे। ललितललाम की रचना आपने अपने आश्रयदाता राजा भावसिंह की तुष्टि के लिए की थी।[3] पर रसराज की रचना आपने स्वत: प्रेरित होकर की थी और ग्रंथ के अन्त में अपना उद्देश्य बताते हुए स्पष्टत: स्वीकार भी किया है कि सहृदय काव्य मर्मज्ञों (रसिकन) के लिए रसराज की रचना की गई है[4]। फलत: आपकी प्रवृत्ति रसवाद की ओर ही सिद्ध होती है और ललितललाम का प्रणयन अलंकारवादी प्रवृत्ति के कारण नहीं बल्कि फरमायशी दुराग्रह में पड़कर इन्हें करना पड़ा था। आचार्य देव ने रस-सामान्य-निरूपक, शृंगार और नायिका-भेद-निरूपक तथा अनेकांग-निरूपक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की सर्जना की थी। ऐसी स्थिति में आपका सम्प्रदाय-विशेष-निर्धारण थोड़ा कठिन हो जाता है, पर आपके काव्यादर्शों के अनुसन्धान से यह निश्चित हो जाता है कि आप काव्य में मुख्य प्रतिपाद्य तत्व रस को ही मानते थे।[5] सूरतिमिश्र के ग्रन्थ भी अनेक विध हैं। अलंकार निरूपक, रससामान्य-निरूपक और अनेकांग-निरूपक ग्रंथ आपने रचे हैं। अपने काव्यादर्श के आधार पर आप रसवादी ही प्रतीत होते हैं। सूरतिमिश्र की दृष्टि में वही काव्य तथा कविकर्म है जहाँ पर मनोरंजन-कारी अलौकिक-रीति (रस-रीति) का निवेश रहता है।[6] फलत: आप अनेकविध रीतिग्रंथों के रचयिता होने के बावजूद भी रसवाद के ही पोषक प्रमाणित होते हैं।

---

१. (क) रसिकप्रिया ।३।१२। (ख) कविप्रिया ३।१।
२. (क) चिन्तामणि: कविकुलकल्पतरु १।४ (ख) कविकुलकल्पतरु, छन्द ९।
३. मतिराम: ललितललाम, छन्द-३८ ४. मतिराम, रसराज, छन्द-४२७।
५. (क) देव शब्द रसायन; हि०सा० सम्मेलन, २००० संवत् प्रकाश, ३ पृष्ठ २८। (ख) वही, प्रकाश १, पृष्ठ १ ६. सूरतमिश्र—काव्य-सिद्धान्त।

पद्माकर-प्रणीत दो प्रकार की रीति-रचनायें पाई जाती हैं—अलंकार निरूपक पद्मा-भरण और रस-सामान्य निरूपक जगद्विनोद। दोनों ग्रन्थों के अन्त में दिए गए रचनोद्देश्य-वाक्यों की तुलना से यह विदित होता है कि पद्माभरण के द्वारा आपने युग में प्रचलित अलंकार-पन्थ (अलंकार-रीति) का पालन मात्र किया है, पर जगद्विनोद के प्रणयन–द्वारा रसिकों (काव्यमर्मज्ञ सहृदयों) को मोद-पुरः सर वशीकृत करना चाहा है।[1] पद्माकर की अन्य काव्य-कृतियां भी रस-सम्मत प्रतीत होती हैं। अतएव मूलतः आप रसवादी ही थे और अलंकार-निरूपण युग की मांग की पूर्ति मात्र के लिए आपने किया था। आचार्य श्रीपति की भी तीन वर्गों की रीति-पुस्तकें हैं—अलंकार-निरूपक अलंकारगंगा, रसनिरूपक रससागर और अनेकांग निरूपक काव्यसरोज और काव्यकल्पद्रुम। आपने काव्यसरोज में स्पष्टतः प्रतिपादित किया है कि काव्य में दोषों का अभाव, गुणों और अलंकारों का अस्तित्व वांछनीय है पर रसों के बिना कवितारूपिणी वनिता छविमती नहीं हो पाती है।[2] निष्कर्ष यह कि अन्य काव्यांगों की अपेक्षा आप रस-तत्त्व को अधिक महत्व प्रदान करते थे—फलतः श्रीपति के रसवादी होने में किसी तरह का सन्देह नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार ग्वाल ने भी अलंकर-निरूपक, रस-निरूपक और अनेकांग-निरूपक काव्य-ग्रन्थ लिखे हैं पर रस को "चिदानन्दघनब्रह्म सम" मानकर आपने अपनी रसवादिता का ही द्योतन किया है।[3] रसिकगोविन्द-रचित "रसिकगोविन्दानन्दघन" एक अनेकांग-निरूपक रीति-ग्रन्थ है। इसके अन्तर्गत रस और नायक-नायिका का निरूपण तो है, पर ध्वनि का नहीं। अतएव ये रस-ध्वनिवादी नहीं प्रत्युत विशुद्ध रसवादी प्रतीत होते हैं।

(छ) ध्वनिसम्प्रदाय—

पीछे दी गई तालिका में कुलपति, भिखारीदास, प्रतापसाहि, सोमनाथ, कुमारमणिभट्ट और रामदास के नामों के सामने मैंने ध्वनि-सम्प्रदाय का उल्लेख किया है। यह उल्लेख निराधार नहीं है, प्रत्युत उनके ग्रन्थों में उपलब्ध काव्यादर्शों के आधार पर यह निर्णय किया गया है। क्रमशः प्रत्येक ध्वनिवादी आचार्य की ध्वनिमुखी प्रवृत्ति की ओर संकेत किए जा रहे हैं। सर्वप्रथम कुलपति को लीजिए। कुलपति ने 'रसरहस्य' नामक रस-सामान्य निरूपक ग्रन्थ लिखा है, पर आपने अपने ग्रन्थ में आनन्दवर्द्धन और मम्मट की रस-ध्वनि परम्परा का ही अनुसरण किया है। कहने का तात्पर्य यह कि आपने व्यंग्य या ध्वनि को ही काव्य की आत्मा माना है तथा असंलक्ष्यक्रम व्यंग ध्वनि के अन्तर्गत ही रसभावादि का निरूपण किया है। आपने स्पष्टतः स्वीकार किया है कि ध्वनि (व्यंग्यार्थ) काव्य-पुरुष की आत्मा है,

---

१. (क) (पद्माभरण।३४४), (ख) जगद्विनोद।७३१) २. (श्रीपतिः काव्य-सरोज, दल १३, छन्द–१) ३. रसरंग (हृ० लि०।२।२, पृष्ठ-३९।

शब्दार्थ देह हैं, गुण-गुण हैं, अलंकार भूषण हैं, काव्य-दोष दूषण हैं और आत्मा (ध्वनि) की सिद्धि के लिए ही देहादि साधनों की उपादेयता है।[1] इतना ही नहीं, ध्वनि की प्रधानता, गौणता और अस्फुटता के आधार पर ही आपने उत्तम, मध्यम और (अधम) इन त्रिविध काव्य-भेदों को प्रतिपादित किया है और ध्वनि-प्रधान काव्य को ही उत्तम काव्य की संज्ञा प्रदान की है।[2] फलतः आप निःसन्देह ध्वनि-वादी हैं। आचार्य भिखारीदास की तीन रचनायें हैं—रससारांश, शृंगार-निर्णय और काव्यनिर्णय। तीनों ग्रन्थ तीन वर्ग के हैं। रस-सारांश में रस-सामान्य का निरूपण है और शृंगार-निर्णय नायक-नायिका-भेद और मात्र शृंगार-रस का निरूपक ग्रंथ है तथा काव्य निर्णय अनेकांग-निरूपक काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ है। अतएव भिखारीदास को रसवादी माना जाय या ध्वनिवादी—यह एक विवेच्य विषय है। मैंने इनके काव्यादर्शों के आधार पर इन्हें ध्वनिवादी ही घोषित किया है, यद्यपि आपने स्वतन्त्र रूप से रस-निरूपक ग्रन्थ लिखकर रसवादिता का भी परिचय दिया है। दास ने अपने अनेकांग-निरूपक ग्रन्थ 'काव्य-निर्णय' में स्पष्टतः उल्लेख किया है कि रस भाव आदि यद्यपि भिन्न-भिन्न रूप में (रस सारांश और शृंगार-निर्णय में) प्रतिपादित किए गए हैं पर हैं वे व्यंग्य या ध्वनि ही।[3] ऐसा सभी ध्वनिवादी आचार्यों ने भी माना है। फलतः ध्वनिवादी परम्परा के अनुसार आपने भी रस-भावादियों को असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि में अन्तर्भुक्त किया है और इस ध्वनि की असंख्यता के कारण इसका एकमात्र भेद स्वीकार किया है।[4] व्यंगार्थ के चमत्कारी होने पर ध्वनि होती है और उससे युक्त काव्य ही दास की दृष्टि में उत्तम काव्य है।[5] अतएव स्वतन्त्र रस-ग्रन्थों के प्रणेता होने के बावजूद भी दास के काव्यादर्श ध्वनिवाद के अनुकूल ही प्रमाणित होते हैं। सोमनाथ का अनेकांग निरूपक—ग्रन्थ रस-पीयूषनिधि है। इसमें काव्य के सभी अङ्गों रस, अलंकार, रीति, गुण, दोष, ध्वनि आदि पर विचार किया गया है। ऐसी स्थिति में सोमनाथ का सम्प्रदाय-निर्धारण भी विवेच्य हो जाता है। मैंने उन्हें भी आनन्दवर्द्धन और मम्मट की रस-ध्वनि-परम्परा में ग्रथित देखकर ध्वनिवादी स्वीकार किया है। यद्यपि २२ तरंगों में विभक्त सोमनाथ का रसपीयूषनिधि नामक ग्रन्थ विशालकाय है और उसमें काव्य के विभिन्न अङ्गों का वर्णन है फिर भी ७ वें तरंग से लेकर १८ वें तरंग पर्यन्त १२ तरंगों में ध्वनि का विस्तृत विवरण आपकी ध्वनिवादी प्रवृत्ति का परिचयायक है। साथ ही आपके काव्यादर्श भी ध्वनि सिद्धांत के पोषक हैं। मम्मट की भांति आपने भी व्यंग्य-प्रधान काव्य को उत्तम माना है। सोमनाथ की दृष्टि में ध्वनि ही काव्य-

---

१. कुलपति मिश्र : रस रहस्य। १।३४-३५। २. रस रहस्य। ३।१।
३. जवाहरलाल चतुर्वेदी सम्पादित काव्य-निर्णय। उल्लास ४, पृष्ठ १००।
४. वही उल्लास ६, पृष्ठ-११८। ५. वही, उल्लास ६, पृष्ठ ११३।
६. रसपीयूषनिधि। तरंग ६, छन्द ७।

पुरुष की आत्मा है तथा शब्द और अर्थ उनके अङ्ग हैं।[1] समस्त रस-प्रपंच का उल्लेख आपने ध्वनि के अन्तर्गत ही किया है, अतएव आप रसवादी नहीं प्रत्युत ध्वनिवादी हैं।

प्रतापसाहि के तीन रीति-ग्रन्थ हैं—व्यंग्यार्थ कौमुदी, काव्यविलास और काव्य-विनोद। ये तीनों ग्रन्थ अनेकांग-निरूपक कोटि के हैं। सभी काव्यांगों की विचारणा के बावजूद भी काव्य-सिद्धान्त की दृष्टि से आप ध्वनि-सम्प्रदाय के अन्तर्गत परिगणित किए गए हैं। प्रतापसाहि ने भी इस वर्ग के अन्य आचार्यों की भांति व्यंग्यार्थ को काव्य-प्राण, शब्दार्थ को काव्यांग तथा व्यंग्य-युक्त काव्य को उत्तम काव्य प्रतिपादित किया है।[2] अतएव आपकी ध्वनिवादिता नितांत स्पष्ट है। कुमारमणिभट्ट का 'रसिक-रसाल' भी अनेकांग-निरूपक वर्ग का रीति-ग्रन्थ है। पर आपने स्वयं घोषित किया है कि मम्मट के काव्य-प्रकाश को हृदयंगम कर इस ग्रन्थ की रचना भाषा में प्रस्तुत की गई है।[3] यह बात और है कि आपने मम्मट की विवेचना की सूक्ष्मता का पूर्णतः अनुसरण किया या नहीं, पर काव्य-सिद्धांत की दृष्टि से आप पूर्णतया मम्मट से सहमत हैं। अतएव कुमारमणिभट्ट को ध्वनिवादी मानने में किसीतरह की विप्रतिपत्ति नहीं देखी जा सकती है। रामदास 'कविकल्पद्रुम' के प्रणेता आचार्य हैं। अभी तक मुझे यह ग्रन्थ देखने का सौभाग्य नहीं मिला है। इतिहास ग्रन्थों के आधार पर यह ग्रन्थ अनेकांग-निरूपक कोटि का है। डा० भगीरथ मिश्र ने 'सवाई महेन्द्र पुस्तकालय' में इसकी हस्तलिखित प्रति होने की सूचना दी है और उन्हीं के अनुसार इस ग्रंथ का मुख्य आधार ध्वनिसिद्धांत है तथा काव्यशास्त्र के अन्य अंगों का भी विवेचन इस ग्रन्थ में हुआ है।[4] अतएव आचार्य रामदास को भी मैंने हिंदी काव्य-शास्त्र के ध्वनिसम्प्रदाय में ही समाविष्ट किया है।

(ज) अलंकार सम्प्रदाय–

पीछे की आचार्य-तालिका में जसवंत सिंह, भूषण, गोप और दूलह को अलंकार-सम्प्रदाय के आचार्य कहा गया है। इन सभी आचार्यों ने तो केवल अलंकार-निरूपक ग्रंथ ही लिखे हैं। अतएव इनके अलंकारवादी होने में किसी तरह के सन्देह की गुंजायश ही नहीं है। फलतः इनके काव्यादर्शों या काव्य-सिद्धातों के अनुसन्धान के बिना ही इन्हें अलंकार-प्रवृत्ति के आधार पर अलंकारवादी कहा जा सकता है।

(३-ख) हिन्दी काव्य-शास्त्र के उत्तरार्ध का वर्गीकरण—

हिंदी काव्य-शास्त्र के उद्भव और विकास के अध्ययन क्रम में हमने देखा है कि परवर्ती काल में आकर क्रमशः ब्रजभाषा पद्य की जगह खड़ी बोली गद्य ही

१. रसपीयूषनिधि। तरंग ६, छन्द-६। २. व्यंग्यार्थ कौमुदी। ३।५।
३. कुमारमणिभट्ट : रसिकरसाल १।४।
४. हिंदी काव्य-शास्त्र का इतिहास, पृष्ठ-१८२।

विचाराभिव्यक्ति का माध्यम बन गया। प्रारम्भ के दो-चार आचार्यों ने तो ब्रज-भाषा पद्य के माध्यम से ही प्राचीन लक्षण-लक्ष्य शैली में सिद्धांत-ग्रंथ रचे। धीरे-धीरे काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में न अब प्राचीन लक्षण-लक्ष्यात्मक निरूपण शैली रही और न ब्रजभाषा पद्य का माध्यम ही। इतना ही नहीं, इन आचार्यों का अध्ययन-क्षेत्र भी विस्तृत हो गया। इनका सम्पर्क अब केवल भारतीय काव्य-सिद्धांतों से ही नहीं रहा प्रत्युत् पश्चिमी या विदेशी काव्य-सिद्धांतों से भी आपका परिचय बढ़ा है। ऐसी स्थिति में उत्तरकालीन काव्यशास्त्रियों के लिए भारतीय काव्य-सम्प्रदाय के संकीर्ण कठघरे में आबद्ध रहना थोड़ा कठिन हो गया है। पूर्वी और पश्चिमी काव्य-सिद्धांतों के समन्वयन द्वारा एक संश्लिष्ट काव्य-शास्त्र का निर्माण ही इस युग में मुख्य काव्य-शास्त्रीय प्रयास है। यह बात और है कि इस दिशा में उत्तरकालीन आचार्यों के बीच किसे कितनी सफलता मिली है, उसकी निरीक्षा परीक्षा की जाय, पर इतना निश्चित है कि ये सब के सब समन्वयवादिता की ओर प्रयत्नशील हैं। जो थोड़े-बहुत ऐसे आचार्य भी हैं जिन्होंने मात्र भारतीय काव्य-सिद्धांतों का गद्यात्मक विवेचन किया है, उन्होंने भी किसी सम्प्रदाय-विशेष के साथ अपना सम्बन्ध नहीं स्थापित किया है। इन आचार्यों के सिद्धांत ग्रन्थों में अधिकांशतः काव्य के सभी अंगों का समन्वयात्मक विवेचन ही उपलब्ध होता है। पं० रामचन्द्र शुक्ल और रामदहिन मिश्र प्रभृति दो-एक ऐसे आचार्य भी हैं जिनके काव्य-सिद्धांत रसवाद के अनुकूल हैं। ऐसी स्थिति में, हिन्दी काव्य-शास्त्र के उत्तरकालीन सभी आचार्यों को या तो एक मात्र 'समन्वयवादी' वर्ग में ही रखा जा सकता है अथवा उनके ग्रंथों को ही प्रति-पादन-शैली के आधार पर वर्गीकृत कर लिया जा सकता है।

उत्तरकालीन हिंदी काव्य-शास्त्रियों के ग्रंथों के तीन मुख्य वर्ग संभव हैं—(१) लक्षणलक्ष्यात्मक वर्ग (२) विवेचनात्मक वर्ग और (३) अनुसन्धानात्मक वर्ग।

(१) प्रथम वर्ग के अन्तर्गत उन ग्रंथों को समाविष्ट किया जा सकता है जिन ग्रन्थों में प्राचीन लक्षण-लक्ष्य प्रणाली पर ही काव्यांगों का या किसी एक काव्यांग का निरूपण हुआ है। इस कोटि के ग्रन्थों में जसवंत जसोभूषण (कविराज मुरारिदान) काव्य-प्रभाकर (जगन्नाथ प्रसाद भानु), रसमंजरी और अलंकार मंजरी (कन्हैयालाल पोद्दार) काव्य-दर्पण (रामदहिन मिश्र), अलंकार मंजूषा (भगवानदीन), रसकलस (अयोध्यासिंह उपाध्याय) आदि उल्लेखनीय हैं।

(२) विवेचनात्मक वर्ग के अन्तर्गत उन ग्रन्थों का सन्निवेश होना चाहिए जिन ग्रन्थों में काव्यांगों अथवा काव्य-सिद्धांतों का खड़ी बोली गद्य के माध्यम से विवेचन हुआ है। यह विवेचन कतिपय ग्रन्थों में तो अत्यन्त उच्च कोटि का है और उनमें आंशिक मौलिक चिन्तन भी विद्यमान है पर अधिकांश ग्रन्थों में केवल काव्य-शास्त्रीय विषयों का सरल प्रतिपादन ही है। जो हो, किन्तु इन सभी ग्रन्थों को

विवेचनात्मक वर्ग के ही अन्तर्गत रखना चाहिए। इस वर्ग के ग्रन्थों में नव रस, सिद्धान्त और अध्ययन, काव्य के रूप (गुलाबराय), रसमीमांसा (रामचन्द्र शुक्ल), काव्यालोक प्रथम उद्योत, काव्यालोक-द्वितीय उद्योत (रामदहिन मिश्र), काव्य में अभिव्यंजनावाद, जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त (लक्ष्मी नारायण सुधांशु), साहित्यालोचन (श्यामसुन्दर दास), भारतीय काव्य शास्त्र—प्रथम और द्वितीय खण्ड (बलदेव उपाध्याय), भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका (नगेन्द्र) आदि विशेषत. उल्लेख्य हैं।

(३) अनुसन्धानात्मक वर्ग के अन्तर्गत केवल उन्हीं काव्य-शास्त्रीय ग्रंथों को रखना चाहिए जो शोधोपाधि के लिए लिखे गए प्रबन्धों (थीसिसों) के यथावत् अथवा परिवर्तित प्रकाशित-रूप हैं। यों शोध के आधार पर अलग वर्ग बनाना किंचित् अनुपयुक्त भी लगता है क्योंकि प्रत्येक वर्ग के ग्रन्थ में चाहे वह लक्षण-लक्ष्यात्मक शैली में लिखा हो या विवेचनात्मक गद्य शैली में, शोध की मात्रा थोड़ी-बहुत प्रत्येक ग्रंथ में पाई जाती है। तथापि इस वर्ग के अन्तर्गत केवल उन्हीं ग्रन्थों को रखा गया है जो विशुद्ध शोधग्रंथ हैं किम्बा जिनके सम्बन्ध में यह घोषणा की गई है कि ये शोधात्मक हैं। इस वर्ग के अन्तर्गत रीति काव्य की भूमिका, देव और उनकी कविता (डा० नगेन्द्र), अलंकार-पीयूष (डा० रमाशंकर शुक्ल "रसाल"), हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास (डा० भगीरथ मिश्र), आचार्य भिखारी दास (नारायण दास खन्ना), हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य (डा० सत्यदेव चौधरी), मनोविज्ञान के प्रकाश में रस-सिद्धांत का समालोचनात्मक अध्ययन (डा० छैलबिहारी गुप्त) प्रभृति ग्रंथों की गणना होनी चाहिए।

इस प्रकार उत्तरकालीन इन सभी ग्रन्थों को उपर्युक्त तीन वर्गों में विभक्त कर लेना ही अधिक उचित है, न कि काव्य-सम्प्रदायों या काव्य-सिद्धान्तों के आधार पर भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में बांटना। सच्ची बात तो यह है कि ये सभी आचार्य समन्वयवादी हैं और इस युग में नए काव्य-सिद्धान्त का जन्म ही नहीं हुआ है। जहाँ कहीं नवीनता का भ्रम भी होता है, वह नवीनता के कारण नहीं प्रत्युत शब्द-जाल के व्यामोह में पड़ जाने के कारण। फलतः ग्रन्थों का त्रिवर्गीय विभाजन ही श्रेयस्कर है।

(४) हिन्दी काव्य-शास्त्र के अध्येतव्य रसग्रन्थ

आगामी दो अध्यायों में हिन्दी के जिन रस-ग्रन्थों का मैंने अध्ययन किया है, उनकी एक सूची, ग्रन्थकर्त्ता के नामों के साथ, दी जा रही है। पृथक्-पृथक् अध्याय में अधीत हिन्दी के रस ग्रन्थों को मैं दो वर्गों में रख रहा हूं—(१) रीतिकालीन रस-ग्रन्थ और (२) आधुनिक रस-ग्रन्थ। रीतिकालीन रस-ग्रन्थों के भी विषय-निरूपण की दृष्टि से तीन उपवर्ग हैं। कुछ ग्रन्थ तो ऐसे हैं जिनमें रस-

सामान्य का अर्थात् नौ रसों का संक्षिप्त या विस्तृत निरूपण हुआ है। कतिपय ग्रंथ इस कोटि के हैं जिनमें मात्र रसराज श्रृङ्गार का निरूपण हुआ है किम्बा श्रृङ्गार के आलम्बन नायक और नायिकाओं का ही। शेष ग्रन्थ इस कोटि के हैं जिनमें काव्य के विविध अंगों का निरूपण हुआ है और उसी क्रम में असंलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य ध्वनि के अन्तर्गत रस-निरूपण भी किया गया है। ये सभी ग्रन्थ किसी न किसी रूप में रस-सम्बद्ध होने के कारण मेरी अध्ययन-सीमा के अन्तर्गत आ जाते हैं। अतएव रीतिकालीन रसग्रन्थों को तीन उपवर्गों में विभक्त कर प्रस्तुत किया गया है–(च) रस-सामान्य निरूपक ग्रन्थ (छ) श्रृङ्गार और नायिका-भेद विषयक ग्रन्थ (ज) अनेकांग-निरूपक ग्रन्थ।

आधुनिक रस-ग्रंथों को सामान्यत: अनेकांग-निरूपक ही कहना चाहिए। यों वर्गीकरण के प्रति विशेष आग्रह की अवस्था में भानुजी के रसरत्नाकर, उपाध्याय जी के रसकलस, शुक्ल जी की रसमीमांसा और गुलाबराय के नवरस को रस-सामान्य निरूपक ग्रन्थ माना जा सकता है। इस प्रकार आधुनिक रस ग्रन्थों के भी दो वर्ग बनाए जा सकते हैं। तथापि इन ग्रंथों में भी यत्किंचत् अन्य विषयों के समावेश को ध्यान में रख कर, इन्हें एक ही वर्ग में मैंने रख दिया है। इनके प्रकाशित या हस्तलिखित रूपों की सूचना प्रबन्ध के अन्त में संलग्न है। नीचे क्रमश: वर्गक्रमानुसार रचयिताओं के नामों के साथ मेरे द्वारा अधीत समस्त हिन्दी के रसग्रन्थों को प्रस्तुत किया जा रहा है। आचार्यों या ग्रंथ के लेखकों के नाम कोष्ठक के अन्तर्गत हैं।

(१) रीतिकालीन रस-ग्रंथ

(च) **रस-सामान्य-निरूपक ग्रन्थ :**-रसिक-प्रिया (केशव), सुधानिधि (तोष), भवानीविलास और भावविलास (देव), रस-सारांश (भिखारी दास), रस-प्रबोध (रसलीन), रसवृष्टि (शिवनाथ), रसचन्द्रिका (उजियारे कवि), जगद्विनोद (पद्माकर), नवरसतरंग (बेनीप्रवीन), काव्य-विलास (प्रतापसाहि), रसिक विनोद (चन्द्रशेखर वाजपेयी), रसरंग (ग्वालकवि), काव्यसुधाकर (रसिक बिहारी), श्रृङ्गार दर्पण (नन्दराम), महेश्वर विलास (लछिराम)।

(छ) **श्रृङ्गार और नायिका-भेद विषयक ग्रंथ :**—हिततरंगिणी (कृपाराम), सुन्दर श्रृङ्गार (कविराज सुन्दर), साहित्य लहरी (सूरदास), रसमंजरी (नन्ददास), बरवै नायिकाभेद (रहीम), श्रृङ्गारमंजरी (चिन्तामणि), रसराज (मतिराम), सुखसागरतरंग और रसविलास (देव), श्रृङ्गार विलास (सोमनाथ), श्रृंगार-निर्णय (भिखारी दास), अंग दर्पण (रसलीन), रस चन्द्रोदय (उदयनाथ)।

(ज) **अनेकांग निरूपक ग्रंथ**—कविकुलकल्पतरु (चिन्तामणि), रसरहस्य, (कुलपति मिश्र), काव्य-रसायन अथवा शब्द-रसायन (देव), रसिकरसाल (कुमारमणि), रसपीयूषनिधि (सोमनाथ), काव्य-निर्णय (भिखारीदास), रूपविलास

(रूपसाहि), कविता रस विनोद (जनराज), रसकल्लोल (करन कवि), व्यंग्यार्थ कौमुदी (प्रतापसाहि)।

(२) आधुनिक रस-ग्रंथ

रसरत्नाकर (जगन्नाथ प्रसाद 'भानु'), रसकलश (अयोध्या सिंह उपाध्याय), रसमंजरी (कन्हैयालाल पोद्दार), साहित्यसागर–२ भाग (बिहारीलाल भट्ट), रसमीमांसा और चिन्तामणि (रामचन्द्र शुक्ल , साहित्यालोचन और रूपक रहस्य (श्यामसुन्दर दास), काव्यदर्पण और काव्यालोक (रामदहिन मिश्र), नवरस तथा सिद्धान्त और अध्ययन (गुलाब राय), काव्य में अभिव्यंजनावाद और जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त (लक्ष्मी नारायण सुधांशु), रीति काव्य की भूमिका और भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका (नगेन्द्र)।

६

रीति काव्य-शास्त्र में रस के उपकरण : ऐतिहासिक अध्ययन

उपक्रम

सामान्यतः ऐतिहासिकों ने हिन्दी साहित्य के रीतिकाल का आरम्भ अठारहवीं सदी से स्वीकृत किया है तथा चिन्तामणि को इस काल का प्रथम आचार्य माना है। केशवदास सत्रहवीं शताब्दी के आचार्य हैं—चिन्तामणि से पचास वर्ष पूर्ववर्ती। केशवदास से पूर्ववर्ती जो थोड़े-बहुत रीतिग्रन्थ मिलते भी हैं वे सर्वांग निरूपक नहीं है, मात्र नायक-नायिका भेद विषयक। ऐसी स्थिति में भी मैंने अपने अध्ययन का आरम्भ केशवदास से ही किया है, चिन्तामणि से नहीं। इसके अनेक कारण हैं। प्रथम तो मेरे अध्ययन का मुख्य उद्देश्य है हिन्दी के माध्यम से प्रकाश में आने वाले रस-ग्रन्थों की सामग्री का अनुसन्धान, चाहे वह रीतिकाल की हो, उससे पूर्व की हो अथवा उसके बाद की। दूसरी बात यह कि चिन्तामणि के बाद ही रीति-ग्रन्थों की अविच्छिन्न परम्परा चली, केशव के बाद नहीं—मात्र इसी आधार पर केशव को रीति-मार्ग-प्रवर्त्तन का श्रेय नहीं देना पूर्णतः न्याय्य नहीं है। रीतिकाल के परवर्ती अनेक आचार्यों ने भी श्रद्धापूर्वक केशव का ही स्मरण किया है, चिन्तामणि का नहीं। देव और दास जैसे प्रतिभाशील कवि और प्रौढ़ आचार्य भी केशव को भूले नहीं हैं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि उनकी दृष्टि में रीति-काव्य-शास्त्रीय परम्परा के मूलप्रवर्त्तक या 'भरत' आचार्य केशवदास ही थे। तीसरी बात यह कि केशव को ऐतिहासिकों ने अलंकारवादी मान कर रीति-काल की सीमा से बाहर रखा है, क्योंकि चिन्तामणि के बाद से तो लगभग डेड़-दो सौ वर्षों तक मात्र रस-धारा या शृंगार-धारा ही प्रवाहित होती रही। किन्तु मेरी धारणा है कि केशवदास मूलतः रसवादी थे। अलंकार ग्रंथ तो इन्होंने उसी तरह लिखा जैसे संस्कृत के विश्वनाथ और मम्मट ने। इन्हीं कारणों के परिणाम-स्वरूप मैंने हिन्दी के रस-शास्त्रीय विषयों के अध्ययन का आरम्भ केशव से ही किया है। अध्येतव्य आचार्य,

केशव से लछिराम तक कुल तेईस हैं । नायक-नायिका भेद के प्रसंग में केशव केपूर्व-वर्ती चार और परवर्ती दो—छः अतिरिक्त आचार्यों का भी अध्ययन किया गया है ।

विषय-विभाजन

इस अध्याय की अध्ययन-सामग्री सात खण्डों में विभक्त हैं :—

(१) रस-स्वरूप और अभिव्यक्ति, (२) विभाव : नायक-नायिका भेद, (३) अनुभाव और संचारी भाव, (४) स्थायी भाव, (५) रस-भेद, (६) रस-दोष और (७) मौलिकता का अन्वेषण । अध्येतव्य आचार्यों की रस-सामग्री का पृथक्-पृथक् उल्लेख कर उसकी परीक्षा भी की गई है । इनके ऊपर कहाँ तक संस्कृत के आचार्यों का प्रभाव है और कहाँ तक अपने पूर्ववर्ती हिन्दी के आचार्यों का, इसे भी यथावसर प्रदर्शित करने की चेष्टा की गई है । अन्तिम खण्ड में इनकी रस-विषयक प्रत्येक सामग्री की मौलिकता को समाहृत किया गया है । अतएव अध्ययन-क्रम में ऐतिहासिक एवं विवेचनात्मक—दोनों दृष्टिभंगियों को अंगीकृत किया गया है ।

रीतिकालीन हिन्दी के रस-शास्त्र की पीठिका संस्कृत काव्य-शास्त्र में निहित है । अतएव प्रबन्ध के तृतीय अध्याय में ही इसकी संक्षिप्त रूप-रेखा प्रस्तुत की गई है । केबल संस्कृत के रस-दोषों का अध्ययन वहाँ उपकरण-बहिर्भूत होने के कारण छोड़ दिया गया है । अतएव पीठिका के रूप में इस अध्याय के षष्ठ खण्ड में अधीत रस-दोषों के पूर्व उसे भी प्रस्तुत कर दिया गया है । यथा-प्रस्तावित योजना के अनुसार क्रमशः सात खण्डों में यह अध्ययन प्रस्तुत है ।

१—रस-स्वरूप और अभिव्यक्ति

केशव

केशव को सामान्यतः समीक्षकों और ऐतिहासिकों[1] ने अलंकारवादी स्वीकार किया है । इसका कारण यह है कि इन्होंने कविप्रिया नामक ग्रन्थ में घोषित किया कि कविता, वनिता और मित्र भूषण के विना शोभित नहीं होते[2] । इतना ही नहीं एक स्वतन्त्र अलंकार-ग्रन्थ लिखकर अलंकार और अलंकार्य का भेद मिटाने के हेतु आपने अलंकारों को सामान्य और विशेष इन दो भेदों में बांट दिया तथा सामान्यालंकार के अन्तर्गत वर्ण, वर्ण्य, भूश्री और राज्यश्री आदि उपभेद कर लिए[3] । विशिष्टालंकार के अन्तर्गत परम्परागत प्रचलित उपमा-यमक आदि ३७ अलंकारों का निरूपण किया । यही कारण है कि शुक्ल जी ने आपको अलंकारवादी घोषित किया । पर वस्तुस्थिति कुछ और है । आपकी रसिकप्रिया के अध्ययन से यह स्पष्ट

१. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २०८ । २. कविप्रिया । ५/१
३. कविप्रिया, प्रभाव ५ से ८ पर्यन्त ।

हो जाता है कि आप भरत, अभिनवगुप्त, मम्मट और विश्वनाथ की परम्परा के रसवादी आचार्य हैं। केशव ने स्वयं अपने दोनों काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के निर्माण का उद्देश्य प्रतिपादित किया है। कविप्रिया की रचना बालक-बालिकाओं के लिए की है तथा बुधजनों से (अलंकारों के प्रति हीन-भावना के कारण) क्षमा-याचना की है[1]। यदि आप अलंकारों को ही काव्य में सर्वोपरि स्थान देते तो प्रायः बुधजनों से क्षमा-याचना की आवश्यकता नहीं होती। दूसरी ओर, रस-ग्रंथ रसिक-प्रिया की रचना का उद्देश्य बताते हुए आपने कहा कि रसिक-प्रिया रसिकों (काव्यमर्मज्ञ सहृदयों) के लिये लिखी गई है तथा इसमें उनकी रति, मति और गति का प्रतिफलन तो है ही, साथ ही इसमें उन्होंने आचार्यत्व के विविध-विवेक का विलास भी दिखलाया है[2]। रसमयता के बिना कविता की शोभा आप उसी प्रकार नहीं मानते जैसे डीठि के बिना विशाल लोचन शोभित नहीं होते[3]। फिर भी अलंकार ग्रंथ कविप्रिया को देखकर पाठकों को उनकी अलंकार-वादिता का भ्रम न हो, अतएव आपने कवियों के उत्तम, मध्यम और अधम ये तीन वर्ग भी प्रतिपादित किए हैं। उत्तम कवि उन्हीं को कहा है जो "हरि-रस-लीन" हों[4]। यह रस चाहे हरि-रस (भक्ति) हो या अन्य कोई, पर है वह रस ही। अलंकार-लीन को उत्तम कवि घोषित नहीं किया गया है। केशव का "हरि-रस" बहुत व्यापकार्थक भी है। आप शृङ्गार की रस-राजता प्रतिष्ठापित करने चले हैं और उसे "हरि नायक" भी कहा है तथा अपने नायक ब्रजराज (हरि) को नवरसमय भी सिद्ध कर दिखाया है[5]। ऐसी स्थिति में उत्तम कवि को "हरि-रस-लीन" कहना नितान्त सार्थक है। इस विवेचन से यह भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि आचार्य केशवदास काव्यशास्त्रीय मान्यता की दृष्टि से रसवादी थे, अलंकारवादी नहीं। काव्य की बाह्यशोभा के लिए रसवादी मम्मट विश्वनाथ प्रभृति आचार्यों ने अपने अपने ग्रंथों में रस और ध्वनि के निरूपण के साथ अलंकारों का भी निरूपण किया है। काव्य की साज-सज्जा के लिए अलंकारों का महत्त्व उन्हें भी अंगीकार्य है। अन्तर यही है कि केशव ने अलंकार पर एक या दो परिच्छेद नहीं लिखे, प्रत्युत एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही रच डाला। इतना सच है कि अलंकार-प्रियता की मात्रा केशव में कुछ अधिक बढ़ी हुई है, जिसका निदर्शन उनकी काव्यात्मक रचनाओं में प्रत्येक स्थल पर मिलता है।

रस-स्वरूपः—केशव ने रस-सामान्य के स्वरूप-निर्धारण में कोई छन्द नहीं लिखा है। केवल शृंगार आदि नव रसों के पृथक्-पृथक् लक्षण आपने प्रतिपादित किये हैं। तथापि, शृंगार की रसराजता, शृंगार में अन्य रसों को अन्तर्भुक्ति तथा हरि और राधा की आलम्बन-स्वीकृति आदि स्थलों में केशव के रस-स्वरूप का अनुसन्धान किया जा सकता है। केशव अपनी रसिकप्रिया के प्रारम्भ से ही दो

१. कविप्रिया। ३/१। २. रसिकप्रिया। १/१२।
३. र० प्रि०। १।१३। ४. क० प्रि०। ४।२। ५. र० प्रि०। १।१६ और १।२

उद्देश्यों को लेकर रस-निरूपण करने चले हैं। प्रथम यह कि श्रृंगार सभी रसों का नायक है[1]। तथा द्वितीय यह कि नवरस व्रजराजमय है अर्थात् उसके नायक (आलम्बन-आश्रय, हरि और नायिका राधा हैं। द्वितीय उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए प्रत्येक परम्परागत श्रृंगार, हास्य आदि रस के साथ व्रजराज हरि का सम्बन्ध या आलम्बनत्व उन्हें सिद्ध करना पड़ा है। वृषभानुकुमारी के साथ व्रजराज कृष्ण का श्रृंगारी रूप, हास्य (प्रसन्नता) का उनमें निवास होने के कारण हास्यालम्बनत्व, माता यशोदा के द्वारा बांधे जाने पर उनका करुणामय रूप, केसी के प्रति क्रोध प्रकट करने पर रौद्ररसमय रूप, वत्सासुर की हत्या में उत्साह-प्रदर्शन के क्षणों में वीररसमय रूप, दावानल-पान के प्रसंग में भयात्मकता, वकासुर के वक्ष:स्थल का रुधिरपान करने के समय बीभत्समय रूप, विधाता की बुद्धि को अपनी लीलाओं के द्वारा विस्मय-विमुग्ध कर देने के कारण अद्भुतमयत्व और समस्त बाह्यवृत्तियों को अन्तर्मुख कर स्थितप्रज्ञ की तरह शान्त चित्त से विचार-परायण होने के क्षणों में शान्तिमय रूप—होने के कारण व्रजराज नवरसमय हैं[2]। यहां तक कि केशव ने नायक और नायिका की सहायिका उन्हीं सखियों (धाई, जनी, नाइन, नटी आदि) को माना है जो राधा और हरि की प्रेम सम्बन्धी बाधाओं को दूर करती है।[3] सभी रसों के उदाहरणों को प्रस्तुत करते हुए केशव और अधिक सजग हैं जिससे राधा और हरि का आश्रयालम्बनत्व किम्बा विषयालम्बनत्व छूटने न पावे। यही कारण है कि प्रत्येक रस के आप दो उदाहरण कम से कम, देते चलते हैं—जैसे "राधिकाजू को भयानक रस" और "श्रीकृष्ण का भयानक रस" आदि। निष्कर्ष यह कि केशव के रस-स्वरूप में दो बातें स्पष्ट हैं :—

(१) स्थूलत: रस नौ हैं पर श्रृंगार रसों का नायक है और इसी में अन्य सभी रस अन्तर्निविष्ट हैं।

(२) सभी श्रृंगार-पर्यवसायी रसों के आश्रयालम्बन तथा विषयालम्बन हरि और राधा हैं।

केशव की उपर्युक्त दोनों मान्यताओं पर क्रमश: संस्कृत के परम्परागत आचार्य भोजदेव का तथा गौड़ीय वैष्णव आचार्य रूपगोस्वामी का प्रभाव स्पष्टत: परिलक्षित होता है। भोजराज ने अहंकार को रसोद्भव का मूल कारण माना है। इस अहंकार को ही अभिमान और श्रृंगार कहा जाता है।[4] भोज ने अहंकार का प्रयोग आत्मानुराग के अर्थ में किया है। इसी अर्थ में वृहदारण्यको पनिषद् में कहा गया है कि मनुष्य को सभी सांसारिक पदार्थ, सभी मनुष्य किम्बा उनके द्वारा व्यक्त शोक क्रोध आदि विभिन्न भाव आत्मसंतोष के लिए ही प्रिय होते हैं।[5] भोज ने अहंकार की तीन स्थितियां भी बताई हैं और उसी के आधार पर रस की तीन कोटियां

१. रसिक प्रिया।१।१५-१६। २. वही।१।२। ३. वही।११९।
४. भोजराज : सरस्वतीकण्ठाभरण।५।१। ५. वृहद्‌ारण्यकोपनिषद्।२।४।५।

स्वीकृत की हैं। रस या अहंकार की प्रथम कोटि है। रूढ़ाहंकारता अर्थात् मनुष्य में अहंकार की अवस्थिति इत्यादि भावों की परप्रकर्षता को रसनाम से निर्यिष्ट करना उसकी दूसरी कोटि है, (स्थायीभाव) तथा उसकी तीसरी कोटि है रति, हास आदि भावों की प्रेमरूप में परिणति।[1] तृतीय कोटि में आकर ही वस्तुतः अहंकार शृंगार रस का रूप धारण करता है तथा इस शृंगार से ही हास्य, करुण आदि अन्य आठ रस उद्भूत होते हैं। अतएव भोज की दृष्टि में शृंगार ही मूल रस है। अपने दोनों ग्रन्थों में (सरस्वतीकण्ठाभरण और शृंगार-प्रकाश) भोज ने शृंगार की मौलिकता (केशव के शब्दों में नायकत्व) का स्पष्टतः प्रतिपादन किया है[2]। अतएव भोजदेव की दृष्टि में स्पष्टता शृंगार रस-राज या रस-नायक है। भोज की शृङ्गार-प्रियता तो यहां तक बढ़ी हुई है कि कवि के शृङ्गारी होने पर जगत् की रसमयता और उसके अशृङ्गारी होने पर जगत् की नीरसता का भी उल्लेख आपने कर दिया।[3] भोज में और केशव में मुख्य अन्तर यह है कि जहां भोज ने रसों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कर शृङ्गार की रसराजता प्रतिपादित की है, वहां केशव ने विवेचना की तह में गए बिना ही "शृङ्गार को रसों का नायक" स्वीकार कर लिया है। इस अन्तर का कारण भी स्पष्ट है। भोजदेव अपनी कारिकाओं की व्याख्या के लिए गद्यात्मक वृत्ति का भी आश्रय ग्रहण करते हैं तथा उनका युग भी विश्लेषण एवं विवेचन का युग था। साथ ही भोज के ग्रन्थ विद्वानों के लिए रचे गए थे। पर केशव के पास न तो विवेचनात्मक गद्य का माध्यम है और न वैसी परिस्थिति ही। केशव का मात्र उद्देश्य इतना ही है कि संस्कृत काव्य-शास्त्र के ज्ञान-संभार को भाषा-काव्य-रसिकों तथा कवियों के पास पहुंचा दें। यों समासतः आपने भोजदेव के विचारों को ही व्रजभाषा में प्रस्तुत कर दिया है।

केशव-प्रतिपादित रस-स्वरूप का दूसरा खण्ड है श्रीकृष्ण और राधा का आलम्बन। केशव की इस मान्यता पर स्पष्टतः गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदाय के आचार्य रूपगोस्वामी के हरिभक्तिरसामृतसिंधु और उज्ज्वलनीलमणि नामक ग्रन्थों का प्रभाव है। रूपगोस्वामी ने भक्तिरस की मौलिकता की उद्भावना की और उसी में शृङ्गार-हास्य आदि परम्परागत नौ रसों को अन्तर्भूत कर दिया। इन सभी रसों में मधुर रस को आपने भक्तिरसराट् कहा है।[4] केशव का रस-नायक शृङ्गार भी इस मधुर-रस का ही प्रकारांतर है। इसे केशव ने कविप्रिया में हरिरस भी कहा है। पुनः रूपगोस्वामी ने भक्तिरस के प्रत्येक भेद के लिए कृष्ण और उनकी वल्लभाओं को ही आलम्बन माना है।[5] केशव ने भी कृष्ण को आलम्बन माना है, पर

१. राघवन् : शृंगारप्रकाश, पृ० ४६३ और ५४७। २. (क) शृंगारप्रकाश (कारोनेषन् प्रेस, मैसूर, १९५५) ।१।३। (ख) का० मा० ५।१७२ (वृत्ति) पृ० ७०५। ३. वही ।५।३। ४. उज्ज्वलनीलमणि ५. वही। पृष्ठ ४। (का० मा०, द्वितीय संस्करण) पृ० ५।

वल्लभाओं में आपने राधा को ही आलम्बन के रूप में गृहीत किया है। रूपगोस्वामी ने कोटिसंख्यक वल्लभाओं की तो कल्पना की है, पर उनमें राधा और चन्द्रावली को ही श्रेष्ठ घोषित किया है। इन दोनों में भी राधा को अधिक महत्व दिया गया है क्योंकि यह महाभावस्वरूपा है तथा गुणों से वरीयसी है।[1] इस मान्यता का आधार रूपगोस्वामी ने तन्त्र-शास्त्र को प्रतिपादित किया, जिसमें राधा को कृष्ण की ह्लादिनी महाशक्ति का ही रूपान्तर माना गया है।[2] आचार्य केशव ने राधा के आलम्बन की इतनी सफाई तो नहीं दी पर उज्ज्वल नीलमणि के विचारों से प्रभावित हो आंख मूँद कर कृष्ण की वल्लभा राधा को आलम्बन स्वीकार कर लिया। फिर भी इतनी सुयोजित व्यवस्था आपने अवश्य की कि प्रत्येक रस के उदाहरण प्रस्तुत करते समय कृष्ण और राधा को भूले नहीं और क्रमशः दोनों के आलम्बनत्व के आधार पर 'कृष्णजी को अमुकरस और राधाजू को अमुकरस' कह कर पृथक्-पृथक् छन्द रच डाले। केशव के रस-निरूपण की विशेषता यह है कि जिस रस-नायक शृङ्गार के अवांतर्भेद आपने अन्य रसों को बनाया है, लक्षण और उदाहरण देते समय उन्हें ध्यान से ओझल नहीं होने दिया है। लक्षणों में कहीं-कहीं कमी आ गई है, पर उदाहरण दोनों पक्षों में घटित हो जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि हास्य रस का उदाहरण परम्परागत हास्य-सामान्य में भी योजित है और रस-नायक शृंगार (जो रूपगोस्वामी के मधुररस का ही रूपांतर है) में भी। इसी प्रकार करुण, रौद्र, वीर आदि रसों के भी लक्षणों और उदाहरणों की स्थिति है।

इस प्रकार केशव का रस-स्वरूप सर्वथा मौलिक तो नहीं है, पर प्रभाव भी संस्कृत काव्य-शास्त्र के परम्परागत सामान्य ग्रन्थों का नहीं है। भोज और रूपगोस्वामी जो परम्परागत लीक से हट कर विवेचन करने चले हैं, उन्हीं के विशिष्ट ग्रन्थों का प्रभाव ग्रहण कर केशव ने कुछ विलक्षणता प्रदर्शित कर दिखाई। उन आचार्यों की तरह विस्तृत निरूपण और विश्लेषण तो नहीं किया, पर समासतः कथनीय सब कुछ कह डाला।

---

१. उ० नीलमणि, पृष्ठ ७३। २. वही, पृ० ७६।

३. रसिक-प्रिया का यह छन्द विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित तथा हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित 'केशवग्रन्थावली' के प्रथम खन्ड में पठित नहीं है। पर डा० भागीरथ मिश्र एवं डा० सत्यदेव चौधरी प्रभृति विद्वानों ने अपने-अपने ग्रंथों में इसे उद्धृत किया है। पता नहीं, उनके पास रसिक-प्रिया की कौन-सी प्रति थी। द्रटष्व्य—हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० ६७ (फुटनोट) तथा हिंदी रीतिपरम्परा के प्रमुख आचार्य, पृ० २८१।

रसाभिव्यक्ति:— केशव ने रस की अभिव्यक्ति पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि विभाव, अनुभाव और संचारी भावों द्वारा व्यंजित (अभिव्यक्त) स्थायी भाव ही रस है तथा वह सुख-रूप अर्थात् आनन्द स्वरूप है।

'मिल विभाव अनुभाव पुनि, संचारी सु अनूप।
व्यंग करै थिर भाव जो सोई रसु सुख रूप॥ रसिक-प्रिया, १।२।

केशव की इस उक्ति से चार बातें स्पष्ट होती हैं:—

(क) विभाव, अनुभाव और संचारी भाव आदि रसोपकरणों तथा रस में व्यंग्य-व्यंजक भाव सम्बन्ध है अर्थात् विभावादि हैं व्यंजक और रस है व्यंग्य।

(ख) स्थायी भाव ही रस-रूप में परिणत होता है।

(ग) रस सुख-रूप है अर्थात् आनन्द ही रस है।

(घ) रस प्रतीति समूहालम्बनात्मक है।

केशव की उक्त मान्यता पर अभिनवगुप्त, मम्मट और विश्वनाथ का प्रभाव स्पष्ट है। मम्मट ने विभाव, अनुभाव आदि से व्यक्त (व्यंजित) स्थायीभाव को ही रस कहा है।[1] विश्वनाथ ने भी इसी प्रकार विभावादियों के द्वारा व्यक्त स्थायीभाव को रस माना है।[2] केशव के उपर्युक्त छन्द की भाषा पर भी विश्वनाथ का प्रभाव स्पष्ट है। मम्मट एवं विश्वनाथ इन दोनों आचार्यों को स्थायीभाव की रस-परिणति तथा रस की व्यंग्यात्मकता स्वीकार्य है। अपनी कारिका की वृत्ति में 'व्यक्त' शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए विश्वनाथ ने लिखा है कि दध्यादिन्याय से स्थायीभाव ही रस रूप में परिणत होकर व्यक्त होता है (आस्वाद के क्षणों में), न कि दीप के द्वारा घट की अभिव्यक्ति की तरह इसकी सत्ता पूर्वसिद्ध रहती है।[3] केशव ने इन दोनों संस्कृत के आचार्यों की मान्यता को भलीभांति अपने लक्षण में समाविष्ट किया है। रस की आनन्द-स्वरूपता भी परम्परा-प्राप्त है। औपनिषदिक युग के 'रसंह्येवा लब्ध्वा आनन्दीभवति' से लेकर विश्वनाथ के 'आदन्दचिन्मय:'— इस कथन तक रस की आनन्द-स्वरूपता प्रत्येक रसवादी या ध्वनि-रस-वादी आचार्य को मान्य है। अतएव केशव का 'सोई रसु सुख रूप' भी पूर्णत: सार्थक है तथा इसे परम्परा का अनुमोदन प्राप्त है। इस प्रकार केशव—प्रतिपादित रसाभिव्यक्ति और रसास्वाद-प्रकार में कोई व्यतिक्रम नहीं है और इन पर प्रचीन संस्कृत के आचार्यों की छाप भी स्पष्ट है।

इस प्रसंग में केशव की कमी भी स्पष्ट है। रसास्वाद का जैसा दार्शनिक विश्लेषण विश्वनाथ ने किया वैसा केशव इस संक्षिप्त छन्द में नहीं कर सके। विश्व-

---

१. काव्य प्रकाश। ४।२८। २. साहित्य दर्पण। ३।१। ३. वही, ३।१ (वृत्ति)

नाथ ने रसास्वाद को अखण्ड, स्वप्रकाश, चिन्मय, आनन्दमय, वेद्यान्तरस्पर्शशून्य, ब्रह्मास्वाद-सहोदर, लोकोत्तर-चमत्कार-प्राण, स्वाकारवत् अभेदतया आस्वाद्यमात्र आदि अनेक विशेषणों से भूषित कर प्रस्तुत किया। पर केशव इन सारी विशेषताओं में से रस की सुखरूपता या आनन्दमयता को ही लेकर सन्तुष्ट रहे।

विश्वनाथ ने रस-प्रतीति को समूहालम्बनात्मक कहा है। तात्पर्य यह है कि रसास्वाद विभाव, अनुभाव आदि सभी रसोपकरणों की सामूहिक प्रतीति है। जैसे प्रपाणक रस में विभिन्न तत्त्वों का मिश्रित रूप ही आस्वादित होता है, उसी प्रकार रसास्वाद में विभावादियों का।[1] केशव ने इसी तथ्य की ओर 'मिल' शब्द के द्वारा संकेत किया है, पर बात भलीभांति खुल नहीं पाई है।

निष्कर्ष यह कि केशव के रसाभिव्यक्ति-परक छन्द में कोई नवीनता नहीं है किन्तु विषय परम्परानुमोदित है और केशवदास बहक कर कुछ अनर्गल प्रलाप नहीं कर गए। उनका सबसे बड़ा दोष है अतिशय-संक्षिप्तता। इस प्रसंग में एक-दो छन्द और लिखने पर विषय पूर्णतः स्पष्ट हो गया होता।

चिन्तामणि

चिन्तामणि के विचारों पर मम्मट और विश्वनाथ दोनों के प्रभाव स्पष्ट हैं। यों इनके पूरे कविकुलकल्पतरु का आकलन करने पर अन्य संस्कृत के आचार्यों का (भानुदत्त, विद्यानाथ आदि का) प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है स्वयं चिन्तामणि ने अपने ग्रन्थ के आधार संस्कृत के काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों को निःसंकोच होकर स्वीकार किया है।[2] रस-निरूपण की पद्धति चिन्तामणि की अंशतः मम्मट-सम्मत है और अंशतः विश्वनाथ-सम्मत। मम्मट की तरह ध्वनि-निरूपण के क्रम में असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य ध्वनि के अन्तर्गत ही आपने रसभावादियों का निरूण किया है।[3] दूसरी ओर विश्वनाथ की तरह रस-निरूपण के प्रसंग में नायक-नायिका-भेदों का निरूपण भी किया है। स्वयं रस-ध्वनिवादी मम्मट ने आलम्बनविभाव नायक और नायिकाओं का विवरण अपने ग्रंथ में नहीं दिया है। इसीप्रकार चिन्तामणि का काव्य-लक्षण मम्मट के अनुकूल भी है और विश्वनाथ के 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' के अनुकूल भी।[4] ऐसी स्थिति में, चिन्तामणि को मम्मट की तरह रसध्वनिवादी माना जाय, या विश्वनाथ की तरह विशुद्ध रसवादी—यह एक दुविधाजनक समस्या उठ खड़ी होती है। यों विश्वनाथ ने भी अपने साहित्यदर्पण में ध्वनिनिरूपण-क्रम में असंलक्ष्य-क्रमव्यंग्यध्वनि के अन्तर्गत रस-भाव आदि को ही समाविष्ट किया है।[5] केवल ध्वनि-निरूपण के पूर्ण रस-निरूपण कर देने के कारण तथा काव्य-लक्षण में रसात्मकता के

---

१. साहित्यदर्पण। ३।१५-१६।
२. कविकुलकल्पतरु प्रकरण ८, छंद ३।
३. कविकुलकल्पतरु। ५।४५-४७।
४. वही, १।४।
५. साहित्यदर्पण। ४।४-५।

उल्लेख के कारण ही, विश्वनाथ को सामान्यत: विशुद्ध रसवादी मान लिया जाता है। तत्वत: मम्मट और विश्वनाथ के दृष्टिकोणों में कोई अन्तर नहीं है। चिन्तामणि भी उसी परम्परा के रसवादी या रसध्वनिवादी आचार्य हैं।

रस-स्वरूप :—चिन्तामणि के अनुसार विभाव, अनुभाव और संचारीभाव के मिलने से (संयोग से) स्थायीभाव ही रस-रूप धारण कर लेता है। उन्होंने स्पष्ट कहा है :—

गनि विभाव अनुभाव अरु संचारीन मिलाय।
जित थाई है भाव जो सो रस रूप गनाइ ।।—कविकुल कल्पतरु ।५।४८

चिन्तामणि का रस-सामान्य-निरूपक यह लक्षण पूर्वोक्त मम्मट और विश्वनाथ के लक्षणों के सदृश ही है। केवल रस की व्यंग्यात्मकता की ओर इसमें निर्देश नहीं है। पर चिन्तामणि ने इस पर आगे चल कर पृथक् प्रकाश डाला है। इनका स्पष्ट कथन है कि रस असलंक्ष्यक्रमध्वनि है और शृंगार आदि शब्द इसके वाचक हैं। पर इन रसवाची शृंगार आदि साधारण शब्दों के द्वारा कविता में रस का अभिधान करने से रस का बंधन हो जाता है अर्थात् वह स्व-शब्द वाच्यत्व दोष का भागी बन जाता है। अतएव रसको सभी लोग व्यंग्य ही कहते हैं।[1]।

रसाभिव्यक्ति :—रस की अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में चिन्तामणि का कथन है कि सामाजिकों के हृदय में रत्यादि के रूप में जो वासना रहती है, वही विभाव, अनुभाव आदि के संयोग से व्यक्त होने पर रस कहलाती है।[2]। व्यक्त शब्द का प्रयोग चिन्तामणि ने चर्वणा या आस्वाद के अर्थ में किया है। इस अर्थ में प्राचीन संस्कृताचार्य ने भी प्रयोग किया है।[3] जिन्हें लोकजीवन में कारण, कार्य, और सहकारी कारण कहा जाता है उन्हें ही काव्य और नाटक में आलौकिक विभाव, अनुभाव और संचारी शब्दों से अभिहित किया जाता है, क्योंकि इनमें क्रमश: विभावन, अनुभावन और संचारण व्यापारों का सन्निवेश रहता है।[4]। चिन्तामणि के दृष्टि-पथ से रस का साधारणीकरण-पक्ष भी ओझल नहीं होने पाया है। उन्होंने स्वयं यह समस्या उठाई कि रीति-हास आदि स्थायीभाव तो नियत प्रमाता (दुष्यन्त आदि पात्र) में रहते हैं फिर काव्य के पाठकों और नाटक के सामाजिकों को किस प्रकार रसानुभूति होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि काव्यगत और नाटकगत वे विभाव, अनुभाव और संचारी परिमित आश्रय से ही सम्बन्ध रखते हैं, अतएव उनके संयोग से आश्रय का रत्यादि स्थायीभाव ही रस रूप में परिणत होगा और उसे ही आनन्दोपलब्धि होगी। इसका समाधान चिन्तामणि ने साधारण व्यापार के बल पर किया है :—

---

१. क० कु० क० त०। ८।१५०—१५२। २. वही। ५।६६।
३. काव्यप्रकाश, प्रदीप। पृ० ८९। ४. क० कु० त० कु० त०। ५।६३—६४।

साधारण व्यापार बल सब-साधारन होइ ।
नियत प्रभातहि में जदपि तदपि अपरिमित होइ ।।
—कविकुलकल्पतरु ।५।६१।

तात्पर्य यह कि अलौकिक व्यंजना व्यापार के द्वारा उन विभावों, अनुभावों और संचारियों का साधारणीकरण हो जाता है और पाठक एवं सामाजिक का हृदयगत स्थायीभाव (वासनात्मक) भी रसरूप में परिगणित हो जाता है। चिंतामणि के इस मन्तव्य पर अभिनवगुप्त एवं विश्वनाथ का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है।[1] चिंतामणि ने रसाभिव्यक्ति की सीमा पुण्यवान् सहृदयों तक ही मानी है। सहृदयता के बिना रसास्वाद संभव नहीं है। अतएव कतिपय सुकृतियों को ही रसजन्य विलक्षण आनन्द की अनुभूति होती है।[2] विश्वनाथ ने भी इसी तरह की रूढ़िग्रस्तता प्रदर्शित की थी।[3]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह स्पष्ट है कि चिन्तामणि के ऊपर अपने पूर्ववर्ती हिन्दी काव्यशास्त्र के आचार्य केशव की कोई छाप नहीं है। केशव की तरह चिन्तामणि न तो हरि-रस की चर्चा करते हैं और न राधाकृष्ण के आलम्बनत्व-स्थापन के लिए प्रयत्नशील हैं। केशव की तरह इस प्रसंग में सामासिकता का प्रयोग भी आपने नहीं किया है। चिन्तामणि ने अधिक विस्तार में जाकर स्पष्टत: रस-स्वरूप और रसाभिव्यक्ति पर प्रकाश डाला है। यदि आपने गद्यात्मक वृत्ति का सहारा लेकर बीच-बीच में टिप्पणी कर दी होती तो आपका रस-विवेचन संभवत: विश्वनाथ के समकक्ष ठहराया जा सकता था। हिन्दी काव्य-शास्त्र के इतिहास में आप सर्वप्रथम आचार्य हुए जिन्होंने रस-सामान्य के स्वरूप और रसाभिव्यक्ति की समस्या पर पहलीबार इतना व्यवस्थित, विस्तृत और सन्तुलित प्रकाश डाला। यह ठीक है कि इस क्षेत्र में आपने कोई मौलिकता प्रकट न की, पर अभिनवगुप्त, मम्मट और विश्वनाथ के विचारों को पचाकर समन्वित रूप में ब्रजभाषा के माध्यम से प्रकट कर देने में ही आपका सबसे बड़ा श्रेय निहित है। केशव की विचारधारा से भिन्न होकर संस्कृत की परवर्ती रचनाओं के आधार पर रीति-विवेचन करने के कारण ही चिन्तामणि को रीतिकाल का प्रथम आचार्य माना जाता है।

तोष–

तोष ने १६९१ वि० संवत् में सुधानिधि नामक ग्रन्थ रचा।[4] इसका प्रथम प्रकाशन १८९२ ई० में भारतजीवन प्रेस, काशी से हुआ है। नागरी प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में यह ग्रंथ उपलब्ध है। इसमें कुल पदों की संख्या ५५७ है और अन्त में तान दोहेभी हैं, जिनमें पद संख्या नहीं दी गई है। यदि उन्हें भी जोड़ लिया

१. (क) काव्यप्रकाश। उल्लास ४, पृ० ५६। (ख) साहित्यदर्पण। ३।९-१२।
२. कविकुलकल्पतरु। ५।६२। ३. सा० द० परिच्छेद ३, पृ० १०४।
४. हि० सा० इतिहास पृष्ठ २८२।

जाये तो पदों की संख्या ५६० तक पहुंच जाती है। ग्रंथ में दोहा और कवित्त छन्द का प्रयोग किया गया है। सारे लक्षण दोहों में हैं और उदाहरण कवित्त में। ग्रन्थ-कर्त्ता का उद्देश्य है रस-निरूपण, जैसा स्वयं उन्होंने अपने ग्रन्थ में प्रतिपादित किया है।[1]

रीतिकालीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के दो वर्ग मिलते हैं। प्रथम वर्ग के ग्रन्थ वे हैं जिनमें मम्मट और विश्वनाथ के ग्रन्थों की परम्परा के अनुसार अनेक काव्यांगों का निरूपण है और ग्रन्थ के एक अंश में रस का भी। इस वर्ग के ग्रन्थों में भी स्पष्टतः दो कोटियों की रचनाएं हैं—प्रथम कोटि के ग्रंथों में ध्वनि-निरूपण के प्रसंग असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि के अन्तर्गत काव्यप्रकाश की तरह रस-निरूपण और द्वितीय कोटि के ग्रन्थों में साहित्यदर्पण की तरह रसों का स्वतन्त्र निरूपण है। द्वितीय वर्ग के ग्रंथ वे है जिनमें केवल रस का निरूपण है और उसके प्रत्येक उपकरण के लक्षण, भेद और उदाहरण समाविष्ट हैं। अनेक रसों में भी शृङ्गार का विस्तार-पूर्वक विवेचन या निरूपण है और अन्य रसों का चलता सा वर्णन कर दिया गया है। इस वर्ग के ग्रन्थों में संस्कृत के भानुदत्त मिश्र-प्रणीत रसतरंगिणी और रसमंजरी का अनुसरण किया गया है। केवल नायक-नायिका भेदों को निरूपित करने वाले ग्रन्थों का एक तीसरा वर्ग भी है जिसमें भानुदत्त की रसमंजरी का ही अनुसरण है।

तोष का सुधानिधि नामक ग्रंथ न तो प्रथम वर्ग का है और न तृतीय वर्ग का। इसे रस-निरूपक ग्रन्थ कहना चाहिए, जो भानुदत्त मिश्र की रसतरंगिणी और रसमंजरी-दोनों ग्रन्थों के समन्वित रूप का अनुसरण करता है। यद्यपि सुधानिधि रस-सामान्य-निरूपक ग्रंथ है, पर इनमें शृङ्गार का ही विस्तृत विवरण है और अन्य रसों का अत्यन्त संक्षिप्त। मेरे निर्णय को ग्रंथ के छन्दों के विभाजन से भी प्रमाणित किया जा सकता है। पूरे ग्रन्थ के ५६० छन्दों में से ४४४ छंद तो किसी न किसी रूप में शृङ्गार-रस से ही संबंध रखते हैं और अन्य ११३ छंदों में हास्यादि शेष आठ रसों का चलता-सा निरूपण है तथा शेष तीन छन्दों में लिपि-काल आदि वर्णित हैं। अतएव इस ग्रन्थ को शृङ्गार-रस निरूपक भी कह दिया जाय तो कोई आपत्ति नहीं हो सकती है, पर है यह रस-निरूपक ग्रन्थ ही।

रस-स्वरूप और अभिव्यक्ति—तोष ने न तो रस-सामान्य का स्वरूप ही निर्दिष्ट किया है और न उसकी अभिव्यक्ति पर ही प्रकाश डाला है। ग्रन्थ के ८ वें छन्द में ही आपने रस-भेद प्रतिपादित किए और तदनन्तर लग गए एक-एक रस का लक्षण करने और उसके उपकरणों का विवरण देने। रसाभिव्यक्ति के सम्बन्ध में आपके एक छन्द का अर्थ खींच-तान कर बैठाया जा सकता है। आपने रस-भेद

१. सुधानिधि। छन्द-५।

बताने के पूर्व कहा है कि कविता-तरंगिणी के मध्य जो अर्थान्तर (रस) है, वह केवल सुमतियों (सहृदयों) को ही सुलभ है और कुमति (असहृदय) व्यक्ति को यह सर्वथा दुर्लभ है[1]। वस्तुतः वासना (प्राक्तन और इदानीन्तन संस्कार विशेष) से युक्त व्यक्ति को ही रसास्वाद होता है, अन्य वासना-विहीन और असहृदय व्यक्ति तो रंगमंच के नीचे लकड़ी के खम्भों और पत्थर के टुकड़ों की भांति ही बैठे रहते हैं—ऐसा विश्वनाथ ने भी स्वीकार किया है[2]। पर तोष के इस छन्द में अर्थान्तर, सुमति और कुमति—ये सारे शब्द व्याख्या की अपेक्षा तो रखते ही हैं, साथ ही उपयुक्त भी नहीं हैं। इतना निश्चित है कि तोष सभी व्यक्तियों की समान रसानुभूति में विश्वास नहीं रखते हैं। रस-स्वरूप और अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में इसके अतिरिक्त तोष ने और कुछ नहीं लिखा।

मतिराम

मतिराम के काव्यशास्त्र विषयक दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—ललितललाम और रसराज। ललितललाम का विशुद्ध अलंकार-निरूपक ग्रन्थ होने के कारण हमारे प्रस्तुत अध्ययन से कोई सम्बन्ध नहीं है। रसराज, जैसा नाम से ही स्पष्ट है, शृंगाररसनिरूपक ग्रन्थ है। इन दोनों ग्रन्थों का प्रकाशन कृष्णबिहारी मिश्र द्वारा सम्पादित होकर मतिराम-ग्रंथावली के नाम से गंगा-ग्रंथागार, लखनऊ, से हुआ है। मतिराम-ग्रन्थावली के अन्तर्गत 'मतिराम-सतसई" भी है, पर यह लक्षण-ग्रन्थ नहीं है। इनके अतिरिक्त साहित्यसार और लक्षण-शृंगार नामक पुस्तकें भी मतिराम-प्रणीत बताई जाती हैं। पर ये दोनों पुस्तकें अत्यन्त छोटी हैं तथा एक में केवल १० पृष्ठों में नायिका-भेद बताया गया है और दूसरी में कुल १४ पृष्ठों में भाव और विभावों का वर्णन है[3]।

मतिराम के रसराज की सीमा रसराज शृंगार तक ही है, अतएव उसी के लक्षण, भेद और उपकरणों का सोदाहरण निरूपण कवि ने किया है। आरम्भ में नायिका और नायक के भेदों का प्रतिपादन है तथा आगे चलकर शृंगार का लक्षण निरूपित कर अन्य उपकरणों—भाव, अनुभाव, संचारी, स्थायी आदि का निरूपण किया है।

इस ग्रन्थ में रस-सामान्य का स्वरूप और अभिव्यक्ति जैसे गम्भीर प्रश्न को मतिराम ने उठाया ही नहीं है। प्रायः रसराज शृंगार के निरूपण के लिए आपने इसे आवश्यक न समझा हो। पर यह उनके आचार्यत्व की कमी का परिचायक है। शृंगार को रसराज मानने वाले आचार्य भोज के सामने भी यही समस्या थी, पर

१. सुधानिधि। छन्द–७। २. साहित्यदर्पण। ३।८ और वृत्ति।
३. हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास, पृ० ८५।

उन्होंने रस-स्वरूप और रसाभिव्यक्ति जैसे महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को टाला नहीं है वरन् और जमकर विवेचन किया है।

कुलपति

कुलपति ने १७२७ वि० संवत् में रसरहस्य नामक अनेकांग-निरूपक रीति-ग्रन्थ रचा[1]। इस ग्रन्थ में मम्मट के अनुकरण पर विविध काव्यांगों का निरूपण किया गया है, ऐसा कुलपति ने स्वयं स्वीकार भी किया है[2]। फलतः ध्वनि-निरूपण के अन्तर्गत ही कुलपति ने भी रस-निरूपण किया है। रस-भाव आदि को आपने मम्मट की भांति असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनि माना है।

रस-स्वरूप और अभिव्यक्तिः—विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के द्वारा व्यक्त स्थायी भाव ही रस है, जो आनन्द का सम्राट् है:—

मिलि विभाव, अनुभाव अरु, संचारी सु अनूप।
व्यंग कियो थिर भाव जो, सोई रस सुख भूप॥ रसरहस्य। ८।३४।

सूत्र रूप में कुलपति ने इसी लक्षण के अन्तर्गत रस की स्वरूपगत विशेषताओं का स्पष्ट निर्देश किया है:– (१) स्थायीभाव व्यंजनावृत्त्या रसरूप में व्यंजित होता है, (२) विभावादि मिलकर ही स्थायी भाव को रसरूप में परिणत कर सकते हैं, (३) रस सुख–भूप है—आदि सभी विषयों का संकेत उपर्युक्त लक्षण में विद्यमान है।

साधारणीकरण की समस्या, जो रस-शास्त्र की एक सनातन समस्या है, की ओर भी कुलपति का ध्यान गया है। इन्होंने स्पष्टतः उल्लेख किया है कि नाटकों को देखने तथा काव्यों को सुनने के समय क्रमशः सामाजिकों और पाठकों का व्यक्तिगत आवरण हट जाता है अर्थात् वे अपने सुख-दुःख, योग-क्षेम आदि को भुला देते हैं, परिणामतः आनन्दस्वरूप, चैतन्य-स्वरूप और स्वप्रकाश रस की अनुभूति उन्हें होने लगती है[3]। तात्पर्य यह कि आवरण-भंग होने पर दर्शक और पाठक उन आलम्बनों और उनसे सम्बद्ध अनुभाव, संचारी आदि उपकरणों की प्रतीति सामान्यतया करने लग जाते हैं, जिससे उनके हृदयगत रत्यादि भाव उद्बुद्ध होकर रसरूपता को प्राप्त कर लेते हैं तथा वे रस भी आनन्द-स्वरूप, स्वप्रकाश और चैतन्य-स्वरूप होते हैं। कुलपति ने रसानुभूति की तुलना ब्रह्मानन्द से भी की है—जैसे ब्रह्म-साक्षात्कार के समय योगी-जन सांसारिक सामान्य वस्तुओं की सुधि विस्मृत कर तज्जन्य आनन्द में ही मग्न रहते हैं, उसी प्रकार काव्यगत रसानुभूति के क्षणों में

---

१. रसरहस्य (इण्डियन प्रेस, प्रयाग, सं० १९५४)–८/२११।
२. र० र०। वृत्तान्त ८, छन्द २१०। ३. वही। ३।३५।

भी प्रगाढ़ तन्मयता रहती है तथा सांसारिक गोरख-धन्धे भूल जाते हैं[1]। कुलपति के इस विवेचन पर विश्वनाथ के साहित्यदर्पण का प्रभाव स्पष्ट है[2]। केशव ने भी साहित्य-दर्पण के इस अंश से प्रभाव ग्रहण कर रस-स्वरूप का निर्धारण किया था, पर वे इसमें पूर्णत: सफल नहीं हो सके। केशव ने रस की मात्र आनन्द-स्वरूपता पर प्रकाश डाला था और विश्वनाथ द्वारा प्रस्तुत रस-स्वरूप की अन्य विशेषताओं को आप हृदयंगम नहीं कर सके थे। आचार्य कुलपति ने रस को (१) आनन्दस्वरूप, (२) चैतन्य-स्वरूप, (३) स्वप्रकाश, (४) ब्रह्मास्वाद-सहोदर—इन चार विशेषणों से विभूषित कर प्रस्तुत किया है। निष्कर्ष यह कि संस्कृत के आचार्यों द्वारा प्रतिपादित रसों की दार्शनिक व्याख्या को अपनाने की प्रवृत्ति तो हिन्दी काव्य-शास्त्र में केशव के युग में ही आ गई थी, पर उसका क्रमिक विकास कुलपति के रस–रहस्य में आकर हुआ। तथापि किंचित् न्यूनता कुलपति में भी रह ही गई। केशव से आगे भले ही कुलपति इस दिशा में आ गए हों, पर संस्कृत काव्य-शास्त्र के अन्तिम युगीन आचार्य विश्वनाथ से आगे जाने की बात तो बहुत दूर की रही, बल्कि वहां तक पूर्णतया पहुंचने में भी कुलपति पश्चात्पद ही रहे।

कुलपति ने रसाभिव्यक्ति की समूहालम्बनात्मकता पर भी विचार किया है। उनका कहना है कि सामान्यत: विभाव, अनुभाव और संचारी सभी सामूहिक रूप से मिलकर ही रस का उत्पादन करते हैं किन्तु किसी कविता-विशेष में असाधारण विभाव, अनुभाव या संचारी के उपस्थित रहने पर अन्य दो तत्त्वों का आक्षेप स्वभावत: हो जाता है और रस-प्रतीति में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होती है[3]। यह समस्या संस्कृत के आचार्य मम्मट के सामने भी थी और उन्होंने विश्लेषित कर दिखाया कि एक ही व्याघ्र भयानक, वीर, अद्भुत और रौद्र का आलम्बन हो सकता है। एक ही अश्रुतिपातादि अनुभाव शृंगार, करुण और भयानक रसों में हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में मात्र एक उपकरण के आधार पर रस-विशेष की अनुभूति में अनैकान्तिक दोष की संभावना हो जाती है। परिणामत: रसानुभूति बाधित होगी। पर मम्मट ने स्वयं इसका समाधान ढूँढ़ निकाला और कहा कि यदि एक उपकरण भी असाधारण हो अर्थात् एक ही रस में संभव हो तो अन्य उपकरणों का स्वत: आक्षेप हो जायगा और रसानुभूति में बाधा नहीं उपस्थित होगी[4]। अपने कथन को मम्मट ने उदाहरण देकर और सुस्पष्ट कर डाला है। कुलपति ने इस प्रसंग में मम्मट के विवेचन को तो अपनाया, पर वैसी सुस्पष्टता नहीं ला सके। इसके कई कारण हैं। सर्वप्रथम तो उदाहरण देकर इसे स्पष्ट करने का प्रयास कुलपति ने नहीं किया। दूसरी कमी यह है कि विभावादि की असाधारणता तथा अन्य उपकरणों के आक्षेप (जो वस्तुत: इस समस्या का समाधान है)

---

१. रस रहस्य। ३।३६। २. साहित्यदर्पण : परिच्छेद ३, श्लोक १-३।
३. रसरहस्य। ३।५३। ४. काव्यप्रकाश, उल्लास ४, पृ० ५८ और ६०।

की आपने चर्चा तक नहीं की, भले ही आपका अभिप्रेत वहां तक रहा हो। अस्पष्टता का एक कारण और है, वह यह कि समस्या और समाधान का पृथक्-पृथक् निर्देश नहीं किया गया है। फलतः मम्मट का प्रभाव लेकर भी कुलपति इस दिशा में पूर्णतया सफलता नहीं प्राप्त कर सके। तथापि अन्य रीतिकालीन आचार्यों की तुलना में आपका यह प्रयास स्तुत्य है।

देव

ऐतिहासिकों ने विक्रम संवत् १७४६–९० के बीच देव का रचना-काल माना है। यों तो देव ने ७२ छोटे-बड़े ग्रन्थों का प्रणयन किया था, पर काव्य-शास्त्रीय विषयों से सम्बन्ध रखने वाले कतिपय ग्रन्थ ही हैं। सुख-सागर-तरंग, भाव-विलास, रस-विलास, भवानीविलास और शब्द-रसायन—ये पांच प्रसिद्ध रीति-ग्रन्थ हैं। सुखसागरतरंग मात्र शृंगार-रसनिरूपक ग्रन्थ है[1]। अतएव इसमें शृंगार-रस लक्षण, भेद और उसके उपकरणों की ही चर्चा है। इसी प्रकार रस-विलास में भी केवल नायिका-भेदों का ही वर्णन देव ने किया है[2]। बल्कि जिन नायिका भेदों की चर्चा आपने भाव-विलास में की, उन्हीं को नए ढंग और छन्द में दुहरा दिया है। कुशल-विलास और सुजान-विनोद में भी केवल नायिका-भेदों का ही विवरण है। रस-सामान्य की निरूपणा करने वाले ग्रन्थ देव के केवल दो ही हैं—भाव विलास और भवानी विलास। शब्द-रसायन अनेकांग निरूपक रीति-ग्रन्थ है। परिमाणतः इसमें भी रस-सामान्य का निरूपण देव को करना पड़ा है। अतएव देव की दृष्टि में रस का स्वरूप कैसा था और रसाभिव्यक्ति के सम्बन्ध में आपकी क्या मान्यता थी, इसके लिए भावविलास, भवानीविलास और शब्दरसायन, इन तीन ग्रन्थों की ही सरणि ली जा सकती है।

रस-स्वरूप और रसाभिव्यक्ति:—देव के अनुसार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियों के द्वारा स्थायीभाव की पूर्ण वासना ही रस है[3]। ये स्थायीभाव वस्तुतः नायक-नायिका आदि पात्रों या सहृदयों के हृदय में प्रेमादि की अभिव्यक्ति के पूर्व भी विद्यमान रहते हैं। ये जन्मान्तर के भाव या संस्कार विशेष हैं। विभावादियों के सम्पर्क से ये स्थायीभाव ही रस-रूपता को प्राप्त करते हैं। रस एक ओर लौकिक है, तो दूसरी ओर अलौकिक भी। नयनादि इन्द्रियों के संयोग से रस लौकिक होता है तथा आत्मा और मन के संयोग से रस अलौकिक होता है[4]। देव ने "शब्द-रसायन" में रूपक के माध्यम से रस-परिपाक को स्पष्ट किया है। उनका

---

१. सुखसागर तरंग। सम्पादक—बालदत्तमिश्र, लखनऊ, सं. १९५४, पद सं.-३६, पृ. १२
२. रसविलास, भरतजीवन प्रेस, काशी, १९०० ई०। विलास ४, पद ४०
३. भाव विलास, भारतजीवन प्रेस, काशी १८९२ ई०। विलास ३, पृ० ६५
४. भावविलास। ३ पृ० ६५

कथन है कि पात्र (नायक-नायिका और सहृदय) का हृदय क्षेत्र है अर्थात् रस का आधार-स्थान है, संस्कार रूप से चित्त में रहने वाला स्थायीभाव बीज है जो स्नेह के सिंचन से क्रमशः अंकुरित, पुष्पित और फलित होकर स्वरूप में परिणत हो जाता है। तात्पर्य यह कि रसरूपी अमरतरु (कल्पवृक्ष) के खेत, बीज, अंकुर, सलिल, शाखा, दल, फल फूल आदि आठ अंग हैं जिनके अस्तित्व में ही रसामृत प्रस्तावित होता है। इन अंगों में खेत तो पात्र है, हृदयगत संस्कार बीज है, विधाता की कृपा से अंकुर-योग होता है, स्नेह सलिल का स्थानापन्न है, विभिन्न भाव शाखाएं हैं, छन्द पत्र हैं, शब्दालंकार और अर्थालङ्कार फूल हैं तथा आमोद (रसानुभूतिजन्य आनन्द) ही फल है[1]। विभाव, अनुभाव, संचारी आदि उपकरणों का रस-परिपाक में स्थान निर्धारित करते हुए देव ने लिखा है कि स्थायी-भाव रूप रसांकुर को विभाव उत्पन्न करते हैं, अनुभाव उसे अनुभव-योग्य बनाता है अर्थात् उसे प्रकाशित करता है, सात्त्विक भाव उसे झलका देते हैं अर्थात् ये उसके विशेषक हैं तथा संचारी भाव बीच-बीच में उझकते हैं अर्थात् ये उसके विलासक हैं[२]। इसी तरह की बात आपने सुखसागरतरंग में भी बताई है[3]। रस को आमोद स्वरूप तथा अलौकिक बता कर आपने उसकी आनन्दमयता और ब्रह्मास्वाद-सहोदरता की ओर भी संकेत कर दिया है।

रस-स्वरूप और अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में देव की उपर्युक्त मान्यता पर संस्कृत के आचार्यों का प्रभाव स्पष्ट है। देव के रस-लक्षण के सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र का कथन है कि 'थिति की पूरन बासना, सुकवि कहत रस सोइ' में बासना शब्द स्मरण का पर्यायवाची है तथा इसके द्वारा 'भाव-स्मरणं रसः' इस रस लक्षण की ओर संकेत किया गया है[4]। पर मेरी दृष्टि में यह द्रविड़-प्राणायाम ठीक नहीं है। छन्द का अर्थ सरल ढंग से किया जा सकता है। स्थायी भाव का पूर्व रूप वासना (संस्कार) ही है। अतएव विभावादि के संयोग से वासनात्मक स्थायीभाव जब पूर्णता को प्राप्त होता है अर्थात् प्रबुद्ध हो जाता है तो उसे रस कहते हैं। इस रस-लक्षण पर भानुदत्त का प्रभाव भी ढूँढ़ा जा सकता है[5]। रस-परिपाक के सम्बन्ध में देव ने अपने शब्द-रसायन नामक ग्रन्थ में जो रूपक बांधा है, वह अभिनवगुप्त से प्रभावित है[6]। देव को इतना श्रेय अवश्य है कि उस रूपक में अधिक सांगता लाने का प्रयास आपने किया है। देव के रूपक में स्नेह और प्रारब्ध क्रमशः सहृदयता और सवासनता (संस्कार-युक्तता) के संकेतक हैं। विभाव, अनुभाव आदि

---

१. शब्द-रसायन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, २००० वि० सं०। प्रकाश ३, —पृ० २८
२. वही पृ० २९। ३. सुखसागरतरंग। छन्द ३८, पृ० १३।
४. देव और उनकी कविता, पृ० १२८। ५. रसतरंगिणी। तरंग ६, पृ०११७-११८
६. अभिनवभारती।

रसोपकरणों को देव ने क्रमशः उत्पादक, प्रकाशक, विशेषक और विलासक स्वीकार किया है। देव के विवेचन का यह अंश भी भानुदत्त के प्रभाव से अछूता नहीं है।[1]

फिर भी, देव का रस-सामान्य-निरूपण अत्यन्त समीचीन एवं पूर्ण नहीं जा सकता है। रस की स्थिति आपने पात्र में मान ली है। यों पात्र शब्द के अर्थ को खींच-तान कर सहृदयों या सामाजिकों तक ले जाया जा सकता है, पर यह कष्ट-कल्पना ही होगी। रस की दार्शनिक व्याख्या की जो परम्परा संस्कृत के काव्य-शास्त्र में चल पड़ी थी, उसकी ओर भी देव ने ध्यान नहीं दिया है। रस की अलौकिकता को सूत्र रूप में आपने प्रस्तुत तो किया, पर उसकी विशद मीमांसा वांछित थी। रस की समूहालम्बनात्मक अनुभूति के सम्बन्ध में भी आप मौन हैं।

कुमारमणिभट्ट

कुमारमणिशास्त्री या कुमारमणिभट्ट ने संवत् १७७६ में[2] 'रसिक-रसाल' नामक काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ रचा। इसका प्रकाशन कांकरौली के श्री विद्याविभाग द्वारा संवत् १९९४ में हुआ है। आपने मम्मट के काव्य-प्रकाश का अनुसरण करते हुए यह ग्रन्थ रचा है।[3] अतएव आप ध्वनिवादी हैं। रस को आपने भी मम्मट की तरह असंलक्ष्य क्रमव्यंग्य ध्वनि ही माना है।[4] रसिक-रसाल के तीसरे, चौथे और पाँचवें उल्लासों में रस-स्वरूप, रस-भेद और रसोपादानों का वर्णन किया गया है।

रसस्वरूप और रसाभिव्यक्ति:—विभाव, अनुभाव और संचारी भाव से मिल कर रति-प्रभृति स्थायीभाव रस-रूप की रचना करते हैं[5]। कुमारमणि के अनुसार स्थायीभाव ही आनन्द का अंकुर है जो विभावादि से उपचित होकर रसरूपत्व को प्राप्त कर लेता है[6]। रस लौकिक तथा अलौकिक है। व्यावहारिक दृष्टि से काव्य-गत और नाटकीय रस श्रृंगार, वीर आदि नौ हैं, पर आनन्दस्वरूपता के आधार पर वह अलौकिक (विलक्षण) रस एक ही है। सभी पंडितों और सहृदयों को एक ही प्रकार का विलक्षण आनन्द तथाकथित अनेक रसों में अनुभूत होता है, अतएव रस वस्तुतः एक है। कृष्ण (ब्रह्म) आनन्द-स्वरूप हैं और यह संसार कृष्ण का ही प्रतिरूप है। अतएव सांसारिक स्त्री-पुरुष निष्ठ रस में और आनन्दरूप कृष्ण में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। फलतः कृष्ण या ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण भी रस एक है, अर्थात् अखण्ड है।[7] निष्कर्ष यह कि कुमारमणि की दृष्टि में स्थायीभाव ही रसरूपता को प्राप्त करता है तथा वह रस आनन्दस्वरूप, अखण्ड एवं ब्रह्मास्वाद-

१. (क) रसतरंगिणी। तरंग २, पृ० ३१। (ख) वही। तरंग ३, पृ० ४५। (ग) वही। त० ५। पृ० ७१।
२. रसिक रसाल। अन्तिमपद, पृ० २६९।
३. वही। १।४।
४. वही। उल्लास ३ का प्रारम्भिक अंश, पृ० १७।
५. रसिक रसाल। ३।१०।
६. वही। ३।३।
७. वही। ३।५-९।

सहोदर है। अपनी पूर्वघोषणा के विपरीत कुमारमणि ने अक्षरशः विश्वनाथ के साहित्यदर्पण का तथा भानुदत्त की रसतरंगिणी का अनुसरण किया है।[1] तथापि अपनी बात को तर्कपूर्वक रखने में कुमारमणि ने मौलिकता का प्रदर्शन किया है। रस की एकता को सिद्ध करने के लिए आपने जिन उपर्युक्त युक्तियों का सहारा लिया है, वे उनकी अपनी हैं।

स्वाद-विशेष ही रस है। अतएव भाव, रसाभास, भावाभास, भावसन्धि, भावोदय आदि भी कुमारमणि की दृष्टि में रस के ही प्रकारान्तर हैं। ये विविध भाव तथा रस (आस्वाद) अन्योन्याश्रित हैं, अतएव इन्हें किसी भी स्थिति में रस से पृथक् नहीं माना जा सकता है।[2] रस को मम्मट एवं विश्वनाथ की तरह कुमारमणि ने भी समूहालम्बनात्मक माना है। जैसे मरीच, चीनी आदि मिल कर पानक (प्रपाणक) रस का निर्माण करते हैं और उनके तत्वों का पृथक्-पृथक् आस्वाद सम्भव नहीं हैं, ठीक उसी तरह विभावादि उपकरणों के मिश्रण से स्थायी की रसात्मक परिणति के अवसर में सहृदयों को उन सबों का एक सम्मिलित आस्वाद मात्र होता है, उन तत्त्वों की पृथक्-पृथक् प्रतीति नहीं।[3]

सोमनाथ

सोमनाथ ने १७९४ वि० सं० के लगभग रसपीयूषनिधि और शृंगारविलास नामक दो रचनायें प्रस्तुत कीं। ये दोनों ग्रन्थ अभी तक प्रकाशित नहीं हुए हैं। नागरी प्रचारिणी के याज्ञिक संग्रहालय में इनकी हस्तलिखित प्रतियां सुरक्षित हैं। रसपीयूषनिधि का लिपिकाल संवत् १७९८ लिखा हुआ है।

सोमनाथ मम्मट की परम्परा के ध्वनि-रसवादी आचार्य हैं। रसपीयूषनिधि के ७ से १८ तरंगों तक आपने ध्वनि का निरूपण किया है। इसी क्रम में असंलक्ष्य क्रमव्यंग्य ध्वनि के अन्तर्गत आपने रस-निरूपण भी कर दिया है। पर नायक-नायिका-भेद का निरूपण आपने विश्वनाथ के अनुकरण पर किया है। अतएव शृंगार-रस के आलम्बन विभाव के वर्णन-क्रम में नायक-नायिका भेदों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। शृंगार-विलास रसपीयूषनीधि का ही रूपान्तर है, इसे स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता है। प्रारम्भ के ४७ पद्यों में रस-निरूपण है और तदनन्तर नायक-नायिका भेदों का विवरण।

रस-स्वरूप और अभिव्यक्ति :—सोमनाथ के अनुसार विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के द्वारा व्यंजित स्थायीभाव ही रस है। रस का स्वरूप आनन्दमय है, क्योंकि रसयुक्त काव्य को सुनकर सहृदयों को अपनी सुधि भी भूल जाती है। ऐसी

---

१. साहित्यदर्पण। ३।२ और रसतरंगिणी। तरंग ६, पृ० १२१-१२२।

२. रसिकरसाल।३।२।   ३. वही ३।४।

स्थिति में वे (सहृदय) जिस आनन्द में मग्न हो जाते हैं, वही रस का स्वरूप है।[1] इन्हीं शब्दों में सोमनाथ ने शृंगार-विलास में भी रस के स्वरूप का निर्धारण किया है।[2] सोमनाथ की इस धारणा पर मम्मट और उनके द्वारा उद्धृत अभिनव-गुप्त की मान्यता की स्पष्ट छाप है।[3]

भिखारीदास

आचार्य भिखारीदास के काव्यशास्त्रविषयक रचना-काल का आरम्भ वि०सं० १७९१ से होता है।[4] यों इसके पूर्व भी आपने कई काव्य-ग्रन्थ लिखे थे। काव्यशास्त्र विषयक आपके तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—(१) रससारांश (२) शृंगारनिर्णय और (३) काव्य-निर्णय। इन ग्रन्थों की कई हस्तलिखित प्रतियां तथा प्रकाशित संस्करण भी पूर्वतः उपलब्ध थे, पर अब नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी की आकर ग्रन्थ-माला में पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा सम्पादित होकर दो खण्डों में ये ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। प्रथम खण्ड में रससारांश, शृंगार निर्णय और छन्दार्णव को समाविष्ट किया गया है तथा द्वितीय खण्ड में एकमात्र काव्यनिर्णय को। मेरे अध्ययन के आधार भिखारीदास के ये ही दोनों खण्ड हैं। रस-सारांश रस-सामान्य-निरूपक ग्रन्थ है, शृंगारनिर्णय केवल शृंगार-रस-निरूपक और काव्यनिर्णय सर्वांग-निरूपक रीतिग्रन्थ है। परिणामतः रस-सारांश में सभी रसों का सांगोपांग वर्णन है तथा शृंगारनिर्णय में शृङ्गार-रस से सम्बन्ध रखने वाले विषयों का उल्लेख है। काव्य-निर्णय, सर्वाङ्ग-निरूपक ग्रन्थ होने के कारण, शब्दशक्ति, ध्वनि, रस, वृत्ति, रीति, गुण, दोष आदि विविध काव्यांगों का प्रतिपादक है। इसके चतुर्थ उल्लास में रस-विवेचन है। प्रस्तुत अध्ययन के आधार में तीनों ही ग्रन्थ हैं, क्योंकि इन सभी ग्रन्थों में किसी न किसी रूप में थोड़ी-बहुत रस-चर्चा है।

रस-स्वरूप और अभिव्यक्ति—जब विभाव, अनुभाव, स्थायीभाव और चर-भाव (संचारीभाव) का एकत्र ज्ञान हो तो वहां रस की सत्ता माननी चाहिए या वही रस का स्वरूप है[5]। इसका यह तात्य नहीं कि इन रसोपादानों के शुष्कज्ञान मात्र को दास ने रस स्वीकार किया है, अपितु इन तत्त्वों से युक्त कविता में सहृदया-ह्लादन की क्षमता (रससामग्री जो रमै) रहने पर ही रस की अवस्थिति का निर्देश आपने किया है[6]। रस-सामान्य-प्रतिपादक दास के उपर्युक्त लक्षणों में आपाततः यह त्रुटि प्रतीत होती है कि केवल रसोपकरणों के मिलन से ही रस-निर्माण हो जाता है, वासना रूप स्थायी भावों का रसों में परिणमन नहीं होता है। पर दास ने स्वयं

---

१. रस पीयूषनिधि। ७ तरंग, पद्य ४४-४५। २. शृङ्गारविलास (याज्ञिक संग्रहालय)।२।३५। ३. काव्यप्रकाश। ४।२८ और वृत्ति, पृ० ५६।
४. रससारांश। पद सं० ५८४। ५. रससारांश। ४४८।
६. काव्यनिर्णय। ४/१५।

इसे अन्यत्र स्पष्ट कर दिया है। स्थायीभाव को आपने रस का बीज कहा है। यह स्थायीभाव पृथक्-पृथक् रस के लिए हृदय-विकार के रूप में पूर्वतः सहृदयों के हृदय में रहता है। कारणरूप विभाव, कार्यरूप अनुभाव, सहकारी कारण रूप ३३ व्यभिचारी भावों के सम्मिलित सहयोग से, वही हृदयविकार रूप (वासनारूप) स्थायीभाव रसरूप में परिगणित होता है।[1] अन्य रीतिकालीन आचार्यों की तरह दास ने रसों का आस्वाद या अवस्थान नायक-नायिका रूप पात्रों में नहीं प्रतिपादित किया है। आपने स्पष्ट कहा है कि रसिकों (सहृदयों) को ही रसमय काव्य का आस्वाद होता है।[2] फलतः उन्हें ही रसानुभूति होती है और उन्हीं में रसों की स्थिति रहती है, नायक-नायिकाओं में नहीं। रसिक, वस्तुतः वे ही व्यक्ति हैं जिन्हें रसमय काव्य के प्रति प्रेम है तथा रसमयी कविता (रचना) भी वही है जो रसिकों को सुख (आनन्द) पहुंचावे।[3] रसमय काव्य के प्रति प्रेम या उसके अध्ययन-श्रवण से आनन्दोपलब्धि उन्हीं को होती है जिनके हृदय में स्थायीभावों (प्रीति, शोक आदि की वासनाओं का) का निवास होता है, वासना-विहीन पुरुष तो पाषाण की तरह दृढ़ होते हैं और सरस काव्य सुनकर भी द्रवित नहीं होते।[4]

दास की उपर्युक्त रस-स्वरूप और रसाभिव्यक्ति से सम्बद्ध मान्यता पर संस्कृत के मम्मट, विश्वनाथ और अभिनवगुप्त की स्पष्ट छाप है।[5]

रसलीन

रसलीन का वास्तविक नाम था सैय्यद गुलाम नबी। आपने "रस-प्रबोध" अंगदर्पण और नायिका-भेद नामक कई रीति ग्रंथ लिखे थे, इनमें से एकमात्र रस-प्रबोध ही रस-सामान्य-निरूपक ग्रन्थ है।[6] इस ग्रंथ का प्रथम प्रकाशन १८९५ ई० में भारतजीवन प्रेस, काशी से हुआ था। इसी के आधार पर मेरा यह अध्ययन प्रस्तुत है। रसप्रबोध की रचना रसलीन ने १७९८ वि० संवत् में की थी।[7] इस पुस्तक में कुल १४० पृष्ठ हैं तथा ११११५ दोहे। रसलीन का दावा है कि इस लक्षण ग्रन्थ को पढ़ लेने के अनन्तर पाठक को दूसरे रस-ग्रन्थ के अध्ययन की कोई अपेक्षा या आवश्यकता न रह जायगी।[8] किन्तु यह दावा अंशतः सत्य होने पर भी उनके मिथ्या-गर्व का ही द्योतक प्रतीत होता है।

रस-स्वरूप और अभिव्यक्ति—रसलीन के अनुसार जब विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों का मिलन (संयोग) होता है, तो परिपूर्ण और व्यापक रस निष्पन्न होता है—

---

१. (क) का० नि० । ४।८ (पूर्वार्द्ध)। (ख) रस सारांस। १२ वां पद। (ग) का० नि० ४।८-१४। २. र० सा० ७। ३. वही, ८।
४. का० नि०। ४।७, सा० द०। ३।८ (वृत्ति)। ५. का० प्र० ४।२७-२८, सा० द० ३।१-३, ३।८ (वृत्ति)। ६. र० प्र० दोहा २। ७. वही, ३।
८. वही, ४।

जब विभाव अनुभाव अरु व्यभिचारी मिलि आनि।
परिपूरन व्यापी जहां उपजै सो रस जानि।

—र० प्र०। दोहा ८।

रसलीन ने रसों के इस लक्षण का निर्माण सहसा नहीं किया है। अनेक ग्रंथों को देखकर उन्होंने जो कुछ समझा है, उसीके आधार पर यह रस-लक्षण उन्होंने गढ़ा है।[1] पर वस्तुस्थिति कुछ भिन्न है। या तो आपने अनेक मान्य रसग्रन्थों का ठिकाने से अवलोकन ही नहीं किया है अथवा उन्हें सही रूप में नहीं समझा है। उपर्युक्त लक्षण में इसका स्पष्टीकरण नहीं हो सका है कि विभाव, अनुभाव आदि के संयोग से स्थायीभाव ही रसरूप में परिगणित होता है। अतएव रस-स्वरूप के मूल तत्त्व को हृदयंगम कराने से आप वंचित रहे हैं। "छिन्ने मूले नैव पत्रं न शाखा"—इस नीति के अनुसार मात्र रस-निष्पत्ति के सहायक उपकरणों के उल्लेख से रस-स्वरूप का निर्धारण संभव नहीं माना जा सकता है। यों आगे चलकर आपने एक विस्तीर्ण रूपक बांधा है जिसमें सहृदयों के मन में रहने वाली वासना को बीज, स्थायीभाव को अंकुर, परिस्थितिविशेष को उसे सींचने वाला जल, भ्रमरवन आदि को उद्दीपन तथा अनुकूल मनुष्यों (नायक-नायिका आदि) को विभाव, अनुभाव को तरु, व्यभिचारी भाव को क्षण-क्षण में फूलने वाले फूल, इन सबों के सहयोग से उत्पन्न रस को मकरन्द तथा सहृदयों (रसिक) और कवियों को जो अपने चित्र में इसका आस्वाद करते हैं, मधुप कहा गया है।[2] इस रूपक में अभिव्यक्ति की त्रुटि तो है ही, साथ ही स्थायीभाव की रस-परिणति का उल्लेख यहां भी स्पष्टतः न हो सका। रसलीन के इस रूपक पर अभिनवगुप्त के प्रभाव के अतिरिक्त दास का भी प्रभाव है। दास ने ही रस-स्वरूप को सर्व प्रथम हिंदी में रूपक के माध्यम से समझाने का प्रयास किया था। दास के रूपक के अंग थे—राजा, राजपुत्र, राजधानी, राज-सम्पत्ति, विधाता आदि[3], पर रसलीन ने परम्परागत अभिनवगुप्तीय रूपक का विस्तीर्ण हिन्दी-रूपान्तर प्रस्तुत किया। फिर भी दास और रसलीन में प्रवृत्ति-साम्य स्पष्ट है।

स्थायी-भाव ही रसरूप में प्रकट होता है—यह रसलीन को अज्ञात नहीं है। क्योंकि अन्यत्र इसका संकेत आपने किया है। मम्मट की तरह आपने विभाव को रत्यादिस्थायीभावों का कारण, अनुभाव को कार्य तथा व्यभिचारी भाव को सहकारी कारण भी स्वीकार किया है। रसों की स्थिति पहले आपने कविहृदय में (रचनाक्रम में) और बाद में कविता के माध्यम से रसिकों के हृदय में प्रतिपादित की है।[4] कुल मिलाकर रसलीन द्वारा प्रतिपादित रस-स्वरूप और रसाभिव्यक्ति असमीचीन नहीं हैं, अपितु शास्त्र-सम्मत है, फिर भी साधारणीकरण और रसाभिव्यक्ति की समूहालम्बनात्मकता के सम्बन्ध में आप सर्वथा मौन हैं।

---

१. रसप्रबोध ७। २. वही, ९-१२ ३. र० सा० ५४०।
४. र० प्र०। ३१-३४।

रूपसाहि

रूपसाहि ने वि० सं० १८१३ में रूपविलास नामक काव्यशास्त्रीय ग्रंथ रचा था ।[1] आप पन्ना के रहने वाले थे तथा कायस्थ कमलनैन के पुत्र एवं बुन्देलानरेश हिन्दूपति के आश्रित कवि थे ।[2] यह ग्रन्थ १४ विलासों में विभाजित है तथा इसमें कुल ६२० छन्द हैं । रूपविलास का प्रकाशन अभी तक नहीं हुआ है । नागरी प्रचारणी सभा के याज्ञिक संग्रहालय में इसकी हस्तलिखित प्रति देखने को मिली । ग्रन्थ रचना के ४ वर्षों के बाद की यह प्रतिलिपि है । इसे अनेकांगनिरूपक रीति-ग्रन्थ ही मानना चाहिए, क्योंकि इसमें काव्यलक्षण, छन्द, नायिका-भेद, रस, अलंकार आदि विविध काव्यांगों का निरूपण किया गया है । आपका दृष्टिकोण विवेचनात्मक है । ग्रन्थ के आरम्भ में ही काव्य-लक्षण के प्रसंग में प्राचीनमत, नवीनमत और अतिनवीन-मतों को प्रस्तुत कर आपने इसे सिद्ध कर दिखाया है । पांचवें विकास से लेकर एगारहवें विकास तक रस-वर्णन है पर, ६ विलासों में केवल नायक-नायिका भेद ही हैं । सिर्फ ११ वें विलास में रस-लक्षण, भेद और उनके उपकरणों का वर्णन है । फलतः विवेचनात्मक प्रवृत्ति रख कर भी रस-निरूपण में आपने कृपणता प्रदर्शित की है ।

रस-स्वरूप और अभिव्यक्ति—इस सम्बन्ध में रूपसाहि ने मात्र एक छन्द लिखा है, पर वह छोटे से दायरे में भी पूरा है तथा रस की सारी विशेषताओं को अन्तर्हित कर लेता है—

जहं विभाव अनु भाव मिलि सातुक अरु विभिचार ।
स्थाईन तैं पुष्ट जहं तहं पूरन रस सार ।। रूपविलास । ११।१ ।

—जहां विभाव अनुभाव, सात्त्विक और व्यभिचारी भाव मिलकर सम्मिलित रूप से स्थायी भावों को पुष्ट करते हैं, वहीं पूर्ण (अखंड) रस की अभिव्यक्ति होती है । रूपसाहि के इस संक्षिप्त रस-लक्षण में स्थायीभाव की रस-परिवृत्ति, विभावादि की रस-पोषकता, रस की पूर्णता (अखण्डता), रस की सामूहालम्बनात्मकता आदि सारी विशेषताएं अभिव्यक्ति पा सकी हैं, आवश्यकता है उन्हें विश्लेषित कर समझने की । रूपसाहि के इस रस-लक्षण पर मम्मट और विश्वनाथ का प्रभाव सुस्पष्ट है । रूपसाहि की दृष्टि में रस ब्रह्मानन्द-तुल्य और अखंड है । अलौकिक रस (शांत) के प्रसंग में आपने इसे निर्दिष्ट किया है । स्वाप्निक, मानोरथिक आदि लौकिक रसों को केवल आपने आनन्द-जनक कहा है ।[3] इस प्रकार आपने अलौकिक शांतरसजन्य आनन्द में और अन्य लौकिक रस-जन्य आनन्द में भेद तो माना है, पर समग्रतः रस की आनन्दस्वरूता और अखण्डता में आपको तनिक भी संदेह नहीं है । अतः संक्षेप

---

१. रूपविलास । विलास, १, पद० सं० १० । २. वही, १।३, १।४ और १।२ ।
३. वही । ११।३-४ ।

में रहते हुए भी आपका रस-स्वरूप-निर्धारण अन्य कई रीतिकालीन आचार्यों की अपेक्षा अधिक शास्त्र-सम्मत, उपयुक्त एवं सुचिन्तित है।

शिवनाथ

शिवनाथ ने रसवृष्टि नामक रस-ग्रन्थ रचा है। इसका रचना-काल १८२८ विक्रम संवत् है। उदयनाथ के रसचन्द्रोदय या विनोद-चन्द्रोदय तथा शिवनाथ के रसवृष्टि नामक ग्रंथों का सम्मिलित प्रकाशन नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से १८८२ ई० में हुआ था। इसकी प्रति नागरी प्रचारिणी सभा पुस्तकालय में उपलब्ध है। उदयनाथ का रसचन्द्रोदय तो मात्र नायिका-भेदों का निरूपक रीतिग्रन्थ है, पर शिवनाथ ने रसवृष्टि में नौ रसों का वर्णन किया है। रसवृष्टि में कुल १६ रहस्य हैं। प्रारम्भ के १५ रहस्यों में नायिकाभेद, नखशिख, तनभूषण आदि रस-सम्बद्ध विषयों का उल्लेख है और सोलहवें रहस्य में नवरस का वर्णन किया गया है।

रसस्वरूप और अभिव्यक्ति :—शिवनाथ ने रस-सामान्य के निरूपणार्थ एक भी छन्द नहीं लिखा है, पर आपकी दृष्टि में शृङ्गार रस-नायक है।[1] यद्यपि आपने नौ रसों का पृथक्-पृथक् निरूपण किया है, पर वे भी अत्यन्त संक्षिप्त और अस्पष्ट हैं। केवल एक पद्य में एक रस को लक्षित कर उदाहरण दे दिये गये हैं। यहाँ तक कि रस-नायक शृङ्गार का भी आपने चलता-सा ही वर्णन किया है।[2] सच पूछिए तो रसवृष्टि के प्रणयन का उद्देश्य परम्परागत काव्य-रस का निरूपण है भी नहीं। इन्होंने पाठकों के हृदय में ज्ञान और विवेक की उत्पत्ति तथा कृष्ण-चरण से प्रीति जताने के लिए रसवृष्टि की अवतारणा की है[3]। यही कारण है कि कृष्णजू और राधेजू को ही आधार मानकर आपने समस्त रस-प्रपंच खड़ा किया है। प्रत्येक रस के लक्षण और उदाहरण में कृष्णजू और राधेजू को पृथक्-पृथक् प्रतिष्ठित किया गया है। यहां तक कि हाव, भाव विभ्रम आदि के निरूपण में भी आपने कृष्णजू और राधेजू को विस्मृत नहीं होने दिया है।[4]

विश्वनाथ की रस-शास्त्रीय मान्यता पर प्रत्यक्षरूप से केशव का और अप्रत्यक्ष रूप से गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के रस-शास्त्र का प्रभाव नितान्त स्पष्ट है। केशव की रसिक-प्रिया तो इसकी आधार-शिला ही है।

जनराज

जनराज का असली नाम डेडराज था। जयपुर के निवासी और वैश्य-कुलसंभूत थे। महाराजा पृथ्वीसिंह के आप आश्रित कवि थे। अपना विस्तृत वृत्तान्त आपने

---

१. रसवृष्टि। रहस्य १६। पद-३। २. वही। १६।५। ३. वही। १६।५०-५३
४. रसवृष्टि।१३।१५-५२।

अपनी रचना के अन्त में लिखा है।[1] आपने 'कविता रस विनोद' नामक रसग्रन्थ की रचना की।[2] इस ग्रन्थ का प्रकाशन अभी तक नहीं हुआ है। ना० प्र० के याज्ञिक संग्रहालय में इसकी हस्तलिखित प्रति उपलब्ध है। ग्रन्थ-रचना का काल वि० सं० १८३३ है[3] तथा इस प्रति का लिपिकाल १९०९ वि० सं० अंकित है। इस ग्रन्थ में कुल २४ विनोद हैं तथा ३०५ पन्ने।

रसस्वरूप और अभिव्यक्ति:—जनराज मम्मट की परम्परा के ध्वनि-रसवादी आचार्य हैं। अतएव रस, भाव, रसाभास आदि का निरूपण आपने ध्वनि के अन्तर्गत ही किया है। रस-सामान्य का स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए आपने लिखा है कि काव्य के श्रवण एवं नाटक के दर्शन से जो सुख (आनन्द) उत्पन्न होता है तथा व्यक्तिगत व्यक्तिगत दुःख का तिरोभाव होता है (विगलित वेद्यान्तरस्पर्शशून्य होने के कारण), वही रस है। यह रस विभाव, आदि से पुष्ट होता है।[4] स्पष्टतः जनराज ने शुद्धआनन्द को ही रस माना है तथा विभावादियों से उनके उपचय को स्वीकार किया है। यहाँ तक आप सुलझे हैं, पर आगे चलकर उलझ गये हैं। आपने भावों को रस का कारण मान लिया। भाव वे हैं जो चित्त में सर्वप्रथम उत्पन्न होते हैं। तथा सदा साथ रहते हैं अर्थात् जन्मजात संस्कार या मनोविकार ही भाव हैं। पर जब भावों की गणना करने बैठे तो जनराज ने विभाव, अनुभाव, संचारी, स्थायी और सात्विक इन पाँचों को गिना दिया है।[5] परिणमतः, स्थायी भाव ही रसरूप में परिणत या व्यक्त होता है तथा विभावादि क्रमशः उसके कारण, कार्य, सहकारी कारण आदि हैं—इस परम्परागत शास्त्रीय मान्यता की जनराज ने अवहेला कर दिखाई है। भावों के पाँच प्रकार और विभावादि सबों को एक स्वर से रस के कारण बताकर आपने रस-स्वरूप में स्पष्टता लाने के बजाय अत्यधिक उलझन ला दी है। जो हो, पर जनराज को इतना भलीभाँति ज्ञात है कि स्थायीभाव ही पूर्णता को प्राप्त होने पर रस कहलाता है और अपूर्ण अवस्था में वह मात्र स्थायीभाव है।[6] तात्पर्य यह कि विभावादियों से उपचित स्थायी भाव ही रस है और विभावादियों के संयोग के बिना वह स्थायीभाव है। निष्कर्ष यह कि जनराज के रस-विवेचन में मम्मट, अभिनवगुप्त, विश्वनाथ आदि की शास्त्रीय मान्यतायें प्रतिबिम्बित तो हैं, पर अव्यवस्थित निरूपण क्रम के कारण उसमें उलझनें आ गई हैं। विशेषतः, यदि आपने विभाव, अनुभाव आदि सभी रसोपकरणों को भावों की संज्ञा न दी होती तो आपका रस-स्वरूप-प्रतिपादन अत्यन्त समीचीन माना जाता।

उजियारे कवि

उजियारे ने जुगुल-रस-प्रकाश और रस-चन्द्रिका नामक दो रस-ग्रन्थ लिखे

---

१. कवितारसविनोद। विनोद २४, पद संख्या १९-२०। २. वही ११९।
३. वही। २४।४४। ४. वही।१०।१ ५. (क) वही। १०।२।
(ख) वही।१०।३। (ग) वही।१०।६। ६. वही।१०।६८।

हैं। जुगुल-रस-प्रकाश देखने का अवसर नहीं मिला। पर अन्य विद्वानों के विवेचन से ज्ञात होता है कि इन दोनों ग्रन्थों में लक्षण और उदाहरण लगभग एक से हैं।[1] रसचन्द्रिका भी प्रकाशित तो नहीं है, किन्तु इसकी जीर्ण-शीर्ण खण्डित प्रति नागरीक प्रचारिणी के याज्ञिक संग्रहालय में उपलब्ध है। इस ग्रंथ में १५ प्रकाश तो पूरे हैं, १६ वें प्रकाश का थोड़ा अंश विद्यमान है, शेष अंश फटा है। पता नहीं, इस ग्रन्थ में कुल कितने प्रकाश थे। कुल ३६ पन्ने इस ग्रन्थ के मैंने पाए। अपने आश्रित दौलतिराम के लिए उजियारे ने यह ग्रन्थ लिखा है, जैसा प्रत्येक प्रकाश की पुष्टिका से भी ज्ञात होता है।[2] यह एक रस-सामान्य-निरूपक ग्रन्थ है। प्रत्येक रस को पृथक्-पृथक् प्रकाश में लिखा गया है। फलतः आपका रस-विवेचन सन्तुलित है। रसविशेष श्रृङ्गार को अत्यधिक महत्व देकर, अन्य रसों का चलता-सा वर्णन करना आपको अभीष्ट नहीं है। इस ग्रन्थ की एक विशेषता यह है कि अन्य आचार्यों (भरत, भट्टलोल्लट, अभिनवगुप्त आदि) के मत उद्धृत कर अनेक समस्यायें उठाई गई हैं तथा उत्तर के रूप में उनके समाधान भी प्रस्तुत कर दिए गए हैं। चाहे यह प्रश्नोत्तर जितना भी सफल हुआ हो, पर दृष्टिकोण विवेचनात्मक एवं वैज्ञानिक है। वि० सं० १८३७ के बाद इस ग्रंथ की रचना हुई है।

रसस्वरूप और अभिव्यक्ति :—उजियारे के अनुसार विभाव, अनुभाव, चर (संचारीभाव), और सातुक भाव (सात्त्विक भाव) जब स्थायी भाव को पूर्ण कर देते हैं तो उन पूर्ण स्थायीभावों को ही रस कहते हैं। भाव, विभाव आदि को पहचान कर जहां कवियों का मन विरम जाय; वहीं रसों की सत्ता माननी चाहिए। वासना उदित होकर स्थायी भाव कहलाती है और स्थायीभाव की ज्योति जब जगती है अर्थात् व्यक्त होती है (विभावादि के संयोग से) तो वही स्थायी भाव रस की संज्ञा प्राप्त कर लेता है। संस्कार-विशेष रूप वासना को (काव्यशास्त्र में स्थायी-भाव) जगाने का श्रेय विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और संचारी को ही है—ऐसा विद्वानों का कहना है[4]। इस प्रसंग में उजियारे ने एक बड़ी मौजूं समस्या उठाई है। उनका कहना है कि यदि वासना या संस्कार-विशेष ही रसरूप को धारण कर लेता है तो वैसे मनुष्यों के हृदय में रसोद्रेक किस प्रकार होगा जिन्होंने उन भावों का अनुभव नहीं किया है जिससे निष्पन्न रसों की उन्हें अनुभूति होती है? कहने का तात्पर्य यह कि रति श्रृङ्गार का स्थायी भाव है। श्रृङ्गार रस की अनुभूति के लिए रति-वासना का होना नितान्त आवश्यक है। जिन सहृदयों ने रति का अनुभाव पूर्वतः नहीं किया है, उनके हृदय में रति की वासना भी नहीं होगी। परिणामतः उन्हें श्रृंगार रस का आस्वाद भी नहीं होना चाहिए, किन्तु ऐसा होता है।

१. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० १५४। २. रसचन्द्रिका, १५ प्रकाश की पुष्पिका। ३. वही। प्रकाश ३, पद सं० १-४।
४. वही। ३।५-६।

इसके उत्तर में स्वयं उजियारे ने स्वीकार किया है कि ऐसे स्थलों में पूर्वजन्मार्जित संस्कार या वासना ही रस-रूप में परिणत होती हैं।[1]

उजियारे के उपर्युक्त रस-विवेचन पर भानुदत्त की रसतरगिणी का यथावत् प्रभाव स्पष्ट है।[1] विवेचन प्रणाली अत्यन्त व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक है। फिर भी साधारणीकरण, रस की दार्शनिक मीमांसा आदि जो संस्कृत के प्राचीन काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में विद्यमान हैं, उन्हें उजियारे नहीं समाविष्ट कर पाए हैं।

पद्माकर

पद्माकर का रचना-काल १८६७ वि० सं० के लगभग माना जाता है। पद्माकर ने कई ग्रन्थ लिखे, पर काव्यशास्त्र पर मात्र तीन ही रचनायें हैं। वे हैं—जगद्विनोद, आलीजाहप्रकाश और पद्माभरण। पद्माभरण विशुद्ध अलंकार-ग्रन्थ है; अतएव हमारी अध्ययन-सीमा से वहिर्भूत है। जगद्विनोद और आलीजाहप्रकाश ये दोनों रस-ग्रन्थ हैं। इन दोनों में भी विषय-प्रतिपादन समान हैं। दो आश्रय-दाताओं के नाम पर थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ केवल नाम्ना दो ग्रन्थ रच डाले गए हैं—यों जगद्विनोद का ही रूपान्तर आलीजाहप्रकाश है। अतएव हमारे प्रस्तुत अध्ययन का मुख्य विषय एकमात्र जगद्विनोद है। इस ग्रंथ के कई प्रकाशन भी हो चुके हैं तथा अनेक हस्तलिखित प्रतियां भी विभिन्न संग्रहालयों में सुरक्षित हैं।[2] अब ना० प्र० स० की आकर ग्रंथमाला में पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के द्वारा सम्पादित पद्माकर-ग्रन्थावली के एक अंश के रूप में जगद्विनोद का अत्यन्त प्रामाणिक संस्करण उपलब्ध है। मेरे अध्ययन का आधार यही संस्करण है।

रसस्वरूप और अभिव्यक्तिः—जगद्विनोद में सभी रसों के लक्षण-उदाहरण हैं, अतएव इसे रस-सामान्य निरूपक ग्रन्थ ही कहना चाहिए। फिर भी शृंगार और उसके आलंबनभूत नायक-नायिकाओं का ही अधिक विस्तृत वर्णन है और अन्य रसों का चलता-सा वर्णन कर दिया गया है। स्वभावतः रस-सामान्य के निरूपणार्थ अत्यल्प छन्द लिखे गये हैं। तथापि वे कतिपय छन्द ही संक्षेप में रस-स्वरूप को निर्दिष्ट कर देते हैं। पद्माकर के अनुसार जब विभाव, अनुभाव और संचारी भाव एकत्र मिलकर स्थायी भाव को परिपूर्ण कर देते हैं तो उसे आनन्दरूप रस कहा जाता है। प्रत्येक मनुष्य के हृदय में कतिपय दृढ़ विकार (संस्कार के रूप में) पूर्वतः रहते हैं। वे विकार ही पूर्णवस्था को प्राप्त कर स्थायी भाव कहलाते हैं[3]। पद्माकर की इस मान्यता पर भानुदत्त का प्रभाव स्पष्ट है, फिर भी अपने पूर्ववर्ती उजियारे कवि की तरह प्रश्नोत्तर की परिपाटी न अपना सकने के कारण विवेचना में कमी

१. भानुदत्त : रसतरंगिणी। तरंग ६ (प्रारम्भ)। २. पद्माकरग्रन्थावली—सम्पा० विश्वनाथ प्र० मिश्र (ना० प्र० स० काशी, सं० २०१६) सम्पादकीय पृ० १८।
३. जगद्विनोद। पद-६०८, ६०९।

रह गई है। "रसरूप आनन्द" एवं "मिलि" इन शब्दों के द्वारा पद्माकर ने रस की आनन्दमयता एवं समूहाभिव्यक्तता की ओर संकेत किया है। इस दिशा में भानुदत्त के पूर्ववर्ती संस्कृत के मम्मटादि आचार्यों तथा हिन्दी के केशव, चिन्तामणि, कुलपति प्रभृति पूर्वाचार्यों से इन्हें प्रभावित कहा जा सकता है।

बेनी प्रवीन

बेनी प्रवीन ने नवरस-तरंग नामक रस-ग्रन्थ की रचना की है। इस ग्रन्थ का प्रणयन संवत् १८७४ में किया गया है[1]। इसका प्रकाशन कृष्णबिहारी मिश्र द्वारा सम्पादित होकर प्राचीन कवि-माला कार्यालय, काशी से १९२५ ई० में हुआ था। इसी संस्करण के आधार पर मेरा अध्ययन प्रस्तुत है। इस पुस्तक में कुल पदों की संख्या ५३३ और पृष्ठों की संख्या ७२ (भूमिका और परिशिष्ट को छोड़ कर) है। शिवसिंह सरोज में बेनीप्रवीन का जन्म संवत् १८७३ माना गया है, पर उनकी कृति के रचना-काल को ध्यान में रखकर सरोजकार की मान्यता निराधार प्रतीत होती है। ग्रन्थ के शीर्षक को देखने से लगता है कि नौ रसों का इसमें समानरूप से वर्णन किया गया है। किन्तु वस्तुस्थिति इसके विपरीत है। शृंगार रस का जितना विस्तारपूर्वक इसमें वर्णन है, उतना अन्य रसों का नहीं। आरम्भ के ४९७ पदों में शृंगार रस की ही चर्चा है और शेष ३६ पदों में अन्य रसों की। अतएव मुख्यतः यह शृंगार-रसनिरूपक ग्रन्थ ही है, फिर भी अन्य रसों की चर्चा मात्र देखकर इसे रस-सामान्य निरूपक ग्रन्थ निर्दिष्ट किया जा सकता है।

रसस्वरूप और अभिव्यक्तिः—रससामान्य के स्वरूप को आपने मात्र एक छन्द में प्रस्तुत किया है। इस संक्षिप्त लक्षण में ही रस की अधिकांश विशेषताएं समाविष्ट कर ली गई हैं। बेनीप्रवीन की दृष्टि में जहां विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव स्थायी भाव को आनन्दमय रूप में प्रकाशित करते हैं, उसी को "रस-राज" अर्थात् रसास्वाद कहते हैं[2]। बेनी प्रवीन की इस उक्ति से रससम्बन्धी कई तथ्य अभिहित होते हैं— (१) विभावादि स्थायी भाव को प्रकाशित करते हैं, (२) स्थायी भाव ही प्रकाशित होने पर रस कहलाता है (३) रस का स्वरूप आनन्दमय है, (४) रस का आस्वाद होता है। बेनीप्रवीन के उपर्युक्त रस-लक्षण पर साहित्यदर्पण का प्रभाव स्पष्ट है। विश्वनाथ के "व्यक्त" शब्द के स्थान पर "प्रकाश" का प्रयोग कर आपने अपने लक्षण को कमजोर बना डाला है। रस वस्तुतः व्यंजित होता है, पूर्वसत्ता के अभाव में दीप के द्वारा घट की तरह प्रकाशित नहीं[3]। रसास्वाद प्रकार पर विश्वनाथ, मम्मट प्रभृति संस्कृत के आचार्यों की भांति अधिक प्रकाश नहीं डाला गया है।

---

१. नवरसतरंग। पद २७। पृ० ३। २. वही। दोहा-३०।
३. साहित्यदर्पण ३।१।

करन कवि

करन कवि ने साहित्यरस और रसकल्लोल नामक दो रस-ग्रन्थ लिखे थे। साहित्यरस मुझे उपलब्ध न हो सका। रसकल्लोल की एक हस्तलिखित प्रति नागरी प्रचारिणी सभा के संग्रहालय में देखने को मिली (न० ७४।१७)। इस प्रति में कुल मिलाकर २८४ छन्द हैं तथा ३६ पृष्ठों मे ही यह ग्रन्थ समाप्त है। इसका लिपिकाल १८९० विक्रम संवत् है[1]। यह अनेकांगनिरूपक ग्रन्थ है—जैसा अपनी रचना का उद्देश्य बताते हुए स्वयं ग्रन्थकार ने भी स्वीकार किया है[2]। इस लघुकाय ग्रन्थ में ही करन ने रस, ध्वनि, गुण, शब्दशक्ति, रीति और वृत्ति प्रभृति सभी काव्यांगों का निरूपण कर दिया है। यहां तक कि तात्पर्या शब्दशक्ति को भी ग्रन्थकार ने नहीं छोड़ा है, जिसका प्रतिपादन रीति-ग्रन्थों में विरल है। रस-प्रसंग में नायिका भेद, सखी, दूती, ऋतुवर्णन आदि गौण विषयों का विशद उल्लेख कर ग्रन्थ को अनावश्यक विस्तार से बचाया गया है।

रसस्वरूप और अभिव्यक्ति.—रसशास्त्र के विद्वान उसे ही रस कहते हैं जो भाव और विभाव से सदा परिपुष्ट होता है[3]। इस प्रसंग में भाव शब्द का प्रयोग करन ने अत्यन्त व्यापक अर्थ में किया है। रसानुकूल विकारों को आपने भाव कहा है तथा इसे मानसिक और शारीरिक इन दो वर्गों में बांट दिया है। मानसिक भावों के अन्तर्गत स्थायी और संचारी भावों की गणना की गई है तथा शारीरिक के अन्तर्गत सभी सात्त्विक भावों की[4]। यही कारण है कि रस-लक्षण में विभाव के अतिरिक्त भाव मात्र के उल्लेख से काम चला लिया गया है। भरत सूत्र का अनुसरण करते हुए करन कवि ने भाव (स्थायीभाव), विभाव, अनुभाव और संचारी को सभी रसों का समानरूप से सहायक माना है[5]। करन कवि के रसविवेचन पर भानुदत्त की रसतरंगिणी का प्रभाव सुस्पष्ट है। अतएव आपका विवेचन मौलिक तो नहीं, किन्तु शास्त्र सम्मत है।

प्रतापसाहि

प्रतापसाहि का रचनाकाल संवत् १८८०-१९०० के बीच माना जाता है। आपकी दो काव्यशास्त्रीय कृतियां प्रसिद्ध एवं उपलब्ध हैं—व्यंग्यार्थकौमुदी और काव्यविलास। रसचन्द्रिका नामक आपका एक तीसरा भी रसग्रंथ था जिसकी ओर स्वयं प्रतापसाहि ने काव्यविलास में संकेत किया है[6]। किन्तु यह ग्रन्थ प्रायः अभी

---

१. रसकल्लोल (अन्तिम अंश)। २. वही। पद सं० ५। ३. वही। ३१। और रसतरंगिणी। तरंग ६। ४. रसकल्लोल ८-९ और र० त०। तरंग १, पृ० ६-९। ५. रसकल्लोल ६-७। तुलनार्थ-र० त०। तरंग १।६ पृ०। ६. काव्यविलास। ३।६१। (वृत्ति)।

रह गई है। "रसरूप आनन्द" एवं "मिलि" इन शब्दों के द्वारा पद्माकर ने रस की आनन्दमयता एवं समूहाभिव्यक्तता की ओर संकेत किया है। इस दिशा में भानुदत्त के पूर्ववर्ती संस्कृत के मम्मटादि आचार्यों तथा हिन्दी के केशव, चिन्तामणि, कुलपति प्रभृति पूर्वाचार्यों से इन्हें प्रभावित कहा जा सकता है।

बेनी प्रवीन

बेनी प्रवीन ने नवरस-तरंग नामक रस-ग्रन्थ की रचना की है। इस ग्रन्थ का प्रणयन संवत् १८७४ में किया गया है[1]। इसका प्रकाशन कृष्णबिहारी मिश्र द्वारा सम्पादित होकर प्राचीन कवि-माला कार्यालय, काशी से १९२५ ई० में हुआ था। इसी संस्करण के आधार पर मेरा अध्ययन प्रस्तुत है। इस पुस्तक में कुल पदों की संख्या ५३३ और पृष्ठों की संख्या ७२ (भूमिका और परिशिष्ट को छोड़ कर) है। शिवसिंह सरोज में बेनीप्रवीन का जन्म संवत् १८७३ माना गया है, पर उनकी कृति के रचना-काल को ध्यान में रखकर सरोजकार की मान्यता निराधार प्रतीत होती है। ग्रन्थ के शीर्षक को देखने से लगता है कि नौ रसों का इसमें समानरूप से वर्णन किया गया है। किन्तु वस्तुस्थिति इसके विपरीत है। शृंगार रस का जितना विस्तारपूर्वक इसमें वर्णन है, उतना अन्य रसों का नहीं। आरम्भ के ४९७ पदों में शृंगार रस की ही चर्चा है और शेष ३६ पदों में अन्य रसों की। अतएव मुख्यतः यह शृंगार-रसनिरूपक ग्रन्थ ही है, फिर भी अन्य रसों की चर्चा मात्र देखकर इसे रस-सामान्यनिरूपक ग्रन्थ निर्दिष्ट किया जा सकता है।

रसस्वरूप और अभिव्यक्तिः—रससामान्य के स्वरूप को आपने मात्र एक छन्द में प्रस्तुत किया है। इस संक्षिप्त लक्षण में ही रस की अधिकांश विशेषताएं समाविष्ट कर ली गई हैं। बेनीप्रवीन की दृष्टि में जहां विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव स्थायी भाव को आनन्दमय रूप में प्रकाशित करते हैं, उसी को "रस-राज" अर्थात् रसास्वाद कहते हैं[2]। बेनी प्रवीन की इस उक्ति से रससम्बन्धी कई तथ्य अभिहित होते हैं— (१) विभावादि स्थायी भाव को प्रकाशित करते हैं, (२) स्थायी भाव ही प्रकाशित होने पर रस कहलाता है (३) रस का स्वरूप आनन्दमय है, (४) रस का आस्वाद होता है। बेनीप्रवीन के उपर्युक्त रस-लक्षण पर साहित्यदर्पण का प्रभाव स्पष्ट है। विश्वनाथ के "व्यक्त" शब्द के स्थान पर "प्रकाश" का प्रयोग कर आपने अपने लक्षण को कमजोर बना डाला है। रस वस्तुतः व्यंजित होता है, पूर्वसत्ता के अभाव में दीप के द्वारा घट की तरह प्रकाशित नहीं[3]। रसास्वाद प्रकार पर विश्वनाथ, मम्मट प्रभृति संस्कृत के आचार्यों की भांति अधिक प्रकाश नहीं डाला गया है।

---

१. नवरसतरंग। पद २७। पृ० ३। २. वही। दोहा–३०।
३. साहित्यदर्पण ३।१।

करन कवि

करन कवि ने साहित्यरस और रसकल्लोल नामक दो रस-ग्रन्थ लिखे थे। साहित्यरस मुझे उपलब्ध न हो सका। रसकल्लोल की एक हस्तलिखित प्रति नागरी प्रचारिणी सभा के संग्रहालय में देखने को मिली (न० ७४।१७)। इस प्रति में कुल मिलाकर २८४ छन्द हैं तथा ३६ पृष्ठों मे ही यह ग्रन्थ समाप्त है। इसका लिपिकाल १८९० विक्रम संवत् है[1]। यह अनेकांगनिरूपक ग्रन्थ है—जैसा अपनी रचना का उद्देश्य बताते हुए स्वयं ग्रन्थकार ने भी स्वीकार किया है[2]। इस लघुकाय ग्रन्थ में ही करन ने रस, ध्वनि, गुण, शब्दशक्ति, रीति और वृत्ति प्रभृति सभी काव्यांगों का निरूपण कर दिया है। यहां तक कि तात्पर्या शब्दशक्ति को भी ग्रन्थकार ने नहीं छोड़ा है, जिसका प्रतिपादन रीति-ग्रन्थों में विरल है। रस-प्रसंग में नायिका भेद, सखी, दूती, ऋतुवर्णन आदि गौण विषयों का विशद उल्लेख कर ग्रन्थ को अनावश्यक विस्तार से बचाया गया है।

रसस्वरूप और अभिव्यक्ति.—रसशास्त्र के विद्वान उसे ही रस कहते हैं जो भाव और विभाव से सदा परिपुष्ट होता है[3]। इस प्रसंग में भाव शब्द का प्रयोग करन ने अत्यन्त व्यापक अर्थ में किया है। रसानुकूल विकारों को आपने भाव कहा है तथा इसे मानसिक और शारीरिक इन दो वर्गों में बांट दिया है। मानसिक भावों के अन्तर्गत स्थायी और संचारी भावों की गणना की गई है तथा शारीरिक के अन्तर्गत सभी सात्त्विक भावों की[4]। यही कारण है कि रस-लक्षण में विभाव के अतिरिक्त भाव मात्र के उल्लेख से काम चला लिया गया है। भरत सूत्र का अनुसरण करते हुए करन कवि ने भाव (स्थायीभाव), विभाव, अनुभाव और संचारी को सभी रसों का समानरूप से सहायक माना है[5]। करन कवि के रसविवेचन पर भानुदत्त की रसतरंगिणी का प्रभाव सुस्पष्ट है। अतएव आपका विवेचन मौलिक तो नहीं, किन्तु शास्त्र सम्मत है।

प्रतापसाहि

प्रतापसाहि का रचनाकाल संवत् १८८०-१९०० के बीच माना जाता है। आपकी दो काव्यशास्त्रीय कृतियां प्रसिद्ध एवं उपलब्ध हैं—व्यंग्यार्थकौमुदी और काव्यविलास। रसचन्द्रिका नामक आपका एक तीसरा भी रसग्रंथ था जिसकी ओर स्वयं प्रतापसाहि ने काव्यविलास में संकेत किया है[6]। किन्तु यह ग्रन्थ प्रायः अभी

---

१. रसकल्लोल (अन्तिम अंश)। २. वही। पद सं० ५। ३. वही। ३१। और रसतरंगिणी। तरंग ६। ४. रसकल्लोल ८-९ और र० त०। तरंग १, पृ० ६-९। ५. रसकल्लोल ६-७। तुलनार्थ--र० त०। तरंग १।६ पृ०। ६. काव्यविलास। ३।६१। (वृत्ति)।

तक किसी के देखने में नहीं आया है। व्यंग्यार्थकौमुदी का प्रकाशन वाराणसी संस्कृत यन्त्रालय से संवत् १९३१ में हुआ। भा० जी० प्रेस से भी यह प्रकाशित हो चुका है। इसमें कुल १२७ पद और ३९ पृष्ठ हैं। इस रचना का मुख्य उद्देश्य व्यंग्यार्थ-निरूपण है और व्यंग्यार्थ के माध्यम से ही नायिकाभेद और अलंकारों पर भी प्रकाश डाला गया है[1]। रसों की चर्चा इस ग्रन्थ में नहीं है। काव्य विलास की हस्तलिखित प्रति नागरी प्रचारिणी सभा के संग्रहालय में देखने को मिली (क्रमांक-२४०। १४७)। इसी में प्रतापसाहि ने रस-निरूपण किया है। "धुनिरूप वर्णन" नामक तृतीय प्रकाश में असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के अन्तर्गत कुल ७४ पद्यों में (१२-८५) रसनिरूपण है। अतएव आप मम्मट की परम्परा के ध्वनि-रसवादी आचार्य हैं।

रसस्वरूप और अभिव्यक्तिः-विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के मिलन (संयोग) से अभिव्यक्त स्थायी भाव को प्रतापसाहि ने रस कहा है[1]। मम्मट के रस-लक्षण का प्रभाव नितान्त स्पष्ट है। रसाभिव्यक्ति जैसे पेंचीदे विषय को भी आपने उठाया है और काव्यप्रकाश में दिए गए भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त के आरोपवादी, अनुमितिवादी, भोगवादी और अभिव्यक्तिवादी मतों को संक्षेप में प्रस्तुत किया है। आपका कहना है कि काव्य-प्रकाश में रसाभिव्यक्ति (अर्थ रस को रूप कहते हैं—काव्यविलास) के चार पक्ष कहे गए हैं—एक के अनुसार विभाव (अनुकार्य और अनुकर्त्ता) के ज्ञान से रस की प्रतीति होती है, दूसरे के अनुसार अनुमान द्वारा रसबोध होता है, तीसरे के अनुसार भोग के द्वारा रसनिष्पत्ति होती है तथा चौथे के अनुसार व्यंजना के द्वारा रसप्रतीति होती है[2]। पुनः पृथक्-पृथक् इन चारों सिद्धान्तों का विवरण भी दिया गया है। भट्टलोल्लट के मतानुसार रसस्वरूप विषयक विवाद उपस्थित होने पर विभाव के ज्ञान से रस-स्वरूप को जानना चाहिए। शंकुक के मतानुसार विभावादि और स्थायीभाव इन दोनों तत्त्वों के अनुमापक होने पर ही रसनिष्पत्ति होती है तथा विभाव-परामर्श के आधार पर होनेवाली रसनिष्पत्ति को अनुमित समझना चाहिए। भट्टनायक के मतानुसार विभावादि और स्थायीभाव में भोजक-भोज्य सम्बन्ध है और भावांत (भावकत्व) व्यापार से साम्यभाव (साधारणीकरण) होने पर भोग व्यापार के द्वारा रसनिष्पत्ति माननी चाहिए। अभिनवगुप्त के मतानुसार रसाभिव्यक्ति चर्वणा (आस्वाद) जन्य है तथा व्यंजना व्यापार के द्वारा ही रसनिष्पत्ति होती है[3]। इस

१. काव्यविलास। ३।२२। तुलनार्थ-काव्यप्र० ४।२८।
२. वही, ३।१५–१६। ३. (क) भट्टलोल्लट का मत–काव्यविलास। ३।१७। (ख) शंकुक का मत–वही, ३।२३, १८। (ग) भट्टनायक का मत–वही, ३।२४।१९ (घ) अभिनवगुप्त का मत–वही, ३।२०। तुलनार्थ–काव्यप्रकाश-४।२८ (वृत्ति), पृ.५१-५७।

प्रकार समस्त रीतिसाहित्य में एक मात्र प्रतापसाहि ही ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने रसनिष्पत्ति सम्बन्धी विवादों को हिन्दी में उतारने का प्रयास किया। रस-स्वरूप और रसाभिव्यक्ति-इन दोनों पक्षों पर आपने ध्यान केन्द्रित किया।

फिर भी प्रतापसाहि की सीमाएं स्पष्ट हैं। आपने भलीभांति इन सिद्धान्तों को समझा नहीं है। यदि समझा भी है तो पद्यात्मक माध्यम होने के कारण किम्बा अभिव्यक्ति की शिथिलता के कारण, उन्हें स्पष्ट नहीं कर सके। प्रत्येक मत की विशेष उल्लेखनीय बातें छूट गई हैं। भट्टलोल्लट के सिद्धान्त में मुख्य प्रतिपाद्य विषय यह है कि मूलतः अनुकार्य में और आरोपतः अनुकर्त्ता (अभिनेता में रसों की स्थिति रहती है। इसे प्रतापसाहि स्पष्ट नहीं कर सके। शंकुक के मतवाद में जिस चित्रतुरग-न्याय का उल्लेख किया गया है, प्रतापसाहि ने उसकी चर्चा तक नहीं की। अनुमान-प्रणाली भी स्पष्ट नहीं है। भट्टनायक के सिद्धान्त में तीन व्यापारों का उल्लेख है, पर प्रतापसाहि ने उनमें से अभिधा को ही छोड़ दिया है। इसी प्रकार अभिनवगुप्त के सिद्धान्त का प्रतिपादन भी युक्तियुक्त नहीं है। तथापि प्रतापसाहि का दुस्साहस श्लाघ्य है।

चन्द्रशेखर वाजपेयी

पटियालानिवासी चन्द्रशेखर वाजपेयी ने रसिक विनोद नामक रस-ग्रन्थ लिखा था। महाराज नरेन्द्रसिंह इनके आश्रयदाता थे। ग्रन्थ की रचना संवत् १९०३ में हुई थी।[1] इस ग्रन्थ का प्रकाशन भारत जीवन प्रेस, काशी से १८९४ ई० में हुआ था। इसी प्रकाशन के आधार पर मेरा यह अध्ययन प्रस्तुत है। इसमें कुल ४७७ छन्द हैं तथा ९७ पृष्ठ। वाजपेयी जी ने स्वयं इसे रस-सामान्य निरूपक ग्रन्थ कहा है क्योंकि इसमें नौ रसों का उल्लेख, चाहे जैसा भी हो, हुआ है।[2] रसिकों के विनोदार्थ ग्रन्थ की अवतारणा की गई है—यह लेखक की उक्ति तथा ग्रन्थ के शीर्षक से भी प्रमाणित होता है।

रसस्वरूप और अभिव्यक्ति :—वर्तमान थिरभाव (स्थायीभाव) जब विभाव, अनुभाव और संचारी भाव का संयोग प्राप्त कर लेता है तो उसे ही रस कहा जाता है।[3] स्पष्टतः चन्द्रशेखर के इस रस-लक्षण पर भरत के लक्षण का प्रभाव है। स्थायी भाव और रस का मुख्य अन्तर यही है कि परिपूर्णता को प्राप्त कर लेने के बाद (विभावादि के संयोग से) वह रसरूप में परिणत हो जाता है, अन्यथा अपरिपूर्ण अवस्था में स्थायी भाव ही है। ये स्थायी भाव मनोविकारों के अतिरक्त और कुछ नहीं है तथा ये सभी विरोधी और अविरोधी भावों में प्रमुख स्थान रखते हैं[4]। चन्द्र-

---

१ रसिक विनोद। ४७७ २. वही ३२।
३. वही ३८७। ४. वही ३६५,३६४।

शेखर ने सबसे बड़ी गड़बड़ी यह की है कि एक ओर मनोविकार को भाव की संज्ञा दी, दूसरी ओर जब उनकी गणना करने लगे तो विभाव, अनुभाव और संचारी इन सभी रसोपादानों को समाविष्ट कर दिया।[1] विभाव और अनुभाव में "भाव" को देखकर ही उन्हें भाव कह देना अनुचित है। अतिव्याप्ति, अव्याप्ति और असंभव दोषों की चर्चा तो कवि ने ग्रंथारंभ में की, पर उनका सफल निर्वाह अपने लक्षणों में न कर सके।

वाजपेयी जी ने अभिव्यक्त रस की अनेक विशेषताएँ भी प्रतिपादित की हैं। रसों को आपने व्यापक, विमल, शुचि, सुखरूप (आनन्द स्वरूप), विद्या ज्ञान और सुसंग का सम्पादक–कहा है।[2] अन्य विशेषताएँ तो समझ में आती हैं, पर आस्वाद-रूप रस को "विद्या-ज्ञान-सुसंगकर" कहने का, पता नहीं कौन-सा तात्पर्य है? विद्याज्ञान और सत्संगति का उत्पादक भी रस को कहना ठीक नहीं होगा। अतएव इस दिशा में आपकी धारणा भरत-सम्मत तो नहीं ही है, प्रत्युत परवर्ती संस्कृत के आचार्यों से भी आप अनुमोदित नहीं हैं।

ग्वाल कवि

मथुरा-वृन्दावनवासी ग्वाल कवि ने वि० संवत् १९०४ में[3] रसरंग नामक रस-ग्रन्थ लिखा था। इसका प्रकाशन संभवत: अभी तक नहीं हुआ है। ना० प्र० के याज्ञिक संग्रहालय में इसकी हस्तलिखित प्रति देखने को मिली (क्रमांक ९८/५२)। इस ग्रन्थ का लिपिकाल सवत् १९२२ है।[4] इसमें कुल ८ उमंग हैं तथा १५३ पन्ने। रस-निरूपण ही रचना का मुख्य उद्देश्य है। ७ उमंगों में शृंगार रस का सांगोपांग प्रतिपादन है तथा केवल आठवें उमंग में अन्य रसों का अपेक्षाकृत सक्षिप्त उल्लेख। रीति परम्परा के अनुकूल आपने भी शृगार को ही सर्वाधिक महत्व प्रदान किया।[5]

रसस्वरूप और अभिव्यक्ति :—विभाव, अनुभाव, सात्विक और संचारी भाव मिलकर जब स्थायो भाव को पूर्ण करते हैं तो उन्हें रस कहा जाता है। यह रस चिन्मय, आनन्दमय और ब्रह्मसम है—ऐसा श्रुतियां (वेद और उपनिषद्) भी प्रमाणित करती हैं। यह रस लौकिक और अलौकिक नाम से द्विविध होता है। अलौकिक में भी स्वाप्निक, मानोरथिक और औपनायक ये तीन भेद हैं। औपनायक अलौकिक रस के नौ भेद हैं जिनमें आठ तो केवल नाट्य के लिए हैं और नवम् शांत रस काव्य में उपलब्ध है।[6] ग्वालकवि की दृष्टि में स्थायी भाव और रस का अन्तर स्पष्ट है। विभावादियों से पूर्ण होने पर ही स्थायी भाव रस कहलाते हैं। अपरिपूर्ण अवस्था में वे ही आलम्बनजन्य बीजरूप अटल भाव स्थायी कहलाते हैं।[7] ग्वाल के रस-सिद्धान्त में एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है। आपने रस तो किसी न किसी रूप में नौ माने

---

१. रसिक विनोद २३८। २. वही २२६। ३. वही १/७, पृ० २। ४. वही उमंग८। ५. वही १/२ पूर्वार्द्ध। ६. वही २/१–६। ७. वही १/१५।

हैं, पर उन सभी रसों का धन, मन, प्राण श्रीकृष्ण को ही माना है। अतएव इन रस-भेदों का निरूपण आपने राधा कृष्ण चरित्र के आधार पर किया है।[1]

ग्वाल का उपर्युक्त रस-स्वरूप निर्धारण शास्त्र-सम्मत है। रस निष्पत्ति किसे होती है तथा रस की स्थिति कहां है आदि जटिल समस्याओं को आपने उठाया ही नहीं है। तथापि रस-स्वरूप के विश्लेषण में आपको तनिक भी उलझन नहीं है। जहां तक रसों की राधाकृष्णचरित्रमयता का प्रश्न है, आपके ऊपर केशव और देव का प्रत्यक्ष प्रभाव है तथा गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय का अप्रत्यक्ष। रस-लक्षण और लौकिक अलौकिक आदि भेदों में रसतरंगिणी का प्रभाव भी स्पष्ट है। रस की चिन्मयता, आनन्दमयता एवं ब्रह्मास्वाद-सहोदरता के सम्बन्ध में साहित्यदर्पण का प्रभाव स्वीकार कर लेना चाहिए। इस प्रकार केशव, देव, रूपगोस्वामी, भानुदत्त और विश्वनाथ प्रभृति आचार्यों का प्रभाव आपकी मान्यता पर विद्यमान है।

रसिकविहारी

रसिकबिहारी का असली नाम जानकी प्रसाद जी था। अपना उपनाम कहीं कहीं आपने रसिकेश भी लिखा है। आपकी एक मात्र काव्यशास्त्रीय रचना काव्यसुधाकर है। इसका प्रकाशन युनाइटेड प्रिंटिंग प्रेस अहमदाबाद से सन् १८९६ ई० में हुआ था, जिसकी प्रति ना० प्र० स० के पुस्तकालय में प्राप्त हुई। इस ग्रंथ का रचना काल संवत् १९२० है।[2] इसमें नौ परम्परागत रसों का निरूपण किया गया है, अतएव इसे रस-निरूपक रीतिग्रन्थ की श्रेणी में परिगणित करना चाहिए।

रसस्वरूप और अभिव्यक्ति:—स्वयं रसिकविहारी ने स्वीकार किया है कि काव्यसुधाकर की रचना केशव, भूषण आदि अनेक हिन्दी के आचार्यों तथा मम्मट, भानुदत्त आदि संस्कृत के आचार्यों के आधार पर की गई है।[3] अतएव इसमें नवीनता की आशा व्यर्थ है। विशेषत: रसलक्षण के सम्बन्ध में आपने मात्र एक छन्द लिखा है—

"कवि विभाव, अनुभाव अरु संचारी मिलि होत।
अस्थाई से प्रकट रस, ताहि कहें कवि गोत। काव्यसुधाकर। १०।१।

इस रस-लक्षण पर मम्मट और विश्वनाथ दोनों का प्रभाव स्पष्ट है। पर उनके लक्षणों को रसिकेश जी सही रूप में रूपान्तरित नहीं कर सके हैं। विभावादियों के द्वारा स्थायी भाव रसरूप में प्रकट (व्यक्त या व्यंजित) अवश्य होता है, पर मात्र स्थायी भाव से रस प्रकट नहीं होता है। "कवि" शब्द का प्रयोग निरर्थक है। रस सम्बन्धी अन्य सैद्धान्तिक विषयों की तो आपने चर्चा तक नहीं की है। फलत: आपका रसस्वरूप-निरूपण अत्यन्त साधारण कोटि का है।

---

१. वही। १।६। २. काव्य सुधाकर। कला १।६। ३. वही १।७-१५।

नन्दराम

नन्दराम के रसग्रन्थ का नाम शृंगार-दर्पण है। इस ग्रन्थ की रचना सम्वत् १९२७ में हुई थी।[1] इसका प्रकाशन भारतजीवन प्रेस, काशी से १८९७ ई० में हुआ है। इसमें दश प्रकाश हैं तथा १५६ पृष्ठ। अन्तिम दो पृष्ठों में नन्दराम के स्फुट कवित्तों का संग्रह किया गया है। यद्यपि इस ग्रन्थ में नौ रसों का निरूपण किया गया है, फिर भी शृंगार की रसराजता[2] को ध्यान में रखकर इसका नाम शृंगार दर्पण रखा गया है। आरम्भ के नौ प्रकाशों में केवल नायिका भेद एवं रसोपकरणों की चर्चा है तथा मात्र दशवें प्रकाश में सभी रसों के लक्षण, भेद, उदाहरण आदि दिए गए हैं। अतएव विषय-प्रतिपादन असन्तुलित है।

रसस्वरूप और अभिव्यक्ति :—जहाँ विभाव, अनुभाव और संचारी भावों का समूह पूर्ण स्थायी भाव से युक्त होता है, वहीं रसोपलब्धि होती है। जिस प्रकार ऊख का रस (इक्षुविकार) शर्करा या गुड़ के रूप में परिणत होता है, उसी प्रकार स्थायी भाव ही आनन्दस्वरूप रस के रूप में परिवर्तित हो जाता है। ऐसे रस के कवियों ने नौ और आठ भेद क्रमशः काव्य और नाटक में बताये हैं। अतएव काव्यमत और नाटकमत इन दोनों मतों का निर्धारण किया है।[3] स्पष्ट है कि नन्दराम के अनुसार रस का स्वरूप आनन्दमय है तथा स्थायी भाव ही रस रूप में परिणत होता है। किन्तु अभिव्यक्ति की शिथिलता के कारण उपर्युक्त रस-लक्षण में दोष आ गया है। विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के समूह का पूर्ण स्थायी भाव से युक्त होने पर रसोपस्थिति मानना चिन्त्य हैं। सब कुछ समझ कर भी नन्दराम ने रस-लक्षण में अस्पष्टता ला दी है, यों आगे चल कर इक्षुविकार और शर्करा के उदाहरण द्वारा विषय अपेक्षाकृत स्पष्ट हो गया है। रसनिष्पत्ति, साधारणीकरण, रसस्वरूप की दार्शनिक मीमांसा आदि गहन विषयों में उतरने का दुस्साहस नन्दराम ने नहीं किया है। रीतिकालीन साधारण कोटि के आचार्यों में ही आपकी गणना की जा सकती है।

लछिराम

अवध-वासी लछिराम की रस-शास्त्रीय रचना "महेश्वरीविलास" हैं। इसका प्रणयन सम्वत् १९४७ में हुआ था,[4] ठाकुर महेश्वरसिंह बहादुर की आज्ञा से।[5] भारतजीवन प्रेस, काशी से सन् १८९३ ई० में इसका प्रकाशन हुआ है। नागरी-प्रचारिणी के आर्य भाषा पुस्तकालय में इसकी प्रति उपलब्ध है। सम्पूर्ण ग्रन्थ चार विलासों में विभक्त है और, इनमें क्रमशः ५१, ३७३, १२१ और ५१० पद हैं। अन्तिम विलास में रस-निरूपण है, उसके पूर्व नायिका वर्णन आदि। इसे साधारण कोटि का रसनिरूपक ग्रंथ मानना चाहिए।

---

१. शृंगारदर्पण। १।१२। २. वही—१।१४। ३. वही। १०।१-३। ४. महेश्वर विलास—४।५१०। ५. चतुर्थ विलास।

रसस्वरूप और अभिव्यक्ति :—लछिराम रस के स्वरूप को भली भाँति हृदयंगम नहीं कर सके हैं। यही कारण है कि आपके रस-स्वरूप-निर्देश में अत्यधिक अस्पष्टता आ गई है। आपने लिखा है कि अचल स्थायीभाव, विभाव और अनुभाव जहाँ स्थिर स्थायी भाव को परिपूर्ण करें, वहीं रस की सत्ता होती है। रसों के मूल तो भाव हैं, पर क्रमश: भावों से मनोविकार उत्पन्न होते हैं और मनोविकारों से आनन्दमय रसों की उत्पत्ति होती है। यद्यपि रस नौ हैं किन्तु उनमें सर्वाधिक श्लाघ्य (प्रशस्त) रस शृंगार है।[1] शृंगार की श्रेष्ठता के कारण ही आपने सर्वप्रथम उसका निरूपण किया है।[2]

जहाँ तक शृंगार की श्रेष्ठता या रसराजता का प्रश्न है, लछिराम की धारणा परम्परानुमोदित एवं शास्त्र-सम्मत है; किन्तु रस के स्वरूप का दिग्दर्शन सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है। स्थायी भाव के द्वारा स्थायी भाव की पूर्णता की बात समझ से बाहर की हैं। इसी प्रकार भावों से मनोविकार और मनोविकारों से रसों की उत्पत्ति की चर्चा भ्रामक है। वस्तुत: मनोविकार ही तो स्थायी भाव हैं। जिन्हें मनोविज्ञान की भाषा में किम्बा सामान्य व्यावहारिक शब्द के द्वारा मनोविकार कहते हैं, उन्हीं को काव्यशास्त्र में स्थायी भाव कहा गया है। ये स्थायी भाव ही विभावादि के संयोग से रसरूपता को प्राप्त होते हैं। अत: अस्पष्टता, उलझन, एकांगिता आदि अनेक दोषों से युक्त होने के कारण, लछिराम का रस-लक्षण हेय है।

२—विभाव : नायक—नायिका भेद

इस खंड के अन्तर्गत रस के आधारभूत उपकरण विभाव का ऐतिहासिक अध्ययन किया गया है। वस्तुत: विभाव ही रत्यादि स्थायी भावों को उद्बुद्ध करने की क्षमता रखते हैं।[3] और अनुभाव इन्हें प्रकाशित करते हैं। सच पूछिए तो रसों के अनेक उपकरणों के मध्य विभाव सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपकरण है। विभाव के दो भेद होते हैं—आलम्बन विभाव और उद्दीपन विभाव। आलम्बन विभाव इसे इसलिए कहा जाता है कि इसी को आलम्बित कर रस उत्पन्न होता है। इसी प्रकार रस को उद्दीपित करने की शक्ति उद्दीपन विभाव में है।[4] अतएव रस-निष्पत्ति में द्विविध विभावों की उपादेयता एवं महत्ता सुनिश्चित है। हिन्दी के कतिपय आचार्यों ने इसे भावों के अन्तर्गत समाविष्ट किया है।[5] परन्तु यह धारणा परम्परा-विरुद्ध तो है ही, साथ हीं निराधार भी। भाव मनोविकारों को कहा जाता है। अतएव इसके अन्तर्गत रत्यादि स्थायी भावों तथा निर्वेदादि संचारी भावों को ही परिगणित करना

---

१. महेश्वरविलास। ४।२६१–२६४। २. वही। २।१ ३. साहित्यदर्पण। ३।२९। ४. रसतरंगिणी। तरंग–२ पृष्ठ ३१–३२। ५. (क) कुलपति रहस्य ३।१० (ख) जनराज, कविता रसविनोद। १०।६। (ग) रसिकबिहारी, काव्यसुधाकर। ६।१।

युक्तिसंगत है। स्तम्भादि आठ सात्विक भावों को अनुभावों के अन्तर्गत रखना अधिक समीचीन है। चाहें तो इन्हें हृदयगत मनोविकारों (भावों) का बाह्यरूप मान कर भाव भी कह सकते हैं।[1] किन्तु नायक-नायिकादि आलम्बनों, उद्यानादि उद्दीपनों (विभाव) तथा आलिंगन-चुम्बनादि अनुभावों को मात्र "भाव" शब्द के साम्य के आधार पर (क्योंकि विभाव और अनुभाव में भी "भाव" जुटा हुआ है) भाव कहना सर्वथा असंगत एवं अवैज्ञानिक है। रस-सिद्धान्त के आदि-पुरुष आचार्य भरत ने जिन ४९ भावों का उल्लेख किया है,[2] उनके अन्तर्गत भी विभाव और अनुभाव सन्निविष्ट नहीं है। अतएव किसी भी मूल्य पर विभाव को भाव नहीं माना जा सकता है।

इस खंड में द्विविध विभावों का ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत है। नायक-नायिकादि आलम्न (आश्रयालम्बन, विषयालम्बन) विभावों, उद्यान-चन्द्रादि उद्दीपन विभावों का पृथक् पृथक् विवरण प्रत्येक आचार्य के साथ उल्लिखित किया गया है। अधीत आचार्यों में २३ तो वे ही हैं, जिनकी चर्चा प्रथम खंड में की गई है। इनके अतिरिक्त केशव पूर्ववर्ती कृपाराम, सूरदास, नंददास और रहीम इन चार आचार्यों के आलम्बन विभाव सम्बन्धी मन्तव्य को भी संक्षेप में समाहृत किया गया है। केशव के परवर्ती तथा चिन्तामणि के पूर्ववर्ती कविराज सुन्दर के सुन्दर शृंगार के आधार पर भी नायक-नायिकादि भेद प्रस्तुत है। शिवनाथ के समाकालीन, रस चंद्रोदय के लेखक उदयनाथ (संवत् १८२८) की मान्यता की भी चर्चा कर ली गई है। परिणामत: विभाव खंड के अन्तर्गत कुल २९ आचार्यों का ऐतिहासिक अध्ययन है। २३ आचार्यों के ग्रंथों का परिचय, प्राप्ति-स्थान, रचना–काल आदि पीछे लिखा जा चुका है, शेष ६ आचार्यों के ग्रंथों का विवरण नीचे निर्दिष्ट है।

केशव-पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थ:--

१६४८ वि० संवत् में केशव ने रसिक-प्रिया की रचना की थी। इसके पूर्व केवल नायिका-भेद विषयक रससामग्री प्रस्तुत करने वाले चार उल्लेख्य आचार्य हुए। वे हैं—कृपाराम, सूरदास, नंददास और रहीम। कृपाराम ने वि० संवत् १५९८ में हिततरंगिनी की रचना की थी। इसका प्रकाशन जगन्नाथ दास रत्नाकर के सम्पादन के साथ भारती जीवन प्रेस, काशी से संवत् १९५२ में हुआ है। ना० प्र० सभा पुस्तकालय में यह उपलब्ध है। सूरदास ने साहित्यलहरी नामक रीतिग्रंथ संवत् १६१७ अथवा १६२७ में लिखा था।[3] अनेक विद्वान इसे सूरदास की रचना नहीं भी मानते हैं। लेखक चाहे जो भी हो, इसमें नायिका भेद, अलंकार, संचारी और रसभेद निर्दिष्ट हैं। लक्षण तो नहीं हैं, केवल श्लेषगुम्फित दृष्टिकूटों के माध्यम से

---

१. रसतरंगिणी तरंग १, पृष्ठ ६--८ २. नाट्यशास्त्र, ७/६ (वृत्ति)

३. प्रभुदयाल मीतल, ब्रजभाषा साहित्य का नायिका भेद (द्वितीय संस्करण) पृष्ठ ६८-६९।

आलम्बन विभाव (नायिकाएँ) पर प्रकाश डाला गया है। साहित्यलहरी के दो प्रकाशन मैंने देखे हैं, प्रथम पुस्तक भंडार, लहेरियासराय का संवत् १९९६ का प्रकाशन तथा द्वितीय साहित्य संस्थान, मथुरा का १९६१ ई० का प्रकाशन। लाइट प्रेस बनारस और नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से भी सरदार कवि की टीका के साथ साहित्य-लहरी के प्रकाशन क्रमशः १८६९ ई० और १८९७ ई० (द्वि० सं०) में हुए थे। १९२९ ई० में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र संगृहीत सटीक साहित्यलहरी भी खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर से प्रकाशित हुई थी। किन्तु ये प्रकाशन अप्राप्य हैं। नंददास की रसमंजरी भी केशव-पूर्वयुग की रसशास्त्रीय रचना है। इसकी रचना प्रायः १६२० वि० संवत् के लगभग हुई थी। नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा संवत् २००६ में प्रकाशित तथा बृजरत्नदास द्वारा सम्पादित नंददास ग्रंथावली में यह ग्रंथ भी समाविष्ट है। इसमें भानुदत्त की रसमंजरी के आधार पर नायिका भेद प्रतिपादित किए गए हैं। संवत् १६४० के लगभग (अनुमानतः) कवि रहीम ने बरवै नायिका-भेद नामक ग्रंथ लिखा। इसका प्रकाशन रहीम-रत्नावली के अन्तर्गत हुआ है। पं० मायाशंकर याज्ञिक के द्वारा सम्पादित, साहित्यसेवा-सदन, काशी से प्रकाशित रहीम-रत्नावली का तृतीय संस्करण मैंने देखा है। बरवै नायिकाभेद में दोहों में नायिकाओं के लक्षण तथा बरवै छन्द में उनके उदाहरण दिए गए हैं। केवल नायक-नायिका भेदों का ही निरूपक यह शृंगार रस-ग्रंथ है।[1] इसकी भाषा अवधी है। क्रमशः इन चारों आचार्यों के नायिका-भेद विषयक मन्तव्य विवेचित हैं।

कृपाराम

कृपाराम की हिततरंगिनी में रस-निरूपण नहीं है। अतएव उसके उपकरण विभावादियों की चर्चा नहीं है। फलतः विभाव-परिप्रेक्ष्य में आलम्बन विभाव के अन्तर्गत नायिका-भेदों का निरूपण उन्होंने नहीं किया है। केवल नायिका-भेदों का स्वतन्त्र उल्लेख ही ग्रंथ का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। न तो उनके लक्षण दिए गए हैं और न उदाहरण, केवल भानुदत्त की रसमंजरी के आधार पर नायिका-भेदों का उल्लेख दोहों में कर दिया गया है। कहीं-कहीं भरत के नाट्शास्त्र को भी आधार बनाया गया है।[2] सर्वप्रथम लोक-व्यवहार के आधार पर स्वकीया, परकीया और वारवधू ये तीन भेद किए गए हैं। तदनन्तर प्रकृति के अनुसार उत्तमा, मध्यमा और अधमा इन तीन भेदों में नायिकाओं को बांट दिया गया है।[3] पुनः दशा के अनुसार मानवती, अन्यसम्भोगदुखिता और वक्रोक्तिगर्विता ये तीन भेद हैं।[4] स्वकीया के भेदोपभेदों में अवस्थानुसार तीन भेद मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा तथा मुग्धा के चार भेद अज्ञात यौवना, ज्ञातयौवना, नवोढ़ा और विश्रब्धनवोढ़ा। परकीया के पहले दो भेद—

---

१. बरवैनायिका भेद पृष्ठ ६२। २. हिततरंगिनी। दोहा सं० ४ और ३५।
३. वही, । १६, १७, । ४. वही, १९, २०, २१।

युक्तिसंगत है। स्तम्भादि आठ सात्विक भावों को अनुभावों के अन्तर्गत रखना अधिक समीचीन है। चाहें तो इन्हें हृदयगत मनोविकारों (भावों) का बाह्यरूप मान कर भाव भी कह सकते हैं।[1] किन्तु नायक-नायिकादि आलम्बनों, उद्यानादि उद्दीपनों (विभाव) तथा आलिंगन-चुम्बनादि अनुभावों को मात्र "भाव" शब्द के साम्य के आधार पर (क्योंकि विभाव और अनुभाव में भी "भाव" जुटा हुआ है) भाव कहना सर्वथा असंगत एवं अवैज्ञानिक है। रस-सिद्धान्त के आदि-पुरुष आचार्य भरत ने जिन ४९ भावों का उल्लेख किया है,[2] उनके अन्तर्गत भी विभाव और अनुभाव सन्निविष्ट नहीं है। अतएव किसी भी मूल्य पर विभाव को भाव नहीं माना जा सकता है।

इस खंड में द्विविध विभावों का ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत है। नायक-नायिकादि आलम्न (आश्रयालम्बन, विषयालम्बन) विभावों, उद्यान-चन्द्रादि उद्दीपन विभावों का पृथक् पृथक् विवरण प्रत्येक आचार्य के साथ उल्लिखित किया गया है। अधीत आचार्यों में २३ तो वे ही हैं, जिनकी चर्चा प्रथम खंड में की गई है। इनके अतिरिक्त केशव पूर्ववर्ती कृपाराम, सूरदास, नंददास और रहीम इन चार आचार्यों के आलम्बन विभाव सम्बन्धी मन्तव्य को भी संक्षेप में समाहृत किया गया है। केशव के परवर्ती तथा चिन्तामणि के पूर्ववर्ती कविराज सुन्दर के सुन्दर श्रृंगार के आधार पर भी नायक-नायिकादि भेद प्रस्तुत है। शिवनाथ के समाकालीन, रस चंद्रोदय के लेखक उदयनाथ (संवत् १८२८) की मान्यता की भी चर्चा कर ली गई है। परिणामतः विभाव खंड के अन्तर्गत कुल २९ आचार्यों का ऐतिहासिक अध्ययन है। २३ आचार्यों के ग्रंथों का परिचय, प्राप्ति-स्थान, रचना–काल आदि पीछे लिखा जा चुका है, शेष ६ आचार्यों के ग्रंथों का विवरण नीचे निर्दिष्ट है।

केशव-पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थः--

१६४८ वि० संवत् में केशव ने रसिक-प्रिया की रचना की थी। इसके पूर्व केवल नायिका-भेद विषयक रससामग्री प्रस्तुत करने वाले चार उल्लेख्य आचार्य हुए। वे हैं—कृपाराम, सूरदास, नंददास और रहीम। कृपाराम ने वि० संवत् १५९८ में हिततरंगिनी की रचना की थी। इसका प्रकाशन जगन्नाथ दास रत्नाकर के सम्पादन के साथ भारती जीवन प्रेस, काशी से संवत् १९५२ में हुआ है। ना० प्र० सभा पुस्तकालय में यह उपलब्ध है। सूरदास ने साहित्यलहरी नामक रीतिग्रंथ संवत् १६१७ अथवा १६२७ में लिखा था।[3] अनेक विद्वान इसे सूरदास की रचना नहीं भी मानते हैं। लेखक चाहे जो भी हो, इसमें नायिका भेद, अलंकार, संचारी और रसभेद निर्दिष्ट हैं। लक्षण तो नहीं हैं, केवल श्लेषगुम्फित दृष्टिकूटों के माध्यम से

---

१. रसतरंगिणी तरंग १, पृष्ठ ६-८   २. नाट्यशास्त्र, ७/६ (वृत्ति)

३. प्रभुदयाल मीतल, ब्रजभाषा साहित्य का नायिका भेद (द्वितीय संस्करण) पृष्ठ ६८-६९।

आलम्बन विभाव (नायिकाएँ) पर प्रकाश डाला गया है। साहित्यलहरी के दो प्रकाशन मैंने देखे हैं, प्रथम पुस्तक भंडार, लहेरियासराय का संवत् १९९६ का प्रकाशन तथा द्वितीय साहित्य संस्थान, मथुरा का १९६१ ई० का प्रकाशन। लाइट प्रेस बनारस और नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से भी सरदार कवि की टीका के साथ साहित्य-लहरी के प्रकाशन क्रमश: १८६९ ई० और १८९७ ई० (द्वि० सं०) में हुए थे। १९२९ ई० में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र संगृहीत सटीक साहित्यलहरी भी खड्गविलास प्रेस, बांकीपुर से प्रकाशित हुई थी। किन्तु ये प्रकाशन अप्राप्य हैं। नंददास की रसमंजरी भी केशव-पूर्वयुग की रसशास्त्रीय रचना है। इसकी रचना प्राय: १६२० वि० संवत् के लगभग हुई थी। नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा संवत् २००६ में प्रकाशित तथा वृजरत्नदास द्वारा सम्पादित नंददास ग्रंथावली में यह ग्रंथ भी समाविष्ट है। इसमें भानुदत्त की रसमंजरी के आधार पर नायिका भेद प्रतिपादित किए गए हैं। संवत् १६४० के लगभग (अनुमानत:) कवि रहीम ने बरवै नायिका-भेद नामक ग्रंथ लिखा। इसका प्रकाशन रहीम-रत्नावली के अन्तर्गत हुआ है। पं० मायाशंकर याज्ञिक के द्वारा सम्पादित, साहित्यसेवा-सदन, काशी से प्रकाशित रहीम-रत्नावली का तृतीय संस्करण मैंने देखा है। बरवै नायिकाभेद में दोहों में नायिकाओं के लक्षण तथा बरवै छन्द में उनके उदाहरण दिए गए हैं। केवल नायक-नायिका भेदों का ही निरूपक यह श्रृंगार रस-ग्रंथ है।[1] इसकी भाषा अवधी है। क्रमश: इन चारों आचार्यों के नायिका-भेद विषयक मन्तव्य विवेचित हैं।

कृपाराम

कृपाराम की हिततरंगिनी में रस-निरूपण नहीं है। अतएव उसके उपकरण विभावादियों की चर्चा नहीं है। फलत: विभाव-परिप्रेक्ष्य में आलम्बन विभाव के अन्तर्गत नायिका-भेदों का निरूपण उन्होंने नहीं किया है। केवल नायिका-भेदों का स्वतन्त्र उल्लेख ही ग्रंथ का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। न तो उनके लक्षण दिए गए हैं और न उदाहरण, केवल भानुदत्त की रसमंजरी के आधार पर नायिका-भेदों का उल्लेख दोहों में कर दिया गया है। कहीं-कहीं भरत के नाट्शास्त्र को भी आधार बनाया गया है।[2] सर्वप्रथम लोक-व्यवहार के आधार पर स्वकीया, परकीया और वारवधू ये तीन भेद किए गए हैं। तदनन्तर प्रकृति के अनुसार उत्तमा, मध्यमा और अधमा इन तीन भेदों में नायिकाओं को बांट दिया गया है।[3] पुन: दशा के अनुसार मानवती, अन्यसम्भोगदुखिता और वक्रोक्तिगर्विता ये तीन भेद हैं।[4] स्वकीया के भेदोपभेदों में अवस्थानुसार तीन भेद मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा तथा मुग्धा के चार भेद अज्ञात यौवना, ज्ञातयौवना, नवोढ़ा और विश्रब्धनवोढ़ा। परकीया के पहले दो भेद—

---

१. बरवैनायिका भेद पृष्ठ ६२। २. हिततरंगिनी। दोहा सं० ४ और ३५।
३. वही, । १६, १७, । ४. वही, १९, २०, २१।

ऊढा और अनूढ़ा। पुनः ऊढा के सात भेद हैं—लक्षिता, चतुरा कुलटा, मुदिता, स्वयं-दूति, अनुशयनिका और गुप्ता। क्रिया और वचन के आधार पर लक्षिता एवं चतुरा इन दोनों के दो-दो उपभेद किए गये हैं। इनके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र के अनुकरण पर अवस्थानुसार नायिकाओं के दश भेद किए गए हैं—स्वाधीन पतिका, वासकसज्जा, उत्कंठा, अभिसारिका, विप्रलब्धा, खंडिता, कलहांतरिता, प्रवत्स्यत्पतिका, प्रोषित-पतिका और आगतपतिका।[1] सामान्या के भी दो भेद हैं—गुप्ता और अगुप्ता।[2]

सूरदास

सूरदास की साहित्यलहरी में १०८ दृष्टिकूट पदों का संग्रह है। इसके ३ पद (सं० १७, ४६, ५२) मूल हैं अथवा प्रक्षिप्त, इस सम्बन्ध में अभी भी विद्वानों के बीच मतभेद है। यह कृष्णलीला विषयक दृष्टिकूट पदों का चमत्कारपूर्ण अद्भुत रीति-काव्य है। यह लक्षण-ग्रन्थ नहीं है, फिर भी प्रत्येक पद के अंत में ऐसे शब्द जड़े हुए हैं जिनसे किसी न किसी अलंकार का, किसी न किसी नायिका-भेद का तथा अन्य काव्यांग का उल्लेख श्लिष्ट अर्थ के माध्यम से हो जाता है। अलंकारों और नायिकाभेदों के अतिरिक्त २७ संचारी भावों का और ७ रसों का भी संकेत है। ३३ संचारी भावों में से विवोध, अवहित्था, मति, उन्माद, मरण, त्रास और वितर्क—ये सात संचारी भाव छूटे हुए हैं। प्रायः इन संचारी भावों के बोधक पद शृङ्गार मिश्र भक्त्यात्मक पद्यों के अनुकूल सूरदास जी को नहीं जंचे, अतएव उन्होंने इन्हें छोड़ दिया। इसी प्रकार शांत और शृंगार रसों के नाम भी पृथक् निर्दिष्ट नहीं हैं। यों शृंगार और शांत रस तो इनके प्रत्येक पद से अभिव्यक्त होते हैं (शृङ्गार मिश्र भक्ति के कारण)।

साहित्यलहरी के दृष्टिकूट पदों में नायिका-भेदों का कथन तो है, पर न तो अन्य परवर्ती लक्षण-ग्रन्थों की तरह इन्हें आलम्बन विभाव के रूप में रखा गया है और न इनके लक्षण-उदाहरण ही पृथक्-पृथक् कहे गए हैं। यों प्रत्येक दृष्टिकूट पद के अर्थ में ही तत्-तत् नायिका के लक्षण और उदाहरण संकेतित हैं, स्पष्टतः नामोल्लेख तो है ही। साहित्यलहरी में श्लेष के द्वारा उल्लिखित नायिकाओं के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—स्वकीया, मुग्धा अज्ञातयौवना, मुग्धा ज्ञातयौवना, मध्या, प्रौढा, धीरा, अधीरा, धीराधीरा, ज्येष्ठा, कनिष्ठा, परकीया ऊढ़ा, परकीया अनूढ़ा, गुप्ता, वचन विदग्धा, क्रिया-विदग्धा, लक्षिता, मुदिता, अनुशयना, अन्यसंभोगदुखिता, प्रेम गर्विता, रूप गर्विता, मानवती, प्रोषितपतिका, खंडिता, कलहांतरिता, विप्रलब्धा, उत्कंठिता, वासकसज्जा, स्वाधीनपतिका, अभिसारिका, गच्छत्पतिका और आगत-पतिका।[3] भानुदत्त की रसमंजरी तथा कृपाराम की हिततरंगिणी से ये भेद पूर्ण-

१. हिततरंगिनी। ३६।३८। २. वही। ४०।
३. साहित्यलहरी पद सं० १-३७।

सम्मत हैं। प्रायः सभी प्रमुख भेदों का उल्लेख हुआ है, केवल कुलटा और सामान्या (वारवधू) इन दो भेदों को छोड़ दिया गया है। शृंगार-भक्ति के अनुकूल न पड़ने के कारण ही सम्भवतः सूरदास ने इन नायिका-भेदों को साहित्य-लहरी में स्थान नहीं दिया होगा।

नंददास

नंददास की रसमंजरी में भक्तिकालीन विशेषताओं के साथ रीतिकालीन विशेषताओं का भी मिश्रण है। कहने का तात्पर्य यह कि यदि एक ओर यह भक्ति काव्य है तो दूसरी ओर रीति-ग्रन्थ भी। यह प्रभाव गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय का है। रूपगोस्वामी के ग्रन्थों का अविकल अनुवाद न होने पर भी, भक्ति और रीति की मिश्रित वर्णना के कारण उनका प्रभाव स्पष्ट लक्षित हो जाता है। विशेषतः जब आरम्भ में ही रसों का आधार प्रभु को मान लिया जाता है, उन्हें रसमय, रसकारण और रसिक कह दिया जाता है तथा रूप, प्रेम, आनन्द और रस को गिरधर देव के चरणों में समर्पित कर दिया जाता है तो उपर्युक्त वैष्णवी रस-शास्त्र का प्रभाव और भी निःसन्दिग्ध प्रतीत होता है।[1]

नायिकाभेद—सामान्यतः नन्ददास की रसमंजरी में केवल नायिकाओं के लक्षण और भेद बताए गए हैं, उदाहरण नहीं। आपने सर्व प्रथम नायिकाओं के तीन भेद किए हैं—स्वकीया, परकीया और सामान्या (सामानि)। पुनः इन तीनों को मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा नामक तीन भेदों में वर्गीकृत कर दिया है। मुग्धा के भी दो भेद हैं—नवोढ़ा और विश्रब्ध-नवोढ़ा।[2] ध्यान देने की बात यह है कि नन्ददास ने स्वयं भानुदत्त की रसमंजरी (संस्कृत रचना) के अनुसरण की बात कही है, पर वर्गीकरण उनसे सर्वथा भिन्न है। भानुदत्त ने केवल स्वकीया के मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा ये तीन भेद किए हैं तथा स्वकीया मुग्धा के दो भेदों में—अज्ञातयौवना और ज्ञातयौवना।[3] पर नन्ददास ने इनके विपरीत, स्वकीया, परकीया, और सामान्या इन तीनों के उपर्युक्त भेद स्वीकार किए हैं। पुनः मध्या और प्रौढ़ा के तीन भेद किए गए हैं—धीरा, अधीरा, और धीराधीरा। ये भेद मुग्धा के नहीं हो सकते हैं, क्योंकि उसमें धीरादि के लक्षण उसी प्रकार स्पष्ट नहीं होते जैसे किसी विटप के अंकुर में दल, फल, फूल आदि स्पष्टतः दृष्टिगोचर नहीं होते हैं।[4] इनके अतिरिक्त परकीया के तीन भेद हैं—सुरतिगोपना, वाग्विदग्धा, लक्षिता।[5] पुनः अवस्था के अनुसार (दशानुसार) नायिकाओं के नौ भेद किए गये हैं—प्रोषितपतिका, खंडिता,

१. नंददासग्रंथावली-रसमंजरी, पृ० १४४, तुलनार्थ द्रष्टव्य-भ० र० सि०, —पू० वि० १।१,३, उ० नी०, हरिप्रियाकरण। १, ४।
२. रसमंजरी पृ० १४५। ३. वही, पृ० ७। ४. वही, पृ० १४७।
५. वही। पृ० १४८-१४९।

कलहांतरिता, उत्कंठिता, विप्रलब्धा, वासकसज्जा, अभिसारिका, स्वाधीनवल्लभा, प्रीतमगमनी। वे भेद मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा तथा परकीया के पृथक्-पृथक् बताए गए हैं। इनके लक्षण और उदाहरण भी अलग-अलग दिए गए हैं। नन्ददास के उदाहरणों पर भानुदत्त की रसमंजरी का प्रभाव स्पष्ट है।[1] किन्तु जहां भानुदत्त ने आठ ही भेद किए हैं वहां नन्ददास ने नौ भेद कर लिए हैं। प्रवत्स्यत्पतिका नामक नवमी नायिका भी प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार भानुदत्त ने स्वीकार की है।[2] इसीको नन्ददास ने प्रीतमगमनी कहा है।

आलम्बन विभावान्तर्गत नायकों की भी चर्चा नन्ददास ने की है। प्रमदा-प्रेम के आधार पर आपने नायकों को केवल चार वर्गों में बांट दिया है—धृष्ट, शठ, दक्षिण और अनुकूल।[3] इनके उदाहरण नन्ददास ने पृथक्-पृथक् कहे हैं। नन्ददास के उदाहरण भानुदत्त की रसमंजरी में दिए गए उदाहरणों के ही रूपान्तर हैं[4]। पर विचित्रता यह है कि नन्ददास ने पति, उपपति, वैशिक तथा उत्तम, मध्यम अधम आदि नायक भेदों को, जिन्हें भानुदत्त ने अपने ग्रन्थ में प्रतिपादित किया है, नहीं अपनाया।

रहीम :—रहीम का "वरवै नायिका भेद" नायिका भेद का ग्रंथ है। इस ग्रन्थ की मूल प्रति में रहीम ने केवल नायिकाओं और नायकों के उदाहरण रचे थे, लक्षण नहीं। मैंने प० मायाशंकर याज्ञिक द्वारा सम्पादित तथा साहित्य सेवा सदन, काशी द्वारा प्रकाशित रहीम-रत्नावली का तृतीय संस्करण देखा है। इसके अन्तर्गत जो "वरवै नायिका भेद" नामक ग्रंथ है, उसमें लक्षण तो मतिराम के रसराज से लिए गए हैं तथा उदाहरण रहीम-प्रणीत वरवै नायिका भेद से।[5] अतएव इसे संग्रह ग्रंथ ही मानना चाहिए, मूल ग्रन्थ नहीं। ग्रन्थ के अन्त में इस ओर अज्ञात संग्रहकर्ता ने संकेत भी कर दिया है।।[6] इतना अवश्य कि रहीम ने केवल उदाहरणों को प्रस्तुत करके भी नायिका-नायक भेदों को सुस्पष्ट कर दिया है। साथ ही उनके उदाहरण अत्यन्त हृदयग्राही भी हैं।

नायिका-भेद :—रहीम के वरवै नायिका भेद में यदि वरवों पर ही (मात्र उदाहरणों पर) ध्यान केन्द्रित किया जाय तो प्राय: सभी महत्वपूर्ण नायिका-भेदों का विवरण उपलब्ध हो जाता है। इसमें स्वकीया के मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा ये तीन भेद मिलते हैं। मुग्धा के भेदों में अज्ञातयौवना तथा ज्ञातयौवना के नवोढ़ा, और विश्रब्ध नवोढ़ा इन दो भेदों का भी उल्लेख है। पुन: परकीया के प्रथम तो दो भेद ही उदाहृत किये गए हैं—ऊढ़ाऔर अनूढ़ा। तदन्तर परकीया के अन्य छ: भेद भी

---

१. रसमंजरी, श्लोक संख्या ३९—८८। २. वही, पृष्ठ १५१। ३. वही पृष्ठ, १५९। ४. वही श्लोक १०१—१०४। ५. रहीम-रत्नावली, भूमिका, पृष्ठ २३। ६. वरवै नायिका भेद। ११७।११८।

किए गए हैं—गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, अनुशयना, मुदिता और कुलटा। गुप्ता में भूत सुरतिगुप्ता और भविष्य सुरतिगुप्ता, विदग्धा में वचन-विदग्धा और क्रिया विदग्धा, अनुसयना में प्रथम से तृतीय अनुसयना पर्यन्त उपभेद पाये जाते हैं। गणिका के भी कई भेद हैं—अन्यसंभोगदु:खिता, प्रेमगर्विता और रूपगर्विता। अवस्थानुसार नायिकाओं के दशविध भेद भी वर्णित हैं-प्रोषित पतिका, खंडिता, कलहांतरिता, विप्रलब्धा, उत्कंठिता, वासकसज्जा, स्वाधीनपतिका, अभिसारिका, प्रवत्स्यत्पतिका और आगतपतिका। प्रोषितपतिका को छोड़ कर अन्य नौ भेदों को मुग्धा, मध्या और प्रौढा (स्वकीया भेद) तथा परकीया और सामान्या के साथ दिखाया गया है। प्रोषितपतिका को केवल मुग्धादि त्रिविध स्वकीया के साथ वर्णित किया गया है। इनके अतिरिक्त स्वभावानुसार नायिकाओं के उत्तमा, मध्यमा और अधमा ये तीन भेद भी बता दिए गए हैं।

नायक-भेद :—नायकों के पहले तो तीन भेद उदाहृत हैं–पति, उपपति और वैसिक। पति नायक के चार भेद वर्णित किए गए हैं–अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट और शठ। इनके अतिरिक्त प्रेषितनायक, मानी नायक, वचन चतुर नायक और क्रिया-चतुर नायक भी उदाहृत किए गए हैं। हृदयग्राहिता, सरसता और सुस्पष्टता की दृष्टि से स्वकीया, परकीया, सामान्या, उत्तमा, मध्यमा और अधमा नामक नायिका भेदों के तथा पति, उपपति और वैसिक नामक नायक-भेदों के उदाहरणों को क्रमश: देखा जा सकता है [1]। इन उदाहरणों में कहीं कहीं ग्राम्यदोष तो पाया जाता है, पर सरसता एवं लक्षणान्विति अक्षुण्ण है।

केशव

हिन्दी काव्य-शास्त्र के इतिहास में केशव ही सर्वप्रथम आचार्य हैं जिन्होंने रसोपकरण विभाव का विवेचन किया है तथा उनके अन्तर्गत नायक-नायिका-भेदों का निरूपण भी। केशव के पूर्ववर्ती आचार्यों ने (जिनकी चर्चा पीछे की जा चुकी है) विभाव–परिप्रेक्ष्य में रखे बिना ही नायिका-नायक-भेदों के लक्षण या उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। अतएव रस-शास्त्रीय दृष्टि से केशव की महत्ता नि:सन्दिग्ध है।

विभाव :—केशव ने विभाव को भावों के अन्तर्गत परिगणित किया है।[7] भाव उन्होंने पाँच माने हैं—विभाव, अनुभाव, स्थायी, सात्त्विक और व्यभिचारी। इनमें से स्थायी, सात्विक और व्यभिचारी को भाव कहना तो परम्परा-सम्मत एवं साधार है, किन्तु विभावों और अनुभावों को शब्द-साम्य के आधार पर भाव मानना आपातत: युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता है। किन्तु विवेचना कर देखने से केशव की मौलिकता एवं सूझ की दाद दिए बिना हम नहीं रह सकते। केशव के विभाव-लक्षण और भेद पर ध्यान देने से विषय सुस्पष्ट हो जाता है। केशव के अनुसार विभाव वे हैं जिनसे

१. बरवै नायिका भेद।४-९५। २. वही। १३। ३. वही। ३३। ४. वही। ९३। ५. वही। ९४। ६. वही। ९६। ७. रसिकप्रिया। ६।२।

अनायास ही रस प्रकट हों [1]। तात्पर्य यह कि केवल नायक-नायिका रूप आलम्बन विभावों या उद्यान-चन्द्रादि उद्दीपन विभावों से ही रस प्रकट नहीं होते हैं, प्रत्युत कभी-कभी कतिपय भाव भी अन्य भावों को (स्थायी या व्यभिचारी को) रस रूप में प्रकट कर देते हैं। उन्हीं भाव-जन्य भावों को लक्ष्य कर केशव ने विभाव को भाव की पदवी दी है। रसगंगाधर-कार जगन्नाथ ने ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए हैं जहां एक भाव दूसरे भाव को जन्म देता है तथा करुणारूप भाव उस ध्वनिरूप भाव (कार्य) का विभाव बनता है। निष्कर्ष यह कि किसी भाव के जागरण के निमित्त कारण को विभाव कहा जाता है, चाहे वह कोई भाव-विशेष हो या नायक-नायिकादि परामारागत आलम्बन और उद्यान-चन्द्रादि परम्परागत उद्दीपन [2]। जितने भी संचारी भाव गिनाए गए हैं उन्हीं में से कोई भाव किसी का विभाव बन जाता है और किसी का अनुभाव। जैसे, ईर्ष्या निर्वेद का विभाव बन जाती है और असूया का अनुभाव भी।[3] अतएव विभाव और अनुभाव इन दोनों को व्यापक दृष्टि रख कर भाव कहना अयुक्तिसंगत नहीं है। जगन्नाथ जैसे कृतविद्य साहित्य-मीमांसक ने इस मान्यता का समर्थन किया है। किन्तु केशव जगन्नाथ—पूर्ववर्ती होने के कारण, उनसे प्रभावित नहीं हैं।

विभावों के केशव ने दो भेद किए हैं—आलम्बन और उद्दीपन। आलम्बन उन्हें कहा है जिनका अवलम्बन "अतन" अर्थात रस या काम करते हैं तथा जो भावों को उद्दीपित करते हैं उन्हें उद्दीपन विभाव कहा है।[4] आलम्बन—लक्षण में श्लिष्ट अतन शब्द का प्रयोग भी केशव की दूरदर्शिता का परिचायक है। केशव ने शृंगार को रसराज माना है तथा हरिनायक शृंगार के भेदों के रूप में ही अन्य रसों को स्वीकार किया है। अतएव अतन शब्द काम और रस इन उभयविध अर्थों का बोधक होने के कारण प्रत्येक रस-भेद में लक्षण की संगति करा देता है। आलम्बन विभावों के अन्तर्गत केशव ने दम्पति अर्थात नायक-नायिका को तो परिगणित किया ही हैं; बल्कि इसके साथ अनेक प्राकृतिक उपादानों, विलास-सामग्रियों तथा संगीत-नृत्यादि कलाओं को भी आलम्बन स्वीकार किया है।[5]। यहां भी केशव की व्यापक-दृष्टिता का ही परिचय होता है। सचेतन नायक—नायिकाओं को रसों का आलम्बन मानना तो परामरागत धारणा है ही, किन्तु प्राकृतिक उपादान जब किसी के स्थायी भाव का आलम्बन बन कर रसबोध कराते हैं तो उन्हें आलम्बन कहने में संकोच का अनुभव किया गया है। सभी आचार्यों ने एक स्वर से उन्हें उद्दीपन-वर्ग में डाल दिया है। आधुनिक युग में रामचन्द्र शुक्ल ने प्राकृतिक उपादानों के आलम्बनत्व पर जोर डाला है। यों, महाकवि कालिदास ने अभिज्ञान-शाकुन्तल नाटक में इस ओर पहले भी

१. रसिकप्रिया। ६।३। २. रसगंगाधर, पृष्ठ ७६। ३. वही, पृष्ठ—९८।
४. रसिकप्रिया। ६।४–५। ५. अभिज्ञानशाकुन्तलम्। ५।९।

संकेत किया था[1], फिर भी शास्त्रीय रूप में इसे प्रस्तुत करने का श्रेय आचार्य केशव को ही है। इस प्रसंग में यह ध्यान रखना चाहिए कि केशव ने शृंगार को लक्ष्य करके ही आलम्बन विभावों की तालिका प्रस्तुत की है।

नायक-नायिका :—इतना तो निश्चित है कि केशव ने दंपति को भी आलम्बन विभाव के रूप में स्वीकार किया है। अतएव उन्हें नायक और नायिकाओं के लक्षण, भेद और उदाहरण देने पड़े हैं। नायक का लक्षण संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा के अनुकूल है।[2] नायक के आपने चार भेद बताए हैं-अनुकूल,दच्छ, सठ और धृष्ट। इन चारों को पुन: प्रच्छन्न और प्रकाश नामक दो अवान्तर्भेदों में विभक्त कर दिया है। इस प्रकार नायक के आठ भेद हो जाते हैं। न तो आपने धीरोदात्तादि भेद बताए हैं और न उत्तमादि। नायिकाओं को पहले जाति के आधार पर चार वर्गों में विभक्त किया है—पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी।[3] तदनन्तर नायक-सम्बन्ध के आधार पर दो भेद आपने स्वीकार किए हैं—सुकिया (स्वकीया) और परकीया। इनमें स्वकीया के तीन भेद हैं—मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा। मुग्धा के भी चार उपभेद हैं–नवलवधू, नवयौवना नवलअनंगा और लज्जप्रायरति।[4] मध्या के चार उपभेद हैं—आरूढ़यौवना, प्रगल्भवचना, प्रादुर्भूतमनोनवा और सुरतविचित्रा।[5] इसी प्रकार प्रौढ़ा के भी चार उपभेद किए गए हैं-समस्त रसकोविदा, विचित्रविभ्रमा, आक्रामति नायका और लुब्धापति।[6] धीरा, अधीरा और धीराधीरा ये तीन भेद पृथक् न लिखकर इन्हें मध्या और प्रौढ़ा के साथ मिलाकर लिखा गया है। परकीया के मात्र दो भेद केशव ने प्रतिपादित किए हैं—ऊढा और अनूढा। सामान्या का उल्लेख केशव ने नहीं किया है। अवस्था के अनुसार भी केशव ने नायिकाओं के आठ भेद प्रतिपादित किये हैं—स्वाधीनपतिका, उत्का, वासकशय्या, अभिसंधिता, खंडिता, प्रोषितप्रेयसी, विप्रलब्धा और अभिसारिका।[7] इन अष्टविधा नायिकाओं को आपने प्रच्छन्न और प्रकाश नामक उपभेदों में बाँट दिया है। अभिसारिका के छ: प्रकार बताए हैं–स्वकीया अभिसारिका, परकीया अभिसारिका, प्रेमाभिसारिका, गर्वाभिसारिका और कामाभिसारिका। पुन: प्रकृति के अनुसार नायिकाओं को उत्तम, मध्यम और अधम नामक तीन वर्गों में विभक्त कर दिया गया है। परिणामत: कुल मिलाकर केशव प्रतिपादित नायिकाओं के ३६० भेद बन जाते हैं।[8]

उद्दीपन-विभाव :—जिनसे भाव दीपित होते हैं उन्हें उद्दीपन विभाव कहा जाता है।[9] यह लक्षण सर्वथा परम्परानुमोदित है। किन्तु केशव जब उद्दीपन विभावों की तालिका प्रस्तुत करने चले तो केवल आलम्बनगत (नायक-नायिकागत)

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम्। ५।९। २. साहित्यदर्पण। ३।३०। ३. रसिकप्रिया। ३।१। ४. वही। ३।१७। ५. वही। ३।५०। ६. वही। ७।१–३। ७. रसिक प्रिया। ७।३५। ८. वही। ६।५। ९. वही। ६–७।

चेष्टाओं को ही गिना गए।[1] अवलोकन, आलाप, परिरंभन, नखक्षत, दन्तक्षत, चुंबन आदि वस्तुत: आलम्बन की चेष्टाएँ हैं। अतएव इन्हें अनुभाव भले ही कहा जा सकता है, उद्दीपन नहीं। केशव ने दूसरे दृष्टिकोण से इन्हें उद्दीपन कहा है। अकस्मात् किसी आश्रय की रतिबासना यदि जाग्रत हो जावे तो वैसी स्थिति में आलम्बन की जितनी भी चेष्टाएँ होंगी वे आश्रय की रति को उद्दीप्त करने में सहायक होंगी। प्राय: इसी दृष्टिकोण से प्रेरित होकर केशव ने आलम्बनगत चेष्टाओं को उद्दीपन विभाव स्वीकार किया होगा। फिर भी प्राकृतिक उपादानों का इस वर्ग में समावेश नहीं करना खटकता है। आलम्बन वर्ग में उन्हें रखकर केशव ने मौलिकता भले ही प्रदर्शित की हो, पर उद्दीपन के रूप में सर्वसम्मत प्राकृतिक उपादानों का परित्याग कर आपने संकुचित दृष्टिकोण का ही परिचय दिया है। सम्भव है कि प्राकृतिक उपादानों की उद्दीपन रूप में अतिप्रसिद्धि के कारण ही तालिका में आपने उनका समावेश न किया हो। ऐसी स्थिति में आलम्बव रूप में अतिप्रसिद्ध दंपति (नायक-नायिका) को भी छोड़ देना चाहिए था।

कविराज सुन्दर

केशव के अनन्तर कविराज सुन्दर ने सुन्दर शृंगार नामक नायिका-भेद ग्रंथ वि० संवत् १६८८ में लिखा।[2] इसका प्रथम संस्करण भारत जीवन यन्त्रालय, काशी से सन् १८९० ई० में प्रकाशित हुआ। इसी आधार पर मेरा अध्ययन प्रस्तुत है। इस ग्रंथ में पद संख्या सौ के बाद पुन: एक-दो से दुहराई गई है, अतएव पृष्ठों का उल्लेख ही मैंने श्रेयस्कर समझा है। ग्रन्थ में कुल ११२ पृष्ठ हैं।

नायिका-नायक भेद :—कविराज सुन्दर का दृष्टिकोण पूर्णत: शास्त्रीय नहीं है। विभाव परिप्रेक्ष्य में नायक-नायिकाओं का उल्लेख आपने नहीं किया है। आपका कहना है कि नौ रसों में शृंगार रस सबसे अच्छा है और शृंगार में भी नायिका, अतएव नायिका-भेद सोदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है।[3] आधार आपने भी संस्कृत-ग्रन्थों से ग्रहण किया है, पर इसका स्पष्ट उल्लेख कर दिया है।[4] सुन्दर ने नायिकाओं को पहले तीन वर्गों में विभक्त किया है—स्वकीया, परकीया और सामान्या। इनके लक्षण परम्परानुमोदित हैं।[5] स्वकीया के भेद हैं—मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा। मध्या और प्रौढ़ा के धीरा, अधीरा और धीराधीरा भेद भी प्रतिपादित हैं, मुग्धा के ज्ञातयौवना और अज्ञातयौवना तथा नवोढा और विश्रब्धनवोढा भेद किये गए हैं। परकीया के मुख्य छ: भेद हैं—गुप्ता, विदग्धा, लक्षिता, कुलटा, मुदिता और अनुसयना। इनमें से गुप्ता के ३ (भूत, वर्तमान और भविष्य सुरत गोपना), विदग्धा के २ (वाक्य विदग्धा और क्रिया विदग्धा) और अनुसयना के ३ (पहली, दूजी और

---

१. रसिक प्रिया। ६।७। २. सुन्दर शृंगार। पृष्ठ–३। ३. वही पृष्ठ–११२। ४. वही। पृष्ठ–११२। ५. सुन्दर शृंगार। पृष्ठ ४, १७ और २३।

तीजी भेद बताए गए हैं। सामान्या का मात्र एक भेद बताया गया है। इन सभी नायिकाओं को अन्यभोगदु:खिता, गर्विता और मानवती—इन तीन भेदों में बाँट दिया गया है। गर्विता के भी दो भेद हैं—प्रेमगर्विता और रूपगर्विता तथा मानवती के भी तीन भेद हैं—लघुमानवती, मध्यममानवती और गुरुमानवती। इनके अतिरिक्त, अवस्थानुसार नायिकाओं के आठ भेद सुन्दर ने प्रतिपादित किए हैं—प्रोषितपतिका, खंडिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धा, उत्कंठिता, वासकसज्जा स्वाधीनपतिका और अभिसारिका। इस वर्ग में प्रवत्स्यत्भर्तृका नामक एक नवम भेद भी आपने स्वीकार किया है।[1] ग्रन्थ विस्तार के भय से आपने नायिकाओं के उत्तम-मध्यमादि तथा दिव्यादिव्यादि भेद प्रतिपादित नहीं किए हैं, पर ये भेद आपको विदित हैं।[2] अंगचिन्हों के आधार पर किए गए परम्परागत नायिका-भेदों को भी आपने छोड़ा नहीं है। वे भेद हैं—पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी। फलतः उत्तमादि और दिव्यादि भेदों को छोड़ कर भी आपकी नायिका-भेदों की संख्या कुल मिलाकर ७१२८ तक पहुंच गई है।

नायकों का कोई सामान्य लक्षण कविराज सुन्दर ने नहीं दिया है। उन्हें अनेक भेदों में बांटकर उनके पृथक्-पृथक् लक्षण और उदाहरण दिए गए हैं। ये लक्षण शास्त्र-सम्मत हैं। प्रभाव कहीं दशरूपक का है और कहीं भानुदत्त की रसमंजरी का, तो कहीं विश्वनाथ के साहित्यदर्पण का। नायकों को पहले तीन भेदों में बांटा गया है—पति, उपपति और वैसिक। पुन: पति को नारी-प्रेम के आधार पर अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट और शठ नामक चार भेदों में विभाजित कर दिया है[3]। इन सभी नायक-भेदों को प्रकृति के अनुसार तीन वर्गों में रखा गया है—उत्तम, मध्यम और अधम। इन्हें क्रमश: रूपगर्वमानी और निजगोहि के मानी कहा गया है। फिर इन सबों को वचन-चतुर और क्रिया चतुर नामक दो भेदों में बांट दिया गया है। प्रेषित और अनभिज्ञ नामक नायक-भेदों का भी उल्लेख है।[4] इस प्रकार कुल मिलाकर नायकों के ७२ (६×३×२×२×१×१=७२) भेद हो जाते हैं। नायक के सखा को सुन्दर ने नर्मसचिव कहा है जो नायक को नायिका से मिला देता है तथा इस नर्मसचिव के कार्य-भेद तथा स्वभाव-भेद से चार प्रकार बता दिए हैं—पीठमर्द, विट, चेटक, और विदूषक।[5] इस प्रकार शृंगार के आलम्बनभूत नायिका, नायक और नायक-सखा का सांगोपांग निरूपण तो है पर आलम्बन और उद्दीपन विभाव का शब्दत: उल्लेख भी नहीं है। विचित्रता तो यह है कि शृंगार-रस के लक्षण-प्रसंग में कविराज सुन्दर ने भाव, सात्विक और संचारी की चर्चा तो की है, पर विभाव के सम्बन्ध में आप मौन ही रहे हैं अथवा नायिका-नायकों के विवरण से ही आप संतुष्ट रहे हैं।

---

१. सुन्दर शृङ्गार पृ०-४९। २. वही पृ०-२८। ३. वही, पृ०-६५।
४. वही पृ० ७४, ७५। ५. वही, पृ०-७५।

चिन्तामणि

चिन्तामणि ने काव्य-शास्त्र में उन्हें ही विभाव स्वीकार किया है जिन्हें लोक-जीवन में स्थायी का हेतु (कारण) कहा जाता है। ये विभाव दो प्रकार के हैं—आलम्बन और उद्दीपन।[1] विभाव-लक्षण में चिन्तामणि विद्यानाथकृत प्रतापरुद्र-यशोभूषण से प्रभावित हैं। आलम्बन विभाव के अन्तर्गत आपने नायक-नायिका भेदों का निरूपण किया है। चिन्तामणि ने नायक और नायिका का स्वरूप-निर्देश अत्यन्त संक्षेप में किया है। परम्परागत लक्षणों का, विशेषतः रुद्रट, धनंजय और विश्वनाथ का, आपने पूर्णतः अनुसरण नहीं किया है। आपने नायक को धर्म, धन और विक्रम से पूर्ण माना है तथा नायिका को कला-प्रवीणा, विलासिनी और सुन्दरता की खान कहा है।[2] नायिका का विलासिनी विशेषण स्वकीया के लिए सर्वांशतः उपयुक्त नहीं जंचता है, भले ही अन्य नायिका भेदों के लिए सही हो।

नायक-नायिका-भेद—चिंतामणि ने नायक नायिका के पहले चार भेद किए हैं—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त। यह वर्गीकरण विश्वनाथ और धनंजय के अनुरूप है। धीर-प्रशान्त को छोड़कर अन्य तीन भेदों के लक्षणों पर धनंजय के दशरूपक का प्रभाव स्पष्ट है।[3] नायक के और चार भेदों का उल्लेख आपने किया है—अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट और शठ। इनमें से प्रथम तीन के लक्षणों पर तो साहित्यदर्पण का प्रभाव है, पर शठ नायक का लक्षण दशरूपक के अनुसार किया गया है।[4] नायिका-भेदों में चिंतामणि ने सर्वप्रथम जाति के अनुसार नायिकाओं के तीन भेद किए हैं—दिव्या, अदिव्या, और दिव्यादिव्या। यह वर्गीकरण रसमंजरी में भी नहीं है।[5] भरत के नाट्यशास्त्र में केवल दिव्या का उल्लेख मिलता है। वस्तुतः यह वर्गीकरण वात्स्यायन के कामसूत्र का है तथा उन्हीं का अनुसरण करते हुए भानुदत्त के समकालीन श्रीकृष्ण कवि ने भी अपने ग्रन्थ में इसे स्थान दिया है। तदनन्तर चिन्तामणि ने धर्मानुसार नायिका के तीन भेद किए—स्वकीया, परकीया और सामान्या।[6] पुनः स्वकीया के प्रमुख तीन भेद किए—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा। मुग्धा नायिका के छः प्रकार बताए—अविदित यौवना, अविदितकामा, विदित-काम-यौवना, नवोढा, विश्रब्धनवोढा और कोमलकोपा। तीसरा भेद प्रथम और द्वितीय भेदों का सम्मिश्रित रूप है। धनंजय प्रतिपादित 'कोपमृदुग्धा' को ही चिन्तामणि ने कोमलकोपा कहा है। इसी प्रकार मध्या के भी चिन्तामणि ने ४ भेद

---

१. कविकुलकल्पतरु ५।६८। २. वही, पृ०-२२२।
३. क० कु० त० ५।२।१, वही ५।१।६९। ४. वही ५।३।३, ५७ ९ और दशरूपक २।३-६। तथा वही ५।३।१२, १७ और सा० द० ३।३५-३७ तथा द० रु० २।७। ५. र० मं० पृ० ९३। ६. (क) क० कु० त० ५।७५ (ख)७६, वही ५।१२१ और ५।१५७, १६४ आदि।

गिना दिए हैं—आरूढयोवना, आरूढमदना, चिचित्रसुता और प्रगल्भवचना। प्रौढा के भी ४ भेद प्रतिपादित हैं—यौवनप्रगल्भा, मदनमत्ता, रीतिप्रीतिमती और सुरति-मोदपरवशा। यौवनप्रगल्भा को विश्वनाथ ने गाढतारुण्या और मदनमत्ता को स्मरान्धा कहा है। मध्या और प्रौढा स्वकीया नायिका को मान के आधार पर पुनः तीन वर्गों में विभाजित किया गया है—धीरा, अधीरा और धीराधीरा। रसमंजरी के अनुसार चिन्तामणि ने भी परकीया के दो भेद किए—ऊढा और अनूढा। पुनः ऊढा के छः भेद—सुरतगोपना, चतुरा, कुलटा, लक्षिता, अनुशयाना और मुदिता। इनमें से चतुरा के दो भेद (वचनचतुरा और क्रियाचतुरा) और अनुशयना के तीन भेद (वर्तमान-स्थान विघट्टना, भाविस्थाना, भावशंकिता और संकेत-स्थलगमाऽसमर्था) कर लिए गए हैं। ये सारे भेद ऊढा के ही प्रतिपादित किए हैं, अनूढा परकीया के नहीं। किन्तु ये सारी विशेषताएं अनूढा में भी संभव हैं, अन्यथा उसे परकीया ही क्यों माना जावे। सामान्या का पृथक् उल्लेख तो नहीं है, पर अवस्था के अनुसार प्रतिपादित आठ भेदों के साथ सामान्या को मिलाकर उदाहृत किया गया है। इसमें से स्वाधीनपतिका, खंडिता आदि कई भेदों के साथ सामान्या का मेल नहीं बैठता है। अवस्थानुसार स्वाधीनप्रिया, वासकसज्जा आदि आठ नायकाभेद भी वर्णित हैं। चिन्तामणि ने प्रोषितपतिका के तीन भेद किए है--प्रवत्स्यत्पतिका, प्रवसत्पतिका और प्रोषितपतिका। किन्तु ये तीनों तीन भेद हैं, जैसा रसमंजरी के प्रणेता भानुमिश्र ने भी स्वीकार किया है। अन्ततः, गुण के अनुसार भी चिन्तामणि ने नायिकाओं के तीन भेद किए—उत्तमा, मध्यमा और अधमा। इस प्रकार चिन्तामणि-प्रतिपादित नायिका-भेदों की संख्या विपुल है। प्रायः प्रचलित किसी भी भेद को आपने छोड़ा नहीं है।

उद्दीपन विभाव—संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा के अनुसार मलय-पवन चन्द्र-उद्यानादि तटस्थ उद्दीपकों के अतिरिक्त आलम्बन के रूपयौवनादि गुण, यौवन-संभूत उसकी हावभावादि चेष्टाएं तथा अगंहार-नूपुर कुण्डलादि उसके भूषण भी उद्दीपक माने गए हैं।[1] चिन्तामणि ने तटस्थ उद्दीपन सामग्रियों को तो उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत परिगणित किया है, पर आलम्बन के गुणों, चेष्टाओं और भूषणों को उद्दीपन स्वीकार नहीं किया है। इसके पीछे उनका तर्क यह है कि आलम्बन के गुण और भूषण तो उनसे अपृथक हैं। जहां तक चेष्टाओं का प्रश्न है, वे अनुभावों के अन्तर्गत आयगी। उन्हें उद्दीपन विभाव नहीं मानना चाहिए।[2] चिन्तामणि की इस मान्यता का सबसे बड़ा दोष यह है कि आलम्बन को आपने अखण्ड रूप में देखा है। आलम्बन के अन्तर्गत आश्रयालम्बन और विषयालम्बन दो होते हैं।

---

१. प्रतापरुद्रयशोभूषण, पृ० २२२ और सा० द० ३।१३२।

२. कविकुलकल्पतरु ५ (उत्तरार्ध) ४४-४८।

आश्रयालम्बन की चेष्टायें यदि अनुभाव कोटि में आयेंगी तो विषयालम्बन की चेष्टायें उद्दीपन विभाव के वर्ग में । फिर भी शृङ्गार, वीर और रौद्र रसों में तो दोनों की चेष्टाओं की समानता के कारण निर्धारण कठिन भी है, किन्तु भयानक, करुण आदि रसों में यह भेद सुस्पष्ट है । अतः चिंतामणि का उद्दीपन विभाव-वर्णन एकांगी है ।

तोष

तोष ने उसे विभाव कहा है जिससे रस की दीप्ति उत्पन्न होती है और उस विभाव को आलम्बन तथा उद्दीपन नामक दो भेदों में विभक्त कर दिया है ।[1] आगे आपने पुनः विभाव के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि आलम्बन के बिना तो रस ठहर ही नहीं सकता, अतएव वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है एवं उद्दीपन के रसानुभूति में तीव्रता आती है, अतएव उसका भी महत्त्व कम नहीं है ।[2]

आलम्बन विभाव—आलम्बन विभाव के अन्तर्गत नायिका-नायक भेदों का निरूपण है । नायिका-भेद में आपने सर्वप्रथम स्वकीया, परकीया और गणिका को प्रतिपादित किया है । प्रियतम के सुख-दुःखों को अपना सुख-दुःख मानने वाली स्वकीया, परनायक से प्रेम करने वाली परकीया और धन-दायक के साथ रमण करने वाली गणिका है ।[3] स्वकीया नायिका को मुग्धा, मध्या और प्रौढा नामक भेदों में बांट दिया गया है । वैससन्धि नायिका की भी चर्चा आपने की है ।[4] यह मुग्धा का ही रूपान्तर है, अतएव इसके पृथक् उल्लेख की कोई आवश्यकता नहीं थी । मुग्धा के भेदों में—अज्ञातयौवना, ज्ञातयौवना और नवोढा का उल्लेख है । मध्या के अन्तर्गत विश्रब्धनवोढा और प्रगलभवचना ये दो भेद हैं । प्रौढा के अन्तर्गत दो भेद हैं—आनन्दसम्भोहिता और रतिप्रीता । पुनः मान के आधार पर मध्या और प्रौढा के तीन और भेद किए गए हैं—धीरा, अधीरा और धीराधीरा । स्वकीया के इन सभी भेदों को ज्येष्ठा और कनिष्ठा नामक दो भेदों में वर्गीकृत किया गया है ।

परकीया के प्रथम तो तीन भेद हैं—दृष्टि ज्येष्ठा, असाध्या और साध्या । असाध्या के कई भेद हैं—गुरुजनभीता, दूतीवर्जिता, धर्मसभीता, अनिकांता और खलधिष्ठिता ।[5] इसी प्रकार साध्या के कई भेद किए गए हैं—वृद्धवधू, वालकवधू और ग्रामबधू ।[6] परकीया का विवाह के आधार पर भी वर्गीकरण है—ऊढा और अनूढा । इनके अतिरिक्त परकीया के अन्य भी कई भेद तोष ने बताए हैं जिनमें कुछ तो परम्परागत हैं और कुछ नवोद्भावित—उद्बुद्धा, उद्बोधिता, भूतगुप्ता, भविष्यगुप्ता, वर्तमानगुप्ता, क्रियाविदग्धा, वचनविदग्धा, कुलटा, मुदिता हेतुलक्षिता, सुरतिलक्षिता, अनुसेवा (इसके ३ भेद), कामवती, अनुरागिनी, प्रेमासक्ता, रूपगर्विता

---

१. सुधानिधि पद सं० ९ । २. वही ३२७-३२८ । ३. वही १९ ।
४. वही २२ । ५. वही ८१-८२ । ६. वही ८९ ।

प्रेमगर्विता, गुनगर्विता, मानवती और अन्य सम्भोग दुःखिता। अवस्थानुसार नायिकाओं के अष्टविध भेदों का भी उल्लेख है—स्वाधीनपतिका, खण्डिता आदि । प्रवत्स्तप्रेयसी और आगतपतिक का उल्लेख आपने प्रोषितपतिका के अन्तर्गत ही किया है। मान के आधार पर सभी नायिकाओं के उत्तमा, मध्यमा और अधमा तथा सामुद्रिक लक्षणों के आधार पर[1] पद्मिनी, चित्रणी, शंखिनी और हस्तिनी भेद भी किए गए हैं। इस प्रकार नायिकाओं का बड़ा ही सांगोपांग वर्णन तोष ने किया है। आपके ऊपर दशरूपक, साहित्यदर्पण और कविकुलकल्पतरु (चिन्तामणि) का प्रभाव है।

तोष ने नायक-लक्षण में दशरूपक और साहित्यदर्पण में दिए गए लक्षणों की अपेक्षा कुछ नवीनता लाने का प्रयास किया है।[2] कई नए विशेषण आपने जड़ दिए हैं। नायक-भेदों में सर्व प्रथम आपने पति, उपपति और वैसिक भेद बताए हैं, तदनन्तर पति के अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ठ। पुनः मानी, प्रोषित, वचनचतुर और क्रियाचतुर—ये चार भेद भी नायक के किए गए हैं। तदन्तर स्वभाव के अनुसार उत्तम, मध्यम और अधम भेद भी वर्णित हैं।

उद्दीपन विभाव :—तोष ने उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत सर्वप्रथम सखियों और दूतियों को गिनाया है जिनकी चतुरता नायिका की हृदयगत रति को उद्दीपित करती है।[3] ऐसी दूतियों की संख्या जब गिनाने लगे तो एक लम्बी तालिका आपने प्रस्तुत कर दी। दैनिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से इन दूतियों का चुनाव किया गया है—पड़ोसिनी दूती, जनीदूती, धाई, चितेरी, रंगरेजिन, जड़ियारिन, कमान-शिरिन, चुरिहारिन, कोइरिन, नटिन, तमोलिन, धोबिन, हलुवाइन, नाइनि, गन्धिनि, मालिनि, पटइनि, अतिथिनि, भक्तिनि, कुंदिरिनि, बजाजिनि, जौहरिन, बागमानिनि, गनिका, अहीरिन आदि। वस्तुतः ध्यान से देखने पर इन्हें उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत रखना समीचीन नहीं जंचता। इन्हें नायिका की सहायिक मानना अधिक संगत है, उद्दीपन विभाव नहीं। यदि वचन चातुरी से नायिका-निष्ठ रति को उभारने के कारण इन्हें उद्दीपन माना जाय तो फिर नायक-सखाओं को ही इस वर्ग से क्यों वहिष्कृत किया जाय। इनके अतिरिक्त, समीर, शशि, सुरत-स्वर, सुमन, सुन्दर फल, सुन्दर वस्त्र, चितवन, रसमय-वार्ता आदि को भी उद्दीपन-वर्ग में समाविष्ट किया गया है।[4] वस्तुतः ये ही सच्चे मानी में उद्दीपन हैं। इन्हें परम्परा का समर्थन भी प्राप्त है।

मतिराम

मतिराम ने अपने शृंगार-रस-ग्रन्थ रसराज में केवल शृंगार-रस को ध्यान में रखकर ही विभाव-निरूपण किया है। शृंगार-रस का आलम्बन आपने नायिका

---

१. सुधानिधि ।१९२-१९६ । २. वही । २३६ । ३. वही । २३७ । ४. वही, २९२

और नायक को स्वीकार किया है, अतएव ग्रन्थारम्भ में आपने उनके भेदों का सोदाहरण उल्लेख किया है।[1] मतिराम के अनुसार नायिका वह है जिसे देखते ही चित्त में रस-भाव अर्थात् रति उत्पन्न हो तथा जितना अधिक निकट से उसे देखा जाय, उतना अधिक उसके गुणों का परिचय प्राप्त हो।[2] नायिका-भेदों में कोई नवीनता नहीं है। भानुदत्त की रसमंजरी तथा केशव की रसिकप्रिया के आधार पर मतिराम ने भी नायिका-भेद प्रस्तुत किए हैं। इतना अवश्य है कि उनके उदाहरणों में मतिराम की कवि-प्रतिभा प्रस्फुटित है। इनके भाई चिन्तामणि का आचार्यत्व प्रबल है, कवित्व दुर्बल किन्तु मतिराम का कवित्व अधिक प्रभावोत्पदक है, आचार्यत्व दुर्बल। नायिका के प्रथम तो तीन भेद हैं—स्वकीया, परकीया और गणिका। स्वकीया के पुनः तीन भेद हैं–मुग्धा, मध्या और प्रौढा। मुग्धा के अन्तर्गत ज्ञातयौवना और अज्ञातयौवना तथा ज्ञातयौवना के अन्तर्गत नवोढा और विश्रब्ध-नवोढा का वर्णन किया गया है। मान के आधार पर मध्या और प्रगल्भा के धीरादि तीन भेदों के साथ ज्येष्ठा और कनिष्ठा का निरूपण है। ज्येष्ठा और कनिष्ठा का भेद मतिराम ने विवाह के पौर्वापर्य के आधार पर न मान कर, प्रेम की अधिकता और न्यूनता के आधार पर माना है।[3] परकीया के ऊढा-अनूढा भेदों के अतिरिक्त छः और भेद बताए गए हैं—गुप्ता, विदग्धा (क्रिया-वचन), लक्षिता, कुलटा, मुदिता, अनुशयना पहली, दूसरी और तीसरी)। अवस्थानुसार नायिकाओं के दश भेद प्रोषितपतिका-खण्डितादि तथा प्रकृति के अनुसार उत्तमादि तीन भेद भी वर्णित हैं।[4] इस प्रकार कुल २७० नायिका-भेदों की चर्चा मतिराम ने की है।

तरुन, सुन्दर, सुधर, कवित-गीत-रसलीन और काम-कलाप्रवीन को मतिराम ने नायक कहा है।[5] इसे पहले पति, उपपति और बैसिक—इन तीन भेदों में बांट दिया है। पुनः पति के ४ भेद (अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट और शठ) बताए गए हैं। इनके अतिरिक्त मानी, वचन-चतुर, क्रिया-चतुर और प्रोषित-नायक नामक भेद भी वर्णित हैं।[6]

शृङ्गार के उद्दीपन रूप में मतिराम ने चन्द, कमल, चन्दन, अगर, ऋतु, वन, बाग-बिहार आदि को स्वीकार किया है तथा नायक-नायिका के विरह-खेद को दूर करने वाली सखी और दूतिका को भी उद्दीपन-भेद माना है।[7] इस प्रकार नायक-नायिका भेद तथा उद्दीपन की लम्बी-तालिका देकर भी मतिराम ने विभाव-लक्षण एवं रसानुभूति में उसके महत्त्व का स्पष्टीकरण न किया। पर उदाहरण सभी हृदय-ग्राही हैं।

---

१. रसराज। छन्द सं० ४। २. (क) वही।५।(ख) वही।६ (अन्तिम पंक्ति)
३. रसराज।५५। ४. वही। छन्द सं० ११०, २२८, २३१ और २३४।
५. वही। २३७। ६. वही। छन्द २६२ और २७२। ७. (क) वही।२८४।
(ख) वही।२८७।

कुलपति

कुलपति ने विभाव को भाव के अन्तर्गत माना है।[1] पर यह धारणा भ्रान्तिपूर्ण है। वासनारूप भाव के अन्तर्गत स्थायी भाव और संचारी भावों को रखना तो ठीक है, विभाव और अनुभाव को नहीं। संस्कृत काव्य-शास्त्र की सुचिन्तित परम्परा भी इसका अनुमोदन नहीं करती है। कुलपति की दृष्टि में विभाव वह है, जगत् में जिनके प्रति और जिनमें रत्यादि स्थायी भाव प्रकट होते हैं। इसके दो भेद हैं—आलम्बन और उद्दीपन। स्थायी भावों के आश्रय-स्थान को आलम्बन विभाव कहते हैं तथा जिनके देखने से सुधि आती है, वे उद्दीपन विभाव हैं। रत्यादि स्थायी भावों के आलम्बन नवल नारी और कान्त अर्थात् नायिका और नायक हैं तथा वन, घन, शरद्, वसन्त आदि उद्दीपन विभाव हैं।[2] कुलपति के उक्त विभाव-लक्षण पर केशव की रसिकप्रिया का तथा आलम्बन के लक्षण पर साहित्य-दर्पण का प्रभाव स्पष्ट है[3]। कुलपति निर्मित उद्दीपन विभाव का लक्षण युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि उद्दीपन का कार्य स्थायी भावों को उद्दीपित करना है[4], उनकी सुधि दिलाना नहीं।

कुलपति के रस-रहस्य का आधार मम्मट का काव्य-प्रकाश है, इसे आपने स्वयं स्वीकार किया है[5]। अतएव आपने मम्मट के अनुसार ध्वनि के अन्तर्गत रस-निरूपण करते हुए विभावादि रसोपकरणों के लक्षण-उदाहरण तो रचे किन्तु नायिका-नायक भेदों का उल्लेख नहीं किया। यद्यपि विश्वनाथ प्रणीत साहित्यदर्पण के लक्षणों से यत्र-तत्र आप प्रभावित हैं, तथापि विषय-निरूपण की परिपाटी सर्वथा मम्मटीय ही आपने अपनाई है। यही कारण है कि रसरहस्य में विभावान्तर्गत नायिका और नायक के भेदों का यत्किंचित निरूपण भी नहीं पाया जाता है।

जहां तक कुलपति के आचार्यत्व का प्रश्न है, आपमें सैद्धान्तिक मौलिकता भले ही न पाई जाय, किन्तु काव्यशास्त्रीय विषयों का भाषा में सांगोपांग निरूपण कर देने के कारण हिन्दी काव्यशास्त्र के इतिहास में आपका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

देव

देव ने विभाव के लक्षण भाव-विलास और काव्य-रसायन में ही दिए हैं। यों आलम्बन विभाव (नायक-नायिका) का विवरण आपने अपने प्रत्येक रीतिग्रन्थ में (सुखसागरतरंग, भवानीविलास, कुशल-विलास, रस-विलास, प्रेमतरंग, सुजान

---

१. रस-रहस्य। ३।१० तथा वृत्ति। २. (क) वही, ३।११। (ख) वही ३।१४।१५
३. (क) रसिकप्रिया। ६।३। (ख) सा० द०। ३।२९। ४. वही, ३।१३१
५. रसरहस्य। ८।३१।

विनोद आदि) प्रस्तुत किया है। एक ही विषय को प्रकारान्तर से विभिन्न ग्रन्थों में निरूपित किया गया है।

विभाव को देव ने केशव और कुलपति की तरह भाव स्वीकार किया है[1]। किन्तु इस भ्रान्त धारणा का निराकरण केशव और कुलपति के प्रसंग में किया जा चुका है। देव के अनुसार विभाव वह (भाव) है जो विशेषतः रस को उत्पन्न करे। यह विभाव द्विविध है—आलम्बन और उद्दीपन। जिसका आलम्बन कर रस उत्पन्न होता है, वह आलम्बन विभाव है तथा जो दीप की तरह रस को जगाता है (दीपित करता है), वह उद्दीपन विभाव है[2]। विभाव से रसोत्पत्ति की चर्चा आपने काव्य-रसायन में भी की है। नायिकादि को आलम्बन तथा उपवन, सुरभि आदि को उद्दीपन आपने माना है[3]। शृङ्गार के उद्दीपन रूप में गीत, नृत्य, उपवन-गमन, आभूषण, वन-केलि, विधु, वसन्त, वन और वेलि आदि को आपने गिनाया है। फिर भी देव ने मुक्त कंठ से स्वीकार किया है कि विभाव के (उद्दीपन विभाव के) और भी भेद हो सकते हैं तथा अन्य कवियों ने वैसे अन्य भेद किए भी हैं।[4] स्पष्ट है कि देव द्वारा प्रस्तुत विभाव-तालिका एक दिशा निर्देशमात्र है।

नायक-नायिका :—आलम्बन विभाव के अन्तर्गत देव ने परम्परानुसार नायक और नायिकाओं का निरूपण किया है। नायिका-भेद की आधारभूत सामग्री का अत्यन्त संक्षिप्त प्रतिपादन सुखसागरतरंग में देव ने किया है। वस्तुतः इसी का पल्लवन आपने अन्य ग्रन्थों में विशद-रूप से किया है। आपने नायिका को अष्टांग-वती कहा है। अष्टांग हैं—रूप, गुण, यौवन, शील, कुल, प्रेम, विभव और भूषण। स्वकीया नायिका इन आठो अंगों से युक्त होती है, परकीया कुल-हीना होने के कारण सात अंगों से युक्त होती है तथा सामान्या कुल, शील, प्रेम और विभव से विहीन किन्तु अन्य चार अंगों से संयुक्त होती है। नायिका-भेद के आधार दश हैं—वंश, अंश जाति, कर्म, वपु, काल, देश, गुण, सत्व और प्रसूति (इन्हीं आधारों को लेकर देव ने नायिकाओं को ३८४ भेदों तक पहुंचा दिया है)। नायक के पहले तो पति, उपपति और विसनी (वैशिक), फिर पति नायक के अनुकूल, दक्ष, शठ और धृष्ट भेद होते हैं[5]। भाव विलास नामक ग्रन्थ में देव ने नायक के तो केवल ४ भेद बताए हैं—अनुकूल, दक्षिण आदि किन्तु नायिका के ३८४ भेद प्रतिपादित कर दिए हैं। इन भेदों में स्वीया के १३ (मुग्धा मध्या आदि), परकीया के २ (ऊढा, अनूढा), वेश्या का १ मिलाकर १६ भेद हुए हैं। इन १६ भेदों के अवस्थानुसार आठ-आठ भेद बताकर (प्रोषितपतिका, विप्रलब्धा आदि) १२८ भेद किए गए।

---

१. भाव विलास। विलास १. पृ० ५। २. वही। १, पृ० ८।
३. शब्द-रसायन। प्रकाश-३, पृ० ३४।
४. (क) भावविलास। विलास १, पृ० ९ (ख) वही विलास १, पृ०-१३।
५. सुखसागरतरंग। ३९, पृ० १३।

पुनः प्रकृत्यनुसार इन सबों के उत्तमा, मध्यमा और अधमा नामक तीन भेद बताकर कुल ३८४ भेद दिखाए गए हैं[1]। रस-विलास में देव ने स्पष्टतः स्वीकार किया है कि कामिनी वस्तुतः एक प्रकार की ही होती है, उसमें सौन्दर्य और कुरूपता का प्रश्न ही नहीं उठता है। भेद तो केवल कहने-सुनने को किए गए हैं। फिर भी कवि-परम्परा का अनुसरण करते हुए देव ने जाति, कर्म, गुण, देश, काल, वय, प्रकृति और सत्व—इन आठ आधारों पर नायिकाओं के असंख्य भेद निर्दिष्ट किए हैं[3]। जाति के आधार पर पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी, और हस्तिनी (४ भेद); कर्म के आधार पर स्वकीया, परकीया और सामान्या; गुण के आधार पर उत्तमा, मध्यमा और अधमा; देशभेद के आधार पर मध्यदेशवधू, मगधदेशवधू, कौशलवधू, पाटल-वधू, उत्कलवधू, कलिंगवधू, कामरूपवधू, वंगवधू, विंधवनवधू मालववधू, विराटवधू, आभीरवधू, कुंकलवधू, करैलवधू आदि २६ भेद; वयःक्रम के आधार पर मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा; अवस्था के आधार पर स्वाधीन-पतिका-कलहान्तरिता आदि १० भेद; प्रकृति के आधार पर कफ-प्रकृति, पित्त-प्रकृति और वात-प्रकृति तथा सत्त्व के आधार पर देवसत्व, मानुषसत्व, गन्धर्वसत्व, यक्षसत्व, पिशाचसत्व, नागसत्व, खरसत्व, कपिसत्व और काकसत्व नायिकाओं के भेद सोदाहरण प्रतिपादित किए गए हैं। इनके अतिरिक्त नागरी और ग्राम्या नायिकाओं के भेद भी प्रतिपादि किए गए हैं। नागरी के अन्तर्गत जौहरनि, पटवनि, सुनारी, गन्धिनि, तेलिनि, तमोरिन, हलवाइनि, मोदिनी, दरजिनि, गनिका आदि का उल्लेख है। ग्राम्या नायिका के प्रथम तो ३ भेद हैं—पुरवासिनी, ग्रामिनी और वनवासिनी। पुनः पुरवासिनी के अन्तर्गत ब्राह्मणी, रजपुतानी, खतरानी वैश्यानी आदि का; ग्रामिनी के अन्तर्गत अहीरनी, काछिनी, कलारी, कहारी आदि का तथा वनवासिनी के अन्तर्गत मुनिवधू व्याधवधू और भीलनी का गर्णन है। नगर से तात्पर्य राजनगर का तथा पुर से तात्पर्य छोटे नगर का देव ने स्वीकार किया है।[4] इतना ही नहीं, कटक-वासिनी सैन्या नायिका और पथिकवधू को भी आपने नहीं छोड़ा है। इस प्रकार विभिन्न आधारों पर नायिकाओं के असंख्य भेद देव ने रसविलास में प्रतिपादित किए हैं। पर इनमें से अधिकांश भेद निरर्थक हैं। देश के आधार पर भेद करना हो तो भारतेतर देशों को तथा जाति के आधार पर मुसलमान, क्रिश्चियन आदि जातियों को भी ध्यान में रखना होगा। परिणामतः नायिका-भेद का कहीं अन्त नहीं होगा।

कुमारमणिभट्ट

"जो रागादिगत स्थायी भावों को सामाजिकों के हृदय में विशेषतः

१. (क) भावविलास। विलास ४, पृ० ९८।
२. रसवि०।विलास ४। पद १-२ और ३-४। —(ख) वही वि० ४, १३२।१३३।
३. रसविलास। विलास ५।२।३। ४. (क) रसविलास। १।५४। (ख) वही, ३।२

भावित करे, । वही विभाव है । जिसका आलम्बन ग्रहण कर रस निष्पन्न होता है, वह आलम्बन विभाव है तथा जो रस को उद्दीपित करता है, वह उद्दीपित विभाव है । शृङ्गार-रस के आलम्बन तो नायक और नायिका हैं किन्तु अन्य रसों के भी यथायोग्य आलम्बनों की योजना कर लेनी चाहिए"[1] । कुमारमणि के विभाव-निरूपण की विशेषता यह है कि उन्होंने रस-सामान्य को ध्यान में रखकर विभावों का उल्लेख किया है । हिन्दी के अन्य आचार्यों ने केवल नायक-नायिकाओं का उल्लेख करके ही विभाव-निरूपण से छुट्टी ले ली है । शृङ्गारेतर-रसों के विभावों के ऊपर उनकी दृष्टि नहीं गई है ।

आलम्बन-विभाव:—इसके अन्तर्गत कुमारमणि ने भी नायक-नायिकाओं का वर्णन किया है । नायक भेदों में प्रथम तो आपने गुणों के अनुसार चार भेद बताए हैं—धीरशान्त, धीरोद्धत्त, धीरललित और धीरोदात्त । फिर इनमें से प्रत्येक के दक्षिण, अनुकूल, शठ और ढीठ—ये चार भेद स्वीकार किए हैं । शठ-नायक के प्रच्छन्न और प्रकाश नामक दो नए भेदों की भी कल्पना आपने की है[2] । पति, उपपति, वैसिक और मानी तथा उत्तम, मध्यम और अधम नामक परम्परागत भेदों का आपने उल्लेख भर कर दिया है, इनके उदाहरण नहीं दिए हैं । फलतः यह प्रमाणित होता है कि आपकी दृष्टि में ये भेद अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है । पति के क्रिया-चतुर और वचन चतुर नामक भेदों का भी उल्लेख है । साहित्यदर्पण, काव्यप्रकाश और रसमंजरी के आधार पर आपने नायिका-भेदों का विवरण दिया है । फिर भी वर्गीकरण में कहीं-कहीं आपने निरर्थक नवीनता भी प्रदर्शित की है । उदाहरण-स्वरूप मुग्धा के ७ उपभेद (नवमदना, नवयौवना, लज्जावती भूषण रुचि, रतिवामा, वयः सन्धि और विश्रब्ध-नवोढा (द्र० रसिकरसाल । ५।४१-५४), मध्या के ५ उपभेद (उन्नतयौवना, उन्नतकामा, वक्रवचना, लघुलज्जा, रतिविचित्रता (द्र० र० र० ।५।५५-६०), प्रौढा के ५ भेद (अधिककामा, सकलतारुण्या, रतिमोहिनी, विविधभावा, लघुलज्जा- (द्र० र० र० ।५।६१-६६) तथा अभिसारिका के ५ उपभेद (ज्योत्स्नाभिसारिका, कृष्णाभिसारिका, वर्षाभिसारिका, व्याजाभिसारिका, और नवोढाभिसारिका (द्र० र० र० । ५।१४६-१५४) देखे जा सकते हैं ।

उद्दीपन विभाव:—सहृदयों के हृदयगत स्थायी भावों को उद्दीपित कर रस-रूपता को पहुंचाने वाले विभाव ही उद्दीपन विभाव हैं । ऋतु सुगन्धादि अनेक पदार्थ शृङ्गार रस के उद्दीपन हैं[3] । अन्य रसों के भी पृथक्-पृथक् उद्दीपन है[4] । शृङ्गार-रस के प्रसंग में कुमारमणि ने जगन्नाथ और चिन्तामणि की तरह यह स्वीकार किया है कि नायक-नायिकाओं के अनुभाव परस्पर एक दूसरे के लिए उद्दीपक होते हैं[5] ।

---

१. रसिकरसाल । ५।१-३ । २. वही । ५।२१ । ३. वही । ५।२१२-२१४ ।
४. रसिकरसाल । ५।२१९-२२४ । ५. वही । ५।२१६ ।

सोमनाथ

सोमनाथ ने भी कुलपति की तरह विभाव को शरीर भाव मान लिया है[1]। किन्तु भावरूप मानसिक व्यापार के अन्तर्गत बाह्य पदार्थ रूप विभाव के समावेश के अनौचित्य पर पीछे पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। तथापि सोमनाथ के विभाव-लक्षण में इतनी व्यापकता अवश्य है कि वह आश्रय एवं विषय दोनों का सन्निवेश कर लेता है। आपने उन दोनों को विभाव स्वीकार किया है जिसके हृदय में तथा जिसके प्रति स्थायी भावों की उत्पत्ति होती है[2]। इस लक्षण से आश्रयालम्बन और विषयालंबन दोनों पर प्रकाश पड़ता है। फिर भी उद्दीपन विभाव का कार्य-क्षेत्र भिन्न रहने के कारण पृथक् लक्षण गढ़ना पड़ा है। जिसके द्वारा स्थायी भाव चमक उठता है (दीपित), वह उद्दीपन विभाव है[3]। शृङ्गार-रस के आलम्बन विभाव नायक और नायिका हैं तथा उद्दीपन विभाव तरुवर, सरोवर, तडित्, घन, शशि वसन्त आदि[4]।

नायक-नायिका-भेदः—सोमनाथ ने आलम्बन-विभाव के अन्तर्गत नायक और नायिकाओं के सोदाहरण लक्षण और भेद बताए हैं। इनके इस निरूपण की मूलाधार भानुदत्त प्रणीत रसमंजरी है। कहीं-कहीं कामशास्त्र को भी आपने आधार बनाया है। आपने धर्म, अवस्था, गुण और नायकापराध-जन्य प्रतिक्रिया के आधार पर रसमंजरी की भांति नायिकाओं को विभक्त किया है। पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी इन चार कामशास्त्रीय नायिका-भेदों तथा दिव्यादि तीन जातिमूलक नायिका-भेदों को रसमंजरीकार ने लिखा है, किन्तु सोमनाथ ने इन्हें भी स्थान दिया है। नायक-भेद भी सोमनाथ ने भानुदत्त के उपकरण में ही वर्णित किये हैं। पति आदि तीन भेद; अनुकूल आदि चार भेद; उत्तम आदि तीन भेद; मानी, अनभिज्ञ और प्रोषित ये तीन भेद यथावत् रसमंजरी से ही लिए गए हैं। केवल मानी नायक का रूपगर्वी भेद सोमनाथ का अपना है। वस्तुतः उदाहरणों में ही सोमनाथ की मौलिकता है।

भिखारी दास

इस अध्याय के प्रथम खंड में हम चर्चा कर चुके हैं कि दास ने रससारांश, शृङ्गार-निर्णय और काव्य-निर्णय नामक ग्रन्थों में रसों की विस्तार-पूर्वक वर्णना की है। प्रथम दो ग्रन्थ तो विशुद्ध रस-निरूपक ग्रन्थ ही हैं और अन्तिम अनेकांग निरूपक होने पर भी रस-प्रसंग को समाविष्ट किए हुए है। दास ने मम्मट की तरह

---

१. रसपीयूषनिधि। १।११-१२ और शृंगार-विलास। १।६-७।
२. (क) वही। १।१३। (ख) शृंगारविलास। १।८। तुलनार्थ-सा० द०। ३।२८
३. शृंगारविलास। १।१०। ४. शृंगार विलास। १।११-१३ और रसपीयूषनिधि —७।१५

विभाव को कारण माना है[1]। आपकी दृष्टि में विभाव वह है जिससे रस की उत्पत्ति होती है तथा उस विभाव के दो भेद हैं–आलम्बन और उद्दीपन[2]। स्पष्ट है कि दास ने विषयालम्बन मात्र को विभाव-लक्षण में समाविष्ट किया है, आश्रयालम्बन की ओर आपने ध्यान नहीं दिया है। मुख्यतः आपने शृङ्गार-रस का विवेचन शृङ्गार-निर्णय में किया है, अतएव नायक और नायिका को उसका आलम्बन बताया तथा सखी, दूती, सुखकर समय और सुख-साज को उसका उद्दीपन[3]। अन्य रसों के सम्बन्ध में आपकी निश्चित धारणा है कि उनका नियमन नहीं किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, सिंह को लीजिए। वह भयानक रस का विभाव कहा जा सकता है, किन्तु साथ ही वही सिंह रौद्र और वीर रस का भी प्रसंगवश विभाव हो सकता है। ऐसी स्थिति में शृंगारेतर रसों का विभाव-नियमन नितान्त कठिन है[4]।

नायक-नायिका-भेदः—दास के नायक-नायिका-भेद निरूपण का प्रमुख आधार-ग्रन्थ भानुमिश्र प्रणीत रसमंजरी है, पर कहीं-कहीं आपने अपने पूर्ववर्ती हिन्दी के रीतिग्रन्थों से भी सहायता ली है। इनमें प्रमुख हैं—तोष, कुमारमणि तथा देव के रीतिग्रन्थ। जहां तक नायक-भेदों का प्रश्न हैं, दास ने शृंगार-निर्णय में केवल पति और उपपति-दो भेद किए हैं, किन्तु रस सारांश में परम्परागत वैशिक-नामक तृतीय भेद का भी उल्लेख किया है। पति और उपपति इन दोनों के अनुकूलादि चार भेद बता दिए हैं, यद्यपि रसमंजरीकार ने केवल पति के ही चार भेद किए थे। दास के इस वर्गीकरण का आधार सर्वथा मनोवैज्ञानिक है और आप मानव-प्रकृति की एकता के समर्थक हैं। भानुदत्त-प्रतिपादित मानी, चतुर (वचन चतुर, क्रियाचतुर) और प्रोषित नायकों की भी आपने चर्चा की है, पर प्रथम दो का समावेश "शठ" के अभ्यन्तर नहीं किया है। भानुदत्त की तरह आपने भी नायिका के सम्बन्ध में किए उपकार और अपकार के आधार पर नायक के पुनः तीन भेद किए हैं–उत्तम, मध्यम और अधम[5]।

दास-कृत नायिका-भेद भी मुख्यतः वे ही हैं जो भानुमिश्र की रसमंजरी में प्रतिपादित किए गए हैं। यहाँ हम केवल उन्हीं भेदों का उल्लेख कर सन्तुष्ट हो जाना चाहते हैं जहाँ दास के ग्रन्थों में नवीनता पाई गई है। यद्यपि ये नवीन भेद भी इनके निजी नहीं हैं तथा वे हिन्दी के उपर्यंकित आचार्यों से गृहीत किए गए हैं, तथापि रसमंजरी से भिन्नता होने के कारण उनका उल्लेख आवश्यक है। ये नवीन भेद इस प्रकार हैं—

(क) लक्षिता परकीया के दो भेद–सुरतिलक्षिता और हेतुलक्षिता[6];

---

१. काव्यनिर्णय । ४।८-९ । तुलनार्थ-काव्यप्रकाश । ४।२७-२८ । २. रससारांश १०
३. (क) शृंगार-निर्णय । ६-७ । (ख) काव्य निर्णय । ४।१० । ४. वही, ४।११-१२
५. रससारांश ।१८६ तथा रसमंजरी पृष्ठ १८० । ६. वही ।९१-९२ ।

(ख) परकीया के कामवती, अनुरागिनी और प्रेमासक्ता ये तीन भेद तथा उद्बुद्धा और उद्बोधिता ये दो भेद। पुनः परकीया के तीन भेद—असाध्या, दुःख-साध्या और साध्या तथा असाध्या के गुरुजनभीता, दूतीवर्जिता, धर्मसभीता, अतिकान्त्या और खलवेष्टिता ये पाँच भेद।[1]

(ग) प्रोषितपतिका, के प्रोषितपतिका, आगतपतिका, आगच्छत्पतिका और प्रवत्स्यत्प्रेयसी ये चार भेद,

(घ) खण्डिता के मानवती आदि चार भेद,

(ङ) कामशास्त्रीय पद्मिनी आदि चार भेद,

(च) दूतियों के भेदों में भी भानुदत्त से पार्थक्य है। प्रथम तो स्वयंदूती और बानदूती (हिता, अहिता और (हिताहिता) तथा नाइन, नटी, सोनारिनि, परोसिन, चुरिहारिन, पटिइनि आदि जाति की दूतियां। दास के इन नायिका-भेदों के आधार तोष, देव, कुमारमणिभट्ट आदि के रीतिग्रंथ हैं फिर भी इनमें से कतिपय भेद तो स्वीकार्य हैं और कतिपय अस्वीकार्य भी।

रसलीन

रसलीन ने विभाव को स्थायी भाव का कारण कहा है। आलम्बन और उद्दीपन रूप द्विविध विभाव में आलम्बन वह है जिसका अवलम्ब ग्रहण कर स्थायी उत्पन्न (अंकुरित) होता है तथा उद्दीपन वह है जिससे वह (स्थायी भाव) अधिक अर्थात् उचित होता है।[2] विशेषतः शृंगार का स्थायी भाव रति है और उसके कारणभूत आलम्बन और उद्दीपन विभावों में नायक और नायिका तो आलम्बन हैं तथा सखी, दूती, ऋतु आदि उद्दीपन हैं।[3] रसलीन का उपर्युक्त विभाव-विवेचन सर्वथा परम्परा-सम्मत है।

नायक के प्रथम तो रसलीन ने तीन भेद किए—पति, उपपति और बैसिक। पुनः पति के अनुकूलादि चार भेद, उपपति के गूढ़ लक्षण, मूढ़लक्षण और आरूढ़ लक्षण ये तीन भेद और बैसिक के अनुरक्त और मत्त (काममत्त, सुरामत्त, सुरामत्त और धनमत्त) ये दो भेद किए गए हैं। उपर्युक्त नौ भेदों को उत्तमादि तीन वर्गों में विभक्त किया गया है। मानी (रूपमानी, गुनमानी) चतुर, (वचन चतुर, स्वयंदूत, क्रियाचतुर), प्रोषित और अनभिज्ञ नायकों का भी उल्लेख है। रसाधार पर धीर-ललितादि चार भेद तथा लोकाधार पर दिव्यादि तीन भेदों का उल्लेख है। परिणामतः कुल मिलाकर २२४ नायक भेदों की गणना रसलीन ने अपने ग्रन्थ में करायी है।[4]

---

१. रस सारांश।१०१, ७५ और ६१-७१। २. रस प्रबोध २७-२८।
३. वही ४९-५१। ४. वही ५६२-५६५।

रसलीन द्वारा किए गए नायिका-भेदों पर मुख्यतः भिखारीदास के ग्रंथों का प्रभाव है। लगभग वे ही वर्गीकरण हैं जो दास के श्रृंगार निर्णय, काव्यनिर्णय और रससारांश में प्रतिपादित किए गए हैं। कहीं कहीं थोड़ा सा अन्तर भी है। दास ने परकीया के तीन भेद किए साध्या, असाध्या और सुखसाध्या। असाध्या के ५ भेद रसलीन ने भी बताए है किन्तु अन्तिम भेद का नाम जहाँ दास ने खलवेष्टिता दिया है, वहाँ रसलीन ने अखपृष्ठ असाध्या नाम दिया। सुखसाध्या के भी रसलीन ने अनेक भेद कर दिखाए हैं—बृद्धवधू सुखसाध्या, बालवधू, नपुसंक बधू, विधवा वधू, गुनी वधू, गुनरिझवती, सेवक वधू, निरंकुशा, परासक्त पुरुष की स्त्री तथा रोगी की स्त्री। ऊढा और अनूढा के और भी तीन नए भेद बताए गए हैं—अद्भुता स्वयं दूतिका और उद्भूदिता अवस्था भेद से नायिकाओं के जो षडविध भेद बताए गए हैं, उनमें सुरतिगोपना के वर्तमान सुरतिगोपना, प्रत्यक्षमान सुरतिगोपना और भुविभरत सुरतिगोपना तथा अनुसैना के स्थानविघट्टना, भावि-स्थान-साचना, स्वैवधिष्ठित-संकेत-स्थल-रचना, अस्थानाधिष्ठित संकेत वर्णा और वनगमननष्टमाना अनुसयाना आदि भेद दास की अपेक्षा रसलीन ने नए कल्पित किए हैं। इसी प्रकार सामान्या के ४ भेद भी सर्वथा नवीन हैं—स्वतन्त्र सामान्या, जननी अधीना, नेमता अधीना और प्रेम:दुखिता।[1] प्रोषितपतिका के रसलीन ने भी पांच भेद किए हैं—गमिष्यत्पतिका, गच्छत्पतिका, आगमिष्यत्पतिका और आगत-पतिका। 'अन्य सारे नायिका-भेद वे ही हैं जिन्हें दास ने उल्लिखित किए हैं। फलत: रसलीन के रस-प्रबोध के आधार ग्रन्थों में भानुदत्त की रसमंजरी, तोष की सुधानिधि, कुमारमणि-भट्ट का रसिक-रसाल, देव के भवानीविलास-भावविलासादि तथा दास के रससारांश आदि की गणना करनी चाहिए। स्वयं रसलीन ने किसी ग्रन्थ-विशेष के आधार होने का उल्लेख नहीं किया है।[2]

रूपसाहि

रूपसाहि ने अपने रूपविलास नामक ग्रन्थ में विभाव, अनुभाव आदि के पृथक् लक्षण एवं उदाहरण नहीं दिए हैं। प्रत्येक रस के निरूपण क्रम में उस रस के विभावादि का उल्लेख कर दिया है। यों रूपविलास के ५ से ९ विलास तक मात्र नायक-नायिका-भेदों का ही सविस्तार वर्णन है, फिर भी वे आलम्बन विभाव हैं किम्बा रसों के साथ उनका कौन सा सम्बन्ध है आदि बातों का उल्लेख आपने नहीं किया है। इसी प्रकार ग्रन्थ के अन्त में आपने ऋतुवर्णन प्रस्तुत किया है जिसे उद्दीपन विभावान्तर्गत परिगणित किया जा सकता है, फिर भी स्वयं रूपसाहि ने इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। कहने का तात्पर्य यह कि रूपसाहि के ग्रन्थ में विभाव का निरूपण व्यवस्थित ढंग से नहीं हुआ है। विभिन्न रसों के निरूपण-क्रम में क्रमश:

---

१. रसप्रबोध २९३–२९८। २. वही ७।

आपने शृंगार का ललना आदि, हास्य का वैरूप्य मुख, करुण का इष्ट वियोग, रौद्र का रिसमयवपु (यद्यपि विभाव शब्द का स्पष्ट उल्लेख रौद्र-रस में नहीं है), वीर रस का वीर पुरुष, भयानक का व्याघ्र आदि, बीभत्स का निंद्य पदार्थ आदि तथा अद्भुत का नटमाया आदि विभाव प्रतिपादित किए हैं।

नायक नायिका भेद रूपसाहि ने नायक को कवितगीत-रसलीन, सुन्दर, प्रवीण, मदनमीत, सुवचन, धनी, कुलीन और तरुण कहा है।[1] पहले तो आपने नायकों के तीन भेद किए हैं, पति, उपपति और बेसिक। पुनः पति और उपपति के चार-चार भेद कर लिए गए हैं, अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट और शठ। इनमें से शठ नायक के दो भेद हैं, मानी और चतुर (वचन चतुर एवं क्रिया चतुर)। वैसिक के आपने तीन भेद किए हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। गणिका को कोपवती देखकर जो सविनय व्यवहार करे वह उत्तम, कोपवती गणिका पर जो क्रोध पूर्वक जतावे वह मध्यम तथा जो कर्त्तव्याकर्त्तव्य-विचार-शून्य हो वह वैसिक नायक है।[2] ये भेद और लक्षण सर्वथा नवीन तो नहीं हैं (रसमंजरी में इनका उल्लेख होने के कारण) फिर भी रूपसाहि ने इनमें यथासंभव नवीनता लाने का प्रयास किया है।

जिसके दर्शन से हृदय में रतिभाव उत्पन्न हो, वही नायिका है।[3] नायिका भेदों के आधार आपने, जाति, वयस, स्वभाव और समय को बनाया है।[4] भेद सारे परम्परागत ही हैं तथा भानुदत्त की रसमंजरी से सर्वथा प्रभावित हैं।

उदयनाथ

आचार्य उदयनाथ ने रसचन्द्रोदय अथवा विनोदचन्द्रोदय नामक ग्रंथ लिखा था। इसका द्वितीय प्रकाशन शिवनाथ के रसवृष्टि नामक ग्रंथ के साथ नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से १८८२ ई० में हुआ था। इसका रचना-काल स्वयं ग्रंथकर्ता ने वि० संवत् १८०१ निर्दिष्ट किया है।[5] ग्रन्थ के आवरण पृष्ठ तथा आभ्यन्तर पृष्ठों पर तो रसचन्द्रोदय लिखा है किन्तु प्रकाशों (ग्रन्थ ३ प्रकाशों में विभक्त है) की पुष्पिकाओं में विनोदचन्द्रोदय लिखा हुआ है।[6]

यह विशुद्ध नायिका-भेद-ग्रंथ है। अतएव रसोपकरणों का पृथक उल्लेख नहीं है। स्वभावतः विभाव की भी इसमें चर्चा नहीं आई है। फिर भी नायिका-भेदों का समावेश आलम्बन विभाव के अन्तर्गत परम्परागत रूप में होता रहा है, अतएव इस ग्रन्थ की चर्चा इस अध्ययन खन्ड में वांछित है। नायक-भेदों का उल्लेख इसमें नहीं किया गया है। नायिका-भेदों के आधार भी परम्परागत ही हैं। कोई नवीन

---

१. रूपविलास। ५।१। २. वही। ५।३८, ४० और ४२। तुलनार्थ—रसमंजरी। पृष्ठ १८०—१८२। ३. रूपविलास। ६।७। ४. वही ६।४। ५. रसचन्द्रोदय। पृष्ठ ३८। ६. वही। पृ० ११।

वर्गीकरण नहीं है। अवस्था भेद से नायिकाओं के जो आठ भेद किए गए हैं उनमें से प्रत्येक की योजना मुग्धा, मध्या और प्रौढा नामक स्वकीया के साथ तथा परकीया और सामान्या के साथ की गई है। फलतः अवस्थामूलक प्रत्येक प्रोषितपतिका, खंडिता, कलहान्तरिता आदि भेद के पाँच-पाँच भेद हो गए हैं। यह वर्गीकरण भी कोई नया नहीं है, हिन्दी-रीति-काव्य में इसकी अवतारणा पहले ही हो चुकी थी।

जनराज

जनराज ने विभाव को भावों की तालिका में डाल दिया है, यद्यपि आपने भाव उन्हें कहा है जो चित्त में सर्वप्रथम उत्पन्न होते हैं तथा सदा साथ रहते हैं, तथापि इनके भेदों में विभाव, अनुभाव, संचारी, स्थायी भाव, और सात्विक भाव इन पाँचों को गिना दिया है।[1] पता नहीं, इस प्रकार का भ्रम आप ने क्यों किया। भाव-लक्षण को स्पष्टतः प्रतिपादित करके भी इसके भेदों में आप गड़बड़ा गये हैं।

विभाव का लक्षण गढ़ते हुए जनराज का कहना है कि जो संसार में जिसे स्थिरता प्रदान करे वही उसका विभाव है।[2] कहने का तात्पर्य यह है कि आलम्बन और उद्दीपन रूप विभाव के आधार पर ही रस टिक पाता है, अतएव वे विभाव कहलाने के अधिकारी हैं। इस विभाव के दो भेद हैं, आलम्बन और उद्दीपन। आलम्बन से रस जगता (उत्पन्न होता) है तथा उद्दीपन उसे और अधिक (दीपित कर) सरसता प्रदान करता है, ऐसा ही वर्णन सभी कवियों ने किया है। शृंगार रस के आलम्बन तो नवल नारि और नायक हैं तथा उद्दीपन हैं धन, वन, शरद्, चंद्र, कमल आदि।[3]

नायक को जनराज ने गुनगंभीर, उदार, केलिकला-रसलीन, रूप माधुरी कलितमद तथा प्रवीन कहा है।[4] नायक के इस लक्षण पर अंशतः विश्वनाथ का प्रभाव है और अंशतः भानुमिश्र का। नायक भेदों में पति, उपपति और बैसिक तथा अनुकूलादि चार, पुनः सबों के उत्तमादि तीन भेद किए गए हैं। मानी और प्रोषित नायक का भी उल्लेख है। नायिका भेदों में कोई नवीनता नहीं है। जाति, स्वभाव, अवस्था, वयस आदि विभिन्न आधारों पर किए गए परम्परागत भेदों को ही जनराज ने भी दुहराया है। लक्षणों पर विश्वनाथ का प्रभाव नितांत स्पष्ट है। उदाहरणार्थ दोनों के स्वकीया लक्षणों की तुलना कर देखने से विषय नितान्त स्पष्ट हो जाता है।[5]

---

१. कविता रसविनोद (ह० लि०—या० सं०) १०।३। २. वही १०।७।
३. वही १०।८—९। ४. वही ११।१२। ५. वही १२।१८। तथा सा० द० ३।५७

उजियारे कवि

उजियारे की रसचन्द्रिका एक विशुद्ध रस-ग्रंथ है। इसकी जीर्ण-शीर्ण हस्त-लिखित प्रति याज्ञिक संग्रहआलय (ना० प्र० सभा) में देखने को मिली। दुरवस्था के कारण ग्रंथ के कई पन्ने पढ़े भी नहीं गए। १५ प्रकाश तो इसमें मैंने देखे, शेष फटे थे। पृथक्-पृथक् प्रकाश में अलग-अलग रस का विवेचन है। रीतिकाल में सभी रसों का इतना सन्तुलित विवेचन प्रायः किसी ग्रन्थ में नहीं है। श्रंगार और नायिका-भेद मात्र को लेकर ग्रन्थ के कलेवर को विशाल बना देने की प्रवृत्ति इस ग्रन्थ में नहीं है। प्रश्नोत्तर के माध्यम से विवेचना तो पहली बार इस रीतिग्रन्थ में मैंने देखी। अतएव मेरी दृष्टि में यह रस-ग्रन्थों में श्रेष्ठ है।

विभाव सामान्य का लक्षण फटा हुआ है। अतएव उस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कह सकना नितान्त कठिन है। इतना अवश्य कि रस-लक्षण के प्रक्रम में आपने विभाव, अनुभाव, सात्विक और संचारी भावों को रत्यादि वासनाओं को जगाने वाले तत्व प्रतिपादित किया है।[1] पुनः प्रत्येक रस के विवरण-क्रम में आपने अलग अलग विभावों की तालिका भी दी है। इनमें से भी कई रसों के विभाव-वर्णन वाले पन्ने फटे हुए हैं। केवल हास्य, क्रोध, भयानक और वीभत्स रसों के विभावों की तालिका ही सुरक्षित है। हास्य के विभावों में विकृत भूषण-वसन, वेष, नाम, आचार, वचन आदि की; क्रोध रस के विभावों में अस्त्र-शस्त्रों का टूटना, कटना, प्रहार का होना तथा युद्धभूमि की अन्य सामग्रियों की; भयानक रस के विभावों में भयानक जन्तु,वेष, रव, युद्धस्थल, विजन वन एवं भवन, नृप-गुरु, अपराध-जन्य भय आदि की तथा वीभत्स रस के विभावों में अवांछित गन्ध, रस, स्पर्श एवं घिनौने स्थान आदि की गणना उजियारे ने कराई है।[2]

पद्माकर

पद्माकर के जगद्विनोद में भी विभाव का कोई सामान्य लक्षण नहीं है। न तो यही बताया गया है कि रस-निष्पत्ति में इसका क्या महत्व है। किन्तु पृथक् पृथक् सभी रसों के विभाव प्रतिपादित किए गए हैं। श्रंगार के आलंबन विभाव में नायक और नायिकाओं का उल्लेख है तथा उद्दीपन विभाव में सखा, सखी, दूती, विपिन उपवन, षड् ऋतु, पवन आदि अनेक उपादानों की विस्तृत तालिका दी गई है।[3] इसी प्रकार हास्य-करुण आदि रसों के भी आलम्बनोद्दीपन विभावों की चर्चा आपने की है। कुरूप, कूदना और कहना हास्य रस का विभाव, प्रिय की मृत्यु एवं

---

१. रस चन्द्रिका ३।४। २. रसचन्द्रिका। ६।४। तथा ८।४। और १०।३।

३. जगद्विोद। पदसंख्या ९। तथा ३३५—३३७। और ६१५।

दाहादि क्रमश: करुण-रस के आलम्बनोद्दीपन, रिपु रौद्र के आलम्बन तथा उमड़ा हुआ युद्धस्थल उसका उद्दीपन, वीर रस का आलम्बन बलवान रिपु तथा रिपुसेना की शोरगुल उसका उद्दीपन, भयंकर पदार्थ भयानक के विभाव, पाव, मेदमज्जादि बीभत्स के विभाव, असंभावित चरित्र अद्भुत के विभाव और सत्संगति गुरुतपोवनादि शाँत के विभाव, वर्णित किए गए हैं।[1] विभिन्न रसों के ये विभाव परम्परागत ही हैं। साहित्यदर्पण का प्रभाव इन पर स्पष्ट है।

जहाँ तक श्रृंगार के आलंबन विभाव नायक और नायिकाओं का प्रश्न है, पद्माकर ने उनका विशद वर्णन किया है। कविता और संगीत का रसज्ञ सुन्दर, तथा गुणवान वह युवक ही नायक है जिसे युवतियाँ बार बार देखने की चेष्टा करें अर्थात् जो युवतियों को अपनी ओर आकृष्ट कर सके।[2] पद्माकर के इस नायक-लक्षण पर कामशास्त्र का प्रभाव है। नायक-भेदों में कोई नवीनता नहीं है। प्रथम पति आदि ३ भेद, पुन: अनुकूलादि चार भेद, मानी, वचनचतुर और क्रियाचतुर ये तीन भेद, प्रोषितपति और अनभिज्ञ नामक भेद भी बताये गए हैं। अनभिज्ञ नायक वह है जो स्त्रियों के हाव-भावों को तो नहीं समझे पर विविध विलासों में अनुरक्त हो।[3] इस नायक की कल्पना सर्वथा अमनोवैज्ञानिक है। जो स्त्रियों की ओर आकृष्ट ही नहीं होगा (उसके हाव-भाव नहीं समझने के कारण), भला वह विलास-परायण ही क्यों कर होगा। अन्य सारे भेद तो परम्परागत ही हैं। नायिका भेदों में भी कोई नवीनता तो नहीं ही है, किन्तु अधिकांश परम्परागत भेदों का समावेश आपने कर लिया है। अवस्थानुसार नायिकाओं के दस भेद बताए गए हैं (प्रवत्स्यत्प्रेयसी और आगतपतिका को जोड़कर) और ये भेद मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा नामक स्वकीया, परकीया और गणिका (सामान्या) के साथ वर्णित किए गये हैं। विवाहिता पत्नियों के ज्येष्ठा और कनिष्ठा नामक दो भेद भी विहित हैं। पद्माकर के नायिका-भेदों और लक्षणों पर भानुमिश्र की रसमंजरी का प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है।

बेनी प्रवीन

बेनी प्रवीन ने नव-रसतरंग में विभाव-सामान्य का लक्षण तो नहीं दिया है किन्तु उसे एक रस-निष्पादक तत्व के रूप में स्वीकार किया है। इस विभाव के आपने आलम्बन और उद्दीपन नामक दो भेद माने हैं तथा नायिका और नायक को जिनमें स्थायी भाव रूपी परमाणु आलंबित रहते हैं, आलम्बन विभाव कहा है।[4] नायिकाओं का लक्षण आपने ग्रंथ के आरम्भ में ही किया है—जिस तरुणी का अनुपम रूप हो तथा जिसे देखते ही लोभवश उसकी ओर पुरुष आकृष्ट हो जाय। नायिका भेदों के आधार ग्रन्थ हैं भानुमिश्र की रसमजरी, मतिराम का रसराज तथा पद्माकर

---

१. जगद्विनोद। ६७०–७२५। २. वही। २८१। ३. वही। ३२०।
४. नवरसतरंग, पदसंख्या ३२–३३

का जगद्विनोद। दशाओं के अनुसार नायिकाओं के ११ भेद हैं—प्रोषित पतिका, खंडिता, कलहान्तारिता, विप्रलब्धा, उत्कण्ठिता, वासकसज्जा, स्वाधीनपतिका, अभिसारिका (कृष्णा, शुक्ला आदि), प्रवत्स्यतप्रेयसी, आगमिष्यत्पतिका और आगतपतिका। इन सबों का मुग्धादि त्रिविध स्वकीय, परकीया और सामान्या के साथ मिला कर भेद किए गए हैं। कहीं कहीं बेनीप्रवीन के लक्षण और उदाहरण अत्यन्त हृदयग्राही बन पड़े हैं। यथा, मध्या के लक्षण और उदाहरण में आपने लिखा है—जिस नायिका में लज्जा और काम समान रूप से उपस्थित हों, उसे मध्या कहते हैं। मध्या के हृदयरूप कुरुक्षेत्र में मदन और संकोच रूप कर्णार्जुन का युद्ध सा मच जाता है, न तो संकोच मदन को दबा पाता है और न मदन संकोच को। नायक को बेनीप्रवीन ने दानी, अभिमानी, धनी मनमोहन, रमणीय, कुलीन, सुचि, क्षमाशील काम-कमनीय, तरुण आदि विशेषणों से भूषित कहा है[1] आपके इस नायक-लक्षण पर साहित्यदर्पण का स्पष्ट प्रभाव है। नायक के सर्वप्रथम पत्यादि तीन भेद, अनुकूलादि ४ भेद, उपपति के वचनचतुर और क्रियाचतुर—ये दो भेद, तथा वैशिक का एक भेद—बताए गए हैं। प्रोषित और अनभिज्ञ नायक का भी उल्लेख आपने किया है किन्तु अनभिज्ञ नायक की स्वीकृति आपने रस के लिए नहीं, रसाभास के लिए की है।[2]

बेनीप्रवीन की दृष्टि में उद्दीपन वह विभाव है जो रस को दीपित करे, यथा ऋतु, बन, बाग आदि।[3] भिन्न भिन्न रसों के उद्दीपन विभाव पृथक् पृथक् हैं। आपके उद्दीपन-लक्षण में एक त्रुटि है। उद्दीपन विभाव रस को दीपित नहीं करता है, क्योंकि रस निष्पन्न आनन्दावस्था का नाम है। वस्तुतः वह भाव (स्थायी) को दीपित करता है।

करन कवि

करन का रसकल्लोल एक अनेकांग निरूपक ग्रंथ है। इसका प्रकाशन अभी तक प्रायः नहीं हुआ है। इसकी हस्तलिखित प्रति नागरी प्रचारिणी सभा, काशी में मुझे देखने को मिली। इस ग्रन्थ में विभाव के दो भेद माने गये हैं—आलम्बन और उद्दीपन। नवलवधू (नायिका) और नाह (नायक) ये दोनों आलंबन विभाव हैं तथा उद्यान, शशि, चंदन, बादल, पवन आदि उद्दीपन विभाव हैं। आलम्बन उसे इसलिए कहते हैं चूँकि उसी का अवलम्ब ग्रहण कर रस निष्पन्न होता है तथा जो रस को (वस्तुतः भाव को) दीपित करता है, वह उद्दीपन विभाव है।[4] पुनः अन्य रसों के वर्णन-क्रम में भी अतिसंक्षिप्त विभावोल्लेख है।

नायक और नायिका का विशद वर्णन तो क्या संक्षिप्त उल्लेख भी आपने

---

१. नवरसतरंग। ३१। २. वही। २३२। ३. नवरसतरंग। २७७।
४. रसकल्लोल पद ३२–३४

नहीं किया है। नायक-नायिका, सखी, दूती, मान आदि शृंगारिक तत्वों का व्यर्थ ही विस्तृत विवरण देकर करन कवि ने ग्रन्थ के कलेवर का विस्तार न होने दिया है। आपकी प्रतिपादन–शैली भी नितान्त विवेचनात्मक है। जहाँ-कहीं कोई विप्रतिपत्ति आ उपस्थित होती है, करन उसका स्पष्टीकरण एवं समाधान भी प्रस्तुत करते चलते हैं। अतएव इसे हिन्दी काव्य-शास्त्र का उच्च-स्तरीय ग्रन्थ मानना चाहिए।

प्रतापसाहि

प्रतापसाहि ने काव्य विलास में रसोपादान विभावादियों का स्वरूप-निर्देश किया है। आपके अनुसार विभाव वह तत्त्व है जिससे रत्यादि स्थायी भाव प्रकट होते हैं अर्थात् विभाव स्थायीभावों का उद्बोधक है।[1] विभाव के स्वरूप निर्देश में प्रतापसाहि ने स्पष्टतया विश्वनाथ के लक्षण का आश्रय ग्रहण किया है। यद्यपि रस के स्वरूप प्रतिपादन में आपने मम्मट का तथा भाव लक्षण में भानुदत्त का आश्रय ग्रहण किया है किंतु विभाव के उपादानों के प्रतिपादन में आपके उपजीव्य आचार्य विश्वनाथ ही है। इस दृष्टि से देखें तो प्रतापसाहि में मौलिकता की भले ही कमी हो पर विशाल-अध्ययन के बल पर संग्रह की प्रवृत्ति आपमें पर्याप्त रूप से विद्यमान पाई जाती है। आपने आलम्बन और उद्दीपन के न तो पृथक्-पृथक् लक्षण ही दिए हैं और न उनका उल्लेख ही किया है। अपने दूसरे रीतिग्रन्थ व्यंग्यार्थ-कौमुदी में आपने नायक और नायिकाओं के लक्षण, भेद तथा उदाहरण प्रतिपादित किए हैं। इनका सम्बन्ण मुख्यतः शृङ्गार-रस से है। अन्य रसों के विभावों के सम्बन्ध में आप मौन हैं। आपकी दृष्टि में नायिका वह है जिसके देखने मात्र से स्थायी भाव-रति उत्पन्न हो जाए।[2] नायिका का यह लक्षण परम्परा-सम्मत तो नहीं है पर नायिका के विभिन्न गुणों का उल्लेख न करके भी मात्र सौन्दर्य जन्य आकर्षण के आधार पर उसका लक्षण गढ़ने में मौलिकता द्रष्टव्य है। नायिका-भेदों का आधार आपने भानुदत्त की रसमंजरी को बताया है। केवल अवस्था के अनुसार किए गए नायिका-भेदों में प्रतापसाहि ने प्रवसत्पतिका और आगतपतिका नामक दो नए भेदों को जोड़ा है। प्रवसत्पतिका का उल्लेख रसमंजरी की सुरभि टीका में उपलब्ध है, अतएव किसी दूसरी टीका से इसे गृहीत करने की संभावना की जा सकती है। आगतपतिका का उल्लेख सर्वप्रथम रसलीन के रस प्रबोध में उपलब्ध होता है। संभवतः वहीं से यह परम्परा चली और प्रतापसाहि ने भी इसका समावेश अपने ग्रन्थ में किया। इसी प्रकार गणिका के तीन भेदों का और वासकसज्जा के दो भेदों का भी उल्लेख प्रतापसाहि ने किया है। गणिका के भेदों में आपने स्वतन्त्र, जनन्याधीना और नियमिता की चर्चा की है तथा वासकसज्जा के भेदों में ऋतुकालस्नानोपरान्त

१. काव्य विलास, ३।२५, सा० द०, ३।२८। २. व्यंग्यार्थकौमुदी, १०।

पति के आगमन की प्रतीक्षा में वासकसज्जा तथा प्रवास से लौटे हुए पति के आगमन की प्रतीक्षा में वासकसज्जा की ।[1] प्रायः ये भेद अकबर शाह-प्रणीत शृङ्गार मंजरी से अथवा कुमारमणि शास्त्री के रसिकरसाल से संगृहीत किए गए हैं ।

नायक के भेदों में आपने अनुकूल, दक्षिण, उपपति, वैसिक, मानी, प्रोषितपति, और धृष्ट—इन सात भेदों के लक्षण दिए हैं । इनके लक्षण भी अत्यन्त सुबोध-शैली में रचे गए हैं ।[2] भानुदत्त की रसमंजरी की इन पर स्पष्ट छाप है । कोई नवीनता नहीं है ।

प्रतापसाहि की व्यंग्यार्थकौमुदी मुख्यतः नायक-नायिका भेद निरूपक ग्रन्थ ही है । यों ग्रन्थ के नाम को देख कर पता चलता है कि इनमें मात्र आनन्दवर्द्धन प्रतिपादित व्यंग्यार्थ (ध्वनि) का ही निरूपण है । किन्तु विचित्रता यह है कि इसके मूल भाग में (पद्यात्मक) तो केवल उदाहरण हैं और टीका भाग में (गद्यात्मक) अलंकार, नायक-नायिका भेद तथा ध्वनि के भेदों का उल्लेख है । जो हो, समस्त रीतिकालीन साहित्य में मूल और टीका को एक साथ लिखने का प्रथम स्तुत्य प्रयास प्रतापसाहि ने किया ।

चन्द्रशेखर वाजपेयी

वाजपेयी जी ने अपने रसिक विनोद नामक ग्रन्थ में विभाव को एक प्रकार का भाव ही माना है ।[3] पर आलम्बन अथवा उद्दीपन में से किसी को भी हृदयवृत्ति भाव के रूप में स्वीकार करना सर्वथा अनुपयुक्त है । विभाव को मात्र आलम्बन और उद्दीपन नामक भेदों में बांट कर ही आप सन्तुष्ट नहीं रहे । आपने आश्रयालम्बन और विषयालम्बन की भी चर्चा की है । स्थायी भाव जिस पर स्थिर रहता है वही आलम्बन विभाव है तथा नवल नारि और कन्त इनके उदाहरण हैं । इनमें से नायिका तो आश्रयालम्बन है और नायक विषयालम्बन ।[4] किन्तु यहां विभाजन प्रसंग-सापेक्ष एवं विचार-सापेक्ष है । नायिका को देख कर रति उत्पन्न तो होती है किन्तु वर्द्धमान नहीं होती । उसे बढ़ाने या दीपित करने का कार्य उद्दीपन विभाव का है । इसके अन्तर्गत सखी, दूती, शशि, सरोज, राग-रागिनी, ऋतु वर्णन आदि परिगणित किए गए हैं ।[5] शृङ्गार-भिन्न रसों के लक्षण-प्रसंग में भी आपने पृथक् आलम्बन और उद्दीपन विभाव प्रतिपादित किए हैं । उनका निर्देश वाजपेयी के शब्दों में इस प्रकार है—

हास्य रस का प्रभाव—वेष वचन कलपित अवधि ते विभाव जुग पाइ ।

रसिकविनोद—४३६ ।

---

१. व्यंग्यार्थकौमुदी । ६६ टीका भाग तथा १०० टीका भाग ।

२. व्यंगार्थकौमुदी । छन्द ११६-१२० । ३. र० वि०, छन्द-२४२ ।

४. वही, २४५-२४७ । ५. वही, २४९-२५७

करुण रस का विभाव–इष्टनाश मृत इष्ट लखि ए विभाव के अनुसार। वही, ४४०।

रौद्र रस का विभाव–रिपु अपराधादिक जहां लहि विभाव इक ठौर। वही। ४४४।

वीर रस का विभाव–वीर नाद विरदादि धुनि लहि रिपुकटक विभाव। वही। ४४७

भयानक रस का विभाव–घोर दरस अपराध निज लखि भूतादि विभाव। वही, ४५१

बीभत्स रस का विभाव–रक्त मांस रनभूमि उरू निन्दित बस्तु विभाव। वही, ४५५।

अद्भुत रस का विभाव–जहं विभाव आचर्ज लखि सुनि विसमै अति होइ।
—वही। ४५८।

शान्त रस का विभाव–सज्जन संगति शास्त्रगत ये विभाव जहं होत। वही। ४६३।

रसिक विनोद में चन्द्रशेखर वाजपेयी ने विभाव-प्रसंग में आलम्बन विभाव के अन्तर्गत नायक-नायिका-भेदों का विस्तृत विवरण नहीं दिया है। आपने रस-सम्बन्धी महत्वपूर्ण विषयों का ही प्रतिपादन अपने ग्रंथ में किया है। अतएव आपकी संक्षेपप्रियता तथा गम्भीर विषयानुरागिता प्रकट होती है। आपका दावा है कि रस-निरूपण के प्रसंग में आपने भरत के पंथ का अनुसरण किया है।[1] चाहे रस-निरूपण के अन्य प्रसंगों में जो भी हो, जहां तक विभाव-वर्णन की समस्या है, वाजपेयी जी ने अधिकांशतः भरत के नाट्यशास्त्र का अनुकरण किया है।

ग्वालकवि

ग्वाल कवि के रसरंग में विभाव को एक प्रकार का भाव मान लिया गया गया है। पर विचित्रता यह है कि जहां रीतिकालीन अन्य आचार्यों ने अज्ञानता-वश ऐसी गलती की है, वहां ग्वाल ने जानते हुए भी ऐसी गलती कर डाली है। भावों का लक्षण बताते हुए आपने स्पष्ट रूप से कहा है कि मनोजन्य विकार ही भाव हैं तथा भाव जन्य है और मन उसका जनक।[2] फिर भी जब भावों का भेद करने लगे तो एक तरफ से विभाव, अनुभाव, स्थायी भाव और संचारीभाव इन सबों को गिना गये।[3] अन्य रसोपादानों के सम्बन्ध में चाहे जो भी हो, विभाव को तो किसी भी मूल्य पर मनोविकारभूत भाव नहीं ही कहा जा सकता। नायक-नायिकारूप आलम्बन और उद्यान-चन्द्रादि रूप उद्दीपन मनोविकार हो भी कैसे सकते हैं?

ग्वाल की दृष्टि में विभाव रस का हेतु भी है और उसे बोधगम्य (अनुभूयमान) भी बनाता है। आलंबन और उद्दीपन–इसके दो भेद हैं। जो स्थायी भाव का जनक अर्थात् कारण है, वह तो आलम्बन विभाव है तथा जो स्थायी भाव को दीपित करे, वह उद्दीपन विभाव है।[4] आलम्बन विभाव के अन्तर्गत आपने नायक

१. र० वि० ४७६।   २. रसरंग (याज्ञिक संग्रहालय, हि० लि०) उमंग १ छंद ९।   ३. वही, १-१०-११।   ४. वही, १।१२-१३।

और नायिकाओं का विशद वर्णन किया है। आपने नायिका को जायकादायिका कहा है तथा वह रूपवती, गुणखान, अतिप्रवीन तथा लुब्ध करने वाली होती है। यह लक्षण मुख्यत: श्रीराधा में घटित होता है और गौणत: सांसारिक अन्य नायिकाओं में।[1] श्री राधा को मुख्य नायिका मानने में स्पष्टत: गौड़ीय-रस-शास्त्र का प्रभाव लक्षित होता है। नायिका भेदों में आपने जात्यनुसार पद्मिन्यादि चार भेद, गुणानुसार उत्तमादि तीन भेद, अंशानुसार दिव्यादि तीन भेद, कर्मानुसार स्वकीयादि तीन भेद तथा उनके परम्परागत सारे उपभेद और अवस्थानुसार स्वकीयादि तीनों भेदों के १५ उपभेद प्रतिपादित किए हैं। अवस्थामूलक भेदों में अन्यसुरतदु:खिता, गर्विता, गमिष्यत्पतिका, गच्छत्पतिका, प्रोषितपतिका, खंडिता, कलहान्तरिता, विप्रलब्धिका, उत्कंठिता, वासकसज्जा, स्वाधीनपतिका, अभिसारिका, आगपतिका, आगच्छत्पतिका और आगमिष्यत्पतिका नामक भेदों का उल्लेख है। गर्विता के भी रूपगर्वितादि कई भेद हैं।

नायक को आपने चतुर, कुलीन, गुणी, धनी, पुरुषत्वयुत, उदार, सुभग, क्षमाशील, बली आदि विशेषणों से युक्त बताया है।[2] स्पष्टत: नायक-लक्षण पर भानुमिश्र और विश्वनाथ का प्रभाव है। नायक भेदों में सर्वप्रथम आपने जात्यनुसार पांचालवषन, दत्त, कूचमार और भद्र ये चार भेद बताए हैं। इनके चिन्ह पद्मिन्यादि नायिकाओं के से ही हैं।[3] यह वर्गीकरण ग्वालकवि का अपना है। प्राय: किसी भी पूर्ववर्ती सिद्धान्तग्रंथ में इसका निवेश नहीं किया गया है। पुन: कर्मानुसार नायक के पति, उपपति और बैसिक—ये तीन भेद हैं। पति के स्वभावानुसार अनुकूल, दक्षिण, धृष्ट और शठ का तथा गुणानुसार उत्तमादि तीन भेदों का उल्लेख किया गया है। बैसिक के भी ग्वाल ने उत्तमादि तीन भेद बताए हैं।[4] अंशों के आधार पर नायिकाओं की तरह नायक के भी दिव्यादि तीन भेद हैं। इनके अतिरिक्त मानी, चतुर, प्रोषित और अनभिज्ञ नायक-भेदों की चर्चा आपने की है। इस प्रकार नायक-नायिका भेदों का सविस्तार वर्णन रसरंग में प्राप्त होता है। चूँकि रसरंग का प्रतिपाद्य रस मात्र शृंगार ही है, अतएव अन्य रसों के आलम्बन का उल्लेख आपने नहीं किया है।

उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत भी आपने मात्र शृंगारिक उद्दीपनों चाँदनी, चन्द्रमा, घन, विजुरी, मेह आदि[5] की एक लम्बी तालिका प्रस्तुत की है। अन्य रसों के उद्दीपनों की चर्चा का प्रसंग ही आपने नहीं आने दिया है। कुल मिलाकर रसरंग का विभाव-वर्णन, चाहे वह शृंगार तक ही सीमित क्यों न हो, अत्यन्त युक्तियुक्त एवं समीचीन है।

रसिक विहारी

जानकी प्रसाद, रसिकेश या रसिक विहारी ने अपने ग्रंथ काव्यसुधाकर में

---

१. रसरंग २/१४ और १६। २. वही ७/१। ३. वही ७/२–३।
४. वही ७/२६–३२। ५. वही ७/६७–६९।

विभाव को चतुर्विध भावों के अन्तर्गत प्रस्तुत किया है। आलम्बनोद्दीपनात्मक द्विविध विभावों में आलम्बन उसे कहा गया है जिस पर स्थायी भाव अवलम्बित हो तथा उद्दीपन वह विभाव है जिसे देखकर रस उद्दीपित हो जाय।[1] रसिक विहारी की इस स्थापना में सर्वप्रथम तो यही विवेच्य है कि विभाव को एक प्रकार का भाव (मनोविकार विशेष) माना जाय या नहीं। पीछे कई ऐसे स्थलों पर इस मान्यता का खण्डन किया जा चुका है। दूसरी चिन्त्य बात यह है कि उद्दीपन विभाव स्थायी भाव को उद्दीपित करते हैं या रस को। चूंकि उस समय तक जब उद्दीपन विभाव अपना प्रभाव डालता है, रस की निष्पत्ति नहीं हुई रहती है। अतएव उसे स्थायी भाव का उद्दीपक मानना ही श्रेयस्कर है। यों परोक्ष रूप से वह उद्दीपन विभाव हमें रसानुभूति की ओर ही उद्दीपित कर ले जाता है; तथापि रसानुभूति के क्षणों में तथा उसके उपक्रम में हमें अन्तर तो बनाए ही रखना है।

शृंगार के आलम्बन रूप में आपने भी अनेक नायिका-भेदों और नायक-भेदों को उपस्थापित किया है। परम्परागत सारे भेदों की प्रायः आपने चर्चा तो की ही है, बल्कि कुछ नए अतिरिक्त भेदों की भी कल्पना आपने की है। ऐसे भेदों में आ सक्ता और मदन विहाला नामक दो नवोद्भावित नायिका-भेद उल्लेखनीय हैं। नायक के अनुपम रूप को देखकर आसक्त होने वाली नायिका को रसिक विहारी ने आसक्ता नायिका कहा है। इसे आपने मुग्धा-मध्या-प्रौढ़ादि स्वकीया, परकीया तथा गणिका के साथ सम्पृक्त कर वर्णित किया है।[2] आसक्ता के प्रत्येक प्रभेद में मूलतः आसक्ति की ही प्रधानता है।[3] इसी प्रकार मदन विहाला नामक नायिका-भेद भी रसिक विहारी की नवोद्भावना है। यह प्रभेद केवल प्रौढ़ा में ही होता है, चाहे वह स्वकीया, परकीया किम्बा गणिका हो। कामाधिक्य के कारण प्रिय से मिलने की विह्वलता ही इसका प्रधान लक्षण है। एतदर्थ न तो वह दिन रात की परवाह करती है और न वरिष्ठ जनों की लज्जा। गणिका मदनविहाला भी निर्धन और धनी का तारतम्य भुला देती है। इनके अतिरिक्त रसिक विहारी ने परकीया और गणिका के भी मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ा नामक भेद स्वीकार किए हैं तथा इन्हें अपनी मौलिक उद्भावनाएँ बताई हैं।[5] किन्तु वस्तु स्थिति सर्वथा इससे भिन्न है। अनेक रीतिकालीन आचार्यों ने ऐसे भेदों की कल्पना की है। मुख्यतः मतिराम, पद्माकर, ग्वाल प्रभृति की रचनाओं में ये भेद पाए जाते हैं।

नायक भेदों की चर्चा करते हुए आपने परम्परागत सभी भेदों का सोदाहरण उल्लेख तो कर ही दिया, पुनः १२ वीं कला में आकर कई नवीन भेदों की उद्भावना भी कर दिखाई। ऐसे नवोद्भावित नायक हैं—सकुनी, मदनविहाल, और स्वयंदूत।

---

१. काव्य सुधाकर ६/२ और ५। २. वही १२/३५–३६। ३. वही १२/३७–४२। ४. वही १२/४९–५४। ५. वही १२/६४–६७।

अपनी प्रियतमा से मिलने के लिए सगुन उचारणेवाला सकुनी, निर्लज्ज होकर प्रियतमा से मिलने वाला मदनविहाल और प्रेयसी से मिलन-निमित्त स्वयं दौत्यकर्म सम्पादित करने वाला स्वयंदूत नायक कहा गया है[1]। यद्यपि ये सारे नायिका और नायक भेद रसिकबिहारी ने मौलिक कह कर प्रतिपादित किए हैं और अंशतः ये संगत भी हैं किन्तु इन्हें परम्परागत भेदों में सन्निवेशित किया जा सकता है। स्वकीया और परकीया में तो आसक्ति रहती ही है—यह उनका एक गुण विशेष है। अतएव इस आधार पर आसक्ता नामक स्वतन्त्र नायिका-भेद की कल्पना निष्प्रयोजन है। इसी प्रकार मदनविहाला भी समधिक-कामा प्रौढ़ा में ही अन्तर्निविष्ट हो सकती है। नायकों में सकुनी तो कुछ हद तक सार्थक है पर मदनबिहाल का दक्षिण नायक में और स्वयंदूत को दूत-प्रभेद में गतार्थ किरा जा सकता। जो हो, इतनी दाद तो रसिकेश जी को देनी ही होगी कि उन्होंने परम्परा से हट कर कुछ नई बातें कहीं।

यह हम पहले भी कह आए हैं कि काव्यसुधाकर मात्र शृंगार-रस का निरूपक ग्रन्थ है। अतएव उद्दीपन विभाव के उल्लेख में भी रसिकेश जी को शृंगार की सीमा से बाहर जाने की कोई आवश्यकता ही नहीं हुई। फलतः आपने शृंगार-रस के उद्दीपनों की एक तालिका भर प्रस्तुत कर दी है[2]।

नन्दराम

नन्दराम के शृंगार दर्पण में स्वतन्त्र रूप से न तो आलम्बन विभाव का और न उद्दीपन विभाव का ही लक्षण बताया गया है। पर इतना अवश्य कि रस-स्वरूप निर्देश के क्रम में आपने इसे रसोपादान के रूप में स्वीकार किया है। भिन्न भिन्न रसों के स्वरूप-प्रतिपादन के क्रम में आपने उन रसों के आलम्बनोद्दीपन का क्रमशः उल्लेख किया है। विभाव सामान्य का निर्देश न होने के कारण, हमें वहीं से इसकी सामग्री संकलित करनी पड़ी है। प्रत्येक रस का विभाव-निर्देश इस प्रकार है—

शृंगार रस – कहत नायिका नायकहि आलम्बन शृंगार।
वन उपवन पुनि सखि सखा उद्दीपन निरधार ॥ शृंगारदर्पण/१०।७

हास्य रस – तहां कुदावं कुरूप स्वांग सन कहत विभावै। १०।५०, पंक्ति-२।

करुण रस – आलम्बन प्रियमरन दाह उद्दीपन मानौ।
है विभाव सब... ... ... ॥ १०।५२ (पंक्ति-२)

रौद्र रस – आलम्बन अरि अरि अनीक उद्दीपन ठानत। १०।५५ (पंक्ति-२)

वीर रस – आलम्बन अरि अरि अलाप उद्दीपन कीज्जे। १०।५६ (पंक्ति-२)

---

१. (क) काव्य सुधाकर १२।७५। (ख) वही, १२।८०। (ग) वही, १२।८३।
२. वही।। ६।६-८।

भयानक रस – कछू भयानक चरित लखब सुविभाव बखानैं । १०।६१ (पंक्ति-२)
वीभत्स रस – यहि विभाव दुरगन्ध पीब रक्तादि और वश । १०।६२ (पंक्ति-२)
अद्भुत रस – असंभावित चरितादि लखन सुविभाव गनोई । १०।६५ (पंक्ति-२)
शान्त रस – सतसंगति तप शब मसान सुविभाव प्रमानत । १०।६७, (पंक्ति-२)
विभावों का उपर्युक्त निर्देश परम्परागत ही है । इसमें कोई नवीनता नहीं है ।

श्रृंगार के आलम्बन नायक और नायिकाओं का रीतिकालीन अन्य आचार्यों की तरह नन्दराम ने भी विस्तृत उल्लेख किया है । जिसे देखकर नायकों के मन में मदन जगे उस तरुणी को नायिका कहते हैं[1] । नन्दराम के इस नायिका-लक्षण पर प्रतापसाहि का स्पष्ट प्रभाव है । इसी प्रकार आपके नायक-लक्षण[2] पर साहित्य-दर्पण का तथा अनेक रीतिकालीन आचार्यों का प्रभाव स्पष्टतः ढूंढा जा सकता है । नायक और नायिकाओं के भेदों और लक्षणों के सम्बन्ध में नन्दराम का यह दावा है कि मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार उनका निर्देश किया है । किन्तु वस्तुस्थिति इससे सर्वथा विपरीत है । परम्परा से हटकर आपने कुछ भी नया नहीं लिखा है । केवल अभिसारिका नायिका के कतिपय नए प्रभेद आपने वस्त्रों के रंग तथा काल के आधार पर प्रस्तुत किए हैं—शुक्लाभिसारिका, अरुणाभिसारिका, पीताभिसारिका, हरिताभिसारिका, श्यामाभिसारिका आदि[3] । इस प्रकार चाहें तो और भी अनेक भेद किए जा सकते हैं, क्योंकि रसायन-विज्ञान की कृपा से आज रंगों की संख्या विपुल हो गई है ।

जिसके समागम से उर में अनंग उदित होता है उसे उद्दीपन कहते हैं तथा इसके अन्तर्गत सखा, सखी, दूती, षड् ऋतु, उपवन, पवन आदि परिगणित हैं ।[4] अनंग को उद्दीपित करने वाले उद्दीपन को नन्दराम ने उदित करने वाला कहा है । फिर आलम्बन रूपिणी नायिका और इसमें भेद ही क्या रहा ? इसका ध्यान आपने नहीं रखा है ।

लछिराम

लछिराम के महेश्वर विलास में भी आलम्बन और उद्दीपन नामक विभावों की चर्चा है । आपके आलम्बन का लक्षण इतना व्यापाक है कि इसमें सभी रसों के आलम्बनों का निर्वाह हो जाता है । आपकी दृष्टि में जब जिसका अवलम्ब लेकर मन में कोई भाव विशेष उत्पन्न हो, वह उससे निष्पन्न रस का आलम्बन विभाव है । सभी प्रकार की नायिकायें और नायक श्रृंगार के आलम्बन हैं ।[5] उद्दीपन विभाव के लक्षण में भी इसी प्रकार की व्यापकता है । जिसे देखकर रस

---

१. श्रृङ्गारदर्पण ।१।१६ । तुलनार्थ—प्रतापसाहि : व्यंग्यार्थ कौमुदी ।१० ।
२. वही ।५।१२ । ३. वही ।४।९२-१०४ । ४. वही ।७।२-३ ।
५. १. महेश्वरविलास ।३।५५-५६ ।

का अर्थात् स्थायी भाव का उद्दीपन हो, वही उद्दीपन विभाव है। शृंगार के उद्दीपन हैं—वन, उपवन, रागादिक (सांगीतिक) षट् ऋतु, पवन, सखा सखी, पर-दूती सौरभ, भवन, उडुगन, रजनी, कलाधर, विहंग आदि।[1]

नायिका और नायक के भेदों में कोई नवीनता नहीं है, किन्तु परम्परागत किसी भेद को प्रायः आपने छोड़ा भी नहीं है। इनके लक्षणों में पूरी स्पष्टता तथा भाषा सम्बन्धी सरलता है। बानगी के रूप में नीचे अवस्थानुसार दशविध नायिका-भेदों में से कतिपय के लक्षण उद्धृत हैं :—

प्रोषितपतिका— जा पिय बसि परदेसै व्याकुल काम।
प्रोषितपतिका मानै बिरह सकाम॥ महेश्वर विलास २।१९९

विप्रलब्धा— केलिभवन पिय बिन लषि अति अकुलाय।
विप्रलब्धा तिय बरनत कवि समुदाय॥ वही।२।२४२।

वासकसज्जा— पिय मिलिबे हित साजे सेज सिंगार।
वासकसज्जा बरनत रसिक उदार॥ वही।२।२७३।

अभिसारिका— करि सिंगार पिय मिलिबे हित रतिधाम।
अभिसारिका सराहत रसिक ललाम॥ वही।२।३०९।

स्वाधीनपतिका पीतम जाके बस में आठो जाम।
स्वाधिन पतिका तिय तिहिं बरनि ललाम॥ २। ९२।

इन लक्षणों पर संस्कृतग्रन्थों की छाप तो है ही, साथ ही रसलीन के रस-प्रबोध का भी प्रभाव नितान्त स्पष्ट है।

३-अनुभाव और संचारीभाव

केशव

अनुभाव—केशव ने अनुभाव उन्हें कहा है जो दाम्पत्य प्रीति-विधान में आलम्बन और उद्दीपन रूपविभावों के परिणामस्वरूप इन्द्रिय-विकारों के रूप में वर्णित किए जाते हैं।[2] केशव द्वारा प्रस्तुत इस अनुभाव-लक्षण से दो बातें स्पष्ट हैं। प्रथमतः आपने इसे भावोद्‌बोध के अनु अर्थात् पश्चात् उत्पन्न स्वीकार किया है। दूसरी बात यह कि इद्रिय विकारों को अनुभाव मानकर आपने इसकी सीमा विस्तृत कर दी है। फलतः स्तम्भादि सात्त्विक भावों की भी गणना इसके अभ्यन्तर कर ली जा सकती है—इसकी ओर संकेत है 'करण' शब्द के द्वारा। ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और मन—इन ग्यारह इन्द्रियों का निवेश करण शब्द में हो जाता है। अतएव स्थूल शारीरिक चेष्टायें और आन्तरिक इन्द्रिय विकार दोनों को केशव अनुभाव ही मानते हैं। यह मत शास्त्रीय भी है; इसकी चर्चा विश्वनाथ के मन्तव्य को प्रस्तुत करते समय पीछे की जा चुकी है। तथापि अनुभावों से पृथक्

---

१. महेश्वरविलास।३।६८-७०। २. रसिकप्रिया।६।८।

भयानक रस – कछू भयानक चरित लखब सुविभाव बखानै । १०।६१ (पंक्ति-)
वीभत्स रस – यहि विभाव दुरगन्ध पीब रक्तादि और वश । १०।६२ (पंक्ति-२)
अद्भुत रस – असंभावित चरितादि लखन सुविभाव गनोई । १०।६५ (पंक्ति-२)
शान्त रस – सतसंगति तप सब मसान सुविभाव प्रमानत । १०।६७, (पंक्ति-२)
विभावों का उपर्युक्त निर्देश परम्परागत ही है । इसमें कोई नवीनता नहीं है ।

शृंगार के आलम्बन नायक और नायिकाओं का रीतिकालीन अन्य आचार्यों की तरह नन्दराम ने भी विस्तृत उल्लेख किया है । जिसे देखकर नायकों के मन में मदन जगे उस तरुणी को नायिका कहते हैं[1] । नन्दराम के इस नायिका-लक्षण पर प्रतापसाहि का स्पष्ट प्रभाव है । इसी प्रकार आपके नायक-लक्षण[2] पर साहित्य-दर्पण का तथा अनेक रीतिकालीन आचार्यों का प्रभाव स्पष्टतः ढूंढा जा सकता है । नायक और नायिकाओं के भेदों और लक्षणों के सम्बन्ध में नन्दराम का यह दावा है कि मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार उनका निर्देश किया है । किन्तु वस्तुस्थिति इससे सर्वथा विपरीत है । परम्परा से हटकर आपने कुछ भी नया नहीं लिखा है । केवल अभिसारिका नायिका के कतिपय नए प्रभेद आपने वस्त्रों के रंग तथा काल के आधार पर प्रस्तुत किए हैं—शुक्लाभिसारिका, अरुणाभिसारिका, पीताभिसारिका, हरिताभिसारिका, श्यामाभिसारिका आदि[3] । इस प्रकार चाहें तो और भी अनेक भेद किए जा सकते हैं, क्योंकि रसायन-विज्ञान की कृपा से आज रंगों की संख्या विपुल हो गई है ।

जिसके समागम से उर में अनंग उदित होता है उसे उद्दीपन कहते हैं तथा इसके अन्तर्गत सखा, सखी, दूती, षड् ऋतु, उपवन, पवन आदि परिगणित हैं ।[4] अनंग को उद्दीपित करने वाले उद्दीपन को नन्दराम ने उदित करने वाला कहा है । फिर आलम्बन रूपिणी नायिका और इसमें भेद ही क्या रहा ? इसका ध्यान आपने नहीं रखा है ।

लछिराम

लछिराम के महेश्वर विलास में भी आलम्बन और उद्दीपन नामक विभावों की चर्चा है । आपके आलम्बन का लक्षण इतना व्यापाक है कि इसमें सभी रसों के आलम्बनों का निर्वाह हो जाता है । आपकी दृष्टि में जब जिसका अवलम्ब लेकर मन में कोई भाव विशेष उत्पन्न हो, वह उससे निष्पन्न रस का आलम्बन विभाव है । सभी प्रकार की नायिकायें और नायक शृंगार के आलम्बन हैं ।[5] उद्दीपन विभाव के लक्षण में भी इसी प्रकार की व्यापकता है । जिसे देखकर रस

---

१. शृङ्गारदर्पण ।१।१६ । तुलनार्थ—प्रतापसाहि : व्यंग्यार्थ कौमुदी ।१० ।
२. वही ।५।१२ । ३. वही ।४।९२-१०४ । ४. वही ।७।२-३ ।
५. १. महेश्वरविलास ।३।५५-५६ ।

का अर्थात् स्थायी भाव का उद्दीपन हो, वही उद्दीपन विभाव है। शृंगार के उद्दीपन हैं—वन, उपवन, रागादिक (सांगीतिक) षट् ऋतु, पवन, सखा सखी, पर-दूती सौरभ, भवन, उडुगन, रजनी, कलाधर, विहंग आदि।[1]

नायिका और नायक के भेदों में कोई नवीनता नहीं है, किन्तु परम्परागत किसी भेद को प्रायः आपने छोड़ा भी नहीं है। इनके लक्षणों में पूरी स्पष्टता तथा भाषा सम्बन्धी सरलता है। बानगी के रूप में नीचे अवस्थानुसार दशविध नायिका-भेदों में से कतिपय के लक्षण उद्धृत हैं :—

प्रोषितपतिका— जा पिय बसि परदेसै व्याकुल काम।
प्रोषितपतिका मानै बिरह सकाम ॥ महेश्वर विलास २।१९९

विप्रलब्धा— केलिभवन पिय बिन लषि अति अकुलाय।
विप्रलब्धा तिय बरनत कवि समुदाय ॥ वही।२।२४२।

वासकसज्जा— पिय मिलिबे हित साजे सेज सिंगार।
वासकसज्जा बरनत रसिक उदार ॥ वही।२।२७३।

अभिसारिका— करि सिंगार पिय मिलिबे हित रतिधाम।
अभिसारिका सराहत रसिक ललाम ॥ वही।२।३०९।

स्वाधीनपतिका पीतम जाके बस में आठो जाम।
स्वाधिन पतिका तिय तिहिं बरनि ललाम ॥ २। ९२।

इन लक्षणों पर संस्कृतग्रन्थों की छाप तो है ही, साथ ही रसलीन के रस-प्रबोध का भी प्रभाव नितान्त स्पष्ट है।

३-अनुभाव और संचारीभाव

केशव

अनुभाव—केशव ने अनुभाव उन्हें कहा है जो दाम्पत्य प्रीति-विधान में आलम्बन और उद्दीपन रूपविभावों के परिणामस्वरूप इन्द्रिय-विकारों के रूप में वर्णित किए जाते हैं।[2] केशव द्वारा प्रस्तुत इस अनुभाव-लक्षण से दो बातें स्पष्ट हैं। प्रथमतः आपने इसे भावोद्बोध के अनु अर्थात् पश्चात् उत्पन्न स्वीकार किया है। दूसरी बात यह कि इद्रिय विकारों को अनुभाव मानकर आपने इसकी सीमा विस्तृत कर दी है। फलतः स्तम्भादि सात्त्विक भावों की भी गणना इसके अभ्यन्तर कर ली जा सकती है—इसकी ओर संकेत है 'करण' शब्द के द्वारा। ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और मन—इन ग्यारह इन्द्रियों का निवेश करण शब्द में हो जाता है। अतएव स्थूल शारीरिक चेष्टायें और आन्तरिक इन्द्रिय विकार दोनों को केशव अनुभाव ही मानते हैं। यह मत शास्त्रीय भी है; इसकी चर्चा विश्वनाथ के मन्तव्य को प्रस्तुत करते समय पीछे की जा चुकी है। तथापि अनुभावों से पृथक्

१. महेश्वरविलास।३।६८-७०। २. रसिकप्रिया।६।८।

सात्त्विक भावों को रखकर[1] आपने उनकी भावात्मक सत्ता स्वीकार की है। केशव की परिभाषा में सबसे खटकने वाली बात यह है कि आपने उसे "दम्पति प्रीति-विधान" कहकर शृंगाररसीय अनुभावों तक ही सीमित कर दिया है। सच्ची बात तो यह है कि केशव नौ रसों को मानकर भी शृंगार की रसराजता की प्रतिष्ठा करने चले हैं।[2] अतएव भावों और अनुभावों के लक्षण में भी इस दृष्टिकोण को अक्षुण्ण बनाए रखा है। क्योंकि चौदहवें प्रभाव में केशव ने अन्य सारे रसों का अन्तर्भाव रसराज शृंगार में दिखाया है। एक बात और विवेचनीय है। केशव ने भावों को पंचविध बताकर अनुभावों को उसके अभ्यन्तर रखा है। जहाँ तक सात्विक भावों का प्रश्न है, आभ्यन्तर इन्द्रिय विकार होने के कारण उन्हें भाव कहना तो न्याय है, पर स्थूल शारीरिक चेष्टाओं के रूप में व्यंजित अनुभावों को "भाव" कहना असमीचीन प्रतीत होता है। फिर भाव (स्थायीभाव और व्यभिचारी-भाव) और अनुभाव (पश्चात् उत्पन्न) में पार्थक्य ही रहा ?

व्यभिचारीभाव :—केशव की दृष्टि में व्यभिचारीभाव वे हैं जो सभी रसों में (स्थायीभावों में) अनियत सम्बन्ध से (बिना किसी निश्चित सम्बन्ध के) उत्पन्न होते हैं।[3] केशवीय व्यभिचारि-लक्षण से दो बातें नितान्त स्पष्ट हैं। प्रथम यह कि व्यभिचारी भाव हैं और इनका सम्बन्ध अन्तर्जगत से है जहाँ स्थायी भावों का निवास है। द्वितीय यह कि किसी रस विशेष के साथ इनका निश्चित सम्बन्ध नहीं है। कहने का तात्पर्य यह कि एक ही व्यभिचारी अनेक रसों में संचरण कर सकता है। केशव के लक्षण का सबसे बड़ा दोष है कि इसमें यह नहीं बताया गया कि रस-निष्पत्ति में व्यभिचारी भावों की कौन सी उपयोगिता है ? भरत से लेकर जगन्नाथ तक सभी आचार्यों ने प्रतिपादित किया है कि ये व्यभिचारी भाव अनियत सम्बन्ध से रसों में संचरण कर उन्हें सहायता पहुंचाते हैं। विविधाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिण (ना० शा० अ० ७, पृ -११२) किम्बा विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः (दशरूपक।४।७)—इन लक्षणों में अभिमुख्य का अर्थ ही है। कार्योत्पत्ति (रसनिष्पत्ति) में सहायक होना। किन्तु केशव ने व्यभिचारियों की इस विशेषता पर ध्यान नहीं दिया है। फलतः आपका लक्षण अंशतः लक्षण-ग्रंथ सम्मत है और अंशतः अशास्त्रीय भी।

केशव ने व्यभिचारी भावों के ३५ भेद गिनाए हैं।[4] पीछे हम निर्देश कर चुके हैं कि भरत-प्रतिपादित ३३ व्यभिचारी भावों की ही चर्चा विश्वनाथ के युग तक होती रही। केवल जगन्नाथ ने ३४ व्यभिचारीभावों का उल्लेख किया और गुरदेवनृपपुत्रादि विषया रति को भी अन्यतम व्यभिचारी भाव मान लिया।[5]

---

१. रसिकप्रिया।६।१०। २. वही।१।१५-१६।
३. र० प्रि०।६।११। ४. वही।६।१२-१४। ५. रसगंगाधर, पृ० ७६।

फिर भी जगन्नाथ का कहना था कि भरत के कारण व्यभिचारीभावों की संख्या बढ़ाई नहीं जा सकती है। केशव के ऊपर यह अकुश अपना प्रभाव नहीं डाल सका। आपने विवाद और आधि नामक दो नए भेदों को जोड़ दिया और भरत प्रतिपादित औत्सुक्य, सुप्त, विबोध और वितर्क के स्थान में क्रमशः उत्कण्ठा, स्वप्न, प्रबोध एवं तर्क को जड़ दिया। इतना ही नहीं, अमर्ष और असूया के स्थान पर केशव ने कोह और निन्दा का प्रयोग किया। जहाँ तक पर्यायवाची शब्दों को रखने का प्रश्न है, बहुत बड़े दोष का भागी केशव को नहीं कहा जा सकता। भरत के 'सुप्त' को विश्वनाथ ने भी स्वटन और धनंजय ने भी वितर्क को तर्क कह दिया है। अमर्ष के स्थान पर कोह का प्रयोग कुछ पूर्व से ही प्रचलित था। कोह का क्रोध के अर्थ में प्रयोग रामचरितमानस में भी मिलता है। असूया के स्थान पर निन्दा का प्रयोग भी प्रायः जानबूझकर किया गया है। एक तो दोनों में अर्थसाम्य भी है (असूया गुणेषु दोषाविष्करणम्) और निन्दा का प्रयोग जुगुप्सा नामक स्थायीभाव के स्थान पर केशव को करना था। अतएव उसका निवेश व्यभिचारी भावों की तालिका में कर देना उन्हें आवश्यक प्रतीत हुआ। इसके पूर्व मम्मट ने निर्वेद नामक व्यभिचारी भाव को शान्त रस का स्थायीभाव बनाया था। अतएव केशव ने भी निन्दा नामक व्यभिचारी भाव को लेकर बीभत्स रस का स्थायी भाव बनाना चाहा। जो हो, इन परवर्तित नामों का समाधान तो मिल जाता है, वस्तुतः विवेचनीय हैं, ये दो नए भेद—आधि और विवाद। आधि मानसिक व्यथा को कहते हैं। व्याधि (शारीरिक व्यथा) तो एक व्यभिचारी भाव था ही, अतएव मनोव्यथावाची आधि को व्यभिचारी मानना युक्तिसंगत भी है। क्योंकि यह भाव-क्षेत्र के अधिक समीप भी है। फिर विवाद को व्यभिचारी भाव मानने में कौन-सी तुक है? प्रायः तर्क को व्यभिचारी रूप में प्रतिष्ठित देखकर आपने विवाद को भी परिगणित कर दिया। यदि केशव का आधार यही रहा हो तो तर्क को आपने अत्यधिक स्थूल में गृहीत किया है। वस्तुतः तर्क एक मनोदशा का नाम है।[1] विवाद की स्थिति वैसी नहीं है। यदि केशव ने कम-से-कम अपने नवोद्भावित व्यभिचारी भावों के भी लक्षण और उदाहरण दे दिए होते तो इन्हें समझने में कुछ आसानी हो जाती। आपाततः, विवाद एक असंगत व्यभिचारी भाव प्रतीत होता है।

चिन्तामणि

अनुभावः—चिन्तामणि के अनुसार लोक-जीवन में जिन्हें कार्य कहते है उन्हीं कटाक्षादि रूपी मधुर अंग-प्रदर्शनात्मक कार्यों को काव्य में अनुभाव कहते हैं। ये स्थायीभावों को अनायास ही प्रकट कर देते हैं।[2] चिन्तामणि का यह अनुभाव-लक्षण प्रतापरुद्र यशोभूषण के प्रणेता विद्यानाथ और उनके टीकाकार कुमारस्वामी के

---

१. साहित्यदर्पण। ३।१७१। २. कविकुलकल्पतरु। ६।१-२।

लक्षणों पर आधारित है[1]। चिन्तामणि ने स्तम्भ-स्वेदादि आठ सात्त्विक भावों का भी उल्लेख किया है, पर उनकी गणना अनुभावों में की जाय अथवा व्यभिचारी भावों में, इस पर आपने थोड़ा भी प्रकाश नहीं डाला। "मौनं सम्मति लक्षणम्" के अनुसार संस्कृत काव्य शास्त्र की परम्परागत मान्यता में आपके विश्वास का अनुमान लगाकर उन्हें अनुभाव स्वीकार किया जा सकता है।

व्यभिचारीभाव:— चिन्तामणि ने इन्हें संचारी भाव कहा है। इनके स्वरूप का निर्देश करते हुए आपने स्वीकार किया है कि ये स्थायीभावों के अनुकूल (अभिमुख) बने रहते हैं और उसी तरह स्थायीभावों में उत्पन्न और विलीन होते हैं, जैसे सागर में तरंगें[2]। धनंजय और विश्वनाथ के लक्षणों का प्रभाव सुस्पष्ट है। चिन्तामणि ने केवल ३० प्रकार के संचारी भावों का उल्लेख किया है।[3] भरत से जगन्नाथ पर्यन्त जिन संचारीभावों की चर्चा की गई है, उनमें से शंका, व्याधि और ग्लानि इन भेदों को आपने छोड़ दिया है। यद्यपि ये तीनों ही व्यभिचारीभाव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, फिर भी किसी कारण विशेष से प्रेरित होकर ही आपने इन्हें छोड़ा होगा। "तीस कहे निर्वाद" — इस उक्ति से आपने उपर्यंकित तीन भेदों की विवादग्रस्तता की ओर संकेत तो कर दिया है किन्तु उस विवाद का स्पष्टीकरण नहीं किया।

संचारीभावों के लक्षण-निर्माण में आपने धनंजय, विश्वनाथ और विद्यानाथ के लक्षण ग्रन्थों से भरपूर सहायता ली है। उदाहरणार्थ चिन्तामणि-प्रतिपादित निर्वेद, जड़ता, अमर्ष, निद्रा और मोह के लक्षणों की तुलना धनंजय के लक्षणों से, गर्व, विबोध, हर्ष, स्मृति, लज्जा और मति के लक्षणों की तुलना विश्वनाथ के लक्षणों से तथा उग्रता, अपस्मार आदि लक्षणों की तुलना विद्यानाथ से करने पर विषय की सत्यता भलीभांति प्रमाणित हो जाती है।[4] कहीं-कहीं चिन्तामणि ने परम्परागत लीक से हटकर मौलिकता भी प्रदर्शित की है। मद और मरण के लक्षण इसके सुन्दरतम निदर्शन हैं। जहां धनंजय, विश्वनाथ प्रभृति आचार्यों ने मात्र मद्य को ही मद का उत्पादक कारण माना, वहां चिन्तामणि ने धन, विद्या, रूप और मदिरा इन सबों को मद का कारण स्वीकार किया।[5] इसी प्रकार मरण

---

१. तुलना कीजिए—(क) प्र० रु० य०। पृ० २२२
(ख) कुमारस्वामी: रत्नापण, पृ० २२३।

२. कविकुलकल्पतरु। ६।८-९।   ३. वही। ६।१०-१२।

४. (क) वही। ६। १५, २७, २०, ४२, ५८, ६५ और दशरूपक। ४। ९, १३, १०, १८, २३, ३६। (ख) वही। ६।४४, ६०, ३०, ४६, ६२, ६७ और साहित्यदर्पण। ३।१५४, १५१, १६५, १६२, १६३। (ग) वही। ६।६३ और प्रतापरुद्रयशोभूषण। पृ०—२५७।

५. क० कु० क०। ६।५२। तुलनार्थ- दशरूपक। ४।२१ और सा० द० ३।१४६।

के सम्बन्ध में संस्कृत काव्यशास्त्रियों का कहना है कि कविता में उसका वर्णन वर्जित है। चिन्तामणि ने बड़ी स्पष्टता के साथ बताया कि वीररस में तो मृत्यु का वर्णन उद्दीपनकारी होने के कारण वर्णनीय है किन्तु शृङ्गारादि रसों में यह अवांछित है[1]। इस प्रकार चिन्तामणि ने यदि एक ओर सफलता के साथ परम्परा-पालन किया तो दूसरी ओर कतिपय मौलिक बातें भी बताईं।

तोष

सुधानिधि में तोष ने अनुभाव-लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा कि जब मुखविकार और नेत्र विकार हृदय की बातों (स्थायीभावों) को प्रकट कर देते हैं तो उन्हें ही विमलमति काव्य-मीमांसक अनुभाव की संज्ञा देते हैं[2]। तोष के इस लक्षण में थोड़ी सी संकीर्णता है। विभिन्न-रसों के अनुभाव, वस्तुतः, मुखविकार और नेत्रविकार के अन्तर्गत आ जायेंगे किन्तु ऐसी भी अनेक शारीरिक क्रियायें (अनुभाव) हैं जो हाथ, पांव आदि अन्य इन्द्रियों के द्वारा व्यक्त होती हैं। ऐसी स्थिति में मुखविकारों और नेत्रविकारों तक ही अनुभावों को सीमित रखना ठीक नहीं हैं। इन्द्रिय–विकार ही समीचीन शब्द है। इसके अन्तर्गत पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां और मन–इन एकादश इन्द्रियों का ग्रहण होता है और तज्जन्य सभी विकार अनुभाव कहलायेंगे। स्तम्भ स्वेदादि आठ प्रकार के परम्परागत सात्त्विक भावों की चर्चा भी तोष ने की है तथा इन्हें स्पष्ट शब्दों में अनुभाव स्वीकार किया है—

अनुभावहि में होत है आठ भांति के भाव।
ताको सात्त्विक कहत हैं, जे प्रबीन कविराव[3]॥

इन सात्त्विक भावों के अनुभावान्तर्गत सन्निवेश के लिए भी तोष को अनुभाव-लक्षण अधिक व्यापक बनाना चाहिए था, पर वैसा न कर आपने विचार-शैथिल्य का ही परिचय दिया है।

संचारीभाव—तोष ने ३३ प्रकार के परम्परा-मान्य संचारी भावों (चरभाव) का ही उल्लेख किया है।[1] भरत-प्रतिपादित नामों और भेदों को आपने यथावत् रख दिया है। यदि किसी तरह का परिवर्तन भी है तो केवल छन्दपूर्ति के लिए उनके रखने के क्रम में ही। इसके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की नवीनता या परिवर्तन नहीं है। लक्षणों में यथासम्भव विश्वनाथ और धनंजय का अनुकरण किया गया है।

मतिराम

मतिराम का रसराज मात्र शृंगार रस के निरूपणार्थ रचा गया है। अतएव

१. क० कु० क०। ६।४९-५०। २. सुधानिधि। छन्द १०।
३. वही। छन्द ३८८ और ३८९। ४. सुधानिधि। ४७१, पु० १६०

रसोपादानों के लक्षण-निर्माण के समय भी मतिराम की दृष्टि रस-सामान्य तक न जाकर केवल श्रृंगार तक ही सीमित रही है। फलतः आपके लक्षणों मेंएक दृष्टि से एकांगिता आ गई है किन्तु आपके श्रृंगार-निरूपणमयी उद्देश्य को ध्यान में रखकर यदि विचार किया जाय तो आप इस दोष के भागी नहीं माने जा सकते।

अनुभाव :—मतिराम ने अनुभाव उन्हें माना है जिन्हें देखकर आश्रय के चित्त में विद्यमान रतिरूप स्थायीभाव का भलीभांति अनुभव हो सके। इन अनुभावों को श्रृंगार रस के अनुभाव ही मानना चाहिए। श्रृंगार-परिचायक अनुभावों की गणना न कराके मतिराम ने उन अवयवों का उल्लेख भर कर दिया है जिनके माध्यम से ये अनुभाव व्यक्त हो पाते हैं। वे अवयव हैं—लोचन, बचन, प्रसन्नता, हास, धृति और मोद[1]। मतिराम के इस अंश पर भरत और भानुदत्त का प्रभाव[2] तो स्पष्ट है ही, किन्तु आपने उसका समुचित एवं सफल निर्वाह भर किया है। सात्त्विक भावों को मतिराम ने स्पष्टतः अनुभाव स्वीकार किया है।[3] परम्परागत स्तम्भ-स्वेदादि आठ सात्त्विक भावों को बताकर जृंभा नामक एक नवम सात्त्विक भाव का भी उल्लेख आपने किया है तथा इसकी उत्पत्ति आलस्य से बताई है[4]। यह ठीक है कि जृंभा की उत्पत्ति आलस्य से होती है। आचार्य विश्वनाथ ने भी आलस्य रूपी संचारी भाव को जृंभा का जनक बताया है—"आलस्यं श्रमगर्माद्यै र्जाड्यं जृम्भासितादिकृत"। (सा. द.। ३।१५५) किन्तु यहाँ विवेचनीय विषय यह है कि आलस्य से उत्पन्न जृंभा को एक स्वतन्त्र सात्विक भाव माना जाय या नहीं। सत्त्वमन से संभूत भाव ही सात्विक भाव कहलाते हैं तथा सत्वमन से उत्पन्न स्तम्भ-स्वेदादि सात्विक भाव कहाते हैं। किन्तु जृंभा की उत्पत्ति सत्वमन से कदाचित् ही होती है। जिस आलस्य का उद्भव तमोगुण से हो, उससे उत्पन्न जृंभा को सात्विक (सत्वसंभूत) भाव किस प्रकार माना जा सकता है। निष्कर्ष यह कि मतिराम ने एक अतिरिक्त सात्विकभाव का उल्लेख कर मौलिकता प्रदर्शित करनी तो चाही है पर विवेचना की कसौटी पर यह भेद खरा नहीं उतरता। उपर्युक्त सात्विक भावों के लक्षणों पर विश्वनाथ के साहित्य दर्पण का प्रभाव है। अतएव श्रृङ्गाररस-सम्बन्धी उदाहरण होने पर भी लक्षणों में व्यापकता आ गई है।

व्यभिचारी भाव :—मतिराम ने व्यभिचारी भावों का उल्लेख नहीं किया है। न तो आपने श्रृंगार-रस के स्वरूप का कहीं एकत्र निर्देश किया और न उसके सभी उपादानों के उल्लेख की आवश्यकता ही समझी। विभाव और अनुभाव का उल्लेख करके भी व्यभिचारी भावों के सम्बन्ध में आप मौन रहे। यह प्रभाव प्रायः रसमंजरी का है। भानुमिश्र ने रसमंजरी में नायिका-भेद निरूपण ही किया है, रस के

---

१. रसराज।३०९, ३१०। २. वही।३१२। ३. वही।३१३।
४. वही।३१४, ३३९।

उपकरणों का नहीं । अतएव नायिका-भेद निरुपण को ही शृंगार में प्रमुखता देने वाले[1] मतिराम ने रस के उपकरणों में संचारी भाव का उल्लेख नहीं किया और वे भूल गये कि भानुमिश्र ने रसोपकरणों के लिए रसतरंगिणी नामक पृथक् ग्रन्थ ही लिखा है, किन्तु आपने वैसा भी नहीं किया । यह मौनावलम्बन आचार्यत्व का व्याघातक है ।

कुलपति

अनुभाव :—कुलपति ने रसरहस्य में रस के उपकरण अनुभाव और संचारी-भावों पर प्रकाश डाला है । जो आश्रय के हृदयस्थित स्थायीभावों को दूसरे के सामने प्रकट कर देते हैं, वे अनुभाव कहे जाते हैं । इसके अन्तर्गत आश्रय की उक्तियां, वक्रदृष्टि, आलिंगन, चुम्बन तथा सभी प्रकार के सात्विकभाव आदि गृहीत किए जाते हैं ।[2] कुलपति की इस उक्ति से यह नितान्त स्पष्ट है कि स्तम्भस्वेदादि सभी सात्विक भावों को आपने अनुभाव स्वीकार किया है । ये आन्तरभाव होते हुए भी बाह्य क्रियाओं के रूप में प्रकट होते है, अतएव इन्हें अनुभव कहना ही अधिक न्याय्य एव युक्तिसंगत है । कुलपति ने आश्रय की उक्तियों को भी अनुभाव माना है । वस्तुत: विभिन्न उक्तियों के द्वारा स्थायीभावों की जैसी व्यंजना संभव है, वैसी अन्य शारीरिक व्यापारों के द्वारा नहीं ।[3] रीतिकालीन साहित्य में आश्रय की उक्तियों की अनुभावा-त्मकता की ओर कम आचार्यों का ध्यान गया है । कुल मिलाकर संक्षेप में ही कुल-पति की अनुभाव व्याख्या अत्यन्त स्पष्ट एवं युक्तिसंगत है ।

संचारी भाव :—कुलपति के अनुसार संचारीभाव वे हैं जो स्थायीभावों का पोषण करते हैं तथा सभी रसों में संचार करते हैं ।[4] वस्तुत: संचारीभावों के ये ही दो गुण प्रधान हैं—स्थायीभावों की सहायता करना तथा अनियत संबंध से विभिन्न रसों में उपस्थित होना । फिर भी अस्थायित्व, जो उनकी अन्यतम विशेषता है, के सम्बन्ध में कुलपति मौन हैं । यों सभी रसों में संचरण करने के कारण उनकी चंच-लता का आक्षेप किया जा सकता है, तथापि इसका स्पष्ट उल्लेख वांछित था (द्र० स्थायिन्युन्मग्न-निर्मग्ना: कल्लोला इव वारिधौ । धनंजय ४/७) । संचारी भावों की संख्या कुलपति ने परम्परागत रूप में ३३ बतायी है । इनके लक्षण भी विश्वनाथ के अनुकरण पर अत्यन्त संक्षिप्त एवं स्पष्ट हैं । अन्य रीतिकालीन आचार्यों की तरह प्रत्येक संचारीभाव के लक्षण-निरूपणार्थ आपने एक स्वतन्त्र छन्द नहीं लिख मारा है । उदाहरणार्थ मोह, स्मृति, धृति, निद्रा, अमर्ष इन दो-चार संचारीभावों के लक्षणों की तुलना साहित्यदर्पण के इन्हीं लक्षणों से की जा सकती है ।[5] फिर भी कहीं कहीं संचारीभावों के लक्षण में शैथिल्य आ गया है और प्रतिपाद्य विषयों के निरूपण में

---

१. रसराज ३ । २. रसरहस्य ३/१२, १६ । ३. भाव या मनोविकार । पृ० ३ ।
४. रसरहस्य ३/१२-१३ । ५. वही ३/२२, २३, २७ । तथा सा० द० ३/१५० ।

कुलपति भटक गए है। मद, दैन्य आदि संचारीभावों के लक्षण इसी कोटि के हैं।[1] अनुभावों की तुलना लौकिक कार्यों से तथा संचारी भावों की तुलना सहकारी कारण से करना आप भूल गए हैं; अन्यथा विषय प्रतिपादन और अधिक स्पष्ट हुआ होता।

देव

देव के भाव विलास और शब्द-रसायन में रस के उपकरणों की चर्चा है। इन दोनों ग्रन्थों में भी भाव-विलास में लक्षण, भेद, उदाहरण, अन्तर्भाव आदि अधिक स्पष्ट हैं। यद्यपि प्रौढ़ता की दृष्टि से शब्द-रसायन को ही अधिक महत्व दिया जाता है तथापि विशदता एवं स्पष्टता की दृष्टि से भावविलास भी अपना महत्व रखता है। शब्द-रसायन में रूपक के माध्यम से रस-स्वरूप का निर्धारण अच्छा हुआ है।

अनुभाव :—जिन्हें देखकर आलम्बन और आश्रय परस्पर रसों (स्थायी-भावों) का अनुभव करते हैं, उन्हीं को काव्यशास्त्रीय अनुभाव कहते हैं। जिनसे रस उत्पन्न होते हैं वे तो विभाव हैं और जो रस को प्रकट कर देते हैं (जगावैं) वे अनुभाव हैं। आनन और नेत्रों की प्रसन्नता, चल चितवन, मुसकान आदि के अभिनय ही शृंगार के अनुभाव हैं।[2] देव के इस अनुभाव लक्षण में सर्वाधिक खटकने वाली बात यह है कि अनुभावों के द्वारा रस-बोध या स्थायी भावबोध आलम्बन और आश्रय परस्पर करते हैं। सच्ची बात तो यह है कि रस-बोध के अधिकारी काव्य के पाठक और श्रोता हैं, आलम्बन और आश्रय नहीं। यों लोकजीवन में प्रत्यक्ष रसानुभूति भी होती है, पर काव्यशास्त्र का इससे कोई सम्बन्ध नहीं रहा है। रामचन्द्र शुक्ल ने प्रत्यक्ष रूपविधान के द्वारा जागरित भावों और उनकी अनुभूति की चर्चा परवर्ती काल में आकर की है।[3] प्राय: वहां तक देव की दृष्टि नहीं जा सकी है और उनके अनुभाव-निरूपण में शैथिल्य आ गया है। यह दोष उन्हीं की परवर्ती रचना शब्द-रसायन में नहीं आया है। चूंकि यह उनकी प्रौढ़ावस्था की कृति है। यहाँ आपने उन्हें अनुभाव स्वीकार किया, जिनसे भाव जाने जायं।[4] इन अनुभावों के द्वारा भाव-बोध किसे होता है, इस सम्बन्ध में मौन रहकर अपनी प्राक्तन त्रुटि का आपने परिमार्जन कर लिया है। क्योंकि यह सर्वमान्य विषय है कि सहृदयों को ही रसानुभूति होती है।

संचारी भाव :—देव के अनुसार सभी रसों में संचरण करने वाले भाव संचारी कहलाते हैं। ये विभाव और अनुभाव से सर्वथा न्यारे हैं। इनके दो भेद हैं—शारीर और आन्तर। शारीर नामक संचारी भावों के अन्तर्गत स्तम्भ, स्वेद रोमांच आदि आठ सात्विक भाव हैं और आन्तर संचारी भावों में निर्वेदादि ३३ या ३४

१. रसरहस्य ३/२०, २२ और सा० द० ३/१४६, ३/१४५। २. भावविलास। विलास १, पृ० १४। ३. चिन्तामणि, भाग १, रसात्मक बोध के विविधरूप। पृ० २४३। ४. शब्द रसायन, प्रकाश ३, पृ० ३४।

(छल को जोड़कर) भाव हैं ।[1] देव के संचारीभाव लक्षण में एक तो दोष यह है कि आपने केवल उसके व्यभिचारित्व पर ही प्रकाश डाला है, रस-पोषकता और चंचलता जो उसके विशिष्ट गुण हैं उनका उल्लेख नहीं किया । दूसरी बात यह कि भानुदत्त के अनुकरण पर[2] संचारी भावों को शारीर और आन्तर नामक दो वर्गों में बांट कर सात्विक भावों को शारीर संचारीभाव स्वीकार किया । यह ठीक है कि सात्त्विकभावों में अनुभाव और संचारी दोनों होने की योग्यता है । एक ओर सत्त्व-संभूत होने के कारण मानस–धर्मिता उनमें आ जाती है और इसी विशेषता के आधार पर उन्हें संचारीभाव की संज्ञा मिलनी चाहिए और दूसरी ओर बाह्य शारीर व्यापार के रूप में प्रकट होने के कारण उन्हें अनुभाव भी कहना चाहिए और ऐसा कहा भी गया है । तथापि ऐसी स्थिति में विश्वाथ की तरह सात्त्विक भावों का उभयधर्मिता की ओर संकेत कर देना आवश्यक था ।[3] सच्ची बात तो यह है कि ये न अनुभाव हैं और न संचारीभाव, इन दोनों से विलक्षण सात्त्विक भाव हैं । अतएव प्राचीन आचार्यों ने इन आठ सात्त्विक भावोंको सर्वथा पृथक् रखा भी है । डा. नगेन्द्र ने सात्त्विक भावों की रस-विलासकता के आधार पर उनके संचारीभाव होने का समर्थन किया हैं ।[4] यदि मात्र रस-पोषक होने के कारण ही किसी रसोपकरण को संचारीभाव मान लिया जावे तो मेरा निवेदन है कि विभाव और अनुभाव भी इस घेरे से बाहर नहीं जायेंगे । रस निष्पत्ति में प्रत्येक उपकरण किसी न किसी रूप में सहायता करता ही है ।

संचारीभावों की संख्या देव ने भाव-विलास में परम्परागत तेंतीस प्रतिपादित की और अन्त में 'छल' नामक एक चौंतीसवां संचारीभाव भी जोड़ दिया ।[5] यह देव की नवोद्भावना नहीं है इस ओर उनका स्पष्ट सकेत भी है । भानुदत्त ने रस-तरंगिणी में इसका उल्लेख किया है ।[6] शुक्ल जी ने इनका अन्तर्भाव अवहित्थ में कर दिखाया है । किन्तु दोनों में अन्तर है—एक में व्यवहार का गोपन होता है और दूसरे में क्रिया का । फिर भी व्यवहार को व्यापकार्थक मान लिया जाय तो क्रिया उसी के अन्तर्गत हो जाती है । जो हो, 'त्रयस्त्रिंशद् मिदाः' तो उपलक्षण मात्र है—भेद और बढ़ाए जा सकते हैं किन्तु बहुत सोच-समझकर । जगन्नाथ ने इसीलिए अन्य भेदों का उल्लेख करके भी संचारीभाव की संख्या-वृद्धि करने को मना किया । देव ने भी काव्यरसायन में भेदों की संख्या ३३ तक ही रक्खी[7]—यह उनकी प्रौढ़ि का

---

१. भावविलास, वि० २, पृ० २१ । २. र० त० तरंग, १, पृ० ८-९ ।
३. साहित्यदर्पण, ३।१३४, १३५ । ४. देव और उनकी कविता, पृ० १४० ।
५. (क) भा० वि० २ । पृ० २८, (ख) वही, २ । पृ० ६० ।
६. (क) र० त०, तरंग ५, पृ० १०९-१०, (ख) भा० वि०, वि० २, पृ० ५९ ।
७. शब्दरसायन, प्रकाश, ३, पृ० ३० ।

संचारीभाव—रत्यादि स्थायीभावों की सहायता के लिए जो उद्भूत और तिरोभूत होते हैं, वे ही भाव संचारी कहलाते हैं, यथा निर्वेदादि।[1] संचारी भावों के इस लक्षण में अनेक-रसनिष्ठत्व पर ध्यान नहीं दिया गया है। इसी विशेषता के बल पर तो वे संचारी भाव या व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। अतएव लक्षण में एकांगित्व दोष है। संचारी भावों की संख्या कुमारमणि ने भरत के अनुसार ३३ स्वीकार की है और इसप्रसंग में नाट्यशास्त्र के तीन श्लोकों को भी उद्धृत कर दिया है। आगे चलकर आपने भानुदत्त के अनुकरण में यह कहना चाहा कि रत्यादि स्थायी भाव भी अन्य रसों में आकर व्यभिचारी भाव की पदवी धारण कर लेते हैं। पर अपने प्रतिपाद्य को संभाल नहीं सके। कुमारमणि का कहना है कि रति पुत्रादि विषयक होने पर, हास ज्येठादि विषयक होने पर, शोक अचेतन निष्ठ होने पर, क्रोध पुत्रादि विषयक होने पर, उत्साह कायरनिष्ठ होने पर, भय वीर विषयक होने पर तथा विस्मय ज्ञानी विषयक होने पर—संचारी कहलाते हैं।[2] यह ठीक है कि अनुकूल आलम्बनों के संग रहकर ही स्थायीभाव रसदशा को प्राप्त होते हैं किन्तु तद्विपरीत होने पर उनमें व्यभिचारित्व नहीं आ जाता है। ऐसी स्थिति में रसाभास या भावाभास माने जाते हैं, इन स्थायीभावों को व्यभिचारी भाव न कहा जाता है और न ऐसा सम्भव ही है। अतएव कुमारमणि का संचारीभाव विवेचन युक्तसंगत नहीं है।

सोमनाथ

सोमनाथ को रस पीयूषनिधि और शृङ्गार विलास नामक दोनों सिद्धान्त ग्रंथों में रसोपकरणों का विवरण मिलता है। अतएव इन दोनों के प्रतिपाद्य विषय को समन्वित रूप से ग्रहीत करके ही आपके मन्तव्य का समुचित निर्णय किया जा सकता है।

अनुभाव—जो रस के अर्थात् आश्रयनिष्ठ स्थायीभावों को सहृदयों के समक्ष प्रकाशित कर देते हैं, वे ही अनुभाव हैं।[3] इसके अन्तर्गत हास, कटाक्ष, रसमय वचन, चुम्बन, स्तम्भादि आठ सात्त्विक भाव आदि आते हैं।[4] स्पष्ट है कि सोमनाथ ने सात्त्विक भावों को अनुभावों में ही परिगणित किया है, संचारी भावों में नहीं। यही कारण है कि आपने चार भाव (विभाव, अनुभाव, संचारीभाव, स्थायीभाव) स्वीकार करके भी अन्तिम दो भावों को आन्तर भाव कहा और प्रथम दो को शारीर भाव कहा है।[5]

---

१. र० र० ४।२५।
२. र० र० ४।९४-९७, र० त० त०, ५, पृ० ११४ (अन्तिम अंश)।
३. र० पी० नि० (या० संग्रहालय) १।१६ (वृ०)।
४. र० पी० नि० ७।१५-१६ और शृङ्गार-विलास १।११-१३। ५. वही, १।९।

द्योतक हैं। इसी प्रकार वितर्क नामक संचारीभाव के आपने चार भेद प्रस्तुत किए हैं—विप्रतिपत्ति, विचार, संशय और अध्यवसाय, किन्तु यह भी भानुदत्त की ही नकल है, नवीनता नहीं।[1]।

कुमारमणिभट्ट

अनुभाव—रसिक-रसाल के प्रणेता कुमारमणि के अनुसार अनुभाव वे हैं जिनसे रस-भाव अर्थात् स्थायीभावों का अनुभव हो जाय। जैसे, भुजोत्क्षेप, कटाक्ष, हास्य तथा तन-मन और वचन के सारे स्वभाव (विकार) आदि। इन अनुभावों को कुमारमणि ने भरत की तरह कायिक, सात्त्विक, मानसिक और आहार्य नामक चार वर्गों में विभाजित कर दिया है। साथ ही आपने यह भी प्रतिपादित किया है कि नायिका-निष्ठ कटाक्षादि अनुभाव नायक के लिए उद्दीपन का कार्य सम्पादित करते हैं।[2] कुमारमणि का अनुभाव-लक्षण शास्त्र सम्मत तो है ही, साथ ही विराट फलक पर प्रस्तुत भी। कायिक, सात्त्विक, मानसिक और आहार्य नामक चतुर्वर्गीय होने के कारण तथा 'तनुमनवचन सुभाव' रूपी होने के कारण निश्चय ही कुमारमणि के अनुभाव-स्वरूप प्रतिपादन में बड़ी व्यापकता आ गई है। इसके अतिरिक्त नायिका के अनुभावों को नायक का उद्दीपन मानने में आपने तत्त्वग्राहिनी आलोचना-शक्ति का भी परिचय दिया है। किंतु इस प्रसंग में मेरा निवेदन है कि नायिका की शारीरिक चेष्टाएं नायक के लिए उद्दीपन हो सकती हैं, अनुभाव नहीं। अनुभावों की सत्ता तो केवल सहृदयों के लिए है, स्वयं नायक-नायिकाओं के लिए नहीं। आवश्यकता है केवल शब्द-परिवर्त्तन की। पुनः प्रत्येक रस के संभावित अनुभावों की पृथक्-पृथक् तालिका भी कुमारमणि ने दी है।[3] कुमारमणि की इस शैली तथा विषय प्रतिपादन पर भानुदत्त का प्रचुर प्रभाव है।

आठप्रकार के परम्परागत सात्त्विक भावों का भी आपने उल्लेख किया है। ये सात्त्विक भाव अनुभाव कोटि में रखे जायं या संचारी भाव की कोटि में—इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट निर्णय कुमारमणि का नहीं है किंतु इस ओर संकेत आपने किया है। स्थायी और संचारी को तो भानुदत्त की तरह आपने आन्तर भाव माना, पर स्तम्भादि आठ सात्त्विकभावों को शारीरभाव। आपको यह भी ज्ञात है कि ये स्तम्भादि विकार चित्त के सत्त्वावस्थापन्न होने पर ही उत्पन्न होते हैं किंतु अभिव्यक्ति शरीर के माध्यम से ही होती है--अतएव ये शारीरिक भाव ही हैं, संचारी की तरह आन्तर भाव नहीं।[4] फलतः शरीर-जन्यता पर बल होने के कारण इनकी अनुभावात्मकता कुमारमणि को अभीष्ट है—ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

---

१. (क) भा० वि०, वि० २, पृ० ५७, (ख) र० त०, तरंग ५, पृ० १०५।
२. र० र०, ४।११२, ११५, र० त०, त० ३, पृ० ४९।
३. र० र०, ४।१०७-१३८ और र० त० ३।२-१९।
४. (क) र० र० ४।९८, (ख) वही ४।२ (व्य० स०)।

संचारीभाव—रत्यादि स्थायीभावों की सहायता के लिए जो उद्भूत और तिरोभूत होते हैं, वे ही भाव संचारी कहलाते हैं, यथा निर्वेदादि।[1]संचारी भावों के इस लक्षण में अनेक-रसनिष्ठत्व पर ध्यान नहीं दिया गया है। इसी विशेषता के बल पर तो वे संचारी भाव या व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। अतएव लक्षण में एकांगित्व दोष है। संचारी भावों की संख्या कुमारमणि ने भरत के अनुसार ३३ स्वीकार की है और इसप्रसंग में नाट्यशास्त्र के तीन श्लोकों को भी उद्धृत कर दिया है। आगे चलकर आपने भानुदत्त के अनुकरण में यह कहना चाहा कि रत्यादि स्थायी भाव भी अन्य रसों में आकर व्यभिचारी भाव की पदवी धारण कर लेते हैं। पर अपने प्रतिपाद्य को संभाल नहीं सके। कुमारमणि का कहना है कि रति पुत्रादि विषयक होने पर, हास ज्येठादि विषयक होने पर, शोक अचेतन निष्ठ होने पर, क्रोध पुत्रादि विषयक होने पर, उत्साह कायरनिष्ठ होने पर, भय वीर विषयक होने पर तथा विस्मय ज्ञानी विषयक होने पर—संचारी कहलाते हैं।[2] यह ठीक है कि अनुकूल आलम्बनों के संग रहकर ही स्थायीभाव रसदशा को प्राप्त होते हैं किन्तु तद्विपरीत होने पर उनमें व्यभिचारित्व नहीं आ जाता है। ऐसी स्थिति में रसाभास या भावाभास माने जाते हैं, इन स्थायीभावों को व्यभिचारी भाव न कहा जाता है और न ऐसा सम्भव ही है। अतएव कुमारमणि का संचारीभाव विवेचन युक्तसंगत नहीं है।

सोमनाथ

सोमनाथ को रस पीयूषनिधि और शृङ्गार विलास नामक दोनों सिद्धान्त ग्रंथों में रसोपकरणों का विवरण मिलता है। अतएव इन दोनों के प्रतिपाद्य विषय को समन्वित रूप से ग्रहीत करके ही आपके मन्तव्य का समुचित निर्णय किया जा सकता है।

अनुभाव—जो रस के अर्थात् आश्रयनिष्ठ स्थायीभावों को सहृदयों के समक्ष प्रकाशित कर देते हैं, वे ही अनुभाव हैं।[3] इसके अन्तर्गत हास, कटाक्ष, रसमय वचन, चुम्बन, स्तम्भादि आठ सात्त्विक भाव आदि आते हैं।[4] स्पष्ट है कि सोमनाथ ने सात्त्विक भावों को अनुभावों में ही परिगणित किया है, संचारी भावों में नहीं। यही कारण है कि आपने चार भाव (विभाव, अनुभाव, संचारीभाव, स्थायीभाव) स्वीकार करके भी अन्तिम दो भावों को आन्तर भाव कहा और प्रथम दो को शारीर भाव कहा है।[5]

---

१. र० र० ४।२५।
२. र० र० ४।९४-९७, र० त० त०, ५, पृ० ११४ (अन्तिम अंश)।
३. र० पी० नि० (या० संग्रहालय) १।१६ (वृ०)।
४. र० पी० नि० ७।१५-१६ और शृङ्गार-विलास १।११-१३। ५. वही, १।९।

द्योतक हैं। इसी प्रकार वितर्क नामक संचारीभाव के आपने चार भेद प्रस्तुत किए हैं—विप्रतिपत्ति, विचार, संशय और अध्यवसाय, किन्तु यह भी भानुदत्त की ही नकल है, नवीनता नहीं।[1]।

कुमारमणिभट्ट

अनुभाव—रसिक-रसाल के प्रणेता कुमारमणि के अनुसार अनुभाव वे हैं जिनसे रस-भाव अर्थात् स्थायीभावों का अनुभव हो जाय। जैसे, भुजोत्क्षेप, कटाक्ष, हास्य तथा तन-मन और वचन के सारे स्वभाव (विकार) आदि। इन अनुभावों को कुमारमणि ने भरत की तरह कायिक, सात्विक, मानसिक और आहार्य नामक चार वर्गों में विभाजित कर दिया है। साथ ही आपने यह भी प्रतिपादित किया है कि नायिका-निष्ठ कटाक्षादि अनुभाव नायक के लिए उद्दीपन का कार्य सम्पादित करते हैं।[2] कुमारमणि का अनुभाव-लक्षण शास्त्र सम्मत तो है ही, साथ ही विराट फलक पर प्रस्तुत भी। कायिक, सात्त्विक, मानसिक और आहार्य नामक चतुवर्गीय होने के कारण तथा 'तनुमनवचन सुभाव' रूपी होने के कारण निश्चय ही कुमारमणि के अनुभाव-स्वरूप प्रतिपादन में बड़ी व्यापकता आ गई है। इसके अतिरिक्त नायिका के अनुभावों को नायक का उद्दीपन मानने में आपने तत्त्वग्राहिनी आलोचना-शक्ति का भी परिचय दिया है। किंतु इस प्रसंग में मेरा निवेदन है कि नायिका की शारीरिक चेष्टाएं नायक के लिए उद्दीपन हो सकती हैं, अनुभाव नहीं। अनुभावों की सत्ता तो केवल सहृदयों के लिए है, स्वयं नायक-नायिकाओं के लिए नहीं। आवश्यकता है केवल शब्द-परिवर्त्तन की। पुनः प्रत्येक रस के संभावित अनुभावों की पृथक्-पृथक् तालिका भी कुमारमणि ने दी है।[3] कुमारमणि की इस शैली तथा विषय प्रतिपादन पर भानुदत्त का प्रचुर प्रभाव है।

आठप्रकार के परम्परागत सात्त्विक भावों का भी आपने उल्लेख किया है। ये सात्त्विक भाव अनुभाव कोटि में रखे जायं या संचारी भाव की कोटि में—इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट निर्णय कुमारमणि का नहीं है किंतु इस ओर संकेत आपने किया है। स्थायी और संचारी को तो भानुदत्त की तरह आपने आन्तर भाव माना, पर स्तम्भादि आठ सात्त्विकभावों को शारीरभाव। आपको यह भी ज्ञात है कि ये स्तम्भादि विकार चित्त के सत्त्वावस्थापन्न होने पर ही उत्पन्न होते हैं किंतु अभिव्यक्ति शरीर के माध्यम से ही होती है--अतएव ये शारीरिक भाव ही हैं, संचारी की तरह आन्तर भाव नहीं।[4] फलतः शरीर-जन्यता पर बल होने के कारण इनकी अनुभावात्मकता कुमारमणि को अभीष्ट है---ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

---

१. (क) भा० वि०, वि० २, पृ० ५७, (ख) र० त०, तरंग ५, पृ० १०५।
२. र० र०, ४।११२, ११५, र० त०, त० ३, पृ० ४९।
३. र० र०, ४।१०७-१३८ और र० त० ३।२-१९।
४. (क) र० र० ४।९८, (ख) वही ४।२ (व्यं० स०)।

संचारीभाव—रत्यादि स्थायीभावों की सहायता के लिए जो उद्भूत और तिरोभूत होते हैं, वे ही भाव संचारी कहलाते हैं, यथा निर्वेदादि।[1] संचारी भावों के इस लक्षण में अनेक-रसनिष्ठत्व पर ध्यान नहीं दिया गया है। इसी विशेषता के बल पर तो वे संचारी भाव या व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। अतएव लक्षण में एकांगित्व दोष है। संचारी भावों की संख्या कुमारमणि ने भरत के अनुसार ३३ स्वीकार की है और इसप्रसंग में नाट्यशास्त्र के तीन श्लोकों को भी उद्धृत कर दिया है। आगे चलकर आपने भानुदत्त के अनुकरण में यह कहना चाहा कि रत्यादि स्थायी भाव भी अन्य रसों में आकर व्यभिचारी भाव की पदवी धारण कर लेते हैं। पर अपने प्रतिपाद्य को संभाल नहीं सके। कुमारमणि का कहना है कि रति पुत्रादि विषयक होने पर, हास ज्येठादि विषयक होने पर, शोक अचेतन निष्ठ होने पर, क्रोध पुत्रादि विषयक होने पर, उत्साह कायरनिष्ठ होने पर, भय वीर विषयक होने पर तथा विस्मय ज्ञानी विषयक होने पर—संचारी कहलाते हैं।[2] यह ठीक है कि अनुकूल आलम्बनों के संग रहकर ही स्थायीभाव रसदशा को प्राप्त होते हैं किन्तु तद्विपरीत होने पर उनमें व्यभिचारित्व नहीं आ जाता है। ऐसी स्थिति में रसाभास या भावाभास माने जाते हैं, इन स्थायीभावों को व्यभिचारी भाव न कहा जाता है और न ऐसा सम्भव ही है। अतएव कुमारमणि का संचारीभाव विवेचन युक्तसंगत नहीं है।

सोमनाथ

सोमनाथ को रस पीयूषनिधि और शृङ्गार विलास नामक दोनों सिद्धान्त ग्रंथों में रसोपकरणों का विवरण मिलता है। अतएव इन दोनों के प्रतिपाद्य विषय को समन्वित रूप से ग्रहीत करके ही आपके मन्तव्य का समुचित निर्णय किया जा सकता है।

अनुभाव—जो रस के अर्थात् आश्रयनिष्ठ स्थायीभावों को सहृदयों के समक्ष प्रकाशित कर देते हैं, वे ही अनुभाव हैं।[3] इसके अन्तर्गत हास, कटाक्ष, रसमय वचन, चुम्बन, स्तम्भादि आठ सात्त्विक भाव आदि आते हैं।[4] स्पष्ट है कि सोमनाथ ने सात्त्विक भावों को अनुभावों में ही परिगणित किया है, संचारी भावों में नहीं। यही कारण है कि आपने चार भाव (विभाव, अनुभाव, संचारीभाव, स्थायीभाव) स्वीकार करके भी अन्तिम दो भावों को आन्तर भाव कहा और प्रथम दो को शारीर भाव कहा है।[5]

---

१. र० र० ४।२५।
२. र० र० ४।९४-९७, र० त० त०, ५, पृ० ११४ (अन्तिम अंश)।
३. र० पी० नि० (या० संग्रहालय) १।१६ (वृ०)।
४. र० पी० नि० ७।१५-१६ और शृङ्गार-विलास १।११-१३। ५. वही, १।९।

स्तम्भादि सात्विक भावों का अन्तर्भाव अनुभाव में होने के कारण, उन्हें स्वत: शारीरिक भाव ही समझा जायगा। सोमनाथ की इस स्पष्टता से हम सहमत हैं कि अनुभाव और सात्त्विक भाव शरीर धर्म या शारीरिक व्यापार हैं तथा स्तम्भादि सात्त्विक भाव केवल मानसधर्मभूत संचारीभावों से भिन्न कोटि के हैं। किन्तु विभाव और अनुभाव को शारीरिक भाव मानना सर्वथा असमीचीन है। सात्त्विक भाव को भले ही शारीरिक भाव कहा जा सकता है, क्योंकि मानसिक आवेग से उत्त्यापित होकर ही वे शारीरिक विकारों के रूप में व्यक्त होते हैं। पर विभावों और अनुभावों की ऐसी स्थिति नहीं है। अतएव उन्हें भावों की सीमा से बाहर रखना चाहिए। भानुदत्त के अनुकरण पर सोमनाथ ने भी ऐसा लिखा है, पर उन्हें ठीक से नहीं समझ सकने के कारण ही ऐसी गलती हुई है। रसतरंगिणीकार ने स्पष्ट रूप से मनोविकारों को ही भाव की संज्ञा दी है। आन्तर भाव के अन्तर्गत स्थायीभावों और संचारीभावों को रखा है तथा शारीर भाव के अन्तर्गत मात्र सात्विक भावों को। विभाव और अनुभाव को नहीं। संभवत: सोमनाथ ने सात्त्विक भावादि में आदि शब्द को देखकर ही ऐसी कपोल-कल्पना की है।

संचारीभाव—संचारीभाव वे हैं जो नौ रसों में संचरण करते हैं तथा सहकारी कारण के रूप में स्थायी भावों को सहायता पहुंचाते हैं। इनकी संख्या ३३ है।[1] संचारीभवों के सारे लक्षण भानुदत्त की रसतरंगिणी पर आधारित है। उदाहरणार्थ असूया, शंका, चिंता, हर्ष, धृति आदि के लक्षणों की तुलनाकर देखा जा सकता है।[२] कतिपय ऐसे भी लक्षण हैं जहां अभिप्रेत अर्थ को स्पष्ट करने के लिए आपने थोड़ा-बहुत परिवर्तन भी किया है।

भिखारीदास

अनुभाव—कहीं क्रिया, कहीं वचन और कहीं चेष्टा से नायक-नायिकादि पात्रों के मानसिक भावों का बोध होता है। इन्हीं क्रियाओं, बचनो और चेष्टाओं को अनुभाव कहते हैं। जिन्हें विशद-मति विद्वानों ने आठ प्रकार के सात्विक भावमाने हैं, वे भी अनुभाव ही हैं। यही नहीं, शृङ्गार रस की आलम्बनाभूत नायिकाओं के हाव भाव, हेला आदि जो बीस-सात्वज अलंकार माने गये हैं, उन्हें भी अनुभावों के अन्तर्गत ही रखना चाहिए।[3] अनुभाव को दास ने कार्य माना है।[4] इस प्रकार दास

---

१. शृं० वि०, १-१९। २. (क) वही, १।२२, तरंग ५ पृ० ७६।
(ख) र० पी० नि० १।२२, र० त०, तरंग ५, पृ० ७५।
(ग) र० पी० नि० १।२४, र० त०, त० ५, पृ० ८२।
(घ) वही, १।२५ वही, ५, पृ० ८८। (ङ) वही, १।२९, वही, ५, पृ०-८६
३. (क) र० सा० छन्द ११ (ख) वही, ३५३ तथा का० नि० ४।१३।
(ग) वही, ३५१ ४. का० नि० ४।८।

ने अनुभाव के सम्बन्ध में आपेक्षित सारी सैद्धांतिक विवेचना प्रस्तुत की है, जो परम्परा-सम्मत होने के कारण युक्तियुक्त एवं उपादेय है । आपकी विवेचना पर संस्कृत आचार्यों के ग्रन्थों के प्रभाव के साथ चिंतामणि का भी प्रभाव है ।

संचारीभाव

संचारीभाव—संचारी भाव सभी रसों में संचरण करते हैं । अनियत सम्बन्ध से सभी रसों में संचरण करने के कारण इन्हें चरभाव, व्यभिचारीभाव, संचारी-भाव—इन तीनों नामों से अभिहित किया जाता है । ये व्यभिचारीभाव, स्थायीभावों के सहायक (पोषक और विलासक) हैं, कहीं अधिक सहायता पहुंचाते हैं और कहीं अत्यल्प । व्यभिचारी भावों की अन्यतम विशेषता यह है कि ये स्थायी भावों के कभी विमुख नहीं होते प्रत्युत अभिमुख ही बने रहते हैं । भावों के मध्य स्थिर रहने वाले तो केवल स्थायी भाव ही होते हैं, ये संचारी भाव तो उनके साथ उसी तरह प्रकट होते हैं जैसे समुद्र में तरंगें ।[1] भिखारीदास के संचारी भाव-वर्णन में धनंजय, विश्वनाथ और भानुमिश्र की प्रतिध्वनि स्पष्ट सुनाई पड़ती है । कोई नवीन बात तो आपने नहीं कही किंतु परम्परागत शास्त्रीय विषयों को यथावत् प्रस्तुत करने का श्रेय आपको है । कई रीति कालीन आचार्य तो इन विषयों का शुद्ध रूप में निरूपण भी नहीं कर सके ।

संचारी भावों की संख्या भी दास ने परम्परा का अनुमोदन करते हुए ३३ ही मानी है । उनके नाम भी प्राचीन ही हैं ।[2] संचारी भावों के लक्षण-आपने स्वतंत्र ढंग से निर्मित किए हैं । चलती भाषा में, बिना किसी संदर्भ ग्रन्थ की छाया ग्रहण किए आपने इन्हें प्रस्तुत किया है । उदाहरण के लिए चार पंक्तियां प्रस्तुत हैं—

निद्रा को अनुभव जमुहैवो । आलसादि ते नैन मिलैबो ।
ग्लानि जानि जहं बल न बसावै । दुरबलता असहन दुख ल्यावै ।।
श्रम उत्पत्ति परिश्रम कीन्हें । थके पसीना प्रगटे चीन्हें ।
धृति संतोष पाइ बिनु पाए । बिधि गति समुझि धीर जहि धाए ।[3]

रसलीन

अनुभाव—रसलीन ने मम्मट और विश्वनाथ की भांति अनुभावों को कार्य और चर भावों (संचारी भावों को सहकारी कारण कहा है ।[4] जो स्थायीभावों को अनायास ही प्रकट कर देते हैं, वे ही अनुभाव कहलाते हैं । यदि स्थायीभाव बीज

---

१. (क) र० सा० ४८१ (ख) वही ४८३ (ग) का० नि० ४।९,
(घ) का० नि० ४।३९, ४० । २. र० स० ४८४ और का० नि० ४।३८,
(ना० प्र० प्रकाशन) । ३. र० सा० ४८५, ४८६ और ४८७-५०० ।
४. र० प्र० ३१ ।

हैं तो अनुभाव तरु के स्थानापन्न हैं, जो उन बीजरूपी स्थायी भावों को प्रकट कर देते हैं,[1] सात्त्विक भावों को रसलीन ने तन व्यभिचारी भी कहा है और अनुभाव भी माना है ।[2] समस्त अनुभावों को आपने भरत के अनुकरण पर कायिक, मानस, आहारज और सात्त्विक नामक चार वर्गों में विभाजित कर दिया है। अनुभावों के सात्त्विक नामक भेद से भी यही स्पष्ट होता है कि तन-व्यभिचारी स्तम्भादि सात्त्विकों को शरीर-विकार होने के कारण रसलीन अनुभाव भी स्वीकार करते हैं। नायक और नायिकाओं के अनुभाव (शरीर विकार, चेष्टाएँ, व्यापार) परस्पर एक दूसरे के लिए उद्दीपनकारी भी होते हैं—अतएव श्रृङ्गार-रस में ये अनुभाव उद्दीपन विभाव भी कहलाते हैं ।[3] हाव और अनुभाव में रसलीन ने स्पष्ट अन्तर प्रतिपादित किया है, चिन्तामणि और भिखारीदास की तरह उन्हें एक श्रेणी बद्ध करने की प्रवृत्ति आपमें नहीं है।

व्यभिचारीभाव—व्यभिचारी भावों को आपने सर्वप्रथम दो भागों में बांट दिया है—तन व्यभिचारी और मन-व्यभिचारी। तन व्यभिचारी के अन्तर्गत स्तंभ-स्वेदादि आठ परम्परागत सात्त्विक भावों को गिनाया और मन व्यभिचारीके अन्तर्गत निर्वेदादि ३३ संचारीभावों को। इन मन-व्यभिचारी भावों को स्थायीभावों का नित्य सहचर कहा है। नित्यसहचर होने के कारण ये निर्वेदादि व्यभिचारी भाव स्थायी भावों के साथ रहते तो हमेशा हैं किंतु सागर में लहर की तरह कभी उत्पन्न और कभी विलीन हो जाते हैं। इनका स्वभाव है कि ये सभी रसों में फिरते रहते हैं। और प्रयोजनानुसार उन्हें सहायता पहुंचाते हैं। इन ३३ व्यभिचारी भावों में निर्वेद एक ऐसा भाव है जो स्थायी भाव भी है और व्यभिचारी भी। तत्वज्ञान के कारण संसार के प्रति अनास्था एवं अपने प्रति निरादर की भावना होने पर जो वैराग्य होता है, वह निर्वेद स्थायी है तथा विरहादि के कारण जो क्षणिक वैराग्य होता है उसे निर्वेद नामक संचारीभाव कहा जाता है। इसीप्रकार चिन्ता विप्रलंभ श्रृङ्गार में विरह-दशा के रूप में गिनी जाती है और अन्य रसों में व्यभिचारीभाव के रूप में आती है ।[4]

रसलीन का अनुभाव और संचारीभाव-विवेचन सर्वथा काव्य-शास्त्र-सम्मत है। विशेषतः सात्विक भावों को व्यभिचारी भाव और अनुभाव दोनों मानने के कारण आपकी तत्वग्राहिणी बुद्धि और पैनी दृष्टि का परिचय मिलता है। विश्वनाथ की तरह आपने स्तभादि आठ भावों को दोनों वर्गों में रखा है।

रूपसाहि

रूपविलास के प्रणेता रूपसाहि ने सर्वांगनिरूपक (यद्यपि रस, अलंकार,

---

१. (क) र० प्र०, २९ (ख) वही, ९-११। २. वही, ६७६।
३. वही, ६७७। ४. रसप्रबोध, ७९४-८०।

नायक-नायिका भेद और छन्द इसमें वर्णित हैं) ग्रन्थ लिखकर भी रस पर कई विलास लिखे हैं। पर विचित्रता यह है कि रस के उपकरणों के सम्बन्ध में आप मौन हैं। न तो आपने इनके पृथक् लक्षण और भेद दिए हैं और न उदाहरण। विभिन्न रसों के लक्षण-निरूपण क्रम में ही आपने उन-उन रसों के अनुभावों और व्यभिचारीभावों की ओर संकेत किया है। यह संकेत भी अधूरा ही है। एतावता इनके स्वरूप का निर्धारण तो नहीं हो पाता है, किन्तु इनके रसतत्व होने का परिचय मिल जाता है। भिन्न भिन्न रसों के अनुभाव और व्यभिचारी इस प्रकार हैं :—

रसों के नाम	अनुभाव	संचारी भाव	संकेतक
(१) शृंगार	कटाक्ष आदि	उन्माद आदि	रूपविलास ।११।११
(२) हास्य	—	अवहित्था	वही ।११।६०
(३) करुण	अश्रुपात	ग्लानि	वही ।११।७१
(४) रौद्र	—	—	
(५) वीर	धैरज आदि	गर्व आदि	वही ।११।७६
(६) भयानक	कंप आदि	मोह आदि	वही ।११।८२
(७) बीभत्स	निष्ठीवन (थूकना)	संमोह	वही ।११।८५
(८) अद्भुत	रोमांच	स्तम्भ आदि	वही ।११।८८
(९) शांत	—	—	

शिवनाथ

शिवनाथ की रसवृष्टि में भी अनुभाव और व्यभिचारी भावों का अत्यन्त स्थूल निरूपण हुआ है। लक्षणों से लक्ष्य के स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाते हैं तथा काव्य-शास्त्र की परम्परा से वे सर्वथा विच्छिन्न से लगते हैं। शिवनाथ को संस्कृत के सिद्धान्त ग्रन्थों का अध्ययन नहीं था। पूर्ववर्ती हिन्दी रीति ग्रन्थों का अध्ययन तो इन्होंने यत्किंचित् किया था, किन्तु उन्हें भलीभांति हृदयंगम नहीं कर सके थे। यही कारण है कि रसोपकरणों के स्वरूप-निर्धारण में शैथिल्य एवं अस्पष्टता आ गई हैं। युग की प्रवृत्ति के कारण ही एक साधारण कवि होकर भी आपने आचार्यत्व का दुर्वह उत्तरदायित्व उठाया किन्तु उसे सफलतापूर्वक सम्भाल नहीं सके।

अनुभाव :—अनुभाव को शिवनाथ ने एक भाव मान लिया है।[1] इस अतथ्य का खण्डन हम कई प्रसंगों में पीछे कर चुके हैं। आलम्बन के उन उद्दीपन कारी गुणों को आपने अनुभाव कहा है जिनसे परस्पर (नायक और नायिका में) प्रीति होती है।[2] यद्यपि शिवनाथ सभी रसों का निरूपण अपने ग्रन्थ में करने चले हैं, किन्तु निर्दिष्ट अनुभाव की सीमा शृंगार तक ही रह जाती है। अनुभाव सदा उद्दीपन

१. रसवृष्टि। १३।२। २. वही ।१३।७।

ही नहीं होते हैं, यह बात अपनी जगह पर है कि कभी-कभी आलम्बन और आश्रय-निष्ठ अनुभाव परस्पर उद्दीपनकारी होते हैं। सामान्यत: अनुभाव तो वे हैं जो आश्रयगत रत्यादि भावों को प्रकाशित कर दें।

व्यभिचारीभाव :—सभी रसों में भाव जब बिना नियम के प्रकट होते हैं तो वे व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं। इनके भेद हैं[1] मोह, कोह, आलस, जड़ता, गर्व, ग्लानि, उत्कण्ठा, उग्रता, त्रास, तर्क, मरण, व्याधि, उन्मद, चिन्ता, दुखिता, खेद, नींद, स्वप्न, अद्धवाद और रति। व्यभिचारी के लक्षण में भी अस्पष्टता स्पष्ट है। फिर भी अनुभाव-लक्षण की अपेक्षा व्यभिचारी-लक्षण अधिक समीचीन है। परम्परागत ३३ व्यभिचारी भावों के स्थान में आपने मात्र २० व्यभिचारी का ही उल्लेख किया है। इनमें भी कई भावों के नाम विकृत कर दिए गए हैं और कुछ तो समझ से परे हैं। "कोह"—केशव के अनुकरण पर लिखा गया है और आधि के स्थान में अधवाद गढ़ा गया है। पता नहीं, 'दुखिता' किस व्यभिचारी भाव का स्थानापन्न है? रति तो एक स्थायीभाव है, इसे क्योंकर व्यभिचारी भाव माना जाय? निर्वेद की ऐसी स्थिति तो इसकी है नहीं। सात्विक भावों को आपने अत्यन्त स्थूल अर्थ में गृहीत किया है, शास्त्रीय अर्थ में नहीं। ये अनुभाव हैं या व्यभिचारी भाव—यह विवेचन तो थोड़ा गम्भीर पड़ता है और उस गहराई में जाना आपके लिए सम्भव नहीं था। किन्तु स्तम्भ-स्वेदादि जो प्रचलित आठ सात्विक भाव हैं उनकी चर्चा भी आपने नहीं की और बदले में सेवन, कृपा, दया, धर्म, विनय, कर्म क्रिया, शुचि, दीनता आदि सद्‌गुणों का बखान कर गए।[2] फलत: आपके द्वारा प्रस्तुत रस के उपकरणों का विवरण अधूरा ही नहीं, भ्रान्तिपूर्ण है।

जनराज

अनुभाव :—जनराज के कवितारस विनोद नामक ग्रन्थ में पाँच प्रकार के भाव माने गये हैं—विभाव, अनुभाव, थिरभाव और स्वातिक (सात्विक भाव)। पूर्वविवेचित है कि विभाव और अनुभाव को भाव-क्षेत्र से बाहर रखना चाहिए। रसानुभूति में अनुभाव वे हैं जो स्थायीभावों को औरों के समक्ष (सहृदयों के सामने) प्रकट कर दें। यथा, बोलना, चलना, बारबार देखना, आलिंगन, चुम्बन आदि।[3] सात्विक भाव तो जनराज ने भी परम्परागत रूप में आठ ही स्वीकार किए हैं और उन्हें अनुभावों के अन्तर्गत भी रखा है। किन्तु सात्विक भावों का स्वरूप निर्धारित करते हुए आपने प्रतिपादित किया कि अनुभाव ही यत्र-तत्र अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त कर सात्विक भाव बन जाते हैं।[4] सात्विक भावों का यह लक्षण असंगत एवं अर्थहीन

---

१. (क) वही।१३।१०। (ख) रसवृष्टि। १३।१२।
२. रसवृष्टि।१३।१३-१४। ३. कविता रसविनोद (या० सं०)१०।१४-१५।
४. क० र० वि०।१०।७।

है। स्तम्भ-स्वेदादि अनुभावों की कोटि में भले ही आ जावें, किन्तु वे किन्हीं अनुभावों के बढ़े हुए किम्बा विकसित रूप नहीं हैं।

संचारीभाव :—संचारीभाव वे हैं जो सभी रसों में संचरण करते हैं तथा इनकी संख्या तैंतीस है।[1] संचारी भाव सभी रसों में संचरण तो करते हैं किन्तु अनियत सम्बन्ध से तथा आभिमुख्येन और वे क्षणस्थायी होते हैं, कभी उत्पन्न और कभी विलीन। लक्षण में संचारीभावों की सभी विशेषताओं को बांधने का प्रयास नहीं है। तथापि लक्षण में कोई असंगति नहीं है। प्रत्येक संचारी भाव का पृथक्-पृथक् लक्षण अत्यन्त सरल भाषा में निर्दिष्ट है और उसी के उत्तरार्द्ध में उदाहरण भी समन्वित कर दिया गया है।[2] लक्षणों पर भानुमिश्र का प्रभाव और शैली (लक्षण उदा० मिलित शैली) में जयदेव के चन्द्रालोक का प्रभाव स्पष्ट है।

उजियारे कवि

उजियारे की रसचन्द्रिका में यद्यपि सभी रसों का सन्तुलित वर्णन है और प्रत्येक रस को पृथक्-पृथक् प्रकाश में प्रस्तुत किया गया है, किन्तु इस ग्रन्थ का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें रस के उपकरणों का स्वतन्त्र रूप से निर्देश नहीं हुआ है। रसों के लक्षण-निर्धारण क्रम में ही अनुभावों का विवरण दिया गया है। वहाँ भी उनके लक्षण उपलब्ध नहीं होते हैं। किन्तु विचित्रता यह कि संचारीभावों के ३३ भेदों के उल्लेख के अनन्तर प्रत्येक भेद का स्वरूप भी प्रतिपादित किया गया है। अनुभावों के सम्बन्ध में यह भी सम्भावना की जा सकती है कि वह अंश ग्रन्थ में फटा हो, क्योंकि मैंने ना० प्र० के याज्ञिक संग्रहालय में जिस प्रति का अवलोकन किया है, वह अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण अवस्था में है और उसके कई पन्ने गायब भी हैं। सात्विक भावों के सम्बन्ध में उजियारे सर्वथा मौन हैं।

अनुभाव :—रसों के लक्षण-प्रसंग में भी केवल हास्य, रौद्र, बीभत्स और अद्भुत रसों के अनुभावों का ही निर्देश है। अन्य रसों के अनुभाव कहीं तो दिए ही नहीं गए हैं और कहीं वे अंश फटे भी हैं। हास्य रस के अनुभाव में नायक का मुख सिकोड़ना, दांत दिखाना, कपोल फड़काना, आंख मटकाना, विस्फारित करना आदि गिनाए गए हैं। रौद्र के अनुभाव में शत्रुओं को देखना और उन्हें ललकारना, बीभत्स के अनुभाव में आनन-लोचन सिकोड़ना, नासिका और मुख ढंकना आदि, अद्भुत अनुभाव में संस्पर्श ग्रहण, हुलास, वाह-वाह का उद्गार, रोमहर्ष, गद्गद वचन आदि प्रतिपादित किए गए हैं।[3]

---

१. कवितारसविनोद।१०।२७ और २८

२. (क) निर्वेद—वही।१०।२९। (ख) ग्लानि—वही।१०।३०

३. (क) रसचन्द्रिका।६।६ (वृत्ति) (ख) वही ८।४ (वृत्ति)
(ग) वही।११।५। (वृत्ति) (घ) वही।१२।११ और वृत्त

संचारीभाव :—संचारीभावों का भी कोई सामान्य लक्षण उजियारे ने नहीं लिखा है। परम्परागत ३३ भेदों का उल्लेख है और प्रत्येक भेद का पृथक्-पृथक् लक्षण निर्दिष्ट है। उदाहरणार्थ कतिपय संचारी भावों के लक्षण प्रस्तुत हैं :—

चिन्ता — चिंता कहितु ध्यान सह सुमिरनरूप न होइ।
यातैं सुमृति जुदी कहत कविकोविद सब कोइ ।। रसचन्द्रिका । १५।४४

मोह — मोह कहत अविवेक सह मोहनरूप सु आइ।
कहिवौ अरु करिवौ जहां समझि न परे सुभाव ।। वही । १५।४७

व्रीडा — मनभामती क्रियानि कौ जह संकोच जू होइ।
ता कह व्रीडा कहत है कवि कोविद सब कोइ ।। वही । १५।५९

ये लक्षण दो प्रकार के हैं। कई तो मात्र संचारीभावों के स्वरूप-प्रतिपादक और दूसरे अन्य भावों से पार्थक्य-निर्देशक। लक्षणों पर धनंजय और विश्वनाथ की छाप है।

पद्माकर

अनुभाव:—पद्माकर के जगद्विनोद में मुख्यत: शृङ्गार रस का निरूपण है और गौण रूप में अन्य रसों का। अतएव आपने अनुभाव-वर्णन में भी मुख्यत: शृंगारिक अनुभावों का ही उल्लेख किया है और अन्य रसों के अनुभावों का चलता सा निरूपण कर दिया है। जिनसे (आश्रयगत) रतिभाव का अनुभव (सहृदयों) को हो जाय, उन्हें शृंगारिक अनुभाव कहते हैं। इनके अन्तर्गत सभी प्रकार के सात्त्विक भाव, हाव, धृति, आनन्द, अंगविकास आदि आते हैं और ये ही रतिभाव के विलास को प्रकाशित कर देते हैं[1]। स्पष्ट है कि पद्माकर की दृष्टि में अनुभाव स्थायीभावों के विलासक और प्रकाशक हैं। आपने सात्त्विक भाव तो नौ माने हैं (जृंभा को जोड़कर) और उन्हें अनुभावों के अन्तर्गत रखा है, संचारीभावों के भीतर नहीं[2]। वस्तुत: इनकी अभिव्यक्ति शरीर-विकार के रूपों में ही होती है, अतएव पद्माकर की यह मान्यता सर्वथा युक्तियुक्त है। जृंभा नामक नवम सात्त्विक भाव की मान्यता पर भानुमिश्र, देव और रसलीन का प्रभाव है। हावों का अनुभाव मानना भी परम्परा-सम्मत है, किन्तु धृति और आनन्द को अनुभाव कहना न्याय्य नहीं है। क्योंकि ये तत्त्वत: मनोदशाएं हैं और इसी कारण से इन्हें संचारीभाव कहना अधिक उपयुक्त है। सात्त्विक भावों के लक्षणों पर धनंजय और विश्वनाथ का प्रभाव स्पष्ट है। अन्य रसों के अनुभाव[3] इस प्रकार हैं:—

हास्य रस : मंद, मध्य और उच्च स्वर से हंसना।
करुण रस : रोदन, मही-पतन आदि।

---

१. जगद्विनोद, ३९२-३९३। २. वही-३९७। तुलनार्थ—रसतरंगिणी, तरंग ४ पृ.-६६
३. वही, ६७१, ६७६, ६८१, ६८८, ७१३, ७१८, ७२६ (पूर्वार्द्ध)

रौद्र रस : भृकुटि-भंग, चेहरे का आरक्त होना और अधर-दंश।

वीर रस : अंगों का फड़कना, आंखों का लाल होना आदि।

भयानक रस : कंप आदि।

बीभत्स रस : नाक मूंदना, तन-कंप, रोएं का खड़ा होना आदि।

अद्भुत रस : बचनों को रचकर बोलना, कांपना और रोमांच।

शांत-रस : रोमांच आदि।

संचारीभावः—जो भाव स्थायी भावों के अभिमुख रहते हैं तथा नौ रसों में संचरण करते हैं, संचारीभाव कहलाते हैं। स्थायी भावों के साथ ये संचरण तो करते हैं किन्तु उसी प्रकार प्रकट होकर विलीन हो जाते हैं जैसे सागर में तरंगें। स्थायी भावों और संचारीभावों में मुख्य अन्तर यह है कि स्थायी भाव स्वयं (विभाव, अनुभाव और संचारी के संयोग से) परिपूर्ण रसावस्था को प्राप्त हो जाते हैं किन्तु संचारी भाव स्वयं न रसरूपता को प्राप्त होते और न रसनिष्पत्ति के क्षणों तक स्थिर ही रहते हैं। निर्वेदादि इनके ३३ भेद हैं[1]। पद्माकर के संचारीभाव स्वरूप पर स्पष्टतः धनंजय और विश्वनाथ के ग्रन्थों का प्रभाव है। भिन्न-भिन्न संचारियों के लक्षणों पर केशव, मतिराम आदि पूर्ववर्ती आचार्यों के लक्षणों से प्रभाव-ग्रहण किया गया है।

बेनी प्रबीन

अनुभावः—बेनीप्रबीन के नवरसतरग के अनुभावों को भी भाव कहा गया है। विचित्रता यह है कि विषयवासना से उत्पन्नविकारों को तो भाव माना गया है किन्तु उनके अन्तर्गत अनुभाव, सात्त्विक और संचारी-इन सबों को समाविष्ट कर लिया गया है। इनमें से अनुभाव वे भाव हैं जिनसे रसों (स्थायीभावों) का अनुभव होता है जैसे कृष्ण-कटाक्ष, बचन आदि[2]। बेनी प्रबीन की इस मान्यता पर भी वही दोषारोपण किया जा सकता है जो पूर्ववर्ती कतिपय रीतिकालीन आचार्यों पर किया जा चुका है। अनुभाव चित्त विकार नहीं है, वे वस्तुतः शरीर-विकार हैं। अतएव वे भाव नहीं हैं, वस्तुतः वे भावों से भिन्न अनुभाव हैं। प्रायः भानुमिश्र की रसतरंगिणी का अवलोकन बेनी प्रबीन ने नहीं किया था। यदि इन्होंने उनसे प्रभाव ग्रहण किया होता तो सर्वप्रथम भाव को मनोविकार न मानकर रसानुकूल विकार स्वीकार किया होता तथा इन भावों को आन्तर और शारीर नामक दो भेदों में बांट लिया होता। यह ठीक है कि आपने विभिन्न रसों के अनुभावों के उदाहरणों को प्रस्तुत करते समय केवल शरीर-व्यापारों और चेष्टाओं को ही लिया है किन्तु अनुभाव-सामान्य के स्वरूप में दोष है। जहां तक सात्त्विक भावों का प्रश्न है उन्हें

---

१. जगद्विनोद। ४६९-४७३। तुलनार्थ-दशरूपक। ४।७ और साहित्यदर्पण ३।१४०

२. नवरसतरंग। २८४-२८६।

बेनी प्रबीन ने अनुभावों के अन्तर्गत ही रखा है तथा अनुभावों की संख्या नौ मानी है—स्तंभ, स्वेद, रोमांच, सुरभंग, कम्प, विवरन (वैवर्ण्य), आंसू, प्रलय और जृंभा[1]।

संचारीभाव:—सभी रसों में संचरण करने के कारण ये व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। ये स्थायी भावों को हितार्थ प्रभावित करते हैं अर्थात् सहायता पहुंचाते हैं। स्थायी भावों के साथ रहकर भी ये स्वयं अस्थिर रहते हैं और समुद्र में कल्लोल की भांति उत्पन्न–विलीन होते रहते हैं[2]। संचारी भावों के लक्षण में आपने उनके अस्थायित्व, सर्वरसनिष्ठत्व और स्थायीभाव–पोषकत्व आदि सभी गुणों पर प्रकाश डाला है। अतएव उपर्युक्त लक्षण परम्परा-सम्मत एवं पृथक् लक्षण भी प्रतिपादित किए हैं।

करन कवि

अनुभाव:—करन कवि के रसकल्लोल में अनुभाव और संचारी भावों के सामान्य लक्षण नहीं दिए गए हैं। रस के उपकरणों में आपका ध्यान मात्र द्विविध विभावों की ओर ही गया है। केवल भानुदत्त के अनुकरण पर आपने रसानुकूल विकारों को भाव कहा है तथा उन्हें मानसिक और शारीरिक नामक दो वर्गों में विभक्त कर दिया है। मानसिक भावों में स्थायी भाव और संचारी भाव समाविष्ट किए गए हैं तथा शारीरिक भावों में मात्र सात्त्विक भाव।[3] यहां भी अनुभावों को किसी वर्ग-विशेष में रखने का प्रयास नहीं है। यों अनुभाव तत्त्वत: भाव हैं भी नहीं, तथापि शरीर-विकार होने के कारण कभी-कभी शारीरिक भाव आचार्यों द्वारा मान लिए गए हैं। सात्त्विक भावों की स्थिति दूसरी है, वे मानसिक विकार भी हैं किन्तु शारीर विकारों के रूप में अभिव्यक्त। इतना अवश्य कि विभिन्न रसों के विवरण-क्रम में करन कवि ने तत्सम्बन्धी अनुभावों का उल्लेख किया है। तदनुसार शृंगार रस के वंक विलोकन आदि, हास्य रस के फुल्ल कपोल आदि, करुण रस के अश्रपात-कर-मीड़न आदि, रौद्र रस के हाथ मीड़ना आदि, वीर रस के शौर्यादि, भयानक के कंपादि, बीभत्स के थूकना आदि, अद्भुत के रोमादि (रोमांचादि) और शांत रस के क्षमा-आदि, अनुभाव प्रतिपादित हैं।[4] इनमें से वीर और शांत रस के अनुभाव चिन्त्य हैं। शौर्य और क्षमा शरीर-विकार नहीं हैं। अतएव इन्हें अनुभाव कहना थोड़ा असंगत-सा लगता है। भले ही शौर्य सूचक और क्षमा-प्रतिपादक वचन अनुभावों की सीमा में क्यों न डाले जायं किन्तु शौर्य और क्षमा स्वयं अनुभाव नहीं कहला सकते हैं। क्योंकि ये मानसिक धर्म हैं अथवा आत्मिक गुण, शरीर-विकारों के रूप में इनकी सत्ता कदापि नहीं मानी जा सकती।

---

१. नवरसतरंग। २८९-२९०। २. वही। ३०९-३१०

३. रसकल्लोल (ह० लि०-ना० प्र० सभा)। छन्द ८-९।

४. वही। ३७, ४८, ५७, ६८, ७१, ७४ और ७६।

संचारीभाव:—संचारी भावों का भी कोई सामान्य लक्षण निर्दिष्ट नहीं है। केवल इसके परम्परागत ३३ भेदों का सलक्षण उल्लेख है। परम्परागत विचारों को थोड़े हेर-फेर के साथ अपनी भाषा में करन ने प्रस्तुत किया है। उदाहरणार्थ निर्वेद, ग्लानि, असूया, आलस्य और चिन्ता आदि कतिपय संचारियों के लक्षणों को गृहीत किया जा सकता है और इन लक्षणों पर पद्माकर के जगद्विनोद की छाया यत्र तत्र देखी जा सकती है[1]।

प्रतापसाहि

प्रतापसाहि के काव्य-विलास में रस को धुनि (ध्वनि) के अन्तर्गत डालकर मम्मट के अनुकरण पर रस-निरूपण पाया जाता है। व्यंग्यार्थकौमुदी में रस-निरूपण नहीं है। अतएव रसोपकरणों के सम्बन्ध में प्रतापसाहि की मान्यताएं काव्य-विलास में ढूंढी जा सकती हैं। यद्यपि प्रतापसाहि के काव्य-विलास का उपजीव्य ग्रन्थ मम्मट का काव्यप्रकाश है, किन्तु रसोपकरणों के लक्षण एवं विवरण में आपने विश्वनाथ, भानुदत्त और कुलपति आदि आचार्यों से भी प्रभाव ग्रहण किया है।

अनुभाव:—प्रतापसाहि की दृष्टि में अनुभाव वे हैं जो रसों को (स्थायी भावों को) प्रतीत करा दें, जैसे भुजोत्क्षेप, कटाक्ष, आलिंगन, बचन आदि[2]। अनुभाव के इस लक्षण पर साहित्यदर्पण की छाप है। सात्विक भावों के सम्बन्ध में प्रतापसाहि ने स्पष्ट निर्देश नहीं किया कि इन्हें अनुभाव माना जाय या संचारी भाव।

संचारी भाव:—संचारी भाव वे हैं जो सभी रसों में संचरण करते हैं तथा उन्हें पुष्ट करते हैं अर्थात् सहायता पहुँचाते हैं।[3] संचारी भाव का यह लक्षण परम्परा-सम्मत तो है किन्तु उसकी अस्थायिता की ओर संकेत नहीं किया गया है। संचारी भावों की संख्या प्रतापसाहि ने भी तेंतीस मानी है। संचारी भावों के लक्षणों पर कहीं तो विश्वनाथ के साहित्यदर्पण का प्रभाव है और कहीं रीतिकालीन आचार्य कुलपति के रस रहस्य का। उदाहरणार्थ श्रम, चिन्ता, स्वप्न, बिबोध आदि संचारी भावों के लक्षणों पर विश्वनाथ का तथा निर्वेद, ग्लानि, असूया, मद आदि संचारी भावों के लक्षणों पर कुलपति का प्रभाव स्पष्टतः देखा जा सकता है।[4] अवष्टि

---

१. (क) रसकल्लोल। ८३। तुलनार्थ—जगद्विनोद। ४७५। (ख) रसकल्लोल, ८४ (ग) वही। ८६। (घ) वही ९५। (ङ) वही। ९९

२. काव्यविलास। ३।२६। तुलनार्थ—साहित्यदर्पण। ३।१३२-१३३

३. काव्यविलास। ३।२७। तुलनार्थ—साहित्य दर्पण।३।१४०।

४. (क) श्रम—का०वि०।३।३४। तुलनार्थ। सा०द०।३।१४६। चिन्ता-का०वि०। ३।३६। तुलनार्थ—सा० द०।३।१७१। स्वप्न और बिबोध। का० वि०।३।४३। तुलनार्थ—सा० द०।३।१५२, १५१। (ख) निर्वेद—का०वि०।३।३१। तुलनार्थ—र०र० ३।१८। ग्लानि—का० वि० ३।३३। तुलनार्थ—र०र०।३।३९। असूया और मद—काव्यविलास।३।३३ और रसरहस्य।६।२०।

बेनी प्रबीन ने अनुभावों के अन्तर्गत ही रखा है तथा अनुभावों की संख्या नौ मानी है—स्तंभ, स्वेद, रोमांच, सुरभंग, कम्प, विवरन (वैवर्ण्य), आंसू, प्रलय और जृंभा[1]।

संचारीभाव:—सभी रसों में संचरण करने के कारण ये व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। ये स्थायी भावों को हितार्थ प्रभावित करते हैं अर्थात् सहायता पहुंचाते हैं। स्थायी भावों के साथ रहकर भी ये स्वयं अस्थिर रहते हैं और समुद्र में कल्लोल की भांति उत्पन्न–विलीन होते रहते हैं[2]। संचारी भावों के लक्षण में आपने उनके अस्थायित्व, सर्वरसनिष्ठत्व और स्थायीभाव–पोषकत्व आदि सभी गुणों पर प्रकाश डाला है। अतएव उपर्युक्त लक्षण परम्परा-सम्मत एवं पृथक् लक्षण भी प्रतिपादित किए हैं।

करन कवि

अनुभाव:—करन कवि के रसकल्लोल में अनुभाव और संचारी भावों के सामान्य लक्षण नहीं दिए गए हैं। रस के उपकरणों में आपका ध्यान मात्र द्विविध विभावों की ओर ही गया है। केवल भानुदत्त के अनुकरण पर आपने रसानुकूल विकारों को भाव कहा है तथा उन्हें मानसिक और शारीरिक नामक दो वर्गों में विभक्त कर दिया है। मानसिक भावों में स्थायी भाव और संचारी भाव समाविष्ट किए गए हैं तथा शारीरिक भावों में मात्र सात्त्विक भाव।[3] यहां भी अनुभावों को किसी वर्ग-विशेष में रखने का प्रयास नहीं है। यों अनुभाव तत्त्वतः भाव हैं भी नहीं, तथापि शरीर-विकार होने के कारण कभी-कभी शारीरिक भाव आचार्यों द्वारा मान लिए गए हैं। सात्विक भावों की स्थिति दूसरी है, वे मानसिक विकार भी हैं किन्तु शारीर विकारों के रूप में अभिव्यक्त। इतना अवश्य कि विभिन्न रसों के विवरण-क्रम में करन कवि ने तत्सम्बन्धी अनुभावों का उल्लेख किया है। तदनुसार शृंगार रस के वंक विलोकन आदि, हास्य रस के फुल्ल कपोल आदि, करुण रस के अश्रपात-कर-मीड़न आदि, रौद्र रस के हाथ मीड़ना आदि, वीर रस के शौर्यादि, भयानक के कंपादि, बीभत्स के थूकना आदि, अद्भुत के रोमादि (रोमांचादि) और शांत रस के क्षमा-आदि, अनुभाव प्रतिपादित हैं।[4] इनमें से वीर और शांत रस के अनुभाव चिन्त्य हैं। शौर्य और क्षमा शरीर-विकार नहीं हैं। अतएव इन्हें अनुभाव कहना थोड़ा असंगत-सा लगता है। भले ही शौर्य सूचक और क्षमा-प्रतिपादक वचन अनुभावों की सीमा में क्यों न डाले जायं किन्तु शौर्य और क्षमा स्वयं अनुभाव नहीं कहला सकते हैं। क्योंकि ये मानसिक धर्म हैं अथवा आत्मिक गुण, शरीर-विकारों के रूप में इनकी सत्ता कदापि नहीं मानी जा सकती।

---

१. नवरसतरंग। २८९-२९०। २. वही। ३०९-३१०

३. रसकल्लोल (ह० लि०-ना० प्र० सभा)। छन्द ८-९।

४. वही। ३७, ४८, ५७, ६८, ७१, ७४ और ७६।

संचारीभाव:—संचारी भावों का भी कोई सामान्य लक्षण निर्दिष्ट नहीं है। केवल इसके परम्परागत ३३ भेदों का सलक्षण उल्लेख है। परम्परागत विचारों को थोड़े हेर-फेर के साथ अपनी भाषा में करन ने प्रस्तुत किया है। उदाहरणार्थ निर्वेद, ग्लानि, असूया, आलस्य और चिन्ता आदि कतिपय संचारियों के लक्षणों को गृहीत किया जा सकता है और इन लक्षणों पर पद्माकर के जगद्विनोद की छाया यत्र तत्र देखी जा सकती है[1]।

प्रतापसाहि

प्रतापसाहि के काव्य-विलास में रस को धुनि (ध्वनि) के अन्तर्गत डालकर मम्मट के अनुकरण पर रस-निरूपण पाया जाता है। व्यंग्यार्थकौमुदी में रस-निरूपण नहीं है। अतएव रसोपकरणों के सम्बन्ध में प्रतापसाहि की मान्यताएं काव्य-विलास में ढूंढी जा सकती हैं। यद्यपि प्रतापसाहि के काव्य-विलास का उपजीव्य ग्रन्थ मम्मट का काव्यप्रकाश है, किन्तु रसोपकरणों के लक्षण एवं विवरण में आपने विश्वनाथ, भानुदत्त और कुलपति आदि आचार्यों से भी प्रभाव ग्रहण किया है।

अनुभाव:—प्रतापसाहि की दृष्टि में अनुभाव वे हैं जो रसों को (स्थायी भावों को) प्रतीत करा दें, जैसे भुजोत्क्षेप, कटाक्ष, आलिंगन, बचन आदि[2]। अनुभाव के इस लक्षण पर साहित्यदर्पण की छाप है। सात्विक भावों के सम्बन्ध में प्रतापसाहि ने स्पष्ट निर्देश नहीं किया कि इन्हें अनुभाव माना जाय या संचारी भाव।

संचारी भाव:—संचारी भाव वे हैं जो सभी रसों में संचरण करते हैं तथा उन्हें पुष्ट करते हैं अर्थात् सहायता पहुँचाते हैं।[3] संचारी भाव का यह लक्षण परम्परा-सम्मत तो है किन्तु उसकी अस्थायिता की ओर संकेत नहीं किया गया है। संचारी भावों की संख्या प्रतापसाहि ने भी तेंतीस मानी है। संचारी भावों के लक्षणों पर कहीं तो विश्वनाथ के साहित्यदर्पण का प्रभाव है और कहीं रीतिकालीन आचार्य कुलपति के रस रहस्य का। उदाहरणार्थ श्रम, चिन्ता, स्वप्न, बिबोध आदि संचारी भावों के लक्षणों पर विश्वनाथ का तथा निर्वेद, ग्लानि, असूया, मद आदि संचारी भावों के लक्षणों पर कुलपति का प्रभाव स्पष्टतः देखा जा सकता है।[4] अवष्टि

---

१. (क) रसकल्लोल। ८३। तुलनार्थ—जगद्विनोद। ४७१। (ख) रसकल्लोल, ८४ (ग) वही। ८६। (घ) वही ९५। (ङ) वही। ९९

२. काव्यविलास। ३।२६। तुलनार्थ—साहित्यदर्पण। ३।१३२-१३३

३. काव्यविलास। ३।२७। तुलनार्थ—साहित्य दर्पण।३।१४०।

४. (क) श्रम—का०वि०।३।३४। तुलनार्थ। सा०द०।३।१४६। चिन्ता-का०वि०। ३।३६। तुलनार्थ—सा० द०।३।१७१। स्वप्न और बिबोध। का० वि०।३।४३। तुलनार्थ—सा० द०।३।१५२, १५१। (ख) निर्वेद—का०वि०।३।३१। तुलनार्थ—र०र० ३।१८। ग्लानि—का० वि० ३।३३। तुलनार्थ—र०र०।३।३९। असूया और मद—काव्यविलास।३।३३ और रसरहस्य।६।२०।

लक्षण भी सर्वथा मौलिक तो नहीं हैं किन्तु साहित्य दर्पण के लक्षणों के संक्षिप्त रूपान्तर हैं। मरण और मूर्छा ये ऐसे संचारी भाव हैं जिनके लक्षण देने की अपेक्षा नहीं है (मरन मूर्छा जानिये लक्षण नाम प्रकाश। का० वि०। ३४७।)।

चन्द्रशेषर बाजपेयी

अनुभाव :—बाजपेयी जी ने अपने विनोद में अनुभावों का लक्षण निर्धारण करते हुए कहा है कि जिनके द्वारा हृदयगत स्थायी भावों का अनुभव होता है, वे ही अनुभाव हैं। (भिन्न-भिन्न रसों के) अनुकूल मनोविकार वाणी, नयन और अन्य अंगों के माध्यम से प्रकट होकर अनुभाव कहलाते हैं। अतएव अनुभावों के मूल भी स्थायी भाव ही हैं।[1] अनुभावों के इस लक्षण में बाजपेयी जी ने आधार तो भानुदत्त का ग्रहण किया है किन्तु स्थायी भावों को अनुभावों का मूल बता कर आपने रसतरंगिणी के लक्षण की भी एक प्रकार से विवृति कर डाली है।[2] अतएव बाजपेयी के अनुभाव-लक्षण का पूर्वार्द्ध तो परम्परागत है किन्तु उत्तरार्द्ध में नवीनता एवं मौलिकता है। स्तम्भादि आठ सात्विक भाव तो आपने मानें हैं किन्तु वे अनुभाव हैं या संचारी—इस सम्बन्ध में आप मौन हैं।

संचारी भाव :—इनकी संख्या रसिक विनोद में भी तेंतीस बताई गई है। संचारी उन भावों को कहते हैं जो नौ रसों में अवसर पाकर संचरण करते हैं तथा स्थायी भावों के साथ इनकी वही स्थिति रहती है जो सागर में लहर की, अर्थात् संचारी भाव कभी प्रकट होते हैं और कभी छिप जाते हैं।[3] संचारी भावों के इस लक्षण पर विश्वनाथ की छाया है। निर्वेदादि संचारियों में भी अधिकांश के लक्षण साहित्य दर्पण से प्रभावित हैं। उदाहरणार्थ निर्वेद, ग्लानि, असूया, अमर्ष और अपस्मार के लक्षणों को लेकर देखा जा सकता है।[4] यदि कोई अन्तर चन्द्रशेषर बाजपेयी द्वारा प्रस्तुत निर्वेदादि संचारियों के लक्षणों में तथा साहित्यदर्पण के लक्षणों में है तो वह केवल क्रम का है। अन्यथा दोनों में अत्यधिक साम्य है और वह नितान्त स्पष्ट है।

ग्वाल कवि

अनुभाव :—ग्वाल कवि ने अपने रसरंग में अनुभावों का लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा है—जिनके द्वारा मनोविकारों (स्थायी भावों) की स्थिति (उपजनि) जानी जाती है, उन्हें ही सभी सिद्धान्त ग्रन्थों में अनुभाव कहा गया है। एक एक रस के अनेक अनुभाव होते हैं किन्तु इन सभी अनुभावों में दृष्टि मुख्य अनुभाव है।[5] दृष्टि को मुख्य अनुभाव मानने का मुख्य कारण यह है कि इसके माध्यम से

---

१. रसिक विनोद। २७२-२७३। २. रसतरंगिणी तरंग ३, पृष्ठ ४५। ३. रसिक विनोद।२९३। ४. साहित्यदर्पण। ३।१४२, १७०, १६६, १५६ और १५३। ५. रसतरंग। १।३५-३६।

सभी स्थायी भावों को जाना जा सकता है। यह बात अलग है कि रति-परिचायिका दृष्टि में और क्रोध-प्रकाशिका दृष्टि में विम्वा अन्य निर्वेदादि-स्थायी भावों की व्यंजिका दृष्टि में पार्थक्य होगा। फिर भी है वह दृष्टि ही। अतएव दृष्टि एक ऐसा अनुभाव है जो सर्वरसनिष्ठता के कारण अपना प्रमुख स्थान रखती है। यों प्रत्येक रस के लक्षण-क्रम में पृथक्-पृथक् अनुभावों का प्रतिपादन भी ग्वाल ने कर दिया है। तदनुसार हास्य के दृगविलास आदि, करुण के रुदन, निराशा, भूपतन आदि, रौद्र, के अधर चबाना, भ्रू का चढ़ाना, अरुण दृग आदि, वीररस के भुजा और कंधे का फड़कना, अधर विकास, शरीर और मुख का लाल होना आदि, भयानक का कंप पुलक वैवर्ण्य, शैथिल्य आदि, वीभत्स का मुख-दृग नासिका मूंदना आदि, अद्भुत का अनिमिष दृग, गद्गद् बचन आदि। अनुभावों की यह तालिका परम्परा-सम्मत है तथा इसमें कोई नवीनता भी नहीं है।

संचारी भाव :—सभी रसों में संचरण करने वाले भाव ही संचारी कहलाते हैं। संचारी भावों को ही विद्वान व्यभिचारी भाव भी कहते हैं। संचारियों के दो वर्ग हैं—तनज संचारी और मनज संचारी। आठ प्रकार के स्तम्भादि सात्विक भाव तनज संचारी हैं, क्योंकि इनका उद्भव तन से होता है किन्तु इनके सहायक भी मनज संचारियों की तरह मन ही हैं।[1] अन्य विर्वेदादि ३३ संचारी भावों को ग्वाल ने मनज संचारी माना है, क्योंकि इनका उद्भव मन से ही होता है और तन इनका माध्यम नहीं है। सात्विक भावों के वर्गीकरण में ग्वाल ने नवीनता प्रदर्शित की है। चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना, त्वचा इन पाँच इन्द्रियों के योग से प्रत्येक स्तम्भादि तनज संचारी के पाँच-पाँच भेद हो जाते हैं। इस प्रकार सात्विक भाव मात्र आठ ही नहीं, प्रत्युत ४० प्रकार के (८५x४०) हो जाते हैं।[2] ग्वाल के सात्विक भाव विवेचन में कई बातें चिन्त्य हैं। प्रथम तो यह कि सात्विक भावों को अनुभावों के अन्तर्गत रखना चाहिए था, संचारी भावों के अन्तर्गत नहीं। स्तम्भादि सात्विक भावों का प्रकाशन शरीर के माध्यम से होता है, अतएव उनमें स्थूलता भी आ जाती है और उन्हें आसानी से अनुभावों की कोटि में लाया जा सकता है। मन की सहायता प्राप्त होने के कारण इन्हें संचारी भाव कहना सर्वथा असंगत है। यों तो मन की सहायता से ही अनुभाव भी शारीरिक चेष्टाओं के रूप में व्यक्त होते हैं और तब इन्हें भी क्यों नहीं तनज संचारी माना जाय। थोड़ी देर के लिए सात्विक भावों को तनज संचारी माना भी जाय तो प्रश्न उठता है कि इनके चालीस भेद किये जायं या नहीं। यदि पाँच ज्ञानेन्द्रियों के योग प्राप्त होने के कारण प्रत्येक सात्विक भाव के पाँच भेद माने जायँ तो फिर क्यों नहीं कर्मेन्द्रियों के आधार पर भी इनके भेद हों और तब इनकी संख्या ४० ही नहीं, अपितु ८० या उससे भी अधिक हो सकती है (क्योंकि अन्य अंगों के आधार पर भी वर्गीकरण संभव है)।

१. रसतरंग। १।३७–३८। २. वही। १।४१–४२।

मुझे यह बात समझ में नहीं आती कि स्तम्भ, स्वेद आदि के उद्भव में श्रोत्र-चक्षुरादि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ किस प्रकार योगदान करती हैं ? और यदि करती हैं तो अन्य अंग क्यों नहीं योगदायी माने जायँ। अतएव ग्वाल के सात्विक-विवेचन में नवीनता का व्यामोह तो है, तत्वाभिनिवेशी दृष्टिकोण नहीं। ग्वाल ने सात्विक भावों के भेद तो आठ या चालीस ही माने किन्तु अन्त में चलकर जृंभा नामक नवम भेद पर भी प्रकाश डाला।[1] परोक्ष रूप से जृंभा को भी आपने स्वीकार किया है। अतएव इसे प्रतिपादन की अव्यवस्था कह सकते हैं।

निर्वेद, ग्लानि आदि ३३ संचारी भावों को ग्वाल ने मनज संचारी कहा है। इनके पृथक् पृथक् लक्षण भी आपने दिए हैं। इन लक्षणों पर विश्वनाथ के साहित्य-दर्पण का प्रभाव तो है ही, साथ ही कहीं कहीं शिथिलता भी आ गई है। ऐसा लगता है कि छन्द-पूर्ति के लिए ही अपने शब्दों को तोड़-मरोड़कर प्रयुक्त किया है। ग्लानि, असूया, दैन्य आदि कतिपय मनज संचारी भावों के लक्षण द्रष्टव्य हैं।[2] ग्वाल के संचारी भाव-निरूपण में एक विशेषता यह है कि आपने प्रत्येक संचारी भाव के प्रकाशक अनुभावों का भी उल्लेख किया है। इसका आधार भानुमिश्र की रसतरंगिणी है किन्तु यह उलझन में डालने वाली चीज है। स्थायी भावों को ही विभाव, अनुभाव और संचारी अपने संयोग से रस रूप में परिणत करते हैं, संचारी भावों को नहीं। फिर संचारी भावों को इन उपकरणों की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है। क्रोध और निर्वेद ये दो ही ऐसे भाव हैं, जो स्थायी भी हैं और संचारी भी। इस सम्बन्ध में स्वयं ग्वाल का निर्णय है कि ये क्रमशः रौद्र और शान्त में तो स्थायी भाव हैं, किन्तु अन्यत्र संचारी।[3] भानुदत्त का अनुसरण करते हुए ग्वाल ने भी छल नामक चौतीसवें संचारी का उल्लेख किया है और इसके लक्षण और अनुभाव भी आपने बताए है।[4] यहाँ भी कोई नवीनता नहीं है।

रसिक विहारी

अनुभाव :—रसिक बिहारी का काव्यसुधाकर एक रस-सामान्य-निरूपक ग्रंथ है और इसमें शृंगार के अतिरिक्त हास्यादि अन्य रसों का भी निरूपण है। फिर भी अनुभावों के निरूपण में एकांगिता है। ऐसा प्रतीत होता है कि आपने मात्र-शृंगार को ही ध्यान में रखकर अनुभाव-निरूपण किया हो। अनुभावों का रस-निष्पति में कौन सा स्थान है तथा इनका क्या कार्य है—इस पर भी रसिकेश जी ने प्रकाश नहीं डाला है। तात्पर्य यह कि आपने अनुभाव-सामान्य का कोई व्यापक लक्षण निर्दिष्ट नहीं किया है। केवल उसके अन्तर्गत आठ प्रकार के सात्विक भावों और दश प्रकार के हावों को गिना भर दिया है। यह ठीक है कि सात्विक भाव और हाव तत्वतः

---

१. रसरंग १/६२–६३। २. (क) वही १/७७। (ख) वही १/८४। (ग) वही १/९९। ३. वही १/७१–७२। ४. वही १/१८८–१९०।

अनुभाव हैं किन्तु इनके अतिरिक्त भी अनुभावों के कई रूप हैं जिनकी ओर रसिक बिहारी का ध्यान नहीं गया है । फलत: अनुभावों का क्षेत्र भी संकुचित है ।

संचारी भाव :—आपकी दृष्टि में संचारी भाव वे हैं जो सभी-स्थानों में रसों के साथ मिलकर रहते हैं ।[1] संचारी भाव के इस लक्षण में स्पष्टत: अस्पष्टता विद्यमान है । रसिक बिहारी संचारी भावों की सर्वरससंचारिता की ओर निर्देश करना चाहते हैं, जो भाषा-शैथिल्य के कारण अस्पष्ट रह गया है । इसके अतिरिक्त, आपने न उसकी क्षण-स्थायिता का ही उल्लेख किया और न स्थायीभाव पोषकता का । अतएव लक्षण सर्वथा अधूरा है । संचारी भावों के भेद तो आपने परम्परानुसार तैंतीस ही माने हैं किन्तु कतिपय प्राचीन नामों में हेर-फेर कर दिया है । उदाहरणार्थ आमर्ष को विवाद, उत्सुकता को उत्कंठा तथा अवहित्था को आकृति-गोपन नाम से अभिहित किया है । हिन्दी काव्यशास्त्र के पूर्ववर्ती कई अन्य आचार्यों ने भी ये ही शब्द रखे हैं--ऐसा स्वयं रसिकेश जी ने भी स्वीकार किया है ।[2] विभिन्न संचारी भावों के लक्षणों पर विश्वनाथ, और ग्वाल का प्रभाव है । कतिपय लक्षण द्रष्टव्य हैं ।[3]

नन्दराम

अनुभाव :—नन्दराम के श्रृंगार दर्पण में नव-रस-निरूपण है, अतएव रसोपकरणों के लक्षणों में व्यापकता वांछित थी । किन्तु आपने अनुभावों का लक्षण ऐसा संकुचित दिया है जिससे उसकी व्याप्ति मात्र श्रृंगार-रस तक ही रह जाती है । परिणामत: आपके अनुभाव-लक्षण में अव्याप्ति दोष आ गया है । नन्दराम जी ने अनुभाव उन्हें कहा है जिनसे दम्पत्ति के हृदय की रति (स्थायीभाव) का विकास होता है । स्तम्भादि आठ तथा जृंभा—इन नौ प्रकार के सात्विक भावों को आपने अनुभाव स्वीकार किया है । लीलादि दश हावों को भी अनुभावों में ही समाविष्ट किया गया है ।[4] इतना अवश्य कि नन्दराम ने अपने अनुभावों की सीमा श्रृंगार तक ही रखी है और इसका निर्देश स्वयं लक्षण में कर दिया है । फिर भी इस लक्षण में "दम्पति" और "विकास"—ये दो शब्दआपत्ति-जनक हैं । श्रृंगार रस के आलम्बन और आश्रय केवल दम्पत्ति ही नहीं होते हैं, कभी-कभी परकीयादि भी आलम्बन तथा आश्रय का स्थान ग्रहण करते हैं । वैसी स्थिति में उपर्युक्त अनुभावों की व्याप्ति श्रृंगार में भी न हो सकेगी । दूसरी बात यह कि अनुभावों के द्वारा रति (स्थायीभाव) का विकास नहीं, प्रकाश या अभिव्यक्ति होती है । अतएव लक्षणगत दोनों शब्द सीमित लक्षण को भी और संकुचित बना रहे हैं । भिन्न-भिन्न रसों के स्वरूप-निर्धारण क्रम में आपने उनके पृथक्-पृथक् अनुभाव भी प्रतिपादित किए हैं, जिनका उल्लेख कोई विशेष महत्व नहीं रखता है ।

---

१. काव्यसुधाकर ८।१ । २. वही ८।४ । ३. वही ८।५ ।
४. (क) श्रृंगार-दर्पण ८।१–३ (ख) वही ८।३३ ।

संचारी भाव :—अनुभाव की अपेक्षा व्यभिचारी भाव का लक्षण अधिक समीचीन और सुष्ठ बन पड़ा है। संचारी भावों का स्थायी भावों के साथ आभिमुख्येन संचरण, सभी रसों (स्थायी भावों) में उपस्थित होना, वारि-वीचि की भांति उनका प्रकट होना और छिपना आदि सभी विशेषताओं को लक्षण में बांध लिया गया है। साथ ही स्थायी भावों से संचारी भावों का पार्थक्य निर्दिष्ट करते हुए नन्दराम ने लिखा है कि स्थायी भाव रसनिष्पत्ति पर्यन्त स्थिर रहते हैं किन्तु संचारी भाव अस्थिर रहते हैं अर्थात् स्थायी भावों को सहायता पहुँचा कर विलीन हो जाते है—यही इन दोनों रसोपकरणों का मुख्य अन्तर है।[1] संचारियों की संख्या आपने तैंतीस मानी है। इनके लक्षण परम्परा से प्रभावित होने पर भी कहीं-कहीं अस्पष्ट हैं।

लछिराम

लछिराम ने अपने पूर्ववर्ती नन्दराम का ही अनुसरण किया है। प्रत्येक लक्षण में केवल छन्द और कुछ शब्द परिवर्तित हैं, अन्यथा उसी को यथावत् उठाकर रख दिया गया है। यदि किसी लक्षण में नन्दराम ने गलती की है तो उस गलती को लछिराम ने भी अपने महेश्वर-विलास में दुहराया है।

अनुभाव :—लछिराम ने निरूपण तो सभी रसों का किया है किन्तु अनुभावों का लक्षण ऐसा गढ़ा कि उसकी व्याप्ति शृंगार से बाहर न जाय। किसी की हृदयगत रति को जो प्रकाशित कर दे वही अनुभव (अनुभाव) है, जैसे अंगों का आनन्द, धृति और शांति।[2] एक तो मात्र शृंगार रस परक होने के कारण इस अनुभाव-लक्षण में अव्याप्ति दोष है, दूसरी बात यह कि आनन्द धृति और शान्ति-जो भाव हैं उन्हें अनुभावों के खाते में डालने का विफल प्रयास है। तत्वत: अनुभावों के अन्तर्गत तो शारीरिक चेष्टाएं, व्यापार आदि आते हैं और आनन्द धृति और शान्ति किसी भी हालत में शरीर-विकार नहीं हो सकते हैं। नौ सात्विक भावों को (जृंभा को जोड़कर) लछिराम ने भी अनुभाव ही माना है, संचारी भाव नहीं।[3] लीलादि हावों को अनुभाव मानने के सम्बन्ध में आपने कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है।

संचारी भाव :—संचारी भाव स्थायी भावों के अभिमुख रहते हैं, सभी रसों में संचरण करते हैं, स्थायी भावों के साथ उसी तरह गुप्त और प्रकट होते हैं जैसे सरोवर में तरंग तथा स्थायी भावों से इनका मुख्य अन्तर यही है कि स्थायी भाव रस-परिणति के क्षणों तक स्थिर रहते हैं, पर संचारी भाव उत्पन्न होकर विलीन हो जाते हैं।[4] संचारियों के भेद लछिराम ने निर्वेद, ग्लानि आदि ३३ प्रतिपादित किए हैं। बड़ी सरल एवं प्रभावोत्पादक भाषा में तथा लचीले छन्द में इनके लक्षण प्रतिपादित किए गए हैं। फिर भी अभिप्रेत विषयों के प्रतिपादन में स्पष्टता है। उदाहरणार्थ (ग्लानि, शंका आदि कतिपय संचारियों के लक्षण द्रष्टव्य हैं।[5]

---

१. शृंगार-दर्पण ६।१—४। २. महेश्वर विलास ४।३०—३१। ३. वही ४।३४।
४. वही ४।११०-१३। ५. वही ४।१२३ से १३२ तक

(४) स्थायी भाव

केशव

आचार्य केशव ने स्थायी भावों का कोई लक्षण नहीं दिया है। केवल आपने आठ स्थायी भावों को गिना दिया है—रति, हांसी, सोक, क्रोध, उछाह, भय, निन्दा और विस्मय।[1] विचित्रता यह है कि आपने रस तो नौ माने हैं,[2] किन्तु स्थायी भाव आठ ही। रसिक प्रिया के चौदहवें प्रकाश में अन्त में केशव ने शम रस (नवमां रस) के लक्षण और उदाहरण भी दिए हैं। अतएव स्पष्ट है कि केशव को नौ रस मान्य हैं और ये सभी श्रव्य काव्य की दृष्टि से ही विवेचित किए गए हैं, दृश्य काव्य की दृष्टि से नहीं। ऐसी स्थिति में नौ रसों के लिए आठ स्थायी भावों के उल्लेख का क्या कारण हो सकता है? "रस स्वरूप और अभिव्यक्ति" नामक प्रथम खण्ड में स्पष्ट किया जा चुका है कि केशव ने श्रृंगार को रसराज माना है तथा इसे ही हरिरस भी कहा है। यही कारण है कि आपने भिन्न-भिन्न रसों के जितने उदाहरण दिए हैं उनमें लौकिक हास्य, करुणा आदि की प्रतिष्ठा के साथ ही कृष्ण और राधा के आलम्बनत्व के आधार पर श्रृंगार और भक्ति का भी पुट है। अतएव भक्ति की दृष्टि से तो इन सभी रसों के लिए एकमात्र रति (भगवद् विषया रति) नामक स्थायी भाव की स्वीकृति भी पर्याप्त थी, फिर भी लौकिक हास्यादि रसों का साथ-साथ निरूपण करने के लिए उन्हें अन्य स्थायी भावों का भी उल्लेख करना पड़ा है। शांत रस का रसराज श्रृंगार के साथ मेल नहीं खाता है, दोनों परस्पर-विरोधी रस हैं। अथवा यों कहिये कि शम रस का जो स्वरूप केशव ने निर्धारित किया है उसका स्थायी भाव निर्वेद नहीं है प्रत्युत प्रेम की एकतानता के कारण उसका स्थायी भाव रति ही है। अतएव शम रस (नवम रस) के स्थायी भाव के पृथक् उल्लेख का उन्हें कोई प्रयोजन ही नहीं हुआ। स्पष्ट शब्दों में अपनी बात हम इस तरह कह सकते हैं कि श्रंगार भक्ति और शांत इन तीनों का एक साथ मेल बैठाना कठिन था, क्योंकि श्रृंगार और शांत विरोधी हैं। केवल भक्ति और श्रृंगार की एकान्विति प्रदर्शित की जा सकती है और जैसा केशव ने शम रस के लक्षण और उदाहरणों में किया भी है।[3] अतएव रति नामक स्थायी भाव से ही इस उद्देश्य की पूर्ति केशव ने कर ली है और नवम स्थायी भाव के उल्लेख की कोई आवश्यकता नहीं समझी। जुगुप्सा के स्थान में निन्दा के स्थापन का कारण प्रायः यही है, हरि रस (भक्ति) के साथ बीभत्स का मेल बैठाना।

फिर भी इतना अवश्य कि जिस व्यापक उद्देश्य को लेकर केशव दास जी रस निरूपण करने चले थे, शान्त रस के क्षेत्र में उसका निर्वाह नहीं कर सके। तात्पर्य यह कि हास्य आदि रसों के क्षेत्र में हास्य, भक्ति और श्रृंगार की एकान्विति

---

१. रसिक प्रिया ६।९। २. वही ।।१५। ३. वही १४।३७—३८

दिला सके पर शम रस के प्रसंग में केवल भक्ति और शृंगार की अन्विति हुई और इसलिये शम रस का लक्षण भी इन्हें बदलना पड़ा।

चिन्तामणि

चिन्तामणि के स्थायी भाव निरूपण का आधार-ग्रंथ है विद्यानाथ-रचित प्रतापरुद्रयशोभूषण और कुमार-स्वामी प्रणीत उसकी रत्नापण टीका। स्पष्टतः इन्हीं दोनों का प्रभाव लेकर चिन्तामणि ने स्थायी भावों का स्वरूप निर्दिष्ट किया है और इसमें पूरी सफलता भी मिली है। केशव की तरह स्थायी भावों के केवल नाम मात्र आपने नहीं गिनाए हैं।

चिन्तामणि के अनुसार सहृदयों के अन्तःकरण में वासना-रूप से विद्यमान मनोविकार ही काव्यशास्त्रीय स्थायी भाव हैं। ये स्थायी भाव सजातीय किम्बा विजातीय (विरुद्ध अथवा अविरुद्ध—विश्वनाथ के अनुसार) भावों से तिरस्कृत नहीं होते हैं और रसास्वाद-पर्यन्त इनकी स्थिति बनी रहती है। जिस प्रकार काव्य और नाटक के मूल पात्र रामादि के सुखःदुखों के अनुभवरूप मनोविकार हैं, उसी प्रकार सहृदय के भी मनोविकार होते हैं जिन्हें स्थायी भाव कहा जाता है। संचारी भाव भी तो मनोविकार हो हैं। किन्तु अस्थिरता के कारण उन्हें स्थायी नहीं कहा जाता है। विरोधी भाव कभी इन स्थायी भावों को विच्छिन्न नहीं कर सकते हैं। स्थायी भावों की स्थिति समुद्र की तरह होती है जिनमें सभी सजातीय और विजातीय भाव आकर विलीन हो जाते हैं और रसनिष्पत्ति के क्षणों तक इनकी स्थिति ज्यों की त्यों बनी रहती है।[1]

स्थायी भावों की संख्या चिन्तामणि ने नौ मानी है, रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, जुगुप्स, विस्मय, सम और भय।[2] इन स्थायी भावों के पृथक्-पृथक् लक्षण चिन्तामणि ने नहीं निर्धारित किए हैं। प्रायः इसका कारण यही था कि संस्कृत काव्यशास्त्र के जिन ग्रंथों को चिन्तामणि ने आधार बनाया था उनमें भी भिन्न-भिन्न स्थायी भावों के लक्षण नहीं दिए गए थे। यदि आपने विश्वनाथ किम्बा भानुदत्त को अपना उपजीव्य बनाया होता तो इसकी संभावना की जा सकती थी। इतना अवश्य कि आपने स्थायी भावों के मूल स्वरूप को नितान्त स्पष्ट कर दिया है। स्थायी भाव ही विभावादि के संयोग से रस रूप में परिणत हो जाते हैं, इसे भी चिन्तामणि भलीभाँति समझते हैं।[3]

---

१. कविकुलकल्पतरु ५।५०, ५२—५५। तथा प्र० रु० य० पृष्ठ—२२७। और देशरूपक ४।३४। व रत्नापण टीका, पृ० २२०। २. कविकुलकल्पतरु ५।५६। ३. वही ५।४८। ४. सुधानिधि, छन्द—४४६।

तोष

तोष की सुधानिधि में अस्तव्यस्त ढंग से रस विवेचन किया गया है। परिणामत: स्थायी भाव-विवेचन में भी अस्तव्यस्तता पाई जाती है। आपने रस तो नौ माने हैं किन्तु विवरण देते समय करुण रस का उल्लेख करना भूल गए।[1] यद्यपि उदाहरण उसका भी आपने दे दिया है। इन सभी रसों में शृंगार को आपने रस राज माना है, अतएव ग्रन्थ के ५५७ छन्दों में से ४४४ छन्दों में शृंगार का ही उल्लेख है।

आरम्भ में आपने रसराज शृंगार का विवरण दिया है, अतएव केवल उसी से सम्बद्ध "प्रेम" नामक स्थायी भाव का उल्लेख किया है। प्रेम को आपने एक विकार तो स्वीकार किया किन्तु इसका भी स्वरूप निर्दिष्ट नहीं है।[2] ग्रन्थ के उत्तरार्ध में नौ रसों के लिए क्रमश: नौ स्थायी भावों की स्वीकृति है, प्रीति, हास, शोक, क्रोध, उछाह, भय, निन्दा, विस्मय और भगति। इनके अतिरिक्त वात्सल्य रस का स्थायी भाव आपने "दया" को माना तथा इसे करुण-रस में अन्तर्भुक्त कर दिया[3] स्थायी भावों के अन्य सभी नाम तो परम्परागत हैं किन्तु रीति के स्थान में प्रीति, जुगुप्सा (या घिन) के स्थान में निन्दा, निर्वेद के स्थान में भगति और बाल विषया रति के स्थान में दया को तोष ने स्थायी भाव माना है। रीति और प्रीति में तो तत्वत: कोई अन्तर नहीं है, अतएव यह नवीनता क्षम्य है। जुगुप्सा या घृणा के स्थान में निन्दा के प्रयोग में केशव का प्रभाव है। किन्तु केशव को सभी रसों की अन्विति शृंगार और भक्ति के साथ प्रदर्शित करनी थी और जुगुप्सा को बीभत्स रस का स्थायी भाव मान लेने पर यह संगति बैठाना कठिन था अतएव निजी सिद्धांत के दुराग्रह में पड़कर आपको वैसा परिवर्तन अनावश्यक हो गया था तोष की स्थिति केशव से सर्वथा भिन्न है, अतएव यह परिवर्तन अनावश्यक है। विचित्रता तो यह है कि स्वयं एक स्थान पर आपने बीभत्स का सम्बन्ध "घिन" से भी बताया है।[4] क्या तोष घिन और निन्दा को पर्यायवाची समझते हैं? शांत रस का स्थायी भाव भक्ति को मानना स्पष्टत: असमीचीन है। वात्सल्य रस में बालकों के प्रति दया नहीं प्रीति होती है। अतएव तोष का स्थायी भाव-निरूपण युक्तियुक्त नहीं है। फिर तो "छिन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम्" के अनुसार रस-निरूपण भी आनुषंगिक रूप से अधूरा ही रह जाता है।

मतिराम

मतिराम का रसराज एकमात्र शृङ्गार-रस का निरूपक ग्रन्थ है। अतएव न तो इसमें अन्य रसों की चर्चा है और न उनके स्थायी भावों का उल्लेख। शृङ्गार के भी स्थायी भाव का पृथक् उल्लेख नहीं है, फिर उनके स्वरूप को समझाने की

---

१. सुधानिधि छन्द ४८६। २. वही ११। ३. वही ५३७। और वही ५३८—३९।
४. वही पृ० १५१।

बात तो दूर रही। शृङ्गार-रस के स्वरूप का भी स्पष्ट प्रतिपादन नहीं है किन्तु इतना मतिराम ने अवश्य कहा है कि कवियों के द्वारा नायक और नायिका के रति भाव का जो वर्णन किया जाता है, वही रसराज शृङ्गार है।[1] शृंगार-रस के इस लक्षण की अस्पष्टता और अधूरेपन के सम्बन्ध में कुछ कहना भी व्यर्थ है। तथापि इस लक्षण में शृंगार के स्थायीभाव 'रति' के संकेत को पकड़ा जा सकता है। यद्यपि इसका स्थायीभाव के रूप में पृथक् उल्लेख मतिराम को करना चाहिए था, किन्तु अनुभाव, सात्त्विक भाव और हावों की विस्तृत चर्चा करके भी स्थायीभाव के सम्बन्ध में आप मौन बने रहे। शृंगार-लक्षण वाले छन्द में भी 'रति' की ओर इशारा तो है किन्तु सहृदयों के हृदय का रति नामक स्थायीभाव शृंगार रस के रूप में परिणत होता है या आलम्बनाश्रयभूत नायक-नायिकाओं की हृदयगत रति ही रसरूप में परिणत हो जाती है—इसका स्पष्टीकरण न हो सकता है। परिणामतः हम दृढ़ता के साथ कह सकते हैं कि मतिराम के रसराज में स्थायी भाव का निरूपण है ही नहीं। भले ही उदाहरणों में आपकी कवि-प्रतिभा मुखर हो, पर आचार्यत्व का आप में नितान्त अभाव है।

कुलपति

कुलपति ने भावों को वासना रूप माना है।[2] भावों से यदि आपका तात्पर्य केवल स्थायी भावों से या अधिक संचारी भावों से रहता तो किसी को कोई आपत्ति न होती। किन्तु आपत्ति की गुंजायश तो तब हो जाती है जब भावों के अन्तर्गत आप विभाव, अनुभाव, संचारी भाव और स्थायी भाव इन चारों की गिनती करा देते हैं। विभाव और अनुभाव कदापि वासनारूप नहीं माने जा सकते हैं। स्थायी भाव सभी भावों के (कुलपति के अनुसार विभावादि चार भावों के और परम्परा के अनुसार रत्यादि नौ या दश स्थायी भावों तथा निर्वेदादि तैंतीस संचारी भावों के) सरदार हैं, इन्हें कोई अन्य भाव विच्छिन्न नहीं कर सकते हैं, ये सदा स्थिर रहने वाले भाव हैं तथा ये ही चर्वणावस्थापन्न होने पर रस-रूपता को प्राप्त हो जाते हैं।[3] स्थायी भावों का यह लक्षण सर्वथा शास्त्र-सम्मत है और इस पर विश्वनाथ का प्रभाव स्पष्ट है। केवल दोनों में अन्तर है भाव शब्द के अर्थ को लेकर। विश्वनाथ ने भावों के अन्तर्गत मात्र स्थायी, संचारी और सात्त्विकों को रखा है।[4] किन्तु केशव के प्रभाव में आकर कुलपति ने विभावों और अनुभावों को भी इसी के भीतर समाविष्ट कर लिया। सभी स्थायी भावों के नाम तो अपने नहीं गिनाये हैं और न उनके लक्षण ही दिए हैं, परन्तु नौ रसों के निरूपण में क्रमशः नौ स्थायी भावों का अप्रत्यक्ष रूप से उल्लेख हो गया है।

---

१. रासराज, छन्द-३४२। २. र० र० ३।१० और वृत्ति।
३. वही, ३।३२, सा० द० ३।१७४। ४. वही, ३।१८१।

देव

देव ने स्थायी भावों के साथ विभाव, अनुभाव, सात्विकभाव, संचारी भाव और हाव इन सबों को भाव शब्द से अभिहित किया है।[1] नितान्त स्थूल रूप में भाव शब्द का प्रयोग किया गया है। क्या आप भाव का अर्थ रसोपकरण तो नहीं समझते हैं ? फिर भी आपने स्थायी भावों का निरूपण अत्यन्त स्पष्टता के साथ किया है। स्थायी भाव वासना-रूप हैं जो विभावादियों के संयोग से रस रूपता को प्राप्त हो जाते हैं।[2] अतएव रस-निष्पत्ति में स्थायी भावों का स्थान अंकुर का है। जिस रस में जो भाव (वासनात्मक स्थायी भाव) अंकुर-स्थानीय है, वही उस रस का स्थायी भाव है। नौ रसों के लिए नौ स्थायी भाव हैं जिनमें शृंगार का स्थायी रति है, क्योंकि इसी से विकसित होकर शृंगार रस निष्पन्न होता है। प्रियजनों (प्रेमी-प्रेमिकाओं) को देखने-सुनने पर चित्त में जो एक प्रकार का विकार होता है, वही, रति भाव है।[3]

भाव विलास में मात्र शृंगार-रस का निरूपण है, अतएव उसमें रति के अतिरिक्त अन्य स्थायी भावों का शब्दतः उल्लेख नहीं है। शब्द-रसायन में देव ने नव-रस निरूपण किया है और वहीं सभी स्थायी भावों के नाम, लक्षण और उदाहरण दिए हैं। हास्य, शोक, क्रोध आदि सारे परम्परागत स्थायी भावों का आपने उल्लेख किया है, कोई नवीनता नहीं है। केवल बीभत्स रस का स्थायी भाव आपने जुगुप्सा को स्वीकार तो किया किन्तु उनके दो भेद कर दिए—घिन और निन्दा। इनमें से प्रथम जुगुप्सा तो स्थूल है जो घृणास्पद वस्तुओं को देखने-सुनने पर उत्पन्न होती है किन्तु द्वितीय जुगुप्सा (जिसे देव ने निन्दा कहा है) सूक्ष्म है जो नीच कर्म करने और सुनने पर उत्पन्न होती है।[4] डा० नगेन्द्र ने निन्दात्मक जुगुप्सा को ग्लानि माना है तथा आत्मग्लानि को करुण अथवा शांत रस के अधिक निकट एवं दूसरों के प्रति ग्लानि को क्रोध के निकट प्रतिपादित किया है। घृणा को आपने शारीरिक तथा निन्दा को मानसिक जुगुप्सा कहा है।[5] मेरी धारणा है कि भावों का कोई भी प्रभेद शारीरिक नहीं हो सकता है (सात्त्विक भावों को छोड़ कर), वे सभी मानसिक ही हैं। आत्मग्लानि किम्बा परग्लानि से घृणा ही होती है। वह घृणा अन्ततः शोकपर्यवसायी हो या क्रोध-पर्यवसायी किन्तु है वह मूलतः घृणा ही। यों तो तथाकथित शारीरिक घृणा भी परिणाम में खेद, शोक, क्रोध आदि भावों का जनक होगी ही। मान लीजिए कि किसी व्यक्ति ने सड़क पर मल-मूत्रादि जैसे घृणास्पद पदार्थ फेंक दिए हैं और उस सड़क से गुजरने वाले पथिकों को घृणा हो रही है।

---

१. भा० वि०, विलास १, पृ०-५। २. वही विलास ३, पृ०-६५।
३. (क) भा० वि० विलास १, पृ०-५ (ख) वही १ पृ० ६।
४. शब्द-रसायन, पृ० ३६। ५. देव और उनकी कविता पृ० १३४-१३५।

क्या उसकी यह घृणा घृणित वस्तु फेंकने वालों पर क्रोध के रूप में परिगणित नहीं होगी ? अतएव देव-प्रतिपादित घिन और निन्दा दोनों जुगुप्सा के ही रूप हैं और वे वीभत्स के स्थायी भाव बनने योग्य हैं। देव के पूर्ववर्ती केशव, तोष आदि आचार्यों ने जुगुप्सा को हटाकर निन्दा शब्द का प्रयोग किया था और परम्परागत संस्कृत काव्य शास्त्र में जुगुप्सा शब्द प्रचलित था। अतएव दोनों से प्रभाव ग्रहण कर जुगुप्सा को घृणा और निन्दा नामक दो भेदों में देव ने बांट दिया है। वस्तुतः यह वर्गीकरण अनावश्यक है क्योंकि इस प्रकार अन्य स्थायी भावों के भी प्रभेद किए जा सकते हैं। फिर भी देव का स्थायी भाव-निरूपण तर्कसंगत एवं समीचीन है।

कुमारमणिभट्ट

कुमारमणि के अनुसार रसों के अनुकूल विकार ही भाव है। चित्त जनित विकार तो आंतर भाव हैं और शारीर विकार शारीर भाव हैं। आन्तर भावों के अन्तर्गत स्थायी और संचारी हैं तथा शारीर भाव के अभ्यन्तर स्तम्भादि अष्टविध सात्त्विक भाव हैं।[1] कुमारमणि का यह भाव-निरूपण भानुदत्त की रसतरंगी के अनुसार है। उपर्युक्त कथन का सारांश यह कि आन्तर स्थायी भावों की विशेषता यह है कि वे रसानुभूति के क्षणों तक स्थिर रहते हैं। रसास्वाद के प्रक्रम में स्थायी भावों का वही स्थान है जो माला में सूत्र का होता है। जैसे माला के सूत्र में ही सभी फूल पिरोये रहते हैं और सूत्र की सत्ता माला के आरम्भ, मध्य और अन्त तक सामान रूप से स्थायीभावों की सत्ता रहती है और इन्हीं भाव-सूत्रों में सभी विभाव, अनुभाव आदि रसोपकरण अनुस्यूत रहते हैं।[2] कुमारमणि का यह उदाहरण प्रायः सर्वथा नवीन है और इस उदाहरण के द्वारा आपने बड़ी स्पष्टता के साथ स्थायी भाव के स्वरूप और अन्य रसोपादनों के साथ उनके सम्बन्ध का प्रतिपादन किया है।

आपने दश रस स्वीकार किए हैं—शांत और वात्सल्य को जोड़कर। अतएव दश रसों के लिए दश स्थायीभाव भी आपने माने हैं—रति, हांसी, शोक, रिस (क्रोध), उछाह, सुत-नेह, भय, घिन, बिस्मय और शम[3] इन सबों के पृथक्-पृथक् लक्षण कुमारमणि ने नहीं दिए हैं। कुमारमणि ने यद्यपि कोई मौलिक बात नहीं कही, किन्तु स्पष्टतापूर्वक परम्परागत विषयों को प्रस्तुत कर दिया है। उस युग के लिए यह भी एक बड़े महत्व की बात थी।

सोमनाथ

इस अध्याय के तृतीय खंड में हम प्रतिपादित कर चुके हैं कि सोमनाथ ने भानुमिश्र का अनुकरण करते हुए भावों को वासनात्मक चित्तवृति ठहराया है तथा

---

१. र० र० ४।१-२। २. वही ४।३। ३. वही ४।४।

उन्हें शारीर और आन्तर नामक दो भेदों में बांट कर विभाव, अनुभाव, स्थायी, संचारी इन सबों को भाव मान लिया है। विभाव और अनुभाव को भावों की मान्यता देने का हम खण्डन कर चुके हैं। स्थायी भाव अवश्य ही मूल भाव हैं और रसों की भित्तियां इन्हीं पर अवलम्बित हैं।

सोमनाथ के अनुसार जो भाव (मनोविकार) अन्य भावों के स्वामी हैं तथा सर्वदा स्थिर रहते हैं, वे ही स्थायी भाव हैं। अन्य भाव इन्हें कभी दबा नहीं सकते हैं। काव्य-रस नौ हैं, अतएव उनके स्थायी भाव भी नौ हैं[1]। स्थायी भावों के सभी नाम भी परम्परागत हैं, केवल बीभत्स का स्थायी भाव सोमनाथ ने जुगुप्सा या घिन न मान कर ग्लानि को माना है। ग्लानि एक संचारी भाव है और इसकी उत्पत्ति जुगुप्सा से होती है। अतएव मूलभाव जुगुप्सा या घृणा ही है, ग्लानि नहीं। सोमनाथ ने जो स्थायी भावों के लक्षण प्रस्तुत किए हैं. उन पर भानुमिश्र का प्रभाव है।[2] भानुमिश्र के स्थायी भाव लक्षणों को आप पूर्णतः अनूदित तो नहीं कर सके हैं किन्तु लक्षणों से स्थायी भावों का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। भानुमिश्र से यदि आपका कोई पार्थक्य है तो दो स्थलों में। रसतरंगिणीकार ने वीररस के स्थायी भाव उत्साह को तीन रूपों में ही प्रस्तुत किया है—युद्धोत्साह, दानोत्साह और दयोत्साह किन्तु सोमनाथ ने धर्मोत्साह को भी जोड़ लिया है। इसी प्रकार भानुमिश्र ने शांत-रस को नहीं मानने के कारण निर्वेद का उल्लेख नहीं किया है किन्तु सोमनाथ ने उसे भी स्थायी भावों की तालिका में समाविष्ट कर लिया है। इन दोनों स्थलों में साहित्यदर्पण का अनुकरण किया गया है। कुल मिलाकर सोमनाथ द्वारा प्रस्तुत स्थायी भावों के भेद, स्वरूप और भेद-लक्षण शास्त्र-सम्मत एवं समीचीन हैं।

भिखारीदास

देव की तरह भिखारीदास ने भी स्थायी भावों को रसों का बीज माना है[3]। "स्थायी-भावों का निवास सहृदयों के हृदय में होता है। उनकी संख्या आठ है—प्रीति, हंसी, शोक, रिस, उत्साह, भय, घृणा और विस्मय। प्रत्येक स्थायी भाव से एक-एक श्रृङ्गारादि रस निष्पन्न होता है। भरत ने आठ ही नाट्यरस बताए हैं, अतएव उन आठ रसों के लिए आठ स्थायी भाव हैं। किन्तु पाठ्य काव्य में शान्त नामक रस भी होता है और उसका स्थायी भाव निर्वेद है।[4] स्थायी भावों के

---

१. (क) श्रृङ्गार विलास। १।३२। (ख) रसपीयूषनिधि। ७।३२।
२. रति—रसपीयूषनिधि। १।३४। तुलनार्थ—र० त०। तरंग १, पृ० १३। उत्साह—वही, १।३९। तुलनार्थ—र० त०। पृ० २३। ग्लानि—वही। १।४१। तुलनार्थ—वही, पृ० २७। ३. काव्यनिर्णय। ४।८।
४. (क) वही, ४।१। (ख) रस सारांश। १२। (ग) काव्यनिर्णय। ४।४०।

सामान्य स्वरूप प्रतिपादन में विश्वनाथ और मम्मट का प्रभाव स्पष्ट है। किन्तु पहले आठ रसों के आठ स्थायी भाव बताकर नवम शान्त रस और उसके स्थायी भाव के उल्लेख में धनंजय की प्रतिच्छाया स्पष्ट देखी जा सकती है।[1] परिणामतः दास के स्थायी भाव-निरूपण में प्रामाणिकता है।

रसलीन

रसलीन के रस प्रबोध में स्थायी भावों का निरूपण अत्यन्त उलझा हुआ है। आपके लक्षण से स्थायी भावों का तात्त्विक स्वरूप निर्दिष्ट नहीं हो पाता है। रसलीन के अनुसार रसों के मूल स्थायी भाव हैं। पर ये स्थायी भाव इसलिए हैं कि रसों के सम्मुख होकर सहज स्वभाव को बदल डालते हैं। जिस रस के सम्मुख (सहृदयों के) हृदय में जिस (भाव का) परिवर्तन होता है, वही उस रस का स्थायी भाव है[2]। स्थायी भाव के इस लक्षण मे आंशिक सत्यता तो है किन्तु वह भी अस्पष्ट है। यह ठीक है कि स्थायी भाव अपने रूप को परिवर्त्तित कर रसरूपता को प्राप्त करते हैं। दध्यादि-न्याय से यह परिवर्तन काव्य शास्त्र में प्रसिद्ध है। किन्तु जो स्वयं रसरूप में परिवर्तित होते हैं, उनका रसों के सम्मुख परिवर्तन की बात समझ में नहीं आती है। स्पष्ट है कि रसलीन इसे नहीं समझ सके कि चर्वणा-वस्थापन्न होने पर स्थायी भाव ही रस कहलाता है। स्थायी भावों की स्थायिता, सागर में तरंग की तरह अन्य भावों का इनमें विलयन, इनका आस्वादांकुर होना, विरोधी किम्बा अविरोधी भावों से नहीं दबना आदि विशेषताओं पर रसलीन का ध्यान नहीं गया।

रसलीन ने नौ रस माने हैं, अतएव स्थायी भावों की संख्या भी आपने क्रमशः नौ गिना दी है। वे हैं—रति, हासी, शोक, क्रोध, उछाह, भय, घृण, अचरज और निरवेद।[3] अन्य सभी स्थायी भाव परम्परागत हैं किन्तु विस्मय के स्थान पर आपने अचरज (आश्चर्य) का प्रयोग किया है। यों तत्त्वतः दोनों में कोई अन्तर नहीं है।

रूपसाहि

रूपसाहि ने किसी भी रसोपकरण के स्वरूप, भेद आदि स्वतन्त्र रूप से निर्दिष्ट नहीं किए हैं—यह हम पीछे भी कह आए हैं। विभिन्न रसों के स्वरूप-निर्देश क्रम में ही आपने उनके उपकरणों का उल्लेख कर दिया है। अतएव स्थायी भावों के सम्बन्ध में हमें इनसे अत्यल्प जानकारी प्राप्त होती है। रस आपने भी नवविध (शांत को जोड़कर) माने हैं। अतएव इन नौ रसों के निरूपण-क्रम में नौ स्थायी भावों का उल्लेख भर हुआ है। उनके नाम हैं—रति, हास (मंदहास, कलहास,

---

१. दशरूपक। ४।३५।

२. रसप्रबोध। छन्द २३-२५। ३. वही, २६।

अतिहास और परिहास), शुच (शोक), क्रोध, उछाह (दयावीर का उत्साह, दानवीर का उत्साह और युद्धवीर का उत्साह), भय निन्दा (घृणा के स्थान में), विस्मय और निर्वेद[1]। बीभत्स का स्थायी आपने भानुमिश्र के अनुकरण पर निन्दा को स्वीकृत किया है तथा वीर रस के स्थायी में धर्मवीर के उत्साह को स्थान नहीं दिया है।

शिवनाथ

आपके रसवृष्टि नामक ग्रन्थ में रस के उपादानों का पृथक-पृथक् उल्लेख तो है किन्तु वे अस्पष्ट, एकांगी और कहीं-कहीं अयुक्तिपूर्ण हैं। स्थायी भावों का आपने लक्षण तो नहीं दिया है पर उन्हें गिनाने भर का प्रयास किया है। विचित्रता यह है कि रस तो आपने नौ स्वीकार किए—शृंगार से शांत तक, पर जब स्थायी भावों के नाम गिनाने लगे तो छः से आगे नहीं जा सके। वे सीमित स्थायी-भाव प्रतिपादक शब्द भी असंगत हैं। वे हैं–हास, हर्ष, शोच, रति सुख, क्रोध और उच्छाह[2]। रति एक मनोविकार होने के कारण शृंगार का स्थायी भाव है। रतिसुख तो स्वयं शृंगार रस ही हो सकता है, स्थायी भाव नहीं। हर्ष किस रस का स्थायी भाव है ? हर्ष एक मूल भाव है अवश्य किन्तु इसे सभी रसों का स्थायी भाव माना जा सकता है, किसी एक रस का नहीं। परम्परागत काव्य शास्त्र में कहीं किसी ने इसे स्थायी भाव नहीं माना है। कई स्थायी भाव तो छूट ही गए जैसे भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद। फिर हास्य रस के स्थायी भाव हास के प्रथम उल्लेख का कौन-सा रहस्य हो सकता है ? शिवनाथ जी ने शृंगार को तो रस-नायक माना[3]। पर उसके स्थायी भाव को विस्मृत कर हास्य के स्थायी का ही प्रथम उल्लेख करने चले। ऐसा प्रतीत होता है कि शिवनाथ को काव्य शास्त्र का सिलसिलेवार ज्ञान प्राप्त नहीं था, सुनी-सुनायी बातों के आधार पर ही आप रस-निरूपण को उद्धत हुए और ग्रन्थ लिख गए।

जनराज

जनराज का काव्य शास्त्रीय विषय-निरूपण अत्यन्त स्पष्ट और समीचीन है। स्थायी भावों के प्रसंग में भी उनकी ये विशेषताएं परिलक्षित हैं। रस और स्थायी भाव का पार्थक्य आपने स्पष्टतः प्रस्तुत किया है। स्थायी भाव जब तक विभावादियों के संयोग से पूर्णता को (चर्वणावस्था या आस्वाद दशा) को नहीं प्राप्त होते हैं, तब तक वे स्थायी भाव हैं और वे ही जब पूर्णता को प्राप्त कर लेते हैं तो रस कहलाते हैं।[4] स्थायी भाव सभी भावों के सात्विक, व्यभिचारी आदि

---

१. रूपविलास (ह० लि०-या० सं०)। ११।१०, ६०, ६२, ७३, ७५, ७७, ८०, -८४, ८७ और ९०।

२. रसवृष्टि। १३।९ ३. वही, १६।३

४. कवितारस विनोद (ह० वि०-या० सं०) १०।६८ तु०—दशरूपक।४।१ (वृत्ति)

सामान्य स्वरूप प्रतिपादन में विश्वनाथ और मम्मट का प्रभाव स्पष्ट है। किन्तु पहले आठ रसों के आठ स्थायी भाव बताकर नवम शान्त रस और उसके स्थायी भाव के उल्लेख में धनंजय की प्रतिच्छाया स्पष्ट देखी जा सकती है।[1] परिणामतः दास के स्थायी भाव-निरूपण में प्रामाणिकता है।

रसलीन

रसलीन के रस प्रबोध में स्थायी भावों का निरूपण अत्यन्त उलझा हुआ है। आपके लक्षण से स्थायी भावों का तात्त्विक स्वरूप निर्दिष्ट नहीं हो पाता है। रसलीन के अनुसार रसों के मूल स्थायी भाव हैं। पर ये स्थायी भाव इसलिए हैं कि रसों के सम्मुख होकर सहज स्वभाव को बदल डालते हैं। जिस रस के सम्मुख (सहृदयों के) हृदय में जिस (भाव का) परिवर्तन होता है, वही उस रस का स्थायी भाव है[2]। स्थायी भाव के इस लक्षण मे आंशिक सत्यता तो है किन्तु वह भी अस्पष्ट है। यह ठीक है कि स्थायी भाव अपने रूप को परिवर्त्तित कर रसरूपता को प्राप्त करते हैं। दध्यादि-न्याय से यह परिवर्तन काव्य शास्त्र में प्रसिद्ध है। किन्तु जो स्वयं रसरूप में परिवर्तित होते हैं, उनका रसों के सम्मुख परिवर्तन की बात समझ में नहीं आती है। स्पष्ट है कि रसलीन इसे नहीं समझ सके कि चर्वर्णा-वस्थापन्न होने पर स्थायी भाव ही रस कहलाता है। स्थायी भावों की स्थायिता, सागर में तरंग की तरह अन्य भावो का इनमें विलयन, इनका आस्वादांकुर होना, विरोधी किम्बा अविरोधी भावों से नहीं दबना आदि विशेषताओं पर रसलीन का ध्यान नहीं गया।

रसलीन ने नौ रस माने हैं, अतएव स्थायी भावों की संख्या भी आपने क्रमशः नौ गिना दी है। वे हैं—रति, हासी, शोक, क्रोध, उछाह, भय, घृण, अचरज और निरवेद।[3] अन्य सभी स्थायी भाव परम्परागत हैं किन्तु विस्मय के स्थान पर आपने अचरज (आश्चर्य) का प्रयोग किया है। यों तत्त्वतः दोनों में कोई अन्तर नहीं है।

रूपसाहि

रूपसाहि ने किसी भी रसोपकरण के स्वरूप, भेद आदि स्वतन्त्र रूप से निर्दिष्ट नहीं किए हैं—यह हम पीछे भी कह आए हैं। विभिन्न रसों के स्वरूप-निर्देश क्रम में ही आपने उनके उपकरणों का उल्लेख कर दिया है। अतएव स्थायी भावों के सम्बन्ध में हमें इनसे अत्यल्प जानकारी प्राप्त होती है। रस आपने भी नवविध (शांत को जोड़कर) माने हैं। अतएव इन नौ रसों के निरूपण-क्रम में नौ स्थायी भावों का उल्लेख भर हुआ है। उनके नाम हैं—रति, हास (मंदहास, कलहास,

---

१. दशरूपक। ४।३५।

२. रसप्रबोध। छन्द २३-२५.।   ३. वही, २६।

अतिहास और परिहास), शुच (शोक), क्रोध, उछाह (दयावीर का उत्साह, दानवीर का उत्साह और युद्धवीर का उत्साह), भय निन्दा (घृणा के स्थान में), विस्मय और निर्वेद[1] । बीभत्स का स्थायी आपने भानुमिश्र के अनुकरण पर निन्दा को स्वीकृत किया है तथा वीर रस के स्थायी में धर्मवीर के उत्साह को स्थान नहीं दिया है ।

शिवनाथ

आपके रसवृष्टि नामक ग्रन्थ में रस के उपादानों का पृथक-पृथक् उल्लेख तो है किन्तु वे अस्पष्ट, एकांगी और कहीं-कहीं अयुक्तिपूर्ण हैं । स्थायी भावों का आपने लक्षण तो नहीं दिया है पर उन्हें गिनाने भर का प्रयास किया है । विचित्रता यह है कि रस तो आपने नौ स्वीकार किए—श्रृंगार से शांत तक, पर जब स्थायी भावों के नाम गिनाने लगे तो छः से आगे नहीं जा सके । वे सीमित स्थायी-भाव प्रतिपादक शब्द भी असंगत हैं । वे हैं–हास, हर्ष, शोच, रति सुख, क्रोध और उच्छाह[2] । रति एक मनोविकार होने के कारण श्रृंगार का स्थायी भाव है । रतिसुख तो स्वयं श्रृंगार रस ही हो सकता है, स्थायी भाव नहीं । हर्ष किस रस का स्थायी भाव है ? हर्ष एक मूल भाव है अवश्य किन्तु इसे सभी रसों का स्थायी भाव माना जा सकता है, किसी एक रस का नहीं । परम्परागत काव्य शास्त्र में कहीं किसी ने इसे स्थायी भाव नहीं माना है । कई स्थायी भाव तो छूट ही गए जैसे भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद । फिर हास्य रस के स्थायी भाव हास के प्रथम उल्लेख का कौन-सा रहस्य हो सकता है ? शिवनाथ जी ने श्रृंगार को तो रस-नायक माना[3] । पर उसके स्थायी भाव को विस्मृत कर हास्य के स्थायी का ही प्रथम उल्लेख करने चले । ऐसा प्रतीत होता है कि शिवनाथ को काव्य शास्त्र का सिलसिलेवार ज्ञान प्राप्त नहीं था, सुनी-सुनायी बातों के आधार पर ही आप रस-निरूपण को उद्धत हुए और ग्रन्थ लिख गए ।

जनराज

जनराज का काव्य शास्त्रीय विषय-निरूपण अत्यन्त स्पष्ट और समीचीन है । स्थायी भावों के प्रसंग में भी उनकी ये विशेषताएं परिलक्षित हैं । रस और स्थायी भाव का पार्थक्य आपने स्पष्टतः प्रस्तुत किया है । स्थायी भाव जब तक विभावादियों के संयोग से पूर्णता को (चर्वणावस्था या आस्वाद दशा) को नहीं प्राप्त होते हैं, तब तक वे स्थायी भाव हैं और वे ही जब पूर्णता को प्राप्त कर लेते हैं तो रस कहलाते हैं ।[4] स्थायी भाव सभी भावों के सात्विक, व्यभिचारी आदि

---

१. रूपविलास (ह० लि०-या० सं०) । ११।१०, ६०, ६२, ७३, ७५, ७७, ८०, —८४, ८७ और ९० ।

२. रसवृष्टि । १३।९

३. वही, १६।३

४. कवितारस विनोद (ह० वि०-या० सं०) १०।६८ तु०–दशरूपक ।४।१ (वृत्ति)

भावों के) सिरमौर हैं तथा इन्हें अन्य भाव दबा नहीं सकते हैं । ये स्वयं रस रूप में परिणत हो जाते हैं । आठ प्रकार के नाट्यरसों के आठ स्थायी भाव हैं तथा नवम शान्त नामक काव्य-रस का नवमां स्थायी भाव भी होता है । फलतः शृंगार का रति, हास्य का हंसी, करुण का शोक, रौद्र का क्रोध, वीर का उत्साह, भयानक का भय, बीभत्स का निन्दा, अद्भुत का विस्मय और शान्त का निर्वेद स्थायी भाव है ।[1] उपर्युक्त नौ स्थायी भावों में अन्य सभी तो भरत, मम्मट, धनंजय और विश्वनाथ की परम्परा के अनुकूल हैं किन्तु बीभत्स का निन्दा नामक स्थायी भाव हिन्दी काव्य शास्त्र के आरम्भिक आचार्य केशव और चिन्तामणि के अनुसार प्रतिपादित किया गया है । पर ध्यान से देखने पर जनराज की निंदा प्राचीन "जुगुप्सा" का ही पर्याय है । घृणा का ही चर्वणावस्थापन्न रूप बीभत्स रस है । स्वय जनराज ने किसी की नाक से आने वाली दुर्गन्ध को निन्दा के रूप में उदाहृत किया है ।[2] यहाँ निन्दा—दूसरों के छिद्रान्वेषण या दुर्गुण का बोधक नहीं है, अपितु दुर्गन्ध—जन्य घृणा का ही द्योतक है । इसी को आपने गिलानि (ग्लानि) भी कहा है ।

उजियारे कवि

उजियारे के अनुसार वासना का ही व्यक्त रूप स्थायी भाव है तथा स्थायी भाव की ज्योति ही जाग्रत होने पर रस कहाती है ।[3] इस प्रकार वासना (संस्कार), स्थायी भाव और इन तीनों का पारस्पतिक सम्बन्ध नितान्त स्पष्ट हो जाता है । नौ परम्परागत रसों के नौ स्थायी भावों के पृथक्-पृथक् लक्षण भी उजियारे ने दिए हैं । इनके अतिरिक्त वत्सलता, चपलता, भक्ति, कृपणता और माया नामक रसों की चर्चा उठाकर उनके स्थायी भावों का उल्लेख एवं खण्डन आपने किया है । वत्सलता का आर्द्रता, चपलता का अभिलाषा, भक्ति का श्रद्धा और कृपणता का स्पृहा नामक स्थायी भाव कई संस्कृत काव्य शास्त्र के ग्रन्थों में प्रतिपादित किए गए हैं । उजियारे ने इन्हें स्थायी भाव नहीं माना है । इनका अन्तर्भाव आपने व्यभिचारी भावों में किया है । फलतः इनसे निष्पन्न रसों का भी अन्तर्भाव अन्य रसों में हो जाता है । उदाहरणार्थ, वात्सल्य का करुण में, चापल्य का हास्य में, भक्ति का शांत में और स्पृहा तथा कृपणता दोनों तत्त्वतः एक हैं, अतएव ये व्यभिचारी भाव में आ जाते हैं ।[4] उजियारे द्वारा प्रस्तुत इस रस-समीक्षा पर अभिनवगुप्त का प्रभाव स्पष्ट है । भानुदत्त की रसतरंगिणी के अनुकरण पर उजियारे ने माया रस का भी उल्लेख किया है । चित्तवृत्ति दो प्रकार की होती है—प्रवृत्तिपरक और निवृत्ति परक । निवृत्ति परक चित्तवृत्ति के कारण शांत रस की निष्पति होती है और

---

१. (क) क० र० वि० । १०।६२-६३ । (ख) वही, १०।६५-६७

२. कविता रस विनोद । १०।७५ और वृत्ति ।

३. रस चन्द्रिका (हस्त लिखित—या० सं०) । ३।३ ।

४. प्रश्न—वही । ३।१३-१४ । उत्तर—वही । ३।१५-१६ ।

प्रवृत्तिपरक चित्तवृत्ति के कारण माया रस की।[1] भानुदत्त ने माया रस का स्थायी भाव मिथ्याज्ञान को माना है। माया रस के स्वरूप-निर्धारण और खण्डन-मण्डन के अंश "इस जीर्णशीर्ण रस चन्द्रिका" नामक ग्रन्थ में फटे हैं। अतएव निश्चित रूप से इस सम्बन्ध में उजियारे की मान्यता तो नहीं बताई जा सकती है किन्तु उपर्युक्त वत्सलतादि रसों और आर्द्रतादि स्थायी भावों का खण्डन देखकर यह अनुमान किया जा सकता है कि माया रस और उसके स्थायी भाव मिथ्या ज्ञान का भी आपने खण्डन किया होगा। फलतः उजियारे के अनुसार मान्य स्थायी भाव नौ ही हैं। खण्डन–मण्डन को देखकर आपके विशद अध्ययन और तर्क-बुद्धि का आभास मिलता है।

पद्माकर

पद्माकर का स्थायी भाव—निरूपण भानुदत्त की रसतरंगिणी के अनुसार है। हिन्दी रूपान्तर में कहीं तो आपने कुमारमणिभट्ट से प्रभाव ग्रहण किया है और कहीं सोमनाथ से।

(सहृदयों के) हृदय में जो रसानुकूल विकार उत्पन्न होते हैं उन्हीं को काव्य शास्त्री स्थायी भाव कहते हैं। ये सभी भावों (सात्त्विक, व्यभिचारी आदि) के सिरमौर हैं तथा अन्य भाव इन्हें टाल नहीं सकते हैं। ये ही (विभावादियों से) परिपूर्ण होकर रसरूपता को प्राप्त हो जाते हैं। क्रमशः नौ रसों के नौ स्थायी भाव हैं—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, ग्लानि और निर्वेद।[2] ये सारे स्थायी भाव तो परम्परागत ही हैं, केवल जुगुप्सा या घृणा के स्थान पर आपने 'गिलानि" शब्द का प्रयोग किया है। तत्त्वतः पद्माकर ने जुगुप्सा (घृणा) और ग्लानि में कोई अन्तर नहीं माना है, जैसा कि ग्लानि के स्वरूप-लक्षण से प्रकट होता है।[3] पद्माकर ने सभी स्थायी भावों के पृथक्-पृथक् लक्षण और उदाहृण प्रस्तुत किए हैं। इन लक्षणों पर भानुमिश्र और विश्वनाथ का प्रभाव स्पष्ट है। कतिपय लक्षण द्रष्टव्य हैं:—

रति — सुप्रिय चाह तें होत जौ सुमन अपूरन प्रीति।
ताही सों रति कहत हैं रसग्रंथन की प्रीति॥ जगद्विनोद, ५८०।

हास — बचन रूप की रचन तें कछु उर लहैं विकास।
तातें परमित जो हसनि वहै कहीजत हास॥ वही। ५८३।

शोक — अहितलाभ हितहानि तें जु कछु हिये दुख होत।
सोक सु थाई भाव है कहत कविन के गोत॥ वही। ५८६।

क्रोध — रिपुकृत अपमानादि तें परमित चित्त विकार।
जु प्रतिकूल हिय हरष को वहहि क्रोध निरधार॥ वही। ५८९।

---

१. तुलनार्थ—रसतरंगिणी। तरंग ७, पृ०—१६१, १६२।
२. जगद्विनोद। ५७६-५७९। तु०—र०त० पृ० १०, ११,१२। ३. वही, ५९८

बेनी प्रवीन

विषय-वासना से उत्पन्न चित्तविकारों को बेनी प्रवीन ने भाव माना है।[1] भावों के अन्तर्गत विभाव, अनुभाव, सात्विक, और संचारी को समान रूप से आपने गृहीत किया है। यही वह अंश है जहां आकर मनोविकार-भूत भावों को यथार्थ रूप में चित्रित कर सकने में आपने अपनी विफलता का परिचय दिया है। भानुमिश्र की रसतरंगिणी को बिना सोचे-समझे अनूदित कर देने के निरर्थक प्रयास का ही यह प्रतिफल है।

स्थायी भाव का लक्षण प्रस्तुत करते हुए बेनी प्रवीन ने इतना ही कहा कि जो जिस रस का स्थायी भाव है, वह उसी रस में होता है तथा रस के साथ इसकी स्थिति अचल रहती है।[2] इस लक्षण के आधार पर स्थायी भाव का व्यभिचारी भाव के साथ अन्तर स्पष्ट हो जाता है। किन्तु स्थायी भावों की सभी विशेषताओं को बांध सकने में यह लक्षण सर्वथा असमर्थ है। रसों के साथ स्थायी भावों के सम्बन्ध को निर्धारित किए बिना उनके स्वरूप को भलीभांति हृदयंगम नहीं किया जा सकता है। तत्वतः स्थायी भाव और रस में कोई अन्तर नहीं है। भाव ही चर्वणावस्थापन्न होने पर रस और चर्वणावस्थापूर्व स्थायी भाव कहलाते हैं। जब तक इसे लक्षण में स्पष्ट नहीं कर लिया जाता है, वह एकांगी ही माना जायगा। नौ रसों के नौ स्थायी भावों में अन्य सभी तो परम्परागत हैं, केवल बीभत्स रस का स्थायी 'ग्लानि' और शांत का स्थायी 'ओक' माने गए हैं।[3] जुगुप्सा या घृणा के स्थान में ग्लानि की मान्यता पर पूर्ववर्ती पद्माकर के जगद्विनोद का प्रभाव है और ओक सम्भवतः विराग का पर्यायवाची है, क्योंकि शान्त रस के निरूपण प्रसंग में आपने विराग का ही उल्लेख किया है।[4]

करन कवि

करन कवि में भी रीतिकालीन अन्य आचार्यों की तरह मौलिक उद्भावना का नितान्त अभाव है किन्तु जो कुछ आपने लिखा है वह समीचीन एवं युक्तियुक्त है। अपने 'रसकल्लोल' में आपने रसानुकूल विकारों को भाव कहा है। इन भावों को शारीर और मानस नामक दो वर्गों में विभक्त कर शारीर भाव में केवल सात्विक भावों को और मानस भाव में स्थायी और संचारी भावों को गिनाया है।[5] अन्य आचार्यों की तरह विभाव और अनुभाव को भी भाव नहीं मान लिया। एतावता आपकी युक्तियुक्तता सिद्ध है। स्थायी भाव का आपने कोई सामान्य स्वरूप तो निर्दिष्ट नहीं किया है किन्तु नवविध स्थायी भावों के पृथक् पृथक् लक्षण दे दिए

१. नवरसतरंग। दोहा२८४। २. वही।३९२। ३. वही।३१।
४. वही।५३२। ५. रस कल्लोल (ह० लि०—ना० प्र० स०, काशी)। पद सं० ८ और ९।

हैं। इन लक्षणों पर भानुदत्त की रसतरंगिणी की छाया स्पष्टतः झांकती है। उदाहरणार्थ नीचे कतिपय लक्षण उद्धृत हैं :—

रति— इष्ट वस्तु ईहा जनित मन विकार जहं होइ।
कहु दरसन सुमिरन श्रवन अपरिपूरि रति सोइ ॥
रसकिल्लोल (ह० लि०)।१२।
तुलनार्थ—तत्रेष्ट वस्तु-समीहा-जनिता मनोविकृतिरपरिपूर्णा रतिः सा च क्वचिद्दर्शनेन, क्वचिच्छवणेन, क्वचित्स्मरणेन।
रस० त०। तरंग १, पृष्ठ १३।

हास— ष्याल वचन अरु वेष कृत मन विकार जहं होइ।
कहत अपूरन सकल कवि हास कहावत सोइ ॥ रसकल्लोल।१४।
तुलनार्थ—कुतूहल कृत-वचन-वेष-वैसादृश्यकृतो मनोविकारः परिमितो हासः। र० त० पृष्ठ-१५।

शोक— रति विन इष्ट वियोग कृत मन विकार जिहि ठौर।
अपरिपूरि विलसत जहां सोक कहत सिरमौर ॥ रसकल्लोल।१६।
तुलनार्थ—इष्ट विश्लेष जनितो रत्यनालिंगितः परिमितो मनोविकारः शोकः। र० त०। पृ० १७।

करन कवि ने परम्परागत नौ रसों के अतिरिक्त माया, वात्सल्य और भक्ति रसों का उल्लेख कर इन्हें उन्हीं रसों में अन्तर्भुक्त कर दिया है। माया को अद्‌भुत रस में, वात्सल्य को करुण और हास्य में तथा भक्ति को शांत रस में सन्निविष्ट किया गया है।[1] इन तीन रसों की अवस्थिति स्वीकृति नहीं होने के कारण करन कवि ने इनके स्थायी भावों किम्बा अन्य उपकरणों के उल्लेख की कोई आवश्यकता ही नहीं समझी।

प्रतापसाहि

प्रताप साहि ने स्थायी भाव का लक्षण साहित्य दर्पण के अनुसार किया है। ऐसा कह सकते हैं कि उसी का अनुवाद प्रस्तुत हुआ है। इस लक्षण के अनुसार हृदयरूपी कन्द से जो आनन्द (आस्वाद) रूपी अंकुर फूटता है वही स्थायी भाव है। यह स्थायी भाव विरुद्ध और अविरुद्ध भावों से तिरोहित नहीं होता है, यथा—शृङ्गार का स्थायी रति है। वीर और रौद्र शृंगार के विरोधी रस हैं किन्तु हास्य शृंगार का अविरोधी रस है। इन सबों के स्थायी भाव क्रमशः उत्साह, क्रोध और हास हैं। अतएव ये भाव भी शृंगार के स्थायी रति के विरोधी और अविरोधी भाव हुए। पर इन भावों से रति नामक स्थायी कभी भी आच्छन्न नहीं किया जा सकता है।[2]

१. रसकल्लोल।८०। २. (क) काव्यविलास (ह० लि०-ना० प्र० स०, काशी)।३।२८। (ख) वही।२।२८ (वृत्ति) तुलनार्थ—साहित्यदर्पण।३।१७४।

बेनी प्रवीन

विषय-वासना से उत्पन्न चित्तविकारों को बेनी प्रवीन ने भाव माना है।[1] भावों के अन्तर्गत विभाव, अनुभाव, सात्विक, और संचारी को समान रूप से आपने गृहीत किया है। यही वह अंश है जहां आकर मनोविकार-भूत भावों को यथार्थ रूप में चित्रित कर सकने में आपने अपनी विफलता का परिचय दिया है। भानुमिश्र की रसतरंगिणी को बिना सोचे-समझे अनूदित कर देने के निरर्थक प्रयास का ही यह प्रतिफल है।

स्थायी भाव का लक्षण प्रस्तुत करते हुए बेनी प्रवीन ने इतना ही कहा कि जो जिस रस का स्थायी भाव है, वह उसी रस में होता है तथा रस के साथ इसकी स्थिति अचल रहती है।[2] इस लक्षण के आधार पर स्थायी भाव का व्यभिचारी भाव के साथ अन्तर स्पष्ट हो जाता है। किन्तु स्थायी भावों की सभी विशेषताओं को बांध सकने में यह लक्षण सर्वथा असमर्थ है। रसों के साथ स्थायी भावों के सम्बन्ध को निर्धारित किए बिना उनके स्वरूप को भलीभांति हृदयंगम नहीं किया जा सकता है। तत्वतः स्थायी भाव और रस में कोई अन्तर नहीं है। भाव ही चर्वणावस्थापन्न होने पर रस और चर्वणावस्थापूर्व स्थायी भाव कहलाते हैं। जब तक इसे लक्षण में स्पष्ट नहीं कर लिया जाता है, वह एकांगी ही माना जायगा। नौ रसों के नौ स्थायी भावों में अन्य सभी तो परम्परागत हैं, केवल बीभत्स रस का स्थायी 'ग्लानि' और शांत का स्थायी 'ओक' माने गए हैं।[3] जुगुप्सा या घृणा के स्थान में ग्लानि की मान्यता पर पूर्ववर्ती पद्माकर के जगद्विनोद का प्रभाव है और ओक सम्भवतः विराग का पर्यायवाची है, क्योंकि शान्त रस के निरूपण प्रसंग में आपने विराग का ही उल्लेख किया है।[4]

करन कवि

करन कवि में भी रीतिकालीन अन्य आचार्यों की तरह मौलिक उद्भावना का नितान्त अभाव है किन्तु जो कुछ आपने लिखा है वह समीचीन एवं युक्तियुक्त है। अपने 'रसकल्लोल' में आपने रसानुकूल विकारों को भाव कहा है। इन भावों को शारीर और मानस नामक दो वर्गों में विभक्त कर शारीर भाव में केवल सात्विक भावों को और मानस भाव में स्थायी और संचारी भावों को गिनाया है।[5] अन्य आचार्यों की तरह विभाव और अनुभाव को भी भाव नहीं मान लिया। एतावता आपकी युक्तियुक्तता सिद्ध है। स्थायी भाव का आपने कोई सामान्य स्वरूप तो निर्दिष्ट नहीं किया है किन्तु नवविध स्थायी भावों के पृथक् पृथक् लक्षण दे दिए

---

१. नवरसतरंग। दोहा२८४।　२. वही।३९२।　३. वही।३१।
४. वही।५३२।　५. रस कल्लोल (ह० लि०—ना० प्र० स०, काशी)। पद सं० ८ और ९।

हैं। इन लक्षणों पर भानुदत्त की रसतरंगिणी की छाया स्पष्टतः झांकती है। उदाहरणार्थ नीचे कतिपय लक्षण उद्धृत हैं :—

रति— इष्ट वस्तु ईहा जनित मन विकार जहं होइ।
कहु दरसन सुमिरन श्रवन अपरिपूरि रति सोइ ॥
रसकिल्लोल (ह० लि०)।१२।
तुलनार्थ—तत्रेष्ट वस्तु-समीहा-जनिता मनोविकृतिरपरिपूर्णा रतिः सा च क्वचिद्दर्शनेन, क्वचिच्छ्रवणेन, क्वचित्स्मरणेन। रस० त०। तरंग १, पृष्ठ १३।

हास— ष्याल वचन अरु वेष कृत मन विकार जहं होइ।
कहत अपूरन सकल कवि हास कहावत सोइ॥ रसकल्लोल।१४।
तुलनार्थ—कुतूहल कृत-वचन-वेष-वैसादृश्यकृतो मनोविकारः परिमितो हासः। र० त० पृष्ठ-१५।

शोक— रति विन इष्ट वियोग कृत मन विकार जिहि ठौर।
अपरिपूरि विलसत जहां सोक कहत सिरमौर॥ रसकल्लोल।१६।
तुलनार्थ—इष्ट विश्लेष जनितो रत्यनालिंगितः परिमितो मनोविकारः शोकः। र० त०। पृ० १७।

करन कवि ने परम्परागत नौ रसों के अतिरिक्त माया, वात्सल्य और भक्ति रसों का उल्लेख कर इन्हें उन्हीं रसों में अन्तर्भुक्त कर दिया है। माया को अद्भुत रस में, वात्सल्य को करुण और हास्य में तथा भक्ति को शांत रस में सन्निविष्ट किया गया है।[1] इन तीन रसों की अवस्थिति स्वीकृति नहीं होने के कारण करन कवि ने इनके स्थायी भावों किम्बा अन्य उपकरणों के उल्लेख की कोई आवश्यकता ही नहीं समझी।

प्रतापसाहि

प्रताप साहि ने स्थायी भाव का लक्षण साहित्य दर्पण के अनुसार किया है। ऐसा कह सकते हैं कि उसी का अनुवाद प्रस्तुत हुआ है। इस लक्षण के अनुसार हृदयरूपी कन्द से जो आनन्द (आस्वाद) रूपी अंकुर फूटता है वही स्थायी भाव है। यह स्थायी भाव विरुद्ध और अविरुद्ध भावों से तिरोहित नहीं होता है, यथा—शृङ्गार का स्थायी रति है। वीर और रौद्र शृंगार के विरोधी रस हैं किन्तु हास्य शृंगार का अविरोधी रस है। इन सबों के स्थायी भाव क्रमशः उत्साह, क्रोध और हास हैं। अतएव ये भाव भी शृंगार के स्थायी रति के विरोधी और अविरोधी भाव हुए। पर इन भावों से रति नामक स्थायी कभी भी आच्छन्न नहीं किया जा सकता है।[2]

१. रसकल्लोल।८०। २. (क) काव्यविलास (ह० लि०-ना० प्र० स०, काशी)। ३।२८। (ख) वही।२।२८ (वृत्ति) तुलनार्थ—साहित्यदर्पण।३।१७४।

बेनी प्रवीन

विषय-वासना से उत्पन्न चित्तविकारों को बेनी प्रवीन ने भाव माना है।[1] भावों के अन्तर्गत विभाव, अनुभाव, सात्विक, और संचारी को समान रूप से आपने गृहीत किया है। यही वह अंश है जहां आकर मनोविकार-भूत भावों को यथार्थ रूप में चित्रित कर सकने में आपने अपनी विफलता का परिचय दिया है। भानुमिश्र की रसतरंगिणी को बिना सोचे-समझे अनूदित कर देने के निरर्थक प्रयास का ही यह प्रतिफल है।

स्थायी भाव का लक्षण प्रस्तुत करते हुए बेनी प्रवीन ने इतना ही कहा कि जो जिस रस का स्थायी भाव है, वह उसी रस में होता है तथा रस के साथ इसकी स्थिति अचल रहती है।[2] इस लक्षण के आधार पर स्थायी भाव का व्यभिचारी भाव के साथ अन्तर स्पष्ट हो जाता है। किन्तु स्थायी भावों की सभी विशेषताओं को बांध सकने में यह लक्षण सर्वथा असमर्थ है। रसों के साथ स्थायी भावों के सम्बन्ध को निर्धारित किए बिना उनके स्वरूप को भलीभांति हृदयंगम नहीं किया जा सकता है। तत्वतः स्थायी भाव और रस में कोई अन्तर नहीं है। भाव ही चर्वणावस्थापन्न होने पर रस और चर्वणावस्थापूर्व स्थायी भाव कहलाते हैं। जब तक इसे लक्षण में स्पष्ट नहीं कर लिया जाता है, वह एकांगी ही माना जायगा। नौ रसों के नौ स्थायी भावों में अन्य सभी तो परम्परागत हैं, केवल बीभत्स रस का स्थायी 'ग्लानि' और शांत का स्थायी 'ओक' माने गए हैं।[3] जुगुप्सा या घृणा के स्थान में ग्लानि की मान्यता पर पूर्ववर्ती पद्माकर के जगद्विनोद का प्रभाव है और ओक सम्भवतः विराग का पर्यायवाची है, क्योंकि शान्त रस के निरूपण प्रसंग में आपने विराग का ही उल्लेख किया है।[4]

करन कवि

करन कवि में भी रीतिकालीन अन्य आचार्यों की तरह मौलिक उद्भावना का नितान्त अभाव है किन्तु जो कुछ आपने लिखा है वह समीचीन एवं युक्तियुक्त है। अपने 'रसकल्लोल' में आपने रसानुकूल विकारों को भाव कहा है। इन भावों को शारीर और मानस नामक दो वर्गों में विभक्त कर शारीर भाव में केवल सात्विक भावों को और मानस भाव में स्थायी और संचारी भावों को गिनाया है।[5] अन्य आचार्यों की तरह विभाव और अनुभाव को भी भाव नहीं मान लिया। एतावता आपकी युक्तियुक्तता सिद्ध है। स्थायी भाव का आपने कोई सामान्य स्वरूप तो निर्दिष्ट नहीं किया है किन्तु नवविध स्थायी भावों के पृथक् पृथक् लक्षण दे दिए

१. नवरसतरंग। दोहा २८४। २. वही।३९२। ३. वही।३१।
४. वही।५३२। ५. रस कल्लोल (ह० लि०—ना० प्र० स०, काशी)। पद सं० ८ और ९।

हैं। इन लक्षणों पर भानुदत्त की रसतरंगिणी की छाया स्पष्टतः झांकती है। उदाहरणार्थ नीचे कतिपय लक्षण उद्धृत हैं :—

रति— इष्ट वस्तु ईहा जनित मन विकार जहं होइ।
कहु दरसन सुमिरन श्रवन अपरिपूरि रति सोइ ॥
रसकिल्लोल (ह० लि०)।१२।
तुलनार्थ—तत्रेष्ट वस्तु-समीहा-जनिता मनोविकृतिरपरिपूर्णा रतिः सा च क्वचिद्दर्शनेन, क्वचिच्छवणेन, क्वचित्स्मरणेन। रस० त०। तरंग १, पृष्ठ १३।

हास— ष्याल वचन अरु वेष कृत मन विकार जहं होइ।
कहत अपूरन सकल कवि हास कहावत सोइ ॥ रसकल्लोल।१४।
तुलनार्थ—कुतूहल कृत-वचन-वेष-वैसादृश्यकृतो मनोविकारः परिमितो हासः। र० त० पृष्ठ-१५।

शोक— रति विन इष्ट वियोग कृत मन विकार जिहि ठौर।
अपरिपूरि विलसत जहां सोक कहत सिरमौर ॥ रसकल्लोल।१६।
तुलनार्थ—इष्ट विश्लेष जनितो रत्यनालिंगितः परिमितो मनोविकारः शोकः। र० त०। पृ० १७।

करन कवि ने परम्परागत नौ रसों के अतिरिक्त माया, वात्सल्य और भक्ति रसों का उल्लेख कर इन्हें उन्हीं रसों में अन्तर्भुक्त कर दिया है। माया को अद्भुत रस में, वात्सल्य को करुण और हास्य में तथा भक्ति को शांत रस में सन्निविष्ट किया गया है।[1] इन तीन रसों की अवस्थिति स्वीकृति नहीं होने के कारण करन कवि ने इनके स्थायी भावों किम्बा अन्य उपकरणों के उल्लेख की कोई आवश्यकता ही नहीं समझी।

प्रतापसाहि

प्रताप साहि ने स्थायी भाव का लक्षण साहित्य दर्पण के अनुसार किया है। ऐसा कह सकते हैं कि उसी का अनुवाद प्रस्तुत हुआ है। इस लक्षण के अनुसार हृदयरूपी कन्द से जो आनन्द (आस्वाद) रूपी अंकुर फूटता है वही स्थायी भाव है। यह स्थायी भाव विरुद्ध और अविरुद्ध भावों से तिरोहित नहीं होता है, यथा–शृङ्गार का स्थायी रति है। वीर और रौद्र शृंगार के विरोधी रस हैं किन्तु हास्य शृंगार का अविरोधी रस है। इन सबों के स्थायी भाव क्रमशः उत्साह, क्रोध और हास हैं। अतएव ये भाव भी शृंगार के स्थायी रति के विरोधी और अविरोधी भाव हुए। पर इन भावों से रति नामक स्थायी कभी भी आच्छन्न नहीं किया जा सकता है।[2]

१. रसकल्लोल।८०। २. (क) काव्यविलास (ह० लि०-ना० प्र० स०, काशी)। ३।२८। (ख) वही।२।२८ (वृत्ति) तुलनार्थ—साहित्यदर्पण।३।१७४।

प्रतापसाहि को अपने स्थायी भाव लक्षण में स्पष्टता का सन्देह था, अतएव वृत्ति का आश्रय ग्रहण करना पड़ा। लक्षण और वृत्ति को मिलाकर विश्वनाथ की स्थायी भाव सम्बन्धी मान्यता को आप अनूदित कर सकने में समर्थ हो सके हैं। प्रतापसाहि के काव्यविलास नामक ग्रन्थ में केवल शृंगार रस का निरूपण हुआ है, अतएव मात्र रति नामक स्थायी भाव का उसमें उल्लेख है। अन्य रसों का निरूपण सम्भवतः आपने 'रसचन्द्रिका' नामक ग्रन्थ में किया था, अतएव उन रसों के स्थायी भावों का भी विवरण आपने वहीं दिया होगा। इस ग्रंथ की अनुपलब्धि के कारण उनके सम्बन्ध में कुछ कहना नितान्त कठिन है।

चन्द्रशेखर वाजपेयी

वाजपेयी जी के अनुसार अविरोधी और विरोधी इन सभी भावों में प्रमुख, एवं अलक्षित जो आन्तरिक मनोविकार हैं, वे ही स्थायीभाव हैं। ये स्थायी भाव ही परिपूर्णावस्था में (विभावादियों का संयोग पाकर) रस कहाते हैं और किंचित् अपरिपूर्णता रहने पर भी ये भाव कहाते हैं। यों तो नौ रसों के नौ स्थायी भाव हैं, पर भरत ने नाट्य रस आठ ही माने हैं। नवमां रस जिसे शान्त रस कहते हैं, उसकी सत्ता केवल पाठ्य या श्रव्य काव्य में ही है। शान्त का स्थायी भाव शम है।[1] चन्द्रशेखर वाजपेयी का यह रस-निरूपण शास्त्र-सम्मत, स्पष्ट एवं समीचीन है। सारांश तो आपने धनंजय, विश्वनाथ और भानुदत्त के ग्रन्थों से गृहीत किया है, किन्तु भाषा निजी है। किसी ग्रन्थ को सामने रख कर आपने अनुवाद नहीं किया है।

भिन्न-भिन्न स्थायी भावों के भी आपने पृथक्-पृथक् लक्षण दिए हैं।[2] इन लक्षणों पर रस-तरंगिणी, जगद्विनोद (पद्माकर) और रसकल्लोल (करन कवि) का प्रभाव लक्षित होता है।

ग्वालकवि

ग्वाल कवि ने रसतरंग में नवरस-निरूपण के प्रसंग में स्थायी भावों के लक्षण, भेद आदि प्रतिपादित किए हैं। आपकी दृष्टि में स्थायी भाव आलम्बन-जन्य, बीजरूप, अटल और अपरिपूर्ण हैं।[3] स्थायी भावों की इन विशेताओं में सभी सार्थक हैं और हम उनसे सहमत हैं। केवल स्थायी भावों की आलम्बन-जन्यता आपत्ति-जनक है। यह विशेषण रसानुभूति को एकांगी बना डालता है। वस्तुतः रसानुभूति काव्य को पढ़ सुन कर सहृदयों को होती है और इन मनोविकार-रूप स्थायी भावों का निवास भी उन्हीं के हृदय में होता है। अतएव स्थायी भावों को सहृदय-हृदय-जन्य कहा जा सकता है। यों रस-बोध का एक दूसरा रूप भी है। लोक-जीवन में

१. रसिक विनोद।३६४-३६७। २. वही।३६९, ३७१, ३७३, ३७५, ३७७, ३८१, ३८३ और ३८५। ३. रसरंग।१।१५।

मनुष्य जागतिक रूप-व्यापारों के संयोग में आकर अपने मनोगत विकारों को उद्रिक पाते हैं और वैसे क्षणों में उन्हें जो अनुभूति होती है—वह भी रसों की अन्यतम दशा है। रस की इस दशा को ध्यान में रखकर स्थायी भावों को आलम्बन-जन्य कहा जा सकता है पर काव्य-नाटकगत रस के आस्वाद-क्षणों में सहृदयों के मनोविकार ही रसरूपता को प्राप्त कराते हैं। अतएव काव्य-नाटकीय रसों के स्थायी भावों को सहृदय-हृदय-जन्य ही मानना चाहिए। फलतः ग्वाल के कथन में आंशिक सत्यता भले ही हो सकती है, सम्पूर्णतः नहीं। स्थायी भावों को अपरिपूर्ण कहने का तात्पर्य यह है कि परिपूर्णावस्था में तो वे रस कहलाते हैं और आस्वाद-पूर्व-दशा में अपरिपूर्ण रहने के कारण स्थायी भाव हैं।

स्थायी भावों की नौ संख्या है—रति, हांसी, सोक, क्रोध, उछाह, भय, ग्लानि, विस्मय और ओक।[1] अभी तक जुगुप्सा के स्थान में क्रमशः घृणा और घृणा के स्थान में ग्लानि शब्द का प्रयोग प्रचलित हो गया है, पर ग्लानि शब्द तत्वतः जुगुप्सा का ही द्योतक है। शान्त रस का स्थायी भाव परम्परागत ग्रन्थों में निर्वेद, शम और वैराग्य माना गया है। 'ओक' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम बेनी प्रवीन ने नवरसतरंग में किया था और दूसरी बार ग्वाल ने अपने रसरंग में किया है। ओक निर्वेद का ही पर्यायवाची शब्द है—इसे आपने स्वयं स्पष्ट कर दिया है।

रसिक बिहारी

रसिक बिहारी के काव्य सुधाकर में स्थायी भाव का न तो स्वतन्त्र लक्षण ही है और न एकत्र कहीं उनके सारे नाम ही गिनाए गए हैं। आपने रस नौ माने हैं (शान्त को जोड़कर)। अतएव इन नौ रसों के निरूपण क्रम में क्रमशः रत्यादि स्थायी भावों का उल्लेख कर दिया है। इतना अवश्य कि स्थायी भावों से ही रसाभिव्यक्ति आपने स्वीकार की है।[2] किन्तु स्थायी भावों का अस्तित्व आपने आलम्बन विभाव में मान लिया है।[3] जो गलती ग्वाल के स्थायी भाव लक्षण में है, उसी की पुनरावृत्ति रसिक बिहारी ने भी की है। अतएव रसिक बिहारी ने स्थायी भाव को स्पष्टतः समझा नहीं है—ऐसा मान लिया जा सकता है।

नन्दराम

नन्दराम ने एक उत्तम उदाहरण के द्वारा स्थायी भाव और रस का सम्बन्ध स्पष्ट किया है। जैसे इक्षुविकार (ऊख का रस) से शर्करा का निर्माण होता है, उसी तरह स्थायी भाव से रस की परिणति होती है।[4] मम्मट और विश्वनाथ ने इसी सम्बन्ध को दध्यादि-न्याय से तथा अभिनवगुप्त ने मृद्गन्ध-न्याय से स्पष्ट किया है।

---

१. वही ।१।१६

२. काव्य सुधाकर । १०।१   ३. वही, ६।२ ।   ४. शृंगार दर्पण । १०।२ ।

नन्दराम की दृष्टि में स्थायी वे भाव हैं जो रसानुकूल होते हैं तथा सहृदयों के हृदय में प्रकट होते हैं। प्रत्येक स्थायी भाव अपने सम्बद्ध रस के साथ अचल रूप से विद्यमान रहता है। नाटकों के आठ रसों के सुरति, हास, शोक आदि आठ स्थायी भाव होते हैं तथा शांत नामक रस केवल पाठ्य या श्रव्य होता है और इसका स्थायी भाव निर्वेद है।[1] नन्दराम ने इन स्थायी भावों के पृथक्-पृथक् लक्षण भी दिए हैं और ये परम्परागत विचारों से सम्पृक्त होकर भी नन्दराम की निजी शैली और भाषा में ढले हैं। रति के स्थान में सुरति का प्रयोग खलता है।

लछिराम

लछिराम की स्थापना में कोई नवीनता तो नहीं है किन्तु मनोहारी छन्द और सरल भाषा ही आपके लक्षणों के मुख्य आकर्षण हैं हृदय में उत्पन्न रसानुकूल विकारों को ही आपने स्थायी भाव कहा है।[2] स्थायी भाव का यह लक्षण अधूरा है। क्योंकि व्यभिचारी भाव और सात्त्विक भाव भी रसानुकूल हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में क्या लछिराम उन्हें भी स्थायी भाव मानने को प्रस्तुत होंगे? वस्तुत: स्थायी भावों की स्थायिता तथा आस्वादांकुरता ये दो ऐसे गुण हैं जिनसे इन्हें अन्य भावों से पृथक् समझा जा सकता है। लछिराम ने अपने लक्षण में इन विशेषताओं की ओर ध्यान नहीं दिया।

श्रृङ्गारादि नौ रसों के रत्यादि नौ स्थायी भावों का आपने उल्लेख किया हैं तथा प्राचीन आचार्यों के अनुसार उनके पृथक्-पृथक् लक्षण प्रस्तुत करने का आश्वासन भी दिया है।[3] पर आपके लक्षणों को देखकर हमें अतिशय निराशा होती हैं, कहीं न तो आपने प्राचीन आचार्यों के लक्षणों का अनुसरण किया है और न इन स्थायी भावों के स्वरूप को स्पष्ट कर सके हैं। उदाहरणार्थ नीचे कतिपय लक्षण प्रस्तुत हैं, जिनमें भरत से विश्वनाथ तक किम्बा केशव से पद्माकर तक प्राय: किसी के लक्षणों का अनुसरण नहीं है। इन भावों के मूल रूप को ही लछिराम नहीं समझ सके हैं:—

(रति) पतिसंगम की मानस प्रीति नवीन।
रति संचारी या विधि मत प्राचीन॥ म० वि०। ४।२३१।

(हास) नवला विहंसन लागी सहज सिंगार।
चहत बिलोकन पियमुख आज सवार॥ वही, ४।२३३।

(शोक) परम मित्र, को संकट परसत नैन।
दुखद सिन्धु अस्थाई सोक सबेन॥ वही, ४।२३७।

इसी प्रकार अवशिष्ट स्थायी भावों के लक्षण भी अस्पष्ट एवं अनुपपन्न हैं।

---

१. श्रृङ्गार दर्पण।९।१-४, पृ० १३०। २. महेश्वर विलास।४।२२७।
३. वही।४।२२९, २३०।

५—रस-भेद

केशव

केशव ने अपनी रसिक प्रिया में सामान्यतः नौ रसों को स्वीकार किया है–श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, वीभत्स, अद्भुत और शान्त। किन्तु इन नौ रसों में श्रृंगार को आपने सभी रसों का नायक माना है।[1] श्रृंगार के संयोग और वियोग (प्राचीन सम्भोग और विप्रलम्भ) नामक दो भेद स्वीकृत करके केशव ने इन दोनों को प्रच्छन्न और प्रकाश नामक दो अवान्तर्भेदों में बाँट दिया है।[2] प्रियतम, प्रिया और सखी तक सीमित रहने वाले श्रृंगार को केशव ने प्रच्छन्न वियोग और संयोग माना है। तथा जिसे सभी लोग अपने अपने मन में जानते हैं उसे प्रकाश संयोग और वियोग स्वीकार किया है।[3] प्रच्छन्न और प्रकाश नामक नूतन भेदों की कल्पना प्रायः केशव की निजी है। वस्तुतः, न तो कोई संयोग और वियोग पूर्णतः प्रच्छन्न रह सकता है और न प्रकाश ही। रति या प्रेम ही एक ऐसा भाव है जिसे छिपाना थोड़ा कठिन है। संयोग के क्षणों में प्रेमी की चेष्टाएँ उसे व्यक्त कर देती हैं और वियोग के क्षणों में विरह की दशाएँ ही उसे प्रच्छन्न नहीं रहने देतीं। इसी प्रकार, किसी एक व्यक्ति का श्रृंगार सभी के सामने प्रकाशित भी नहीं हो सकता है। कहीं उसकी सीमा अवश्य होगी। अतएव प्रच्छन्न और प्रकाश नामक भेदों की स्वीकृति एक अतिवादी दृष्टिकोण होगी। इस दिशा में केशव को परम्परागत काव्यशास्त्र का समर्थन भी प्राप्त नहीं है। पुनः विप्रलम्भ के अवस्थानुसार केशव के चार भेद किये हैं–पूर्वानुराग, करुण, मान और प्रवास। यह वर्गीकरण न तो मम्मट के अनुसार है और न भानुदत्त के, प्रत्युत केशव ने इस दिशा में विश्वनाथ का अनुसरण किया है।[4] प्रच्छन्न और प्रकाश वाला रूप प्रत्येक विप्रलम्भ के साथ लगा हुआ है। विश्वनाथ ने पूर्वराग की उत्पत्ति, श्रवण और दर्शन दोनों से मानी है, किन्तु केशव ने उसे केवल दर्शन-समुद्भूत ही माना है। मान के भेदों में विश्वनाथ ने प्रणयोद्भूत और ईर्ष्याद्भूत का उल्लेख किया किन्तु केशव ने गुरु, लघु और मध्यम नामक तीन भेद भानुदत्त के अनुसार प्रतिपादित किए। विश्वनाथ और केशव के करुण-विप्रलम्भ में भी अन्तर है। विश्वनाथ ने नायक-नायका में से किसी एक के दिवंगत होने पर करुण विप्रलम्भ माना है किन्तु केशव ने सुख के सभी उपायों के छूट जाने पर करुण-विप्रलम्भ की निष्पत्ति बताई है।[5] प्रवास में भी केशव ने कार्यजन्य प्रवास तो स्वीकार किया पर विश्वनाथ प्रतिपादित शाप-जन्य प्रवास को छोड़ दिया। कार्यजन्य में भी भावी भवन् और भूत नामक कालगत विभाजन केशव ने नहीं किया है। अतएव केशव का विप्रलम्भ-निरूपण अंशतः विश्वनाथ-सम्मत है। भानुदत्त एवं विश्वनाथ प्रभृति आचार्यों ने हास्य के भी छः भेद किए हैं—स्मित, हसित, विहसित, अपहसित

---

१. रसिकप्रिया। १।१५–१६। २. वही। १।१८। ३. (क) वही। १–१६। (ख) वही। १–१२१। ४. वही। ८।२ तथा साहित्यदर्पण। ३।१८७ ५. वही। ३।२०६। तथा रसिकप्रिया। ११।१।

अवहसित तथा अतिहसित। केशव ने चार भेदों में ही इन्हें गतार्थ कर दिया है—मंदहास, कलहास, अतिहास और परिहास।[1] करुण, रौद्र, वीरादि रसों में केशव ने भी परम्परा का ही अनुसरण किया है। केवल प्रच्छन्न और प्रकाश नामक दो भेद केशव को प्रत्येक रस में मान्य हैं। यों शृंगार को छोड़कर अन्य रसों में प्रच्छन्न और प्रकाश के आधार पर किए गए भेदों को आपने ग्रन्थ-विस्तार के भय से उदाहृत नहीं किया है, पर प्रत्येक रस की द्विविधता निःसन्देह आपको मान्य है।[2] यह वर्गीकरण सर्वथा अनुपयुक्त है।

चिन्तामणि

चिन्तामणि के अनुसार भी रस नौ प्रकार के हैं—शृंगार से शान्त पर्यन्त। दंपति के प्रीतिपूर्ण विलास में संयोग शृंगार और नर-नारी के विछोह में विप्रलम्भ शृंगार होता है।[3] विश्वनाथ के अनुकरण में चिन्तामणि ने भी विप्रलम्भ को चार भेदों में विभक्त किया है–पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण।[4] पूर्वरागात्मक विप्रलम्भ के अन्तर्गत काम की बारह और दश अवस्थाओं को आपने क्रमशः विद्यानाथ और विश्वनाथ के अनुसार स्वीकृत किया है। विश्वनाथ के अनुसार चक्षुः प्रीति, मनःसंग, संकल्प, प्रलाप, जागरण, कृशता, अरति, लज्जात्याग, संज्वर, उन्माद, मूर्च्छा, और मरण ये बारह काम-दशाएँ वर्णित हैं और विश्वनाथ के अनुसार अभिलाषा चिन्ता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण ये दश अवस्थाएँ वर्णित हैं।[5] मान विप्रलम्भ के प्रणयोद्भव और ईर्ष्योद्भव नामक दो भेदों में भी विश्वनाथ का ही अनुसरण है। करुण विप्रलम्भ का रूप और उदाहरण भी पूर्णतः साहित्यदर्पण का अनुसरणकारी है। प्रवास विप्रलम्भ में भविष्यत् और भूत नामक दो भेद तो विश्वनाथ सम्मत हैं किन्तु वर्तमान प्रवास को चिन्तामणि ने छोड़ दिया है। विश्वनाथ-सम्मत चार भेदों का प्रतिपादन करने के उपरांत चिंतामणि ने मम्मट-सम्मत पाँच विप्रलम्भ भेदों का भी उल्लेख किया है—अभिलाष, विरह, ईर्ष्या, प्रवास और शाप।[6] अन्य हास्यादि रसों के भेदोपभेद चिन्तामणि ने प्रतिपादित नहीं किए हैं। केवल वीर रस के आपने विश्वनाथ-सम्मत चार भेद प्रतिपादित किये हैं—दानवीर, धर्मवीर, युद्धवीर और दयावीर।[7] फलतः चिन्तामणि के रस भेद निरूपण में न तो कोई नवीनता है और न किसी एक प्राचीन सिद्धांत ग्रन्थ का सर्वांशतः अनुकरण है। आपने विद्यानाथ के प्रतापरुद्रयशोभूषण, विश्वनाथ के साहित्यदर्पण और मम्मट के काव्यप्रकाश—इन तीनों ग्रन्थों से अपेक्षा एवं आवश्यकता के अनुसार प्रभाव ग्रहण किया है। इस अर्थ में चिन्तामणि का रस-भेद-

---

१. रसिकप्रिया। १४।२। २. वही। १४।४ ३. कविकुलकल्पतरु। ८।३। और ९। ४. क० कु० क० त०। ८।११। ५. कविकु०क०। ८।१४–१६ और। ८।१७–१९। ६. वही। ८।८३। ७. वही। ८।११६ तथा साहित्यदर्पण। ३।२३४।

निरूपण अपने ढंग का हो जाता है। भाव, रसाभास, भावाभास, भाव-शान्ति और भावोदय का निरूपण भी आपने विश्वनाथ के अनुसार ही किया है।

तोष

तोष ने सर्वमान्य श्रृंगारादि नौ रसों को स्वीकार किया है।[1] वात्सल्य और भक्ति रस को आपने क्रमशः करुण और शांत-रस में गतार्थ कर दिया है।[2] इस प्रकार का अन्तर्निवेश समीचीन तो नहीं है किन्तु तोष ने ऐसा क्यों किया है इसका कारण भी स्पष्ट है। वात्सल्य का स्थायी भाव आपने दया को माना है तथा शान्त का स्थायी भाव भगति (भक्ति) को। परिणामतः वात्सल्य का करुण में और भक्ति का शांत में आप आसानी से समावेश कर सके। वस्तुतः वात्सल्य का स्थायी बालविषयक प्रेम को तथा शान्त का स्थायी निर्वेद या शम को मानना चाहिए। ऐसी स्थिति में यह अन्तर्निवेश संभव न हो सकेगा। उपर्युक्त नौ रसों में प्रत्येक के तोष ने प्रच्छन्न और प्रकाश तथा भूत, भविष्यत् और वर्तमान नामक भेद स्वीकार किए हैं।[3] इस वर्गीकरण में केशव का आंशिक प्रभाव है और नवीनता प्रदर्शन का आंशिक लोभ। जो हो, यह वर्गीकरण समीचीन नहीं है। श्रृंगार को तोष ने चार भेदों में विभक्त किया है—संयोग, वियोग, सामान्य और मिश्रित।[4] प्रथम दो भेद तो परम्परागत हैं और अन्य दो नवीन हैं। सामान्य श्रृंगार वस्तुतः श्रृंगारिक अनुभाओं से अपृथक् हैं किन्तु मिश्रित श्रृंगार से तोष का तात्पर्य है संयोग में वियोग के मिश्रण से किम्बा वियोग में संयोग के मिश्रण से।[5] अतएव मिश्रित-श्रृंगार नवीन होने पर भी मान्य है। तोष-प्रदत्त उदाहरण से भी यह विदित होता है कि संयोग में वियोग का मिश्रण और वियोग में संयोग का मिश्रण संभव है। पुनः संयोग श्रृंगार के उदाहरणों से ज्ञात होता है कि मिलन-स्थान और मिलन-परिस्थिति के आधार पर तोष ने संयोग के भी कई भेद कर लिए हैं—धाई के घर मिलन, सूने सदन को मिलन, वरषा को मिलन आदि (द्रष्टव्य सुधानिधि। पद ३३४–३४०)। वियोग के मान, पूर्वानुराग, प्रवास और करुण-ये चार भेद विश्वनाथ के अनुकरण पर हैं। पुनः मान वियोग के गुरु, मध्यम और लघु नामक भेद भानुदत्त के अनुसार हैं। पूर्वानुराग के श्रुत्यानुराग (श्रुत्यनुराग) और दृष्टानुराग नामक भेद विश्वनाथानुसारी हैं। प्रवास के निरर्थक भेद तोष ने नहीं किए हैं। अन्य रसों के चलने से निरूपण में भेदोपभेद बताना संभव तो नहीं था किन्तु वीर रस के चार भेदों को आप भुला नहीं सके। वे हैं—रणवीर (युद्धवीर), दानवीर, दयावीर और सत्यवीर।[6] धर्मवीर के स्थान में सत्यवीर को तोष ने स्वीकार किया है।

---

१. सुधानिधि। ८। २. वही। ५३८, ५३९। ३. वही। ५४०। ४. सुधानिधि। ३२६। ५. (क) वही। ३४६। (ख) सुधानिधि। ४४० और ४४१। ६. वही। ४४३।

मतिराम

मतिराम रसराज श्रृंगार के समर्थक हैं ।[1] इस दिशा में आप केशव की परम्परा के आचार्य हैं । दोनों में अन्तर यह है कि केशव नौ रसों का उल्लेख कर श्रृंगार को रस नायक मानते हैं किन्तु मतिराम अन्य रसों के सम्बन्ध में मौन रह कर मात्र श्रृंगार को ही मान्यता देते हैं । आपके रसग्रन्थ का नाम रसराज भी इसी तथ्य का संकेतक है । रसराज श्रृंगार को मतिराम ने परम्परानुसार संयोग और वियोग नामक दो भेदों में बांटा है । मतिराम द्वारा प्रस्तुत रतिक्रीड़ा और स्पर्शन के उदाहरणों से अनुमान किया जा सकता है कि संयोग श्रृंगार के अनेकविध भेद आपको मान्य हैं । वियोग के भेदों में मतिराम ने करुणात्मक वियोग को छोड़कर अन्य तीन भेदों को—पूर्वराग, मान और प्रवास को—गृहीत किया है ।[2] करुण-वियोग को नहीं मानने का कोई स्पष्ट तर्क तो मतिराम ने नहीं दिया है किन्तु उसका अनुल्लेख ही उसकी अमान्यता का द्योतन कर देता है । ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि मतिराम ने परम्परागत करुण विप्रलम्भ को करुण-रस से अभिन्न माना है । पूर्वानुराग की उभयात्मकता दर्शनजन्य और श्रवणजन्य-मतिराम को मान्य है ।[3] भानुदत्त की रसमंजरी के अनुसार आपने मान के तीन भेद किए हैं—लघु, मध्यम और गुरु । साहित्यदर्पण में मान के दो भेदों में प्रणयमान और ईर्ष्यामान का उल्लेख है । मतिराम प्रतिपादित त्रिविध मान ईर्ष्यामान से अपृथक् हैं किन्तु प्रणयमान प्राय: मतिराम को अस्वीकार्य है । वस्तुत: प्रेम की कुटिल गामिता के कारण अकारण कोप का कोई विशेष महत्व भी नहीं है ।[4] विप्रलम्भ-श्रृंगार की काम-दशाओं के उल्लेख में भी मतिराम ने विश्वनाथ और भानुदत्त का अनुसरण करते हुए भी कुछ नवीनता प्रदर्शित की हैं । परम्परागत दश कामदशाओं में अभिलाष, चिन्ता आदि सभी कामदशाएँ मतिराम को मान्य हैं किन्तु मरण नामक कामदशा आपको स्वीकार्य नहीं है ।[5] अतएव आपने केवल नौ कामदशाओं के ही लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत किए हैं । मरण नामक काम-दशा में रति के अभाव के कारण विप्रलम्भ श्रृंगार का आस्वाद असंभव है, अतएव विप्रलम्भ की कामदशाओं में उसे सम्मिलित नहीं करना उचित ही है ।

कुलपति

कुलपति-प्रतिपादित रसों की संख्या नौ है किन्तु मम्मट और धनंजय की तरह नाट्यों में शांतरस की पुष्टि आपको स्वीकार्य नहीं है ।[6] फलत: कुलपति के अनुसार काव्य-रस नौ हैं और नाट्य-रस मात्र आठ । कुलपति का श्रृंगार-रस निरूपण एवं भेद-कथन मतिराम और मम्मट के अनुसार हैं तथा अन्य रसों का निरूपण और भेद कथन विश्वनाथ के अनुसार है । श्रृंगार रस का स्वरूप और उसके परम्परागत

---

१. रसराज ३४२ । २. वही ३८१ । ३. वही ३८२ । ४. साहित्य दर्पण ३।१९८-१९९
५. रसराज ३९८–३९९ । ६. रसरहस्य ३।१९२ (वृत्ति) और दशरूपक । ४।४४(वृत्ति)

संयोग-वियोग ये दो भेद मतिराम की छाया लिए हुए हैं।[1] वियोग श्रृंगार के कुलपति ने मम्मटानुसार पांच भेद प्रतिपादित किए हैं—पूर्वानुराग, विरह, ईर्ष्या शाप और विदेश-गमन हेतुक।[2] मम्मटोक्त अभिलाष के स्थान में विश्वनाथ और भानुदत्त के पूर्वानुराग को कुलपति ने गृहीत किया है और अन्य भेद तत्सदृश ही हैं। वीर-रस के कुलपति ने भी विश्वनाथ की तरह चार भेद किए हैं—युद्धवीर, दानवीर, दयावीर और धर्मवीर। कुलपति ने युद्धवीर रस का रौद्ररस से पार्थक्य-प्रतिपादन बड़े स्पष्ट शब्दों में किया है। आपका कहना है कि युद्धोत्साह में समता (विवेक) कभी विस्मृत नहीं हो पाती है पर, इसके विपरीत, रौद्र रस में विवेक भूल जाता है और समता-रहित क्रोध (विवेक-रहित क्रोध) प्रवाहित होता है।[3] इस प्रकार दोनों रसों का अन्तर नितान्त स्पष्ट हो जाता है। अन्य सभी रसों का (शांत को छोड़कर) स्वरूप निर्धारण विश्वनाथ के अनुसार ही कुलपति ने भी किया है। आपने भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता भी स्वीकार किए हैं।[4] इन सारे प्रभेदों का स्वरूप मम्मट और विश्वनाथ से प्रभावित है। विशेषतः भाव-लक्षण मम्मट के अनुसार है।[5]

देव

देव ने रसतरंगिणी का भानुदत्त और रसिक प्रिया के प्रणेता केशव की तरह रस के लौकिक और अलौकिक नामक दो भेद स्वीकार किए। नयनादि इन्द्रियों के संयोग से लौकिक रस की ओर आत्मा-मन के संयोग से अलौकिक रस की अनुभूति होती है। पुन: अलौकिक रस के तीन भेद किए गए है—स्वाप्निक, मानोरथ और औपनायक।[6] देव-प्रतिपादित अलौकिक रस भक्ति रस ही है और स्वप्न, मनोरथ तथा लीला आदि के ब्याज से भगवद् मिलन होने पर क्रमश: स्वाप्निक, मानोरथ और औपनायक नामक अलौकिक रसों की निष्पत्ति मानी गई है। केशव के रस-भेद निरूपण प्रसंग में अलौकिक रसों के भिन्न वर्ग बनाने का हम खंडन कर चुके हैं। तथा-कथित लौकिक रस भी ब्रह्मास्वाद-सहोदर होने के कारण अलौकिक ही होते हैं। लौकिक रसों की संख्या देव ने भानुदत्त और मम्मट के अनुसार नौ मानी है—इनमें आठ रस तो नाटकों में होते हैं और नवम शांत-रस केवल काव्य में होता है।[7] लौकिक रसों में श्रृंगार-रस के भेद देव ने केशव के अनुसार बताए हैं। प्रथम तो संयोग और वियोग नामक उसके दो परम्परागत भेद हैं, पुन: इन दोनों के प्रच्छन्न और प्रकाश नामक दो अतिरिक्त भेद।[8] यों केशव की रसिकप्रिया का आधार भी

---

१. रसरहस्य ३।३९–४० और रसराज ३४२–४४, ३८०। २. रसरहस्य ३।४३।
३. वही ३।७३। ४. वही ३।९४–१०४। ५. वही ३।९४। तथा का० प्र०४।४८।
६. भाव विलास, वि० ३ पृ० ६५। ७. वही पृ० ६८। ८. वही पृ० ६८ तथा रसिक-प्रिया। १।१८–२१।

भोज का श्रृंगार-प्रकाश है, फिर भी इस वर्गीकरण से हम अपनी असहमति प्रकट कर चुके हैं। संयोग श्रृंगार को देव ने भी एक विध ही माना है, किन्तु वियोग श्रृंगार के चार भेद रसतरंगिणी के अनुसार किए गए हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुणात्मक वियोग। प्रथम तीन भेदों का लक्षण-निरूपण भानुदत्त और विश्वनाथ के लक्षणों के अनुकूल है। करुणात्मक वियोग में आकर देव शास्त्रीय परम्परा से अलग होकर लक्षण-निर्धारण करते पाए जाते हैं :—

(क) दम्पतीन में एक के, विषम मूरछा होइ।
जहं अति आकुल दूसरौ, करुनातम कहि सोइ। भावविलास॥वि० ३।९२

(ख) करुनातम सिंगार जहं रति और शोक निदान॥ शब्द रसायन॥
तुलनार्थ—साहित्यदर्पण। ३।२०९

शास्त्रीय-परम्परा नायक और नायिका में से किसी एक की मृत्यु होने पर पुन: लौटने की संभावना में करुण विप्रलम्भ का अस्तित्व स्वीकार करती है किन्तु देव दोनों में से किसी एक के मूर्छित हो जाने पर करुणात्मक वियोग की सत्ता मानते हैं। केशव ने भी दुख सु:ख के सभी उपायों के छूट जाने पर जो विफलता होती है, उसे ही करुण विप्रलंभ कहा था। इस प्रकार परम्परा से विच्छिन्न होकर देव ने मौलिकता तो प्रदर्शित की ही है बल्कि स्वाभाविकता भी अपेक्षाकृत अधिक है। मृत्यु के बाद पुन: लौटने की दुराशा एक अन्ध-विश्वास (मिथ) ही है। आज का युग इसे स्वीकार नहीं करेगा। देव ने इसके जो लघु, मध्यम और दीर्घ ये तीन भेद किए हैं, ये अमान्य हैं। हास्य रस के परम्परागत छ: भेद भी देव ने स्वीकार नहीं किए हैं और इसे मात्र तीन वर्गों में विभाजित किया है—उत्तम, मध्यम और अधम। करुण रस के भी देव ने पाँच भेद किए हैं—करुण, अतिकरुण, महाकरुण, लघुकरुण और सुख-करुण। प्रथम चार भेद तो करुणा की मात्रा के आधार पर किए गए हैं और अन्तिम सुखकरुण में सुख और दु:ख (शोक और हर्ष) दोनों का मिश्रण बताया गया है। यह वर्गीकरण केवल नवीनता-प्रदर्शन के मोह में ही किया गया है। वीर रस के भेदों में देव ने परम्परागत युद्धवीर, दयावीर और दानवीर को तो गृहीत किया पर धर्मवीर को छोड़ दिया है। या तो वीर रस का भेद ही नहीं करना चाहिए था या धर्मवीर का चौथा भेद भी स्वीकार कर लेना वांछित था। धर्म के भीतर दया और दान का सन्निवेश किया जा सकता है किन्तु उनके अभ्यन्तर धर्म का नहीं। "दशकंधर्मलक्षणम्" में भी केवल दया और दान ही नहीं हैं। इस वर्गीकरण में भानुदत्त का प्रभाव है। देव ने भवानी विलास में शांत रस के भी भेद किए हैं। भक्तिमूलकशांत के तीन उपभेद हैं—प्रेम भक्ति, शुद्ध भक्ति और शुद्ध प्रेम। शुद्ध शान्त को वैराग्यमूलक प्रतिपादित किया गया है। मेरी दृष्टि में भक्तिमूलक शांत को भक्तिरस के रूप में स्वीकार करना चाहिए था या श्रृंगार-रस के रूप में। शममूलक, शांत में इसका निर्वाह कठिन है। यहाँ भी प्राय: नवीनता—प्रदर्शन की भावना से

प्रेरित होकर ही देव ने शान्त का वर्गीकरण कर डाला । रूपगोस्वामी ने हरिभक्तिरसामृतसिन्धु में शांतमूलक भक्तिरस का युक्तियुक्त निरूपण किया भी है।[1] डा०नगेन्द्र ने बड़े ही तर्कपूर्ण ढंग से देव के भक्तिमूलकशांत को (शुद्ध भक्ति को छोड़ कर) शृंगार में अन्तर्भुक्त करने का प्रयास किया है ।[2] उनके विचारों से मैं भी सहमत हूँ । देव ने भी शब्द रसायन में केवल वैराग्यमूलक शांत का ही प्रतिपादन किया है । प्रायः सैद्धान्तिक परिपक्वता प्राप्त होने पर आपने स्वयं भक्तिमूलक शांत के पृथक् अस्तित्व का बिचार छोड़ दिया ।

कुमारमणिभट्ट

कुमारमणि शास्त्री ने दस रस माने हैं—सिंगार, हास, करुन, रौद्र, वीर, वत्सल, भय, बीभत्स, अद्भुत और शांत ।[3] ये भेद विश्वनाथ के अनुसार है । शृंगार रस के संयोग और वियोग नामक भेद प्रतिपादित कर उनके उपभेद भी बताए गए हैं । संयोग के दो भेद हैं— एक वह जिसमें विरह का लेश भी न हो और दूसरा वह जो वियोग के बाद होने के कारण अधिक सुखद माना जाता है । वियोग के बाद वाले संयोग में सुख की तीव्रता उसी तरह होती है जैसे कषाय वस्त्र पर कोई रंग अधिक निखरता है ।[4] वियोग के भेद कुमारमणि ने पाँच स्वीकार किए—पूर्वराग, मान, प्रवास, उत्कंठा और शाप । संयोग के भेदों में विश्वनाथ का प्रभाव है किन्तु वियोग और शृंगार के पंचविधि भेदों में मम्मट का अनुसरण किया गया है । अन्य सभी लक्षण एवं भेदों में विश्वनाथ एवं मम्मट का अनुसरण है । विशेषतः वात्सल्य एवं शांत के विवरण में साहित्यदर्पण की सहायता ली गई है । वीर रस में केवल युद्धवीर, दानबीर, और दयावीर ये तीन भेद ही स्वीकार किये गए हैं । शान्त का स्थायीभाव शम है, अतएव वैराग्यमूलकशान्त ही कुमारमणि को वाँछित है । भाव, रसाभास और भावाभास, का भी उल्लेख आपने किया किन्तु इन्हें, "भाव के अन्य भेद" शीर्षक के अन्तर्गत इकट्ठे डाल दिया है ।[5] भावसंधि, भावोदय और भावशब्दावली के भी उदाहरण दिए गए हैं ।

सोमनाथ

आपने नौ रसों का निरूपण किया है । शृंगार के संयोग और वियोग नामक दो भेदों का उल्लेख कर वियोग शृंगार के मात्र एक भेद "पूर्वानुरागहेतुक" की ही आपने चर्चा की है । विश्वनाथ प्रतिपादित मान प्रवास और करुणहेतुक विप्रलम्भ के इन तीनों भेदों का उल्लेख या तो आपने किया ही नहीं अथवा लिपिकार

---

१. हरिभक्तरसामृत सिन्धु । पश्चिमी विभाग । लहरी १ । २. देव और उनकी कविता । पृ० १३५-३६ । ३. रसिकरसाल ३।११ ४. वही ३।१५ और १७ । ५. वही ५।२२५—२२८ ।

की भूल से वह पद्य रसपीयूषनिधि की हस्तलिखित प्रति में (या० सं०—ना० प्र०) लिपिबद्ध न हो सका जिसमें इन भेदों का उल्लेख था। पूर्वानुरागहेतुक विप्रलम्भ में दश दशाओं के संकेत करने वाले पद्य से भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सोमनाथ के अन्य तीन भेद भी मान्य हैं।[1] नौ रसों में श्रृंगार को सोमनाथ ने "रस-पति" कहा है।[2] हास्य और वीर रस के प्रभेद भी इन्होंने भानुमिश्र की रस-तरंगिणी के आधार पर ही निरूपति किये हैं। रौद्र और युद्धवीर का अन्तर सोमनाथ ने बड़े ही सुस्पष्ट ढंग से व्यक्त किया है, "रौद्र रस में क्रोध की प्रधानता करिकै झूठ सत्य बचन बकिबे को बिचार नाहीं, और जुद्धवीर में आप समर्थता के वचन प्रमाण है।" तात्पर्य यह कि रौद्ररस में क्रोधी व्यक्ति विवेक को खोकर क्रोधवश झूठ और सत्य की परवाह किये बिना बकता है, पर युद्धवीर में उत्साही और आत्म-समर्थ व्यक्ति विवेक को कदापि नहीं खोता है। विश्वनाथ ने मुख और नेत्रों की रक्तता के आधार पर इन दोनों रसों का अन्तर बताया था किन्तु यह पार्थक्य उतना समीचीन नहीं है जितना सोमनाथ का। शान्तरस के सम्बन्ध में भी सोमनाथ की धारणा नितान्त स्पष्ट है। आपके अनुसार शान्त का स्थायी भाव निर्वेद है पर यह निर्वेद उत्पन्न होता है और ब्रह्म ज्ञान से, ईर्ष्या, गृहकलह आदि कारणों से नहीं। इतना ही नहीं, शान्त रस का निवेश काव्य में ही सम्भव है, नाटक में नहीं।[3] फलत: सोमनाथ का रसनिरूपण भानुमिश्र और विश्वनाथ-सम्मत, युक्तियुक्त और स्पष्ट है। सोमनाथ ने रसों के अतिरिक्त भाव, रसाभास, भावाभास आदि भी प्रतिपादित किए हैं।

भिखारीदास

नौ रसों के सम्बन्ध में दास ने धनंजय और मम्मट की परम्परा का अनुसरण किया है। नाटक में श्रृंगारादि आठ रसों का तथा काव्य में नवम शान्त की भी स्वीकृति आपने की है।[4] श्रृंगार रस के संयोग और वियोग नामक दो भेदों का प्रतिपादन करने के अनन्तर आपने इन दोनों के सम और मिश्रित नामक पुनः दो भेद बताए हैं।[5] जहाँ केवल संयोग या वियोग वर्णित हो वह तो सम संयोग और वियोग है किन्तु संयोग में वियोग का और वियोग में संयोग का वर्णन हो तो वह क्रमशः मिश्रित संयोग और मिश्रित वियोग श्रृंगार कहलायेगा।[6] संयोग श्रृंगार के दो अन्य रूपों की चर्चा भी दास ने की है—सामान्य श्रृंगार और संयोग श्रृंगार। हाव-हेला आदि अनुभावों की सहायता से नायक-नायिका के रूप-चित्रण को सामान्य श्रृंगार और उनके विहार वर्णन को संयोग श्रृंगार कहा गया है।[7] विहार वर्णना-

---

१. रसपीयूषनिधि (ह० लि०) १५।४। २. वही ८।१। ३. वही ७।४३। और वही १६।२०। तथा श्रृंगारविलास (ह० लि०) २।३९। ४. काव्यनिर्णय ४।४०। ५. रस-सारांश २८३। ६. वही ४१९। ७. वही २८४। और ३५१।

त्मक संयोग शृंगार को भी जन्य-जनकता के आधार पर नायक-जन्य शृंगार और नायिका-जन्य शृंगार इन दो रूपों में प्रस्तुत किया गया है। वियोग शृंगार के भेदों दास ने अपने दो ग्रन्थों में क्रमश: विश्वनाथ और मम्मट का अनुसरण किया है। रससारांश में विश्वनाथ के अनुसार वियोग के चार भेद प्रतिपादित हैं—मान, पूर्वानुराग, प्रवास और करुणा हेतुक तथा काव्य-निर्णय में मम्मट के अनुसार पाँच भेद हैं—अभिलाष, प्रवास, विरह, असूया, (ईर्ष्या) और शापहेतुक।[1] दास के करुणा-हेतुक विप्रलम्भ का स्वरूप विश्वनाथ से भिन्न है। जहाँ विश्वनाथ ने नायक-नायिका में से किसी एक की मृत्यु हो जाने पर इसी जन्म में पुनर्मिलन की आशा रहने पर करुण-विप्रलम्भ माना है, वहाँ दास ने निराशाजन्य ग्लानि से उद्भूत मरण की इच्छा में करुण-विप्रलम्भ की स्थिति मानी है।[2] शृंगारेतर अन्य रसों में वीर को छोड़कर किसी दूसरे रस के भेद दास ने भी नहीं किए हैं। वीर रस के भेदों में आलम्बन भेद से सत्यवीर, दयावीर, रणवीर और दानवीर प्रतिपादित हैं।[3] शृंगारादि नौ रसों के अतिरिक्त भावोदय, भावसन्धि, भाव-शबलता, भाव-शान्ति, भावाभास और रसाभास इन षड्विध भावों को भी दास ने (रस्यते इति रस:) ही माना है।[4] दास की इस मान्यता पर भी विश्वनाथ की छाप है।

रसलीन

रसलीन ने परम्परागत नौ रसों में आठ को नाट्यरस और नवम शान्त रस के साथ सभी रसों को काव्य-रस माना है। इनके अतिरिक्त वात्सल्य रस भी रसलीन को स्वीकार्य है। पिता का सुत के प्रति तथा बन्धु का बन्धु के प्रति जो स्नेह होता है उसे ही आपने वात्सल्य कहा है तथा इसका स्थायी भाव दया को माना है।[5] इन रसों की उत्पत्ति रसलीन ने तीन कारणों से माना है—दर्शन, श्रवण और स्मरण से।[6] रसलीन की सी व्यापक दृष्टि किसी रीतिकालीन आचार्य की नहीं पाई जाती है। रसलीन के उपर्युक्त दृष्टिकोण का प्रतिफलन ही रामचन्द्र शुक्ल के "रसात्मक बोध के विविध रूप" शीर्षक निबन्ध में हुआ है। रसलीन के अनुसार शृंगार रसराज इसलिए हैं कि उसके देवता श्रीकृष्ण सभी देवों के सिरताज हैं। शृंगार के संयोग-वियोगात्मक दो भेदों में वियोग शृंगार के चार भेद विश्वनाथ के अनुसार दिए गए हैं—पूर्वानुराग, मान, प्रवास और करुणा। पूर्वानुराग में श्रुतानुराग और दृष्टानुराग तथा मान में लघु, मध्यम और गुरु नामक भेद भी गृहीत किए गए हैं। हास्य रस के छ: भेदों के बदले में रसलीन ने मात्र तीन भेद माने हैं—मन्दहास, और अतिहास। वीररस में चार भेद रसलीन को स्वीकृत हैं—सत्यवीर, रनवीर

---

१. (क) रस-सारांश ३७१ और सा० द० । ३।१८७। (ख) काव्यनिर्माण । ४।२१। और का० प्र० ४।३२ (वृत्ति)। २. साहित्यदर्पण। ३।२०९। ३. रस-सारांश। ४५९ और ४६०। ४. साहित्यदर्पण। ३।२५९, २६०। ५. रसप्रबोध। १०९९। ६. वही। ३८।

और दानवीर। धर्मवीर को हटाकर सत्यवीर की स्वीकृति में कोई संगति नहीं है। धर्म के अन्तर्गत सत्य आ सकता है पर सत्य के अभ्यन्तर धर्म का व्यापक रूप समाविष्ट नहीं हो सकता है। नौ या दस रसों के अतिरिक्त भावसन्धि, भावोदय, भावशान्ति, भावशवलता और प्रौढ़ोक्ति के भी आपने लक्षण उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। उपर्युक्त सभी रसों के प्रच्छन्न, प्रकाश, भूत, भविष्य, वर्तमान, विशेष, सामान्य-रूप रसलीन को स्वीकार्य हैं।[1]

रूपसाहि

रूपसाहि के रूपविलास में भानुदत्त और देव की परम्परा का अनुसरण किया गया है। रस के पहले दो भेद बताए गए हैं—अलौकिक और लौकिक। अखंड ब्रह्मानन्द का आस्वाद कराने वाला शांत रस अलौकिक है और लौकिक विषयों को देखने और सुनने से जो आनन्द उत्पन्न होता है उसे प्रतीत कराने वाले शृंगारादि रस लौकिक हैं। लौकिक रस के पुनः तीन भेद हैं—स्वाप्निक, मानोरथिक और औपनायक। औपनायक लौकिक रस के रूपसाहि को आठ नहीं—नौ भेद स्वीकृत हैं—सिंगार, हास, करुन, रुद्र, वीर, भय, बीभत्स, अद्भुत और शांत।[2] देव के रस भेद-निरूपण प्रसंग में हम प्रतिपादित कर चुके हैं कि सभी रस ब्रह्मानंद तुल्य हैं, अतएव उन सबों की अलौकिकता स्वतः सिद्ध है। फिर अलौकिक और लौकिक रस का विभाजन निराधार एवं निष्प्रयोजन है। शृंगार के संभोग और विप्रलम्भ ये दो भेद हैं। संयोग शृंगार के अन्तर्गत तरुणियों के लीलादि हावों का उल्लेख किया गया है। विप्रलम्भ के भेद रूपसाहि ने न तो विश्वनाथ के अनुसार चार बताए हैं और न मम्मट के अनुसार पाँच, प्रत्युत आपने स्वेच्छा से इसके आठ भेद कर लिए हैं। उनके नाम हैं—प्रिय का देशान्तर-गमन, गुरुशासन, अभिलाष, शाप, ईर्ष्या, दैवयोग, समय और उत्पात से उत्पन्न वियोग।[3] इनमें से देशान्तरगमन (प्रवास), अभिलाष, शाप और ईर्ष्याजन्य विरह तो परम्परागत हैं और पूर्वानुराग एवं मान को छोड़ दिया गया है। अन्य चार अर्थात् गुरुशासन, दैवयोग, समय और उत्पात ये भेद रूपसाहि के द्वारा उद्भावित हैं। इनमें भी "समय" तत्वतः प्रवास से अभिन्न है, जैसा कि दोनों के उदाहरणों को देखने से भी स्पष्ट हो जाता है।[4] अन्य भेद उतने महत्वपूर्ण नहीं है। यदि इस प्रकार विप्रलम्भ के भेद स्वीकृत किए जायँ तो इनकी संख्या और भी बढ़ाई जा सकती है। हास्य रस के रूपसाहि ने चार भेद स्वीकृत किए हैं—मंदहास, कलहास, अतिहास और परिहास। ये भेद भी रूपसाहि ने पूर्ववर्ती आचार्य रसलीन से गृहीत किए हैं। इसी प्रकार वीररस के भी तीन भेद हैं—

---

१. रसप्रबोध। १०९१-१०९४। २. (क) रूपविलास (ह० लि०)। ११।३-५। (ख) वही। ११।८-९। ३. रूपविलास। ११।३२-३३। ४. रूपविलास। ११।३४ और ४०।

दयावीर, दानवीर और युद्धवीर। धर्मवीर को आपने स्वीकृत नहीं किया है।

शिवनाथ

रसवृष्टि में शिवनाथ ने नौ रसों का चलता-सा वर्णन किया है। नौ रसों में शृंगार को आपने भी रस-नायक कहा है।[1] शृंगार के भेदों में केवल संयोग और वियोग का उल्लेख है, अन्य अवान्तर्भेदों का नहीं। अन्य रसों में किसी के भी भेदोपभेद नहीं किये गये हैं। यहाँ तक कि वीर रस में केवल युद्धवीर का ही उल्लेख है।[2] नौ रसों के अतिरिक्त, अनुकूल और प्रतिकूल रस के मिलन को शिवनाथ ने "दुसंद्धि रस" कहा है।[3] प्राय: आपका तात्पर्य भाव सन्धि से है।

जनराज

जनराज के कविता रस विनोद में मात्र नौ रसों को स्वीकृति मिली है। शृंगार के प्रथम दो भेदों में संयोग और वियोग को बताकर पुन: वियोग के चार भेद विश्वनाथ और भानुमिश्र के अनुसार प्रतिपादित किए गए हैं—पूर्व अनुराग, करुण, मान और प्रवास।[4] मान के तीन भेद रसमंजरी के आधार पर किए गए हैं—लघु, मध्यम और गुरु मान। हास्यरस के चार भेद बताए गए हैं—मंदहास, कलहास, अतिहास और परिहास। इसी प्रकार वीररस के भी चार भेद कथित हैं—युद्धवीर, दयावीर, दानवीर, और धर्मवीर।[5] वीर रस और रौद्ररस का पार्थक्य निर्धारित करते हुए जनराज ने कहा है कि समान और असमान की सुधि वीररस में आश्रय को रहती है किन्तु रौद्र रस में आश्रय को इसकी सुधि (स्मरण) नहीं रहती है।[6]

उजियारे कवि

उजियारे का रस-भेद निरूपण भानुमिश्र, देव और रूपसाहि के अनुसार है। आपने भी पहले रसों को लौकिक और अलौकिक नामक दो वर्गों में बांटा है। तदनन्तर लौकिक रस के तीन भेद किए हैं—स्वापनिक, मानोरथ और कवित्त रस (औपनायक)। कवित्त रस के पुन: आठ भेद किए हैं—शृंगार से अद्भुत पर्यन्त।[7] किन्तु आपको शान्त रस भी मान्य है। शृंगार को उजियारे ने भी 'सकल रसनि को देव' माना है। शृंगार के भेदों में संभोग और विप्रलम्भ तथा विप्रलम्भ के अवान्तभेदों में गुरुनिदेस, अभिलाष, मान, सराय (शाप), प्रवास, समय और शत्रु—इन सात प्रकारों का उल्लेख किया है।[8] हास्य रस के भेद नहीं हैं, पर वीररस के तीन भेद हैं—युद्धवीर, दानवीर और दयावीर।[9] धर्मवीर को उजियारे ने छोड़ दिया है।

---

१. रसवृष्टि १६।३। २. वही १६।२२–२४। ३. वही १६।३८।
४. कविता रसविनोद २०।२ (ह० लि०)। ५. वही २१।२८। ६. वही २१।३१।
७. (क) रसचन्द्रिका ३।६, ७ (ह० लि०)। (ख) वही ३।८, १३।
८. वही ५।४ और वृत्ति। ९. वही ६।२।

परम्परागत नौ सर्वमान्य रसों के अतिरिक्त उजियारे ने वत्सलता, चपलता, भक्ति, कृपणता और माया रसों का विवेचन किया है। प्रथम चार रसों का आपने क्रमश: करुणा, हास्य, और शान्त में अन्तर्भाव कर दिया है और इन्हें मात्र संचारी भाव के रूप में स्वीकार किया है।[1] भानुमिश्र के अनुकरण पर उजियारे ने चित्तवृत्ति के दो प्रकार बताए—निवृत्ति और प्रवृत्ति। निवृत्यात्मक चित्तवृत्ति में जैसे शांतरस की निष्पत्ति होती है, उसी प्रकार प्रवृत्यात्मक चित्तवृत्ति के परिणामस्वरूप माया रस की निष्पत्ति होती है। माया रस की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति के सम्बन्ध में उजियारे की निश्चित मान्यता बता सकना कठिन है क्योंकि रसचन्द्रिका की हस्तलिखित प्रति जो मुझे याज्ञिक संग्रहालय में उपलब्ध हुई उसका यह अंश (१३ वाँ प्रकाश) फटा हुआ है।

पद्माकर

पद्माकर के जगविनोद में रसों के भेद साहित्य-दर्पण के अनुसार प्रतिपादित हैं। साहित्यदर्पणोक्त केवल वात्सल्य रस को पद्माकर ने छोड़ दिया है। आपके अनुसार रस नौ हैं, किन्तु शृंगार सभी रसों का सिरमौर है।[2] शृंगार के दो भेद हैं—संयोग और वियोग। पुन: वियोग के तीन भेद हैं—पूर्वानुराग, मान और प्रवास।[3] विश्वनाथ के करुण-विप्रलम्भ को पद्माकर ने स्वीकार नहीं किया है। मान के तीन भेद रसमंजरी के अनुसार हैं—लघु, मध्यम और गुरु मान। प्रवास के भी दो भेद हैं—भूत प्रवास और भविष्य प्रवास। अन्य रसों में केवल वीररस के चार भेद विश्वनाथ के अनुसार प्रतिपादित हैं—युद्धवीर, दयावीर, दानवीर और धर्मवीर।[4] भाव, रसाभास आदि का उल्लेख पद्माकर ने नहीं किया है।

बेनी प्रवीन

इन्होंने भी सर्वमान्य नौ रसों का निरूपण किया है और शृंगार को रसराज कहा है।[5] रसराज शृंगार के संयोग और वियोग नामक दो भेदों में वियोग के तीन भेद बेनी प्रवीन को स्वीकार्य हैं—पूर्वराग, मान और प्रवास। परम्परागत करुण विप्रलम्भ की चर्चा करके भी आपने उसे शृंगार के भेद के रूप में मान्यता नहीं दी।[6] पूर्वानुराग के दृष्टानुराग और श्रुत्वानुराग (श्रुतानुराग) नामक दो भेद तथा मान वियोग के ईरषामान, लघुमान, मध्यममान और गुरुमान ये चार भेद प्रतिपादित किए गए हैं। शृंगारेतर रसों में केवल वीर रस के परम्परागत चार भेद—धर्मवीर, दयावीर, रणवीर और दानवीर—बेनी प्रवीन को स्वीकार्य हैं। इन सबों के पृथक् पृथक् लक्षण भी इन्होंने दिए है।[7]

---

१. रसचन्द्रिका ३।१३, १४। २. (क) जगद्विनोद ६१०, ६११। (ख) वही ९ (पूर्वार्द्ध)। ३. वही ६२६। ४. वही ६८६। ५. नवरसतरंग। पदसंख्या—२९ और ४११। ६. वही ४४२–४४४। ७. वही ५११, ५१४, ५१५, ५१७ और ५१८।

करन कवि

करन के रसकल्लोल नामक ग्रन्थ में नौ सर्वमान्य (शृंगार से शांत तक) रसों को स्वीकृति मिली है। शृंगार के संयोग और विप्रलम्भ ये दो भेद तथा विप्रलम्भ के पाँच भेद किये गए हैं—विरह (प्रवास-जन्य), ईर्ष्याजन्य, श्रापजन्य, भाविक और पूर्वानुराग ।[1] विप्रलम्भ के ये पंच विध भेद तो मम्मट के अनुसार हैं किन्तु उनके भेदों में से अभिलाष को हटाकर करन ने भाविक नामक भेद कर दिया है । वस्तुत: यह भाविक विप्रलम्भ आलम्बन के भविष्य प्रवास से उत्पन्न होता है, जैसा करन के उदाहरण से स्पष्ट है—

पीरी पीरी तन भई बीरी तजति निषाति ।
सुनि पिय जाति विदेश सांसे लेति लजाति ।। रसकल्लोल (ह० लि०) ४६ ।

अतएव भाविक प्रवास-जन्य विरह से अपृथक् है और अभिलाष के स्थान में इसकी योजना समुचित नहीं है । यद्यपि करन ने करुण-विप्रलम्भ नहीं माना है तथापि करुण रस से इसका अन्तर बताने का प्रयास किया है । जहाँ मिलन की आशा मृत्यु के बाद भी बनी रहे वह तो करुण-बिप्रलम्भ है क्योंकि उसका स्थायी भाव रति है, पर जहां पुर्नमिलन की आशा न रहे वह शोक-स्थायिभावात्मक करुण रस है ।[2] अतएव परोक्ष-रूप से करन ने करुण-विप्रलम्भ को भी स्वीकृति प्रदान की हैं । शृंगारेतर रसों में केवल वीररस के ही चार भेद करन ने प्रतिपादित किए हैं—युद्धवीर, दयावीर, धर्मवीर और दानवीर ।[3] रौद्र और वीर रसों के पारस्परिक अन्तर में आपने भी समता के स्मरण और विस्मरण को ही कारण माना है । माया, वात्सल्य और भक्ति रसों को आपने क्रमशः अद्भुत करुणा और शांत में अन्तर्भुक्त माना है ।[4]

प्रतापसाहि

इनके काव्य-विलास नामक ग्रन्थ में केवल शृंगार-रस का निरुपण है । अन्य रसों का इसमें उल्लेख तो नहीं है किन्तु अपने दूसरे ग्रन्थ में इनके उल्लेख किए जाने का संकेत प्रतापसाहि ने दे दिया है ।[5] काव्यविलास में वर्णित-शृंगार रस के दो भेद हैं—सयोग और वियोग । संयोगशृंगार के भी दो भेद होने का उल्लेख है किन्तु न उनके नाम हैं और न पृथक्-पृथक् उदाहरण । प्राय: भिखारीदास के अनुकरण पर प्रतापसाहि को सामान्य और संयोग नामक दो भेद मान्य थे किन्तु भ्रमवश उनका उल्लेख न कर सके । वियोग शृंगार के पाँच भेद हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास, उत्कण्ठा और श्राप ।[6] इनमें से पूर्वानुराग तथा प्रवास के निरूपणार्थ विश्वनाथ का, मान के निरूपणार्थ भानुदत्त का और उत्कण्ठा (अभिलाष) एवं शाप हेतुक प्रभेदों के निरूपणार्ण मम्मट का आधार ग्रहण किया गया है । विश्वनाथ की भाँति प्रतापसाहि ने भी

---

१. रसकल्लोल (ह० लि०) ४०–४१ । २. वही । ५५ । ३. वही । ६२ । ४. वही । ८० । ५. काव्यविलास (ह० लि०) ३/६१ (वृ०) । ६. वही । ३/५१

पूर्वराग के तीन भेद कर लिए हैं–नीलराग, कुसुम्भराग और मजीठराग।[1] प्रवास के भी आपने तीन भेद किए हैं—भूत, वर्तमान और भविष्यत्।[2] भानु मिश्र की रस-मंजरी से प्रभावित मान के तीन भेद बताए गए हैं—लघु, मध्यम और गुरु। उपर्युक्त पाँच वियोग-भेदों के अतिरिक्त गुरुजनादि परतन्त्रता-जन्य वियोग नामक छठा भेद भी प्राय: प्रतापसाहि को स्वीकार्य है। यद्यपि आपने इसका कोई स्वतन्त्र-लक्षण नहीं दिया है, फिर भी उदाहरण से आपकी मान्यता प्रतीत हो जाती है। भिखारीदास-प्रतिपादित मिश्रित शृंगार के दो भेदों–संयोग में वियोग और वियोग में संयोग—में से प्रथम का उदाहरण भी आपने दिया है—

लगत अंग सुरभित पियन सूचित भयो प्रभात।
भरी प्रेम पिय ढिग परी ऊपरी अकुलात॥

काव्य-विलास (ह० लि०) ३/६४।

भाव, रसाभाव, भावाभास, भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि और भावशबलता में प्रथम तीन के तो लक्षण और उदाहरण दिये गये हैं किन्तु, अन्तिम चार को "लक्षण नाम प्रकाश" कह कर केवल उदाहृत कर दिया गया है।

चन्द्रशेषर वाजपेयी

वाजपेयी जी ने भरत के अनुसार रस-निरूपण करने की घोषणा की है।[3] पर विचित्रता यह है कि भरतोक्त आठ रसों के स्थान में आपने नवरस (शान्त को जोड़कर) निरूपणा की है। रस-लक्षणों में एवं भेदों में भी जहाँ-तहाँ भरत से पार्थक्य है। वस्तुत: आप अपेक्षाकृत मम्मट के अधिक समीप हैं। विशेषत: शृङ्गार के भेदोपभेदों में अपने काव्य-प्रकाश का ही अनुसरण किया है। शृङ्गार के प्रथम तो दो भेद हैं—संयोग और वियोग। पुन: वियोग के पाँच भेद हैं—पूर्वानुराग, प्रवास, ईर्ष्या, विरह और शाप जनित।[4] मम्मट ने पूर्वानुराग को स्वीकार नहीं किया है किन्तु चन्द्रशेषर वाजपेयी ने विश्वनाथ और भानुमिश्र के विप्रलम्भ भेदों में से इसे लाकर मम्मटोक्त अभिलाष के स्थान में इसे गृहीत कर लिया है। अन्य रसों के भेद आपने नहीं किये हैं—यहाँ तक कि हास्य और वीर रस के भी भेदों के सम्बन्ध में आप मौन है। भाव, रसाभाव आदि का भी इन्होंने उल्लेख नहीं किया है।

ग्वाल कवि

ग्वाल के रस-रंग में भी नौ रसों का ही निरूपण है, किन्तु ग्रन्थ के अन्त में अनावश्यक रूप से गुरुपदेश (रसरंग/८/५३–५९) और भगवद्भक्ति (वही। ८/६०–६१) से सम्बद्ध पद जुटे हुए हैं—अतएव अनुमान किया जा सकता है कि ग्वाल को

---

१ काव्यविलास। ३/५२ (वृत्ति)। २ वही। ३/५९।
३ रसिक विनोद। ४७६। ४ वही। ४२३–४२४।

भक्तिरस भी मान्य है। यदि ग्वाल की ऐसी धारणा न होती तो रस-ग्रन्थ में ऐसे पदों का निवेश ही आप क्यों करते ? फिर भी स्पष्टत: आपने नव-रस-निरूपण ही किया है। शृङ्गार रस के दो भेद इन्होंने बताये—संयोग शृङ्गार और विप्रलम्भ शृङ्गार। शृङ्गार के अन्तर्गत दश हावों का निरूपण किया है। विप्रलम्भ शृङ्गार के चार भेद किये हैं—प्रवास, पूर्वानुराग, मान और दैवयोगात् विरह। ये भेद न मम्मट के अनुसार हैं और न विश्वनाथ या भानुदत्त के अनुसार। विभिन्न ग्रंथों का समाहार इसमें किया गया है। "दैवयोगात् विरह" नामक भेद रूपसाहि के रूपविलास से गृहीत कर लिया गया है। बल्कि रूपसाहि के दैवयोग, समय और उत्पात इन तीन भेदों को मिलाकर एकमात्र "दैवयोगात् विरह" स्वीकृत किया गया है और इसी के कई भेद कर दिये हैं। इसके अन्तर्गत शाप, मेघ, पावक, पवन, अपबंधन, रोग (गद), सिंहादि हिंसकों का भय, उत्सव-भय आदि अनेक कारण-जन्य विरह को स्वीकृति मिली है।[1] उदाहरण दो-चार के ही बताये गये हैं। हास्यादि आठ रसों में रौद्र और वीर को छोड़कर अन्य छ: रसों के स्वनिष्ठ और परनिष्ठ नामक दो भेद किये गये हैं तथा तदनुसार प्रत्येक रस के दो-दो उदाहरण भी दिये गये हैं।[2] रौद्र और वीर का आलम्बन कोई व्यक्ति स्वयं नहीं हो सकता है, अतएव इनकी स्वनिष्ठता सम्भव नहीं है। हास्यादि शेष छ: रसों की स्थिति भिन्न है। वस्तुत: यह वर्गीकरण कोई महत्व नहीं रखता है। इस वर्गीकरण में सीधे रसतरंगिणी का अनुकरण है। वीररस में युद्धवीर, दानवीर, दयावीर और धर्मवीर को भी स्वीकृति मिली है। भाव-रसाभासादि को ग्वाल के रसरंग में स्थान नहीं मिला है। उपर्युक्त शृङ्गारादि नव रस लौकिक रस के औपनायक नामक भेद के अन्तर्गत वर्णित हैं। ग्वाल ने भानुमिश्र, देव, रूपसाहि प्रभृति आचार्यों की भाँति रस के लौकिक और अलौकिक भेद किये हैं। अलौकिक रसों के पुन: तीन उपभेद—स्वाप्निक, मानोरथ और औपनायक। औपनायक के अन्तर्गत ही उपर्युक्त नौ रस हैं जिनमें आठ तो नाटयरस हैं और नवम् शांत रस केवल काव्यात्मक ही होता है।[3]

रसिक विहारी

इन्होंने सर्व-मान्य नौ रसों को स्वीकार किया है।[4] शान्त रस की सत्ता भी आप मानते हैं। मात्र शृङ्गार-रस के भेदोपभेद आपने बताए हैं, अन्य रसों के नहीं। शृङ्गार के पहले तो संयोग और वियोग नामक दो भेद किए गए हैं पुन: वियोग के तीन भेद—पूर्वानुराग, मान और प्रवास—

होत वियोग शृङ्गार में तीन भेद ए जानि।
कहि पूरब अनुराग पुनि, मान, प्रवास बखानि। —का० सु० १०१९।

---

१ रसरङ्ग। ६/५३/५५। तुलनार्थ—रूपसाहि : रूपविलास। ११/३२-३३।
२ रसरङ्ग। ८/१। ३ रसरङ्ग। उमङ्ग २/पद संख्या—१-६।
४ काव्यसुधाकर। १०/२।

ये भेद हैं तो विश्वनाथ और भानुमिश्र के अनुसार किन्तु इनके चतुर्थ भेद करुणात्मक वियोग को रसिकेश जी ने छोड़ दिया है। मान और पूर्वानुराग के भेद नहीं किए गए हैं।

नन्दराम

नन्दराम के शृंगार दर्पण में भी नव रस निरूपण है। आपने शृंगार को रसों का सिरताज माना है।[1] शृंगार के प्रथम दो भेदों में संयोग और वियोग का उल्लेख किया है, तदनन्तर वियोग के पूर्वानुराग, मान और प्रवास नामक तीन भेदों का और पुनः मान के लघु, मध्यम और गुरु नामक तीन भेद भानुदत्त और विश्वनाथ के अनुसार कर लिए हैं।[2] पूर्वानुराग और प्रवास के भेदों का तथा करुणात्मक वियोग का उल्लेख नन्दराम ने भी नहीं किया है। प्रायः आपने अपने पूर्ववर्ती रसिकविहारी को आदर्श माना है। मान के भेद भी आपने मानिनी नायिका के प्रसंग में ही बता दिए हैं, मानविभोग के लक्षण प्रसंग में तो आपने रसिकविहारी का ही पथानुसरण किया है। रसिकविहारी से भिन्नता केवल एक प्रसंग में है, वह यह कि जहां रसिकविहारी ने वीररस के दो भेदों का निर्देश नहीं किया है वहां नन्दराम ने दयावीर, दानवीर, धर्मवीर—इन तीनों का निरूपण किया है।[3] विचित्रता यह है कि वीररस के प्रमुख भेद युद्धवीर का आपने शब्दतः उल्लेख नहीं किया है। यदि वीर रस के सामान्य लक्षण को ही युद्धवीर का लक्षण मान लिया जाय तब कोई आपत्ति नहीं उठाई जा सकती है। नन्दराम के रस-भेद-निरूपण में कोई अन्य विशेषता नहीं है।

लछिराम

इन्होंने नौ रसों में शृंगार को रीतिकालीन परम्परा के अनुसार सर्वश्रेष्ठ घोषित किया है। शांतरस को आपने 'समरस' नाम से अभिहित किया है। रसिकविहारी, नन्दराम प्रभृति पूर्वकालीन रीति-निरूपकों का आपके ऊपर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। आपके 'महेश्वर विलास' को देखने से पता चलता है कि आपके आधार ग्रन्थ संस्कृत के सिद्धान्तग्रन्थ नहीं हैं प्रत्युत समकालीन हिन्दी के रीतिग्रन्थ ही हैं। शृंगार के सम्भोग और विप्रलम्भ-ये दो भेद माने हैं।[4] इनमें से मान के तीन भेद—लघु, मध्यम, और गुरु तथा प्रवास के भविष्य प्रवास और भूत प्रवास—ये दो भेद इन्होंने स्वीकार किए हैं।[5] वीररस के चार भेद लछिराम को स्वीकृत हैं—युद्धवीर, दयावीर, दानवीर और धर्मवीर। भाव-रसाभासादि गौण रसों का निरूपण आपने नहीं किया है।

---

१. का० सु० १।१४ (पूर्वार्द्ध)। २. (क) वही १०।१०।
(ख) १०।१७। (ग) वही ३।१०। ३. वही १०।५८, ५९ और ६०।
४. महेश्वरविलास ४।२८०। ५. वही ४।२८७ और २९८।

६—रस-दोष

पूर्वपीठिका

हिन्दी काव्य-शास्त्र में रस-दोषों के स्वरूप और प्रभेदों के अनुसन्धान के पूर्व, इस खंड में पृष्ठभूमि के रूप में संस्कृत काव्यशास्त्रीय रसदोषों का सर्वेक्षण कर लेना नितान्त आवश्यक है। संस्कृत काव्यशास्त्र के सभी आचार्यों ने, चाहे वे पूर्ववर्ती हों या परवर्ती, दोषों को काव्य में हेय माना है। भामह के अनुसार दोषपूर्ण रचना साक्षात् मृत्यु है, दण्डी की दृष्टि में कुष्ठ का एक छोटा सा दाग जैसे सुन्दर शरीर की कान्ति को नष्ट कर देता है उसी तरह एक छोटा सा दोष भी काव्य-सौंदर्य को व्याहत कर देता है और आनन्दवर्द्धन, विश्वनाथ तथा जगन्नाथ के अनुसार दोष काव्यात्मभूत रस के अपकर्षक है।[1] अतएव वे काव्य में सर्वथा त्याज्य हैं।

दोषों का स्वरूप संस्कृत के काव्यशास्त्र के पूर्ववर्ती आचार्यों की दृष्टि में भिन्न-भिन्न है। ध्वनिपूर्ववर्ती सभी आचार्यों ने दोषों का सम्बन्ध गुणों के साथ निर्धारित किया था और ध्वनि-परवर्ती आचार्यों ने इनका सम्बन्ध रस के साथ निर्धारित किया। भरत ने दोषों का लक्षण तो नहीं प्रस्तुत किया किन्तु गुणों को दोषों से विपर्यस्त माना।[2] फलतः उनके गुण-लक्षण से ही दोषों की गुण-सम्बद्धता स्पष्ट हो जाती है। वामन ने तो स्पष्टतः दोषों को गुणों का विपर्यय माना।[3] इसी प्रकार दण्डी ने गुणों को काव्य की सम्पत्ति तथा दोषों को काव्य की विपत्ति कहा।[4]

रीति-गुणालंकार-सम्प्रदायों के ह्रास-युग में आनन्द-बर्द्धन ने ध्वनि-सिद्धान्त के माध्यम से रस-सिद्धान्त को बल दिया। क्रमशः अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ प्रभृति आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से इसे सुदृढ़ किया। ध्वनि-परिवर्ती इन सभी आचार्यों की दृष्टि में दोषों का स्वरूप परिवर्तित पाया जाता है। इन्होंने काव्य के सर्वोत्कृष्ट तत्त्व रस के साथ दोषों का सम्बन्ध स्थापित किया। आनन्दबर्द्धन ने रस के अपकर्ष और अनपकर्ष के आधार पर दोषों की नित्यता और अनित्यता की कल्पना की तथा रस-दोषों का स्वतन्त्र रूप से विचार किया।[5] मम्मट और विश्वनाथ ने आनन्दर्द्धन की मान्यता को ही दुहराया है। दोषों को मम्मट ने **मुख्यार्थ का अपकर्षक** कहा। मुख्यार्थ से तात्पर्य रस का है और उसका आश्रय वाच्य **है तथा वाच्यार्थ का** संवाहक शब्द है—अतएव रसदोष, अर्थदोष, शब्ददोष आदि कई प्रकार के दोष हो जाते हैं।[6] दोषों के वर्गीकरण के प्रथम व्यवस्थापक मम्मट है किन्तु इन्होंने सभी दोषों का सम्बन्ध रस के साथ ही स्थापित किया है, क्योंकि

---

१. काव्यालंकार १।११-१२, काव्यादर्श १।६-७, ध्वन्यालोक २।११, का० प्र० ७।४९, सा० द० ७।१। २. ना० शा० १७।९५।
३. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति २।१।१। ४. काव्यादर्श (प्रभाटीका), पृ० ३७४।
५. ध्वन्यालोक २।११ और ३।१८-१९। ६. का० प्र० ७।४९ और वृत्ति।

ये सारे दोष मुख्यार्थ (रस) के अपकर्षक हैं । अतएव मम्मट के अनुसार जितने भी दोष हैं (लगभग ९०), सब के सब रस-दोष ही हैं । फिर भी प्रत्यक्ष और परोक्ष सम्बन्ध के आधार पर उनका वर्गीकरण किया जाता है । जो दोष प्रत्यक्ष रूप से रस को अपकर्ष पहुंचाते हैं वे तो विशुद्ध रस दोष हैं और जो पद, वाक्य, पदांश अर्थ आदि के माध्यम से परोक्ष रूप में रस को अपकर्ष पहुंचाते हैं वे पद-दोष, वाक्य-दोष, पदांशदोष और अर्थदोष आदि नामों से अभिहित किए जाते हैं । इसी प्रकार की मान्यता विश्वनाथ की भी है ।[1]

प्रत्यक्ष रूप से रस को अपकर्ष पहुंचाने वाले दोषों को ही मम्मट एवं विश्वनाथ ने विशेषरूप से रसदोष कहा है । अतएव केवल उन्हीं दोषों का लेखा जोखा प्रस्तुत करना इस प्रसंग में हमारा ध्येय है । मम्मट के अनुसार ऐसे प्रत्यक्ष रसदोषों की संख्या दश है—(१) व्यभिचारी रस और स्थायी भावों की स्वशब्द-वाच्यता, (२) अनुभावों और विभावों की कष्टकल्पना से अभिव्यक्ति, (३) प्रतिकूल-विभावादि का ग्रहण, (४) पुनः पुनः दीप्ति, (५) अकाण्ड-प्रथन (६) अकाण्डच्छेद (७) अंग की अतिविस्तृति (८) अंगी का अननुसन्धान (९) प्रकृतियों का विपर्यय और (१०) अनंग का अभिधान ।[2] विश्वनाथ ने मम्मटोक्त इन रस-दोषों को तो स्वीकार किया ही है बल्कि इनके अतिरिक्त एक अर्थानौचित्य नामक ग्यारहवां रस-दोष भी माना है ।[3] अर्थानौचित्य-दोष से विश्वनाथ का अभिप्राय है देश-कालादि के विरुद्ध वर्णन से । स्थान, समय, आश्रम, वर्ण आदि के विरुद्ध वस्तुवर्णन किए जाने पर वस्तुतः रसानुभूति असंभव है । आनन्दवर्द्धन ने अनौचित्य को ही रसभंग का मूल कारण माना था ।[4] अन्य रस-दोष में भी तत्त्वतः अनौचित्य ही विद्यमान रहता है, अतएव आनन्दवर्द्धन के अनुसार वे रसदोष हैं । फिर भी विश्वनाथ का अर्थानौचित्य एक विशिष्ट अर्थ में (देशकालादीनामन्यथा यद्वर्णनम्) प्रयुक्त हुआ है, अतएव मम्मटोक्त दश रस-दोषों के अतिरिक्त इसे एक पृथक् रस-दोष स्वीकार किया जा सकता है । इन दोषों में से कतिपय दोषों के उदाहरण तो मम्मट और विश्वनाथ ने पद्यबद्ध दिए हैं और कुछ दोषों के संकेत महाकाव्यों और नाटकों के प्रसंग-विशेष में निर्दिष्ट कर दिए हैं ।

मम्मट के अनन्तर जितने भी अन्य आचार्य हुए उन्होंने उपर्युक्त दश रस-दोषों को ही किंचित् परिवर्तित परिवर्द्धित कर स्वीकार किया है । विश्वनाथ का निर्देश हम कर चुके हैं । इन्हीं से मिलते-जुलते विचार हेमचन्द्र, विद्यानाथ, केशव मिश्र प्रभृति आचार्यों के हैं । संस्कृत के परवर्ती आचार्यों में जयदेव और भानुदत्त ही ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने रस-दोषों की चर्चा नहीं की है । यही कारण है कि हिन्दी काव्य-शास्त्र के सभी रस-निरूपक आचार्यों ने रस-दोषों का उल्लेख नहीं किया है ।

---

१. (क)सा० द० १।३ और वृत्ति (ख)वही ७।१ । २. का० प्र० ७।६०-६२ ।
३. सा० द ७।१२-१५ और वृत्ति । ४. ध्वन्यालोक, उद्योत ३, पृ० २५९ ।

जिन्होंने काव्य-प्रकाश और साहित्यदर्पण प्रभृति ग्रन्थों का अवलोकन या अनुसरण किया है, उन्होंने ही रसदोषों का विवरण दिया है। हिन्दी के जो आचार्य पूर्णतः रसतरंगिणी या प्रतापरुद्रयशोभूषण पर निर्भर रहे हैं, उन्होंने रस दोषों की चर्चा नहीं की है।

हमारे अध्येतव्य आचार्यों में मात्र नौ ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने रस-दोषों का थोड़ा-बहुत उल्लेख या सोदाहरण निरूपण किया है, शेष चौदह आचार्य इस सम्बन्ध में सर्वथा मौन हैं। रस-दोषों के विवरण देने वाले आचार्यों के नाम इस प्रकार हैं—केशव, चिन्तामणि, कुलपति, देव, कुमारमणिभट्ट सोमनाथ, भिखारीदास, जनराज और प्रतापसाहि। तोष, मतिराम, रसलीन, रूपसाहि, शिवनाथ, उजियारे कवि, पद्माकर, बेनीप्रवीन, करनकवि, चन्द्रशेखर वाजपेयी, ग्वाल, रसिकविहारी, नन्दराम और लछिराम—ये चौदह आचार्य रस-दोषों की चर्चा से सर्वथा विमुख हैं। उपर्युक्त नौ आचार्यों द्वारा प्रस्तुत रस दोषों का आकलन ही इस खण्ड का मुख्य अनुसन्धेय विषय है। संस्कृत काव्य-शास्त्र की रस-दोष-सम्बन्धी मान्यता अत्यन्त संक्षेप में पृष्ठभूमि के रूप में दी जा चुकी है। उसी के आलोक में हिन्दी-आचार्यों की रस-दोष सम्बन्धी मान्यता क्रमशः प्रस्तुत है।

केशव

दोषों के सम्बन्ध में केशव की धारणा संस्कृत के अलंकारवादी आचार्यों की तरह अनुदार है। जैसे दण्डी कुष्ठ के एक छोटे दाग से भी शारीरिक सौन्दर्य को तथा एक छोटे से दोष से भी काव्य-सौन्दर्य को विनष्ट समझते हैं उसी प्रकार केशव को भी दोष-युक्त कविता, वनिता और मित्र सह्य नहीं हैं। जैसे मद्य की एक बूंद भी घड़े भर गंगाजल को अपवित्र कर देती है उसी प्रकार रंचमात्र दोष भी सम्पूर्ण काव्य को हेय बना देता है। नेगी विप्र, मूर्ख मित्र, कृतघ्न स्वामी और दूषण-सहित काव्य परित्याज्य हैं।[1] संस्कृत काव्यशास्त्र के परम्परागत दश या ग्यारह रसदोषों को केशव ने गृहीत नहीं किया है। इसके स्थान में आपने पांच अनरस या रस-विरोधी दोषों का उल्लेख किया है—प्रत्यनीक नीरस, बिरस, दुःसंधान और पात्रा-दुष्ट।[2] केशव-प्रतिपादित ये पांच दोष (अनरस) आपाततः नवीन प्रतीत होते हैं किन्तु ध्यान से देखने पर यह सिद्ध हो जाता है कि ये परम्परागत दोषों के ही नए नाम हैं।

(१) **प्रत्यनीक**—केशव के अनुसार शृंगार में बीभत्स के, वीर में भय के और करुणा में रौद्र के मिश्रण होने पर प्रत्यनीक नामक अनरस (रसविरोधी दोष) होता है।[3] इसे हम मम्मटोक्त प्रतिकूलविभावादिग्रह' नामक रसदोष में भलीभांति अन्तर्भुक्त कर ले सकते हैं। शृंगार और बीभत्स, वीर और भयानक तथा करुण

१. कविप्रिया ।४-५ । २. रसिकप्रिया १६।१ । ३. वही १६।२ ।

ये सारे दोष मुख्यार्थ (रस) के अपकर्षक हैं। अतएव मम्मट के अनुसार जितने भी दोष हैं (लगभग ९०), सब के सब रस-दोष ही हैं। फिर भी प्रत्यक्ष और परोक्ष सम्बन्ध के आधार पर उनका वर्गीकरण किया जाता है। जो दोष प्रत्यक्ष रूप से रस को अपकर्ष पहुंचाते हैं वे तो विशुद्ध रस दोष हैं और जो पद, वाक्य, पदांश अर्थ आदि के माध्यम से परोक्ष रूप में रस को अपकर्ष पहुंचाते हैं वे पद-दोष, वाक्य-दोष, पदांशदोष और अर्थदोष आदि नामों से अभिहित किए जाते हैं। इसी प्रकार की मान्यता विश्वनाथ की भी है।[1]

प्रत्यक्ष रूप से रस को अपकर्ष पहुंचाने वाले दोषों को ही मम्मट एवं विश्वनाथ ने विशेषरूप से रसदोष कहा है। अतएव केवल उन्हीं दोषों का लेखा जोखा प्रस्तुत करना इस प्रसंग में हमारा ध्येय है। मम्मट के अनुसार ऐसे प्रत्यक्ष रसदोषों की संख्या दश है—(१) व्यभिचारी रस और स्थायी भावों की स्वशब्द-वाच्यता, (२) अनुभावों और विभावों की कष्टकल्पना से अभिव्यक्ति, (३) प्रति-कूल-विभावादि का ग्रहण, (४) पुनः पुनः दीप्ति, (५) अकाण्ड-प्रथन (६) अका-ण्डच्छेद (७) अंग की अतिविस्तृति (८) अंगी का अननुसन्धान (९) प्रकृतियों का विपर्यय और (१०) अनंग का अभिधान।[2] विश्वनाथ ने मम्मटोक्त इन रस-दोषों को तो स्वीकार किया ही है बल्कि इनके अतिरिक्त एक अर्थानौचित्य नामक ग्यार-हवां रस-दोष भी माना है।[3] अर्थानौचित्य-दोष से विश्वनाथ का अभिप्राय है देश-कालादि के विरुद्ध वर्णन से। स्थान, समय, आश्रम, वर्ण आदि के विरुद्ध वस्तुवर्णन किए जाने पर वस्तुतः रसानुभूति असंभव है। आनन्दवर्द्धन ने अनौचित्य को ही रसभंग का मूल कारण माना था।[4] अन्य रस-दोष में भी तत्त्वतः अनौचित्य ही विद्यमान रहता है, अतएव आनन्दवर्द्धन के अनुसार वे रसदोष हैं। फिर भी विश्व-नाथ का अर्थानौचित्य एक विशिष्ट अर्थ में (देशकालादीनामन्यथा यद्वर्णनम्) प्रयुक्त हुआ है, अतएव मम्मटोक्त दश रस-दोषों के अतिरिक्त इसे एक पृथक् रस-दोष स्वीकार किया जा सकता है। इन दोषों में से कतिपय दोषों के उदाहरण तो मम्मट और विश्वनाथ ने पद्यबद्ध दिए हैं और कुछ दोषों के संकेत महाकाव्यों और नाटकों के प्रसंग-विशेष में निर्दिष्ट कर दिए हैं।

मम्मट के अनन्तर जितने भी अन्य आचार्य हुए उन्होंने उपर्युक्त दश रस-दोषों को ही किंचित् परिवर्तित परिवर्द्धित कर स्वीकार किया है। विश्वनाथ का निर्देश हम कर चुके हैं। इन्हीं से मिलते-जुलते विचार हेमचन्द्र, विद्यानाथ, केशव मिश्र प्रभृति आचार्यों के हैं। संस्कृत के परवर्ती आचार्यों में जयदेव और भानुदत्त ही ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने रस-दोषों की चर्चा नहीं की है। यही कारण है कि हिन्दी काव्य-शास्त्र के सभी रस-निरूपक आचार्यों ने रस-दोषों का उल्लेख नहीं किया है।

---

१. (क) सा० द० १।३ और वृत्ति (ख) वही ७।१। २. का० प्र० ७।६०-६२।
३. सा० द ७।१२-१५ और वृत्ति। ४. ध्वन्यालोक, उद्योत ३, पृ० २५९।

जिन्होंने काव्य-प्रकाश और साहित्यदर्पण प्रभृति ग्रन्थों का अवलोकन या अनुसरण किया है, उन्होंने ही रसदोषों का विवरण दिया है। हिन्दी के जो आचार्य पूर्णतः रसतरंगिणी या प्रतापरुद्रयशोभूषण पर निर्भर रहे हैं, उन्होंने रस दोषों की चर्चा नहीं की है।

हमारे अध्येतव्य आचार्यों में मात्र नौ ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने रस-दोषों का थोड़ा-बहुत उल्लेख या सोदाहरण निरूपण किया है, शेष चौदह आचार्य इस सम्बन्ध में सर्वथा मौन हैं। रस-दोषों के विवरण देने वाले आचार्यों के नाम इस प्रकार हैं— केशव, चिन्तामणि, कुलपति, देव, कुमारमणिभट्ट सोमनाथ, भिखारीदास, जनराज और प्रतापसाहि। तोष, मतिराम, रसलीन, रूपसाहि, शिवनाथ, उजियारे कवि, पद्माकर, बेनीप्रवीन, करनकवि, चन्द्रशेखर वाजपेयी, ग्वाल, रसिकविहारी, नन्दराम और लछिराम—ये चौदह आचार्य रस-दोषों की चर्चा से सर्वथा विमुख हैं। उपर्युक्त नौ आचार्यों द्वारा प्रस्तुत रस दोषों का आकलन ही इस खण्ड का मुख्य अनुसन्धेय विषय है। संस्कृत काव्य-शास्त्र की रस-दोष-सम्बन्धी मान्यता अत्यन्त संक्षेप में पृष्ठभूमि के रूप में दी जा चुकी है। उसी के आलोक में हिन्दी-आचार्यों की रस-दोष सम्बन्धी मान्यता क्रमशः प्रस्तुत है।

केशव

दोषों के सम्बन्ध में केशव की धारणा संस्कृत के अलंकारवादी आचार्यों की तरह अनुदार है। जैसे दण्डी कुष्ठ के एक छोटे दाग से भी शारीरिक सौन्दर्य को तथा एक छोटे से दोष से भी काव्य-सौन्दर्य को विनष्ट समझते हैं उसी प्रकार केशव को भी दोष-युक्त कविता, वनिता और मित्र सह्य नहीं हैं। जैसे मद्य की एक बूंद भी घड़े भर गंगाजल को अपवित्र कर देती है उसी प्रकार रंचमात्र दोष भी सम्पूर्ण काव्य को हेय बना देता है। नेगी विप्र, मूर्ख मित्र, कृतघ्न स्वामी और दूषण-सहित काव्य परित्याज्य हैं।[1] संस्कृत काव्यशास्त्र के परम्परागत दश या ग्यारह रसदोषों को केशव ने गृहीत नहीं किया है। इसके स्थान में आपने पांच अनरस या रस-विरोधी दोषों का उल्लेख किया है—प्रत्यनीक नीरस, बिरस, दुःसंधान और पात्रा-दुष्ट।[2] केशव-प्रतिपादित ये पांच दोष (अनरस) आपाततः नवीन प्रतीत होते हैं किन्तु ध्यान से देखने पर यह सिद्ध हो जाता है कि ये परम्परागत दोषों के ही नए नाम हैं।

(१) **प्रत्यनीक**—केशव के अनुसार शृंगार में बीभत्स के, वीर में भय के और करुणा में रौद्र के मिश्रण होने पर प्रत्यनीक नामक अनरस (रसविरोधी दोष) होता है।[3] इसे हम मम्मटोक्त प्रतिकूलविभावादिग्रह' नामक रसदोष में भलीभांति अन्तर्भुक्त कर ले सकते हैं। शृंगार और बीभत्स, वीर और भयानक तथा करुण

१. कविप्रिया ।४-५। २. रसिकप्रिया १६।१। ३. वही १६।२।

और रौद्र परस्पर प्रतिकूल तथा विरोधी रस हैं। इन विरोधी रसों के एकसाथ वर्णन किए जाने पर स्वभावतः इनके उपादानभूत विभावादियों का भी सम्मिलित वर्णन होगा ही। प्रतिकूल विभावादियों के वर्णन में मम्मट ने रसदोष माना है और उसी को केशव ने 'प्रत्यनीक' नामक अनरस कहा है। फलतः केशवोक्त प्रत्यनीक में कोई नवीनता नहीं है।

(२) **नीरस**—केशव की दृष्टि में वहां नीरस नामक अनरस होता है जहां नायक और नायिका एक-दूसरे से लिपटे तो रहते हैं किन्तु कपट का आचरण करते हैं।[1] तात्पर्य यह कि शारीरिक मिलन तो होता है पर हार्दिक मिलन नहीं। इसे परम्परागत शब्दावली में 'रसाभास' कहा जा सकता है। प्रेमी और प्रेमिका के श्रृंगार-वर्णन में शरीर और हृदय दोनों का मिलन वांछित है। वियोगश्रृंगार में शरीर का मिलन तो नहीं रहता है किन्तु हृदय की रागात्मकता और गाढ़ी रहती है। मनोगत राग के अभाव में श्रृंगार तो नहीं पर श्रृंगार-रसाभास का आस्वाद होता है। रस की यह एक हीन कोटि की स्थिति है। इसे ही केशव ने 'नीरस' नाम दे रखा है।

(३) **विरस**—केशव के अनुसार शोक और भोग के अर्थात् करुणा और श्रृंगार के मिलित वर्णन में 'विरस' अनरस होता है।[2] एक तो यह प्रत्यनीक से अभिन्न है। केशव ने दो विरोधी रसों के मिश्रित वर्णन में प्रत्यनीक माना है। करुण और श्रृंगार भी विरोधी हैं—अतएव इसे भी प्रत्यनीक में समाविष्ट कर लेना चाहिए था। फलतः मम्मटोक्त 'प्रतिकूलविभावादिग्रह' नामक रसदोष में 'विरस' भी प्रत्यनीक की भांति स्थान पा लेगा।

(४) **दुःसंधान**—नायक और नायिका में एक के अनुकूल और दूसरे के प्रतिकूल रहने पर दूःसाधन या दुःसंधान नामक अनरस होता है।[3] वस्तुतः यह भी मम्मटोक्त रसाभास से अपृथक् है।

(५) **पात्रादुष्ट**—बिना समझे-बूझे अपने विचार को पुष्ट करने के लिए विशेषणों को बैठा देने पर पात्रादुष्ट नामक अनरस होता है।[4] इसे हम मम्मटोक्त 'अपुष्टार्थ' दोष में अन्तर्भुक्त कर ले सकते हैं। जिन शब्दों के अनुक्त रहने पर भी प्रतिपाद्य अर्थ में किसी तरह की बाधा नहीं होती है उन्हें ही अपुष्टार्थ दोष से ग्रस्त मम्मट ने स्वीकार किया है।[5] अतः केशवोक्त पात्रापुष्ट में और मम्मटोक्त अपुष्टार्थ दोष में तत्त्वतः कोई अन्तर नहीं है। यह ठीक है कि अपुष्टार्थ दोष एक

१. रसिकप्रिया १६।४। २. वही १६।६। ३. वही १६।८। ४. वही १६।१०।
५. काव्यप्रकाश ७।२५५ और वृत्ति। तुलनार्थ र० प्रि० १६।११।

अर्थ दोष है और पात्रादुष्ट एक रसदोष । चूंकि रस का आश्रय वाच्यार्थ ही है, अतएव अर्थ दोष को भी मम्मट ने परोक्ष या परम्परा प्राप्त रस दोष ही घोषित किया है । इस विषय की स्पष्टता इस खंड की पूर्वपीठिका के अन्तर्गत की जा चुकी है ।

चिन्तामणि

चिन्तामणि ने मम्मट-प्रतिपादित दश रस-दोषों में से छः को ज्यों का त्यों उठा कर रख दिया है—स्थायी, संचारी और रस की स्वशब्दवाच्यता, अनुभाव और विभाव की क्लिष्ठता से अभिव्यक्ति, प्रतिकूलविभावादि का ग्रहण, मुख (अंगी) का अननुसन्धान, अंगों की बहूक्ति (अतिविस्तृति), नायक-प्रकृतियों का विपर्यय ।[1] मम्मट-प्रतिपादित रसदोषों में से पुनः पुनः दीप्ति, अकाण्ड-प्रथन, अकाण्ड-च्छेद और अनंग का अभिधान—इन चार दोषों को चिन्तामणि ने छोड़ दिया है। चिन्तामणि के 'आन-सम उक्ति' को 'अकाण्ड-प्रथन' दोष कह सकते हैं । इसी का आपने उदाहरण भी प्रस्तुत किया है । यदि 'आनसम उक्ति' को अकाण्ड-प्रथन दोष मान लें तो केवल तीन ही मम्मटोक्त रस-दोष छूट जाते हैं और चिन्तामणि के दोषों की संख्या सात हो जाती है ।

उपर्युक्त रसदोषों के उदाहरणों में चिन्तामणि ने विशेषता प्रदर्शित की है । अकाण्ड-प्रथन, अंगी के अननुसन्धान और अंग के विस्तार—इन तीन रसदोषों में मम्मट और विश्वनाथ ने पद्यपद्ध उदाहरण नहीं दिए हैं । प्रबन्ध काव्यों और नाटकों में इनका उदाहरण निर्देश भर कर दिया है ।[2] चिन्तामणि ने उपयुक्त तीन दोषों के स्वरचित पद्यबद्ध उदाहरण प्रस्तुत किए हैं :—

(१) **अकाण्ड-प्रथन :—** भली भई बहुतै अली लागी घर में आगि ।
मेरे कर की गागरी लीन्ही साजन भागि ।।

(२) **अंगी का अननुसन्धान :—** मैं चौपर खेलन लगी निसा समै में आजु ।
बैठी सखी समाज में भूलि गये बृजराजु ।।

(३) **अंग की अतिविस्तृति :—** कालिन्दी सुन्दर नदी सुन्दर पुलिन सरूप ।
वृन्दावन घन छाँह तक कुंजनि रूप अनूप ।।
—क० कु० क० त० ।४।९०-९२ ।

प्रथम उदाहरण में घर में आग लगने के कारण भयानक, करुण किम्बा अद्भुत रस की निष्पत्ति होगी और उस असमय में आग बुझाने के लिए नायक के द्वारा नायिका के हाथ से गागर लेने का उल्लेख होने के कारण शृङ्गार की व्यंजना हो रही है ।

---

१. कविकुलकल्पतरु । ४।८४-८६ । तुलनार्थ—काव्यप्रकाश । ७।६०-६२ ।

२. (क) का०प्र० । उ० ७। पृ० २६७।२६८ । (ख) साहित्यदर्पण ।७ म परिच्छेद । पृ०—७४६-४७ ।

यह प्रथन (कथन) अकाण्ड में हो रहा है—अतएव इसमें परम्परागत अकाण्ड-प्रथन नामक रसदोष होगा। द्वितीय उदाहरण में चौपड़ खेलते-खेलते ब्रजराज की सुधि का भूल जाना ही अंगी का अननुसन्धान है। ब्रजराज अंगी हैं, अतएव उनका स्मरण सदा रहना चाहिए। आलम्बन को आंखों से ओझल कर निर्दोष रसानुभूति सम्भव नहीं है। तृतीय उदाहरण में ब्रजराज तो अंगी हैं पर कालिन्दी-पुलिन, घन-छांह तथा कुञ्ज आदि अंग हैं। इन अंगों का ही विस्तृत वर्णन होने के कारण इसमें अंगातिविस्तृति नामक रसदोष हैं।

कुलपति

आपकी दोषसम्बन्धी मान्यता ध्वनिवादी आनन्दवर्द्धन और मम्मट के अनुकूल है। जिस प्रकार आनन्दवर्द्धन ने नित्य और अनित्य दोष स्वीकार किए थे, उसी प्रकार कुलपति ने भी केवल उन्हें नित्य दोष माना जो कविता को विरस कर देते हैं और आपकी दृष्टि में वे दोष रस के पोषक होने के कारण अनित्य हैं जो केवल विरोध को बाधा पहुंचाते हैं। इतना ही नहीं, अनौचित्य को कुलपति ने रस-भंग (रस बिगाड़न) का मूल कारण भी माना है।[1] दोषों को कुलपति हेय समझते हैं और शब्दगत तथा अर्थगत दोषों को भी परम्परा सम्बन्ध से रस का अपकर्षक मानते हैं।[2]

मम्मट-प्रतिपादित सभी रसदोषों का उल्लेख कुलपति ने किया है।[3] कुलपति के पूर्ववर्ती चिन्तामणि ने पुनः पुनः दीप्ति, अकाण्डच्छेद और अननाभिधान इन तीन परम्परागत रस दोषों को छोड़ दिया था किन्तु कुलपति ने इन्हें भी अपने रस-रहस्य में समाविष्ट किया है। इन सभी रसदोषों का पल्लवन एवं उदाहरण भी आपने पृथक्-पृथक् किया है और इसमें पूरी सतर्कता भी बरती है।[4] प्रकृति-विपर्यय दोष में आपने विशेषतः दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य तथा धीरोदात्तादि नायकों के स्वरूप और उदाहरण को विशद रूप में बताकर उनकी प्रकृति के विपरीत वर्णन में उक्त रस-दोष का निर्देश किया है।[5] समयादि विरुद्ध वर्णन को भी आपने परम्परानुसार प्रकृति-विपर्यय दोष के अन्तर्गत ही रखा है—यथा, वसन्त ऋतु में कदम्ब के फूलों का अधिक संख्या में होना तथा मेघों का उमड़ना, वर्षाकाल में कोकिल के कलरव का वर्णन करना एवं वृद्धावस्था में अधिक रति का होना आदि।[6] इस प्रकार कुलपति का रस-दोष निरूपण सर्वथा मम्मट और विश्वनाथ के अनुसार है।

१. रसरहस्य। ५।१३९, १३८। तुलनार्थ—ध्वन्यालोक। १।११ और वृत्ति, ३। पृ० २५९, का० प्र०।७। पृ० २७१।

२. रसरहस्य।५।१-२। तुलनार्थ—काव्यप्रकाश।७।४९, अलंकार शेखर। पृ० १४।

३. वही।५।८-१६। ४. वही।११७-१३६। ५. वही।५।१२७-१३५।

६. वही।५।१३६। तुलनार्थ—का०प्र०।७। पृ० २७०। तथा सा०द०।७। पृ० ७४८

यदि आपने इस प्रसंग में कोई त्रुटि की है तो वह मम्मट सम्मत 'अनंगस्याभिधानम्' नामक रसदोष। इसे कुलपति ने 'काम को नाम' कहा है। वस्तुतः मम्मट निर्दिष्ट उक्त दोष वह है जहां रस के अनंगों का (जो अंग नहीं हैं उनका) वर्णन किया जाय, जैसे कर्पूर मंजरी नामक नाटिका में नायिका और अपने द्वारा वर्णित बसन्त वर्णन का अनादर कर राजा के द्वारा वन्दि-वर्णित बसन्त वर्णन की प्रशंसा करना। वन्दि-वर्णित बसन्त-वर्णन श्रृंगार का अनूपकारी होने के कारण उसका अनंग है और इसीलिए वहाँ 'अनंगस्याभिधानम्' नामक रस दोष मम्मट ने स्वीकार किया है। कुलपति ने अनंग का अर्थ काम समझा है तथा श्रृंगारिक रचना में काम के वाध्य होने पर आपने 'काम को नाम' दोष माना है। उनके उदाहरण और उस पर दी गई वृत्ति से यह बात सुस्पष्ट हो जाती है।[1]

देव

इनके रसविलास, भावविलास, भवानीविलास, प्रभृति ग्रन्थों में रस-दोषों या सामान्य दोषों का विवरण नहीं है। केवल शब्द-रसायन में आपने कतिपय रसदोषों का उल्लेख किया है। इन तथाकथित रस-दोषों में भी कुछ तो वस्तुतः दोष हैं। और कुछ रस के भेद। जो हो, देव ने इन्हें रस-दोष के नाम से ही अभिहित किया है। इन रसदोषों के नाम हैं—सरस, नीरस, सम्मुख, विमुख, स्वनिष्ठ, परनिष्ठ, भीत, अभीत, उदास और उचित।[2] ये परम्परा रस-दोष नहीं है। संस्कृत काव्य-शास्त्र के किसी भी सिद्धान्त ग्रन्थ में इन दोषों का प्रतिपादन नहीं हुआ है। इनके लक्षण भी देव ने नहीं दिए हैं। केवल उदाहरणों के आधार पर इन दोषों को अवगत कराना भी नितान्त कठिन है। इनमें से सम्मुख विमुख, स्वनिष्ठ और परनिष्ठ इन चार भेदों को भानुमिश्र ने रस भेद के रूप में प्रस्तुत किया है।[3] विमुख रस को तो किसी तरह दोष माना भी जा सकता है क्योंकि इसमें भाव, विभाव और अनुभाव की प्रतीति कष्टपूर्वक होती है, पर सम्मुख, स्वनिष्ठ और परनिष्ठ रसों को रसदोष कहना नितान्त असंगत है। एकांगी प्रेम को देव ने 'उदास' कहा हैं। इसे रसाभास के अन्तर्गत डाला जा सकता है। नीरस के कई भेद किए गए हैं—देश, काल, वर्ण, विधि, यात्रा, सन्धि, रस और भाव के विरोधानुसार आठ भेद वर्णित हैं। 'नीरस' के इन सारे भेदों में से कतिपय को (देश और काल को) मम्मट-विश्वनाथ-सम्मत प्रकृति-विपर्यय दोष के अन्दर डाला जा सकता है। वर्ण-मूलक नीरस को श्रुतिकटु दोष के अन्तर्गत, विधिमूलक को विध्ययुक्त के अन्तर्गत, सन्धिमूलक को भावसन्धि के अन्तर्गत तथा रस और भावमूलक को रस-विरोध के अन्तर्गत समाविष्ट कर लिया जा सकता है। शब्ददोष और वाक्यदोष भी मम्मट के अनुसार परोक्षरूप से रस को अपकर्ष पहुंचाते ही हैं। अतएव इन्हें

---

१. रसरहस्य।५।१३७। २. शब्द-रसायन। प्रकाश ५, पृ० ५०।
३. रसतरंगिणी। तरंग ८, पृ० १८१, तरंग ७, पृ० १५६।

रसदोष मानने में कोई क्षति भी नहीं है। अनौचित्य के आधार पर उचित नामक रस-दोष की कल्पना की गई है। अनौचित्य तो सभी रस-दोषों का मूल कारण है– ऐसा आनन्दवर्द्धन एवं मम्मट ने भी स्वीकार किया है। सरस, भीत और अभीत नामक रसदोष तो नितान्त अस्पष्ट हैं और इन्हें हम परम्परागत दोषों में अन्तर्भुक्त भी नहीं कर सकते हैं। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि देव का रस-दोष-निरूपण मौलिक होते हुए भी असंगत, शिथिल एवं अस्पष्ट हैं।

कुमारमणि भट्ट

इन्होंने मम्मट और विश्वनाथ के अनुसार दश रस-दोष बताये हैं और उन्हें प्रस्तुत करने में पूरी सतर्कता बरती है। रीतिकालीन आचार्यों में काव्यशास्त्रीय परम्परागत विषयों को सही रूप में उपस्थित करने वाले भी पर्याप्त महत्वपूर्ण माने जाते हैं। इस दृष्टि से कुमारमणि पूर्ण श्रेय के भागी हैं और कम से कम रसनिरूपण के क्षेत्र में देव की अपेक्षा आप में उच्चकोटि का आचार्यत्व है तथा चिन्तामणि और कुलपति के समकक्ष है। कुमारमणि-प्रतिपादित रस-दोषों के नाम इस प्रकार हैं— (१) रस, स्थायी भाव प्रभृति को नामतः (शब्दतः) प्रकट करना और उन्हें व्यंग्य न रखना, (२) विभावादि की प्रतिकूलता, (३) विभावादि का कष्ट-बोध, (४) रसों की फिरि फिरि दीपित, (५) रस का अकस्मात् विच्छेद (६) रस का अकस्मात् विस्तार, (७) अंगों का विस्तार (८) अंगी को भुला देना (९) विरुद्ध अंगों का वर्णन (अनंगस्याभिधानम्), (१०) प्रकृति-विपर्यय।[1] ये सभी दोष मम्मटोक्त रस-दोषों के ही अनूदित रूप हैं। केवल अकाण्ड-प्रथन का 'अकस्मात् विस्तार' अनुवाद नहीं जंचता है। मम्मट ने अकाण्ड का प्रयोग असमय के अर्थ में किया है और अकस्मात् शब्द से यह अर्थ गृहीत नहीं होता है। अकाण्डच्छेद में अकाण्ड शब्द के स्थान में 'अकस्मात्' किसी तरह चल सकता है। फिर भी कुमारमणि का रस-दोष-निरूपण समग्रतः समीचीन है। उदाहरण भी आपने युक्ति-युक्त दिए हैं।

सोमनाथ

दोषों के सम्बन्ध में सोमनाथ की धारणा ध्वनिपरवर्ती आचार्यों के दृष्टिकोण से अपृथक् है। सोमनाथ के अनुसार दोष (सभी प्रकार के) रस के विधातक हैं। रसों के आश्रय (ओट) हैं शब्द और अर्थ। फलतः दोष रसगत, शब्दगत और अर्थगत तो होते हैं पर वे सभी हैं रसविघातक ही। इन विभिन्न दोषों का निर्धारण भी सोमनाथ ने मम्मट की भाँति अन्वय और व्यतिरेक के आधार पर स्वीकार किया है।[2]

---

१. रसिकरसाल।१०। ०२-१०४। तुलनार्थ—काव्यप्रकाश।७।६०-६२।

२. रसपीयूषनिधि (ह० लि०) २०।१-२। तुलनार्थ-का० प्र०।७।४९ (वृत्ति) तथा उल्लास ९। पद सं० ३७६ से आगे का विचार।

रसदोषों में विशेष रूप से इन्होंने एकमात्र 'प्रकृति-विपर्यय' नामक दोष का उल्लेख किया है । इसके अन्तर्गत प्रकृति के तीन रूपों अर्थात् दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य का विचार किया है । फिर भी परम्परागत दश या ग्यारह रसदोषों में से एकमात्र प्रकृति-विपर्यय का उल्लेख आपके रस-दोष निरूपण को अधूरा ही सिद्ध करता है । यह ठीक है कि रस-दोष का मूलाधार अनौचित्य है और यह अनौचित्य प्रकृति-विपर्यय में जितना स्पष्ट रहता हैउतना अन्य रस-दोषों में नहीं । तथापि अन्य दोषों का निरूपण भी आंशिक अनौचित्य के आधार पर ही किया गया है, अतएव उनका उल्लेख भी वांछित था। इस दिशा में पूर्वविविक्त हिन्दी के रसाचार्यों की अपेक्षा सोमनाथ का विवेचन हीन प्रमाणित होता है ।

भिखारीदास

दास का दोष-सम्बन्धी-धारणा अत्यन्त स्थूल है । आपने ध्वनिपरवर्ती आनन्दवर्द्धन, मम्मट एवं विश्वनाथ प्रभृति संस्कृत के आचार्यों की तरह दोषों को काव्यात्मभूत रस का अपकर्षक नहीं बताया है । शब्द, शब्दांश और अर्थ-सभी रस के आश्रय होने के कारण उसी से सम्बद्ध हैं । अतएव शब्ददोष, अर्थदोष, किम्बा रसदोष—सभी मूलतः रसापकर्षकारी होने के कारण रसदोष ही हैं । केवल साक्षात् और परम्परा सम्बन्ध के आधार पर इन दोषों का विभाजन है । दास ने स्थूलरूप में प्रतिपादित किया है कि दोष शब्दगत, अर्थगत और रसगत होते हैं, अतएव सुमति कवियों को उनका त्याग करना चाहिए ।[1] इस उक्ति से दोषों की हेयता तो स्पष्ट होती है किन्तु सभी दोषों का (शब्दार्थदोषों का भी) रसापकर्षकत्व स्पष्ट नहीं हो पाता है ।

दास ने मम्मटोक्त नौ रसदोषों के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किए हैं तथा उदाहरणों के अनन्तर "तिलक"—वृत्ति के द्वारा लक्षणों की संगति भी प्रदर्शित कर दिखाई है । इन रस दोषों की अदोषता या गुण भी आपने वर्णित किए हैं । मम्मट-प्रतिपादित दश रसदोषों में दास ने मात्र "अनंगस्याभिधान" नामक रसदोष का उल्लेख नहीं किया है । अन्य नौ रसदोषों का युक्तियुक्त निरूपण दास के काव्यनिर्णय में हुआ है ।[2] कतिपय स्थलों में दास ने मम्मटोक्त रस-दोषों में संशोधन भी प्रस्तुत किया है । उदाहरणार्थ प्रकृति-विपर्यय दोष को लीजिए—मम्मट ने रति, हास, शोक और अद्भुत भावों की स्थिति केवल दिव्य पात्रों में तथा उत्तम प्रकृतिवाले अदिव्य पात्रों में (मर्त्यलोक के वत्सराजादि में) स्वीकार की थी, पर दास ने सभी प्रकृति के पात्रों में इनकी स्थिति मानी है और यह विचार मौलिक होने के साथ स्वाभाविक एवं तर्कसंगत भी है ।[3] इसी प्रकार "पुनः पुनः दीप्ति" नामक रस-दोष के

१. काव्यनिर्णय । २३।१ ।

२. (क) का० नि० । २५।१ । (ख) वही । २५।६ । (ग) वही । २५।१० (घ) वही, २५।२४ । (ङ) वही, २५।३४ । ३. वही, २५।२९ । तु०-का० प्र० ७ पृ.२६८

सम्बन्ध में दास का सुझाव है कि उपमादि अलंकारों की सत्ता में यह दोष नहीं माना जा सकता है।[1] "प्रतिकूलविभावादिग्रह" नामक रसदोष का परिहार भी दास ने मम्मटानुसार प्रतिपादित करते हुए कहा—बोध करने पर (स्मर्यमाण), उपमा देने पर (साम्यता से कथन) तथा दूसरे का अंग होने पर (अंगागिभाव) यह दोष नहीं माना जा सकता है।[2] फलतः दास का रसदोष–निरूपण परम्परा-सम्मत होने के साथ मौलिक चिन्तन से विवेचन को समृद्ध भी करता है।

जनराज

जनराज के कवितारस विनोद में दोषों के रसापकर्षकत्व का विचार तो स्पष्टतः न हुआ है किन्तु रस-दोषों का विस्तृत तालिका एवं उनके लक्षण और उदाहरण से यह अनुमान किया जा सकता है कि आपने दोषों का रस का अपकर्षक या विघातक माना होगा। आपने काव्य उसे कहा है जिसमें दूषण प्रकट न हो।[3] साथ ही उत्तम काव्य के रूप में ध्वनि काव्य को तथा ध्वनियों मे रस-भावादि को श्रेष्ठ घोषित किया है। फलतः काव्य में दूषण प्रकट न होने के उल्लेख से ही हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि रस-भावादियुक्त (उत्तम) काव्य के ये अपकर्षकारी हैं।

रस-दोषों में इन्होंने मम्मटोक्त दश रसदोषों के अतिरिक्त दो अन्य रस-दोष भी प्रतिपादित किए हैं—"विभाव अनुभाव अकेलो" और "रसविरुद्ध"।[4] फलतः आपके रसदोषों की संख्या बारह तक पहुंच जाती है, यद्यपि याज्ञिक संग्रहालय के हस्तलिखित कविता रस विनोद में रस-दोष-प्रतिपादक उद्धरण के ऊपर १६ तक चिह्न लगे हुए हैं। वस्तुतः एक प्रकार के दोष को अंशतः विभक्त कर देने के कारण ही संख्या १६ बताई गई है। उदाहरणार्थ रस, संचारी और स्थायी की स्वशब्द-वाच्यता को एक दोष न मान कर तीन दोष मान लिए हैं और विभावानुभाव की कष्ट-प्रतीति को दो। अतएव संख्या १६ हो जाती है, अन्यथा जनराज प्रतिपादित रसदोष यथार्थतः बारह ही हैं। मम्मट या विश्वनाथ की अपेक्षा जनराज की विशेषता यह है कि आपने प्रत्येक रस-दोष का पृथक्-पृथक् लक्षण भी दिया है और उसे "लक्षण नाम प्रकाश" समझ कर छोड़ा नहीं है। यह प्रभाव वस्तुतः भिखारीदास का है, जो जनराज के पूर्ववर्ती आचार्य थे। जनराज के अनुसार कतिपय दोषों के लक्षण इस प्रकार हैं :—

संचारी को नाम (इसे आपने साक्षात्
रस दोष कहा है)—जिहां संचारी भाव को
नाम प्रगट ही होय।

---

१. काव्यनिर्णय। २५।२०। २. वही, २५।१३। तु०—काव्यप्रकाश। ७।६५
३. कवितारस विनोद। (ह० लि० या० सं०) १।१४। ४. वही। ९।२३-२५।

ते साक्षात् दूषन सही,
वर्नंत है कवि लोई।
—क० र० वि० । ९।१२६ ।

रस को नाम— कहत रसहिं वाच्य सौं जिहां।
रसहिं वाच्यदूषन है तिहां ॥ वही । ९।१२८ ।

थाई भाव को नाम— थाई कहियत परगट होय।
स्थाई दूषन जानौ सोय ॥ वही ।९।१२९ ।

विभाव की प्रतीति कष्ट सों—जित विभाव की कष्ट सों होत प्रतीत सुजान।
दूषन कष्ट विभाव सों कविजन करत वषान ॥
—वही । ९।१३१ ।

अनुभाव की प्रतीति कष्ट सों—जिहां अनुभाव प्रतीत जो महाकष्ट सों होय।
ते कष्ट अनुभाव है दूषन दूषन जोय ॥
—वही ।९।१३३ ।

प्रतिकूल विभाव— ह्वै विभाव औरै जहां औरै भाउ उसूल।
रसदूषन ठहराव मै सो विभाव प्रतिकूल ॥
—वही ।९।१३६ ।

दीपति पुनि पुनि— है रस प्रथमै सी मिटि जाई।
बहुरि आय वैही दरसाई ॥
दोष सु दीपति पुनि पुनि जानौ।
रस वरनन मै चाहि न आनौ ॥ वही ।९।१३८ ।

इसी प्रकार अकांड-प्रथन, रसच्छेद (अकांडच्छेद), अंगीविस्तार, अंगीविस्मृति, प्रकृति विर्वजित, समयविरुद्ध, देशविरुद्ध, अनंगस्याभिधान, अमतनाम रसविरुद्ध-रस दोषों के लक्षण आपने दिए हैं।[1] 'एक लो विभाव-अनुभाव'—जो एक नवीन रस-दूषन है—का लक्षण इन्होंने नहीं दिया है। केवल इसके दो उदाहरण ही दिए हैं।[2] रसानुभूति सर्वदा समूहालम्बनात्मक होती है, अतएव केवल विभाव या अनुभाव रसनिष्पत्ति कराने में अक्षम है। यदि कोई असाधारण विभाव या अनुभाव हो तो बात दूसरी है। प्रकृति-विर्वजित रस-दोष का लक्षण परम्परा-सम्मत नहीं है। जनराज ने इसका शाब्दिक अर्थ गृहीत किया है अर्थात् प्राकृतिक विधानों की विवर्जना कर जो जोग घटित होते हैं उनमें यह दोष होता है।[3] रस-विरुद्ध कोई नवोद्भावित रस-दोष नहीं है। मम्मट, विश्वनाथ तथा अन्य परम्परागत आचार्यों ने मित्र रस और विरोधी रस का उल्लेख किया है। उसी को उठाकर जनराज

---

१. कवितारसविनोद । ९।१४०, १४२, १४४, १४५, १४६, १५२, १५६ ।
२. वही ।९।१३४-१३५ । ३. वही ।९।१४६ ।

ने रस-दोषों की तालिका में समाविष्ट कर लिया है और रसविरुद्ध नामक एक अतिरिक्त रस-दोष की कल्पना कर ली है। यों मम्मट प्रभृति आचार्य भी विरोधी रसों के वर्णन में दोष मानते ही हैं। आंशिक त्रुटियों के बावजूद भी जनराज का रस-दोष निरूपण समीचीन ही कहा जायगा।

प्रतापसाहि

आपने 'काव्यविलास' नामक ग्रन्थ में दोष-निरूपण किया है। दोषों के सम्बन्ध में आपकी धारणा मम्मट और आनन्दवर्द्धन के ही अनुकूल है। दोषों के सम्बन्ध में आपका विचार है कि ये मुख्य अर्थ (रस) को घात पहुंचाते हैं और वे शब्दगत, अर्थगत तथा रसगत होते हैं।[1] स्पष्ट है कि मम्मटोक्त दोष-लक्षण का अनुवाद इन्होंने किया है किन्तु इसमें आपको पूरी सफलता नहीं मिल पाई है। मम्मट ने शब्द और अर्थ को रसाश्रय स्वीकार कर शब्ददोष और अर्थदोष को भी परम्परा-सम्बन्ध से रसदोष प्रमाणित करने की चेष्टा की है, किन्तु प्रतापसाहि शब्द और अर्थ की रसाश्रयत्मकता को अपने लक्षण में अनूदित नहीं कर सके हैं। शेष अर्थ के लिए भी पद्य को तोड़-मड़ोड़ कर संगति बैठानी पड़ती है। इतना अवश्य कि दोष-सम्बन्धी धारणा मम्मटानुकूल है। आनन्दवर्द्धन और मम्मट की तरह प्रतापसाहि भी अनौचित्य को रस-दोष का मूलकारण मानते हैं।[2] इतना ही नहीं, आनन्दवर्द्धन की भाँति इन्होंने भी दोषों के दो वर्ग माने हैं—नित्य दोष और अनित्य-दोष। रसदोषों में जो दोष रस को नीरस बना देते हैं वे तो वस्तुतः दोष हैं और जो रस के विरोधी तत्वों के बाधक बन जाते हैं वे दोष न होकर प्रत्युत रस के पोषक कहलाते हैं।[3] फलतः रसदोषों में भी कुछ तो नित्य दोष हैं और अन्य अनित्यदोष।

प्रतापसाहि ने मम्मटोक्त सभी रसदोषों को प्रस्तुत किया है। प्रत्येक आचार्य के प्रसंग में हम इन दोषों को कई बार उल्लेख कर चुके हैं, अतएव इन्हें यहां दुहराना अनावश्यक है। केवल प्रतापसाहि की भूलों को ही हम निर्दिष्ट कर देना चाहते हैं। यथा "रस की स्वशब्दवाच्यता" दोष को आप स्पस्ट नहीं कर सके हैं। आपने रसयुक्त रचना में रस-वाचक शब्द की उक्ति के बदले अनुक्ति में ही यह दोष मान लिया है अर्थात् "रस की स्वशब्द-वाच्यता" के बदले 'रस की स्वशब्दावच्यता' को आपने दोष स्वीकार किया है। उदाहरण में इस दोष के लक्षण की संगति बैठाने के प्रसंग आपने जो वृत्ति दी है उसी से आपकी भ्रान्त धारणा का संकेत मिलता है।[4] लक्षणों की अपेक्षा कई रस दोषों के उदाहरण समुचित नहीं हैं।

---

१. काव्यविलास (ह० लि०-या० सं०)।६।१। तुलनार्थ—काव्यप्रकाश।७।४९
२. काव्यविलास।६।१३५। ३. (क) वही।६।३। (ख) वही ७।१३६। तुलनार्थ—ध्वन्यालोक।२।११। (वृत्ति)। ४. काव्यविलास।६।१२२ (वृ०)।

विभावानुभाव की कष्ट प्रतीति के जो उदाहरण आपने दिए हैं वे कुलपति के रस-रहस्य में दिये गए उदाहरणों के ही रूपान्तर है।[1] इन दोनों उदाहरणों में क्रमशः लक्षणान्वय भी असंगत है। एक में आलम्बन नायक या नायिका की कष्ट प्रतीति होती है। दूसरे में पिछले सुखों का स्मरण करुण में भी संभव है—अतएव दोष माना है। नायक या नायिका की कष्ट प्रतीति वस्तुतः कोई कष्ट प्रतीति नहीं है। हाँ, भिन्न-भिन्न रसों के आलम्बनों की उपस्थिति से कष्ट-प्रतीति होती तो बात दूसरी थी। दूसरे उदाहरण में वस्तुतः स्तम्भ-स्वेदादि शृङ्गारिक अनुभावों की कष्ट-प्रतीति के कारण दोष मानना चाहिए—इसे प्रतापसाहि स्पष्ट नहीं कर सके हैं। इसी प्रकार अकाण्डच्छेद, अकाण्ड-प्रथन, अंगविस्तृति और अंगी का अननुसन्धान (विस्मरण)—इन रस दोषों के उदाहरण भी अधूरे दिए हैं। उदाहरण लिए तो गए हैं मम्मट के काव्य-प्रकाश से पर मम्मट ने जिन काव्य ग्रन्थों को उदाहृत किया है उनमें लक्षणान्वित भी प्रदर्शित कर दिखाई है तथा स्थल विशेषों का भी निर्देश कर दिया है। प्रतापसाहि ने, इसके विपरीत, केवल महाकाव्यों और नाटकों के (जिनमें उक्त रस दोष हैं) नाम भर गिना दिए हैं।[2] फलतः प्रतापसाहि का रसदोष निरूपण विषयों के उल्लेख की दृष्टि से तो ठीक है किन्तु सैद्धान्तिक सूक्ष्मता की दृष्टि से चिन्तामणि और भिखारीदास की अपेक्षा हीन कोटिक है।

७—मौलिकता का अन्वेषण

रीतिकालीन काव्य शास्त्रियों द्वारा प्रस्तुत रसस्वरूप और रसोपकरणों के के ऐतिहासिक अध्ययन के अनन्तर हमारा यह अनिवार्य कर्त्तव्य हो जाता है कि रस-सिद्धान्त की दृष्टि से हम उनकी मौलिकता का अनुसन्धान करें। किन्तु इस दिशा में उनकी मौलिकता के अन्वेषण के पूर्व हमें उनकी परिस्थिति-जन्य सीमाओं को ध्यानगत कर लेना चाहिए। अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब हिन्दी के माध्यम से भारतीय काव्य शास्त्र का चिन्तन प्रारम्भ हुआ तो संस्कृत काव्य शास्त्र की चिन्तन धारा पराकाष्ठा पर पहुंच चुकी थीं। भिन्न-भिन्न काव्य सम्प्रदायों के माध्यम से अनेक मौलिक उद्भावनायें प्रस्तुत की जा चुकी थीं। काव्यांगों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदों के तानेबानों के द्वारा शास्त्रीय ज्ञान का रंगीन एवं सुदृढ़ पट निर्मित हो गया था। ऐसी स्थिति में रीतिकालीन आचार्यों को इस क्षेत्र में मौलिक चिन्तन एवं उद्भावना का अत्यल्प अवकाश प्राप्त था। परिणामतः घिसी-पिटी बातों को ब्रजभाषा के माध्यम से दुहरा देने के सिवाय इनके पास और कोई अन्य सरणि भी नहीं थी। अपने प्रतिपाद्य विषयों को व्यक्त करने के लिए समुन्नत एवं सशक्त गद्यात्मक माध्यम का संवल भी इन्हें प्राप्त नहीं था। जिन सामान्तों, रईसों और अमीरों

---

२. काव्यविलास। ६।१२४-१२५। तुलनार्थ—कुलपति : रसरहस्य - ५।१२१-१२२।
२. वही। ६।१२६ (वृत्ति)।

के आश्रय में रह कर तत्प्रदत्त ठीकरों पर ये पलते थे, वे काव्य-रसिक तो थे पर उनकी बौद्धिक चेतना अधिक जाग्रत न होने के कारण विवेचन की जटिल गुत्थियों में उलझने से घबड़ाती थी। संस्कृत काव्य शास्त्र की चिन्तनधारा जो विवेचना की बारीकियों और तर्क-वितर्क के घटाटोपों से बोझिल होकर सदियों से प्रवाहित होती चली आ रही थी, इस युग तक आते-आते ह्रासोन्मुख ही नहीं प्रत्युत क्षीणता को प्राप्त कर चुकी थी। भले ही, पंडित राज जगन्नाथ जैसे आचार्य इसके अपवाद हों। परिस्थिति-जन्य इन्हीं सीमाओं के अभ्यन्तर रीतिकालीन आचार्यों को वस्तुतः काव्य-शास्त्र की चिन्तना करनी पड़ी थी। आज उनकी मौलिकता के अनुसन्धायकों को उनकी उपर्युक्त सीमाओं को ध्यान में रखते हुए ही सफलता-सूचक अंक प्रदान करना चाहिए।

संस्कृत काव्य-शास्त्र के सुदीर्घाविधिक इतिहास में भी सभी आचार्यों को हमने समान रूप से मौलिक नहीं पाया है। काव्य शास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रवर्तक या स्रष्टा आचार्य इने-गिने ही हैं। प्रायः प्रत्येक काव्य-सम्प्रदाय में दो-तीन या कभी कभी तो एक ही ऐसे आचार्य उपलब्ध होते हैं जिन्हें हम सर्वांशतः मौलिक कहने की घोषणा कर सकते हैं। भरत, भामह, वामन, दण्डी, आनन्दवर्द्धन, कुन्तक, अभिनवगुप्त, क्षेमेन्द्र, प्रभृति कुछ—एक हीं ऐसे आचार्य हैं जिनमें मौलिकता कूट-कूट कर भरी हुई है। वस्तुतः काव्यशास्त्र के स्रष्टा या सिद्धान्त-प्रवर्तक ये ही आचार्य थे। अन्य आचार्यों ने इन्हीं के द्वारा प्रवर्तित काव्य सिद्धान्तों का भाष्य किया है। प्रत्येक काव्य-सम्प्रदाय में जैसे शास्त्रकार आचार्य हैं, वैसे ही अनेक भाष्यकार भी। अपनी भाष्यकरी वृत्ति के प्रसंग कहीं-कहीं विवेचना की सूक्ष्मतम सतह पर जाकर आपने भी कई नई बातें प्रतिपादित की हैं पर मुख्यतः अपने पूर्ववर्ती काव्यसिद्धान्तों का पुनराख्यान या तुलनात्मक अध्ययन ही आपके ध्येय और कार्य रहे हैं। ऐसे भाष्यकार आचार्यो में हम उद्भट, रुय्यक, भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक, मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ प्रभृति आचार्यों को गृहीत कर सकते हैं। इनके अतिरिक्त, संस्कृत काव्य-शास्त्र के आचार्यों का एक तीसरा वर्ग भी है जिन्हें हम कविशिक्षक कह सकते हैं। काव्यशास्त्रीय समग्र सिद्धान्तों किम्बा किसी एक सिद्धान्त को आधार बना कर सरल भाषा में उनका प्रतिपादन कर देना ही इनका चरम लक्ष्य था। विवेचना की ऊहापोह अथवा तर्क-वितर्क के आडम्बर से सर्वथा रिक्त रहकर ही इन्होंने अपने ग्रन्थ प्रस्तुत किए हैं। ऐसे कविशिक्षक आचार्यों में विद्यानाथ, जयदेव, केशव मिश्र, अप्पयदीक्षित, भानुदत्त प्रभृति आचार्यों की गणना होनी चाहिए।

हिन्दी साहित्य के ये रीतिकालीन आचार्य न तो शास्त्रस्रष्टा थे और न भाष्य-लेखक, वस्तुतः ये कविशिक्षक थे। कवियों और काव्य-रसिकों को सरल हिन्दी-पद्य के माध्यम से काव्य शास्त्रीय गहन विषयों को समझा देने का प्रयास ही इनके आचार्यत्व की मुख्य उपलब्धि है। फलतः इनके ग्रन्थों में सैद्धान्तिक मौलिकता

का अनुसन्धान ही इन्हें परिधि से बाहर ले जाकर देखने का प्रयास है। फिर भी इतना अवश्य कि यदि ये आचार्य हिन्दी के माध्यम से प्राचीन सैद्धान्तिक-समीक्षा शास्त्र को जगाए न रखते तो आज हिन्दी साहित्य का सम्बन्ध प्राचीन काव्य-सिद्धान्तों से विछिन्न हो गया होता। आधुनिक भारतीय भाषाओं के विभिन्न साहित्यों में यह श्रेय केवल हिन्दी को ही प्राप्त है (और मराठी को भी), कि संस्कृत काव्यशास्त्र की चिन्तनधारा निरवच्छिन्न रूप से प्रवाहित होकर आज भी इसकी जड़ों को सींच रही है। आज भले ही किसी भारतीय भाषा के साहित्य में दो-चार रसालंकारों से सम्बद्ध ग्रन्थ लिख लिए गए हों, पर ऐसा कहीं नहीं देखा जाता कि संस्कृत काव्यशास्त्र-गगन के अन्तिम अस्तंगत दिनमणि जगन्नाथ का आलोक आंखों से ओझल भी नहीं हो पाया कि केशव और चिन्तामणि से लेकर लछिराम तक या अर्वाचीन काल तक आइये तो डा० नगेन्द्र तक—क्रमशः शताधिक नक्षत्र अपने अपने प्रकाश से निरन्तर समीक्षा-पथ को आलोकित करने लगे। अतएव रीतिकालीन आचार्यों में सैद्धान्तिक मौलिकता हो या न हो, उनका सबसे बड़ा श्रेय यह है कि संक्रमणकाल में भी आपने भारतीय काव्यशास्त्र की चिन्तनधारा को जीवित रखा।

विशेषतः रस सिद्धान्त के क्षेत्र में आपकी देन यह है कि आपने रस सिद्धान्त को ध्वनिसिद्धान्त के अन्तर्भोग से पृथक् कर प्रशस्त पथ पर अधिष्ठित किया। रससिद्धान्त के प्रथम आचार्य भरत ने इसे स्वतन्त्र रूप में ही प्रवर्तित किया था, ध्वनिवाद का अंग बना कर नहीं। संस्कृत के परवर्ती आचार्यों में आनन्दवर्द्धन से जगन्नाथ पर्यंत—अधिकांश आचार्यों ने असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के अन्तर्गत ही नौ या दश रसों की निरूपणा की। किन्तु रीतिकालीन जिन आचार्यों का अध्ययन पीछे किया गया है, उनमें से अधिकांश ने ध्वनि-मुक्त रस का ही निरूपण किया है। हमारे अधीन आचार्यों में केवल चिन्तामणि, कुलपति, सोमनाथ, भिखारीदास और प्रतापसाहि ही ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि में रसों को अन्तर्भुक्त कर दिखाया है। इन्होंने भी नायिका-भेदों के विस्तृत उल्लेख तथा शृंगार के रसराजत्व की प्रतिष्ठा के द्वारा व्यंजना से ही यह प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि रसवाद एक "सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र" सिद्धान्त है। फलत. रीतिकालीन आचार्यों के हाथों रसवाद या शृंगारवाद को पुनः वही प्रतिष्ठा प्राप्त हुई जो भरत और भोजराज के कृतित्वों द्वारा प्राप्त थी।

यह ठीक है कि कविशिक्षक होने के कारण तथा परिस्थितियों की प्रतिकूलता के कारण रसस्वरूप, रसोपकरण और रसभेद में मौलिकता प्रदर्शित करने का इन्हें न तो अवकाश था और न वैसी आवश्यकता ही रह गई थी; तथापि अपने अध्ययन-क्रम में इन २३ आचार्यों के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में मैंने जो यत्किंचित् मौलिकता उपलब्ध की है उन्हें अध्ययन खंडानुसार प्रस्तुत कर देना आवश्य समझता

हूं। रस सामग्री के इस सूक्ष्म वर्गीकरण का भले ही कोई व्यापक महत्त्व न हो किन्तु है यह उनकी मौलिक सूझ की उपज ही। क्रमानुसार यह तथाकथित मौलिक अंश प्रस्तुत है:—

(क) रसस्वरूप और अभिव्यक्ति

इस क्षेत्र में केशव की देन निःसन्दिग्ध है। केशव ने शृंगार को रसों का नायक माना और अन्य सभी रसों का इसमें अन्तर्निवेश किया। साथ ही सभी शृंगार-पर्यवसायी रसों के आश्रयालम्बन और विषयालम्बन के रूप में हरि और राधा को स्वीकार किया। इन दोनों मान्यताओं का पृथक्-पृथक् स्रोत तो हमें संस्कृत काव्य-शास्त्र के भोजदेव और रूपगोस्वामी के ग्रन्थों में उपलब्ध हो जाता है किन्तु उक्त दोनों मान्यताओं को सम्मिलित रूप में प्रस्तुत करने का प्रथम श्रेय केशवदास को ही मिलना चाहिए। हम पीछे विवेचन कर चुके हैं कि भोज ने शृंगार-प्रकाश में शृगार को ही मूल रस माना था और हास्यादि शेष रसों को इसी में अन्तर्भुक्त बताया। इसी प्रकार गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्य रूप-गोस्वामी के हरिभक्त-रसामृतसिन्धु और उज्ज्वलनीलमणि नामक ग्रन्थों में भक्तिरस के अन्तर्गत सभी रस समाविष्ट हैं और उस भक्ति रस के पांच मुख्यरस और सात गौण रस नामक प्रभेद हैं। इन द्वादशविध भक्तिरसों के आलम्बन और आश्रय समानरूप से राधा और कृष्ण ही हैं—उदाहरणों को देखकर भी यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है। फिर भी भोज और रूपगोस्वामी की मान्यताओं की समन्विति अभी तक नहीं हुई थी। केशवदास ने पहली बार रससिद्धान्त के क्षेत्र में उक्त दो स्रोतों से दो मान्यताओं को गृहीत कर समन्वय कर डाला। अतएव इसे हम निःसंकोच रूप से केशव की मौलिकता का निदर्शन मानने को प्रस्तुत हैं। इसी प्रकार देव के काव्य-रसायन में और दास के काव्यनिर्णय में रस-परिपाक का स्पष्टीकरण रूपक के माध्यम से उपलब्ध होता है। इन दोनों का मूलाधार भी हमें ढूंढने पर अभिनवगुप्त की अभिनवभारती में प्राप्त हो जाता है। किन्तु जितने अंगों और उपांगों को लेकर देव और दास ने रसनिष्पत्ति का सांग रूपक बांधा है, वैसा अभिनवगुप्त से संभव न हो सका था। अतएव उक्त दोनों आचार्यों के इस अंश को भी हम मौलिक मानने के लिए बाध्य हैं।

(ख) विभाव : नायक-नायिकाभेद

रीतिकालीन आचार्यों के मध्य कतिपय आचार्यों ने नायिकाओं और उनकी सखियों के नूतन वर्गीकरण में अपनी मौलिकता प्रदर्शित की है। यद्यपि उनके ये वर्गीकरण न तो अधिक उपादेय हैं और न अधिक युक्तिसंगत ही, तथापि उन्होंने प्राचीन स्रोतों का आधार लिए बिना भी कुछ नवीन उद्भावनाएं कीं और कुछ नया कहने का प्रयास किया—इस दृष्टि से उनका अपना महत्त्व है। तोष ने शृङ्गार-

सम्बन्धी उद्दीपन के अन्तर्गत भानुमिश्र की तरह सखियों और दूतियों का निरूपण किया है। इस प्रसंग में आपने दूतियों के कई मौलिक भेद प्रतिपादित किए हैं– पड़ोसिनि, जनी, धाइ, चितेरी, रंगरेजिन, जड़ियारिन, चूरिहारिन, कोइरिन, नटिन, तमोलिन, धोबिन हलुवाइन, नाइनि आदि। रस सिद्धान्त की दृष्टि से भले ही इनका कोई महत्त्व न हो, किन्तु लोक-जीवन के आधार पर ही इन भेदों की तोष ने गृहीत किया है। इसी प्रकार देव के रसविलास में देश, प्रकृति, सत्त्व, नगर-ग्राम आदि के आधार पर नायिकाओं के कई नए वर्गों की उद्भावना की गई है। देश भेद के आधार पर मध्यदेशवधू, मगधदेशवधू कौशलवधू, उत्कलवधू आदि २६ भेद प्रतिपादित हुए हैं। प्रकृति के आधार पर कफप्रकृति, वातप्रकृति, पित्तप्रकृति और सत्त्व के आधार पर देवसत्व, मानुषसत्व, गन्धर्वसत्व, यक्षसत्व–यहां तक कि खरसत्व कपिसत्व, काकसत्व आदि अनेक भेद किए गए हैं। नगर और ग्राम के आधार पर नागरी और ग्राम्या तथा नागरी के अवान्तर्भेदों में जौहरनि, पटवनि, सुनारी, गन्धिनी, तेलिनि आदि और ग्राम्या के अन्तर्गत पुरवासिनी, ग्रामिनी और बनवासिनी आदि भेद बताए गए हैं। इन सारे नायिका भेदों का भी मूलस्रोत अनुपलब्ध है। अतएव इन्हें देव की मौलिक उद्भावना का ही परिचायक मानना चाहिए। ये भेद उपहासास्पद-से तो लगते हैं, पर नायिका-भेद के इतिहास में एक नवीन अध्याय अवश्य जोड़ देते हैं। कुमारमणि द्वारा प्रस्तुत शठ नायक के प्रच्छन्न और प्रकाश नामक दो भेद भी सर्वथा मौलिक हैं। पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी और हस्तिनी नामक चार नायिका-भेद संस्कृत के कामशास्त्रीय ग्रन्थों में तो प्रतिपादित हुए थे पर काव्य-शास्त्रीय ग्रंथों में प्रायः इनका निवेश नहीं हुआ था। रीतिकालीन आचार्य सोमनाथ ने पहली बार इनका समावेश अपने रसपीयूषनिधि नामक ग्रंथ में किया और तदन्तर इन भेदों का निरूपण काव्यशास्त्र में प्रचलित हो गया। अतएव इसे हम सोमनाथ की मौलिक उद्भावना तो न मानेंगे पर काव्यशास्त्र को उनका यह मौलिक योगदान अवश्य स्वीकार किया जा सकता है।

(ग) अनुभाव और संचारी भाव

केशव ने अपनी रसिकप्रिया में परम्परागत ३३ संचारी भावों के अतिरिक्त दो नवीन भेदों की उद्भावना की है— विवाद और आधि। इस अध्याय के तृतीय खंड में केशव के प्रसंग में हम इनका खंडन कर चुके हैं पर इन्हें केशव की नवोद्भावना प्रसूत मानने में आपत्ति नहीं की जा सकती है। केशव ने संचारी भावों के कई नाम भी परवर्तित कर डाले हैं—यथा औत्सुक्य, सुप्त, विबोध वितर्क, आमर्ष और असूया के स्थान में क्रमशः उत्कंठा, स्वप्न, प्रबोध, तर्क, कोह और निन्दा। परम्परा-लीक से हटकर चलने के कारण यह भी एक प्रकार की नवीनता ही मानी जायगी। मतिराम, पद्माकर और बेनीप्रवीन द्वारा प्रस्तुत "जृभं" नामक नवम सात्त्विक भाव

को तथा देव द्वारा प्रस्तुत "छल" नामक संचारी भाव को अभी हाल तक कई आलोचक उनकी नवोद्भावना का परिणाम मानते रहे हैं, पर इनका आधार-स्रोत भानुदत्त की रसतरंगिणी होने के कारण इन्हें मौलिक नहीं माना जा सकता है। हां इतना अवश्य कि ग्वालकवि ने सात्त्विकभावों के नूतन वर्गीकरण में अपनी मौलिकता प्रदर्शित की है। आठ प्रकार के परम्परागत सात्त्विक भावों को पांच ज्ञानेन्द्रिय-चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वचा—के आधार पर आपने वर्गीकृत कर इनके चालीस भेद कर लिए हैं (८+५ = ४०) ये भेद भी अनुपादेय एवं उपहासास्पद तो हैं पर इनकी मौलिकता निःसन्दिग्ध है। रसिकविहारी ने प्राचीन अवहित्था नामक संचारी भाव के स्थान में "आकृतिगोपन" शब्द का प्रयोग किया है। लक्षण में कोई मौलिकता तो नहीं है किन्तु नामकरण में मौलिकता अवश्य है।

(घ) स्थायी भाव

केशव, तोष, देव और जनराज ने बीभत्स रस या स्थायी भाव जुगुप्सा के स्थान में निन्दा को माना है। विशेषतः देव ने घिन और निन्दा—इन दोनों शब्दों को बीभत्स के स्थायी भाव के लिए उपयुक्त समझा है। आपाततः यह भले ही मौलिक प्रतीत हो—जैसा कई आधुनिक आलोचकों को प्रतीत हुआ भी है—पर इसका भी मूलाधार भानुमिश्र ने जुगुप्सा के दो रूपों की कल्पना की है—स्थूल और सूक्ष्म या शारीरिक और मानसिक। उन्हीं की नकल उपर्युक्त आचार्यों ने की है। कुमारमणि ने स्थायी भाव का रस के साथ सम्बन्ध प्रतिपादित करने के लिए माला और सूत्र का एक सर्वथा नवीन उदाहरण प्रस्तुत किया है। स्थायी भाव को इन्होंने सूत्र-स्थानीय माना है जो रस रूप पुष्पावली के आदि, मध्य और अन्त में समान रूप से अनुस्यूत रहता है।

(ङ) रस-भेद

इस क्षेत्र में रीतिकालीन आचार्यों का महत्वपूर्ण योगदान है। केशव, तोष, और रसलीन ने नौ रसों में प्रत्येक के सामान्यतः दो भेद माने हैं—प्रच्छन्न और प्रकाश। हमें अभी तक संस्कृत काव्य के किसी भी ग्रन्थ में ये भेद उपलब्ध नहीं हुए हैं। रीतिकालीन लौकिक-अलौकिक, स्वनिष्ठ-परनिष्ठ, अभिमुख-विमुख, परमुख आदि रसभेदों का स्रोत तो भानुदत्त की रसतरंगिणी है किन्तु प्रच्छन्न-प्रकाश नामक रसभेद निश्चय ही इनकी मौलिक उद्भावना के परिणाम हैं। तोष और रसलीन ने भूत, भविष्य (भविष्यत्) और वर्तमान नामक मौलिक रसभेद भी प्रतिपादित किए हैं। इनके अतिरिक्त तोष ने श्रृंगार रस के संयोग और वियोग नामक परम्परागत भेदों के अलावे सामान्य और मिश्रित नामक दो नवीन भेदों की भी उद्भावना की है। संयोग के भी इन्होंने स्थान और परिस्थिति के अनुसार कई नवीन भेद गढ़

लिए हैं—धाई के घर मिलन, सूने सदन को मिलन, जलविहार को मिलन आदि। यद्यपि संस्कृत के आचार्यों ने ऐसे भेदों की समस्या उठा कर भी इन्हें स्थान नहीं दिया था पर तोष ने इन्हें काव्य शास्त्र में स्थान देकर अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। रस भेदों की दिशा में देव ने भी कुछ नवीनता प्रदर्शित की है। करुण रस के आपने पहली बार पांच भेद किए—करुण, अतिकरुण, महाकरुण लघुकरण और सुखकरुण। इनमें चार भेद तो करुणा की मात्रा के आधार पर किए गए हैं और अन्तिम सुखकरुण में सुख और दुःख के सम्मिश्रण को प्रतिपादित किया गया है। देव ने शांत रस के भी दो नवीन भेदों की उद्भावना की—भक्तिमूलक शान्त और शुद्धशांत। भक्तिमूलक शांत को भी भक्ति-भेद के आधार पर वर्गीकृत कर प्रेमभक्ति, शुद्धभक्ति और शुद्ध प्रेम नामक तीन भेदों को स्वीकार किया गया है। शुद्ध शांत को इन्होंने वैराग्यमूलक माना है। यद्यपि इस वर्गीकरण का कोई विशेष महत्त्व नहीं है, क्योंकि भक्ति रस और शान्त रस दो पृथक् परम्परागत रस हैं। एक का स्थायी भाव देव-भक्ति और दूसरे का निर्वेद (वैराग्य)। इन दोनों को साथ मिलाकर ही देव ने शांत रस को विभाजित किया है। फिर भी प्रतिपादन का यह ढंग अभी तक अछूता था, अतएव इसे हम देव के रस-निरूपण का मौलिक अंश मान लेते हैं।

भिखारी दास के काव्य निर्णय में भी श्रृंगार रस के नवीन वर्गीकरण उपलब्ध होते हैं। आपने परम्परागत संयोग और वियोग नामक द्विविध श्रृङ्गार को सम और मिश्रित नामक दो नूतन भेदों में बांट दिया है। संयोग श्रृंगार के दो अन्य भेद भी बताए हैं—सामान्य श्रृंगार और संयोग श्रृंगार। संयोग श्रृंगार आपने विहार-वर्णन को कहा है। इस विहारात्मक संयोग श्रृंगार का भी नायक-जन्य श्रृङ्गार और नायिका-जन्य श्रृङ्गार नामक दो भेदों में विभक्त कर लिया गया है। करुण विप्रलम्भ के स्वरूप में भी दास ने नवीनता प्रदर्शित की है। जहां संस्कृत काव्यशास्त्र में नायक और नायिका में से किसी एक के स्वर्ग-प्रयाण और उसके लौट आने की संभावना से उत्पन्न खेद को करुण विप्रलम्भ स्वीकार किया गया है, वहां दास ने निराशाजन्य ग्लानि से उद्भूत मरणेच्छा में करुण-विप्रलम्भ की स्थिति प्रतिपादित की है। रसलीन ने पहली बार रसों की उत्पत्ति के तीन कारण माने हैं—दर्शन श्रवण और स्मरण। आपने कहा है—

सो रस उपजत तीन विधि कविजन कहत बखान।
कहुं दरसन, कहुं श्रवन कहुं सुमिरन तें परमान॥

—रसप्रबोध। ३८

मेरी धारणा है कि परवर्ती काल में शुक्ल जी (रा० च० शुक्ल) के "रसात्मक बोध के विविध रूप" शीर्षक निबन्ध में प्रतिपादित प्रत्यक्ष रूपविधान,

स्मृति रूपविधान और कल्पित रूपविधान नामक रसानुभूति की त्रिविध कोटियों के ऊपर रसलीन की मान्यता का स्पष्ट प्रभाव है। रूपसाहि ने वियोग शृंगार के न तो मम्मटानुसार पांच भेद किए और न विश्वनाथानुसार चार भेद, प्रत्युत स्वेच्छा से आठ भेद कर लिए--प्रिय का देशान्तरगमन, गुरुशासन, अभिलाष, शाप, ईर्ष्या, दैवयोग, समय और उत्पात से उत्पन्न वियोग। इसी प्रकार उजियारे ने भी वियोग शृंगार के सात भेद प्रस्तुत किए हैं--गुरुनिदेश, अभिलाष, मान, शाप, प्रवास, समय और शत्रु से उत्पन्न। वियोग के उपर्युक्त आठ या सात भेदों में कुछ तो प्राचीन हैं और कुछ रूपसाहि तथा उजियारे की उद्भावना की उपज। शिवनाथ ने अनुकुल और प्रतिकूल रस के मिलन को "दुसंधी रस" के नाम से अभिहित किया है। यद्यपि इसे एक रस-दोष ही मानना चाहिए था, पर आपने इसे रस-भेद के रूप में ही प्रतिपादित किया है। फलतः त्रुटिपूर्ण होते हुए भी यह शिवनाथ की नवीनता का द्योतक अवश्य है।

(च) रस-दोष

रस-दोषों में केशव, देव और जनराज ने परम्परा की अपेक्षा नवीनता लाने का प्रयास किया है। केशवोक्त पांच रसदोष सर्वथा नवीन हैं--प्रत्यनीक, नीरस, विरस, दुःसंधान और पात्रादुष्ट। यों लक्षणों की दृष्टि से इनका अन्तर्भाव प्राचीन प्रतिकूलविभावादिग्रह, रसाभास और अपुष्टार्थ (अर्थदोष) में हो जाता है—इसका प्रतिपादन हम इस अध्याय के छठे खंड में ही कर चुके हैं। तथापि केवल नामों की दृष्टि से भी इनकी मौलिकता अक्षुण्ण है। देव ने भी शब्दरसायन में जिन रस-दोषों का उल्लेख एवं निरूपण किया है, प्राचीन काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों में कहीं भी उनकी चर्चा उपलब्ध नहीं। देव—प्रतिपादित रस-दोषों के नाम हैं—सरस, नीरस, सम्मुख, विमुख, स्वनिष्ठ, परनिष्ठ, भीत, अभीत, उदास और अधिक। इनमें से कतिपय दोषों का अन्तर्भाव प्राचीन दोषों में हो जाता है और कुछ—एक तो दोष है ही नहीं। यथास्थान पीछे हम इनका विवेचन कर चुके हैं। तथापि इनकी नवीनता में संदेह नहीं किया जा सकता है। जनराज द्वारा प्रस्तुत रसदोषों की तालिका में "विभाव-अनुभावअकेलो" और "रसविरुद्ध"- इन दो दोषों का समावेश सर्वथा नवीन प्रयास है। रसविरुद्ध का स्रोत तो प्राचीन है भी, चाहे जिस रूप में हो, किन्तु "विभाव-अनुभाव अकेलो" की रस-दोषता का उल्लेख सर्वथा मौलिक है। प्राचीन प्रकृति-विपर्यय नामक रसदोष का स्वरूप भी जनराज ने परवर्तित कर दिया है। जहां संस्कृत काव्य-शास्त्र में दिव्यादिव्यादि प्रकृतियों के विपर्यस्त वर्णन में प्रकृति-विपर्यय दोष माना गया है, वहां जनराज ने प्राकृतिक विधानों की विपरीत घटनाओं के उल्लेख में इस दोष का अस्तित्व स्वीकार किया है। अतएव जनराज के "प्रकृति-विपर्यय" रसदोष के स्वरूप में निःसन्देह नवीनता है।

उदाहरणों की दृष्टि से यदि विचार करें तो रीतिकालीन काव्य-शास्त्र का रस-दोष प्रकरण ही नहीं, रसोपकरणों और रसभेदों से सम्बन्धित अन्य प्रकरण भी सर्वथा मौलिक और नवीन प्रतीत होते हैं। रीतिकालीन आचार्यों में कतिपय ईदृश आचार्य भी हैं जिन्होंने संस्कृत के सिद्धान्त ग्रन्थों के उदाहरणों से प्रभाव ग्रहण किया है, पर अधिकांश आचार्य ऐसे ही हैं जिन्होंने स्वरचित, सर्वथा नवीन और मौलिक पद्यों को ही उदाहृत किया।

७

आधुनिक काव्य-शास्त्र में रससिद्धान्त की स्थिति

परवर्ती आचार्य : १९५० वि० सं० के अनन्तर

उपक्रम

सप्तम अध्याय वस्तुतः षष्ठ अध्याय का ही उत्तरार्ध है। फिर भी काल-सीमा की सुदीर्घता और चिन्तनधारा के प्रवृत्ति भेद को ध्यान में रख कर ही इसे एक स्वतन्त्र अध्याय रूप का दिया गया है। इस काल-खण्ड में आकर काव्य-शास्त्रियों का ध्यान भारतीय काव्यशास्त्र से हटकर पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति की ओर भी जाने लगा है। देशी और विदेशी चिन्तनाओं के तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा एक संश्लिष्ट एवं सन्तुलित विवेचन प्रस्तुत करना ही इस युग के समीक्षकों का उद्देश्य रहा है। इनके अतिरिक्त, दोनों युगों के समीक्षकों के माध्यम में भी दो दृष्टियों से अंतर आ गया है। प्रथम तो हिन्दी काव्यशास्त्र के पूर्ववर्ती आचार्यों के विवेचन का माध्यम पद्य था और इन परवर्ती आचार्यों के विवेचन का माध्यम उसकी जगह गद्य बन गया। दूसरा अन्तर भाषामूलक भी दृष्टिगत होता है। रीतिकालीन शास्त्रीय प्रतिपादन की भाषा ब्रजभाषा थी और परवर्ती युग की काव्यशास्त्रीय विवेचना की भाषा खड़ी बोली बन गई। काव्य-रचना की पद्धति और काव्य के वर्ण्य विषयों में भी अन्तर दृष्टिगोचर होने लगा। भारतेन्दुयुग के कवियों ने एक ओर रीतिकालीन परम्परा का अनुसरण भी अपने काव्य में किया और दूसरी ओर देशप्रेम, समाजसुधार, अतीत-गौरव, भारतदुर्दशा, हिन्दी-प्रचार और प्रकृति वर्णन (आलम्बनात्मक रूप में) जैसे युगानुकूल विषयों का समावेश भी वे उसमें करने लगे। परिणामतः काव्य-नियामक समीक्षकों के सामने काव्य का परिवर्तित स्वर मुखरित होने लगा। भारतेन्दुयुग से ही पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन का आरम्भ हो गया था। उनमें नये ढंग के कुछ लेख छपने लगे जिनमें काव्य का विवेचन साहित्य और जीवन के पारस्परिक सम्बन्ध की पृष्ठभूमि में होने लगा। काव्यशास्त्रीय "पुराने विषयों पर भी रूढ़िगत प्रणाली पर विचार

न करके नए और समयोपयोगी ढंग से विचार किया गया, काव्यादर्शों की ओर बदलती परिस्थिति और विचारों के अनुसार दृष्टिपात किया गया।"[1] इन्हीं कारणों के फलस्वरूप हिन्दी काव्यशास्त्र के इतिहास का परवर्ती खण्ड विचार, अभिव्यक्ति, माध्यम, चिन्तनप्रणाली आदि की दृष्टियों से रीतिकालीन पूर्ववर्ती खण्ड से भिन्न प्रतीत होता है। मेरे कहने का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि उत्तरवर्ती युग के समीक्षकों ने रीतिकालीन चिन्ताओं से अपना सम्बन्ध सर्वथा विच्छिन्न कर एक अभिनव काव्यशास्त्र को जन्म दिया, प्रत्युत मैं यह निर्दिष्ट करना चाहता हूँ कि अनेक बाह्य प्रभावों और कारणों से प्रभावित होकर इस युग के काव्यशास्त्रियों ने अपनी शास्त्रीय मान्यताओं को युग और जीवन के विराट् फलक पर प्रतिष्ठित किया। तथापि इस युग में भी कई आचार्य ऐसे हुए जिन्होंने रीतिकालीन परम्परा का ही सर्वांशतः अनुसरण किया। उदाहरणार्थ, जगन्नाथ प्रसाद 'भानु', बिहारीलाल भट्ट प्रभृति आचार्यों को गृहीत किया जा सकता है।

विषय-विभाजन

षष्ठ अध्याय की भाँति इस अध्याय में भी हिन्दी के आधुनिक रसग्रन्थों के आधार पर रस-रूप, रसोपकरण, साधारणीकरण, रसभेद आदि विषयों का अध्ययन वांछित है। यथा-प्रस्तावित दश समीक्षकों की मान्यताओं को क्रमशः प्रस्तुत करने के अनन्तर अन्त में उनकी उपलब्धि और अभाव के विवेचन की योजना भी बनाई गई है। अध्ययन की सुविधा के लिए इस अध्याय के अनुसन्धेय विषयों को भी छः खण्डों में विभक्त कर दिया गया है— (१) रस का स्वरूप (२) रस के उपकरण (विभाव, अनुभाव, संचारीभाव, स्थायी भाव) (३) साधारणीकरण (४) रसों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन (५) रस के भेदोपभेद (६) उपलब्धि एवं अभाव का अन्वेषण। इसी खण्डानुक्रम में इस अध्याय के अध्येतव्य विषय प्रस्तुत हैं।

१—रस का स्वरूप

जगन्नाथप्रसाद 'भानु'

भानु जी के 'रसरत्नाकर' का प्रथम संस्करण जगन्नाथ प्रेस, बिलासपुर से सन् १९१९ ई० में प्रकाशित हुआ है और इसी संस्करण का मैंने अवलोकन भी किया है। इसके १०९ पृष्ठों और ९ भागों में रसों का साँगोपांग उल्लेख एवं विवेचन है। रीतिकालीन परम्परा के प्रभाव के साथ अर्वाचीनता का पुट इसमें विद्यमान है। इसमें विषय-बोध के लिए गद्य और पद्य दोनों का सहारा लिया गया है। गद्य खड़ी बोली में है और पद्य ब्रजभाषा में। स्वरचित ब्रजभाषा पद्य में आपने लक्षण और उदाहरण दिये हैं तथा कहीं-कहीं खड़ी बोली गद्य में भी आपने लक्षण प्रस्तुत किये हैं। विवेचन,

---

१. भारतीय काव्यशास्त्र का इतिहास। पृ० १३६।

भाष्य एवं पूर्ववर्ती आचार्यों की मान्यताओं के उल्लेख में भी आपने खड़ी बोली गद्य का आश्रय ग्रहण किया है। ग्रन्थ के आरम्भ में रस-सम्बन्धी सभी पारिभाषिक शब्दों के अंग्रेजी रूपान्तर भी दे दिये गये हैं। इन्हीं कारणों के परिणामस्वरूप भानु जी रीतियुगीन आचार्यों की श्रेणी से भिन्न प्रतीत होते हैं। तथापि जितनी भिन्नता शैली में है, उतनी विचारों में नहीं।

भानु जी की दृष्टि में काव्य की आत्मा रस है और काव्य में इसके निवेश से लोकोत्तर आनन्द उत्पन्न हुआ करता है :—

यह (अलौकिक) आनन्द प्राय: कवि के काव्य-रचना की कुशलता तथा अनूठी उक्ति को जानकर उत्पन्न हुआ करता है। रस काव्य की आत्मा है, कहा है "वाक्यं रसात्मकं काव्यं।"[1]

रसाभिव्यक्ति के सम्बन्ध में आपकी धारणा परम्परानुमोदित है। विभाव, अनुभाव और संचारीभाव की सहायता से स्थायी भाव ही परिपक्वावस्थापन्न होने पर रसरूपता को प्राप्त हो जाता है। लौकिक दृष्टि से इन्होंने भी मम्मट और विश्वनाथ की तरह विभाव को कारण, अनुभाव को कार्य तथा सञ्चारी भाव को सहायक कारण माना है। स्थायी भाव और रस के पारस्परिक सम्बन्ध को दध्यादिन्याय किम्बा, दीप-घट-न्याय के सहारे स्पष्ट किये बिना ही भानु जी ने स्थायी भाव में रस की स्थिति स्वीकार कर ली है। गद्य का माध्यम अपना कर भी आप इसे स्पष्ट नहीं कर सके हैं। तत्वत: वासनात्मक रत्यादि तो स्थायी भाव हैं पर विभावादियों की सहायता से चर्वणावस्थापन्न होने पर वे ही रस कहलाते है—इसका अर्थ कदापि यह नहीं गृहीत किया जा सकता है कि स्थायी भाव में रस की स्थिति है। इस प्रसंग में भानु जी का उल्लेख द्रष्टव्य है :—

"रस का प्रादुर्भाव (विकास) तभी होता है, जब विभाव, अनुभाव और संचारी भाव की सहायता से स्थायी भाव परिपक्व दशा पर पहुँचता है—

विभावैरनुभावेश्च सात्विके व्यभिचारिभि: ।
आनीयमान: स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रस: स्मृत: ।

इनमें विभाव (कारण) अनुभाव (कार्य) और संचारी भाव (सहायक) हैं और जिसमें रस की स्थिति रहती है वह स्थायी भाव है।"[2]

जो हो, इतना नि:सन्दिग्ध कि भानु जी के अनुसार— (१) रस काव्य की आत्मा है (२) वह लोकोत्तर आनन्द स्वरूप है तथा ३) विभावादि की सहायता से स्थायी भाव ही रसरूपत्व को प्राप्त हो जाता है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

हरिऔध जी के 'रसकलस' में रस-सामग्री के साथ रस-निरूपण किया गया

१. रसरत्नाकर। पृ० २। २. वही। पृ० २।

है । इस ग्रन्थ की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें लक्षण तो खड़ी बोली गद्य में दिये गये हैं पर उदाहरण स्वरचित ब्रजभाषा पद्य में । साथ ही दो सौ सोलह पृष्ठों की एक वृहत् गद्यमय भूमिका ग्रन्थ के साथ संलग्न कर दी गई है जिसमें क्रमश: रस-निर्देश, रससाधन, उत्पत्ति, इतिहास, रसास्वादन के प्रकार और उसकी आनन्दानुभूति, रस और ब्रह्मानन्द, विभावादिक और रस, विरोधी रस, रसदोष, रसाभास, शृङ्गार और वात्सल्य रस आदि विषयों पर प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर विचार किया गया है । यत्र-तत्र निजी मौलिक विचारों का भी प्रतिपादन किया गया है । अतएव 'रसकलस' रीति परम्परा की अग्रिम कड़ी होकर भी आधुनिक एवं नवीन है । उदाहरणों में, विशेषत: शृङ्गार रस के प्रसंग में, अश्लीलता से बचने का प्रयास है—अतएव इस दृष्टि से भी रसकलस रीतिपरम्परा से भिन्नता रखता है ।

रसस्वरूप— मूल 'रसकलस' में हरिऔध जी ने रस का रूप निर्दिष्ट करते हुए कहा है कि स्थायी भाव जब विभाव, अनुभाव और संचारो भावों के सहित चमत्कृत होकर मनुष्यों के हृदय में अलौकिक और विलक्षण आनन्द का स्वरूपधारण करता है, तब वह रस कहलाता है ।[1] विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावों को आपने क्रमश: कारण, कार्य और सहकारी कारण माना है तथा इन्हीं की सहायता से व्यक्त स्थायी-भाव को रस ।[2] इस प्रसङ्ग में आपने भरत, मम्मट, विश्वनाथ और जगन्नाथ का अनुसरण किया है तथा बार-बार उन्हीं के ग्रन्थों से उद्धरणों को लेकर विशद व्याख्या की है । रसप्रतीति के सम्बन्ध में आपकी धारणा मम्मट और विश्वनाथ सम्मत है । पञ्चामृत (जिसमें दूध-दही, शहद, घी आदि पाँच उपकरण रहते हैं) या प्रपाणक रस के विलक्षण आस्वाद की तरह रस-प्रतीति समूहालम्बनात्मक होती है अर्थात् उस विलक्षणरसास्वाद में विभाव, अनुभाव, आदि सभी तत्वों का सम्मिलित आस्वाद होता है, एक-एक उपादान के आस्वाद को पृथक् नहीं पहचाना जा सकता है ।[3] रस की आनन्दरूपता और ब्रह्मास्वाद-सहोदरता के सम्बन्ध में भी आपने समग्रत: संस्कृत काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का ही अनुसरण किया है तथा रसकलस की भूमिका में दो उपशीर्षकों में इस विषय का विशद विवेचन किया है । करुण, भयानक, बीभत्स आदि रसों को भी हरिऔध जी ने आनन्दमय स्वीकार किया है । इस प्रसंग में विश्वनाथ के उद्धरणों को सामने रखकर आपने उनका भलीभाँति स्पष्टीकरण किया है तथा अन्त में निष्कर्ष के रूप में लिखा है :—

"अब तक जो मैंने निवेदन किया है, आशा है, उससे यह अवगत हो गया होगा कि किस प्रकार-रस से भी सुख की प्राप्ति होती है, और कैसे भयानक रस और बीभत्स रस में भी हृदय में आनन्द का संचार होता है ।"[4]

---

१. रसकलस । रसनिरूपण—पृ० २४५ । २. वही । भूमिका । पृ० ९ ।
३. वही । भूमिका । पृ० १४—१५ । ४. वही । भूमिका । पृ० ३१ ।

हरिऔध जी ने रसानुभूति की अनेक कोटियाँ स्वीकार की हैं। सर्वोच्च कोटि के आस्वाद को ही आपने ब्रह्मास्वाद माना है। रस की निम्नकोटि को सर्वसाधारण का उपभोग्य कहा है।[1]

कन्हैयालाल पोद्दार

पोद्दार जी ने दो भागों में काव्यकल्पद्रुम नामक ग्रन्थ रचा है। इसका प्रथम भाग तो "रसमंजरी" कहलाता है और द्वितीय भाग "अलंकारमंजरी"। प्रस्तुत प्रसंग में द्वितीय भाग विवेच्य नहीं है, केवल प्रथम भाग–रसमंजरी ही हमारे विवेचन का विषय है। इसमें काव्यप्रकाश के आधार पर काव्यलक्षण, काव्यभेद, शब्दशक्ति, ध्वनि, रस, गुणीभूतव्यंग्य, गुण, दोष आदि विविध काव्यांगों का निरूपण है। बीच-बीच में साहित्यदर्पण, दशरूपक आदि ग्रन्थों का सहारा भी लिया गया है। लक्षण, लक्षणों की व्याख्या, अन्विति और विवेचन आदि खड़ी बोली गद्य में हैं पर उदाहरण ब्रजभाषा पद्य में ही। उदाहरण स्वरचित भी हैं और संस्कृत से अनूदित भी। कहीं-कहीं अन्य हिन्दी कवियों की रचनाएँ भी उदाहृत की गई हैं पर उन्हें इनवर्टेड कामा के भीतर रखा गया है। रसमंजरी के प्रारम्भ में २८ पृष्ठों की भूमिका भी संलग्न है। असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के अन्तर्गत रसों का निरूपण किये जाने के कारण डा० भगीरथ मिश्र जी की आपत्ति है कि ग्रन्थ का नाम ध्वनिमंजरी होना चाहिए था।[2] मेरे विचार से इसका प्रथम नाम काव्यकल्पद्रुम ही उपयुक्त है, क्योंकि इसमें अनेक काव्यांगों का निरूपण हुआ है। रस-विचार की प्रधानता के कारण ही स्वयं पोद्दार जी ने "रसमंजरी" कहा था।[3]

रसस्वरूप और अभिव्यक्ति–पोद्दार जी ने मम्मट का अनुसरण करते हुए रस, भाव, रसाभास आदि को असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनि माना है। फलतः आपकी दृष्टि में रस भी ध्वनित होता है और उसकी प्रतीति व्यंजना-वृत्ति के द्वारा होती है। रस-लक्षण में भरतसूत्र और काव्यप्रकाश-मत (४।३७-३८) के संकेतों के साथ आपने कहा है–'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। लोक व्यवहार में रति आदि चित्तवृत्तियों के–मनोविकारों के जो कारण, कार्य और सहकारी कारण होते हैं, वे ही नाटक और काव्य में रति आदि स्थायी भावों के कारण, कार्य और सहकारी कारण न कहे जाकर क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं, और उन विभावादियों द्वारा स्थायी भाव व्यक्त होकर 'रस' कहा जाता है।'[4] स्थायी भावों की रसाभिव्यक्ति के स्पष्टीकरण के

---

१. रसकलस। भूमिका। पृ० ३५।
२. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास। पृ० १९७।
३ रसमंजरी (पाँचवाँ संस्करण)। भूमिका–पृ० १७।
४. रसमंजरी। स्तवक ४, पृ० ११८।

लिए दूध दही की परिणिति और मृत्पात्र की पूर्वविद्यमान गन्ध की जलसेक द्वारा अभिव्यक्ति–को इन्होंने उदाहृत किया है और निष्कर्ष रूप में स्वीकार किया कि रति आदि स्थायी भाव ही रस संज्ञा को प्राप्त हो जाते हैं। रस को पोद्दार जी ने विभावादि-समूहालम्बनात्मक माना है—अर्थात् रसोद्बोध के पूर्व तो विभाव, अनुभाव आदि रसोपकरणों की पृथक्-पृथक् प्रतीति होती है किन्तु आस्वाद के क्षणों में प्रपाणक-रस की तरह अखण्ड-रसरूप में ही इनकी प्रतीति होती है।[1] काव्य-प्रकाश और साहित्यदर्पण की मान्यताओं को आधार बनाकर आपने इस विषय का युक्तियुक्त प्रतिपादन किया है। पोद्दार जी रस को अलौकिक मानते हैं और इसकी अलौकिकता के सम्बन्ध में उठाए गए सारे प्रश्नों का समाधान साहित्यदर्पण के अनुसार कर देते हैं। इनका अन्तिम निर्णय है—'कार्य, ज्ञाप्य, नित्य, अनित्य, भूत, भविष्यत्, वर्तमान, निर्विकल्पक ज्ञान का विषय, सविकल्पक ज्ञान का विषय और परोक्ष-अपरोक्ष आदि जो लौकिक वस्तुओं के गुणागुण और धर्म हैं उन सभी का रस में अभाव है। वस्तुतः रस अनिर्वचनीय, स्वप्रकाश, अखण्ड और दुर्ज्ञेय है। इसीलिए रसास्वाद और ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है। चर्वणा से रस अभिन्न है'।[2]

रसनिष्पत्ति के विभिन्न सिद्धान्तों में अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवादी सिद्धांत आपको मान्य है तथा विभावन व्यापार के प्रभाव से करुणादि रसों को भी आप आनन्द-स्वरूप मानते हैं।

विहारीलाल भट्ट

इन्होंने दो भावों में 'साहित्य-सागर' नामक ग्रन्थ रचा है। इसका प्रकाशन संवत् १९९४ में गंगा-ग्रन्थागार, लखनऊ से पं० लोकनाथ द्विवेदी सिलाकारी के सम्पादन के साथ हुआ है। प्रथम भाव में छः तरंग हैं और द्वितीय में ९ तरंग हैं—कुल मिलाकर पन्द्रह तरंगों में समस्त ग्रन्थ विभाक्त है। ६ से ८ तरंगों तक और १३ वें तरंग में रस-विषयक उल्लेख हुआ है।

रसस्वरूप और अभिव्यक्ति—भट्ट जी ने रस को ध्वनि का भेद माना है। असंलक्ष्य क्रम-व्यंग्यध्वनि के अन्तर्गत भाव-व्यंजित रस का ही निवेश आपने किया है। अतएव इस ध्वनि को रसगत व्यंग्य भी कहा जा सकता है।[3] इस दृष्टि से आपके विचार मम्मट एवं आनन्दवर्द्धन के अनुकूल हैं, विश्वनाथ के नहीं। रसास्वाद हृदय के माध्यम से होता है, अन्य स्थूल इन्द्रियों के द्वारा नहीं। जैसे तिक्त, मधु, कटु आदि षट् रसों का स्वाद रसनेन्द्रियों के द्वारा सम्भव होता है, ठीक उसी तरह

---

१. र० मं०, स्त० ४, पृ० १६०-१६१। २. वही ४, पृ० १७५-१७८, तुलनार्थ साहित्यदर्पण ३।२१-२८, का० प्र०, उ० ४, पृ० ५७। ३. (क) सा० सा० तरंग ५, पृ० १५२, (ख) वही ५, पृ० १५३।

नव रसों का आस्वाद चित्त के द्वारा होता है। रस को भट्ट जी ने ब्रह्मानन्द तुल्य माना है। इस सादृश्य को स्पष्ट करते हुए इन्होंने लिखा है कि ब्रह्म तत्त्वत: निर्गुण है किन्तु लीलावश वह सगुण रूप धारण कर लेता हैं। इसी प्रकार रस भी वस्तुत: आस्वाद-स्वरूप होने के कारण निर्गुण एवं अनिर्वचनीय है तथापि वह भाव, विभाव, अनुभाव आदि उपकरणों से समन्वित होने के कारण सगुण दृष्टिगोचर होता है। इसी सगुण स्वरूप की व्याख्या काव्यशास्त्र के माध्यम से की जाती है. अन्यथा आस्वादभूत उसका निर्गुण रूप तो सर्वथा अव्याख्येय है। इसी दृष्टि से रस ब्रह्मानन्द तुल्य या ब्रह्मास्वाद-सहोदर है।[1] भट्ट जी द्वारा प्रस्तुत 'ब्रह्मानन्दतुल्य' की यह व्याख्या नूतन ही नहीं, तर्कसंगत एवं हृदयग्राही भी है। रस का सगुण रूप (शास्त्रीय रूप) भट्ट जी की दृष्टि में इस प्रकार है—विभाव, अनुभाव, संचारी आदि के द्वारा पूर्ण होने पर स्थायी ही रसरूपता को प्राप्त हो जाता है। स्थायी भाव और रस का मुख्य अन्तर यह है कि विभावादि चार उपकरणों के सम्मिलित होने पर स्थायी भाव रस कहलाता है किन्तु उनके बिना यह मात्र एक भाव है।[2] रस और उसके उपकरण-चतुष्टय का पारस्परिक सम्बन्ध भी भट्ट जी ने अत्यन्त स्पष्टता के साथ प्रतिपादित किया है। स्थायी भाव तो बीज हैं, आलम्बन पृथ्वी है, उद्दीपन जलरूप है, अनुभाव अंकुर है और इन सबों के योग पूर्ण होने पर 'रस' रूप विटप अपना स्वरूप धारण करता है।[3] भट्ट जी के रूपक पर देव का प्रभाव तो है, किन्तु इससे रस का स्वरूप और उसके उपकरणों के साथ सम्बन्ध को समझने में सुविधा हो जाती है। तथापि संचारी भाव के दृष्टिपथ से ओझल होने के कारण रूपक की सांगता में कमी आ गई है। रसनिष्पत्ति में संचारीभाव का भी अपना महत्व है।

रामचन्द्र शुक्ल

शुक्ल जी की रससिद्धान्त सम्बन्धी मान्यताएं 'रसमीमांसा' और चिन्तामणि पहला भाग और दूसरा भाग के निबन्धों में बिखरे पड़े हैं। अतएव इन्हीं सामग्रियों के आधार पर शुक्ल जी के अनुसार रस-स्वरूप और उसकी अभिव्यक्ति का प्रतिपादन नीचे किया जा रहा है। शुक्ल जी के समीक्षा-सिद्धान्तों में रससिद्धांत ही अंगी सिद्धान्त है और अन्य सारे सिद्धान्त अंगभूत हैं, अतएव आपने रस-सिद्धान्त को बड़े ही व्यापक पृष्ठाधार और स्वरूप के साथ प्रस्तुत किया है। इस सिद्धान्त की रीढ़ तो प्राचीन संस्कृत काव्यशास्त्र की ही है, पर इसमें मांस और मज्जा भरकर आपने इसे पूर्ण आकर्षक एवं जीवन्त बना डाला है। कहीं-कहीं प्राचीन मान्यताओं से अलग हट कर भी आपने विवेचन किया है किन्तु अकाट्य तर्कों और सबल विश्लेषणों के द्वारा अपनी बातों को विश्वसनीय एवं प्रामाणिक बना दिया है।

---

१. साहित्यसागर, तरंग ५ पृ० १५३। २. वही तरंग ५, पृ० १६१।
३. वही ५, पृ० १५४-१५५, तुलनार्थ-देव : शब्दरसायन, प्रकाश ३, पृ० २८।

रसस्वरूप और अभिव्यक्ति–शुक्ल जी के अनुसार रस काव्य का आभ्यन्तर या आत्मा है और अलंकार उसके बाह्य स्वरूप हैं।[1] ध्वनि की काव्यात्मकता की स्वीकृति आपने इसलिए नहीं की कि उसके अन्तर्गत अलंकार ध्वनि और वस्तुध्वनि का भी ग्रहण हो जाता है। यदि ध्वनि से तात्पर्य मात्र रसादिध्वनि का हो तो शुक्ल जी को 'काव्यस्यात्मा ध्वनि' मानने में कोई आपत्ति नहीं है।[2] भरत, मम्मट और विश्वनाथ प्रभृति रसवादियों के[3] वे पुराने रसलक्षण शुक्ल जी को मान्य नहीं हैं जिनमें विभाव, अनुभाव, संचारी और स्थायी—सभी रसोपकरणों की समानरूप से उपस्थिति वांछित मानी गई है। इन्होंने दोनों प्रकार के उदाहरण प्रस्तुत कर दिखाए हैं—एक ओर तो लज्जा नामक भाव है जिसमें सभी उपकरणों के प्रस्तुत रहते हुए भी रस निष्पत्ति नहीं हो पाती है।[4] और दूसरी ओर मेघदूत और कुमारसंभव का वह प्रकृति वर्णन है जिसमें मात्र आलम्बन का चित्रण किया गया है, फिर भी पाठकों को उससे पूर्णतः रसानुभूति हो जाती है।[5] ऐसे प्रसंगों में जहां मात्र एक अवयव का (आलम्बन का) उल्लेख रहता है, पाठक या श्रोता अन्य अवयवों का आक्षेप या योजना कर लेता है। अतएव प्राचीन रस-लक्षण में शुक्ल जी को अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष प्रतीत हुए। फलतः उन्होंने अपने ग्रन्थों के भिन्न भिन्न स्थलों में शब्द-भेद से नए रस-लक्षण दिए हैं जिनमें तत्वतः 'हृदयवाद' की एक ही बात कही गई है। वे कतिपय रस-लक्षण इस प्रकार हैं—

(क) हृदय की अनुभूति ही साहित्य में रस और भाव कहलाती हैं।[6]

(ख) जिसप्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की यह मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है।[7]

(ग) लोक हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस-दशा है।[8]

(घ) हृदय के प्रभावित होने का नाम ही रसानुभूति है।[9]

स्पष्ट है कि उपर्युक्त परिभाषाओं में शुक्ल जी ने मानव हृदय-जन्य अनुभूति को रस-रूप में बांधने का प्रयास किया है। शुक्ल जी ने प्राचीन रस (शृंगार, हास्य आदि नौ या दश रस) और भाव (भाव, रसाभास, भावाभास, भावसन्धि, भावोदय, भावशबलता आदि) दोनों को उक्त लक्षणों के अनुसार रस स्वीकार किया है। इन्होंने प्राचीन काव्यशास्त्र में ही रसानुभूति के दो प्रकार ढूंढ़े हैं—(१) जिस भाव की व्यंजना हो उसी भाव में लीन हो जाना, (२) जिस भाव की

---

१. रसमीमांसा, पृ० १०५। २. वही पृ० ३६०। ३. (क) ना० शा० अध्याय ६, पृ० ९२ (ख) काव्य प्रकाश ४।२८ (ग) सा० द० ३।१।

४. र० मी० पृ० २०४। ५. वही पृ० १५५, ६. अ० भा० पृ० ४३।

७. र० मी० पृ० ५। ८. वही, पहला भाग पृ० ३०९।

९. काव्य में रहस्यवाद पृ० ५७।

व्यंजना हो उसमें लीन (तादात्म्यानुभव) तो न होना किन्तु उसकी व्यंजना की स्वाभाविकता और उत्कर्ष का हृदय से समर्थन करना।[1] प्रथम वर्ग में श्रृंगारादि नव रस आते हैं और द्वितीय में भाव, रसाभास, भावाभास आदि। प्रथम वर्ग के रसमय काव्य का आलम्बन लोक-सामान्य की विशेषताओं और धर्मों से मण्डित होने के कारज लोकधर्मी कोटि का होता है। इसके आश्रय के साथ सभी पाठक तादात्म्य स्थापित कर पाते हैं और आलम्बन के प्रति प्रकट भावों की अनुभूति समान रूप से कर देते हैं। वस्तुतः यही परम्परागत रसस्थिति है। द्वितीय वर्ग के भावमय काव्य में पाठक और श्रोता आश्रय के साथ तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाते हैं, क्योंकि ऐसी कविता में रसोपकरण हीन कोटि के होते हैं। फिर भी भावव्यंजना के उत्कर्ष से प्रभावित होकर वे उसका समर्थन करते हैं। यों यह भी रस ही है, किन्तु हीन कोटि का। इसे ही परम्परागत काव्य शास्त्र में भाव, रसाभास, भावाभास आदि शब्दों से अभिहित किया गया है। पर शुक्ल जी ने इस हीन कोटिक रस को भी रस-तुल्य स्वीकार किया है।[2] उदाहरणार्थ, अभिज्ञानशाकुन्तल में शकुन्तला के प्रति दुर्वासा के क्रोध की व्यंजना की गई है पर शकुन्तला का चरित्र-चित्रण क्रोधालम्बन के रूप में नाटककार ने नहीं किया है। शकुन्तला क्रोध भाव के लिए लोकधर्मी आलम्बन नहीं है। अतएव पाठक या दर्शक दुर्वासा के साथ तादात्म्य स्थापित कर रौद्र की अनुभूति नहीं कर पाते हैं। पर आलम्बन की प्रतिकूलता के कारण (हीनकोटिक रससामग्री के कारण) उन्हें रौद्ररसाभास का आस्वाद होगा अथवा शुक्लजी के शब्दों में यों कह सकते हैं—यदि दर्शक विचारशील हुआ तो तो मुनि को क्रोधी समझेगा और यदि उद्वेगशील हुआ तो उनकी क्रूरता देख विरक्ति, जुगुप्सा या क्रोधी का अनुभव करेगा।[3] कहने का तात्पर्य यह कि आलम्बन के प्रति क्रोध का अनुभव न कर आश्रय के प्रति ही वह क्रोध, जुगुप्सा विरक्ति आदि किसी न किसी भाव का अनुभव करेगा। भावानुभूति के कारण यह भी एक प्रकार की रस-दशा ही है और शुक्ल जी के द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त रस-लक्षणों में इसका भी समावेश हो जाता है। यही कारण है कि अपने रस-लक्षण में शुक्ल जी ने रस के साथ भाव शब्द का भी उल्लेख किया है।

रस-दशा को प्राप्त होने अथवा लोक हृदय में हृदय के लीन होने की दशा के कतिपय लक्षण शुक्ल जी ने प्रस्तुत किए हैं :—

(१) भावयोग और ज्ञानयोग का समकक्ष होना,

(२) कवि-वाणी के प्रसाद से संसार के सुख-दुःख, आनन्द-क्लेश आदि का शुद्धस्वार्थयुक्त रूप में अनुभव करना,

---

१. का० र० पृ० ५९। २. र० मी० पृ० २४१। ३. वही पृ० २४०।

(३) किसी आलम्बन का, जिसके प्रति काव्यगत आश्रय का भाव उन्मुक्त हो, सहृदय मात्र के साथ साधारणीकरण होना।

रसानुभूति की प्रक्रिया की उपर्युक्त विशेषताओं को स्वीकृत करने के कारण ही शुक्ल जी ने रस-स्वरूप की दार्शनिक विवृत्ति की आवश्यकता नहीं समझी। काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण प्रभृति सिद्धान्त ग्रन्थों में प्रतिपादित अखण्ड, स्वप्रकाश आनन्दमय, चिन्मय, वेद्यान्तर-स्पर्शशून्य, ब्रह्मास्वाद-सहोदर आदि विशेषण स्वतः शुक्ल जी के रस-लक्षण में समाहित हो गए हैं।

पाश्चात्य सौन्दर्यानुभूति को भी शुक्ल जी ने भारतीय रसानुभूति से अपृथक् माना है। दोनों अनुभूतियों के विवेचन में अत्यधिक समानता है। शुक्ल जी ने सुन्दर रूप, व्यापार और कर्म को देखकर सहृदय की अन्तःसत्ता की तदाकार-परिणति को ही सौन्दर्यानुभूति माना है।[1] मनोयोगपूर्वक देखा जाय तो किसी सुन्दर वस्तु के साथ सहृदय-द्रष्टा की तदाकार-परिणति और उसके हृदय का उसमें लीन होना अथवा प्रभावित होना—इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। पाश्चात्य समीक्षक रिचर्ड्स ने तो शुक्ल जी के उपर्युक्त रसानुभूति के लक्षण की भाँति स्पष्टतः यह भी स्वीकार किया है कि सौंदर्यानुभूति के क्षणों में वैयक्तिक सम्बन्ध की भावना का सर्वथा परिहार हो जाता है।[2] अतएव तत्वतः शुक्ल जी द्वारा प्रतिपादित रसानुभूति में और पाश्चात्य समीक्षकों की सौन्दर्यानुभूति में कोई भेद नहीं है। शुक्ल जी के रस-सिद्धान्त की व्यापकता का ही यह प्रतिफल है।

शुक्ल जी ने रसानुभूति पर एक दूसरे दृष्टिकोण से भी विचार किया है। रस के इस स्वरूप का परम्परागत काव्यशास्त्र की अपेक्षा लोक-जीवन से अधिक घनिष्ट सम्बन्ध है। इन्होंने तीन प्रकार के रूप-विधान माने माने हैं—प्रत्यक्ष रूप विधान, स्मृतिरूप विधान और कल्पित रूपविधान। इन तीनों प्रकार के रूपविधानों में सहृदयों के भावों को जाग्रत करने की शक्ति होती है और भावों के जाग्रत होने पर स्वभावतः रसानुभूति (हृदयलीनता) होती है। प्राचीन काव्यशास्त्र में काव्य या नाटक में वर्णित वस्तुओं के कल्पित रूप विधान के द्वारा जाग्रत भावों की अनुभूति को ही रसानुभूति कहा गया है। वस्तुओं के प्रत्यक्ष रूप विधान द्वारा (दर्शन, श्रवण, घ्राण, स्वाद, स्पर्श आदि के द्वारा) किम्बा स्मरण (विशुद्ध स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और स्मृत्याभास कल्पना) के द्वारा जगे भावों की अनुभूति को रसानुभूति की कोटि का नहीं माना गया है। पर शुक्ल जी ने इन सबों को समान रूप से रसानुभूति की विविध कोटियों के रूप में स्वीकार किया है।[3] शुक्ल जी का यह विवेचन भी उनके रस-स्वरूप की व्यापकता का परिचायक है।

---

१. चिन्तामणि, प० भा०, पृ०। १६५। २. प्रिन्सिपुल्स आफ क्रिटिसिज्म, पृ०। ११।
३. चिन्तामणि, प० भा०। पृ० २४२-२७१।

व्यंजना हो उसमें लीन (तादात्म्यानुभव) तो न होना किन्तु उसकी व्यंजना की स्वाभाविकता और उत्कर्ष का हृदय से समर्थन करना।[1] प्रथम वर्ग में श्रृंगारादि नव रस आते हैं और द्वितीय में भाव, रसाभास, भावाभास आदि। प्रथम वर्ग के रसमय काव्य का आलम्बन लोक-सामान्य की विशेषताओं और धर्मों से मण्डित होने के कारज लोकधर्मी कोटि का होता है। इसके आश्रय के साथ सभी पाठक तादात्म्य स्थापित कर पाते हैं और आलम्बन के प्रति प्रकट भावों की अनुभूति समान रूप से कर देते हैं। वस्तुत: यही परम्परागत रसस्थिति है। द्वितीय वर्ग के भावमय काव्य में पाठक और श्रोता आश्रय के साथ तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाते हैं, क्योंकि ऐसी कविता में रसोपकरण हीन कोटि के होते हैं। फिर भी भावव्यंजना के उत्कर्ष से प्रभावित होकर वे उसका समर्थन करते हैं। यों यह भी रस ही है, किन्तु हीन कोटि का। इसे ही परम्परागत काव्य शास्त्र में भाव, रसाभास, भावाभास आदि शब्दों से अभिहित किया गया है। पर शुक्ल जी ने इस हीन कोटिक रस को भी रस-तुल्य स्वीकार किया है।[2] उदाहरणार्थ, अभिज्ञानशाकुन्तल में शकुन्तला के प्रति दुर्वासा के क्रोध की व्यंजना की गई है पर शकुन्तला का चरित्र-चित्रण क्रोधालम्बन के रूप में नाटककार ने नहीं किया है। शकुन्तला क्रोध भाव के लिए लोकधर्मी आलम्बन नहीं है। अतएव पाठक या दर्शक दुर्वासा के साथ तादात्म्य स्थापित कर रौद्र की अनुभूति नहीं कर पाते हैं। पर आलम्बन की प्रतिकूलता के कारण (हीनकोटिक रससामग्री के कारण) उन्हें रौद्ररसाभास का आस्वाद होगा अथवा शुक्लजी के शब्दों में यों कह सकते हैं—यदि दर्शक विचारशील हुआ तो तो मुनि को क्रोधी समझेगा और यदि उद्वेगशील हुआ तो उनकी क्रूरता देख विरक्ति, जुगुप्सा या क्रोधी का अनुभव करेगा।[3] कहने का तात्पर्य यह कि आलम्बन के प्रति क्रोध का अनुभव न कर आश्रय के प्रति ही वह क्रोध, जुगुप्सा विरक्ति आदि किसी न किसी भाव का अनुभव करेगा। भावानुभूति के कारण यह भी एक प्रकार की रस दशा ही है और शुक्ल जी के द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त रस-लक्षणों में इसका भी समावेश हो जाता है। यही कारण है कि अपने रस-लक्षण में शुक्ल जी ने रस के साथ भाव शब्द का भी उल्लेख किया है।

रस-दशा को प्राप्त होने अथवा लोक हृदय में हृदय के लीन होने की दशा के कतिपय लक्षण शुक्ल जी ने प्रस्तुत किए हैं :—

(१) भावयोग और ज्ञानयोग का समकक्ष होना,

(२) कवि-वाणी के प्रसाद से संसार के सुख-दु:ख, आनन्द-क्लेश आदि का शुद्धस्वार्थयुक्त रूप में अनुभव करना,

---

१. का० र० पृ० ५९। २. र० मी० पृ० २४१। ३. वही पृ० २४०।

(३) किसी आलम्बन का, जिसके प्रति काव्यगत आश्रय का भाव उन्मुक्त हो, सहृदय मात्र के साथ साधारणीकरण होना।

रसानुभूति की प्रक्रिया की उपर्युक्त विशेषताओं को स्वीकृत करने के कारण ही शुक्ल जी ने रस-स्वरूप की दार्शनिक विवृत्ति की आवश्यकता नहीं समझी। काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण प्रभृति सिद्धान्त ग्रन्थों में प्रतिपादित अखण्ड, स्वप्रकाश आनन्दमय, चिन्मय, वेद्यान्तर-स्पर्शशून्य, ब्रह्मास्वाद-सहोदर आदि विशेषण स्वतः शुक्ल जी के रस-लक्षण में समाहित हो गए हैं।

पाश्चात्य सौन्दर्यानुभूति को भी शुक्ल जी ने भारतीय रसानुभूति से अपृथक् माना है। दोनों अनुभूतियों के विवेचन में अत्यधिक समानता है। शुक्ल जी ने सुन्दर रूप, व्यापार और कर्म को देखकर सहृदय की अन्तःसत्ता की तदाकार-परिणति को ही सौन्दर्यानुभूति माना है।[1] मनोयोगपूर्वक देखा जाय तो किसी सुन्दर वस्तु के साथ सहृदय-द्रष्टा की तदाकार-परिणति और उसके हृदय का उसमें लीन होना अथवा प्रभावित होना—इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। पाश्चात्य समीक्षक रिचर्ड्स ने तो शुक्ल जी के उपर्युक्त रसानुभूति के लक्षण की भाँति स्पष्टतः यह भी स्वीकार किया है कि सौंदर्यानुभूति के क्षणों में वैयक्तिक सम्बन्ध की भावना का सर्वथा परिहार हो जाता है।[2] अतएव तत्वतः शुक्ल जी द्वारा प्रतिपादित रसानुभूति में और पाश्चात्य समीक्षकों की सौन्दर्यानुभूति में कोई भेद नहीं है। शुक्ल जी के रस-सिद्धान्त की व्यापकता का ही यह प्रतिफल है।

शुक्ल जी ने रसानुभूति पर एक दूसरे दृष्टिकोण से भी विचार किया है। रस के इस स्वरूप का परम्परागत काव्यशास्त्र की अपेक्षा लोक-जीवन से अधिक घनिष्ट सम्बन्ध है। इन्होंने तीन प्रकार के रूप-विधान माने माने हैं—प्रत्यक्ष रूप विधान, स्मृतिरूप विधान और कल्पित रूपविधान। इन तीनों प्रकार के रूप विधानों में सहृदयों के भावों को जाग्रत करने की शक्ति होती है और भावों के जाग्रत होने पर स्वभावतः रसानुभूति (हृदयलीनता) होती है। प्राचीन काव्यशास्त्र में काव्य या नाटक में वर्णित वस्तुओं के कल्पित रूप विधान के द्वारा जाग्रत भावों की अनुभूति को ही रसानुभूति कहा गया है। वस्तुओं के प्रत्यक्ष रूप विधान द्वारा (दर्शन, श्रवण, घ्राण, स्वाद, स्पर्श आदि के द्वारा) किम्बा स्मरण (विशुद्ध स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और स्मृत्याभास कल्पना) के द्वारा जगे भावों की अनुभूति को रसानुभूति की कोटि का नहीं माना गया है। पर शुक्ल जी ने इन सबों को समान रूप से रसानुभूति की विविध कोटियों के रूप में स्वीकार किया है।[3] शुक्ल जी का यह विवेचन भी उनके रस-स्वरूप की व्यापकता का परिचायक है।

---

१. चिन्तामणि, प० भा०, पृ०। १६५। २. प्रिन्सिपुल्स आफ क्रिटिसिज्म, पृ०। ११।
३. चिन्तामणि, प० भा०। पृ० २४२-२७१।

शुक्ल जी द्वारा प्रतिपादित रस-स्वरूप की एक और विशेषता है। आपने रसानुभूति को अलौकिक, अनिर्वचनीय, लोकोत्तर चमत्कारप्राण, ब्रह्मास्वाद-सहोदर और विलक्षण नहीं माना है। आपकी दृष्टि में रसानुभूति लौकिक है। यही कारण है कि इन्होंने प्रत्यक्ष रूप विधान और स्मृतिरूप विधान के द्वारा जगाएं गए भावों की अनुभूति को भी रसानुभूति की कोटि का स्वीकार कर लिया है। इतना ही नहीं, शुक्ल जी का कथन है कि आरम्भ में ज्ञानेन्द्रियाँ ही रसात्मक तथ्य उपस्थित करती हैं, फिर ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त सामग्री से भावना या कल्पना उसकी योजना करती है। तात्पर्य यह कि ज्ञान प्रसार के भीतर ही भाव-प्रसाद होता है।[1] यदि ज्ञान लौकिक है तो रसानुभूति भी उसी कोटि की है। इतना अवश्य कि रस-दशा में अपनी पृथक् सत्ता की भावना का परिहार हो जाता है अर्थात् काव्य में प्रस्तुत विषय को अपने व्यक्तित्व से सम्बद्ध रूप में हम नहीं देखते, बल्कि निर्विशेष, शुद्ध और मुक्त हृदय द्वारा उसका ग्रहण करते हैं। इसी को पाश्चात्य समीक्षा-पद्धति में अहं का विसर्जन और निःसंगता (Impersonality and detachment) कहते हैं, और इसी को भारतीय काव्य शास्त्र में लोकोत्तरत्व, ब्रह्मानन्द-सहोदरत्व और विभावन व्यापार का अलौकिकत्व कहा गया है। अलौकिकत्व का अभिप्राय इस लोक से सम्बन्ध न रखने वाली कोई स्वर्गीय विभूति नहीं है।[2] फलतः शुक्ल जी की दृष्टि में रसानुभूति की लौकिकता भली भाँति सिद्ध हो जाती है।

समीक्षा :—मैंने आरम्भ में स्थापना की थी कि शुक्ल जी के रस-स्वरूप की रीढ़ परम्परागत है और उसमें मांस-मज्जा भरने का काम आपने किया है। सर्व प्रथम आपने एक मात्र आलम्बन की उपस्थिति में (जैसा प्रकृति वर्णन वाले स्थलों में पाया जाता है) भी अन्य उपकरणों के आक्षेप के आधार पर रसानुभूति की बात कही है। इसका संकेत आपको मम्मट और विश्वनाथ की मान्यताओं में ही उपलब्ध हुआ है।[3] शुक्ल जी ने रसानुभूति की व्याप्ति केवल काव्य और नाटकों तक ही न मान कर लोक-जीवन में भी मानी है। इसी की निदर्शन प्रत्यक्षरूप विधान और स्मृतिरूपविधान के द्वारा निर्धारित रसात्मक कोटियाँ हैं। मम्मट ने लोकगत कारण, कार्य और सहकारी कारण को ही काव्य में विभाव, अनुभाव और संचारी भाव की संज्ञा प्रदान कर रसानुभूति के लोक-पक्षीय रूप की ओर ही संकेत किया है।[4] रीतिकालीन आचार्य रसलीन ने तो स्पष्टतः दर्शन, श्रवण और स्मरण के आधार पर रसोत्पत्ति स्वीकार की थी।[5] इन्हीं संकेतों का उपबृंहण शुक्ल जी ने रसानुभूति की उपर्युक्त तीन कोटियों के रूप में किया है। हृदय की अनुभूति को रस मानने का संकेत भी अभिनवगुप्त के "हृदयसंवादभाजः सहृदयाः" में प्राप्त हो जाता है। शुक्ल

१. चिन्तामणि पृ० १५६। २. वही प० भा०। पृ० २४७। ३. काव्यप्रकाश उल्लास ४। ९ से पूर्व की पंक्तियाँ साहित्यदर्पण। ३।१६–१७। ४. काव्यप्रकाश। ४।२७–२८। ५ रसप्रबोध। २८।

जी की मुख्य विशेषता इन संकेत-सूत्रों के पल्लवन और सोदाहरण विश्लेषण में है। हाँ, जहाँ आपने पाश्चात्य सौन्दर्यवाद या अभिव्यंजनावाद आदि को रसवाद के साँचे में ढाला है, वहाँ आपकी मौलिकता अक्षुण्ण एवं निःसन्दिग्ध है।

श्यामसुन्दर दास

बाबू श्यामसुन्दर दास ने "साहित्यालोचन" के छठे अध्याय में तथा "रूपक रहस्य" के आठवें अध्याय में रस सम्बन्धी विषयों का विवेचन किया है। दोनों ग्रंथों के विवेचन मे रंच मात्र भी अन्तर नहीं है बल्कि सच्ची बात तो यह है कि एक ही ग्रन्थ की रस सामग्री का उपयोग दूसरे ग्रंथ में भी कर लिया गया है। साहित्यालोचन के अन्य अध्यायों में भी यत्र-तत्र रस और भाव सम्बन्धी विचार प्रसंगवश प्रतिपादित हुए हैं किन्तु वे बिखरे हुए हैं। डॉ० दास की काव्य और कला सम्बन्धी मान्यताओं में प्राच्य और पाश्चात्य समीक्षण मान-दण्डों का समीकरण पाया जाता है किन्तु रस-सिद्धान्त के विश्लेषण में आपने पूर्णतः भारतीय परम्परा का ही अनुसरण किया है। आपकी महत्ता मौलिक विचारों की उद्भावना के कारण नहीं है प्रत्युत प्राचीन भारतीय रस-सिद्धान्त की मान्यताओं के सुस्पष्ट प्रतिपादन के कारण।

रस सिद्धान्त के प्रतिपादन में आपने भरत मुनि और उनके अनुयायियों का ही अनुसरण किया है। तदनुसार आपने रस का अर्थ अस्वाद्य माना है। आपका कहना है—"रस का अर्थ है आस्वाद्य–" "आस्वाद्यत्वाद्रसः" जैसे भोज्य और पेय पदार्थों का स्वाद लिया जाता है वैसे ही काव्य रस का भी स्वाद लिया जाता है। जिस काव्य से, चाहे वह दृश्य-काव्य हो अथवा श्रव्य, यह आस्वाद न मिले, वह सफल नहीं हो सकता। भरत मुनि के अनुसार तो कोई काव्यार्थ रसहीन होना ही नहीं चाहिए—"न रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते"। इसी से रस काव्य का एक तत्व माना जाता है।[1] इस उक्ति के आधार पर इतना स्पष्ट हो जाता है कि डॉ० दास विशुद्ध रसवादी हैं और रस को स्वाद्य मानते हैं। रस की अभिव्यक्ति आप भावों से मानते हैं। इस प्रसंग में आपने दार्शनिकों के इन्द्रियजनित, प्रज्ञात्मक और रागात्मक भावों का भी उल्लेख किया है तथा इनसे सम्बद्ध भारतीय रस-सिद्धान्त के विभिन्न उपकरण—विभाव, अनुभाव, संचारी भाव और स्थायी भावों की संगति बैठाने का प्रयास किया है। अन्त में इन्हीं चार उपकरणों के मिलन को इन्होंने रस का स्वरूप निर्धारित किया है—

(१) स्थायी या मुख्य भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव, ये चारों मिलकर रस को अभिव्यक्त करते हैं,[2]

(२) इन्हीं विशेष भावों के उद्दीप्त और उद्बुद्ध होने पर रसों की निष्पत्ति होती है,[3]

---

१. साहित्यालोचन, पृ० २६३। २. वही पृ० २६१। ३. वही पृ० २६२।

(३) रस के मूल आधार स्थायी भाव हैं और विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव स्थायी भाव को रस की अवस्था तक पहुँचाने में सहायक होते है।[1]

इन सभी उद्धरणों से स्पष्टतः ज्ञात होता है कि बाबू श्यामसुन्दर दास ने रस-स्वरूप का निर्धारण प्रसिद्ध भरत-सूत्र (विभावानुभाव०) के अनुकूल ही किया है। रस-निष्पत्ति के परम्परागत अनेक सिद्धान्तों में अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवादी सिद्धांत ही आपको मान्य है। भाव के अनुभव और रसास्वादन में आपने अन्तर माना है। अनुभव में भाव की सुख-दुःख पूर्ण प्रकृति के अनुसार अनुभवकर्ता को भी सुख-दुःख होता है परन्तु इसका आस्वादन इनसे रहित होता है।[2] एतदर्थ आपने मेघदूत की भूमिका में केशवप्रसाद मिश्र द्वारा प्रतिपादित मधुमती भूमिका और परप्रत्यक्ष का आश्रय ग्रहण किया है। रस की परप्रत्यक्षगम्यता के कारण आस्वाद के क्षणों में केवल आनन्दानुभूति ही होती है।[3] आप रस को अतीन्द्रिय, पारलौकिक किम्वा लोकबाह्य नहीं मानते हैं। रस अलौकिक इस अर्थ में माना जाता है कि उसका अनुभव परप्रत्यक्ष के लोक में (मधुमती भूमिका में) होता है और उस अनुभव के कार्य-कारण साधारण और लौकिक नहीं होते।[4] भावोदय, भावसंधि, भावशांति और भाव-शबलता रस की अपरिपक्व अवस्थाएँ हैं। इन स्थलों में रस पूर्णता को प्राप्त नहीं होता, अतएव[5] डा० दास इन्हें रस मानना युक्तियुक्त नहीं समझते हैं। फिर भी रूढ़ि के अनुसार ऐसे स्थलों को भी आप सरस मानने को प्रस्तुत हैं।[6] आचार्य शुक्ल जी से इस प्रसंग में आपका स्पष्ट मतभेद है। शुक्ल जी ने इन सबों को भी समान रूप से रस मान लिया है, यहाँ तक कि इन्हें आप भावोदय, भावसंधि आदि शब्दों से भी अभिहित करना नहीं चाहते। पर बाबू साहब (श्या० सु० दा०) अपूर्णता के कारण इन्हें रस मानना अयुक्तिपूर्ण बताते हैं। यदि मानने को बाध्य भी हैं तो मात्र परम्परा या रूढ़ि के कारण। इन्होंने रसानन्द को लोकहित माना है जो काव्य में लोकमंगल की भावना के रूढ़ अर्थों से सर्वथा भिन्न और अभिनव है।

रामदहिन मिश्र

मिश्र जी ने परम्परागत मान्यताओं के आधार पर रस-रूप की व्याख्या की है। आपकी दृष्टि में स्थायीभाव ही परिपक्वावस्था में (विभावादि के संयोग से) रस रूप में परिणत हो जाता है। यह रस आस्वाद स्वरूप है तथा एक प्रकार के अलौकिक आनन्द से अभिन्न है। उन्हीं के शब्दों में नीचे रस का स्वरूप प्रतिपादित है :—

"स्थायीभाव का परिपक्व रूप ही रस है।" "रस्यते इति रसः।" जो रसित-आस्वादित हो उसे रस कहते हैं। फलतः रस आस्वाद-स्वरूप है। आस्वाद

१. साहित्यालोचन पृ० २६८। २. वही पृ० २७५। ३. वही पृ० २७९। ४. वही पृ० २८०। ५. वही पृ० २८६। ६. वही पृ० २८६।

(३) रस के मूल आधार स्थायी भाव हैं और विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव स्थायी भाव को रस की अवस्था तक पहुँचाने में सहायक होते है।[1]

इन सभी उद्धरणों से स्पष्टत: ज्ञात होता है कि बाबू श्यामसुन्दर दास ने रस-स्वरूप का निर्धारण प्रसिद्ध भरत-सूत्र (विभावानुभाव०) के अनुकूल ही किया है। रस-निष्पत्ति के परम्परागत अनेक सिद्धान्तों में अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवादी सिद्धांत ही आपको मान्य है। भाव के अनुभव और रसास्वादन में आपने अन्तर माना है। अनुभव में भाव की सुख-दुःख पूर्ण प्रकृति के अनुसार अनुभवकर्ता को भी सुख-दुःख होता है परन्तु इसका आस्वादन इनसे रहित होता है।[2] एतदर्थ आपने मेघदूत की भूमिका में केशवप्रसाद मिश्र द्वारा प्रतिपादित मधुमती भूमिका और परप्रत्यक्ष का आश्रय ग्रहण किया है। रस की परप्रत्यक्षगम्यता के कारण आस्वाद के क्षणों में केवल आनन्दानुभूति ही होती है।[3] आप रस को अतीन्द्रिय, पारलौकिक किम्वा लोकवाह्य नहीं मानते हैं। रस अलौकिक इस अर्थ में माना जाता है कि उसका अनुभव परप्रत्यक्ष के लोक में (मधुमती भूमिका में) होता है और उस अनुभव के कार्य-कारण साधारण और लौकिक नहीं होते।[4] भावोदय, भावसंधि, भावशांति और भाव-शबलता रस की अपरिपक्व अवस्थाएँ हैं। इन स्थलों में रस पूर्णता को प्राप्त नहीं होता, अतएव[5] डा० दास इन्हें रस मानना युक्तियुक्त नहीं समझते हैं। फिर भी रूढ़ि के अनुसार ऐसे स्थलों को भी आप सरस मानने को प्रस्तुत हैं।[6] आचार्य शुक्ल जी से इस प्रसंग में आपका स्पष्ट मतभेद है। शुक्ल जी ने इन सबों को भी समान रूप से रस मान लिया है, यहाँ तक कि इन्हें आप भावोदय, भावसंधि आदि शब्दों से भी अभिहित करना नहीं चाहते। पर बाबू साहब (श्या० सु० दा०) अपूर्णता के कारण इन्हें रस मानना अयुक्तिपूर्ण बताते हैं। यदि मानने को बाध्य भी हैं तो मात्र परम्परा या रूढ़ि के कारण। इन्होंने रसानन्द को लोकहित माना है जो काव्य में लोकमंगल की भावना के रूढ़ अर्थों से सर्वथा भिन्न और अभिनव है।

रामदहिन मिश्र

मिश्र जी ने परम्परागत मान्यताओं के आधार पर रस-रूप की व्याख्या की है। आपकी दृष्टि में स्थायीभाव ही परिपक्वावस्था में (विभावादि के संयोग से) रस रूप में परिणत हो जाता है। यह रस आस्वाद स्वरूप है तथा एक प्रकार के अलौकिक आनन्द से अभिन्न है। उन्हीं के शब्दों में नीचे रस का स्वरूप प्रतिपादित है:—

"स्थायीभाव का परिपक्व रूप ही रस है।" "रस्यते इति रसः।" जो रसित-आस्वादित हो उसे रस कहते हैं। फलतः रस आस्वाद-स्वरूप है। आस्वाद

---

१. साहित्यालोचन पृ० २६८। २. वही पृ० २७५। ३. वही पृ० २७९। ४. वही पृ० २८०। ५. वही पृ० २८६। ६. वही पृ० २८६।

एक प्रकार के अलौकिक आनन्द से अभिन्न है। वह अभिनय के दर्शन से तथा कविता के अर्थपरिशीलन से आत्मा में सहसा उद्बुद्ध हो जाता है।''[1]

स्थायी भावों की अव्यक्त सहता वासना के रूप में आपको मान्य है। आपका कहना है कि ''जिस प्रकार हँसी और आंसू सब में विद्यमान रहते हुए भी सर्वदा भासित नहीं होते, वैसे ही रति आदि स्थायी भाव वासना रूप से प्रत्येक सहृदय के हृदय में स्थित रहने पर भी व्यक्त नहीं होते। जब उनके उद्बोधक नायक–नायिका आदि विभाव अपने पोषक उपकरणों से पुष्ट होते है तभी वे (रति आदि स्थायी भाव) रस के रूप में प्रकट होते हैं'' ।[2] यह तो ठीक है कि वासनात्मक स्थायी भावों की सत्ता सहृदयों में पूर्वतः होती है और वे स्थायीभाव अव्यक्त भी रहते हैं। पर यह बात मेरी समझ के परे है कि उन स्थायी भावों के उद्बोधक विभाव जब पोषक उपकरणों (प्रायः अनुभाव, संचारी आदि) से पुष्ट होते हैं तो स्थायी भाव रस रूप में परिणत हो जाते हैं। या तो मिश्र जी ने रस-स्वरूप को समुचित रूप में हृदयंगम ही न किया है अथवा अभिव्यक्ति की शिथिलता के कारण उपर्युक्त वाक्य का मन्तव्य से भिन्न उटपटांग अर्थ आ रहा है। वस्तुतः स्थायीभाव स्वयं ही विभाव से उद्बुद्ध, अनुभाव से अभिव्यक्ति और संचारी से परिपुष्ट होकर रसरूप में परिणत होता है।

मिश्र जी रसास्वाद को ब्रह्मानन्द के समान मानते हैं, ब्रह्मानन्द ही नहीं। इसका कारण स्पष्ट करते हुए आपने लिखा है—''जब रस का आस्वाद होने लगता है यब विषयान्तर का अनुभव पास तक नहीं फटकने पाता। मानो उस समय एक प्रकार से मुक्ति-स्वरूप ब्रह्मानन्द की उपलब्धि होती है। ..... । ब्रह्मा स्वाद निर्विकल्पिक होता है और रसास्वाद सविकल्पक है।''[3]

इन्होंने रस को चमत्कारैक-प्राण माना है।[4] चमत्कार का अर्थ अपने चित-विस्तार ही गृहीत किया है जो प्रत्येक रस की अनुभूति के क्षण में होता है। रस-प्रतीति को आप मानस-प्रत्यक्ष मानते हैं तथा इसका कारण सत्त्वगुण के उद्रेक को बताते हैं।[5] तात्पर्य यह कि रजस् और तमस् को पंगु बनाकर या दबाकर जब सत्त्व गुण उद्रिक्त होता है, तभी रसानुभूति होती है।

फलतः मिश्र जी द्वारा निरूपित रस-स्वरूप पर अभिनव, मम्मट एवं विश्वनाथ का प्रभाव है। जहाँ कहीं थोड़ा बहुत व्यतिरेक है, वहाँ उन्हें पूर्नतः नहीं समझ सकने के कारण ही।

गुलाबराय

गुलाबराय ''नवरस'' एक उत्तम कोटि का आधुनिक रसग्रंथ है। इसकी मुख्य विशेषतायें दो हैं—प्रथम यह कि इस ग्रन्थ के १८ अध्यायों और ६३४ पृष्ठों में

---

१. काव्यदर्पण, पृ० ४६। २. काव्यदर्पण, पृ० ४४। ३. वही पृ० ४३। ४. वही पृ० ४३। ५. वही पृ० ४४।

केवल रस--विवेचन ही है। स्वभावतः बड़े विस्तार के साथ रस-सिद्धान्त के सभी अंगों और उपांगों का क्रमबद्ध विवेचन इस ग्रन्थ में हो सका है। नायिका-भेद जैसे हल्के विषय का विवरण छोड़ दिया गया है तथा प्रत्येक रस को समान महत्त्व प्रदान कर विस्तार पूर्वक विवेचित किया गया है। दूसरी विशेषता इस ग्रन्थ की यह है कि आधुनिक गद्यात्मक शैली में विषय विवेचन किया गया है। विषय-विवेचन में भारतीय परम्परा के अनुसरण के साथ, पाश्चात्य मनोविज्ञान का भी तुलनात्मक अध्ययन हुआ है। लक्षण और उदाहरण आदि यथावसर संस्कृत और हिन्दी के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों से संकलित किए गए हैं किन्तु प्रतिपादन की शैली और भाषा राय जी की अपनी है। उद्धरणों के संकेत आपने बहुतः नहीं दिए हैं।

रसस्वरूप और अभिव्यक्ति :—बाबू गुलाब राय ने काव्य का मुख्य उद्देश्य आन्नद को माना है। आपकी दृष्टि में रस आनन्दरूप है। अतएव काव्य की आत्मा रस है।[1] यही कारण है कि मम्मट ने भारती को "आह्लादैकमयी" और "नवरस-रुचिरा" जैसे विशेषणों से विभूषित किया है।[2] काव्य की अनेक परिभाषाओं में राय जी ने साहित्यदर्पण की "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्"—इस रसपरक परिभाषा को ही प्रधान और महत्वपूर्ण स्वीकार किया है।[3] अतएव आपके विशुद्ध रसवादी होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता है। रस का अर्थ आपने आस्वाद माना है। आस्वादन का अर्थ केवल चखना नहीं है वरन् चखकर आनन्द लेना है।[4] अतएव आपके अनुसार भावों का आस्वादन ही रस है। भावों के आस्वादन और भावों की परिपक्वता में आप कोई अन्तर नहीं मानते हैं। रस की परिभाषा में आपको विश्वनाथ-प्रतिपादित परिभाषा स्वीकार्य है—जिसमें विभाव, अनुभाव और संचारीभावों से व्यक्त स्थायी भाव को रस कहा गया है। इसी प्रसंग में वेदान्तिओं के आत्मानन्द की व्याख्या भी आपने रसस्वरूप की आनन्दमयता सिद्ध करने के लिए की है। सभी रसों की आनन्दस्वरूपता के कारण आपको रस का एक प्रकार ही मान्य है, तथापि नौ स्थायी भावों के पृथक्-पृथक् उत्तेजित होने पर चित्त की एकाग्रता के कारण आन्दोपलब्धि होने के परिणामस्वरूप परम्परागत नौ रस भी स्वीकार्य हैं।[5] साहित्य-दर्पण के आधार पर इन्होंने भी रस को अखण्ड, स्वप्रकाश, आनन्दचिन्मय, वेद्यान्तर स्पर्शशून्य, ब्रह्मास्वाद-सहोदर आदि विशेषज्ञों के साथ उसकी दार्शनिक व्याख्या की है। करुण रस की आनन्दस्वरूपता का कारण इन्होंने आलौकिक विभावन व्यापार को माना है तथा रस की अखण्डता का विश्लेषण मम्मटोक्त प्रपाणक-रस-न्याय के आधार पर किया है। व्यंजना या रसना नामक वृत्ति के द्वारा रसाभिव्यक्ति की स्पष्टता आपने की और इसे एक आलौकिक एवं विलक्षण व्यापार स्वीकार किया।[6] फलतः

१. नवरस। अध्याय १, पृ० १०। २. काव्यप्रकाश। १।१। ३. नवरस पृ० १०। ४. वही पृ० १०। ५. नवरस पृ० १२। ६. वही पृ० २२।

आपका रस-स्वरूप निर्धारण शास्त्र-सम्मत तो है पर इसमें कोई मौलिकता या नवीनता नहीं है। विषय का प्रतिपादन ही आपका निजी महत्व है।

रसस्वरूप की व्याख्या के प्रसंग में ही राय जी ने मनोवैज्ञानिक रीति से भावों की व्याख्या करते हुये मानसिक संस्थान के तीन अनुभवों का उल्लेख किया है—(१) समवेदनात्मक, (२) भावात्मक और (३) संकल्पात्मक। मनोवैज्ञानिकों के ही रसशास्त्रीय भावों से मेल खाते हैं, पर इस सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों के बीच स्वयं मतभेद है। कुछ मनोवैज्ञानिक भाव को एक प्रकार का समवेदन ही मानते हैं। दूसरे उसको समवेदन का सुखमय या दुःखमय गुण के रूप में स्वीकार करते हैं तथा अन्य इसे समवेदना और संकल्पों की भाँति स्वतन्त्र मानते हैं। जो हो, हमारे रस-शास्त्र का सम्बन्ध भावों से है, अतएव मनोविज्ञान साहित्य का अंग बन जाता है।[1]

लक्ष्मीनारायण सुधांशु

सुधाँशु जी बहु-पठित और बहु-श्रुत आधुनिक समालोचक है। बड़े व्यापक दृष्टिकोण को लेकर आपने साहित्य की समस्याओं को समझाने का प्रयास किया है। इस सम्बन्ध में आपके दो ग्रन्थ प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं—काव्य में अभिव्यंजनावाद और जीवन के तत्व तथा काव्य के सिद्धान्त। यद्यपि रससिद्धान्त और उसकी सामग्रियों पर, कम से कम अध्ययन के जिस ढंग की योजना हमने बनाई है, परम्परागत सिलसिलेवार रूप से आपने नहीं लिखा है तथापि रसानुभूति को लेकर जो कुछ आपने नवीन ढंग से प्रस्तुत किया है उसे ही यहाँ रख देना मैं श्रेयष्कर समझता हूँ।

सुधांशु जी ने काव्यानुभूति और रसानुभूति में अन्तर माना है। काव्यानुभूति की स्थिति विशेष रूप से आपने कलाकार में मानी है और रसानुभूति की स्थिति पाठक या श्रोता में।[2] एक में विधायक कल्पना की अपेक्षा होती है और दूसरे में ग्राहक की। तात्पर्य यह कि कवियों को काव्य प्रणयन के क्षणों में जो आन्दोपलब्धि होती है वह काव्यानुभूति है और पाठकों तथा श्रोताओं को काव्य पढ़कर या सुनकर जो आनन्दोपलब्धि होती है, वह रसानुभूति है। प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने इसे सामान्यरूप से रसास्वाद या रसानुभूति कहा था पर सुधांशु जी ने इसकी दो कोटियों के अलग-अलग नाम गढ़े—काव्यानुभूति और रसानुभूति। तत्त्वतः आप भी दोनों में कोई अन्तर नहीं मानते हैं, जैसा आपने स्वयं स्वीकार करते हुए कहा भी है—"दोनों एक ही वस्तु के दो भिन्न-भिन्न रूप हैं"।[3] सुधांशु जी ने रसानुभूति में जातीय संस्कार का, जो वातावरण विशेष में पलने के कारण निर्मित होता है, महत्त्व स्वीकार किया है। रसानुभूति के लिए संशयपूर्ण मनोदशा आपको पसन्द नहीं है। उदाहरणार्थ,

---

१. नवरस पृ० २८। २. काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृ० ६५। ३. वही पृ० ६५।

माइकेल मधुसूदन दत्त के मेघनाद की हत्या पढ़कर रावण के आँसुओं में जातीय संस्कार या संदिग्ध मनोदशा के कारण शोकानुभूति न हो पाती हैं ।[1] संस्कृत काव्य-शास्त्र में इसका स्पष्टीकरण प्रकृति–विपर्यय दोष के अन्तर्गत किया गया है । रसानुभूति में औचित्य का अत्यधिक महत्त्व है । किसी भी प्रकार के अनौचित्य से रसानुभूति में बाधा उपस्थित होती है । अतएव अपने यहाँ देश विरुद्ध, कालविरुद्ध, आश्रयविरुद्ध, वयोविरुद्ध, जातीयविरुद्ध, प्रकृतिविरुद्ध आदि वर्णनों को अनुचित होने के कारण रसदोषपूर्ण माना गया है । अतएव यह भी कोई नवीन मान्यता नहीं है। इसी प्रकार इन्होंने अन्तः सौन्दर्य और बाह्य सौन्दर्य के अतिरंजित वर्णन को जो अलौकिक और अतिप्राकृत प्रतीत हो, रसानुभूति में बाधक माना है ।[2]

रसानुभूति के स्वरूप पर विचार करते हुए आपने लिखा है—'काव्य में रसानुभूति के दो स्वरूप लिए जाते हैं—एक तो कवि अपनी काव्यानुभूति का चित्रण करते हुए रस की प्रतीति कराता है, और दूसरे केवल विभावों का चित्रण कर रसोद्रेक के लिए पाठक या श्रोता को अपनी भावना पर छोड़ देता है ।[3] द्वितीय कोटि में अव्यक्त भावों की ओर, जिनका सम्बन्ध केवल पाठकों से है, मार्मिक संकेत कविता में ही कर दिया जाता है । उन्हीं संकेतों के बल पर पाठक या श्रोता अपने भावों की उमड़ती हुई लहर को पा लेते है । आपने मूल भाव दो ही माने हैं—सुख और दुःख। इन्हीं दोनों भावों से राग और द्वेष की वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं और ये ही क्रमशः आश्रय और आलम्बन की विविधता के परिणामस्वरूप अनेक भावों का रूप ग्रहण कर लेती हैं । उदाहरणार्थ, एक ही राग विशिष्ट के प्रति उन्मुख होने से सम्मान, समान के प्रति होने से प्रीति और हीने के प्रति उन्मुख होने से करुणा का रूप धारण कर लेता है । इसी प्रकार द्वेष भी उसी क्रम में भय, क्रोध और दर्प का रूप ले लेता है ।[4] सुधांशु जी के अनुसार काव्य का सम्बन्ध जीवन से है, इसीलिए काव्योन्मेषित भावों का सम्बन्ध भी जीवन और समाज से है । समाज में ही भावों का पोषण होता है ।[5] अतएव सामाजिक परिस्थिति और जीवन के यथार्थ वातावरण का चित्रण होने पर ही भावों से रस-निष्पत्ति संभव है । इन्होंने रस का सम्बन्ध मन के ओज के साथ निर्धारित किया है। आनन्द काव्य से नहीं प्रत्युत मन के ओज से उपलब्ध होता है ।[6] यही कारण है कि एक ही कविता को अनेक बार सुनने पर भी समान मात्रा में आनन्दोपलब्धि नहीं होती है—मन के ओज की घटी-बढ़ी के कारण ही आनन्द भी घटता बढ़ता रहता है । ओज-संचय के लिए शान्ति, विश्राम, और शक्ति की अपेक्षा है । न शक्ति से बाहर परिश्रम और न आलस्यमय विलासी जीवन । तभी ओज संचित होता है और तदनुसार रसानुभूतिजन्य आनन्द की उपलब्धि होती है । इस तर्क के द्वारा भी सुधांशु जी ने काव्य और जीवन के पारस्परिक सम्बन्ध का ही

१. काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृ० ६५ । २. वही, पृ० ८० । वही, पृ० ८२ । ४. जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त, पृ० ६ । ५. वही, पृ० २० । ६. वही, पृ० ७१

प्रतिपादन किया है और इसी क्रम में रस का ओज के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया है। मेरी धारणा है कि प्राचीन काव्यशास्त्र में प्रतिपादित सहृदयों की 'तन्मयीभवनयोग्यता' के अन्तर्गत ही सुधांशु जी के मन के ओज का निवेश किया जा सकता है। वस्तुतः इसका सम्बन्ध रस-स्वरूप की अपेक्षा साधारणीकरण सिद्धान्त के साथ अधिक है। फिर भी प्राचीन सैद्धान्तिक बीज के विश्लेषण का महत्व तो आपको मिलना ही चाहिए।

डॉ नगेन्द्र

डॉ० नगेन्द्र आधुनिक-युग के समर्थ एवं प्रतिभाशील काव्य-समीक्षक के रूप में समाहृत हैं। भारतीय काव्यशास्त्र के जीर्णोद्धार एवं वर्तमान युग के परिपार्श्व में उसकी संश्लिष्ट व्याख्या ही आपके वैदुष्यमय जीवन के उद्देश्य हैं। भारतीय काव्यशास्त्र से सम्बन्धित आपके ग्रन्थ तो अनेक हैं, पर इनमें अधिकांश तो संस्कृत के सिद्धान्त ग्रन्थों के अनुवाद हैं, फिर भी उनकी विशाल भूमिकाएँ बड़े महत्त्व की हैं। रस-सिद्धान्त सम्बन्धी मान्यताओं की दृष्टि से आपकी 'रीतिकाव्य की भूमिका' नामक प्रसिद्ध पुस्तक ही महत्त्वपूर्ण है। 'भारतीय काव्य शास्त्र की भूमिका' एक उच्च कोटिक ग्रन्थ रहते हुए भी हमारे अध्ययन का आधार नहीं बन सकता है क्योंकि इसमें रीतिसिद्धान्त और वक्रोक्ति सिद्धान्त की दृष्टि से ही विचार किए गए हैं।

रसस्वरूप :—इन्होंने रसलक्षण के रूप में भरतसूत्र और साहित्य दर्पण की कारिका का हवाला देते हुए स्वीकार किया है कि आलम्बन विभाव से उद्बुद्ध, उद्दीपन से उद्दीप्त, व्यभिचारियों से परिपुष्ट तथा अनुभावों से परिव्यक्त सहृदय का स्थायी भाव ही रस-दशा को प्राप्त होता है।[1] रस के स्वरूप का विवरण प्रथम तो इन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार और तदनन्तर आधुनिक मनोविज्ञान के आधार पर दिया है। निष्कर्ष के रूप में अपनी मान्यताएँ भी दी हैं। भारतीय काव्यशास्त्र में नगेन्द्र ने साहित्यदर्पण की कारिका को उद्धृत करते हुए अखण्ड, स्वप्रकाश आनन्दमय, चिन्मय, वेद्यान्तरस्पर्श-शून्य, ब्रह्मास्वाद-सहोदर, लोकोत्तर-चमत्कार-प्राण, स्वकारवदभिन्न आदि पदों के द्वारा रस के स्वरूप का निर्देश किया है।[2] इनकी यथायोग्य व्याख्या भी आपने कर दी है।

रस की आनन्दमयता के सम्बन्ध में इन्होंने मनोवैज्ञानिकों के दो दलों—आनन्दवादी (हिडोनिस्ट) और सार्थकतावादी (होरमिक)—के मतों का उल्लेख किया है। आनन्दवादी जीवन की सभी क्रियाओं का लक्ष्य आनन्दोपलब्धि को मानते हैं। सार्थकतावादी जीवन का लक्ष्य क्रिया-शीलता को ही मानते हैं। इस सम्प्रदाय के भी दो दल हैं—पहला दल जीवन को साधन और आनन्द को साध्य मानता है, दूसरा वर्ग जीवन को ही जीवन का अंतिम साध्य मानता है। सार्थकतावादी विचारकों का

१. रीति काव्य की भूमिका, पृ० ४०। २. वही, पृ० ५९।

प्रथम वर्ग भारतीय आदर्शवादियों के समकक्ष है, पर दूसरा वर्ग वैज्ञानिक वस्तुवादियों के अनुकूल है। आधुनिक अधिकांश मनोवैज्ञानिक इस दूसरे मत का ही पोषण करते हैं। डॉ० नगेन्द्र ने इसकी जमकर आलोचना की है और सिद्ध कर दिखाया है कि काव्य का मुख्य लक्ष्य आनन्दोपलब्धि है और वह आनन्द रसानन्द के अतिरिक्त कुछ नहीं है।[1] सार्थकतावादियों का यह दूसरा दल आनन्द की स्थिति तो मानता है, पर उसे अनुभूति या भाव की विधि मानता है, लक्ष्य नहीं। परिणामतः आनन्द को काव्य का साध्य होने का गौरव वे नहीं देते। अर्न्तवृत्ति की क्रिया की सफलता (तृप्ति) को ही ये आनन्द कहते हैं। क्रिया का मूल्य वृत्तियों के संकलन और समन्वय के आधार पर ये आंकते हैं। काव्य में अथवा कला में वृत्तियों के संकलन की शक्ति अत्यधिक है, अतएव वह मूल्यवान है। तात्पर्य यह कि काव्याध्ययन या काव्यश्रवण से मानव की अर्न्तवृत्तियों का संकलन होता है। इससे उन्हें अर्न्तवृत्ति की क्रिया की सफलता के परिणामस्वरूप एक प्रकार की तृप्ति होती है जो आनन्द से भिन्न एक वास्तविक अनुभूति है। डॉ० नगेन्द्र इस बात को उलझाना ही कहते हैं। उनकी दृष्टि में यह वास्तविक अनुभूति ही आनन्द है।[2] उससे भिन्न इस अनुभूति को मानना विषय की सूक्ष्म पकड़ से वंचित रहना है। फलतः डॉ० नगेन्द्र के अनुसार काव्य का चरम लक्ष्य आनन्द है और रस आनन्द-स्वरूप है।

आप रसानन्द को भावों से भिन्न मानते हैं—यही परम्परागत दृष्टिकोण भी है। इसके प्रमाणस्वरूप जुगुप्सा, शोक आदि कटु भावों से भी आनन्दमय रस की उपलब्धि को ही आपने प्रस्तुत किया है।[3] जुगुप्सा एक कटु भाव है, आनन्दप्रद नहीं है। फिर भी इससे निष्पन्न बीभत्स रस आनन्ददायक रूप में अनुभूत होता है। इससे सिद्ध होता है कि जुगुप्सा-भाव में और बीभत्स रस में स्वरूप भेद है। अतएव रस को भावों से भिन्न मानना चाहिए।

रसानुभूति के सम्बन्ध में डॉ० नगेन्द्र ने एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया है—यह भौतिक है या आध्यात्मिक। भारतीय काव्यशास्त्रियों का यह निर्णय कि रसानुभूत अलौकिक और अनिवर्चनीय है, आपको ग्राह्य नहीं है। आधुनिक मनोविज्ञान और तर्क के आधार पर आपने समुचित निर्णय लेने का उद्देश्य बनाया है। इसके लिए प्रथम तो आपने अनुभूति का विभाजन दो भागों में किया है—भौतिक और आध्यात्मिक। पुनः भौतिक अनुभूति को ऐन्द्रिय और बौद्धिक नामक दो खण्डों में बाँट लिया है। तदनन्तर काव्यानन्द के सम्बन्ध में देशी-विदेशी साहित्य में प्रचलित पाँच विचारों को प्रस्तुत किया है—काव्य का आनन्द ऐन्द्रिय आनन्द है, यह आत्मिक आनन्द है, यह कल्पना का आनन्द (मूलवस्तु और उसके काव्यांकित रूप की तुलना से प्राप्त आनन्द) है, यह सहजानुभूति का

१. रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ६१। २. वही। पृ० ६१। ३. वही, पृ० ६२।

आनन्द है, यह सभी लौकिक आनन्दों से भिन्न एक अनुपम, विचित्र और स्वतः सापेक्ष आनन्द है।[1] इन सभी मतों की युक्ति युक्त समीक्षा के अनन्तर आपका निष्कर्ष है कि काव्यानन्द में ऐन्द्रिय और बौद्धिक अनुभूति के तत्त्वों का लवण-नीर संयोग है[2] अर्थात् काव्यानन्द भौतिक अनुभूति है, आध्यात्मिक नहीं। काव्यानुभूति में ऐन्द्रियता इसलिए इन्होंने मानी की रोमांच, अश्रु, वैवर्ण्य आदि शारीरिक संवेदनों का भी इसमें अनुभव होता है तथा बौद्धिकता इसमें इसलिए है कि काव्य का अनुभव प्रत्यक्ष घटना का अनुभव नहीं है प्रत्युत भावित घटना का अनुभव है। घटनाओं के भावन के क्षणों में कवि, दर्शक और पाठक सबों को बुद्धि का भी उपयोग करना पड़ता है। अतएव काव्यानुभूति में बौद्धिकता आ जाती है। मेरी धारणा है कि इस निर्णय में कहीं कोई कमी अवश्य है। केवल इन्द्रिय और बुद्धि के द्वारा ही यदि काव्यानन्द की उपलब्धि मान ली जाय तो एक शतरंज (बुद्धि-क्रीड़ा) के खेलाड़ी के क्रीडाजन्य आनन्द में और कवि या भावक के काव्यानन्द में कोई अन्तर नहीं रह जाता है। वहाँ भी इन्द्रिय और बुद्धि का उपयोग होता ही है। काव्यानन्द में इन्द्रिय और बुद्धि भले ही सहायक हों, पर सत्त्वगुणमय आत्मा की भी अपरिहार्य आवश्यकता है। काव्यानुभूति को परप्रत्यक्षगम्य किम्बा मधुमती भूमिका में अनुभूपमान अनुभूति कहने वाले आचार्यों की धारणा में थोड़ी-सी अति-रंजना भले ही रही हो, पर वह नितान्त तथ्य-हीन नहीं है। भक्तों को भक्तिरसमयी कविता के आस्वाद में किम्बा संगीत-रसिकों को संगीत-रस के आस्वाद में तथा यथार्थ सहृदयों को काव्यरसास्वाद में जो अनुभव होता है उसमें चंचलता कहाँ है? कवि सम्मेलन में बैठने वाले अधकचड़े श्रोताओं की वाहवाही में भले ही चंचलता दृष्टिगोचर हो, पर एकान्त में बैठकर काव्य-रस लेने वाले सहृदय पाठकों को जो अनुभूति होती है उसमें परप्रत्यक्षता की स्थिति नहीं तो तद्वत् असाधारण स्थिति अवश्य आ जाती है। अतएव चंचलता के नाम पर काव्यानन्द की आध्यात्मिकता का निराकरण ठीक नहीं जंचता है। आत्मा की स्थिति में आज के मनोवैज्ञानिकों को सन्देह है, किन्तु उसे एक विशेष प्रकार की मनोदशा मानने में (जो इन्द्रिय और बुद्धि से भिन्न है)तो किसी प्रकार की आपत्ति नहीं की जा सकती है? डा० नगेन्द्र ने भी आध्यात्मिक अनुभूति का एक पृथक् वर्ग तो बनाया ही है जो प्रमाणित करता है कि आप आत्मा की स्थिति मानते हैं। अतएव डा० नगेन्द्र के अगाध वैदुष्य और सशक्त विवेचन-शक्ति के सामने संकोचपूर्वक विनम्र शब्दों में मेरा निवेदन है कि काव्यानुभूति भौतिक होने के साथ-साथ आध्यात्मिक भी है। इसमें ऐन्द्रियता, बौद्धिकता और आध्यात्मिकता—इन तीनों तत्त्वों का मिश्रण है। अतएव इसे परम्परागत काव्य शास्त्र में विलक्षण, अनिवर्चनीय अलौकिक आदि शब्दों में भी अभिहित किया गया है, फिर भी ये प्रयोग मात्र औपचारिक ही हैं। यदि आपके भी निष्कर्ष

रीति काव्य की भूमिका, पृ० ६५। २. वही। पृ० ६६।

को हटा कर देखें तो मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि आपका (डा० नगेन्द्र का) भी यही अभिमत है। निम्नोक्त उद्धरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी :—

"स्पष्ट रूप से, यह विभाजन स्थूल है, आत्यन्तिक नहीं है क्योंकि ऐन्द्रिय या बौद्धिक अनुभूति बिना आध्यात्मिक अनुभूति के असम्भव है, इसी प्रकार बौद्धिक या आध्यात्मिक अनुभूति ऐन्द्रिय अनुभूति से स्वतन्त्र कैसे हो सकती है। ... ... अतएव यह विभाजन अनुभूति में उपर्युक्त किसी एक तत्त्व की प्रधानता का द्योतक है, एकमात्रता का नहीं"[1]।

अनुभूति का अर्थ आपने संवेदन (Sensation) किया है। पर "काव्यानुभूति" की अनुभूति को बैठाने के लिए जब संवेदन के तीन वर्गों से काम न चला तो एक चौथे वर्ग की भी कल्पना कर ली गई है[2]। मुझे यह प्रतिपादन सुलझा हुआ नहीं प्रतीत होता है। यों अनुभूति को संवेदन मानने में मुझे कोई विप्रतिपत्ति नहीं है।

(२) रस के उपकरण

जगन्नाथ प्रसाद "भानु"

विभावः—विभाव को भानु जी ने रस का कारण कहा है तथा आलम्बन और उद्दीपन नामक इसके दो भेद स्वीकार किए हैं[3]। आलम्बन को रस का अवलम्ब मानकर इन्होंने इसके अन्तर्गत नायिकाओं और नायकों का निरूपण किया है। नायिका-भेदों में कोई नवीनता नहीं है, रीति परम्परा का ही अनुसरण किया गया है। वर्णानुसार दिव्यादि तीन भेद, जात्यनुसार पद्मिन्यादि चार भेद, प्रकृत्यनुसार उत्तमादि तीन भेद, स्वभावानुसार अन्यसुरतदु:खितादि तीन भेद, धर्मानुसार स्वकीयादि तीन भेद और उनके अनेक उपभेद—नायिका भेदों के अन्तर्गत वर्णित हैं। फिर भी भानुजी की दृष्टि में नायिका-भेदों की निश्चित संख्या बता पाना एक दुष्कर कार्य है, क्योंकि इनके पारस्परिक सांकर्य के आधार ही अनेक उपभेद किए जा सकते हैं तथा नवीन आधारों पर भी नूतन भेदों की उद्भावना की जा सकती है।[4] इसी प्रकार नायक भेदों में भी स्वभावनुसार मानी आदि, दशानुसार प्रोषित आदि तथा धर्मानुसार पति, उपपति आदि भेद एवं उपभेद बताकर आपने निष्कर्ष के रूप में लिखा है—"नायिका के सदृश नायक के भी उतने ही भेदोपभेद हो सकते हैं परन्तु उनमें सार न जानकर आचार्यों ने मुख्य भेद वर्णन करना ही उचित समझा। बुध जन इतने से ही विचार कर लेगें[5]। उद्दीपन विभाव आपने उन्हें माना है

---

१. री० का० की भूमिका, पृ० ६३। २. वही, पृ० ६७–६८।
३. रसरत्नाकर, भाग २, पृ० ७। ४. नायिका-भेद शंकावली, पृ० ४९।
५. रसरत्नाकर, पृ० ४६।

जिन्हें देखते ही रस उद्दीपित हो जाय[1]। इस लक्षण की त्रुटि स्पष्ट है। अवलोकन के द्वारा भी भावों का उद्दीपन होता है किन्तु केवल उसी के द्वारा नहीं। श्रवण, स्पर्श, घ्राण आदि अनेक उद्दीपक कारण होते हैं। अतएव लक्षण में अव्याप्ति दोष है। शृङ्गार के उद्दीपनों में "भानु" जी ने भी सखा, सखी, दूती आदि को रीतिकालीन परम्परा के अनुसार गिना दिया है किन्तु इन्हें नायक और नायिकाओं का सहायक मानना ही समुचित है।

अनुभाव:—अनुभाव को इन्होंने कार्य रूप कहा है। इनके द्वारा रस का (स्थायी भाव का) अनुभव होता है[2]। अनुभावों के आपने तीन भेद किए हैं—सात्विक, कायिक और मानसिक। स्तम्भ, स्वेद आदि आठ सात्विक भावों (जृंभा को लगाकर नौ) को सात्विक अनुभाव और १२ प्रकार के हावों को कायिक और मानसिक अनुभाव स्वीकार किया है।

संचारी भाव:—स्थायी भावों के अभिमुख रहने वाले तथा नौ रसों में समान रूप से संचरण करने वाले भावों को इन्होंने संचारी भाव कहा है। स्थायी भावों के साथ इनकी स्थिति उसी प्रकार रहती है जैसे दरिया (सागर या नदी) में तरंगों की—ये उसी से उठती हैं और उसी में विलीन हो जाती हैं। स्थायी भावों से इनका मुख्य अन्तर यही है कि स्थायी भाव परिपूर्ण होकर रसरूप धारणा करते हैं किन्तु ये संचारी भाव रस निष्पत्ति के क्षणों तक स्थिर ही नहीं रह पाते हैं। इनकी संख्या तैंतीस है[3]। संचारी भावों का यह निरूपण परम्परागत है—संस्कृत काव्य-शास्त्र एवं रीतिग्रन्थों के अनुकूल है। कोई नवीनता नहीं है।

स्थायी भाव :—स्थायी भाव वह है जिसमें रस की स्थिरता है तथा जो विभाव, अनुभाव और संचारी के साथ मिल कर रस रूप में परिणत होता है। इनकी संख्या नौ है—रति हास आदि।[4] बीभत्स का स्थायी ग्लानि को और शान्त का स्थायी निर्वेद को भानुजी ने माना है।

अयोध्या सिंह उपध्याय

उपध्याय जी द्वारा प्रस्तुत रसोपकरण प्राचीन रीति-परम्परा के अनुकूल हैं। मुख्य विशेषता यह है कि इनके लक्षण खड़ी बोली गद्य में हैं तथा उदाहरण स्वरचित व्रजभाषा पद्य में। प्रत्येक उपकरण को पृथक्-पृथक् शीर्षक में विभक्त कर आपने उपस्थित किया है, अतएव उसमें एक व्यवस्था एवं बोधगम्यता आ गई है। इन उपकरणों में जहां कहीं नवीनता परिलक्षित होती है, उन्हीं की चर्चा मैं आवश्यक समझता हूं। निरर्थक सभी भेदों की पुनरावृत्ति से व्यर्थ विस्तार ही होगा।

१. रसरत्नाकर भाग ४, पृ० ५८। २. वही, भाग २, पृ० ७। ३. वही, पृ० ८४
४. रसरत्नाकर, पृष्ठ ७।

विभाव :—प्रत्येक रस के निरूपण में आपने पृथक् पृथक् आलम्बन और उद्दीपन विभाव का निर्देश किया है किन्तु शृंगार रस के आलम्बन (नायिका और नायक) और उद्दीपन विभाव का स्वतन्त्र खण्डों में सविस्तार उल्लेख किया है। फलतः रीतिकालीन प्रभाव (जिसमें रसराज शृंगार को अत्यधिक महत्त्व प्राप्त है) आपके 'रसकलस' पर स्पष्ट है। रीतिपरम्परा के अनुसार नायिकाओं के नख शिख का विवरण आपने भी दिया है पर उसे शिख नख वर्णन कहा है तथा इसी क्रम का निर्वाह भी किया है। नायिका-भेदों के आधार और भेद तो सामान्यतः प्राचीन ही हैं किन्तु प्रकृति के अनुसार किए गए उत्तमादि भेदों में उत्तमा और मध्यमा के कतिपय नवीन भेदों की उद्भावना का श्रेय आपको प्राप्त है। उपाध्याय जी ने उत्तमा के पतिप्रेमिका, परिवारप्रेमिका, जातिप्रेमिका, देशप्रेमिका, जन्मभूमिप्रेमिका, लोकसेविका, धर्मप्रेमिका आदि नूतन भेदों की सृष्टि कर इन्हें उदाहृत भी कर दिया है। मध्यमा के व्यंग-विदग्धा और मर्मपीड़िता—ये दो भेद भी नवोद्भावित हैं। नायक भेदों में अन्य कोई नवीनता नहीं है।[1] शृङ्गार के उद्दीपन विभावान्तर्गत इन्होंने भी रीतिपरम्परा के अनुसार सखा, सखी, दूती, ऋतु, पवन, वन, उपवन आदि को परिगणित किया है। पुनः अन्य रसों के उद्दीपन भी परम्परानुसार रस-निरूपण-प्रसंग में बता दिए हैं।

अनुभाव:—जिन क्रियाओं से रसास्वाद का अनुभाव होता है उनको अनुभाव कहते हैं।[2] भरत के अनुसार उपाध्याय जी ने भी इसके चार भेद किए हैं–सात्त्विक, कायिक, मानसिक और आहार्य। स्पष्ट है कि सात्त्विक भावों को आप अनुभाव मानते हैं, संचारी नहीं। सात्त्विक के अन्तर्गत स्तम्भ-स्वेदादि नौ भेद हैं (जृंभा को जोड़कर), आंख, भौंह, हाथ आदि के द्वारा की जाने वाली चेष्टाएं या क्रियाएं कायिक अनुभाव हैं, मन सम्बन्धी आमोद-प्रमोद का नाम मानसिक अनुभाव है तथा वेश धारण को आहार्य अनुभाव कहते हैं। रीतिग्रन्थों में बताए गए लीलाविलासादि १० या १२ हावों को उपाध्याय जी ने स्वभावसिद्ध सात्त्विक अलंकार कहा है तथा इन्हें अनुभावों मे अन्तर्भुक्त माना है।[3]

संचारी भाव:—उपाध्याय जी के अनुसार जो भाव रस के उपयोगी होकर जल के तरंग की भांति उसमें संचरण करते हैं उनको संचारी भाव कहते हैं तथा ऐसे भावों की संख्या तैंतीस है।[4] संचारी भाव का उपर्युक्त लक्षण तो परम्परा-सम्मत है किन्तु गद्य के माध्यम से इसकी अधिक स्पष्टता वांछित होने के बावजूद भी इन्होंने सूत्र-शैली अपना कर इसे अस्पष्ट ही रख दिया है। भूमिका भाग में

---

१. रसकलस, पृष्ठ ९६-१०९।

२. रसकलस, पृ०-२२५। ३. वही, पृ०-२३१।

४. वही, पृ०-२९।

इसकी व्याख्या आपने की है[1], मूलग्रन्थ में नहीं। संचारी के भेदों में कोई नवीनता नहीं है, परम्परा का अनुसरण है।

स्थायीभाव:—जिसकी रस में सदा स्थिति होती है अथवा रसानुकूल हृदय में जो विकार (भाव) उत्पन्न होता है उसे स्थायी भाव कहते हैं।[2] मूलग्रन्थ में यहां भी वही अस्पष्टता है पर भूमिका में इसकी स्पष्ट व्याख्या इन्होंने की है। स्थायी भावों की संख्या परम्परानुसार नौ है। बीभत्स का स्थायी भाव इन्होंने ग्लानि को माना है, जुगुप्सा को नहीं। रीतिकालीन आचार्यों का प्रभाव यहां भी है। संस्कृत के शास्त्रीय ग्रंथों का अनुसरण इन्होंने नहीं किया।

कन्हैयालाल पोद्दार

पोद्दार जी ने रसमंजरी के चतुर्थ स्तवक में असंलक्ष्य-क्रमव्यंग्य ध्वनि के अन्तर्गत रस-निरूपण के प्रसंग में रस के उपकरणों का भी युक्तियुक्त एवं विशद विवेचन किया है। आपने रसस्वरूप को समझाने के पूर्व इसके उपकरणों को भली-भांति समझा दिया है, तदनन्तर पुनः प्रत्येक रस के निरूपण-प्रसंग में तत्सम्बन्धी उपकरणों का भी पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है। फलतः पोद्दार जी द्वारा प्रस्तुत रसोपकरणों में अत्यधिक स्पष्टता, प्रामाणिकता एवं बोधगम्यता आ गई है। इन्होंने अपने मन्तव्य के आधार संस्कृत के सिद्धान्त ग्रन्थों को ही बनाया है और उनमें भी मुख्यतः मम्मट के काव्यप्रकाश को, किन्तु निजी व्याख्या के द्वारा उन्हें सुलझे हुए रूप में उपस्थित किया है। यदि किसी तरह की त्रुटि दृष्टिगोचर होती भी है तो उदाहरणों में ही।

विभाव:—रति आदि स्थायी भावों के उत्पन्न होने के कारण को पोद्दार जी ने विभाव कहा है। इन भावों को ये विभावन करते हैं—आस्वाद के योग्य बनातें हैं, अतः रस के उत्पादक (कारण) होने से इनको विभाव कहते हैं। जिनका आलम्बन करके स्थायी भाव उत्पन्न होते हैं, वे आलम्बन विभाव कहे जाते हैं तथा जो इनका अतिशय उद्दीपन करते हैं—बढ़ाते हैं—वे उद्दीपन विभाव कहे जाते हैं।[3] शृङ्गार रस में रति स्थायी भाव के नायक-नायिका आलम्बन माने गए हैं। पोद्दार जी ने इनके भेदोपभेदों के विवरण देने में अधिक पृष्ठ नहीं खपाए हैं, मात्र दो-तीन पृष्ठों में इनकी सूची या तालिका भर प्रस्तुत कर दी है। नायिकाओं के सभी भेद आपने भानुदत्त की रसतरंगिणी के अनुसार दिए हैं—स्वयं इसे आपने स्वीकार भी किया है।[4] नायक के भेद एवं विवरण तो इन्होंने मात्र तीन पंक्तियों में देकर छुट्टी

---

१. रसकलस, भूमिका, पृ०-११ २. वही, पृ०-५।
३. रसमंजरी (काव्यकल्पद्रुम, भाग १), स्तवक ४, पृष्ठ ११९-१२०।
४. वही, पृ० १८५।

ली है। इससे स्पष्ट है कि पोद्दार जी ने अपने विवेचन-क्रम में विषय के महत्त्व का ध्यान रखा है।

अनुभाव—विभावों के बाद जो भाव उत्पन्न होते हैं, उन्हें अनुभाव कहते हैं। ये उत्पन्न हुए स्थायी भाव का अनुभव कराते हैं। रति आदि स्थायी भाव काव्य में शब्दों द्वारा और नाटक में आलम्बन विभावों की चेष्टाओं द्वारा प्रकट होते हैं। इन चेष्टाओं की ही अनुभाव संज्ञा है[1]। पोद्दार जी ने उपर्युक्त अनुभाव-लक्षण की व्याख्या करके अपने वक्तव्य को सुस्पष्ट भी कर डाला है। तथापि अनुभावों को भाव मानने में मुझे थोड़ी सी आपत्ति है। रीतिकालीन अनेक आचार्यों ने जिस प्रकार भानुदत्त के अनुकरण में विभाव, अनुभाव आदि सबों को भाव मान लिया था, उसी प्रकार पोद्दार जी ने भी विभाव के बाद उत्पन्न भाव को अनुभाव मान लिया है। या तो यह रीतिकालीन प्रभाव है अथवा भ्रम। भाव से वस्तुतः हमें स्थायी और संचारी को ही गृहीत करना चाहिए, अन्यथा पूरी अव्यवस्था की संभावना है। प्रत्येक रस के पृथक्-पृथक् अनुभाव प्रतिपादित करके भी एक व्यापक-दृष्टि आचार्य की तरह आपने कहा है—"अनुभाव असंख्य हैं"। सात्त्विक भावों के सम्बन्ध में आपने अपनी ओर से कुछ नहीं कहा कि ये अनुभाव हैं या संचारी भाव। फिर विश्वनाथ के गोबलीवर्द न्याय की व्याख्या के द्वारा व्यंजना से इन्हें अनुभाव ही निर्दिष्ट किया है। पर काव्यशास्त्र के आचार्य की हैसियत से आपको अपनी मान्यता भी देनी चाहिए थी।

संचारी भावः—नाट्यशास्त्र एवं काव्यप्रकाश के आधार पर आपने संचारी या व्यभिचारी भावों का निरूपण किया है। इन्हें रस का सहकारी कारण कहा गया है तथा सभी रसों में संचार के कारण इनकी संचारी या व्यभिचारी संज्ञा सार्थक बताई गई है। इनकी सख्या तो आपने भी तैंतीस ही मानी है किन्तु अन्य भावों की व्यंजना के संकेत देकर उन्हें प्राचीन तैंतीस संचारियों में ही अन्तर्भुक्त बता दिया है। यथा मात्सर्य को असूया में उद्वेग को त्रास में, दम्भ को अवहित्था में, ईर्ष्या को अमर्ष में, क्षमा को धृति में, उत्कण्ठा को औत्सुक्य और धाष्ट्र्य को चपलता में[2]। स्थायी भाव भी अपने नियत रस से अन्यत्र संचरण करने पर संचारी कहलाते हैं—इसकी ओर भी पोद्दार जी ने संकेत किया है। सारा विवेचन प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर है किन्तु उसके स्पष्ट उपस्थापन का ही पोद्दार जी को श्रेय है।

स्थायी भाव :—पोद्दार जी के अनुसार स्थायी भाव का लक्षण है—'जो भाव चिरकाल तक चित्त में स्थिर रहता है, एवं जिसको विरुद्ध या अविरुद्ध भाव छिपा या दबा नहीं सकते, और जो विभावादि से सम्बन्ध होने पर रस-रूप में व्यक्त

---

१. रसमंजरी, पृ० १२०—१२१। २. वही, पृ० १५२।

होता है, उस आनन्द के मूल भूत भाव को स्थायी भाव कहते हैं।' वास्तविक स्थायी भाव की सत्ता रस की परिपक्वावस्था (आस्वादाबस्था) में ही आपने मानी है। जहां स्थायीं भाव रसावस्था को प्राप्त नहीं होता, वहां वह भाव मात्र है तथा उसे स्थायी भाव की संज्ञा नहीं दी जा सकती है।[1] स्थायी भावों का उपर्युक्त स्वरूप नाट्यशास्त्र, काव्यप्रकाश, दशरूपक और साहित्यदर्पण के आधार पर है तथा पोद्दार जी का उपस्थापन अत्यन्त स्पष्ट और सुलझा हुआ है।

विहारीलाल भट्ट

भट्ठ जी ने साहित्यसागर में सभी रसोपकरणों के पारस्परिक सम्बन्ध का निर्धारण एक सांग रूपक के माध्यम से किया है—स्थायी भाव बीज है, आलम्बन पृथ्वी, उद्दीपन जल, अनुभाव अंकुर और इन सबों के योग पूर्ण होने पर रस-विटप अपने सुन्दर रूप को धारण करता है।[2] इस रूपक में संचारी भावों को छोड़ दिया गया है पर धूप, वृष्टि, ओले, तूफान आदि अस्थायी सहकारी कारणों की योजना की जा सकती थी।

विभाव :—स्थायी के मुख्य कारण को इन्होंने विभाव कहा है।[3] आलम्बन और उद्दीपन का विवरण परम्परानुसारी है। शृंगार के आलम्बनान्तर्गत रसतरंगिणी के अनुसार नायिकाओं और नायक के भेद प्रतिपादित किए गए हैं। साहित्यसागर के तेरहवें तरंग में आध्यात्मिक नायिका-भेद का निरूपण है जो एक सर्वथा नूतन एवं मौलिक प्रयास है। भट्ट जी के अनुसार संसार के प्रत्येक ज्ञान के तीन रूप हैं--आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। उदाहरणार्थ कृष्ण-लीला को भी इन तीन दृष्टियों से देखा जा सकता है। आधिभौतिक दृष्टि से तो वह काम-विकास है, आधिदैविक दृष्टि से भक्ति-प्रकाश है और दृष्टि से ब्रह्म-विलास है।[4] आध्यात्मिक स्तर पर कृष्ण आत्मा के प्रतीक हैं और गोपियां आत्मिक वृतियों की। हमारी वृत्तियां अनेकविध हैं, अतएव नायिकायें (जो उनकी प्रतीक हैं) अनेक विध हो जाती हैं। स्वकीया नायिका हमारी सत्वृत्ति की प्रतीक है और वह आत्मा रूपी नायक से अनन्य प्रेम करती है। परकीया रजोगुणमयी वृत्ति की प्रतीक है तथा गणिका तमोगुणमयी वृत्ति की। वृत्ति का जब उदय होता है तो वह 'मुग्धा' है, जब उसमें थोड़ी स्थिरता आती है तो वह 'मध्या' हो जाती है और वही कर्म-कुशलता प्राप्त करने पर 'प्रौढ़ा' रूप में परिणत हो जाती है। इस प्रकार प्रायः जितने भी नायिका-भेद हैं सबों के आध्यात्मिक रूप को वृत्तियों पर घटा कर भट् जी ने उपस्थित किया है। यहां तक कि अवस्था भेद से किए जाने वाले वासकसज्जा, प्रोषितपतिका, स्वाधीनपतिका आदि भेदों के भी प्रतीक आपने वृत्तियों

---

१. रसमंजरी, पृष्ठ १५२। २. साहित्यसागर, तरंग ५, पृष्ठ, १५४-१५५।
३. वही, तरंग ५, पृष्ठ १५४। ४. वही, तरंग १३, पृष्ठ ५२८।

ली है। इससे स्पष्ट है कि पोद्दार जी ने अपने विवेचन-क्रम में विषय के महत्त्व का ध्यान रखा है।

अनुभाव—विभावों के बाद जो भाव उत्पन्न होते हैं, उन्हें अनुभाव कहते हैं। ये उत्पन्न हुए स्थायी भाव का अनुभव कराते हैं। रति आदि स्थायी भाव काव्य में शब्दों द्वारा और नाटक में आलम्बन विभावों की चेष्टाओं द्वारा प्रकट होते हैं। इन चेष्टाओं की ही अनुभाव संज्ञा है[1]। पोद्दार जी ने उपर्युक्त अनुभाव-लक्षण की व्याख्या करके अपने वक्तव्य को सुस्पष्ट भी कर डाला है। तथापि अनुभावों को भाव मानने में मुझे थोड़ी सी आपत्ति है। रीतिकालीन अनेक आचार्यों ने जिस प्रकार भानुदत्त के अनुकरण में विभाव, अनुभाव आदि सबों को भाव मान लिया था, उसी प्रकार पोद्दार जी ने भी विभाव के बाद उत्पन्न भाव को अनुभाव मान लिया है। या तो यह रीतिकालीन प्रभाव है अथवा भ्रम। भाव से वस्तुतः हमें स्थायी और संचारी को ही गृहीत करना चाहिए, अन्यथा पूरी अव्यवस्था की संभावना है। प्रत्येक रस के पृथक्-पृथक् अनुभाव प्रतिपादित करके भी एक व्यापक-दृष्टि आचार्य की तरह आपने कहा है—"अनुभाव असंख्य हैं"। सात्त्विक भावों के सम्बन्ध में आपने अपनी ओर से कुछ नहीं कहा कि ये अनुभाव हैं या संचारी भाव। फिर विश्वनाथ के गोबलीवर्द न्याय की व्याख्या के द्वारा व्यंजना से इन्हें अनुभाव ही निर्दिष्ट किया है। पर काव्यशास्त्र के आचार्य की हैसियत से आपको अपनी मान्यता भी देनी चाहिए थी।

संचारी भावः—नाट्यशास्त्र एवं काव्यप्रकाश के आधार पर आपने संचारी या व्यभिचारी भावों का निरूपण किया है। इन्हें रस का सहकारी कारण कहा गया है तथा सभी रसों में संचार के कारण इनकी संचारी या व्यभिचारी संज्ञा सार्थक बताई गई है। इनकी सख्या तो आपने भी तैंतीस ही मानी है किन्तु अन्य भावों की व्यंजना के संकेत देकर उन्हें प्राचीन तैंतीस संचारियों में ही अन्तर्भुक्त बता दिया है। यथा मात्सर्य को असूया में उद्वेग को त्रास में, दम्भ को अवहित्था में, ईर्ष्या को अमर्ष में, क्षमा को धृति में, उत्कण्ठा को औत्सुक्य और धाष्ट्‌र्य को चपलता में[2]। स्थायी भाव भी अपने नियत रस से अन्यत्र संचरण करने पर संचारी कहलाते हैं—इसकी ओर भी पोद्दार जी ने संकेत किया है। सारा विवेचन प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर है किन्तु उसके स्पष्ट उपस्थापन का ही पोद्दार जी को श्रेय है।

स्थायी भाव :—पोद्दार जी के अनुसार स्थायी भाव का लक्षण है—'जो भाव चिरकाल तक चित्त में स्थिर रहता है, एवं जिसको विरुद्ध या अविरुद्ध भाव छिपा या दबा नहीं सकते, और जो विभावादि से सम्बन्ध होने पर रस-रूप में व्यक्त

---

१. रसमंजरी, पृ० १२०—१२१। २. वही, पृ० १५२।

होता है, उस आनन्द के मूल भूत भाव को स्थायी भाव कहते हैं।' वास्तविक स्थायी भाव की सत्ता रस की परिपक्वावस्था (आस्वादावस्था) में ही आपने मानी है। जहां स्थायीं भाव रसावस्था को प्राप्त नहीं होता, वहां वह भाव मात्र है तथा उसे स्थायी भाव की संज्ञा नहीं दी जा सकती है।[1] स्थायी भावों का उपर्युक्त स्वरूप नाट्यशास्त्र, काव्यप्रकाश, दशरूपक और साहित्यदर्पण के आधार पर है तथा पोद्दार जी का उपस्थापन अत्यन्त स्पष्ट और सुलझा हुआ है।

विहारीलाल भट्ट

भट्ठ जी ने साहित्यसागर में सभी रसोपकरणों के पारस्परिक सम्बन्ध का निर्धारण एक सांग रूपक के माध्यम से किया है—स्थायी भाव बीज है, आलम्बन पृथ्वी, उद्दीपन जल, अनुभाव अंकुर और इन सबों के योग पूर्ण होने पर रस-विटप अपने सुन्दर रूप को धारण करता है।[2] इस रूपक में संचारी भावों को छोड़ दिया गया है पर धूप, वृष्टि, ओले, तूफान आदि अस्थायी सहकारी कारणों की योजना की जा सकती थी।

विभाव :—स्थायी के मुख्य कारण को इन्होंने विभाव कहा है।[3] आलम्बन और उद्दीपन का विवरण परम्परानुसारी है। शृंगार के आलम्बनान्तर्गत रसतरंगिणी के अनुसार नायिकाओं और नायक के भेद प्रतिपादित किए गए हैं। साहित्यसागर के तेरहवें तरंग में आध्यात्मिक नायिका-भेद का निरूपण है जो एक सर्वथा नूतन एवं मौलिक प्रयास है। भट्ट जी के अनुसार संसार के प्रत्येक ज्ञान के तीन रूप हैं—आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। उदाहरणार्थ कृष्ण-लीला को भी इन तीन दृष्टियों से देखा जा सकता है। आधिभौतिक दृष्टि से तो वह काम-विकास है, आधिदैविक दृष्टि से भक्ति-प्रकाश है और दृष्टि से ब्रह्म-विलास है।[4] आध्यात्मिक स्तर पर कृष्ण आत्मा के प्रतीक हैं और गोपियां आत्मिक वृतियों की। हमारी वृत्तियां अनेकविध हैं, अतएव नायिकायें (जो उनकी प्रतीक हैं) अनेक विध हो जाती हैं। स्वकीया नायिका हमारी सत्वृत्ति की प्रतीक है और वह आत्मा रूपी नायक से अनन्य प्रेम करती है। परकीया रजोगुणमयी वृत्ति की प्रतीक है तथा गणिका तमोगुणमयी वृत्ति की। वृत्ति का जब उदय होता है तो वह 'मुग्धा' है, जब उसमें थोड़ी स्थिरता आती है तो वह 'मध्या' हो जाती है और वही कर्म-कुशलता प्राप्त करने पर 'प्रौढ़ा' रूप में परिणत हो जाती है। इस प्रकार प्रायः जितने भी नायिका-भेद हैं सबों के आध्यात्मिक रूप को वृत्तियों पर घटा कर भट् जी ने उपस्थित किया है। यहां तक कि अवस्था भेद से किए जाने वाले वासकसज्जा, प्रोषितपतिका, स्वाधीनपतिका आदि भेदों के भी प्रतीक आपने वृत्तियों

१. रसमंजरी, पृष्ठ १५२। २. साहित्यसागर, तरंग ५, पृष्ठ, १५४-१५५।
३. वही, तरंग ५, पृष्ठ १५४। ४. वही, तरंग १३, पृष्ठ ५२८।

में ढूँढ़ लिए हैं।[1] काव्यात्मक रस-शास्त्र की दृष्टि से इनका कोई महत्त्व चाहे न हो, भट्ट जी की उद्भावना-शक्ति और मौलिकता-प्रेम का परिचय हमें अवश्य मिल जाता है। लौकिक नायिका भेदों में भी अर्थात् आधिभौतिक रूप में भी भट्ट जी नायिका को आकाश की तरह पूर्ण मानते हैं और जैसे उपाधि भेद से आकाश को लोग घटाकाश, मठाकाश आदि विभिन्न भेदों में विभक्त कर देखते हैं उसी प्रकार एक ही नायिका विविध रूपों में जाति, गुण, अवस्था आदि के आधार पर काव्य शास्त्रियों द्वारा देखी जाती है।[2] भट्ट जी की इस मान्यता में मौलिकता के साथ सत्यता भी है। आध्यात्मिक रूप में नायक का एक ही भेद इन्होंने माना है—कृष्ण (जो आत्मा का प्रतीक है)।

अन्य उपकरण:—जिनके द्वारा स्थायी भाव का अनुभव होता है उन्हें भट्ट जी ने अनुभाव कहा है। सात्त्विक भावों को अंगों के ऊपर लक्षित तो आप मानते हैं किन्तु स्पष्ट उल्लेख आपने नहीं किया है कि ये अनुभाव या संचारी भाव। जो संचरण करते रहते हैं (विभिन्न रसों में) वे संचारी भाव हैं तथा जो भाव अपने रस में स्थिर रहे वह स्थायी भाव है।[3] इनके भेद परम्परागत हैं पर लक्षण अत्यन्त संक्षिप्त होने के कारण व्याख्या की उपेक्षा रखते हैं।

रामचन्द्र शुक्ल

शुक्ल जी ने रसस्वरूप की भांति रसोपकरणों पर भी परम्परा की बंधी-बंधाई लीक से हटकर विवेचन किया है। आपके रसोपकरण-विवेचन के मूलाधार तो परम्परागत सिद्धान्त ग्रन्थ ही है किन्तु आधुनिक परिप्रेक्ष्य में उनका विश्लेषण तथा अपेक्षित परिवर्त्तन-परिशोधन निजी हैं।

विभाव:—शुक्ल जी के विभाव का स्वरूप अत्यन्त व्यापक है। वे इसके अन्तर्गत उन सभी वस्तुओं और व्यापारों को लेते हैं जो हमारे मन में सौन्दर्य, माधुर्य दीप्ति, कान्ति, प्रताप, ऐश्वर्य, बिभूति इत्यादि की भावनाएं उत्पन्न करते हैं। ऐसी वस्तुओं और व्यापारों की योजना करने वाली प्रतिभा को भी आप विभाव-विधायिनी मानते हैं।[4] अतएव शुक्ल जी द्वारा निर्दिष्ट विभाव के अन्तर्गत उन सभी वस्तुओं के स्वरूप की प्रतिष्ठा होनी चाहिए जो भावों के आश्रय, आलम्बन और उद्दीपन हों।[5] प्राचीन काव्य शास्त्र में भी विभाव के अन्तर्गत आलम्बन, आश्रय, और उद्दीपन—इन तीनों का उल्लेख हुआ है। शुक्ल जी रस-सम्बन्धी उपादानों में सर्वाधिक महत्व विभाव को ही प्रदान करते हैं, क्योंकि ये ही भावों को उठाते, जगाते तथा जमाते हैं। विभावान्तर्वती आश्रय, आलम्बन और उद्दीपन नामक तीन

---

१. साहित्यसागर, तरंग १३, पृष्ठ ५२८-५३७। २. वही, तरंग ६, पृष्ठ १९७।
३ वही, तरङ्ग ५, पृष्ठ १५४।
४. चिन्तामणि, प० भा०, पृ०-२६६। ५. रसमीमांसा, पृ० १२८।

तत्वों में भी इन्होंने आलम्बन की ही प्रधानता मानी है क्योंकि काव्य में एक मात्र इसके अस्तित्व से भी रसनिष्पति संभव हो जाती है। मम्मट एवं विश्वनाथ ने भी असाधारण आलम्वन की स्थिति में अन्य अनुभावादि उपादानों की कल्पित योजना द्वारा रसनिष्पत्ति स्वीकार की है। कृष्ण और राधा—श्रृङ्गार—रस की अनुभूति के लिए ऐसे ही असाधारण आलम्बन हैं। तात्पर्य यह कि वस्तु-विन्यास (विभाव-चित्रण) ही काव्य में मुख्य है। यदि वह अच्छी तरह बन पड़ा तो पाठक के हृदय में दृश्य के सौन्दर्य, भीषणता, विशालता इत्यादि का अनुभव थोड़ा-थोड़ा आपसे आप हो जायगा। आलम्बन विभाव के अन्तर्गत शुक्ल जी नायक-नायिकाओं अर्थात् व्यक्तियों को ही नहीं गिनते हैं प्रत्युत वस्तु, व्यापार, घटना, परिस्थिति, प्रकृतिखंड आदि सभी गोचर पदार्थों को गृहीत करते हैं जो हमारी कल्पना और ज्ञान के अवयव होने में समर्थ हो सकते हैं[१]। आलम्बन विभाव की इसी व्यापकता और प्रधानता की भित्ति पर आपका प्रकृतिवादी सिद्धान्त भी अवलम्बित है। प्रगीत और मुक्तक काव्यों की अपेक्षा प्रबन्धकाव्य और आख्यानकाव्य को श्रेष्ठ घोषित करने का रहस्य भी यही है। कविता के द्वारा अशेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध की रक्षा और निर्वाह के सिद्धान्त की आधार—भूमि भी आलम्बन की व्यापकता ही है। शुक्ल जी ने कल्पना के उद्भव, निर्माण और विकास का आधार भी विभाव को ही स्वीकार किया है। आपका कहना है कि सहृदयों और कवियों में कल्पना का उद्भव तभी होता है जब वे विभाव के सम्पर्क में जाते हैं तथा उसी की रूप-तरंगों से कल्पना के विविध अंगों का भी निर्माण होता है। चूंकि शुक्ल जी ने विभाव-चित्रण को ही वस्तु-विन्यास कहा है, अतएव आपका निर्देश है कि केवल वस्तुओं के नाम गिना देने से ही वस्तु-विन्यास नहीं हो जाता है प्रत्युत उनका संश्लिस्ट उपस्थापन नितान्त वांछित है। संश्लिस्ट वस्तु-विन्यास या विभाव वर्णन से ही पाठक तथा श्रोता समुचित विम्ब-ग्रहण कर पाता है। रसानुभूति के साधारणीकरण सिद्धान्त का सम्बन्ध भी शुक्ल जी ने विभाव से ही जोड़ा है, क्योंकि आप आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण स्वीकार करते हैं। यों शुक्लजी ने अपने रसमीमांसा नामक ग्रन्थ के कई पृष्ठों में विभाव का ही विवेचन किया है किन्तु उनके मुख्य प्रतिपाद्य विषय ये ही हैं। इन्हीं का पल्लवन आपने अनेक उद्धरणों और उदाहरणों के द्वारा किया है।

अनुभाव—शुक्ल जी अनुभाव सम्बन्धी परम्परागत मान्यता में स्वरूपतः कोई भेद नहीं मानते हैं। यदि आपने यत्किंचत् सुधार करना भी चाहा है तो उनके वर्गीकरण में ही। आप अनुभाव को भावों का कार्य होने के कारण भाव-सूचक चिन्ह मानते हैं।[३] इनका सम्बन्ध हमेशा भावों के आश्रय के साथ होता है। शुक्ल जी ने अनुभावों का विवेचन भावशीर्षक अध्याय के अन्तर्गत किया है। इसका कारण

१ रसमीमांसा, पृ०—१२२।   २. इन्दौरवाला भाषण, पृ० ३२—३३।
मांसा, पृष्ठ १२९।

यह है भाव-विश्लेषण के अनुसार भाव के स्वरूप के भीतर अंग रूप में अनुभाव भी आ जाते हैं ।[1] इन्होंने अनुभावों का केवल एक ही वर्ग माना है—कायिक । शारीरिक चेष्टायें और व्यापार ही तो वस्तुतः अनुभाव है, अतएव इनका सम्बन्ध मात्र शरीर से होने के कारण इन्हें शारीरिक मानना ही चाहिए । संस्कृत के कई रस-ग्रन्थों में तथा हिन्दी के रीतिग्रन्थों में सात्त्विक, कायिक, मानसिक और आहार्य—ये चार वर्ग अनुभावों के निर्दिष्ट किए गए हैं । शुक्ल जी सात्त्विक और आहार्य वर्गों के अन्दर परिगणित अनुभावों को कायिक मानते हैं । रोमांच, कंप आदि तथाकथित सात्त्विक भाव अन्ततः शारीरिक चेष्टाएं ही हैं और इनका उद्भव भावों के उदय के साथ स्वभावतः होता है । वेश-विन्यास (आहार्य) भी एक प्रकार की शारीरिक चेष्टा ही है । मानसिक अनुभाव को शुक्ल जी इसलिए स्वीकार नहीं करते हैं कि यह सूचक न होकर सूच्य कोटि में आता है । इसकी गणना आप संचारी भाव के अन्तर्गत करते हैं ।[2] आमोद-प्रमोद जैसी मानसिक अवस्था को अनुभाव मानना युक्तिसंगत नहीं है—क्योंकि इनका कोई भी बाह्य चिन्ह दृष्टिगोचर नहीं होता है । यदि इनके चिन्ह हों भी तो वे शारीरिक-चेष्टा होने के कारण अनुभाव के अन्तर्गत आयेंगे । फलतः शुक्ल जी के अनुभाव की व्याप्ति शारीरिक चेष्टाओं और व्यापारों तक ही है और प्राचीन आचार्यों द्वारा निर्धारित विभिन्न वर्गों के अनुभाव कायिक-कोटि में ही आ जाते हैं । मानसिक अनुभाव—जो इसमें नहीं समाविष्ट हो सकते हैं, शुक्ल जी उन्हें संचारी भाव मान लेते हैं ।

संचारी भाव—शुक्ल जी संचारी भाव को स्थायी भाव का अंग मानते हैं । इन दोनों के मध्य कार्य-कारण सम्बन्ध आपने नहीं माना है । संचारी भाव वस्तुतः आपकी द्रष्टि में वह मनोविकार है जो मूल भाव को पुष्ट करे तथा उसे व्यापक बनाकर रसास्वाद की अवस्था तक पहुंचाने में सहायता करे । शुक्ल जी द्वारा निरूपित संचारी भाव के स्वरूप में परम्परा से कोई भेद नहीं है । यहां भी आपने संचारी भावों के वर्गीकर और विश्लेषण में ही अपनी मौलिकता दिखाई है । इन्होंने संचारी भावों की संख्या तो ३३ मानी है किन्तु इसे एक उपलक्षण मात्र माना है अर्थात् नए भावों के अनुसन्धान से इनकी संख्या वृद्धि आप संभव मानते हैं । छः नए संचारी भावों की आपने उद्भावना भी की है ।

संचारी भावों के वर्गीकरण के शुक्ल जी ने दो आधार ग्रहीत किए हैं । प्रथम आधार के अन्तर्गत इनके पारस्परिक विरोधाविरोध को आप लेते हैं तथा द्वितीय आधार के अन्तर्गत इनके स्वरूप या उद्भव आदि को । पहले आधार पर आपने समस्त संचारी भावों को चार भेदों में बांट दिया है—सुखात्मक, दुःखात्मक उभयात्मक और उदासीन । सुखात्मक के अन्तर्गत गर्व-औत्सुक्यादि नौ संचारी भावों

१. र० मी० पृ० २३० । २. वही, पृ० २१९ ।

को, दुःखात्मक के अन्तर्गत लज्जा-असूयादि १८ संचारी भावों को, उभयात्मक के अन्तर्गत आवेग-समृत्यादि ७ संचारी भावों को और उदासीन के अन्तर्गत वितर्क मत्यादि ५ संचारी भावों को आपने युक्तिपूर्वक गिनाया है।[1] परम्परागत ३३ संचारी भावों के अतिरिक्त आपने छः नवीन संचारी भावों की भी उद्भावना इस वर्गीकरण-तालिका में की हैं। संतोष, असंतोष, मृदुलता, नैराश्य, विस्मृत और चित्तचांचल्य—ये छः संचारी भाव सर्वथा नूतन हैं।

द्वितीय वर्गीकरण के अनुसार स्वतन्त्र विषय वाले भाव, मन के वेग, अंतः-करण वृत्तियाँ, मानसिक अवस्थाएं, शारीरिक अवस्थाएं—ये पांच वर्ग संचारी भावों के माने गए हैं। स्वतन्त्र विषय वाले वर्ग के अभ्यन्तर गर्व, लज्जा और ईर्ष्या नामक तीन संचारियों को शुक्ल जी ने रखा है। इनके आलम्बन तो स्वतन्त्र होते हैं किन्तु वे इतने गौण होते हैं कि पाठक उनका साधारणीकरण नहीं कर पाते अतएव ये संचारी भाव भावावस्था में ही रह जाते हैं, अन्यथा ये भी रत्यादि स्थायी भावों की तरह रसावस्था को प्राप्त कर लेते।[2] मन के वेग वाले वर्ग में औत्सुम्य, ग्लानि आवेग, अमर्ष, त्रास, हर्ष, विषाद आदि संचारी भावों का अन्तर्निवेश इन्होंने किया है। ये संचारी भाव मन के क्षणिक वेग हैं और स्थायी भावों के अंग बन कर आते हैं। भय के साथ त्रास का, आश्चर्य या विस्मय के साथ जड़ता का, क्रोध के साथ अमर्ष और उग्रता का अंगागिभाव सम्बन्ध सुस्पष्ट है। अंतःकरण की वृत्ति नामक तृतीय वर्ग के भीतर स्मृति, चिन्ता, वितर्क मतिआदि भावों की गणना शुक्ल जी ने की है। ये अंतःकरण की वृत्तियां हैं और संचारी भाव का रूप तभी लेती हैं जब इन वृत्तियों को प्रेरित करने वाले स्थायी भाव हों। बुद्धि द्वारा प्रेरित होने पर ये संचारी भाव नहीं कहला सकती है।[3] कतिपय संचारी भावों को शुक्ल जी ने मानसिक अवस्था ही स्वीकार किया है। इस चतुर्थ वर्ग के अंतर्गत दैन्य, मद, जड़ता, चपलता आदि संचारी भावों को समाविष्ट किया गया है। इन मानसिक अवस्थाओं की भी प्रेरणा स्थायी भावों से ही प्राप्त होनी चाहिए और तभी ये संचारीभाव कहला सकती हैं।[4] कुछ-एक ऐसे भी संचारी भाव हैं जिन्हें शुक्ल जी ने शारीरिक अवस्था नामक पंचम वर्ग में रखा है। इस वर्ग में गिनाए गए संचारी भाव हैं—श्रम, ग्लानि (अंग जन्य) निद्रा, विबोध, मरण, व्याधि, अप-स्मार आदि ये भी स्थायी भावों द्वारा प्रेरित होते हैं और तभी संचारीभाव की संज्ञा प्राप्त करते हैं।[5] इस प्रकार समस्त संचारी भावों को शुक्ल जी ने पांच वर्गों में विभक्त कर उनके स्वरूप का युक्तियुक्त निरूपण किया है।

स्थायी भाव—शुक्ल जी ने आठ स्थायी भावों को स्वीकार किया है—रति,

---

१. र० मी० पृ० २००। २. वही पृ० २०७। ३. वही पृ० २११।
४. वही, पृ० २१७। ५. वही पृ० २३०-२३२।

हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, आश्चर्य और जुगुप्सा। शान्त रस के स्थायी भाव निर्वेद को आपने अभाव रूप माना है।[1] यों व्यवहारिक समीक्षा में इन्होंने शान्तरस तथा स्वभावतः उसके स्थायी भाव निर्वेद का भी उल्लेख किया है।[2] उपर्युक्त आठ स्थायी भावों को भी आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार आपने सुखात्मक और दुःखात्मक दो मूल भावों में बांट दिया है।[3] निर्वेद को आप काव्य-वहिष्कृत इसलिए समझते हैं कि इससे निष्पन्न शान्त रस में लोकानुभूति की अवमानना तथा आध्यात्मिकता का निवेश है। निर्वेद भाव की अवस्था में न तो सुख होता है और न दुःख, अतएव वह अभाव-स्वरूप है। भक्तिरस का अन्तर्भाव आप शान्त रस में नहीं करते हैं प्रत्युत राग को उसका स्थायी भाव मान कर उससे इसे पृथक् कर लेते हैं। राग रति का ही व्यापक और दिव्य रूप है। इस राग के अन्तर्गत प्रकृति-प्रेम, देश-प्रेम, वत्सल-प्रेम आदि का भी समावेश हो जाता है। अतएव शुक्ल जी सिद्धान्ततः आठ ही स्थायी भावों को स्वीकार करते हैं।

शुक्ल जी रस-शास्त्रीय भावों के विश्लेषण के अनन्तर इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि भावों की तीन दशायें होती हैं—भाव दशा, स्थायी दशा, और शील दशा। कोई भाव जब एक अवसर पर, एक आलम्बन के प्रति उन्मुख होता है तो उसकी भाव दशा या क्षणिक दशा होती है, वही भाव जब अनेक अवसरों पर एक आलम्बन के प्रति उन्मुख होता है तो उसकी स्थायी दशा होती है और वही भाव अनेक अवसरों पर अनेक आलम्बनों के प्रति उन्मुख होने पर शीलदशा में रहता है।[4] भावों की भाव दशा के उदाहरण मुक्तक काव्य हैं, स्थायी दशा के उदाहरण प्रबन्ध काव्य हैं और शील दशा के उदाहरण पात्रों के चरित्र-चित्रण में उपलब्ध होते हैं।

समीक्षा—शुक्ल जी का स्थायी भाव विवेचन युक्तियुक्त एवं उत्कृष्ट है, इसमें प्रायः किसी को आपत्ति न होगी। यदि इस प्रसंग में कोई बात अमान्य है तो निर्वेद नामक स्थायी भाव के सम्बन्ध में। आपने निर्वेद को न स्थायी भाव माना है और न शान्त को नवम रस। निर्वेद को आपने सुख-दुःखाभावावस्था के कारण (न यत्र दुःखम् न सुखम् न किंचित्) अभाव-स्वरूप मान कर टाल दिया है और अपने भावचक्रों में कहीं भी उसे स्थान नहीं दिया है। शान्त रस को लेकर संस्कृत काव्य-शास्त्र में भी पर्याप्त विवाद एवं विवेचन हुआ है। प्राचीन आचार्यों का निर्णय है कि नाटकों में शान्त रस का अभिनय कठिन है पर श्रव्य काव्य में उसका आस्वाद किया जा सकता है। इस परम्परागत विवाद में गए बिना हम इतना निवेदन कर देना आवश्यक समझते हैं कि सुख-दुःखाभाव के कारण निर्वेद को भाव न मानना तथा उसे अभाव-रूप कहना समुचित नहीं है। प्रत्येक भाव अन्ततः एक मनोदशाविशेष ही है। फिर ऐसी मनोदशा को मानने में आपत्ति

१. र० मी० पृ० १७२। २. गोस्वामी तुलसीदास पृ० ८५।
३. र० मी० पृ०१९२-१९३। ४. वही पृ० १८६।

क्यों जिसमें न सुख हो और न दुःख हो अर्थात् उदासीनता हो। दूसरी बात यह कि अभाव की भी सत्ता होती है। वैशेषिक दर्शन के अन्तर्गत विविक्त सात पदार्थों में अभाव भी एक पदार्थ है। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव आदि उसके चार रूप माने गए हैं। जब प्रागभाव की भी सत्ता मानी जाती है तो सुख-दुःख से शून्य मनोदशा की भावात्मक सत्ता में आपत्ति करना न्याय्य नहीं है। निर्वेद को न मानने के कारण परम्परागत विचारणा की तो अवमानना होती ही है। स्वयं शुक्ल जी भी अपनी मान्यता में पूर्णतः दृढ़ नहीं प्रतीत होते हैं—कम से कम व्यावहारिक समीक्षा में तो शान्त रस का उल्लेख करते ही हैं।

श्यामसुन्दर दास

इन्होंने रस के मूलाधार भावों का विवेचन दो दृष्टियों से किया है—मनोविज्ञानवेत्ताओं के अनुसार और साहित्यज्ञों के अनुसार। प्रथम दृष्टिकोण के अनुसार आपने भावों के तीन प्रकार स्वीकृत किए हैं—इन्द्रियजनित, प्रज्ञात्मक और रागात्मक या गुणात्मक। प्रथम श्रेणी के भाव मात्र स्थूल शरीर से सम्बन्ध रखते है, द्वितीय श्रेणी के भावों में सांसारिक अनुभवों का भी पुट रहता है तथा तृतीय श्रेणी के गुणात्मक भावों में विशेष लक्ष्य की पूर्ति की प्रयन्तशीलता भी रहती है।[1] जिन वस्तुओं से ये त्रिविध भाव व्यंजित होते हैं वे विभाव हैं, जिन क्रियाओं से विभावजन्य मनोबिकार प्रकट होते हैं वे अनुभाव हैं और जो भाव मुख्य भावों की पुष्टि करते हैं तथा समय समय पर मुख्य भाव का रूप धारण कर लेते हैं, वे संचारी भाव हैं।[2]

द्वितीय दृष्टिकोण अर्थात् काव्यशास्त्रीय दृष्टिकोण के अनुसार डॉ० दास ने रसोपकरणों की परम्परागत विवेचना प्रस्तुत की है। इसमें मौलिकता तो प्रायः नहीं है पर विषय को स्पष्ट करने का तरीका तथा भाषा की सफाई अवश्य ही स्तुत्य है। तदनुसार प्रत्येक उपकरण के सम्बन्ध में आप का मन्तव्य इस प्रकार है:—

विभावः—विभाव भाव में आस्वाद योग्यता के अंकुर उत्पन्न करते हैं। जो विभाव भाव को जगाते हैं उन्हें आलंबन कहते हैं और उसे उद्दीप्त अथवा तीव्र करने वाला विभाव उद्दीपन कहलाता है। विभाव के विना कोई भाव उदित नहीं होता है। यहाँ तक कि संचारी भावों के उदय के लिए भी विभाव की अपेक्षा होती है। स्थायी औरसंचारी के विभाव में केवल मात्रा का अन्तर होता है। संचारी भाव का उदय स्वल्प विभाव से भी संभव है, पर स्थायी भाव के उदय के लिए विभाव की पूर्णता वांछित होती है।[3] डॉ० दास ने विभाव बिवेचन में निरर्थक नायक-नायिका भेद प्रस्तुत नहीं किए हैं।

अनुभावः—भावों के बाह्य लक्षणों को श्यामसुन्दरदास अनुभाव मानते हैं—जैसा इस शब्द की व्युत्पत्ति से भी स्पष्ट है (अनु पश्चात् भवन्ति इति अनुभावाः)।

१. साहित्यालोचन, पृ०—२५४। २. वही, पृ० २६१। ३. वही, पृ० २६६।

वस्तुत: अनुभावों को द्वारा ही भावों की सूचना मिलती है । अतएव यदि विभाव भाव को अंकुरित करता है तो अनुभाव उसे आस्वाद योग्य बनाता है ।[1] इन्होंने अनुभावों के कायिक, मानसिक और सात्विक नामक वर्गों को तो स्वीकार किया है किन्तु "आहार्य" को अभिनय का अंग या बीज माना है । अनुभाव के किसी भी वर्ग की संख्या का निर्धारण आपको मान्य नहीं है, फिर भी सात्विक अनुभाव के स्तंभ, स्वेद आदि परम्परागत आठ भेद स्वीकार्य हैं ।[2] स्पष्ट है कि इन्होंने सात्विक भावों को बाह्य विकार होने के कारण अनुभावों के अन्तर्गत रखा है, व्यभिचारी भावों के अन्तर्गत नहीं ।

संचारी भाव:—संचारी भाव का स्वरूप आपने परम्परागत लक्षणों के आधार पर निर्दिष्ट किया है । स्थायी भावों की पोषकता, संचरणशीलता, अस्थायिता, तरंगों की तरह उत्पत्ति और विलयन आदि विशेषताओं का उल्लेख इस प्रसंग में किया गया है । संचारी भावों के निर्वेदादि तैंतीस भेदों का भी उल्लेख आपने किया है। किन्तु इस निर्धारित संख्या को आप एक उपलक्षण मात्र मानते हैं । तथापि किसी नूतन भेद की उद्भावना आपने न की । भानुमिश्र के द्वारा मात्सर्य, उद्वेग, दंभ, ईर्ष्या, विवेक, निर्णय, क्षमा, उत्कंठा, धृष्टता आदि भावों का क्रमश: असूया, त्रास, अवहित्था, अमर्ष, मति, धृति, औत्सुक्य और चपलता में अन्तर्भाव आप को मान्य नहीं है । इस अन्तर्भाव को आप किसी तरह ठूंस देना कहते हैं ।[3] यदि डॉ० दास ने भानुमिश्र के अन्तर्भाव का विश्लेषण कर खण्डन किया होता तो आप की आपत्ति में अधिक बल होता। किन्तु ऐसा न कर अपनी असामर्थ्य या थोथी दलील का ही परिचय दिया है । "छल" नामक संचारी भाव को आप देव कवि की उद्भावना मानते हैं किन्तु रसतरंगिणी में किए गए उल्लेख से आप अपरिचित हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि डॉ० दास ने भानुमिश्र की रसतरंगिणी स्वयं देखी नहीं है और सुनी सुनायी बातों के आधार पर ही लिख मारा है ।

स्थायी भाव:—जो भाव रस का आस्वादन होने तक मन में ठहरे रहते और उसे निमग्न कर डालते हैं वे स्थायी भाव कहलाते हैं ।[4] ये सजातीय किम्बा विजातीय भावों से विच्छिन्न न होते हैं ।[5] स्थायी भाव के स्वरूप को डॉ० दास स्पष्ट नहीं कर सके हैं। तत्वत: स्थायी भाव ही रसरूप में परिणत होता है और ऐसी स्थिति में रसास्वाद से पृथक् उसकी सत्ता नहीं रह जाती है । फलस्वरूप रसास्वाद के क्षण तक उसके ठहरने का प्रश्न ही नहीं उठता है। स्थायी भावों की संख्या आप नौ मानते हैं । शान्त का स्थायी भाव "शम" आप को मान्य है । इससे निष्पन्न शान्त रस की अभिनेयता में आस्था रखने के कारण इसे डॉ० दास नाट्यरस भी मान लेते हैं ।

---

१. साहित्यालोचन, पृ० २६७ । २. वही पृ० २६८ । ३. वही, पृ० २६४ ।
४. वही, पृ० २६३ । ५. वही पृ० २६५ ।

इस प्रकार डॉ० दास ने रसोपकरणों के विवेचन का आधार परम्परागत काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों को तो बनाया किन्तु अपने प्रतिपाद्य विषयों को कतिपय स्थलों में सुस्पष्ट न कर सके, जिनकी ओर ऊपर संकेत किया जा चुका है। प्राय: इन ग्रंथों के साथ आपका प्रत्यक्ष सम्पर्क न था।

रामदहिन मिश्र

मिश्र जी के काव्यदर्पण में पृथक्-पृथक् छाया में रस के विभिन्न उपकरणों का निरूपण हुआ है। परम्परागत शास्त्रीय विचारों के विश्लेषण में आपको पूरी सफलता मिली है। आधार आपने किसी एक ग्रन्थ का नहीं लिया है प्रत्युत विषय की पूर्ण स्पष्टता के लिए संस्कृत काव्यशास्त्र के भिन्न भिन्न ग्रन्थों के विचारों को पचाकर प्रस्तुत किया है। आधुनिक हिन्दी काव्य के उदाहरणों को ढूंढ कर समुचित प्रसंग में प्रस्तुत करना भी आपकी नवीनता है। रसोपकरणों के सम्बन्ध में आपके विचार मुख्यत: इस प्रकार वर्णित हैं:–

विभाव:–मिश्र जी के अनुसार जिन वर्णनीयों के द्वारा रति आदि स्थायी भाव जागरूक होकर रसरूप धारण करते हैं, वे विभाव हैं। यों कहिए कि भाव के कारण विभाव हैं।[1] आलम्बन और उद्दीपन विभाव के इन्होंने पृथक् वितरण दिए हैं। आलम्बन विभाव के अन्तर्गत नाममात्र के लिए आपने कतिपय नायिकाओं और नायकों के भेदों, लक्षणों और उदाहरणों का उल्लेख किया है। जहां रीतिकालीन ग्रन्थों के अधिकांश भाग में नायक-नायिका निरूपण ही रहा करता था, वहाँ मिश्र जी ने केवल दो पृष्ठों में इसकी ओर संकेत भर कर दिया है।[2] आपने आधुनिक काव्य में वर्णित नए आलम्बनों की चर्चा की है। इसके अन्तर्गत प्रकृति और मानवीकृत अलौकिक रहस्यात्मक सत्ता से लेकर देशसेवक, आत्मबलिदानी, अछूत, कृषक, अनाथ नारी, कर्मकार आदि रंग-विरंगे असंख्य आलम्बनों की एक लम्बी सूची इन्होंने उपस्थित कर दी है। वेदना, सौन्दर्य, लज्जा, स्वप्न जैसे भावात्मक विषय भी आधुनिक काव्य में आलंबन बन कर आए हैं—इनकी ओर भी मिश्र जी ने दृक्-पात किया है। आधुनिक गीतिकाव्य में तो कवि अपने आप को भी आलंबन के रूप में प्रस्तुत करता है (व्यक्तिगत अनुभूति को प्रकट करने के कारण)।[3] तथापि मिश्र जी की मान्यता है जिन आलंबनों के साथ पाठकों का साधारणीकरण हो सके, वे आलंबन ही श्रेयस्कर हैं। सभी आलंबनों के साथ काव्य सौन्दर्य संभव भी नहीं है। मिश्र जी रजनीगंधा और नीम में अन्तर मानते हैं। मेरी धारणा है कि आलंबन विशेष के आधार पर रसानुभूति में घट-बढ़ नहीं होती है, प्रत्युत उसके उपस्थापन की प्रक्रिया एवं समीचीनता के आधार पर ही। उद्दीपन विभाव के रूप में वर्णित समस्त विषयों को प्राय: मिश्र जीने समाहृत कर लिया है।

१. काव्य दर्पण, पृ० ४६। २. वही, पृ० ४७—४८। ३. वही पृ० ५०।

अनुभाव :—मिश्र जी के अनुसार जो भावों के कार्य हैं या जिनके द्वारा रति आदि भावों का अनुभव होता है उन्हें अनुभाव कहते हैं ।[1] कायिक, मानसिक, आहार्य और सात्विक नामक चार परम्परागत अनुभाव-भेदों को भी इन्होंने स्वीकार किया है । स्तंभ-स्वेदादि आठ सात्विक भावों को आपने शरीर के अकृत्रिम अंगविकार होने के कारण अनुभाव ही माना है, व्यभिचारी भाव नहीं । नायिकाओं के अंगज, अयत्नज और स्वभावज अट्ठाइस अलंकारों को भी आपने अनुभाव स्वीकार किया है । इतना अवश्य कि ये अनुभाव नायिकाओं तक ही सीमित होते हैं । मिश्र जी का अनुभाव-निरूपण विश्वनाथ के साहित्य-दर्पण के अनुसार है ।[3] भानुदत्त के अनुसार इन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि जो चेष्टाएँ रसोद्दीपक होंगी वे उद्दीपन मानी जायँगी और जो अनुराग (रति) के बाह्यप्रकाश कार्य होंगे वे अनुभाव कहे जायँगे।

संचारी भाव :—मिश्र जी का संचारी भाव-लक्षण परम्परा-सम्मत है। संचरणशील अर्थात् अस्थिर मनोविकारों को आप संचारी भाव कहते हैं। संचारी भावों की परम्परागत तैंतीस संख्या ही आपको मान्य है, तथापि इसे आप एक उपलक्षण मात्र मानते हैं । रसविमर्श नामक मराठी ग्रन्थ के लेखक डा० वाटवे तथा "रसमीमांसा" के लेखक रामचन्द्र शुक्ल के विचारों को भी इस प्रसंग में उद्धृत कर आपने उनका तर्कपूर्ण खण्डन किया है । मनोविज्ञान के आधार पर उपर्युक्त लेखकों ने परम्परागत संचारियों में कुछ को बुद्धिवृत्ति और कुछ को शरीर-धर्म स्वीकार किया है । विशेषतः मृत्यु, श्रम, निद्रा और स्मृति नामक संचारी भावों की समस्या उठाकर आपने सिद्ध कर दिखाया है कि ये शारीरिक अवस्थाएँ नहीं हैं प्रत्युत अन्य भावों की तरह ये भी चित्तवृत्तियाँ या मनोविकार ही हैं । मृत्यु का तात्पर्य मिश्रजी शरीर-प्राण-वियोग नहीं मानते हैं बल्कि चित्तवृत्ति की उस दशा को आप मृत्यु कहते हैं जिसमें मृत्यु के समान कष्ट की अनुभूति हो । इसी प्रकार श्रम को आप शारीरिक श्रम मानने की बजाय मानसिक श्रम मान लेते हैं । निद्रा को भी आप मानसिक मानते हैं और इसे शारीरिक निद्रा की पूर्वावस्था बताते हैं। प्रो० वाटवे ने स्मृति को हर्ष-शोकादि भावों का उद्दीपक बताया है—अर्थात् स्मृति स्वत: भावना नहीं है बल्कि बुद्धि का व्यापार है । मिश्र जी इसे मनोराग मानते हैं क्योंकि सदृश वस्तु के ज्ञान से उत्थित संस्कार-जन्य भावना का ही नाम स्मृति है । अतएव स्पष्टत: इसका सम्बन्ध मन से है, शरीर से नहीं ।[4] फिर भी शरीर और मन के अविभाज्य एवं अनिवार्य सम्बन्ध को मिश्र जी स्वीकार करते हैं । आपके कथन में सत्य का अंश तो है किन्तु मृत्यु, श्रम और निद्रा नामक संचारी भावों के शरीरावस्थात्व का आप सबल निराकरण नहीं कर सके हैं । या तो यह विषय को टालना है अथवा परम्परा के प्रति विशेष मोह । आपने नवोद्भावित संचारी भावों का परम्परागत

---

१. का०द०, पृ० ५८ । २. वही, पृ० ५९–६३ । ३. साहित्य दर्पण । ३।१३३–१३४ ।
४. काव्यदर्पण, पृ० ६६ और रसतरंगिणी, पृ० ४५ । ५. काव्यदर्पण, पृ० ८१–८७।

भेदों में अन्तर्भाव भी बताया है। भानुमिश्र द्वारा उल्लिखित विषयों को ही इस प्रसंग में आपने प्रस्तुत किया हैं। शुक्ल जी द्वारा उद्भावित "चकपकाहट" को आपने "आवेग" में, "उदासीनता" को निर्वेद में और "अनिश्चय" को शंका में अन्तर्भुक्त कर दिया है।[1] इसी प्रकार आशा, निराशा, पश्चात्ताप, विश्वास, दयादाक्षिण्य आदि भावों को आप न तो महत्वपूर्ण ही मानते हैं और न तैंतीस परम्परागत भावों से पृथक् ही।

स्थायी भाव :—जो भाव वासनात्मक होकर चित्त में चिरकाल तक अचंचल रहता है उसे मिश्र जी ने स्थायी भाव कहा है। आपने प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर इसकी चार विशेषताओं[2] का उल्लेख किया है—

(१) स्थायी भाव अन्य भावों को अपने में लीन कर लेता है,
(२) यह सजातीय तथा विजातीय भावों से नष्ट नहीं होता है,
(३) यह आस्वाद का मूलभूत होकर विराजमान रहता है,
(४) विभाव, अनुभाव और संचारी भावों से परिपुष्ट होकर रसरूप में परिणत हो जाता है,

इस प्रसंग में इन्होंने मनोवैज्ञानिकों द्वारा प्रतिपादित प्राथमिक (Primary) और संमिश्र (Complex) भावों का उल्लेख किया है तथा प्राच्य स्थायी भावों से इनका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों में मेग्डानल साहब विस्मय या आश्चर्य को साधित भावना (derived emotion) मानते हैं, उत्साह और शोक को मनाते ही नहीं हैं तथा शंड साहब केवल क्रोध, आनन्द, भय, शोक, जुगुप्सा और विस्मय—इन छः भावों को स्वीकार करते हैं। मिश्र जी का निष्कर्ष है कि भारतीय आचार्यों और पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों के दृष्टिकोण ही भिन्न हैं। एक का दृष्टिकोण दार्शनिक है और दूसरे का मनोवैज्ञानिक। भारतीय काव्य शास्त्र भावों का वर्गीकरण रस की अनुकूलता और प्रतिकूलता के आधार पर करता है तथा पाश्चात्य मानस-शास्त्र भावों की प्राथमिकता और साधिकता के आधार पर करता है। फिर भी दोनों दृष्टिकोणों में अत्यधिक साम्य है।[3] इसके अतिरिक्त मिश्र जी ने स्थायी भावों की स्वीकृति के लिए छः विशेषताओं से सम्बन्धित एक कसौटी का निर्माण किया है। इस पर खरे उतरने वाले भाव ही स्थायी भाव हैं। वे विशेषताएँ हैं–आस्वाद्यत्व, उतकटत्व, पुरुषार्थोपयोगिता, सर्वजनसुलभत्व, उचित-विषय-निष्ठत्व और मनोरंजनाधिक्य।[4]

उपर्युक्त कसौटी पर कस कर आपने एकादश भावों को स्थायी भाव माना है—रति, हास, क्रोध, शोक, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय, शम, वात्सल्य और भक्ति।

---

१. काव्यदर्पण, पृ० ९०। २. काव्यदर्पण, पृष्ठ ९३। ३. वही पृ० १००।
४. वही पृ० १०२।

इस प्रकार मिश्र जी के काव्यदर्पण में प्रतिपादित रसोपकरणों में मौलिकता भले ही न हो (इसकी गुंजाइश भी कहाँ है ?) पर विषय का स्पष्टीकरण, क्रमबद्धता, प्राच्य-पाश्चात्य ग्रंथों का आलोड़न, सुबोधता आदि गुण अवश्य ही विद्यमान हैं।

गुलाबराय

इन्होंने नवरस तथा सिद्धान्त और अध्ययन नामक ग्रंथों में रसोपकरणों का विवेचन किया है। नवरस के दूसरे अध्याय में, जिसे रस-सामग्री नाम दिया गया है लगभग १०४ पृष्ठों में इन्हीं उपकरणों का निरूपण है तथा सिद्धांत और अध्ययन के रस और मनोविज्ञान नामक खंड में भी लगभग १५ पृष्ठों में इसी विषय की चर्चा की गई है। विभाव, अनुभाव, संचारी और स्थायी भावों की निरूपणा राय जी ने परम्परागत शास्त्रीय आधार पर ही की है और अपने विश्लेषण-क्रम में साहित्यदर्पण रसतरंगिणी, दशरूपक आदि संस्कृत ग्रंथों से तथा रसिक-रसाल, भावविलास, शब्द-रसायन आदि हिन्दी रीतिग्रंथों से अनेक लक्षणों को उद्धृत किया है। इन्होंने स्वनिर्मित लक्षण आदि नहीं प्रस्तुत किए हैं, अतएव इन उपकरणों का पृथक्-पृथक् निरूपण है। ऐसा करने से परम्परागत विचारों का पिष्टपेषण ही होगा। नवरस के शृंगार-रस खंड में राय जी ने नायिका-भेद और नायक-भेद भी प्रस्तुत किए हैं तथा प्राचीन आचार्यों द्वारा किए गए वैज्ञानिक-विश्लेषण की पूर्ण प्रशंसा की है। आपका कहना है कि प्राचीन काव्यशास्त्रियों के इस अध्ययन को गर्हित कदापि नहीं मानना चाहिए तथा आधुनिक काव्यमीमांसकों को युग-धर्म के अनुकूल काव्य-शास्त्रीय विषयों से सम्बद्ध अन्य क्षेत्रों में प्रवेश करना चाहिए। नायिका-भेदों और नायक-भेदों के अध्ययन से हमें मानव स्वभाव का पता चलता है और यह निरूपण सर्वथा मनोविज्ञान-सम्मत है।[1]

रसोपकरणों के सम्बन्ध में राय जी की मुख्य देन यह है कि आपने सात्विक भावों, संचारी भावों तथा स्थायी भावों का अध्ययन आधुनिक मनोविज्ञान के आलोक में किया हैं। स्तम्भादि आठ सात्विक भावों को आप अनुभाव स्वीकार करते हैं, क्योंकि ये शारीरिक परिवर्तनों के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। हमारे मानसिक भाव किस प्रकार शारीरिक परिवर्तन के रूप में लक्षित होते हैं–इसके लिए हमारे शरीर-विज्ञान और मनोविज्ञान दोनों का अध्ययन आवश्यक समझा है। एतदर्थ इन्होंने समस्त स्नायुसंस्थान का अध्ययन प्रस्तुत किया है और प्रत्येक सात्विक भाव को मस्तिष्क से प्रभावित स्नायु-विकार के रूप में सिद्ध करने का प्रयास किया है[2]। राय जी का यह विशद वैज्ञानिक अध्ययन स्तुत्य ही नहीं, सर्वथा मौलिक भी है। इसी प्रकार "सिद्धान्त और अध्ययन" में आपने ड्रूमन्ड और मेलोन द्वारा प्रणीत Elemets of Psychology नामक पुस्तक से मनोवेगों के अध्ययन के लिए अपेक्षित पाँच विषयों को उद्धृत एवं रस-शास्त्रीय उपकरणों के साथ उनकी तुलना कर, रस

१. नवरस, पृ० १५५–१५८। २. वही, पृ० ११७।३२।

सिद्धान्त को अत्यन्त मनोवैज्ञानिक सिद्ध कर दिखाया है। मनोवेगों के अध्ययन के लिए मनोविज्ञान में निम्नोक्त पाँच बातें आवश्यक मानी गई हैं–

[१] उसके विषय का वर्णन–दृष्टिकल्पित या स्मृत परिस्थितियों का वर्णन,
[२] उसका भावमूलक गुण–सुखद है, दुखद है किम्बा उदासीन,
[३] संकल्प-शक्ति को प्रभावित करने का प्रकार—उससे संलग्न क्रियात्मक प्रवृत्तियाँ,
[४] शारीरिक अभिव्यंजक--आन्तरिक अवयव सम्बधिनी संवेदनाएं और पेशियों की क्रियायें,
[५] भिन्न-भिन्न विकास की अवस्थाओं में मानसिक विकास के भिन्न-भिन्न धरातलों पर मनोवेगों के विविध रूप, यदि कोई हों।[1]

गुलाब राय जी का कहना है कि भारतीय रस सिद्धान्त का भवन इन्हीं उपर्युक्त पाँच तथ्यों पर अवलम्बित है। स्थायी भावों [मनोवेगों] की उत्पत्ति के लिए आलम्बन और उद्दीपन विभाव ही परिस्थितियों का निर्माण करते है। प्रत्येक स्थायी भाव को सुखात्मक, दुःखात्मक आदि कह कर उसके गुण का भी निरूपण भारतीय रस-शास्त्र में किया गया है।[2] स्थायी भावों की क्रियात्मक प्रवृत्तियाँ तथा शारीरिक अभिव्यंजनायें स्पष्टत: अनुभावों और सात्विक भावों के रूप में देखी जा सकती हैं। विभिन्न मानसिक दशाओं में मनोवेगों की विभिन्नता के सम्बन्ध में राय जी ने स्वीकार किया है कि हमारे रस-शास्त्र में इसकी कमी है। तात्पर्य यह है कि बालक का क्रोध या भय एक प्रौढ़ व्यक्ति के क्रोध और भय से भिन्न है, इसी प्रकार स्त्री का क्रोध या भय पुरुष के क्रोध या भय से भिन्न होता है–भावों के इस रूप वैविध्य के अध्ययन की आवश्यकता अभी बनी हुई है। निष्कर्ष यह कि उपर्युक्त पाँच विशेषताएं जो मनोवेगों के सम्बन्ध में पाश्चात्य मनोविज्ञान में बताई गई हैं, उनमें से चार तो भारतीय रस-सिद्धान्त में यथावत् लागू हैं पर पांचवी विशेषता की ओर अभी ध्यान नहीं दिया गया है।[3] सात्विक भावों को राय जी परम्परागत अध्ययन के आधार पर अनुभाव तो मानते हैं किंतु इन्हें साधारण अनुभाव से भिन्न होने के कारण सात्विक-भाव के अलग खाते में रखने का समर्थन करते है। सामान्य अनुभाव वाह्य अवयवों से सम्बन्ध रखते हैं और सात्विक भाव आभ्यन्तर अवयवों से। शरीर विज्ञान की दृष्टि से विचार करें तो कह सकते है कि सात्त्विक भावों का उद्भव स्वत: चालित संस्थानों

---

१. Elements of Psychology. पृ० २२६ का हिन्दी अनुवाद (सिद्धान्त और अध्ययन से उद्धृत)
२. (क) काव्यप्रदीप। पृ० ७५। (ख) वही। पृ० ८०।
(ग) साहित्यदर्पण। ३। १७७। (घ) काव्यप्रदीप। पृ० ८४।
३. सिद्धान्त और अध्ययन। पृ० १८६।

[Automatic system] से होता है और अन्य अनुभावों का उद्भव बहिर्मुखी स्नायुओं के द्वारा होता है। इसी प्रकार भारतीय रस-शास्त्र में प्रतिपादित नौ या दश स्थायी भावों का सम्बन्ध भी आपने मैक्ड्यूगल द्वारा निर्दिष्ट १४ सहजप्रवृत्तियों के साथ जोड़ा है। इस तुलना-क्रम में राय जी ने रति नामक स्थायी भाव का सम्बन्ध प्रजनन और सामाजिक प्रवृत्ति के साथ [Pairing and Gregariousinstincts], हास्य का सम्बन्ध हास्य प्रवृत्ति [instinct of laughter] के साथ, शोक का आर्त प्रार्थना और आधीनता स्वीकृति [Appeal and submission] के साथ, क्रोध का सम्बन्ध लड़ाई की प्रवृत्ति [combat] के साथ, उत्साह का अस्तित्व-स्थापन और प्राप्तीच्छा (Assertive and Acquisition) के साथ, भय का भागने की प्रवृति (Escape) के साथ, विस्मय का औत्सुक्य (Curio—sity) के साथ, जुगुप्सा का विकर्षण (Rupulsion) के साथ तथा वात्सल्य का सन्तति-स्नेह (Parental instinct) के साथ प्रतिपादित किया है। शान्त रस की प्रवृत्ति नहीं है,किसी तरह शरणागति (appeal) के साथ जोड़ा जा सकता है। इस तरह सभी रसोपकरणों को आपने मनोविज्ञान-सम्मत बताया है।

लक्ष्मीनारायण "सुधांशु"

सुधांशु जी ने रस के उपकरणों पर न तो स्वतन्त्र चिंतन किया है और न परम्परागत विविक्त विषयों को ही दुहराने का कष्ट किया है। वस्तुत: आपने अपने ग्रन्थों में रस–निरूपण की योजना भी नहीं बनायी है। काव्य और जीवन का परस्पर-सम्बन्ध-स्थापन तथा पाश्चात्य अभिव्यंजनावादी सिद्धांत के विवेचन ही आपके आलोच्य विषय हैं। अतएव इस सीमित परिधि के भीतर ही प्रसंगवश भारतीय रसपद्धति पर भी आपने हलका प्रकाश डाला है। साधारणीकरण के सम्बन्ध में तो आपने अपने ढंग से कुछ लिखा भी है, रसोपकरण के सम्बन्ध में कुछ लिखने का न तो अवकाश ही था और न वैसी कोई आवश्यकता ही, अपनी अध्ययन-सीमा के भीतर, आपने समझी। तथापि कहीं कहीं इस सम्बन्ध में आपकी मान्यताएं उपलब्ध हैं, जिन्हें प्रस्तुत किया जाता है।

सुधांशु जी के अनुसार मनुष्य के हृदय में बाह्य जगत् की संवेदनाओं के कारण विकार उठते हैं जो मिलकर भाव की संज्ञा प्राप्त करते हैं। मूल भाव वस्तुत: दो हैं, सुख और दुःख। इन्हीं दोनों मूल भावों को राग और द्वेष भी कहते हैं। उदासीनता या मोह नामक एक तीसरी भी मानसिक वृत्ति है किन्तु उसे सुधांशु जी गौण मानते हैं। इसका कारण यह है कि जो भाव सक्रिय होते हैं, उनकी चेष्टायें (अनु—भाव) काव्य या नाटक में प्रदर्शित की जा सकती हैं और "उदासीनता" की स्थिति में सक्रियता न होने के कारण वैसा संभव नहीं है। अतएव उसे एक मूलभाव नहीं माना जा सकता है[1]। सुख और दुःख से समुद्भूत राग और द्वेष ही आश्रय तथा

१. जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त। ३-४।

आलम्बन के विचार से कई मनोविकारों के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। साहित्य शास्त्र की रसपद्धति को भी आप इन्हीं दोनों भावों पर अवलम्बित मानते हैं।[1] काव्य में विपरीत भावों के वृत्ति-चक्र के वर्णन को आप स्तुत्य मानते हैं। अनुलोम-प्रतिलोम भावों का वर्णन जीवन की गत्यात्मक स्थिति के चित्रण के लिए आवश्यक है। क्रोध के साथ शांति, घृणा के साथ श्रद्धा, ईर्ष्या के साथ भक्ति, गर्व के साथ नम्रता पाप के साथ पुण्य आदि के वर्णन से जीवन के तात्विक रहस्य का उद्घाटन होता है।[2] भावों का वर्गीकरण आपने एक दूसरे ढङ्ग से भी किया है। भावों दो के वर्ग हैं— सशक्त भाव और अशक्त भाव। क्रोध उत्साह, साहस आदि सशक्त भाव हैं और करुणा, दया क्षमा, और सहानुभूति आदि अशक्त भाव हैं। सहृदय मनुष्यों में भावों की ये सभी वृत्तियाँ रहती हैं। उच्च और शक्तिशाली जीवन के निर्माण के लिए दोनों प्रकार के भावों का अवलम्बन आवश्यक है।[3] मनोविकारों को नैसर्गिक होते हुए भी सुधांशु जी समाज-पोषित मानते हैं। क्षमा, क्रोध उत्साह आदि मनोविकारों की सत्ता समाज में ही प्रकट होती है और उसी से उनका पोषण भी होता है। ईर्ष्या-जैसा दूषित मनोविकार तो स्पष्टतः समाज की धारणा से ही उत्पन्न हुआ है।[4]

परम्परागत रस पद्धति के अनुभावों को शारीरिक विकार होने के कारण सुधांशु जी ने कर्म की श्रेणी में गिना है।[5] आपका कहना है कि भाव स्वतः प्रत्यक्ष नहीं होते हैं, वे कर्म के रूप में ही अपने आश्रयों में प्रत्यक्ष होते हैं। वस्तुतः मनुष्य की कोई क्रिया इच्छा के योग के बिना कर्म नहीं मानी जाती है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि कर्म भावानुमोदित होते हैं और उन्हीं की अभिव्यक्तियाँ ये क्रियायें है।

रसानुभूति के लिए आप भाव और विभाव का सामंजस्य अपेक्षित मानते हैं। पर कहीं कहीं (असाधारण स्थिति में) केवल विभाव से ही आप रसानुभूति मान लेते है। आश्रय और आलम्बन के साथ तादात्म्य के बिना रसानुभूति सम्भव नहीं है और इसके लिए पूर्ण संयम की अपेक्षा है।[6]

समीक्षा :— सुधांशु जी का दृष्टिकोण एक समाज-शास्त्री का दृष्टिकोण, काव्यशास्त्री का नहीं। मूलभावों के वर्गीकरण और उनके मिश्रित या विकसित रूपों के विवेचन के लिए आप पं० रामचन्द्र शुक्ल के ऋणी हैं[7]। भावों के स्वरूप को आप स्पष्ट नहीं कर सके हैं और उनके नाम गिनाने के समय आपने अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोषों से बचने का प्रयास नहीं किया है। पूर्व-निर्धारित स्थायी भावों और

१. जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त। पृ० ६।
२. वही। पृ० ७। ३. वही। पृ० १७। ४. वही। पृ० ११।
५. वही। पृ० २२-२३।
६. काव्य में अभिव्यंजनावाद। पृ० ७२।
७. तुलनार्थ द्रष्टव्य। चिन्तामणि। प० भा०। भाव या मनोविकार शीर्षक निबन्ध पृ० १-५।

संचारी भावों को पृथक पृथक रख कर आपने चिंतन नहीं किया है। यही कारण है कि उल्लेख्य भावों का आप नाम भी नहीं लेते हैं और एक ही भाव के कई पर्याय-वाची शब्दों को पृथक भाव के रूप में रख देते हैं। करुणा से पृथक दया कोई भाव नहीं है, क्रोध के साथ साहस भी आ जाता है तथा क्षमा और सहानुभूति भी करुणा में समाविष्ट करने योग्य भाव हैं। स्पष्ट है कि रस-शास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सुधांशु जी का भाव चिन्तन अत्यन्त शिथिल है। सामाजिक पीठिका में इनके विवेचन की दृष्टि से इनका महत्व भले ही थोड़ा-बहुत हो। अनुभावों को कर्म कहना कहाँ तक संगत है? अनुभाव शब्द आँगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक इस रूप-चतुष्टयात्मक शरीर व्यापारों को गतार्थ करते हैं। क्या ये सभी कर्म हैं? नायिकाओं के अयत्नज, स्वभावज आदि अलङ्कारों को तथा आलम्बन और आश्रय के बचनों को कर्म कोटिक नहीं माना जा सकता है। फिर सात्विक भावों को अर्थात् स्तम्भ-स्वेदादि को हम कर्म कैसे मान लें? रस-शास्त्रीय अनुभाव शब्द अत्यन्त व्यापक है और उसमें कर्म या क्रिया भी एक अंश है। विभाव के सम्बन्ध में सुधांशु जी ने अधिक लिखा ही नहीं है, अतएव उसकी समीक्षा भी सम्भव नहीं है।

डा० नगेन्द्र

इन्होंने अपनी 'रीतिकाव्य की भूमिका' नामक ग्रन्थ में रस की प्राचीन परि-भाषा को स्पष्ट करने के प्रसंग में उसके उपकरणों पर भी संक्षिप्त प्रकाश डाला है। इसके अतिरिक्त भावों अर्थात् स्थायी और संचारी भावों का अध्ययन मनोवैज्ञानिक परिपार्श्व में भी किया है।

डा० नगेन्द्र विभाव को रति, करुणा आदि भावों का कारण मानते हैं। जिनके आधार से भाव जागृत होते हैं, वे आलम्बन विभाव हैं, जैसे नायक-नायिका आदि। उद्दीपन, आपने उसे कहा है, जो भावों को उद्दीप्त अर्थात् उत्तेजित करे, यथा बसन्त, उपवन, चाँदनी आदि। भावानुभूति के अनुकर्म या व्यक्त प्रभाव अनुभाव हैं, जैसे भ्रूक्षेप, स्मिति, कटाक्ष आदि। व्यभिचारी अस्थायी भाव हैं जो क्षण-क्षण में उठ-गिर कर स्थायी भाव की पुष्टि करते हैं।[1]

भारतीय रसवाद के स्थायी भावों और संचारी भावों की तुलना पाश्चात्य मनोविज्ञान की मनोवृत्तियों और मनोवेगों के साथ आपने की है। तदनुसार आपका निष्कर्ष है कि हमारे भाव पौरस्त्य और पाश्चात्य मन:शास्त्रों की कसौटी पर बहुत अंशों में खरे उतरते हैं। आधुनिक मनोविज्ञान के सर्वथा अनुकूल न होते हुए भी यह विवेचन अमनोवैज्ञानिक और अनर्गल नहीं है।[2] डॉ० नगेन्द्र की दृष्टि में भारतीय रसवाद के स्थायी भावों और संचारी भावों की गिनाई गई संख्या मान्य नहीं है। आपका कहना है—

---

१ रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ३९।   २ वही, पृ० ८१।

"यह देखते हुए भी कि संस्कृत के आचार्यों ने अपने नौ स्थायियों के अन्तर्गत ही सब सशक्त मनोवेगों का समाहार कर दिया है, इस संख्या को सर्वथा निर्दोष और पूर्ण नहीं माना जा सकता। वात्सल्य को रति से पृथक् स्थान देना ही होगा। करुण की परिधि में भी शोक के अतिरिक्त अनुकम्पा, कार्पण्य आदि का समावेश करना होगा। ···गर्व, ग्लानि, असूया आदि में रस-परिणति की क्षमता अवश्य माननी पड़ेगी। संचारियों का वर्णन स्पष्टतः अपूर्ण और सदोष है। उसमें से ऐसे संचारी भावों को निकालना ही पड़ेगा जो मुख्यतः शरीर के धर्म हैं। इसके अतिरिक्त गणना का प्रयत्न करना व्यर्थ होगा।"[1]

समीक्षा—भावों की संख्या के सम्बन्ध में डॉ० नगेन्द्र का उपर्युक्त निष्कर्ष सर्वथा युक्तियुक्त है। परम्परागत काव्यशास्त्र में इसे एक उपलक्षण ही माना गया है। वात्सल्य को परवर्ती काल में स्वतन्त्र रूप दिया भी गया। भक्ति को भी पृथक् करने की व्यवस्था की गई। कतिपय उद्रिक्त संचारी भावों की परिस्थिति विशेष में रस-परिणति भी मानी गई है। संचारी भावों की संख्या को तो अधिकांश विवेचकों ने उपलक्षण ही माना है। परिगणित ३३ संचारी भावों में मृत्यु, श्रम, निद्रा, स्मृति आदि कतिपय ऐसे संचारी भाव हैं जिन्हें शरीर-व्यापार के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं माना जा सकता है। शुक्ल जी को भी ऐसे भाव खटके हैं। उन्होंने कतिपय नवीन संचारी भावों की उद्भावना भी कर दिखाई है। कुछ परम्परागत संचारी भावों को शरीर-व्यापार और कुछ को बुद्धि-व्यापार भी आपने माना है। इसके विपरीत पं० रामदहिन मिश्र जैसे रुढ़िवादी आचार्य भी हैं जिन्होंने परम्परागत-मान्यताओं के दुराग्रह में पड़कर मृत्यु, श्रम, स्मृति आदि शरीर व्यापार माने गये संचारी भावों को भाव सिद्ध करने के लिए उनके अर्थ और लक्षण ही परिवर्तित कर डाले हैं। डा० नगेन्द्र की स्थिति सन्तुलित है। न इसमें परम्परा के प्रति मोह या दुराग्रह है और न विद्रोह या अवहेलना की भावना। तर्क एवं युक्ति की कसौटी पर कसकर आपने अपने निष्कर्ष गृहीत किये हैं।

(३) साधारणीकरण

पीठिका—रसनिष्पति के सम्बन्ध में साधारणीकरण की चर्चा संस्कृत काव्यशास्त्र में ही पर्याप्त रूप से हुई थी। इसका आरम्भ सर्वप्रथम भट्टनायक ने, तदनन्तर अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ, जगन्नाथ प्रभृति आचार्यों ने अपने-अपने ढंग से, थोड़े हेर-फेर के साथ प्रस्तुत किया। भट्टनायक और अभिनवगुप्त के साधारणीकरण सम्बन्धी मूल विचार अभिनवभारती में तथा काव्यप्रकाश में (मम्मट के शब्दों में) उपलब्ध हैं। भट्टनायक का कहना था कि रसानुभूति के पूर्व सामाजिक और सहृदय निविड़निजमोह रूपी संकट से ग्रस्त रहता है, अतएव काव्यगत या नाटकगत

---

१ रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ८२।

विभावादि आत्मीय, तटस्थ किम्बा साधारण रूप में ज्ञात नहीं होते हैं। अभिधा के द्वारा अर्थबोध के अनन्तर भावकत्व (भावना) व्यापार के द्वारा यह अज्ञानता (मोह संकट) दूर हो जाती है और वे विभावादि साधारणीकृत होकर प्रतीत होते हैं। तदनन्तर सत्व गुण के उद्रेक से भोजकत्व (भोग) व्यापार के द्वारा अनुभव-स्मृत्यादि-विलक्षण, परब्रह्मास्वादतुल्य, आनन्दमय रस की अनुभूति होती है।[1] भट्टनायक के साधारणीकरण-सिद्धान्त में अभिनवगुप्त ने शब्द-भेद से थोड़ा-सा संशोधन उपस्थित कर दिया। अभिनवगुप्त के कथनानुसार अर्थबोध के अनन्तर सम्बन्ध-विशेष परिहार (यह मेरा है, यह शत्रु का है और यह तटस्थ का है) भट्टनायक-प्रतिपादित भावना व्यापार के द्वारा नहीं होता है प्रत्युत विभावन के द्वारा और अन्ततः आनन्दस्वरूप विलक्षण रस की अनुभूति भी भोग व्यापार द्वारा नहीं प्रत्युत व्यंजना व्यापार के द्वारा होती है। तात्पर्य यह कि भट्टनायक के भावना और भोग व्यापारों के स्थान में अभिनवगुप्त ने विभावन और व्यंजना नामक व्यापारों का निवेश किया। अभिनव की मान्यता को ही मम्मट और विश्वनाथ ने समर्थित किया। मम्मट ने अभिनव के साधारणीकरण सिद्धान्त की स्पष्टता के प्रसंग में दो बातों की ओर संकेत किया—(१) अपरिमितप्रमातृत्व और (२) सम्बन्धविशेषस्वीकार–परिहारानियमनाध्यवासाय।[2] तात्पर्य यह कि रसानुभूति मात्र एक सहृदय या सामाजिक को नहीं होती है प्रत्युत वासनायुक्त सभी सहृदयों और सामाजिकों को होती है। दूसरी बात कि रसानुभूति के क्षण में किसी आलम्बन के सम्बन्ध में न आत्मीयता की स्वीकृति का निश्चय होता है और न स्वत्व के परिहार का ही निश्चय होता है, सामाजिक सामान्य रूप में उसे गृहीत करते हैं। शकुन्तला या सीता का ग्रहण सामान्य कामिनीत्व के रूप में होता है। विश्वनाथ आश्रय और प्रमाता में तादात्म्य मान लेते हैं—यहाँ तक कि प्रमाता समुद्र लाँघने वाले हनुमान के साथ भी तादात्म्य स्थापित कर वैसा ही अनुभव करने लगता है।[3] फलतः मम्मट और विश्वनाथ प्रतिपादित साधारणीकरण का मूलस्वरूप तो अभिनवगुप्तानुसारी ही है, किन्तु स्पष्टीकरण के क्रम में कतिपय नई बातें आ गई हैं। जगन्नाथ ने "अन्य विद्वानों की ओर से" सर्वथा चौंकाने वाली एक नई बात कही है। उनका कहना है कि आश्रय के साथ तादात्म्य या अभेदाध्यास स्थापित कराने वाली रसानुभूति एक भ्रमात्मक ज्ञान है। वस्तुतः यह साधारणीकरण न तो भावना व्यापार से होता है और न विभावन व्यापार से, बल्कि सतत् काव्यानुशीलन के परिणामस्वरूप हममें एक दोष उत्पन्न होता है जिसके प्रभाव से हम दुष्यन्तादि आश्रयों के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं।[4] संस्कृत काव्य-शास्त्र के साधारणीकरण सिद्धान्त में सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि वहाँ विभा-

---

१. अभिनव भारती, प्र० भा०, पृ० २७७।
२. काव्य प्रकाश/४/२८ की व्याख्या, पृ० ५५–५६।
३. साहित्य दर्पण/३/९—१०। ४. हिन्दी रसगङ्गाधर, पृ० ६८।

वादि का साधारणीकरण माना गया है अर्थात् आलम्बन, आश्रय, उद्दीपन [विभाव], अनुभाव, स्थायी और संचारी सभी रसोपकरणों का साधारणीकरण स्वीकृत किया गया है। उनके उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि उन्होंने पक्ष-विपक्ष या अनुकूल-प्रतिकूल चरित्रों के तारतम्य को भी नहीं माना है। आश्रय चाहे राम हों या रावण—उसके आलम्बन, अनुभाव आदि को साधारणीकृत कर रसानुभूति मान ली गई है। हाँ, प्रतिकूल आश्रयालम्बन-जन्य रसानुभूति में प्रकृति-विपर्यय नामक रस-दोष की कल्पना की गई है। इसके साथ साधारणीकरण का दूरारूढ़ सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है।

हिन्दी काव्य-शास्त्र—हिन्दी साहित्य के रीति कालीन ग्रन्थों में साधारणीकरण का विवेचन प्रायः नहीं हुआ है। चिन्तामणि, कुलपति, भिखारीदास और जनराज जैसे दो-चार आचार्यों ने संस्कृत-काव्य-शास्त्रीय रसनिष्पत्ति के चार सिद्धांतों को प्रस्तुत करने का प्रयास भी किया तो उन्हें स्पष्ट रूप में वे न रख सके। भट्टनायक और अभिनवगुप्त की भावना और विभावन की तो उन्होंने चर्चा भी नहीं की। फलतः हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों के हाथों साधारणीकरण का प्रतिपादन अंशतः भी संभव न हुआ। रही परवर्ती काल की बात। परवर्ती काल के जिन दश आचार्यों को इस अध्याय के अन्य खण्डों में मैंने अपने अध्ययन का विषय बनाया है, उनमें से कतिपय आचार्य इस प्रसंग में मौन हैं। उदाहरणार्थ, रसरत्नाकर के प्रणेता जगन्नाथ प्रसाद 'भानु', रसकलश के रचयिता अयोध्या सिंह उपाध्याय और साहित्य-सागर के लेखक बिहारीलाल भट्ट ने साधारणीकरण के सम्बन्ध में कुछ भी विचार नहीं किया है। उपाध्याय जी ने रसकलश की भूमिका में विभावन व्यापार का नाम तो लिया है, पर इससे साधारणीकरण का क्या सम्बन्ध है, इस पर थोड़ा भी प्रकाश नहीं डाला है। शेष आचार्यों में—कन्हैयालाल पोद्दार, रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दर दास, रामदहिन मिश्र, गुलाबराय, सुधांशु और डा० नगेन्द्र ने साधारणीकरण का विवेचन अपने अपने ढंग से किया है और कई मौलिक बातें भी कहीं है। इन्हीं का आकलन इस अध्ययन खंड का मुख्य अनुसन्धेय विषय है। उपर्युक्त आचार्यों में भी मौलिकता की दृष्टि से पं० रामचन्द्र शुक्ल और डा० नगेन्द्र अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। अतः कालक्रमानुसार उक्त सात आचार्यों की साधारणीकरण-सम्बन्धी मान्यतायें समीक्षा-परीक्षा के साथ प्रस्तुत हैं।

कन्हैयालाल पोद्दार

पोद्दार जी ने भरत-सूत्र के चार व्याख्याताओं (भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त) के आरोपवादी, अनुमानवादी, भोगवादी और अभिव्यक्तिवादी सिद्धान्तों का युक्तियुक्त एवं सुस्पष्ट प्रतिपादन किया है। भट्टनायक और अभिनवगुप्त द्वारा निरूपित साधारणीकरण की चर्चा भी आपने इसी प्रसंग में की है। भट्टनायक अभिधा, भावना और भोग नामक तीन शब्द-व्यापारों की कल्पना करते हैं तथा भावना के प्रभाव से सामाजिकों के द्वारा विभावादि का साधारणी-

करण बताते हैं । अन्ततः भोग के द्वारा साधारणीकृत विभावादि से सामाजिकों को निर्बाध रसास्वाद होने लगता है । पोद्दार जी ने भट्टनायक के मत को निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए कहा है[1]—'काव्य नाटकों के सुनने और देखने पर तीन कार्य होते हैं—पहले उसका अर्थ समझ में आता है, फिर उसकी (काव्य-नाटकों में देखे और सुने हुए की) भावना अर्थात् चिन्तन किया जाता है, जिसके प्रभाव से सामाजिक यह अनुभव नहीं कर पाते कि काव्य-नाटकों में जो सुना और देखा जाता है, वह किसी दूसरे से सम्बन्ध रखता है या हमारा ही है । इसके बाद सत्त्वगुण के उद्रेक और आत्मचैतन्य से प्रकाशित साधारणीकृत रति आदि स्थायी भावों का सामाजिक आस्वाद करने लगते हैं, यही रस है ।' पुनः व्यक्तिवाद के रूप में पोद्दार जी ने अभिनवगुप्ताचार्य और मम्मटाचार्य के मत का उपस्थापन किया है । आपका कहना है कि विभावादि के संयोग से व्यंजना नाम की एक अलौकिक क्रिया उत्पन्न होती है, उसी के अलौकिक विभावन व्यापार अर्थात् साधारणीकरण द्वारा सामाजिकों की वासना जाग्रत हो जाती है, वही रस की अभिव्यक्ति है ।[2] अभिनवगुप्त की साधारणीकरण सम्बन्धी मान्यता का निष्कर्ष पोद्दार जी ने इस रूप में उपस्थित किया है—

'अभिनवगुप्ताचार्य के अनुसार साधारणीकरण भावना का व्यापार नहीं है किन्तु व्यंजना का अलौकिक विभावन व्यापार है । इस विभावन व्यापार के अर्थात साधारणीकरण के प्रभाव से सहृदय सामाजिक विभावादियों में—'अयं निजः परो वेति' अर्थात् 'ये मेरे ही हैं' या 'ये दूसरे के हैं' अथवा 'ये मेरे नहीं हैं' या 'दूसरे के नहीं हैं'—इस प्रकार के किसी विशेष सम्बन्ध का अनुभव नहीं करते । फलतः अपने को और काव्य-नाटकों के दुष्यन्त-शकुन्तलादि को अपने से अभिन्न समझने लगते हैं अर्थात् सामाजिक काव्य-नाटकों के विभावों से प्रेम-व्यापार का आनन्दानुभव अभिन्नता से करते हैं ।'[3]

इस प्रसंग में पोद्दार जी ने एक तथ्यपूर्ण विषय की ओर संकेत किया है । सामाजिक साधारणीकृत इत्यादि का आस्वाद करता है—इसका तात्पर्य न तो यह है कि दुष्यन्तादि विभावों में सामाजिक अपने प्रेम-व्यापार का अनुभव करता है और न यह कि सामाजिकों को दुष्यन्तादि के प्रेम-व्यापार का अनुभव होता है । प्रथम स्थिति में लज्जा और पापाचरण आदि दोष होंगे और द्वितीय स्थिति में अन्यदीय रहस्य-दर्शनजन्य लज्जास्पदता और निन्दा की संभावना होगी ।[4]

समीक्षा—पोद्दार जी का सबसे बड़ा महत्त्व यह है कि आपने सर्वप्रथम हिंदी में साधारणीकरण का विवेचन किया है । भट्नायक और अभिनवगुप्त की साधारणीकरण-सम्बन्धी मान्यताओं का स्पष्ट, युक्तियुक्त और व्यवस्थित निरूपण आपने

---

१. काव्यकल्पद्रुम (प्रथम भाग) पृ० १७१-१७२ । २. वही पृ० १७२ ।
३. वही पृ० १७३ । ४. वही पृ० १७४ ।

किया है। साथ ही आपके विवेचन की त्रुटियां भी स्पष्ट हैं। एक तो आपने कोई मौलिक चिन्तन इस प्रसंग में नहीं किया। चाहिए तो यह था साधारणीकरण से उलझी हुई विविध समस्याओं को उठा कर उनका समाधान प्रस्तुत करते। कम से कम नए परिवेश में प्रस्तुत हुए वैविध्यपूर्ण काव्यों से अनेक आलम्बनों और आश्रयों को उठा कर उनके साथ तादात्म्य या साधारणीकरण ही मीमांसा करते। निष्कर्ष यह कि आपने परम्परागत रूढ़िबद्ध मान्यता को ही उठा कर रख दिया है। इसमें भी आपने कहीं स्पष्टतः उल्लेख नहीं किया कि भट्टनायक और अभिनवगुप्त में आप किसे मान्य समझते हैं। अन्त में अभिनवगुप्त की मान्यता रखी गई है, अतएव निष्कर्ष रूप में उन्हीं को स्वीकृति दी जा सकती है—फिर भी इसका उल्लेख अपेक्षित था। जो हो, इतना निश्चित कि भट्टनायक, अभिनवगुप्त और मम्मट की परम्परा के अनुसार पोद्दार जी रस-प्रमाता सामाजिकों के द्वारा विभावादि का अर्थात् आलम्बन, आश्रय, उद्दीपन, अनुभाव, संचारी और स्थायी भाव—इन सबों का साधारणीकरण मानते हैं। इस प्रसंग में कवि, नट (अभिनेता) आदि के साधारणीकरण और रसानुभूति की विवेचना भी वांछित थी, पर पोद्दार जी वैसा न कर सके। ऊपर दुष्यन्तादि विभावों में सामाजिकों के द्वारा अपने प्रेम व्यापार के अनुभव से अथवा उन्हीं के प्रेम-व्यापार के अनुभव से पोद्दार जी ने जिन दोषों के भागी होने की चर्चा की है, उसमें रूढ़िग्रस्तता के साथ साथ तर्कविहीनता भी है। वस्तुतः दुष्यन्तादि पात्र ऐतिहासिक होते हुए भी कविकल्पित हैं अर्थात् कवियों की मानसी सृष्टियां हैं—अतएव उनमें अपने प्रेम का किम्बा उनके प्रेम का आस्वाद करने पर किसी तरह का पाप या दोष न लगेगा।

रामचन्द्र शुक्ल

शुक्ल जी रससिद्धान्त में साधारणीकरण को सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। शुक्ल जी के अनुसार रसप्रक्रिया में जो सामान्यता की प्रक्रिया है, वही साहित्यशास्त्र का साधारणीकरण-सिद्धान्त है।[1] साधारणीकरण के सम्बन्ध में प्रतिपादित आपकी कई बातें, जिन्हें हम सूत्र रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं, ध्यातव्य हैं—

(१) साधारणीकरण आलम्बन का अर्थात् आलम्बन धर्म का होता है।

(२) सहृदयों का आश्रय के साथ तादात्म्य होता है।

(३) कतिपय स्थलों में, जहां मध्यम कोटि का रस होता है, सहृदय कवि के भावों के साथ तादात्म्य स्थापित करता है।

(४) साधारणीकरण विशेष का होता है, सामान्य का नहीं।

---

१. रसमीमांसा पृ० ४१५।

क्रमशः शुक्ल जी के विचारों के आधार पर इन सूत्रों का विश्लेषण कर लेना नितान्त वांछित एवं आवश्यक है।

(१) आपकी दृष्टि में जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती है। आलम्बन का इस रूप में लाया जाना ही हमारे यहां साधारणीकरण कहलाता है।[1] इसके लिए कवि को लोक-हृदय की पहचान होनी चाहिए। तात्पर्य यह कि किसी काव्य या नाटक में पात्र (आश्रय) अपने आलम्बन के प्रति जिस भाव को व्यंजित करता है, प्रत्येक सहृदय के हृदय में उस आलंबन के साधारणीकृत हो जाने के कारण वही भाव जगे। आलम्बन का साधारणीकरण उसमें लोक-धर्म की प्रतिष्ठा के कारण होता है। उसमें कुछ ऐसे समान धर्म होते हैं जिनके कारण वह एक सहृदय या सामाजिक के भाव का ही नहीं प्रत्युत अनेक और असंख्य सहृदयों के भाव का आलम्बन बन जाता है। निष्कर्ष यह निकला कि साधारणीकरण आलम्बन का नहीं बल्कि आलम्बनत्व-धर्म का होता है। इसी आधार पर शुक्ल जी की यह मान्यता भी सिद्ध हो जाती है कि रस-दशा में सहृदय की अपनी पृथक् सत्ता का परिहार हो जाता है। आलम्बन या आलम्बनत्व धर्म के साथ साधारणीकरण के कारण हमारे अहं का विसर्जन होता है और हममें निःसंगता आ जाती है। निर्विशेष, शुद्ध और मुक्त हृदय से हम काव्यगत आश्रय द्वारा व्यंजित भाव का अनुभव करते हैं। इसी को रस का लोकोत्तरत्व, ब्रह्मानन्द-सहोदरत्व, और विभावन व्यापार का अलौकिकत्व भी कहते हैं।[2]

(२) शुक्ल जी मुख्यतः आलम्बनत्व-धर्म का ही साधारणीकरण मानते हैं। पर इसके साथ ही प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित सहृदय-आश्रय-तादात्म्य को भी आपने स्वीकार किया है। इसी को विश्वनाथ ने 'स्वाकारवदभिन्नत्वेनायकास्वाद्यते रसः' कहा है। जब काव्य-निष्ठ आलम्बन की प्रतीति साधारणतया होने लगती है और उसके प्रति व्यंजित भाव (आश्रय का) आत्मगतत्वेन प्रतीत होने लगता है तो स्वभावतः आश्रय (पात्र) के साथ सहृदय का तादात्म्य स्थापित हो जाता है।

(३) इसी प्रसंग में शुक्ल जी ने एक नई समस्या उठाकर अभिनव बात भी बताई है। कभी ऐसे प्रसंग भी काव्य और नाटक में आते हैं जहाँ सहृदय या सामाजिक आलंबन के प्रति भावव्यंजना करने वाले आश्रय के साथ तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाता है और उसके आलंबन के साथ साधारणीकरण भी नहीं कर पाता है। मान लीजिए कि कोई क्रोधी या क्रूर प्रकृति का पात्र (आश्रय) किसी निरपराध व्यक्ति

१. चिं० म० प० भ० पृ० २२७। २. वही पृ० २४७।
३. वही, पृ० २३१।

(आलम्बन) पर क्रोध प्रकट कर रहा हो। ऐसे क्षणों में न तो हम एक सहृदय के रूप में उस क्रोधी आश्रय के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकेंगे और न उस आलम्बन-भूत निरपराध व्यक्ति के प्रति क्रोध-भाव का अनुभव ही। बल्कि इसके विपरीत हममें उस क्रूर आश्रय के प्रति अश्रद्धा और घृणा का भाव जगेगा। हमारे अश्रद्धा या घृणाभाव का आलम्बन उक्त व्यक्ति नहीं होगा जो उस आश्रय का क्रोधालम्बन था प्रत्युत स्वयं आश्रय ही मेरे इन विपरीत भावों का आलम्बन होगा। ऐसे प्रसंग में हमें जो रसानुभूति होगी, वह शुक्ल जी के अनुसार, मध्यम कोटि की मानी जायगी। शुक्ल जी के शब्दों में हम कहना चाहेंगे कि 'ऐसी दशा में आश्रय के साथ तादात्म्य या रसानुभूति न होगी, बल्कि श्रोता या पाठक उक्त पात्र के शीलद्रष्टा या प्रकृति-द्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा और यह प्रभाव भी रसात्मक ही होगा। पर इस रसात्मकता को हम मध्यम कोटि की ही मानेंगे"।[1] ऐसे प्रसंगों में भी शुक्ल जी तादात्म्य और साधारणीकरण मानते हैं। यहाँ तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संघटित करता है। स्पष्टत: हम कह सकते हैं कि ऐसे प्रसंगों में सहृदय का तादात्म्य कवि के साथ होता है और तथाकथित आश्रय का ही उन अश्रद्धादि विपरीत भावों का आलंबन बन जाने के कारण, उसी के साथ साधारणीकरण होता है। अन्य स्थलों में भी जहां कवि किसी वस्तु या व्यक्ति का केवल चित्रण करके ही छोड़ देता है, वहां कवि ही आश्रय रहता है।[2] यहां कवि के साथ तादात्म्य होता है अर्थात् कवि स्वयं आश्रय का स्थान ले लेता है और वह जिसके प्रति भाव व्यंजित करता है, वह साधारणीकृत आलम्बन का स्थान लेता है। जो हो, शुक्ल जी इसे रस की हीन दशा या मध्यम दशा ही मानते हैं।

(४) सामान्यत: लोग साधारणीकरण का अर्थ "सामान्य रूप में बोध" ही समझते हैं। आलम्बन के साधारणीकरण का तात्पर्य कदापि यह न समझ लिया जावे कि उसका जाति या सामान्य रूप में प्रत्यय होने लगता है, अतएव शुक्ल जी ने इसकी स्पष्टता आवश्यक समझी। उन्होंने बताया कि काव्य में विशेष या व्यक्ति का ही बोध होता है, सामान्य जाति का नहीं।[3] काव्य का कार्य है वस्तुओं के बिम्ब को भावना में लाना। "जाति" का बिम्ब-ग्रहण संभव नहीं है। अनेक व्यक्तियों के रूप गुण आदि के विवेचन द्वारा कोई वर्ग या जाति ठहराना, बहुत सी बातों को लेकर कोई सामान्य सिद्धान्त प्रतिपादित करना—तर्क और विज्ञान का काम है, काव्य का नहीं। तात्पर्य यह कि काव्य बोध के प्रत्येक क्षण में, यहाँ तक कि रसानुभूति के क्षण में आलम्बनत्व-धर्म के साधारणीकरण के प्रसंग में भी आलम्बन विशेष या व्यक्ति के रूप को छोड़ कर सामान्य रूप में नहीं आवेगा। फिर साधारणीकरण का अभिप्राय क्या है—

---

१. चिन्तामणि प० भा०, पृ० २३१। २. वही, पृ० २३२। ३. रसमीमांसा, पृ० ३१०

क्रमशः शुक्ल जी के विचारों के आधार पर इन सूत्रों का विश्लेषण कर लेना नितान्त वांछित एवं आवश्यक है।

(१) आपकी दृष्टि में जब तक किसी भाव का कोई विषय इस रूप में नहीं लाया जाता कि वह सामान्यतः सबके उसी भाव का आलम्बन हो सके तब तक उसमें रसोद्बोधन की पूर्ण शक्ति नहीं आती है। आलम्बन का इस रूप में लाया जाना ही हमारे यहां साधारणीकरण कहलाता है।[1] इसके लिए कवि को लोक-हृदय की पहचान होनी चाहिए। तात्पर्य यह कि किसी काव्य या नाटक में पात्र (आश्रय) अपने आलम्बन के प्रति जिस भाव को व्यंजित करता है, प्रत्येक सहृदय के हृदय में उस आलंबन के साधारणीकृत हो जाने के कारण वही भाव जगे। आलम्बन का साधारणीकरण उसमें लोक-धर्म की प्रतिष्ठा के कारण होता है। उसमें कुछ ऐसे समान धर्म होते हैं जिनके कारण वह एक सहृदय या सामाजिक के भाव का ही नहीं प्रत्युत अनेक और असंख्य सहृदयों के भाव का आलम्बन बन जाता है। निष्कर्ष यह निकला कि साधारणीकरण आलम्बन का नहीं बल्कि आलम्बनत्व-धर्म का होता है। इसी आधार पर शुक्ल जी की यह मान्यता भी सिद्ध हो जाती है कि रस-दशा में सहृदय की अपनी पृथक् सत्ता का परिहार हो जाता है। आलम्बन या आलम्बनत्व धर्म के साथ साधारणीकरण के कारण हमारे अहं का विसर्जन होता है और हममें निःसंगता आ जाती है। निर्विशेष, शुद्ध और मुक्त हृदय से हम काव्यगत आश्रय द्वारा व्यंजित भाव का अनुभव करते हैं। इसी को रस का लोकोत्तरत्व, ब्रह्मानन्द-सहोदरत्व, और विभावन व्यापार का अलौकिकत्व भी कहते हैं।[2]

(२) शुक्ल जी मुख्यतः आलम्बनत्व-धर्म का ही साधारणीकरण मानते हैं। पर इसके साथ ही प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित सहृदय-आश्रय-तादात्म्य को भी आपने स्वीकार किया है। इसी को विश्वनाथ ने 'स्वाकारवदभिन्नत्वेनायका-स्वाद्यते रसः' कहा है। जब काव्य-निष्ठ आलम्बन की प्रतीति साधारणतया होने लगती है और उसके प्रति व्यंजित भाव (आश्रय का) आत्मगतत्वेन प्रतीत होने लगता है तो स्वभावतः आश्रय (पात्र) के साथ सहृदय का तादात्म्य स्थापित हो जाता है।

(३) इसी प्रसंग में शुक्ल जी ने एक नई समस्या उठाकर अभिनव बात भी बताई है। कभी ऐसे प्रसंग भी काव्य और नाटक में आते हैं जहाँ सहृदय या सामाजिक आलंबन के प्रति भावव्यंजना करने वाले आश्रय के साथ तादात्म्य स्थापित नहीं कर पाता है और उसके आलंबन के साथ साधारणीकरण भी नहीं कर पाता है। मान लीजिए कि कोई क्रोधी या क्रूर प्रकृति का पात्र (आश्रय) किसी निरपराध व्यक्ति

---

१. चि० म० प० भ० पृ० २२७।   २. वही पृ० २४७।

३. वही, पृ० २३१।

(आलम्बन) पर क्रोध प्रकट कर रहा हो। ऐसे क्षणों में न तो हम एक सहृदय के रूप में उस क्रोधी आश्रय के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकेंगे और न उस आलम्बन-भूत निरपराध व्यक्ति के प्रति क्रोध-भाव का अनुभव हो। बल्कि इसके विपरीत हममें उस क्रूर आश्रय के प्रति अश्रद्धा और घृणा का भाव जगेगा। हमारे अश्रद्धा या घृणाभाव का आलम्बन उक्त व्यक्ति नहीं होगा जो उस आश्रय का क्रोधालम्बन था प्रत्युत स्वयं आश्रय ही मेरे इन विपरीत भावों का आलम्बन होगा। ऐसे प्रसंग में हमें जो रसानुभूति होगी, वह शुक्ल जी के अनुसार, मध्यम कोटि की मानी जायगी। शुक्ल जी के शब्दों में हम कहना चाहेंगे कि 'ऐसी दशा में आश्रय के साथ तादात्म्य या रसानुभूति न होगी, बल्कि श्रोता या पाठक उक्त पात्र के शीलद्रष्टा या प्रकृति-द्रष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा और यह प्रभाव भी रसात्मक ही होगा। पर इस रसात्मकता को हम मध्यम कोटि की ही मानेंगे"।[1] ऐसे प्रसंगों में भी शुक्ल जी तादात्म्य और साधारणीकरण मानते हैं। यहाँ तादात्म्य कवि के उस अव्यक्त भाव के साथ होता है जिसके अनुरूप वह पात्र का स्वरूप संघटित करता है। स्पष्टत: हम कह सकते हैं कि ऐसे प्रसंगों में सहृदय का तादात्म्य कवि के साथ होता है और तथाकथित आश्रय का ही उन अश्रद्धादि विपरीत भावों का आलंबन बन जाने के कारण, उसी के साथ साधारणीकरण होता है। अन्य स्थलों में भी जहां कवि किसी वस्तु या व्यक्ति का केवल चित्रण करके ही छोड़ देता है, वहां कवि ही आश्रय रहता है।[2] यहां कवि के साथ तादात्म्य होता है अर्थात् कवि स्वयं आश्रय का स्थान ले लेता है और वह जिसके प्रति भाव व्यंजित करता है, वह साधारणीकृत आलम्बन का स्थान लेता है। जो हो, शुक्ल जी इसे रस की हीन दशा या मध्यम दशा ही मानते हैं।

(४) सामान्यत: लोग साधारणीकरण का अर्थ "सामान्य रूप में बोध" ही समझते हैं। आलम्बन के साधारणीकरण का तात्पर्य कदापि यह न समझ लिया जावे कि उसका जाति या सामान्य रूप में प्रत्यय होने लगता है, अतएव शुक्ल जी ने इसकी स्पष्टता आवश्यक समझी। उन्होंने बताया कि काव्य में विशेष या व्यक्ति का ही बोध होता है, सामान्य जाति का नहीं।[3] काव्य का कार्य है वस्तुओं के बिम्ब को भावना में लाना। "जाति" का बिम्ब-ग्रहण संभव नहीं है। अनेक व्यक्तियों के रूप.गुण आदि के विवेचन द्वारा कोई वर्ग या जाति ठहराना, बहुत सी बातों को लेकर कोई सामान्य सिद्धान्त प्रतिपादित करना—तर्क और विज्ञान का काम है, काव्य का नहीं। तात्पर्य यह कि काव्य बोध के प्रत्येक क्षण में, यहाँ तक कि रसानुभूति के क्षण में आलम्बनत्व-धर्म के साधारणीकरण के प्रसंग में भी आलम्बन विशेष या व्यक्ति के रूप को छोड़ कर सामान्य रूप में नहीं आवेगा। फिर साधारणीकरण का अभिप्राय क्या है—

---

१. चिन्तामणि प० भा०, पृ० २३१। २. वही, पृ० २३२। ३. रसमीमांसा, पृ० ३१०

स्पष्ट कर लेना आवश्यक है। शुक्ल जी के अनुसार "साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या श्रोता के मन में जो व्यक्ति विशेष या वस्तु विशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित आश्रय के भाव का आलंबन होती है वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलंबन बन जाती है। जिस व्यक्तिविशेष के प्रति किसी भाव की व्यंजना कवि या पात्र करता है, पाठक या श्रोता की कल्पना में वह व्यक्ति-विशेष ही उपस्थित रहता है।[1]

समीक्षा:—शुक्ल जी के साधारणीकरण सिद्धान्त में मात्र आलम्बनत्व धर्म के साधारणीकरण का उल्लेख देख कर समीक्षकों ने उसका खण्डन किया है। परम्परागत साधारणीकरण में भट्टनायक और अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने विभावादि अर्थात् आलंबन, उद्दीपन, आश्रय, अनुभाव, व्यभिचारी, स्थायी सभी रसतत्वों का साधारणीकरण प्रतिपादित किया है। शुक्ल जी को आश्रय के साथ तादात्म्य भी मान लेना पड़ा है। फिर भी स्पष्टतः आपने कहीं यह न लिखा कि अनुभावों, और स्थायी-संचारी भावों का भी साधारणीकरण होता है। मात्र आलंबनत्व धर्म का साधारणीकरण मानने के कारण आप कई स्थलों में उलझ गए हैं और तब विभावातिरिक्त रसोपादानों के सामंजस्य की बात भी करने लगे गए हैं। आपको विवश होकर लिखना पड़ा है—"भाव और विभाव दोनों पक्षों के सामंजस्य के बिना पूरी और सच्ची रसानुभूति हो नहीं सकती"।[2] मेरी आपत्ति यह है कि जब द्रविड़-प्राणायाम के द्वारा परम्परागत मान्यता पर ही आना था तो बार-बार आलंबन या आलंबनत्व धर्म मात्र के साधारणीकरण के सम्बन्ध में निर्णय लेना कहां तक न्याय्य था। रसानुभूति की मध्यदशा या हीन कोटि भी शुक्ल जी ने मानी है। यह भी एक चौंकाने वाली नई बात प्रतीत होती है; पर परम्परागत रसाभास और भावाभास से भिन्न इसका कोई महत्व नहीं है। इसे ही नई बोतल में पुरानी शराब रखना कहते हैं। बोतल नई इसलिए कहा कि विश्लेषण का क्रम नया है। कवि, पात्र (आश्रय) और सहृदय इन तीनों के साधारणीकरण की बात शुक्ल जी ने कही है। किन्तु नाटक के नट या अभिनेता को आपने छोड़ दिया है। वस्तुतः सफल अभिनय के लिए इन अभिनेताओं को भी तन्मय होना पड़ता है और आलंबन के प्रति व्यंजित भाव का अनुभव भी करना पड़ता है। इस दृष्टि से देखने पर साधारणीकरण की समस्या का सम्बन्ध नटों के साथ भी वैसा ही महत्वपूर्ण प्रतीत होता है जैसा कवि, आश्रय और सहृदय या सामाजिक के साथ। फिर भी विश्लेषणात्मक ढंग से युगानुकूल भाषा में नए उदाहरणों के साथ साधारणीकरण को समझाने का शुक्ल जी का प्रथम प्रयास स्तुत्य है। विशेषतः पाश्चात्य व्यक्तिवैचित्र्यवाद के साथ तुलना कर शुक्ल जी ने अपने व्यापक दृष्टिकोण का भी परिचय दिया है। अतएव उपर्युक्त कति-

---

१. रसमीमांसा, पृ० ३११-३१२। २. वही, पृ० २६७।

पय त्रुटियों के बावजूद भी हिन्दी काव्य-शास्त्र के इतिहास में शुक्ल जी का साधारणीकरण सिद्धान्त अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

श्यामसुन्दर दास

डॉ० दास ने साधारणीकरण का सम्बन्ध कवि और भावक (सहृदय) की चित्रवृत्ति से माना है। चित्त की एकतानता को ही आप साधारणीकरण कहते हैं और चित्त की इसी अवस्था में कवियों और भावकों को सभी कुछ (काव्य-वर्णित विषय) साधारण प्रतीत होने लगते हैं।[1] इसे स्पष्ट करने के लिए आपने पण्डित केशव प्रसाद मिश्र के मेघदूत—अनुवाद की भूमिका सहारा लिया है। इसमें मिश्र जी ने चित्त की दो अवस्थाएं बताई हैं–अपर प्रत्यक्ष या वितर्क तथा पर प्रत्यक्ष या निर्वितर्क। प्रथम अवस्था में वस्तु, वस्तु का सम्बन्ध और वस्तु के सम्बन्धी इन तीनों के भेद का अनुभव होता है। "यह मेरा पुत्र है"–इस अनुभव या ज्ञान में पुत्र, पुत्र के साथ जन्य-जनक सम्बन्ध और जनक होने के नाते सम्बन्धी पिता-इन तीनों की पृथक् प्रतीति होती है। द्वितीय अवस्था में अर्थात् परप्रत्यक्ष या निर्वितर्क की अवस्था में केवल वस्तु मात्र का आभास मिलता है और सम्बन्ध-सम्बन्धी आदि विलीन हो जाते हैं। पुत्र का केवल पुत्र रूप में प्रत्यय होना ही पर-प्रत्यक्ष है। सात्विक वृत्ति की प्रधानता होने पर ही ऐसी प्रतीति होती है।[2] रसानुभूति की दशा को डा० दास पर प्रत्यक्ष या निर्वितर्क की दशा मानते हैं। इसे ही योग-दर्शन में मधुमती भूमिका भी कहा गया है। पातंजल सूत्रों के भाष्यकर्त्ता व्यास और वैदिक कवियों ने इस मधुमती भूमिका की बड़ी महिमा गाई है। इस अवस्था में पहुँचने पर योगियों को केवल आनन्दानुभूति ही होती है, दु:खानुभूति नहीं।[3] यही स्थिति कवियों और सहृदयों की भी, रस-दशा में, होती है।

डा० दास अभिनवगुप्ताचार्य-प्रतिपादित साधारणीकरण-सिद्धान्त को तो मानते हैं किन्तु उसकी व्याख्या चित्त की पर-प्रत्यक्षावस्था के आधार पर कर देते हैं। रसानुभूति के क्षणों में रति, शोक, क्रोध, जुगुप्सा—आदि सारे अनुकूल-प्रतिकूल भाव आनन्दात्मक ही होते हैं। रस मात्र को अपने यहाँ आनन्द-स्वरूप माना गया है। ऐसा क्यों होता है ? डा० दास इसका कारण चित्तवृत्ति की परप्रत्यक्षावस्था, मधुमती भूमिका या साधारणी करण को ही बताते हैं। आप का कहना है—

"जब तक सांसारिक वस्तुओं का हमें अपर प्रत्यक्ष होता रहता है तब तक शोचनीय वस्तु के प्रति हमारे मन में दु:खात्मक शोक अथवा अभिनन्दनीय वस्तु के प्रति सुखात्मक हर्ष उत्पन्न होता है। परन्तु जिस समय हमको वस्तुओं का परप्रत्यक्ष होता है उस समय शोचनीय अथवा अभिनन्दनीय सभी प्रकार की वस्तुएं हमारे केवल सुखात्मक भावों का आलंबन बन कर उपस्थित होती हैं। उस समय दु:खात्मक

१. साहित्यालोचन, पृ० २८५। २. वही, पृ० २७६। ३. वही, पृ० २७७।

क्रोध, शोक आदि भाव भी अपनी लौकिक सुखात्मकता को छोड़कर अलौकिक सुखात्मकता धारण कर लेते हैं"[1] इसी को बाबू श्यामसुन्दर दास अभिनवगुप्ताचार्य का साधारणीकरण कहते हैं।

मधुमती भूमिका और साधारणीकरण के एकत्व-स्थापन के सम्बन्ध में इन्होंने एक बड़ी महत्वपूर्ण बात की ओर संकेत किया है। मम्मट आदि आचार्यों ने गुणों में अन्यतम "माधुर्य" को माना है। इसका उद्भव "मधुमती" के मधुर या मधु शब्द से है। प्रायः प्राचीन आचार्यों ने "माधुर्य" शब्द के द्वारा मधुमती भूमिका या पर-प्रत्यक्ष दशा की ओर ही संकेत किया है।[2] इसी गुण को "द्रुति—कारण" भी कहा गया है (आल्हादकत्वंमाधुर्यंशृंगारे द्रुतिकारणम् का० प्र० /८।६८)। रसानुभूति के क्षणों में चित्त की कठिनता मिट जाती है, दीप्ति और विक्षेप के आवरण हट जाते है तथा आंतरिक आनन्द—ज्योति जग उठती है। फलतः सहृदयों के हृदय में आर्द्रता या द्रवीभूतता आ जाती है और अश्रुपात, रोमांच, पुलक आदि बाक्य विहार होने लगते है। यही चित्त की द्रुति और रसानुभूति अवस्था है।

अपने उक्त मन्तव्य के आधार पर डा० दास ने स्वयं एकादश निष्कर्ष निकाले हैं जिनमें से आवश्यकतानुसार कुछ-एक उद्धृत हैं जो उनके साधारणीकरण--सम्बन्धी विचारों को अत्यन्त स्पष्ट कर देते हैं --

[१] रसानुभूति मधुमती भूमिका में होती है और मधुमती भूमिका में पर-प्रत्यक्ष होता है।

[२] चित्तवृत्ति की इसी एकतानता का नाम साधारणीकरण है।

[३] इस रस दशा में सभी प्रकार की वस्तुएं हमारे सुखात्मक भावों का आलम्बन बन जाती हैं।

[४] रसानुभूति कवि तथा सहृदय दोनों को होती है।

समीक्षा :— डा० दास के अन्य सारे निष्कर्षों से हमें न कोई आपत्ति है और न होनी चाहिए। आपके विचार परम्परागत हैं— सर्व सम्मत है। केवल आपके द्वारा निर्दिष्ट साधारणीकरण का स्वरूप चिन्तनीय है। आप चित्तवृत्ति की एकाग्रता या एकतानता को साधारणीकरण मानते है। यह ठीक है कि रसानुभूति की दशा में एकतानता अपेक्षित है — इसे कोई अस्वीकार भी कैसे कर सकता है? रीतिकालीन कवि बिहारी ने इसी बात को लक्ष्य कर क्या ही अच्छा कहा है—

तन्त्रीनाद कवित्त रस, सरस राग रति रंग।
अनबूड़े बूड़े तिरे, जे बूड़े सब अंग ॥ बिहारी-सतसई। ६१।

किन्तु मात्र चित्त की एकतानता को साधारणीकरण मानना न्याय्य नहीं हैं। जिन अभिनवगुप्त की आपने बार-बार दुहाई दी है — उन्होंने भी विभावन-व्यापार के

१. साहित्यलोचन। पृ० २७६।   २. वही। पृ० २७८।

द्वारा विभावादि के साधारणीकरण की ही बातबताई है। चित्त की एकतानता विभावादि के साधारणीकरण का कारण है, वही स्वयं साधारणीकरण नहीं हैं। कारण को ही डा० दास ने कार्य मान लेने की अनवधानता प्रदर्शित की है। यही कारण है कि शुक्ल जी द्वारा प्रतिपादित आलम्बन के साधारणीकरण का आपने खंडन किया है और उनके विचार को भ्रमपूर्ण बताया है। आपके विचारों से भलीभाँति स्पष्ट है कि न आप शुक्ल जी की तरह मात्र आलंबन या आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण मानते हैं और न प्राचीन आचार्यों की तरह विभाव, अनुभाव, संचारी—व्यभिचारी आदि सभी रसतत्वों का और न परवर्ती आचार्यों की तरह कवि-अनुभूति का या कवि-कर्म का। आपने सभी विचारकों से अलग होकर पर-प्रत्यक्षगत चित्त वृत्ति को ही साधारणीकरण मान लिया है। इसी एक गड़बड़ी से दूसरी भी उदित हो गई हैं। "रस-दशा में सभी प्रकार की वस्तुए हमारे सुखात्मक भावों का आलम्बन बन जाती है" —ऐसा डा० दास ने स्वीकार किया है। स्वाभाविक भी हैं। क्योंकि चित्तवृत्ति की एकतानता मात्र से रसानुभूति हो तो सभी प्रकार के आलम्बन सुख-दायक क्यों न होंगे। आपके विचारानुसार राम का रावण के प्रति क्रोध हो या रावण का राम के प्रति, एक युवा प्रेमी का एक युवती प्रेमिका के प्रति रति व्यजित हो या जरद्गव वृद्ध का एक युवती प्रेमिका के प्रति, एक कोटि की ही रसानुभूति होगी। तो फिर रसाभास, भावाभास आदि अपूर्ण रस मानने की क्या आवश्यकता थी! अतएव मेरी दृष्टि में डा० दास का साधारणीकरण—स्वरूप अमान्य हैं। इसकी आंशिक मान्यता में सन्देह नहीं किया जा सकता है। मधुमती भूमिका का माधुर्य गुण से सम्बन्ध जोड़ना भी उपहासास्पद एवं असमीचीन है। यदि ऐसी बात होती तो ओज और प्रसाद आदि गुणों का नामकरण भी ऐसा ही होता। चित्तवृति की एकतानता तो ओजगुण-प्रधान वीररस और रौद्ररस में भी होती हैं। इसे ही बादरायण-सम्बन्ध कहते हैं। (दो व्यक्ति के बगीचे में बदरीफल का पेड़ हो तो क्या कौटुम्बिक सम्बन्ध हो जायगा)। यह मात्र संयोग की बात है कि डा० दास को माधुर्य और मधुमती में स्वर-साम्य उपलब्ध हो गया है।

रामदहिन मिश्र

मिश्र जी ने साधारणीकरण के सम्बन्ध में व्यक्त प्राचीन समस्त विचारों को अपने "काव्यदर्पण" में संकलित किया है। विभावादि के साथ साधारणीकरण होने के उपरांत रसबोध मानने में आपको कोई आपत्ति भी नहीं है। तथापि शुक्ल जी ने क्रोध भाव के आलंबन को लेकर जो रस की दो कोटियों की कल्पना की है—इसे मिश्र जी नहीं मानते। शुक्ल जी का कहना था कि जब कोई आश्रय किसी निरपराध और दयनीय आलंबन के प्रति क्रोध की व्यंजना कर रहा हो तो हमें उस आलम्बन

१. साहित्यालोचन। पृ० २८४— २८५। २. वही, २८५-२८६।

का साधारणीकरण नहीं होगा प्रत्युत आश्रय ही हमारी घृणा-अश्रद्धा आदि भावों का आलम्बन हो जायगा। ऐसी स्थिति में श्रोता या पाठक उक्त पात्र (आश्रय) के शीलदृष्टा या प्रकृतिदृष्टा के रूप में प्रभाव ग्रहण करेगा और यह प्रभाव भी रसात्मक ही होगा। इस रसात्मकता को शुक्ल जी मध्यम कोटि की मानते हैं। मिश्र जी ने शुक्ल जी की साधारणीकरण-प्रक्रिया और तज्जन्य रसानुभूति और उसकी कोटियों का जमकर खण्डन किया है।[1] मिश्र जी इस अवसर पर भी उक्त आलम्बन के साथ साधारणीकरण मानते हैं और ऐसे प्रसंग में क्रोध के अपुष्ट रह जाने के कारण रसानुभूति तो नहीं मानते हैं किन्तु भावानुभूति मानते हैं।[2] मेरी दृष्टि में तत्वत: दोनों काव्य-मीमांसकों की मान्यताओं में कोई अन्तर नहीं है। चाहे आप उसे भावानुभूति कहें या मध्यमकोटि की रसानुभूति— वस्तुत: दोनों बातें एक हैं। शुक्ल जी की विशेषता यह है कि पुरानी बात को ही नए ढंग एवं नए शब्द से प्रस्तुत कर देते हैं और मिश्र जी प्राचीन शब्दावली को ही पसन्द करते हैं। दोनों का अन्तर विचार-मूलक नहीं है, मात्र अभिव्यक्तिमूलक है।

इन्हीं प्रतिकूल आलम्बनों और आश्रयों से युक्त कविताओं की रसानुभूति की समस्या को ध्यान में रख कर मिश्र जी ने साधारणीकरण की प्रक्रिया और उसके विषय को ही परिवर्तित कर डाला है। आपकी मान्यता है कि आलंबन आदि के विषय में कवि और पाठक—दोनों के दृष्टिकोण होते हैं। कवि के लिए मुख्य है रसानुभूति।[3] उदाहरणार्थ, मूर्छित लक्ष्मण को देखकर विलाप करते हुए राम की वर्णना करने वाली कविता में (जैसा तुलसी ने किया भी है—सुत वित नारि भवन परिवारा इत्यादि) कवि के लिए या आश्रय राम के लिए तो मूर्छित लक्ष्मण आलम्बन है और करुण रस की अभिव्यक्ति होती है। किन्तु पाठकों के आलम्बन है बिलखने वाले राम और उन्हें भी करुण रस की अनुभूति होती है। साधारणीकरण कवि को भी होता है और पाठक को भी—पर भिन्न भिन्न आलम्बन से।

अतएव कवि, पाठक, श्रोता और सामाजिक-सबों के साधरणीकरण में ऐक्य या समन्विति स्थापित करने के लिए मिश्र जी का विभावादि के साथ साधारणीकरण का भी यही भाव है। कवि ने जो उपर्युक्त वर्णन (मूच्छित लक्ष्मण को देखकर राम का विलाप) किया हैं उसमें उनके अन्तर्हृदय की यह भावना है कि राम साधारण मानव के समान दुखित थे। यही भाव हमारे मन में भी उपजता है और हम राम के दुख को अपना समझने लगते हैं। इस प्रकार आचार्यों की बात को—विभावादि को कवि के भाव के रूप में ले लिया जाय तो साधारणीकरण के सम्बन्ध में अड़चन की कोई बात नहीं उठती।"[4]

---

१. काव्यदर्पण, पृष्ठ १३२–१३४। २. वही, पृष्ठ १३२। ३. वही, पृष्ठ १३७। ४. वही, पृष्ठ १३७।

आपके कहने का तात्पर्य इतना ही है कि कवि जहाँ जैसा भाव अभिव्यक्त करता है—आलम्बन अनुकूल हो या प्रतिकूल—वहाँ हमारा हृदय भी वैसा ही हो जाता है। कवि की अनुभूति ही हमारी अनुभूति हो जाती है। हमारा साधारणीकरण कवि की अनुभूति के साथ हो जाता है। मिश्र जी ने अपने विचारों को प्रमाणित करने के लिए तुलसी और पंत के कतिपय उद्धरणों को प्रस्तुत कर इसका विश्लेषण भी कर दिखाया है। विशेषत: ऐसी रचनाओं में जहाँ आलम्बन तो रहता है पर आश्रय का पता नहीं रहता, भावक या पाठक कवि के साथ ही तादात्म्य स्थापित करता है।

मिश्र जी अपनी साधारणीकरण-सम्बन्धी मान्यता की सार्वभौमिकता के लिए कवि के व्यक्तित्व की उत्तरदायिता को स्वीकार कर लेते हैं। आप मानते हैं कि "यदि कवि लोकसाधारण भाव को नहीं अपनाता और भाषा की कमजोरी या अनुभूति के अधूरेपन से उसको व्यक्त करने में समर्थ नहीं होता तो साधारणीकरण संभव नहीं। इसके लिए भाषा का भावमय होना आवश्यक है, रागात्मक होना अनिवार्य है। कवि सामान्य भावों की जागृति करता है। कवि को सहृदय का समानधर्मा होना चाहिए तभी वह साधारणीकरण में समर्थ हो सकता है।"[1]

समीक्षा—कवि की अनुभूति के साथ साधारणीकरण माने जाने के कारण मिश्र जी के साधारणीकरण-सिद्धान्त में नवीनता एवं मौलिकता है। फिर भी ध्यान से देखने पर विभावादि से पृथक् कवि की अनुभूति के लिए क्या बच जाता है? अतएव विभावादि का साधारणीकरण और कवि के भाव का साधारणीकरण इन दोनों में तात्विक दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। स्वयं मिश्र जी ने ऐसा स्वीकार भी किया है। यदि दोनों साधारणीकरण-स्वरूपों को अभिन्न मान लें तो आपत्तिजनक समस्याएँ पुनः ज्यों की त्यों रह जाती हैं। दूसरी बात यह कि देश, काल, परिस्थिति के अनुसार पाठकों का संस्कार बनता है। कोई भी धार्मिक प्रवृत्ति का पाठक राम के प्रति व्यंजित रावण के क्रोध का साधारणीकरण प्राय: न कर सकेगा-- चाहे कवि की व्यक्तिगत अनुभूति वैसी ही क्यों न हो। माना कि कवि के जबर्दस्त व्यक्तित्व और अभिव्यक्ति का प्रभाव होता है पर इसके पाठकों के व्यक्तित्व का भी ध्यान रखना होगा। इसकी पूरी संभावना है कि पाठकों का रूढ़िग्रस्त व्यक्तित्व कवि की अनुभूति के साथ साधारणीकरण में बाधक हो। तथापि मिश्र जी के साधारणीकरण-विवेचन में मौलिकता, स्पष्टता और युक्तिपूर्णता उपलब्ध है।

गुलाबराय

राय जी ने अपने प्राचीन रसग्रंथ—"नवरस" में साधारणीकरण का विवेचन बिलकुल ही नहीं किया है। "सिद्धांत और अध्ययन" नामक नवीन ग्रंथ में (यह ग्रंथ

---

१. काव्यदर्पण, पृ० १३९।

डा० नगेन्द्र की रीतिकाव्य की भूमिका के बाद की है, फिर भी नवरस प्रणेता के रूप में इन्हें पूर्ववर्ती समीक्षक मानकर इस ग्रन्थ की भी चर्चा मैंने यहीं कर दी है) इस विषय पर आपने प्रकाश डाला है। आरम्भ में भट्टनायक, अभिनवगुप्त, विश्वनाथ, डा० श्यामसुन्दरदास, रामचन्द्र शुक्ल, डा नगेन्द्र प्रभृति आचार्यों और समीक्षकों की साधारणीकरण सम्बन्धी मान्यताओं को आपने प्रस्तुत किया है। इसके खण्डन-मण्डन में भी आप प्रवृत्त नहीं हुए हैं। इसी प्रसंग में ए० आई० मैन्डर नामक मनोवैज्ञानिक और आइ० ए० रिचार्डस तथा क्रोचे के विचारों का भी भारतीय साधारणीकरण-सिद्धान्त के आलोक में आपने अध्ययन प्रस्तुत किया है।[1] समस्त देशी-विदेशी मान्यताओं को टटोल लेने के बाद राय जी ने "सारांश" के रूप में अपने विचार व्यक्त किये हैं।

राय जी के अनुसार—"साधारणीकरण व्यक्ति का नहीं (आलम्बन के सामान्य बन जाने के कारण उसका कोई अस्तित्व नहीं रह जाता है) वरन् उसके सम्बन्धों का होता है। जल, वायु, नीलाकाश की भांति उस पर किसी का विशेषाधिकार नहीं रहता। उसमें न ममत्व-जन्य दुःख और न पुरत्वजन्य ईर्ष्यादि भावों की गुंजायश रहती है। कवि भी अपने निजी व्यक्तित्व से ऊंचा उठकर साधारणीकृत हो जाता है। वह लोक का प्रतिनिधि होकर भावाभिव्यक्ति करता है। पाठक का साधारणीकरण इस अर्थ में होता है कि वह अपने व्यक्तित्व के क्षुद्र बन्धनों को तोड़ कर लोकसामान्य की भावभूमि में आ जाता है, उसका हृदय कवि और लोक-हृदय के साथ प्रतिस्पन्दित होने लगता है। अपने व्यक्तित्व की अनुभूति रसास्वाद में बाधा मानी गई है।[2]

"भावों का साधारणीकरण इस अर्थ में होता है कि उनसे भी "अयंनिज: परो वा" की भावना जाती रहती है और इस कारण उनमें लौकिक अनुभव की स्थूलता, कटुता, तीक्ष्णता और रूक्षता नहीं रहती है।"[3]

राय जी की उपर्युक्त मान्यताओं के आधार पर हम कतिपय निष्कर्ष इस रूप में निकाल सकते हैं:—

(१) साधारणीकरण व्यक्ति का नहीं, वरन् उसके सम्बन्धों का होता है।
(२) कवि भी साधारणीकृत हो जाता है।
(३) पाठक का साधारणीकरण होता है।
(४) भावों का साधारणीकरण होता है।

इन निष्कर्षों को हम अभी यहीं छोड़ें। आगे चल कर पुनः राय जी ने लिखा है कि प्राचीन आदर्शों की अपेक्षा नवीन आदर्श बदल गए हैं। प्राचीन युग में प्रख्यात और उच्चकुलोद्भव नायक के साथ ही सहृदय पाठकों का तादात्म्य होता

१. सिद्धान्त और अध्ययन, पृष्ठ २१५–२१७। २., ३. वही, पृष्ठ—२१८।

था, पर अब "होरी" जैसे साधारण किसानों के साथ भी तादात्म्य हो जाता है। अपनी जाति का प्रतिनिधित्व करने के कारण कल्पित पात्रों के साथ भी साधारणीकरण में बाधा नहीं होती है। इतना ही नहीं, राय जी मनुष्यों में साधारणीकरण की प्रवृत्ति स्वाभाविक मानते हैं। कवि अपने अनुभवों को सीमित नहीं रखना चाहता है, व्यापक बनाना चाहता है—इसलिए साधारणीकरण के उद्देश्य से काव्य-निर्माण करता है। भारतीय दर्शन के एकात्मवाद, विज्ञान के नियमों की सामान्यता और तर्क शास्त्र की व्याप्ति को राय जी रस-सिद्धान्तीय साधारणीकरण से अभिन्न मानते हैं[1]। उपयोगिता की दृष्टि से भी आपने साधारणीकरण का विचार किया है और स्वीकार किया कि इससे सहानुभूति का विस्तार तथा भावों का परिष्कार होता है।

समीक्षाः—राय जी की मान्यता के उपर्युक्त निष्कर्षों की परीक्षा से स्पष्टतः यह प्रतीत होता है कि आपने साधारणीकरण को अत्यन्त स्थूल अर्थ में गृहीत किया है। कवि साधारणीकृत होता है और पाठकों का साधारणीकरण होता है–इसका क्या अर्थ है? यह ठीक है कि कवियों और पाठकों को साधारणीकरण-प्रक्रिया के द्वारा रसानुभूति होती है किन्तु "उनका साधारणीकरण होता है" यह उक्ति हमें भ्रम में डाल देती है। जहां तक भावों के साधारणीकरण की बात है, इसमें किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती है। भट्टनायक और अभिनवगुप्त से लेकर आधुनिक युग के काव्य-मीमांसक तक सभी किसी न किसी रूप में भावों के साधारणीकरण को स्वीकार करते आ रहे हैं। तथापि यदि मात्र भावों (स्थायी और संचारी भावों) के साधारणीकरण को मान कर हम चलें तथा विभाव और अनुभाव को छोड़ दें तो रसानुभूति में अनेक बाधाएं उपस्थित होंगी। यदि रसानुभूति के क्षण में आलम्बन, आश्रय, उद्दीपन तथा अनुभावों को व्यक्ति रूप में तथा तत्सम्बद्ध रूप में जानें तो वेधान्तरसम्पर्क शून्य, अखंड और आनन्दमय रस की चर्वणा सम्भव न होगी। भारतीय दर्शन के एकात्मवाद, तर्कशास्त्र की व्याप्ति और विज्ञान के नियमों के सामान्यीकरण की तुलना रस-शास्त्रीय साधारणीकरण-प्रक्रिया से करना सर्वथा असंगत है। इनमें परस्पर कोई तुक नहीं है। साधारणीकरण को एक स्वाभाविक प्रवृत्ति मानना भी ठीक नहीं है। स्वाभाविक प्रवृत्ति के आधार पर ही अपने यहाँ स्थायी भावों की कल्पना की गई है। क्या इसे भी राय जी एक स्थायी भाव का स्थान देना चाहते हैं? वस्तुतः साधारणीकरण एक प्रक्रिया है—विभावादि को निर्वैयक्तिक या सामान्य रूप में गृहीत कर सहृदय और सामाजिक रसानुभूति करते हैं। अतएव राय जी द्वारा विश्लेषित साधारणीकरण भ्रामक, अयुक्तिपूर्ण, शिथिल एवं अमान्य है।

---

१. सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० २१९।

लक्ष्मीनारायण "सुधांशु"

सुधांशु जी ने अपने दोनों ग्रन्थों में साधारणीकरण का अतिसंक्षिप्त विवेचन किया है। चूंकि आपने काव्य को एक सामाजिक कृतित्व स्वीकार किया है, अतएव साधारणीकरण की व्याख्या भी आपने सामाजिक परिप्रेक्ष्य में ही की है। आपका कहना है कि "यदि काव्य की रचना किसी एक ही व्यक्ति के लिए की जाती, तो उसमें भावों के साधारणीकरण की आवश्यकता नहीं थी, परन्तु काव्य की रचना एक के लिए नहीं होती। उसका लक्ष्य समस्त मानव-समाज की सामान्य मानवता के प्रति निर्दिष्ट रहता है। इसी कारण उसमें भावों का ऐसा विधान किया जाता है जिसमें एक नहीं, सभी मनुष्य प्रायः समान रूप से उन भावों को हृदयंगम कर सकें"[1]। सुधांशु जी के उपर्युक्त वक्तव्य से स्पष्ट है कि आप भावों का साधारणीकरण मानते हैं। भाव शब्द यहां अत्यन्त व्यापकार्थक है—इसके अन्तर्गत स्थायी, संचारी से लेकर अनुभाव और विभाव भी गृहीत किए गए हैं। भावों के साधारणीकरण के लिए आपने शुक्ल जी के स्वर में स्वर मिला कर आलम्बन के साधारणीकरण को आवश्यक माना है[2]। आलम्बन के साधारणीकृत होने पर ही उसके आश्रय द्वारा व्यंजित सारे भावों के साथ पाठकों और श्रोताओं का साधारणीकरण हो जाता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि आश्रय के साथ तादात्म्य हो जाता है। आपके मन्तव्य की परिपुष्टि निम्नोक्त उद्धरण से भलीभांति होती है:—

"जीवन की लोक-सामान्य भावभूमि पर काव्य के वर्णन में व्यक्तित्व की मर्यादा प्रायः नहीं रखी जाती। ... ... जहां जीवन के उच्चतर तत्त्वों का विश्लेषण किया जाता है वहां मानवता एक सामान्य रूप में सिमट जाती है। उसकी सारी विविधताएं मिट जाती हैं। रघुवंश की इन्दुमती के देहांत पर अज का विलाप एक सामान्य पुरुष का विलाप है, किसी नृपति का नहीं। कुमार संभव में मदन-दहन के उपरांत, रति का विलाप, एक सामान्य स्त्री का विलाप है। भावों की सत्ता में व्यक्तित्व की विशेषताएं डूब जाती हैं"।[3] सुधांशु जी रसानुभूति सहृदयों और सामाजिकों की तो मानते ही हैं, साथ ही कवियों की रसानुभूति को भी अस्वीकार नहीं करते हैं। दोनों के रसास्वाद के लिए मात्र समान शब्द आपको अभिप्रेत नहीं हैं। कवियों की रसानुभूति को आप काव्यानुभूति कहना अधिक संगत मानते हैं तथा पाठकों और श्रोताओं की अनुभूति को आप रसानुभूति कहना पसन्द करते हैं।[4] फलतः आपकी दृष्टि में साधारणीकरण भी पाठक तथा कवि दोनों को होता है। अन्तर इतना ही है कि पाठक का साधारणीकरण रसानुभूति-जन्य है पर कवि का साधारणीकरण काव्यानुभूति-जन्य। पर दोनों बातें एक हैं।

१. काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृ० ६५। २. वही, पृ० ६४।
३. जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त। पृ० ८–९।
४. काव्य में अभिव्यंजनावाद पृ० ६५।

समीक्षा:—सुधांशु जी का साधारणीकरण-विवेचन परम्परा से अधिक भिन्न नहीं है। भट्टनायक और अभिनवगुप्त की तरह आपने विभावादि का साधारणीकरण तो नहीं माना है, पर द्रविड़-प्राणायाम से बात वही कही है। आपके चिन्तन पर शुक्ल जी का अत्यधिक प्रभाव है। "रसमीमांसा" से उद्धृत अंश भी यही प्रमाणित करते हैं। तथापि शास्त्रीय शब्दावली का प्रयोग न होने के कारण, रूप नवीन-सा तो लगता है किन्तु पूरी स्पष्टता न आ पाई है। रस-शास्त्रीय साधारणीकरण-सिद्धांत को समाज–शास्त्रीय जामा पहनाना भी आपकी नवीनता है।

डा० नगेन्द्र

इन्होंने अपनी "रीतिकाव्य की भूमिका" नामक पुस्तक में साधारणीकरण-सिद्धान्त को बड़े विस्तार के साथ विविक्त किया है। पहले आपने परम्परागत काव्यशास्त्रियों में भट्टनायक और अभिनवगुप्त के मतों की समीक्षा की है। इन दोनों में आप विशेष अन्तर नहीं मानते हैं, केवल साधारणीकरण कराने वाले व्यापारों का शब्द-भेद स्वीकार करते हैं। मम्मट, विश्वनाथ और जगन्नाथ को अभिनवगुप्त का ही अनुवर्ती मान लिया है[1]। अभिनवगुप्त का सिद्धान्त भारतीय साहित्य में तो सर्व-मान्य है ही, डा० नगेन्द्र भी उसे सर्वांशत: तो नहीं किन्तु बहुत अंशों में पूर्ण मानते हैं। आंशिक अपूर्णता आप क्यों मानते हैं–इसका उल्लेख हम उनके निजी अभिमत को प्रस्तुत करते समय करेंगे। शुक्ल जी द्वारा निर्दिष्ट केवल विभाव (आलम्बन) का साधारणीकरण आश्रय के साथ सहृदयों का तादात्म्य आपको मान्य नहीं है। अभिनवगुप्त के ही तर्कों का सहारा लेकर इन्होंने शुक्ल जी की मान्यता का खंडन किया है। आपने लिखा है कि "शकुन्तला, सीता आदि पूज्य व्यक्तियों में सहृदय के लिए रतिभावना करना अनुचित होगा। इसीलिए सहृदय न आलम्बन से प्रेम करता है और न आश्रय से तादात्म्य, क्योंकि उसका यह प्रेम व्यक्तिगत प्रेम नहीं होता है। आलम्बन के स्थान पर अपनी प्रेयसी का और आश्रय के स्थान पर अपना बोध इसलिए अस्वीकार्य है कि पहले तो अपनी रति का प्रकाशन ही लज्जास्पद है और दूसरा यह भी संभव है कि सहृदयों का किसी व्यक्ति विशेष से प्रेम ही न हो। कल्पित सुन्दरी के चित्र को भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि यह व्यक्तिगत रति के बदले साधारण रति के रूप में उपस्थित करेगा। इसके अतिरिक्त यदि भाव मधुर न होकर कटु हुए–जैसे राम का रावण पर क्रोध देखकर मेरा भी अपने शत्रु के प्रति क्रोध जाग्रत हो जाता है तो मेरा यह अनुभव प्रत्यक्ष होने के कारण कटु ही होगा और इसे रस नहीं कह सकते हैं। वास्तव में यह सब कुछ होता तो साधारणीकरण की आवश्यकता ही क्या होती"[2]? इस प्रकार शुक्ल जी का मत भी आपको मान्य नहीं है।

---

१. रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ५४। २. वही, पृ० ४८–४९।

डा० नगेन्द्र का अभिमत:—निजी अभिमत को प्रस्तुत करने के पूर्व इन्होंने काव्य से सम्बन्ध रखने वाले अनेक व्यक्तियों के साधारणीकरण की परीक्षा की है। काव्य को पढ़ते समय जिन व्यक्तियों की चेतना होती है, वे हैं—आश्रय (रामादि), आलम्बन (सीतादि), कवि और सहृदय। सहृदय तो केवल साधारणीकृत रूप के भोक्ता हैं, अतएव उनके साधारणीकरण का प्रश्न ही नहीं उठता है। अवशिष्ट तीन वर्गों के व्यक्तियों में से किसी के साधारणीकरण को माना जाय, कुछ न कुछ विप्रतिपत्ति उठ खड़ी होती है। आश्रय का साधारणीकरण इसलिए कठिन है कि वह क्रूर, नीच, तथा श्रोता-पाठक के व्यक्तित्व के विपरीत भी हो सकता है। आलम्बन का साधारणीकरण भी सम्भव नहीं है क्योंकि सीता आदि पूज्य आलम्बनों को विश्व-प्रिया के रूप में देखना संस्कार विरुद्ध है। मूल नायक का साधारणीकरण इसलिये नहीं होगा कि आधुनिक काव्य या उपन्यास के नायक कभी-कभी आदर्श-च्युत और नीच रूपों में वर्णित किये जाते हैं। बाकी केवल कवि बच जाते हैं। उनका प्रत्यक्ष व्यक्तित्व तो हमारे सामने रहता नहीं है, उनकी अनुभूति ही हमारे सामने होती है, अतएव हम उनकी अनुभूति का ही साधारणीकरण करते हैं। आश्रय, आलम्बन, नायक—ये सभी कवि की अनुभूति के ही प्रतीक हैं। ये कवि की मानसी सृष्टि हैं। अतएव इनके साधारणीकरण मानने में कोई बाधा भी उपस्थित नहीं होगी कि "किसी आश्रय का व्यक्तित्व हमारे विपरीत है या कोई नायक हमारे घृणा और क्रोध का विषय है अथवा किसी आलम्बन के प्रति हमारा भाव-विशेष अनुचित है"[1]। इतना अवश्य कि कवियों को अपनी अनुभूति का साधारणीकरण कराने के लिए वैसी शक्ति होनी चाहिए तथा लोक-हृदय की पहचान होनी चाहिए। कवियों की इस साधारणीकरण-शक्ति का निवास भाषा के भावमय प्रयोग तथा मानवसुलभ सहानुभूति में रहता है। डा० नगेन्द्र ने अपने इस मन्तव्य को अभिनवगुप्तादि से अभिन्न और भिन्न दोनों माना है। अभिन्न इस अर्थ में कि उन्होंने विभावादि (आश्रय, आलम्बन, अनुभाव, स्थायी भाव आदि) का साधारणीकरण माना है और डा० नगेन्द्र भी वैसा ही मानते हैं। भिन्न इस अर्थ में कि डाक्टर साहब ने इन्हें कवि की अनुभूति का प्रतीक मान कर इनके साधारणीकरण की बात कही है। यही कारण है कि आपने अभिनवगुप्त के मत को अंशत: पूर्ण माना है, यद्यपि वह सर्वमान्य है।

अभी तक किए गए विवेचन से यही निर्धारित हो सका है कि किसका साधारणीकरण होता है। इसी से सम्बद्ध एक दूसरा पहलू भी साधारणीकरण-सिद्धांत का है कि यह साधारणीकरण कौन करता है। दूसरे शब्दों में कहना चाहें जो हम कह सकते हैं कि रस की स्थिति किसमें है। इस प्रसंग में भी काव्य और नाटक को मिलाकर हमें कई व्यक्तित्वों के दर्शन होते हैं—सहृदय (काव्य के पाठक और श्रोता

---

१. रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ५१।

तथा नाटक के प्रेक्षक और पाठक), कवि, नट और नायक (मूल)। डा० नगेन्द्र इनमें से तीन के हृदय में रस की स्थिति मानते हैं। सहृदय, कवि और नट—इन तीनों की रसानुभूति आपको मान्य है। केवल मूल नायक के अनुभाव को आप रसानुभूति नहीं मानते हैं। आनन्दानुभूति को ही काव्य शास्त्र में रसानुभूति कहते हैं। इस आनन्द की सत्ता विषयी (आत्मा) में है, विषय (काव्य या नाटक) में नहीं। वस्तुतः अपनी अस्मिता वृत्ति का आस्वादन ही रस है या यों कहें कि आत्म का किसी अनात्म के बहाने से आस्वादन ही रस है[1]। इस अस्मिता वृत्ति का आस्वादन या रसानुभूति सहृदयों को काव्य पढ़ने से, प्रेक्षकों को नाटक देखने से तथा कवियों को अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त करने से होती है। नट-नटी भी सहृदय होते हैं—तभी वे सँवेद्य का उचित माध्यम भी बन सकते हैं। जब वे संवेद्य को ग्रहण कर स्वयं रसमग्न हो सकेंगे तभी प्रेक्षकों तक संवेद्य को प्रेषित कर रसानुभूति करा सकेंगे। अतएव इन अभिनेताओं और अभिनेत्रियों में भी प्राचीन काव्य-शास्त्रीय परम्परा के अनुकूल डाक्टर साहब ने रस की स्थिति स्वीकार की है। मूल नायक के अनुभवों को आपने रसानुभव नहीं मानाँ है। इसका कारण है कि भावों में कुछ तो प्रिय होते हैं और कुछ अप्रिय कटु। रति भाव की अनुभूति और श्रृङ्गार रस की अनुभूति संयोगवश प्रिय हैं, पर अन्य भावों और उनसे निष्पन्न रसों में वैसा संयोग उपलब्ध नहीं है। अतएव प्रत्येक प्रिय-अप्रिय भाव की नायक द्वारा की गई अनुभूति को आनन्द-स्वरूप रस की अनुभूति नहीं माना जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर डा० नगेन्द्र की साधारणीकरण-सम्बन्धी मान्यता दो खण्डों में विभक्त है—(१) साधारणीकरण किसका होता है? और (२) साधारणीकरण किसे होता है।

प्रथम खण्ड के निष्कर्ष इस प्रकार हैं—

(क) कवि की अनुभूति का साधारणीकरण होता है।
(ख) कवि की अनुभूति के प्रतीक विभाव (आश्रय और आलम्बन) हैं।
(ग) साधारणीकरण का अर्थ तादात्म्य है।

द्वितीय खण्ड के निष्कर्ष इस प्रकार हैं—

(क) सहृदय और सामाजिक साधारणीकरण करते हैं।
(ख) कवि भी साधारणीकरण करते हैं।
(ग) नटों और नटियों को भी साधारणीकरण होता है।
(घ) मूल-नायक को साधारणीकरण नहीं होता है।

समीक्षा :—डा० नगेन्द्र द्वारा प्रतिपादित 'कवि की अनुभूति का साधारणीकरण' अत्यन्त तर्कपूर्ण युक्तिसंगत और सुवेविचत है। यह मान्यता हमें परम्परा

१. रीतिकाव्य की भूमिका, पृ० ५६।

से बहुत विलग भी नहीं रखती है। कवि की अनुभूति के प्रतीक के रूप में आपने आश्रय और आलम्बन को ही स्वीकार किया है। सच पूछिए तो यह अभिनवगुप्त के साधारणीकरण-स्वरूप से सर्वथा अभिन्न है, भले ही थोड़ीदेर के लिए लोगों को नूतन उद्भावना के व्यामोह में डाल कर चौंका दे। यदि थोड़ी गड़बड़ी उपस्थित भी होती है तो कवि की व्याख्या को लेकर। डाक्टर साहब ने कवि की अनुभूति के अन्तर्गत आश्रय और आलम्बन का निरूपण तो किया है पर अनुभाव, संचारी भाव और स्थायी भाव के सम्बन्ध में आप मौन हैं। यद्यपि यह भी निश्चित ही है कि आश्रय और आलम्बन के साधारणीकृत होने पर आनुषांगिक रूप से उनके अनुभाव, संचारी और स्थायी भावों का भी साधारणीकरण हो ही जायगा, तथापि इनका स्पष्ट उल्लेख वांछित था। अभिनवगुप्त द्वारा कथित "विभावादि-साधारणीकरण" का भी यही रहस्य है। यदि डा० नगेन्द्र का संकेत वहां तक न हो तो आप शुक्ल जी के विचारों के समीप ही चक्कर काटते प्रतीत होंगे। अन्यथा आप परम्परागत मान्यता के समीप भी रह जाते हैं और उसकी त्रुटियों को परिमार्जित भी कर लेते हैं। यदि साधारणीकरण का अर्थ आपने तादात्म्य किया है, जैसा कि आपकी अनेक उक्तियों से भासित होता है[1], तो शुक्ल जी के सहृदय-आश्रय-तादात्म्य के खण्डन का आपको कोई अधिकार नहीं रह जाता है। साथ ही साधारणीकरण के मूल-स्वरूप को पहचानने के भ्रम का उत्तरदायित्व भी आप पर डाला जा सकता है। तत्त्वतः साधारणीकरण (generalisation) एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा राम और सीता जैसे विशेष आश्रय और आलम्बन को सामान्य पुरुष और स्त्री रूप में गृहीत किया जाता है। साधारणीकरण का अर्थ तादात्म्यीकरण लेने पर खतरा यह है कि सहृदय के व्यक्तिगत भावों को उनमें प्रक्षेपण स्वीकार करना पड़ेगा और उसका अर्थ सामान्यीकरण लेने पर भावों की सार्वदेशिकता, सार्वकालिकता और सार्वजनीनता प्रमाणित होगी। यही कारण है कि मम्मट आदि आचार्यों ने "परस्यन परस्येति ममेति न ममेति च" शब्द का प्रयोग साधारणीकरण के लिए किया है।

साधारणीकरण-सिद्धान्त के दूसरे पक्ष के निष्कर्ष में हमने देखा है कि डा० नगेन्द्र रस की स्थिति सहृदय, कवि और नट-नटी में मानते हैं। इस निष्कर्ष के सम्बन्ध में भी मुझे आपत्ति है। सहृदय साधारणीकरण करते हैं कवि की अनुभूति का और उन्हें रसानुभूति होती है, इसे कोई कैसे इन्कार कर सकता है? किन्तु कवि-कर्म-परायण कवियों को भी वही रसानुभूति होती है, इसे मानने में विप्रतिपत्ति प्रतीत होती है, कवियों और सहृदयों (पाठकों और श्रोताओं) की मानसिक भूमिका में भी थोड़ा सा अन्तर है। कवि कच्चा माल तैयार करते हैं और सहृदयों को पक्का माल उपलब्ध होता है। हाँ, कविता निर्मित होने के बाद उसे पढ़ कर

१. रीतिकाव्य की भूमिका, पृष्ठ ५०-५१।

कवियों को जो अनुभूति होगी, उसे रसानुभूति कह सकते हैं। कवि की उस क्षण की भूमिका तो सहृदय की भूमिका से पृथक् नहीं रह जाती है अर्थात् वह कवि नहीं, पाठक ही हो जाता है। काव्य-रचना के क्षणों की अनुभूति को रसानुभूति के बदले काव्यानुभूति कहना अधिक समुचित एवं न्याय्य है।[1] नट-नटियों की रसानुभूति के विस्तार में गए बिना ही डाक्टर साहब ने उनमें रस की स्थिति मान ली है। यह तो पुरातन विचार है भी। तथापि इसे मानने में कई बाधायें दृष्टिगोचर होती है। अभिनेताओं के रसानुभूति में प्रवृत्त होने पर उन्हें अभिनय में पूर्ण सफलता न होगी। दूसरी बात यह कि यदि ऐसा होता तो कई नाटक कम्पनियों के अभिनेतागण वेतन-वृद्धि के लिए हड़ताल न करते। वे रसानुभूति के लोभ से ही अभिनय-कार्य को करते रहते। यह बात और है कि अन्य कार्यों की अपेक्षा यह कार्य आकर्षक है। फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि डा० नगेन्द्र ने साधारणीकरण के विश्लेषण में अत्यधिक गहराई में उतरने का प्रयास किया है। विवेचन में क्रम-बद्धता एवं व्यवस्था भी विद्यमान हैं। कुछ और आगे बढ़ें तो हम कह सकते हैं कि समस्त हिन्दी काव्यशास्त्र में डा० नगेन्द्र द्वारा विवेचित साधारणीकरण सुलझा हुआ है।

(४) रसों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

उपक्रम

इस अध्याय में अधीत हिन्दी काव्य-शास्त्र के आचार्यों में पं० रामचन्द्र शुक्ल से लेकर डा० नगेन्द्र पर्यन्त सभी काव्य-मीमांसकों ने रस के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर थोड़ा-बहुत प्रकाश अवश्य डाला है। सामग्री-संकलन और दृष्टिकोण में यत्किंचित् भेद अवश्य है, पर अध्ययन की दिशा और प्रवृत्ति समान हैं। इस अध्याय के अध्येतव्य दश आचार्यों में केवल चार ही ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने रस-शास्त्र के मनोवैज्ञानिक पक्ष को अपने दृष्टि-पथ में लाने का प्रयास नहीं किया है। इनकी इस प्रवृत्ति का कारण भी स्पष्ट है। जगन्नाथ प्रसाद "भानु", अयोध्यासिंह उपाध्याय, कन्हैयालाल पोद्दार और बिहारी लाल भट्ट—ये चार ऐसे आचार्य हैं जिनका परम्परा-गत शास्त्रीय संस्कार से न तो पिण्ड छूट सका है और न पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक साहित्य से सम्पर्क जुट सका है। यही कारण है कि इन्होंने रसों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन द्वारा ज्ञान की व्यापकता तथा व्यक्तित्व की नवीनता प्रदर्शित नहीं की। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने वाले आचार्यों में प्रमुख हैं रामचन्द्र शुक्ल और डा० नगेन्द्र, किन्तु श्यामसुन्दर दास, रामदहिन मिश्र, गुलाबराय और लक्ष्मीनारायण "सुधांशु" ने भी प्रत्यक्ष किम्बा अप्रत्यक्ष रूप से इस ओर दृक्पात किया है। अतएव उक्त छः आचार्यों को इस वर्ग में मैंने परिगणित कर लिया है। इस अध्ययन-

१. सुधांशु : काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृष्ठ ६५।

से बहुत विलग भी नहीं रखती है। कवि की अनुभूति के प्रतीक के रूप में आपने आश्रय और आलम्बन को ही स्वीकार किया है। सच पूछिए तो यह अभिनवगुप्त के साधारणीकरण-स्वरूप से सर्वथा अभिन्न है, भले ही थोड़ीदेर के लिए लोगों को नूतन उद्भावना के व्यामोह में डाल कर चौंका दे। यदि थोड़ी गड़बड़ी उपस्थित भी होती है तो कवि की व्याख्या को लेकर। डाक्टर साहब ने कवि की अनुभूति के अन्तर्गत आश्रय और आलम्बन का निरूपण तो किया है पर अनुभाव, संचारी भाव और स्थायी भाव के सम्बन्ध में आप मौन हैं। यद्यपि यह भी निश्चित ही है कि आश्रय और आलम्बन के साधारणीकृत होने पर आनुषांगिक रूप से उनके अनुभाव, संचारी और स्थायी भावों का भी साधारणीकरण हो ही जायगा, तथापि उनका स्पष्ट उल्लेख वांछित था। अभिनवगुप्त द्वारा कथित "विभावादि-साधारणीकरण" का भी यही रहस्य है। यदि डा० नगेन्द्र का संकेत वहां तक न हो तो आप शुक्ल जी के विचारों के समीप ही चक्कर काटते प्रतीत होंगे। अन्यथा आप परम्परागत मान्यता के समीप भी रह जाते हैं और उसकी त्रुटियों को परिमार्जित भी कर लेते हैं। यदि साधारणीकरण का अर्थ आपने तादात्म्य किया है, जैसा कि आपकी अनेक उक्तियों से भासित होता है[1], तो शुक्ल जी के सहृदय-आश्रय-तादात्म्य के खण्डन का आपको कोई अधिकार नहीं रह जाता है। साथ ही साधारणीकरण के मूल-स्वरूप को पहचानने के श्रम का उत्तरदायित्व भी आप पर डाला जा सकता है। तत्वतः साधारणीकरण (generalisation) एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा राम और सीता जैसे विशेष आश्रय और आलम्बन को सामान्य पुरुष और स्त्री रूप में गृहीत किया जाता है। साधारणीकरण का अर्थ तादात्म्यीकरण लेने पर खतरा यह है कि सहृदय के व्यक्तिगत भावों को उनमें प्रक्षेपण स्वीकार करना पड़ेगा और उसका अर्थ सामान्यीकरण लेने पर भावों की सार्वदेशिकता, सार्वकालिकता और सार्वजनीनता प्रमाणित होगी। यही कारण है कि मम्मट आदि आचार्यों ने "परस्यन परस्येति ममेति न ममेति च" शब्द का प्रयोग साधारणीकरण के लिए किया है।

साधारणीकरण-सिद्धान्त के दूसरे पक्ष के निष्कर्ष में हमने देखा है कि डा० नगेन्द्र रस की स्थिति सहृदय, कवि और नट-नटी में मानते हैं। इस निष्कर्ष के सम्बन्ध में भी मुझे आपत्ति है। सहृदय साधारणीकरण करते हैं कवि की अनुभूति का और उन्हें रसानुभूति होती है, इसे कोई कैसे इन्कार कर सकता है? किन्तु कवि-कर्म-परायण कवियों को भी वही रसानुभूति होती है, इसे मानने में विप्रतिपत्ति प्रतीत होती है, कवियों और सहृदयों (पाठकों और श्रोताओं) की मानसिक भूमिका में भी थोड़ा सा अन्तर है। कवि कच्चा माल तैयार करते हैं और सहृदयों को पक्का माल उपलब्ध होता है। हाँ, कविता निर्मित होने के बाद उसे पढ़ कर

---

१. रीतिकाव्य की भूमिका, पृष्ठ ५०-५१।

कवियों को जो अनुभूति होगी, उसे रसानुभूति कह सकते हैं। कवि की उस क्षण की भूमिका तो सहृदय की भूमिका से पृथक् नहीं रह जाती है अर्थात् वह कवि नहीं, पाठक ही हो जाता है। काव्य-रचना के क्षणों की अनुभूति को रसानुभूति के बदले काव्यानुभूति कहना अधिक समुचित एवं न्याय्य है।[1] नट-नटियों की रसानुभूति के विस्तार में गए बिना ही डाक्टर साहब ने उनमें रस की स्थिति मान ली है। यह तो पुरातन विचार है भी। तथापि इसे मानने में कई बाधायें दृष्टिगोचर होती है। अभिनेताओं के रसानुभूति में प्रवृत्त होने पर उन्हें अभिनय में पूर्ण सफलता न होगी। दूसरी बात यह कि यदि ऐसा होता तो कई नाटक कम्पनियों के अभिनेतागण वेतन-वृद्धि के लिए हड़ताल न करते। वे रसानुभूति के लोभ से ही अभिनय-कार्य को करते रहते। यह बात और है कि अन्य कार्यों की अपेक्षा यह कार्य आकर्षक है। फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि डा० नगेन्द्र ने साधारणीकरण के विश्लेषण में अत्यधिक गहराई में उतरने का प्रयास किया है। विवेचन में क्रम-बद्धता एवं व्यवस्था भी विद्यमान हैं। कुछ और आगे बढ़ें तो हम कह सकते हैं कि समस्त हिन्दी काव्यशास्त्र में डा० नगेन्द्र द्वारा विवेचित साधारणीकरण सुलझा हुआ है।

(४) रसों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन

उपक्रम

इस अध्याय में अधीत हिन्दी काव्य-शास्त्र के आचार्यों में पं० रामचन्द्र शुक्ल से लेकर डा० नगेन्द्र पर्यन्त सभी काव्य-मीमांसकों ने रस के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर थोड़ा-बहुत प्रकाश अवश्य डाला है। सामग्री-संकलन और दृष्टिकोण में यत्किंचित् भेद अवश्य है, पर अध्ययन की दिशा और प्रवृत्ति समान हैं। इस अध्याय के अध्येतव्य दश आचार्यों में केवल चार ही ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने रस-शास्त्र के मनोवैज्ञानिक पक्ष को अपने दृष्टि-पथ में लाने का प्रयास नहीं किया है। इनकी इस प्रवृत्ति का कारण भी स्पष्ट है। जगन्नाथ प्रसाद "भानु", अयोध्यासिंह उपाध्याय, कन्हैयालाल पोद्दार और बिहारी लाल भट्ट—ये चार ऐसे आचार्य हैं जिनका परम्परागत शास्त्रीय संस्कार से न तो पिण्ड छूट सका है और न पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक साहित्य से सम्पर्क जुट सका है। यही कारण है कि इन्होंने रसों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन द्वारा ज्ञान की व्यापकता तथा व्यक्तित्व की नवीनता प्रदर्शित नहीं की। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने वाले आचार्यों में प्रमुख हैं रामचन्द्र शुक्ल और डा० नगेन्द्र, किन्तु श्यामसुन्दर दास, रामदहिन मिश्र, गुलाबराय और लक्ष्मीनारायण "सुधांशु" ने भी प्रत्यक्ष किम्बा अप्रत्यक्ष रूप से इस ओर दृक्पात किया है। अतएव उक्त छः आचार्यों को इस वर्ग में मैंने परिगणित कर लिया है। इस अध्ययन-

१. सुधांशु : काव्य में अभिव्यंजनावाद, पृष्ठ ६५।

खण्ड में इन्हीं छः काव्यमीमांसकों की मान्यताओं का अध्ययन एवं परीक्षण क्रमशः प्रस्तुत है।

रामचन्द्र शुक्ल

शुक्ल जी ने "रसमीमांसा" एवं चिन्तामणि, प्रथम भाग के मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों में भावों का निरूपण मनोविज्ञान के आधार पर किया है। किन्तु विशेषता यह है कि पाश्चात्य मनोविज्ञान की स्वीकृत एवं प्रचलित सरणि को न अपना कर आपने तद्विषयक ग्रन्थों के अध्ययन से प्राप्त अनुभव और प्रेरणा को ही रस-शास्त्रीय भावों के विश्लेषण का आधार बनाया है। यही कारण है कि आप पाश्चात्य मनोविज्ञान-सम्मत मन के प्रत्येक वेग को भाव नहीं मानते हैं। आपकी दृष्टि में मन का वही वेग भाव कहलाता है जिसमें चेतना के भीतर आलम्बन आदि प्रत्यय रूप से प्रतिष्ठित होंगे। शुक्ल जी प्रत्ययबोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति—इन तीनों के संश्लेष को भाव मानते हैं।[1] इसी प्रसंग में आपने मनोविज्ञानियों द्वारा निर्दिष्ट क्रोध, भय, हर्ष, शोक और आश्चर्य नामक मूल भावों तथा दया, कृतज्ञता, पश्चात्ताप आदि तद्भव भावों का उल्लेख किया है।[2] आधुनिक मनोविज्ञानी शैंड के भाव-कोश या भाव-प्रणाली की चर्चा करते हुए आपने लिखा है कि विशेष वेग और प्रवृत्तियां भावों के शासन के भीतर रहती हैं और भावों का न्यास भाव-कोशों के भीतर होता है। उदाहरणार्थ प्रीति, वैर, गर्व, अभिमान, तृष्णा, इन्द्रिय-लोलुपता आदि भाव-कोश हैं और इनके अभ्यन्तर अनेक भावों का न्यास है। प्रीति या रति एक भाव-कोश है जिसके अन्तर्गत प्रिय-संयोग-जन्य हर्ष का, प्रिय-वियोग-जन्य विषाद का, उस पर कोई विपत्ति आने से उसे खोने की शंका का, उसे दुःख पहुंचाने वाले को देखने पर क्रोध इत्यादि अनेक भावों का स्फुरण होता रहता है। भारतीय रस-सिद्धान्त में विवेचित नौ स्थायी भावों में हास, उत्साह और निर्वेद को छोड़ कर अन्य सभी स्थायी भाव आधुनिक मनोविज्ञानियों द्वारा निर्दिष्ट मूल भाव हैं। शुक्ल जी शैंड द्वारा निरूपित भाव-कोश या भाव-प्रणाली को स्वीकार तो करते हैं किन्तु भावों की स्थायी दशा पर भी ध्यान देते हैं। तदनुसार नौ मूल भावों की नौ स्थायी दशायें भी बताते हैं, जैसे राग (रति-स्था० द०), शोक ((संताप-स्था० द०), क्रोध (वैर-स्था० द०), भय (आशंका-स्था० द०), जुगुप्सा (विरति-स्था० द०)। केवल उत्साह, हास और आश्चर्य नामक भावों के लिए स्थायी दशा-बोधक उपयुक्त शब्द आप न ढूंढ़ सके हैं, पर इनकी सत्ता भी आपको स्वीकार्य है।[3] भावों की स्थायी दशा में विरुद्ध या अविरुद्ध भाव (संचारी भाव) इन्हें तिरोहित नहीं कर सकते हैं। भाव-दशा में सुखात्मक भाव के साथ सुखात्मक संचारी तथा दुःखात्मक भावों के साथ दुःखात्मक

---

१. रसमीमांसा, पृष्ठ १६८। २. वही, पृष्ठ १६९। ३. वही, पृष्ठ १७४

संचारी ही मिल सकते हैं, अन्यथा ये भाव तिरोहित हो जायंगे। वस्तुतः यही सबसे बड़ी पहचान भावों की भाव-दशा या स्थायी-दशा की है। रस-सिद्धान्त के भारतीय आचार्यों ने इस दृष्टि से ही स्थायी भावों का निरूपण किया है।[1] पर शैंड-जैसे मनोविज्ञानी भाव-कोश की व्याख्या करके भी भावों की स्थायी दशा की गहराई तक न पहुंच सके। शुक्ल जी ने मानस-शास्त्र से ही प्ररणा ग्रहण कर भावों की एक तीसरी दशा का भी निरूपण किया है, जिसे आपने "शील-दशा" कही है। तीनों दशाओं (भावदशा, स्थायीदशा और शीलदशा) का अन्तर बताते हुए आपने निर्देश किया है कि एक अवसर पर एक आलम्बन के प्रति व्यक्त होने पर भाव की भाव-दशा, अनेक अवसरों पर एक आलम्बन के प्रति व्यक्त होने पर स्थायीदशा और अनेक अवसरों पर अनेक आलम्बनों के प्रति व्यक्त होने पर उसकी शीलदशा माननी चाहिए। उदाहरणार्थ राग भावदशा है, रति स्थायीदशा और स्नेहशीलता, रसिकता, लोभ, तृष्णा आदि उसकी शीलदशा है। इसी प्रकार अन्य भावों की भी शीलदशा का निरूपण शुक्ल जी ने किया है।[2] इसी प्रकार भावों का वर्गीकरण भी शुक्ल जी की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति का परिचायक है। अनुभूतियों की तरह भावों के भी दो वर्ग आपने स्वीकृत किए हैं—सुखात्मक और दुःखात्मक। सुखात्मक वर्ग में राग (रति), हास, उत्साह और आश्चर्य को आपने रखा है तथा दुःखात्मक वर्ग में शोक, क्रोध, भय और जुगुप्सा को। निर्वेद को शुक्ल जी प्रायः भाव नहीं मानते हैं। प्रत्येक भाव (Emotion) की चेतन धारणा या आलम्बन (Cognition), इच्छा या संकल्प (Conation), गति या कायिक प्रवृत्ति (Tendency) तथा लक्षण (Symptom) का भी निरूपण विभाव, अनुभाव, और सात्विक तथा संचारी भाव के आलोक में आपने किया है।[3]

रस-शास्त्रीय संचारी भावों का विवेचन भी शुक्ल जी ने मनोवैज्ञानिक आधार पर किया है किन्तु वहाँ भी मनोवैज्ञानिक लीक से हटकर स्वतन्त्र चिन्तना की है। इतना अवश्य कि प्रवृत्ति मनोवैज्ञानिक है। मानस-शास्त्री शैंड ने भाव-लोक में एक सम्बन्ध-व्यवस्था स्वीकार की है। उसके अनुसार प्रत्येक भाव (मूल भाव) एक व्यवस्था-चक्र है जिसके साथ अन्य भावों का सम्बन्ध अव्यक्त रूप में लगा रहता है। उदाहरणार्थ, क्रोध (मूलभाव) के साथ लक्ष्य की पूर्ति न होने पर शोक या विषाद, पूर्ति हो जाने पर आनन्द, कठिनाइयों के कारण पूर्ति न होने की आशंका आदि तद्भव भाव अव्यक्तरूप में लगे रहते हैं। शुक्ल जी की धारणा है कि रस-शास्त्रीय स्थायी-संचारी-व्यवस्था भी एक प्रकार की सम्बन्ध-व्यवस्था है। पर दोनों में थोड़ा सा अन्तर है। मानस-शास्त्रियों की सम्बन्ध-व्यवस्था में अन्य भावों के उदित होने पर मूल भाव अपनी सत्ता खो देते हैं, पर रस-शास्त्रीय

१. साहित्यदर्पण। ३।१७४। २. रसमीमांसा, पृ०—१८६।
३. वही, पृ०—१९२-१९३।

खण्ड में इन्हीं छः काव्यमीमांसकों की मान्यताओं का अध्ययन एवं परीक्षण क्रमशः प्रस्तुत है ।

रामचन्द्र शुक्ल

शुक्ल जी ने "रसमीमांसा" एवं चिन्तामणि, प्रथम भाग के मनोविकार सम्बन्धी निबन्धों में भावों का निरूपण मनोविज्ञान के आधार पर किया है । किन्तु विशेषता यह है कि पाश्चात्य मनोविज्ञान की स्वीकृत एवं प्रचलित सरणि को न अपना कर आपने तद्विषयक ग्रन्थों के अध्ययन से प्राप्त अनुभव और प्रेरणा को ही रस-शास्त्रीय भावों के विश्लेषण का आधार बनाया है । यही कारण है कि आप पाश्चात्य मनोविज्ञान-सम्मत मन के प्रत्येक वेग को भाव नहीं मानते हैं । आपकी दृष्टि में मन का वही वेग भाव कहलाता है जिसमें चेतना के भीतर आलम्बन आदि प्रत्यय रूप से प्रतिष्ठित होंगे । शुक्ल जी प्रत्ययबोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति—इन तीनों के संश्लेष को भाव मानते हैं ।[1] इसी प्रसंग में आपने मनोविज्ञानियों द्वारा निर्दिष्ट क्रोध, भय, हर्ष, शोक और आश्चर्य नामक मूल भावों तथा दया, कृतज्ञता, पश्चात्ताप आदि तद्भव भावों का उल्लेख किया है ।[2] आधुनिक मनोविज्ञानी शैंड के भाव-कोश या भाव-प्रणाली की चर्चा करते हुए आपने लिखा है कि विशेष वेग और प्रवृत्तियां भावों के शासन के भीतर रहती हैं और भावों का न्यास भाव-कोशों के भीतर होता है । उदाहरणार्थ प्रीति, वैर, गर्व, अभिमान, तृष्णा, इन्द्रिय-लोलुपता आदि भाव-कोश हैं और इनके अभ्यन्तर अनेक भावों का न्यास है । प्रीति या रति एक भाव-कोश है जिसके अन्तर्गत प्रिय-संयोग-जन्य हर्ष का, प्रिय-वियोग-जन्य विषाद का, उस पर कोई विपत्ति आने से उसे खोने की शंका का, उसे दुःख पहुंचाने वाले को देखने पर क्रोध इत्यादि अनेक भावों का स्फुरण होता रहता है । भारतीय रस-सिद्धान्त में विवेचित नौ स्थायी भावों में हास, उत्साह और निर्वेद को छोड़ कर अन्य सभी स्थायी भाव आधुनिक मनोविज्ञानियों द्वारा निर्दिष्ट मूल भाव हैं । शुक्ल जी शैंड द्वारा निरूपित भाव-कोश या भाव-प्रणाली को स्वीकार तो करते हैं किन्तु भावों की स्थायी दशा पर भी ध्यान देते हैं । तदनुसार नौ मूल भावों की नौ स्थायी दशायें भी बताते हैं, जैसे राग (रति-स्था० द०), शोक ((संताप-स्था० द०), क्रोध (वैर-स्था० द०), भय (आशंका-स्था० द०), जुगुप्सा (विरति-स्था० द०) । केवल उत्साह, हास और आश्चर्य नामक भावों के लिए स्थायी दशा-बोधक उपयुक्त शब्द आप न ढूँढ़ सके हैं, पर इनकी सत्ता भी आपको स्वीकार्य है ।[3] भावों की स्थायी दशा में विरुद्ध या अविरुद्ध भाव (संचारी भाव) इन्हें तिरोहित नहीं कर सकते हैं । भाव-दशा में सुखात्मक भाव के साथ सुखात्मक संचारी तथा दुःखात्मक भावों के साथ दुःखात्मक

---

१. रसमीमांसा, पृष्ठ १६८ ।   २. वही, पृष्ठ १६९ ।   ३. वही, पृष्ठ १७४

संचारी ही मिल सकते हैं, अन्यथा ये भाव तिरोहित हो जायंगे। वस्तुत: यही सबसे बड़ी पहचान भावों की भाव-दशा या स्थायी-दशा की है। रस-सिद्धान्त के भारतीय आचार्यों ने इस दृष्टि से ही स्थायी भावों का निरूपण किया है।[1] पर शैंड–जैसे मनोविज्ञानी भाव-कोश की व्याख्या करके भी भावों की स्थायी दशा की गहराई तक न पहुंच सके। शुक्ल जी ने मानस-शास्त्र से ही प्ररणा ग्रहण कर भावों की एक तीसरी दशा का भी निरूपण किया है, जिसे आपने "शील-दशा" कही है। तीनों दशाओं (भावदशा, स्थायीदशा और शीलदशा) का अन्तर बताते हुए आपने निर्देश किया है कि एक अवसर पर एक आलम्बन के प्रति व्यक्त होने पर भाव की भाव-दशा, अनेक अवसरों पर एक आलम्बन के प्रति व्यक्त होने पर स्थायीदशा और अनेक अवसरों पर अनेक आलम्बनों के प्रति व्यक्त होने पर उसकी शीलदशा माननी चाहिए। उदाहरणार्थ राग भावदशा है, रति स्थायीदशा और स्नेहशीलता, रसिकता, लोभ, तृष्णा आदि उसकी शीलदशा है। इसी प्रकार अन्य भावों की भी शीलदशा का निरूपण शुक्ल जी ने किया है।[2] इसी प्रकार भावों का वर्गीकरण भी शुक्ल जी की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति का परिचायक है। अनुभूतियों की तरह भावों के भी दो वर्ग आपने स्वीकृत किए हैं—सुखात्मक और दु:खात्मक। सुखात्मक वर्ग में राग (रति), हास, उत्साह और आश्चर्य को आपने रखा है तथा दु:खात्मक वर्ग में शोक, क्रोध, भय और जुगुप्सा को। निर्वेद को शुक्ल जी प्राय: भाव नहीं मानते हैं। प्रत्येक भाव (Emotion) की चेतन धारणा या आलम्बन (Cognition), इच्छा या संकल्प (Conation), गति या कायिक प्रवृत्ति (Tendency) तथा लक्षण (Symptom) का भी निरूपण विभाव, अनुभाव, और सात्विक तथा संचारी भाव के आलोक में आपने किया है।[3]

रस-शास्त्रीय संचारी भावों का विवेचन भी शुक्ल जी ने मनोवैज्ञानिक आधार पर किया है किन्तु वहाँ भी मनोवैज्ञानिक लीक से हटकर स्वतन्त्र चिन्तना की है। इतना अवश्य कि प्रवृत्ति मनोवैज्ञानिक है। मानस-शास्त्री शैंड ने भाव-लोक में एक सम्बन्ध-व्यवस्था स्वीकार की है। उसके अनुसार प्रत्येक भाव (मूल भाव) एक व्यवस्था-चक्र है जिसके साथ अन्य भावों का सम्बन्ध अव्यक्त रूप में लगा रहता है। उदाहरणार्थ, क्रोध (मूलभाव) के साथ लक्ष्य की पूर्ति न होने पर शोक या विषाद, पूर्ति हो जाने पर आनन्द, कठिनाइयों के कारण पूर्ति न होने की आशंका आदि तद्भव भाव अव्यक्तरूप में लगे रहते हैं। शुक्ल जी की धारणा है कि रस-शास्त्रीय स्थायी-संचारी-व्यवस्था भी एक प्रकार की सम्बन्ध-व्यवस्था है। पर दोनों में थोड़ा सा अन्तर है। मानस-शास्त्रियों की सम्बन्ध-व्यवस्था में अन्य भावों के उदित होने पर मूल भाव अपनी सत्ता खो देते हैं, पर रस-शास्त्रीय

---

१. साहित्यदर्पण। ३।१७४। २. रसमीमांसा, पृ०—१८६।
३. वही, पृ०—१९२-१९३।

सम्बन्ध-व्यवस्था के अनुसार संचारी भावों के उदित होने पर भी स्थायी भाव अपने स्वरूप को बनाए रखते हैं। जैसे रति एक स्थायी भाव (मूल भाव) है, पर मान के समय नायिका में क्रोध नामक भाव के उदित होने पर भी रति की सत्ता बनी रहती है[1]। संचारी भावों के वर्गीकरण में भी शुक्ल जी ने अपने मनोवैज्ञानिक ज्ञान का उपयोग किया है। परिणामतः विरोधाविरोध के विचार से समस्त संचारी भावों को सुखात्मक, दुःखात्मक, उभयात्मक और उदासीन नामक चार वर्गों में बाँट दिया है। संचारी भावों के स्वरूप का विश्लेषण कर आपने उनमें से कतिपय को स्वतन्त्र विषय युक्त भाव, अन्य को मन के वेग, अन्तःकरण वृत्ति, मानसिक अवस्था और शारीरिक अवस्था निर्णीत किया है[2]।

इस प्रकार रस-शास्त्रीय स्थायी भावों और संचारी भावों का अध्ययन शुक्ल जी ने मनोवैज्ञानिक पृष्ठाधार पर किया है। फिर भी अपनी मौलिक चिन्तना-शक्ति के बल पर जहां आपके विचार आधुनिक मनोविज्ञानियों से मेल खाते रहे वहां तो आपने उन्हें स्वीकार किया है और जहां मेल न खा सके हैं वहां स्वतन्त्र स्थापनाएं की हैं। जो हो, आपकी मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति में रंच मात्र भी सन्देह नहीं किया जा सकता है।

डा० श्यामसुन्दर दास

इन्होंने मनोवैज्ञानिकों द्वारा निर्दिष्ट भावों के स्वरूप और प्रकार को प्रस्तुत कर रससिद्धान्तोक्त भावों के साथ एक चलता-सा सम्बन्ध, दो शब्दों में प्रतिपादित कर दिया है। रस-शास्त्रीय भावों के विवेचन-खंड को मानस-शास्त्र-निरूपित भाव-विवेचन से सर्वथा अलग ही रखा है। शुक्ल जी की तरह मनोवैज्ञानिक पृष्ठाधार पर रस-शास्त्रीय भावों के विश्लेषण और वर्गीकरण आपने नहीं किए हैं। मानस-शास्त्रीय घिसी-पिटी लीक से हटकर, किन्तु मनोवैज्ञानिक चिन्तन-प्रणाली एवं प्रवृत्ति के आधार पर स्वतन्त्र स्थापनाओं की बात तो बहुत दूर रही। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि डाक्टर दास द्वारा निरूपित रस-सैद्धान्तिक स्थायी और संचारी भाव तथा मनोवैज्ञानिक मनोवेग सर्वथा विच्छिन्न से लगते हैं। विवेचन में सश्लि-ष्टता न आ सकी है। फिर भी इस दिशा में आपका प्रयास स्तुत्य है। कम से कम शास्त्रीय रस-सिद्धान्त की व्याख्या के पूर्व मनोविज्ञान-सम्मत भावों की निरूपणा तो आपने आवश्यक समझी? इस दृष्टि से आपके चिन्तन का महत्व आँका जा सकता है। सबसे बड़ी त्रुटि तो यह है कि भावों के सम्बन्ध में जो भी थोड़ी-बहुत मनोवैज्ञानिक बातें आपने बताई हैं, उनके उद्भावकों के नाम नहीं लिए हैं।

मनोवेगों और भावों को दास जी ने एक माना है। भाव का सम्बन्ध आप मन से बताते हैं। आपके अनुसार — "मन अन्तरात्मा की एक कार्यकारिणी शक्ति

---

१. रसमीमांसा, पृ०—१८९-१९९।   २. वही, पृ०—२०६।

हैं। अतएव भाव इसी कार्यकारिणी शक्ति का विकार मात्र हैं।[1] चूंकि इस शक्ति का परिचालन कभी सुख की ओर होता है, कभी दुःख की ओर और कभी दोनों के बीच में सम भावों की ओर; अतएव सुखात्मक, दुःखात्मक और उदासीन (तटस्थ) भाव माने जा सकते हैं। इस प्रसंग में आवश्यकता इस बात की थी कि डा० दास रस शास्त्रीय स्थायी भावों और संचारी भावों को उपर्युक्त वर्गों में विभाजित कर तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते, पर आपने वैसा न किया। इच्छाएं ही भावों का रूप धारण कर लेती है, अतएव उनकी असंख्यता के कारण भावों की गणना भी सम्भव नहीं है। तथापि मनुष्यों के विशेष विशेष लक्ष्यों के आधार पर भावों के प्रकार बताये गये हैं।

मनोविज्ञान के आधार पर आपने तीन प्रकार के भाव प्रतिपादित किए हैं— इंद्रिय-जनित भाव, प्रज्ञात्मक भाव और गुणात्मक भाव। इंद्रिय-जन्य ज्ञान से उत्पन्न भाव इंद्रिय—जनित भाव हैं। जीभ द्वारा किसी स्वादिष्ट भोजन के आस्वादन मे हमें जो आनन्द होता है और किसी बुरे स्वाद वाले भोजन के चखने से जो दुःख होता है, वे इंद्रिय-जनित भाव हैं। ऐसे भावों में आलस्य, व्याधि, हर्ष विषाद, चिन्ता आदि से लेकर शोक, भय आदि भाव भी आ सकते हैं।[2] मन के ज्ञान तथा अनुभव से सम्बन्ध रखने वाले और भूत-भविष्य-वर्तमान अनुभवों के द्वारा इंद्रिय-जनित भावों को परिपुष्ट करने वाले भाव ही प्रज्ञात्मक भाव हैं। डा० दास के विचारानुसार ये प्रज्ञात्मक भाव ही साधारणतः साहित्यशास्त्र के संचारी भाव है और ये ही कभी कभी अनुकूल स्थिति पाकर स्थायी भाव का भी रूप धारण कर लेते है।[3] 'मनोमुग्धकारी वस्तु—विषयक अनुभव प्राप्त करने की वृत्ति को, जिसके द्वारा मनुष्य एक आदर्श अपने मन में रखता है, सौंदर्य—विवेकी भाव कहते है"।[4] इन्हीं भावों को गुणात्मक भाव भी कहते है। चूंकि वस्तुओं में गुण रहते है — और उन्हीं गुणों को प्राप्त करने अथवा तज्जन्य आनन्द के अनुभव करने की इच्छा इन भावों में होती है, अतएव इन्हें गुणात्मक भाव कहा जाता है

एक दूसरे ढंग से भावों का वर्गीकरण (मनोवैज्ञानिक) आपने प्रस्तुत किया हैं :— सामान्य भाव और परिवर्धित, उद्दीप्त या तीव्र भाव। ये उद्दीप्त भाव ही मनोवेग या मनोराग कहलाते हैं। मनोराम में आलम्बन का होना नितान्त आवश्यक है। उदाहरणार्थ, किसी की चिल्लाहट से चौंकना तो सामान्य भाव हैं, पर किसी में प्रीति या घृणा का होना एक मनोराग है। आलम्बन-भेद से इसके भी अनेक भेद होंगे।

उपर्युक्त त्रिविध भावों का साहित्य शास्त्रीय रस-सिद्धान्त से अन्विति स्थापित करते हुए डा० दास ने मात्र इतना लिखा है—

---

१. साहित्यालोचन। पृ० २५३। २. वही। पृ० २५२-२५६।
३. वही, पृ० २५७ : ४. वही, पृ० २५९।

"जिस वस्तु से यह भाव व्यंजित होता है, वह आलम्बन या विभाव कहाती है। विभाव के कारण मन में जो विकार उत्पन्न होता है, वह शरीर की भिन्न-भिन्न क्रियाओं द्वारा प्रकट होता है, जैसे रोमांच, स्वेद आदि। इन्हें "अनुभव कहते हैं"। जो भाव मुख्य भावों की पुष्टि करते हैं और जो समय-समय पर मुख्य भाव का रूप धारण कर लेते हैं, उन्हें संचारी भाव कहते हैं। अतएव स्थायी या मुख्य भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव—ये चारों मिलकर रस को अभिव्यक्त करते हैं।"[1]

फलतः डा० दास का मनोवैज्ञानिक भाव-निरूपण न तो सुस्पष्ट है और न उसके आलोक में रस-सिद्धान्त की पूरी व्याख्या ही संभव हो सकी है। भावों की स्थायी दशा पर यत्किंचित प्रकाश डालना नितान्त वांछित था।

रामदहिन मिश्र

मिश्र जी ने मनोवैज्ञानिकों के द्वारा निरूपित बोधमूलक अनुभव (Sensation) भावात्मक अनुभव (feeling) और संकल्पात्मक या प्रेरणात्मक अनुभव (conation) को पृथक् पृथक् उदाहरणों द्वारा समझाया है। भावों के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों के तीन मतों का भी आपने उल्लेख किया है।[2] अलेक्जेंडर शंड के सहज-प्रवृत्ति-संघ की भी आपने चर्चा की है—उनके अनुसार जब कोई सहज प्रवृत्ति या भावना एक रहती है तो प्राथमिक (Primary) कहलाती है और जब अनेक सहज प्रवृत्तियां एक साथ काम करने लगती हैं तो अनेक सहचर भाव भी एक दूसरे से मिल जाते हैं। इन मिश्रित भावनाओं के भी दो वर्ग हैं—संमिश्र (Complex) और साधित भावना (Derived emotion)।[3] मिश्र जी का कहना है कि ये प्राथमिक और संमिश्र भावनाएं प्रायः रस-सिद्धान्त-निष्ठ स्थायी और संचारी भाव जैसी हैं। किन्तु दोनों अवस्थाओं में अन्तर है। संमिश्र भावना में बुद्धि का व्यापार क्षणिक होता है, पर जब यह स्थिर वृत्ति की अवस्था को प्राप्त होता है तब उसमें बुद्धि व्यापार, तर्कशक्ति आदि मानसिक व्यापारों की अधिकता रहती है जिससे उसके औचित्य, सुसंगति, जीवनोपयोगिता और मर्यादा सिद्ध होती है। जैसे, शकुन्तला के प्रति दुष्यन्त का प्रेमाकर्षण तो अनुराग नामक सहजवृत्ति है पर अनेक तर्क-वितर्कों के आधार पर उसे "क्षत्र-परिग्रह-क्षमा" समझ कर जो प्रेम-भावना हुई वह स्थायी रति है।[4] शंड ने तो चार प्रमुख भाव संघ माने हैं—क्रोध, आनन्द, भय और शोक तथा दो मुख्य कल्प-संघ भी—जुगुप्सा और विस्मय। फलतः उनके अनुसार कुल छः ही भाव हैं। रति को मात्र इच्छा माना गया है। निर्वेद का तो उल्लेख भी नहीं है।

मेग्डूगल द्वारा निरूपित १४ सहज प्रवृत्तियों की एक तालिका भी आपने काव्यदर्पण के साथ संलग्न कर दी है। आपने इन चतुर्दश प्रवृत्तियों को रस सिद्धान्त-

---

१. साहित्यालोचन, पृ० २६१। २. काव्यदर्पण, पृ० १४८।
३. वही पृ० १४९। ४. वही पृ० ९९।

विवेचित स्थायी भावों में अन्तर्निविष्ट करने का प्रयास किया है। तदनुसार पालन वृत्ति, कामप्रवृत्ति और समाज-प्रियता की प्रवृत्ति को शृंगार के अन्तर्गत, भोजनोपार्जन और हास्य की प्रवृत्तियों को हास्य के अन्तर्गत, दैन्यवृत्ति और शरणागति को करुण में, युद्धप्रवृत्ति को रौद्र के अन्तर्गत, पलायन प्रवृत्ति, अहंभाव और संचय की प्रवृतियों को वीर के अन्तर्गत, पलायन को भयानक के अन्तर्गत, जिज्ञासा और नवनिर्माण को अद्भुत के अन्तर्गत तथा जुगुप्सा की प्रवृत्ति को बीभत्स के अन्तर्गत समाविष्ट माना है। निवृत्तिमूलक शान्ति की सहज प्रवृति को आप उदात्त स्वनिष्ठ आत्मभाव (Elevated Ego Instinct) कहना पसन्द करते हैं।[1] ड्रूमंड और मेलोन प्रभृति मनोवैज्ञानिकों के विचार भी आपने प्रस्तुत किए हैं, किन्तु वे अधिक महत्वपूर्ण नहीं हैं।

इस प्रकार विभिन्न मनोवैज्ञानिकों द्वारा निरूपित सहज प्रवृत्तियों और भावों का उल्लेख कर लेने के अनन्तर मिश्र जी का निष्कर्ष, उन्हीं के शब्दों में, इस प्रकार है :—

"स्थायीभाव वा स्थिरवृत्ति के विवेचन के सम्बन्ध में प्राच्य और पाश्चात्य विवेचक एकमत नहीं होते। इसका कारण उनके दो प्रकार के दृष्टिकोण ही हैं। प्राच्यों का दृष्टिकोण दार्शनिक है और पाश्चात्यों का मनोवैज्ञानिक। दूसरी बात यह कि काव्यशास्त्र भावों का वर्गीकरण रस की अनुकूलता और प्रतिकूलता के तत्व पर करता है और मानस-शास्त्र प्राथमिकता और सात्विकता के तत्व पर करता है। फिर भी पाश्चात्य वैज्ञानिक किसी न किसी रूप में हमारे ही नौ-दश भावों को रस-रूप में महत्व देते हैं और उनकी स्थिरता को मानते हैं।"[2]

पता नहीं, मिश्र जी ने मनोवैज्ञानिकों को भावों को रस-रूप में महत्व देते कहां पढ़ा है, फिर भी इतना अवश्य कि भारतीय रस-सिद्धान्त में विवेचित स्थायी भावों और मनोवैज्ञानिक सहजवृत्तियों, भावों या मनोवेगों में अत्यधिक साम्य है। दृष्टिकोण का भेद तो अवश्य ही है।

मानस-शास्त्र की दृष्टि से रसोपादान स्थायी भावों और संचारी भावों का विवेचन तो शुक्ल जी के बाद अन्य समीक्षकों ने भी अपने अपने ढंग से किया है। पर मिश्र जी की विशेषता यह है कि आपने काव्य के पाठकों के मानसिक व्यापारों का भी मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया है। इस सम्बन्ध में आपका कहना है—"इस प्रसंग में तीन मुख्य बातें हमारे सामने आती हैं। एक तो है उत्तेजक वस्तु (Stimulus)। यह है काव्य अर्थात् काव्य के विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी आदि। दूसरी उस उत्तेजक वस्तु के सम्बन्ध में प्रत्युत्तरात्मक क्रिया का करने वाला सचेतन प्राणी। यह है सहृदय पाठक। तीसरी उस प्रत्युत्तरात्मक क्रिया (response) का स्वरूप है

१. काव्यदर्पण, पृ० १५०–१५१। २. वही, पृ० १००।

उसकी सुखात्मक मनोऽवस्था । यह सुखात्मक मनोऽवस्था रसिकगत रस है जो पाठक के कंप, नेत्र निमीलन और आनन्दाश्रु से प्रकट होता है । अभिप्राय यह है कि मनोवेगों का आस्वादन ही रस है । यह हमारी रस-प्रक्रिया के अनुरूप ही मानस-व्यापार है ।" इस प्रकार रस के सम्बन्ध में मिश्र जी ने कई ढंग से मनोवैज्ञानिक चिन्तना की है और मानस-शास्त्र के भिन्न भिन्न विचारकों के मत भी प्रस्तुत किए हैं । तथापि दो तीन त्रुटियाँ स्पष्ट हैं । पहली तो यह कि आपने शुक्ल जी की तरह एक-एक स्थायी भाव और व्यभिचारी भाव को सामने रखकर पर्याप्त ऊहापोह के बाद कोई निष्कर्ष नहीं लिया है । दूसरी त्रुटि यह है कि आपने मनोवैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर अपना कोई वैसा दृष्टिकोण नहीं बनाया है, केवल "पाश्चात्यों" के मतों को दुहराते रहे हैं । जो भी अध्ययन मनोविज्ञान-विषयक आपने प्रस्तुत किया है, वह सुलझा हुआ नहीं है । भाव, भावना, मनोवेग, सहज-प्रवृत्ति, मनोराग आदि शब्दों के प्रयोग में आप बिलकुल ही सतर्क नहीं रहे हैं ।

गुलाबराय

रायजी ने "नवरस" में तो रस-सिद्धान्त का वैसा व्यापक मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत नहीं किया है किन्तु अपने "सिद्धान्त और अध्ययन" नामक ग्रन्थ में इस दिशा में जम कर विवेचन किया है । "नवरस" में केवल सात्विक भावों को शरीर-विज्ञान और मनोविज्ञान के आलोक में देखने का प्रयास किया गया है । तदर्थ आपने समस्त स्नायु-संस्थान (Nervous system) तथा मस्तिष्क की बनावट का अध्ययन किया है । मानसिक विकृतियों के परिणामस्वरूप जो शारीरिक परिवर्तन होते हैं, वे ही रस-शास्त्र में सात्विक भाव कहलाते हैं । प्रत्येक सात्विक भाव को लेकर आपने परीक्षा की है ।[1] प्राय: हिन्दी काव्यशास्त्र के इतिहास में इस दिशा में यह प्रथम प्रयास है । किन्तु "नवरस" की त्रुटि यह है कि इसमें भावों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन नहीं किया गया । इसी कमी की पूर्ति राय जी ने "सिद्धान्त और अध्ययन" में आकर की है । इसकी चर्चा हम 'रस के उपकरण" वाले खंड में (अध्याय ७, खंड २) कर चुके हैं ।

अपने द्वितीय ग्रंथ इन्होंने स्थायी भावों और संचारी भावों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है । मनोवैज्ञानिकों द्वारा विवेचित मनोवेगों की तुलना रस-शास्त्रीय भावों से की गई है । अतएव मनोवेगों के स्वरूप को लेकर मनोवैज्ञानिकों के विभिन्न मतों को प्रस्तुतत करना आप ने आवश्यक समझा । तदर्थ विलियम जेम्स, मेकडूगल, शैंड, डूमंड और सिडनी प्रभृति मनोवैज्ञानिकों के विचारों का उल्लेख किया गया है । जेम्स के साइकोलोजी नामक ग्रंथ के आधार पर राय जी ने प्रतिपादित किया है कि जेम्स और लैंग मनोवेगों के वाह्याभिव्यंजकों के परिज्ञान को ही

. नवरस, पृ० ११७–१३२ ।

मनोवेग मानते हैं। जैसे, रोना, एक स्वतः चालित क्रिया है। हम अश्रुपात इसलिए नहीं करते हैं कि हम दुःखी हैं प्रत्युत अश्रुलोचन के परिज्ञान से ही हम दुःख का अनुभव करते हैं। भय का अनुभव इसलिए होता है कि हम कम्प और पैरों की पलायनोंन्मुखता का बोध करते हैं।[1] राय जी इस बात को सर्वांगपूर्ण नहीं मानते हैं। आप की आपत्ति है कि ऐसे भी मनोवेग होते हैं जिनके बाह्य अभिव्यंजन नहीं होता है। कभी-कभी एक छोटी सी बात तीर का काम करती है। और वेदना का अनुभव होता है। उपर्युक्त लक्षणानुसार ऐसे मनोवेगों का (जो बाह्यभिव्यंजन-शून्य हैं) ग्रहण नहीं हो सकेगा। मेकड्यूगल ने मनोवेगों को सहजप्रवृत्तियों का भावात्मक पक्ष माना है। राय जी का कहना है कि मेकड्यूगल द्वारा निरूपित चौदह सहज प्रवृत्तियों का हमारे यहां के ३३ संचारी भावों से तथा नौ या दस स्थायी भावों से मेल नहीं खाता है। तथापि स्थायी भावों का सम्बन्ध किसी न किसी तरह इन सहज प्रवृत्तियों के साथ दिखाया जा सकता है पण्डित रामदहिन मिश्र के काव्यदर्पण की तालिका के आधार पर प्रायः आपने भी यह अन्तर्भाव प्रस्तुत कर दिखाया है।[2] शैंड के विचारों की चर्चा आपने शुक्ल जी की रसमीमांसा के आधार पर की है। शैंड मनोवेग को भावात्मक वृत्तियों का अंग मानते हैं। एक भाववृत्ति (या शुक्ल जी के शब्दों में भावकोश, भाव प्रणाली) के अन्तर्गत कई मनोवेग होते हैं और उस मनोवेग के अन्तर्गत सहजवृत्तियों को भी समाविष्ट किया जा सकता है।[3] रस शास्त्र में विवेचित स्थायी भावों को भाववृत्ति से तथा संचारी भावों को मनोवेगों से तुलित किया जा सकता है। भाववृत्ति में भी शैंड ने स्थायिता मानी है—अतएव ये हमारे स्थायी भावों के समकक्ष हैं। शुक्ल जी ने शैंड के भाव-कोशों में स्थायी दशा की अपेक्षा मानी है, पर राय जी का ध्यान इस ओर नहीं गया है। डा० भगवान दास के विचारों का उल्लेख करते हुए राय जी ने लिखा है—"आप मनोवेगों को एक जीव के दूसरे जीव के प्रति भाव-परिज्ञान के साथ इच्छा का संयोग मानते हैं। सभी मनोवेग आकर्षण-विकर्षण स्वरूप हैं। घृणा विकर्षण है, पर प्रेम आकर्षण"।[4] उपर्युक्त सभी मान्यताओं के आधार पर मनोवेगों के सम्बन्ध में राय जी का निष्कर्ष इस प्रकार है:—

'मनोवेग मन की वह भावपरक उद्वेलित अवस्था है जो किसी बाह्य या अन्तः (स्मृति जन्य, कल्पना जन्य और कभी-कभी शारीरिक) उत्तेजना के ज्ञान से उत्पन्न होकर शरीर की आन्तरिक स्थिति में परिवर्तन कर हमारी सहजवृत्तियों के सहारे कुछ प्रवृत्यात्मक या निवृत्यात्मक क्रियाओं को जन्म देती है। इस प्रकार मनोवेग में तीनों प्रकार की मानसिक क्रियायें ज्ञान, भावना और संकल्प (Knowing,

---

१. सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० १७८। २. वही पृ० १८६ तथा काव्यदर्पण, पृ० १५०–१५१ फुटनोट। ३. वही पृ० १७९। ४. Science of Emotions पृ० ५९–६०।

उनकी सुखात्मक मनोऽवस्था। यह सुखात्मक मनोऽवस्था रसिकगत रस है जो पाठक के कंप, नेत्र निमीलन और आनन्दाश्रु से प्रकट होता है। अभिप्राय यह है कि मनोवेगों का आस्वादन ही रस है। यह हमारी रस-प्रक्रिया के अनुरूप ही मानस-व्यापार है।" इस प्रकार रस के सम्बन्ध में मिश्र जी ने नई ढंग से मनोवैज्ञानिक चिन्तना की है और मानस-शास्त्र के भिन्न भिन्न विचारकों के मत भी प्रस्तुत किए हैं। तथापि दो तीन त्रुटियाँ स्पष्ट हैं। पहली तो यह कि आपने शुक्ल जी की तरह एक-एक स्थायी भाव और व्यभिचारी भाव को सामने रखकर पर्याप्त ऊहापोह के बाद कोई निष्कर्ष नहीं लिया है। दूसरी त्रुटि यह है कि आपने मनोवैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर अपना कोई वैसा दृष्टिकोण नहीं बनाया है, केवल "पाश्चात्यों" के मतों को दुहराते रहे हैं। जो भी अध्ययन मनोविज्ञान-विषयक आपने प्रस्तुत किया है, वह सुलझा हुआ नहीं है। भाव, भावना, मनोवेग, सहज-प्रवृत्ति, मनोराग आदि शब्दों के प्रयोग में आप बिलकुल ही सतर्क नहीं रहे हैं।

गुलाबराय

रायजी ने 'नवरस" में तो रस-सिद्धान्त का वैसा व्यापक मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत नहीं किया है किन्तु अपने "सिद्धान्त और अध्ययन" नामक ग्रन्थ में इस दिशा में जम कर विवेचन किया है। "नवरस" में केवल सात्विक भावों को शरीर-विज्ञान और मनोविज्ञान के आलोक में देखने का प्रयास किया गया है। तदर्थ आपने समस्त स्नायु-संस्थान (Nervous system) तथा मस्तिष्क की बनावट का अध्ययन किया है। मानसिक विकृतियों के परिणामस्वरूप जो शारीरिक परिवर्तन होते हैं, वे ही रस-शास्त्र में सात्विक भाव कहलाते हैं। प्रत्येक सात्विक भाव को लेकर आपने परीक्षा की है।[1] प्रायः हिन्दी काव्यशास्त्र के इतिहास में इस दिशा में यह प्रथम प्रयास है। किन्तु "नवरस" की त्रुटि यह है कि इसमें भावों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन नहीं किया गया। इसी कमी की पूर्ति राय जी ने "सिद्धान्त और अध्ययन" में आकर की है। इसकी चर्चा हम 'रस के उपकरण" वाले खंड में (अध्याय ७, खंड २) कर चुके हैं।

अपने द्वितीय ग्रंथ इन्होंने स्थायी भावों और संचारी भावों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। मनोवैज्ञानिकों द्वारा विवेचित मनोवेगों की तुलना रस-शास्त्रीय भावों से की गई है। अतएव मनोवेगों के स्वरूप को लेकर मनोवैज्ञानिकों के विभिन्न मतों को प्रस्तुतत करना आप ने आवश्यक समझा। तदर्थ विलियम जेम्स, मेकड्यूगल, शॅड, ड्रूमंड और सिडनी प्रभृति मनोवैज्ञानिकों के विचारों का उल्लेख किया गया है। जेम्स के साइकोलोजी नामक ग्रंथ के आधार पर राय जी ने प्रतिपादित किया है कि जेम्स और लैंग मनोवेगों के बाह्याभिव्यंजकों के परिज्ञान को ही

. नवरस, पृ० ११७–१३२।

मनोवेग मानते हैं। जैसे, रोना, एक स्वत: चालित क्रिया है। हम अश्रुपात इसलिए नहीं करते हैं कि हम दु:खी हैं प्रत्युत अश्रुलोचन के परिज्ञान से ही हम दु:ख का अनुभव करते हैं। भय का अनुभव इसलिए होता है कि हम कम्प और पैरों की पलायनोंन्मुखता का बोध करते हैं।[1] राय जी इस बात को सर्वांगपूर्ण नहीं मानते हैं। आप की आपत्ति है कि ऐसे भी मनोवेग होते हैं जिनके बाह्य अभिव्यंजन नहीं होता है। कभी-कभी एक छोटी सी बात तीर का काम करती है। और वेदना का अनुभव होता है। उपर्युक्त लक्षणानुसार ऐसे मनोवेगों का (जो बाह्यभिव्यंजन-शून्य हैं) ग्रहण नहीं हो सकेगा। मेकड्यूगल ने मनोवेगों को सहजप्रवृत्तियों का भावात्मक पक्ष माना है। राय जी का कहना है कि मेकड्यूगल द्वारा निरूपित चौदह सहज प्रवृत्तियों का हमारे यहां के ३३ संचारी भावों से तथा नौ या दस स्थायी भावों से मेल नहीं खाता है। तथापि स्थायी भावों का सम्बन्ध किसी न किसी तरह इन सहज प्रवृत्तियों के साथ दिखाया जा सकता है पण्डित रामदहिन मिश्र के काव्यदर्पण की तालिका के आधार पर प्राय: आपने भी यह अन्तर्भाव प्रस्तुत कर दिखाया है।[2] शेंड के विचारों की चर्चा आपने शुक्ल जी की रसमीमांसा के आधार पर की है। शेंड मनोवेग को भावात्मक वृत्तियों का अंग मानते हैं। एक भाववृत्ति (या शुक्ल जी के शब्दों में भावकोश, भाव प्रणाली) के अन्तर्गत कई मनोवेग होते हैं और उस मनोवेग के अन्तर्गत सहजवृत्तियों को भी समाविष्ट किया जा सकता है।[3] रस शास्त्र में विवेचित स्थायी भावों को भाववृत्ति से तथा संचारी भावों को मनोवेगों से तुलित किया जा सकता है। भाववृत्ति में भी शेंड ने स्थायिता मानी है--अतएव ये हमारे स्थायी भावों के समकक्ष हैं। शुक्ल जी ने शेंड के भाव-कोशों में स्थायी दशा की अपेक्षा मानी है, पर राय जी का ध्यान इस ओर नहीं गया है। डा० भगवान दास के विचारों का उल्लेख करते हुए राय जी ने लिखा है—"आप मनोवेगों को एक जीव के दूसरे जीव के प्रति भाव-परिज्ञान के साथ इच्छा का संयोग मानते हैं। सभी मनोवेग आकर्षण-विकर्षण स्वरूप हैं। घृणा विकर्षण है, पर प्रेम आकर्षण"।[4] उपर्युक्त सभी मान्यताओं के आधार पर मनोवेगों के सम्बन्ध में राय जी का निष्कर्ष इस प्रकार है:—

'मनोवेग मन की वह भावपरक उद्वेलित अवस्था है जो किसी बाह्य या अन्त: (स्मृति जन्य, कल्पना जन्य और कभी-कभी शारीरिक) उत्तेजना के ज्ञान से उत्पन्न होकर शरीर की आन्तरिक स्थिति में परिवर्तन कर हमारी सहजवृत्तियों के सहारे कुछ प्रवृत्यात्मक या निवृत्यात्मक क्रियाओं को जन्म देती है। इस प्रकार मनोवेग में तीनों प्रकार की मानसिक क्रियायें ज्ञान, भावना और संकल्प (Knowing,

१. सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० १७८। २. वही पृ० १८६ तथा काव्यदर्पण, पृ० १५०–१५१ फुटनोट। ३. वही पृ० १७९। ४. Science of Emotions पृ० ५९–६०।

feeling willing) रहती हैं। यह मात्रा घटती-बढ़ती रहती है। भावना पक्ष प्रायः सभी प्रबल रहता है किन्तु कुछ का सुखद और कुछ का दुःखद। इस प्रकार सारे मनोवेग भिन्न-भिन्न प्रकार के पात्रों के सम्बन्ध में आकर्षण और विकर्षण, राग और द्वेष के रूप में हो जाते हैं"।[1]

काव्यशास्त्रीय रस और मनोवैज्ञानिक मनोवेग के पारस्परिक सम्बन्ध के निर्धारण के लिए राय जी ने ड्रमन्ड और मेलोन द्वारा रचित (Elements of Psyclology) (पृष्ठ २२६) नामक पुस्तक का सहारा लेकर यह सिद्ध कर दिखाया है कि रस-विवेचन मनोविज्ञान-सम्मत है। उक्त मानस-शास्त्रियों ने मनोवेगों की पांच विशेषताओं का उल्लेख किया है :—

(१) उसके विषय का वर्णन—जो परिस्थिति उस समय देखी गई हो, कल्पित की गई हो या स्मरण की गई हो।

(२) उसका भावमूलक गुण अर्थात् वह सुखद है, दुःखद है अथवा उदासीन। भाव का विस्तार और उसकी गहराई।

(३) संकल्प-शक्ति को प्रभावित करने का प्रकार, उससे संलग्न क्रियात्मक प्रवृत्तियाँ।

(४) शारीरिक अभिव्यंजक—(क) आन्तरिक अवयव-सम्बन्धिनी संवेदनाएँ (ख) पेशियों की क्रियाएँ।

(५) भिन्न-भिन्न विकास की अवस्थाओं में मानसिक विकास के भिन्न-भिन्न धरातलों पर मनोवेगों के विविध रूप (यदि कोई हों)।[2]

राय जी की मान्यता है कि उपर्युक्त सारी विशेषताओं का विवेचन भारतीय रस-शास्त्र में हुआ है। केवल पाँचवी विशेषता पर अभी तक प्रकाश नहीं पड़ा है। विषय-वर्णन रस-शास्त्र में विभावों के द्वारा (आलम्बन, आश्रय और उद्दीपन के द्वारा) होता है। मनोवेगों का गुण भी बताया गया है। स्थायी भावों को केवल सुखात्मक या दुःखात्मक कह कर ही छुट्टी न ली गई है प्रत्युत सुख-दुःख का प्रकार भी बताया गया है। रति में सुख संवेदन की प्रतिपत्ति, हास में चित्त का विकास, शोक में चित्त की विकलता, विस्मय में चित्त का विस्तार—इसी के निदर्शन हैं। क्रियात्मक प्रवृत्तियों और शारीरिक अभिव्यंजनाओं की विवेचना रस-शास्त्र में अनुभावों के माध्यम से की गई है। सात्विक भाव आन्तरिक क्रियाओं पर तथा अनुभाव बाह्य शारीरिक व्यापारों पर प्रकाश डालते हैं। राय जी के अनुसार केवल पाँचवी विशेषता (एक ही रस या मनोभाव का भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में रूप) की दृष्टि से अभी तक रस-विवेचन नहीं किया गया है। मेरी अपनी धारणा है कि इस दृष्टि

१. सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० १८०। २. वही पृ० १८१।

से भी भारतीय रस-शास्त्र में चिन्तन हो चुका है। उदाहरणार्थ क्रोध को लीजिए, रौद्ररस में शत्रु के प्रति भी क्रोध की अभिव्यक्ति होती है, मानवती नायिका के हृदय में भी क्रोध का निवास होता है (विप्रलम्भ शृंगार के अन्तर्गत), एक बालक भी मित्र से खीझकर अपनी माता के प्रति क्रोध का इजहार करता है, एक भक्त भी गुस्से में आकर अपने उपास्य को खरा-खोटा सुना डालता है—क्रोध के इन विभिन्न रूपों के अन्तर को ही हम क्रमशः रौद्र, विप्रलम्भ, वात्सल्य, उपालम्भात्मक भक्ति आदि के सहारे जानते हैं। इसी प्रकार उत्साह एक मनोभाव या मनोवेग है पर दयावीर, दान-वीर, धर्मवीर, युद्धवीर, प्रेमवीर, आदि के रूपों में उसकी विविधता का ही विवेचन सदियों से होता आ रहा है। विशेषतः आधुनिक काल में आकर तो राय जी के पहले पं० रामचन्द्र शुक्ल ने तथा बाद में डा० सुधांशु और डा० नगेन्द्र ने भी इस दिशा में पर्याप्त मीमांसा की है। तथापि अनुसन्धान की अपेक्षा अभी भी बनी है—इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता है। फलतः मनोवैज्ञानिक ड्रमन्ड और मेलोन द्वारा निर्दिष्ट मनोवेगों की समग्र विशेषताओं की चिन्तना भारतीय रस-शास्त्र में होने के कारण इसे सर्वांशतः मनोवैज्ञानिक मानना चाहिए। सामग्री-संकलन की दृष्टि से राय जी का प्रयास स्तुत्य है।

लक्ष्मीनारायण "सुधांशु"

सुधांशु जी ने विभिन्न प्रतिनिधि मनोवैज्ञानिकों के द्वारा निरूपित मनोविकारों सहजवृत्तियों या भावों का उल्लेख कर रस-शास्त्रीय भावों के साथ उनके साम्य और वैषम्य दिखाने का व्यवस्थित ढंग नहीं अपनाया है। फिर भी रस-शास्त्रीय किम्बा मानवीय भावों के सम्बन्ध में अनेक वैज्ञानिक बातों का प्रतिपादन आपने किया है। अतएव इसी दृष्टि से उनके द्वारा अद्‌धीत भावों का अतिसंक्षिप्त अध्ययन नीचे प्रस्तुत है।

इन्होंने सुख और दुख को मूल भाव माना हैं। आत्मा की बुद्धि, विस्तार और आधिक्य का भाव सुख है और उसका ह्रास, संकोच और अल्पता दुख है। सुख शब्द का अर्थ है सु=सुलभ+ख=व्याप्ति तथा दुख शब्द का अर्थ है दु=दुर्लभ +ख=व्याप्ति।[1] सुख और दुख से क्रमशः राग और द्वेष नामक मनोविकार उद्‌भूत होते हैं जो आलंबन और आश्रय के भेद से अनेक मनोविकारों के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। सुधांशु जी के दृष्टिकोण में साहित्यशास्त्र की रस-पद्धति भी इन्हीं दोनों तत्वों पर अवलम्बित है अर्थात् नौ स्थायी भावों और सभी संचारी भावों का उद्‌भव भी राग और द्वेष नामक मनोविकारों से ही होता है।[2] उदाहरणार्थ विशिष्ट के प्रति राग, सम्मान हो जाता है, समान के प्रति प्रीति तथा हीन के प्रति करुणा। इसी प्रकार विशिष्ट के प्रति द्वेष भय का रूप धारण करता है, समान के प्रति क्रोध तथा

---

१. जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त, पृ० ४। २. वही पृ० ६।

हीन के प्रति दर्प का रूप ले लेता है। सुधांशु जी मानव जीवन को विपरीत भावों का एक वृत्तिचक्र मानते हैं। अतएव जीवन-सम्बद्ध काव्य का में भी इन्हीं विपरीत भावों के वृत्तिचक्र का ही उल्लेख रहता है। क्रोध के साथ शांति, घृणा के साथ श्रद्धा, ईर्ष्या के साथ भक्ति दिखलाना ही विपरीत वृत्ति-समूह को प्रस्तुत करना है। शुक्ल जी की तरह सुधांशु जी भी प्रत्येक कर्म का प्रेरक भाव को मानते हैं। वस्तुत: कर्म के माध्यम से ही भाव अभिव्यक्त होते हैं। रस-सिद्धान्त में अनुभावों के अन्तर्गत इसी विषय का निरूपण किया गया है। कर्मों के परिणाम अच्छे होने पर भी यदि उनके पीछे भाव अच्छे या अनुकूल न हों तो उन क्रियाओं का कोई महत्व भारतीय आदर्श-जीवन और काव्य में नहीं है। पर पश्चिम में केवल परिणामों की ही अच्छाई और बुराई देखी जाती है, उन प्रेरक भावों की नहीं।[1] सुधांशु जी की धारणा है कि किसी भाव का अस्तित्व अपने में रखने के लिए मनुष्य को सदा तदनुसार आचरण करना चाहिए। अन्यथा उस भाव-विशेष में निष्क्रियता आ जाने की संभावना है। उदाहरणार्थ, "दुखी के दु:ख को देखकर हृदय में करुणा उत्पन्न होती है और उस करुणा की प्रेरणा के अनुसार दु:खी की सहायता कर हृदय को संतुष्ट न किया जाय तो एक दिन ऐसा समय भी आयगा जब किसी के दु:ख को देखकर हृदय में करुणा उत्पन्न न होगी"।[2] तात्पर्य यह कि उस भाव के लिए हृदय जड़ हो जायगा। इस प्रकार सुधांशु जी ने भावों के सम्बन्ध में अनेक वैज्ञानिक बातें बताई हैं। तथापि मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि में रस सिद्धान्त की जितनी और जैसी व्याख्या अपेक्षित थी, वैसी सुधांशु जी के ग्रंथ में संभव न हो सकी है। इसका कारण भी स्पष्ट है। आप का दृष्टिकोण एक रस-शास्त्री का नहीं है वरन् एक समाज-शास्त्री का है।

डा० नगेन्द्र

इन्होंने रस-शास्त्रीय भावों का अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग से मनोविज्ञान के आलोक में अध्ययन कर कतिपय ठोस निष्कर्ष लिए हैं। यों विश्व में कोई भी मान्यता परिपूर्ण नहीं कही जा सकती है (जैसा स्वयं आपका भी विचार है) तथापि अभी तक हिन्दी काव्य-शास्त्र में किए गए भावों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन में आपके विचार सर्वाधिक सुलझे हुए तथा विश्वसनीय हैं। आपने मनोविकारों के सम्बन्ध में प्राचीन-अर्वाचीन सभी मनोवैज्ञानिकों के मतों का विश्लेषण किया है और उन्हें पार्श्व में रख कर भारतीय-रसशास्त्र में प्रतिपादित स्थायी भावों और संचारी भावों को समझने की चेष्टा की है। तदनन्तर आप इसी निष्कर्ष पर आ सके हैं कि रस-शास्त्रीय भाव--विवेचन आधुनिक मनोविज्ञान के सर्वथा अनुकूल न होते हुए भी अमनोवैज्ञानिक और अनर्गल नहीं है।[3] सच्ची बात तो यह है कि मनोभावों की

---

१. जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त, पृ० १२। २. वही पृ० १९।
३. रीति काव्य की भूमिका, पृ० ८१।

गणना करना कठिन ही नहीं, असंभव है। मन की वस्तु के प्रति प्रतिक्रिया ही मनोविकार है जो प्रत्येक वस्तु के साथ बदलती रहती है। इस प्रकार मन में विकारों की अगणित तरंगें उठा करती हैं और वे पारस्परिक मिश्रण से असंख्य रूपात्मक हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में काव्यशास्त्रीय नौ स्थायी भावों और तेंतीस संचारी भावों के भीतर सारे मनोविकारों को पा लेने में डा० नगेन्द्र को पूरा सन्देह है। सबसे बड़ी विशेषता एक आलोचक के रूप में आपकी यह है कि न तो भारतीय रस-सिद्धांत के प्रति आप में अधिक दुराग्रह है और न पाश्चात्य मनोविज्ञान के प्रति अन्धभक्ति। दोनों के नीर-क्षीर विवेचन से समुचित तथ्य का अनुसन्धान ही आपका चरम प्रतिपाद्य है।

अपने अध्ययन-क्रम में सर्वप्रथम आपने मनोविकार (Emotion) और मनोवृत्ति (Sentiment) का अन्तर स्पष्ट करना आवश्यक समझा है। मनोविकार अस्थिर अनुभव है और मनोवृत्ति अपेक्षाकृत स्थिर; मनोविकार, स्वभाव, वृत्ति या मात्रा (Instinct) से सम्बद्ध है और मनोवृत्ति विचार (Idea) से अर्थात् उसमें बौद्धिक तत्त्व भी अनिवार्यतः विद्यमान रहता है।[1] मनोविकारों के दो प्रकारों की भी चर्चा आपने की है। कुछ मनोविकार तो मौलिक हैं (Primary Emotion) और कुछ व्युत्पन्न (Derived Emotion)। मौलिक मनोविकार स्वतन्त्र, अमिश्र और एक होता है किन्तु व्युत्पन्न मनोविकार स्वतन्त्र न होकर किसी अन्य मनोविकार के आश्रित रहता है।[2] जैसे भय एक मौलिक मनोविकार है किन्तु आशंका एक व्युत्पन्न मनोविकार है। इन दोनों प्रकार के मनोविकारों से भिन्न एक स्थिर मनोदशा ही मनोवृत्ति है जो अनेक मनोविकारों के मिश्रण, उनकी पुनरावृत्ति और क्रमशः बौद्धिक तत्त्व के समावेश से निर्मित होती है।

मानवीय मनोरागों की उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक छाया में ही डा० साहब ने रस-सिद्धान्त-विवेचित भावों का तुलनात्मक अध्ययन किया है। स्थायी भावों के सम्बन्ध में आपका निर्णय है कि इन्हें न तो सामान्यतः मौलिक मनोविकार कहा जा सकता है और न व्युत्पन्न मनोविकार ही। स्थूलतः इन्हें मनोवृत्तियों के समकक्ष माना जा सकता है। नौ स्थायी भावों को मौलिक मनोविकार मानने में आपत्ति यह है कि निर्वेद और विस्मय जैसे स्थायी भाव कई मनोविकारों के सम्मिश्रण से बने हैं तथा निर्वेद में तो बौद्धिकता भी है। व्युत्पन्न मनोविकार इसलिए नहीं कहा जा सकता है कि भय, क्रोध आदि कतिपय स्थायी भाव अमिश्र और स्वतन्त्र होने के कारण-स्पष्टतः मौलिक मनोविकारों की कोटि में आ जाते हैं। अतएव इन्हें मनोवृत्तियों के निकट रखा जा सकता है। स्थायी भावों को मनोवृत्तियाँ न कहकर मनोवृत्तियों के निकट कहने का तात्पर्य यह है कि इनमें यदि एक ओर मनोविज्ञान

१. रीति काव्य की भूमिका, पृष्ठ—७१। २. वही, पृष्ठ—७२।

निरूपित मनोवृत्तियों से समता है तो दूसरी ओर उनसे विषमता भी है। समता इस अर्थ में है कि ये स्थायी भाव भी मनोवृत्तियों की तरह स्थायी हैं तथा मनोदशायें हैं। विषमता तीन कारणों से है। प्रथम तो मनोवृत्ति एक मनः स्थिति मात्र है और इसका कदापि आस्वादन नहीं होता है। यदि आस्वादन होता भी है तो इसके निष्पादक मनोविकारों (सञ्चारी भावों) का ही। उदाहरणार्थ, यदि देशभक्ति को एक मनोवृत्ति मानें तो इसके आश्रित मनोविकार उत्साह का ही आस्वाद होगा, स्वयं देशभक्तिरूप मनोवृत्ति विशेष का नहीं। रस-शास्त्रीय स्थायी-भाव स्वयं आस्वादनीय होते हैं। द्वितीयतः मनोवृत्ति सदैव मनोविकारों की आवृत्ति से निर्मित होती है परन्तु स्थायी भावों की स्थिति इससे भिन्न है। हर्ष जैसे मनोविकार की पौनः पुन्य आवृत्ति के बावजूद भी वह रतिरूप स्थायीभाव का रूप धारण न कर सकेगा। तीसरी बात यह कि मनोवृत्ति विचारमूलक होती है किन्तु स्थायी भाव प्रवृत्तिमूलक।[1] हाँ, शम या निर्वेद नामक स्थायीभाव में बौद्धिकता होती है, अतएव शुक्ल जी ने इसे स्थायी भाव ही नहीं माना है फलतः निष्कर्ष यह निकला कि स्थायी भाव मनोवैज्ञानिक मनोवृत्तियों से आंशिक साम्य तो रखते है किन्तु उनसे अभिन्न नहीं है।

सच्ची बात तो यह है कि साहित्य शास्त्र में जिन मनोविकारों को स्थायी भाव कहा गया है, उनमें तीव्रता, स्थायिता और व्यापकता अन्य मनोविकारों की अपेक्षा अधिक होती है। ये मानव स्वभाव के मूल अंग है और इन्हें पाश्चात्य दर्शन में मौलिक मनोवेग (Elemental Passions) कहा गया है।[2] डा० नगेन्द्र का कहना है कि इन मौलिक मनोवेगों का सम्बन्ध आत्मक गुण राग और द्वेष से है। इन दोनों का मूल भी अस्मिता या अहंकार है। अस्मिता को आधुनिक मनोविज्ञान में Ego कहा जाता है और राग तथा द्वेष के लिए Libido एवं Thanatos जैसे पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग होता है। इन्हें आप प्रेम करने की प्रवृत्ति और नाश करने की प्रवृत्ति कहिये या सुखजनक राग और दुःख जनक द्वेष (सुखात् रागः, दुःखात् द्वेषः) किम्बा Libido और Thanatos। आधुनिक मनोवैज्ञानियों में फ्रायड, आडलर और युंग अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। प्रथम काम को जीवन की मूलवृत्ति मानता है, द्वितीय हीन भावना को, तृतीय जीवनेच्छा या स्वत्व-रक्षा को (हमारे शब्दों में अस्मिता के पोषण को) ये वृत्तियाँ भी क्रमशः राग द्वेष और दोनों के सामंजस्य का ही प्रतिनिधित्व करती हैं। इन्हीं तीन आधारों पर डा० भगवान् दास ने सभी स्थायी भावों का वर्गीकरण किया है। रति, हास, उत्साह और विस्मय साधारणतः अस्मिता के उपकारक होने के कारण राग नामक मूलभाव के अन्तर्गत आ जाते है। शोक, क्रोध, भय और जुगुप्सा अस्मिता के अपकारक होने

---

१. रीति काव्य की भूमिका, पृष्ठ—७२—७३। २. वही, पृष्ठ—७५।

के कारण द्वेष भाव के अन्तर्गत तथा निर्वेद में अस्मिता की समरसता के कारण दोनों का सामंजस्य हो जाता है (नयत्र सुखं, न दु:खं किंचित्) ।[1] फलत: सभी स्थायी भावों का मूल अस्मिता या Ego ही है । भोजराज ने भी अभिमान या अहंकार को ही सभी भावों का मूल माना था । अतएव रसशास्त्रीय स्थायी भावों को मनोविज्ञान निरूपित मनोवृत्तियाँ भले ही न कहें, पर पाश्चात्य दर्शन-प्रतिपादित मौलिक मनोवेग (Elemental Passions) मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए । दार्शनिकों के ये विचार मनोविज्ञान-सम्मत भी हैं। पर डा० नगेन्द्र को यहाँ आपत्ति है । आपका कहना है कि कोई भी भाव सर्वथा अमिश्र नहीं हो सकता है । नहीं कहा जा सकता है कि जिसे रागमूलक माना गया है, उसमें द्वेष का पुट नहीं है । मनोवैज्ञानिक भी यही मानते हैं कि हमारा मानसिक जीवन राग और द्वेष के संघर्ष से ही संचालित है । अतएव जहाँ लड़ाई के लिए उत्साह है, वहाँ द्वेष भी मिला है, शोक में राग का अस्तित्व भी है, यहाँ तक कि रति विशुद्ध राग नहीं है ।[2] तथापि डा० साहब ने स्थायी भावों को मौलिक मनोवेग मान लिया है ।

इन्होंने मैग्डयूगल-प्रतिपादित १४ मूल प्रवृत्तियों की भी परीक्षा की है और इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि रस-शास्त्रीय नौ स्थायी भावों से ये भिन्न नहीं है ।[3] क्षुधा एक शारीरिक भाव है, अतएव इसे मनोविकार नहीं माना जा सकता है । शेष तेरह में भी सृजनोत्साह और अधिकार-भावना अहंकार में अन्तर्भुक्त हैं । कार्पण्य और कातरता भी एक हैं । फलत: मैग्ड्यूगल-निरूपित मनोविकारों की संख्या दश तक आ पहुँची है—रति, हास, क्रोध, भय, घृणा, औत्सुक्य, वात्सल्य, अहंकार, कार्पण्य और सहानुभूति (सगेच्छा) । इनमें से प्रथम सात तो काव्य-शास्त्र सम्मत स्थायी भाव ही हैं । अहंकार उत्साह का ही रूपान्तर है । कार्पण्य और सहानुभूति दोनों को मिला कर शोक नामक स्थायी भाव की पूर्ति हो जाती है । वात्सल्य की स्वतन्त्र सत्ता डा० नगेन्द्र को मान्य है ।[4]

उपर्युक्त विचारों के आधार पर स्थायी भावों के सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र के अभिमत इस प्रकार रखे जा सकते हैं :—

(१) रस शास्त्रीय स्थायी भाव न तो मूल मनोविकार हैं और न व्युत्पन्न मनोविकार ।

(२) वे मनोवृत्तियाँ भी नहीं हैं प्रत्युत उनके समकक्ष हैं क्योंकि उनमें परस्पर साम्य है तो वैषम्य भी ।

(३) स्थायी भाव मौलिक मनोवेग (Elemental Passions) कहे जा सकते हैं ।

---

१. रीति काव्य की भूमिका, पृ०—७५ । २. वही, पृ०—७५ । ३. वही, पृ०—८० । ४. वही, पृ०—७७ ।

(४) मेग्ड्यूगल-प्रतिपादित १४ (और बाद में ४ अन्य) मनोविकार भी भारतीय नौ या दश स्थायी भावों के भीतर ही आ जाते हैं।

(५) मनोवैज्ञानिक मनोविकार निरूपण में और रस शास्त्रीय भाव-निरूपण में दृष्टिकोण का भी अन्तर है। रस-शास्त्र में प्रभाव, तीव्रता और व्यापकता के आधार पर स्थायी भावों का निर्धारण किया गया है। ये आधार मनोविज्ञान की परिधि के बाहर हैं।

(६) रस-शास्त्रीय भाव-निरूपण सर्वांशतः मनोवैज्ञानिक न होते हुए भी वैज्ञानिक ही हैं।

रस-शास्त्रीय संचारी भावों को डा० नगेन्द्र मनोविज्ञान के मनोविकार मानते हैं। संचारी भावों की परिधि में परम्परागत तेंतीस भावों के अतिरिक्त नौ या दश स्थायी भाव नामधेय मनोविकारों की भी गणना आपने की है, क्योंकि ये भी अपरिपक्व अवस्था में या अन्य रसों के क्षेत्र में संचारी भाव ही कहलाते हैं। अतएव सभी संचारी भाव (३३+९ = ४२) मनोवैज्ञानिकों के मनोविकार (emotion) हैं।[1] संचारी भावों की संख्या को लेकर डा० नगेन्द्र को आपत्ति है। आपका कहना है कि "स्वयं संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों ने कई अतिरिक्त संचारी भावों (मात्सर्य, उद्वेग, दंभ, विवेक, निर्णय, क्षमा, उत्कण्ठा आदि) की स्थिति स्वीकार की है तथा परम्परा-प्रेम के कारण उन्हें उक्त तेंतीस संचारी भावों में अन्तर्भुक्त करने का प्रयास किया है। यही कारण है कि डा० भगवान् दास ने ६४ भावों को (स्थायी और संचारी को मिला कर) स्वीकार किया है। इतना ही नहीं, तेंतीस संचारी भावों में भी अपस्मार, निद्रा, स्वप्न, मरण आदि कई ऐसे भाव हैं जिनमें शारीरिकता अधिक है, मानसिकता कम। अतएव संचारी भावों का काव्य शास्त्रीय वर्गीकरण असंगत है। वस्तुतः मन की तरंगों की गणना ही नहीं की जा सकती है।[2] इस प्रसंग में भी मुझे डा० साहब से पूरी सहमति है। जिन आधारों पर मैं सहमति प्रकट कर रहा हूँ उनकी विस्तृत चर्चा इनके द्वारा निरूपित "रस के उपकरण" शीर्षक (अध्याय ७, खंड २) में की जा चुकी है। यहाँ इतना ही निवेदन कर देना आवश्यक है कि स्वयं संस्कृत के काव्य शास्त्रियों ने संचारी भावों की संख्या को एक उपलक्षण मात्र स्वीकार किया है।

(५) रस के भेदोपभेद

जगन्नाथ प्रसाद "भानु"

भानु जी ने रसों की संख्या नौ मानी है।[3] शांत रस को आपने श्रव्य काव्य में ही उपयुक्त माना है। वात्सल्य को प्रेम और दया की प्रधानता के कारण शृंगार

१. रीति काव्य की भूमिका, पृ० ७१। २. वही पृ० ८१। ३. रसरत्नाकर, दूसरा भाग, पृ० ७।

और करुण का अंग मान लेते हैं। अन्य आचार्यों द्वारा मान्य भक्ति रस को आप शांत में अन्तर्भुक्त बताते हैं। कतिपय संस्कृत के आचार्यों ने सख्य, दास्य और प्रेयान् नामक तीन अन्य रसों की सत्ता नाटकादि में स्वीकृत की थी, पर भानु जी उन्हें भी शान्त में ही समाविष्ट कर लेते हैं। विप्रलम्भ शृंगार के तीन भेद आपको मान्य है—पूर्वानुराग, मान और प्रवास। पूर्वानुराग के कारणों में आपने श्रवणदर्शन, चित्रदर्शन, स्वप्न-दर्शन और प्रत्यक्षदर्शन की चर्चा की है। वीर रस के युद्धवीर, दानवीर, दयावीर, धर्मवीर–ये चार भेद आपको अंगीकार्य हैं।[1]

भानु जी द्वारा प्रतिपादित रस के भेदोपभेदों में कोई नवीनता तो नहीं है किन्तु वात्सल्य और भक्ति को स्वतन्त्र रसों के रूप में उन्हें स्वीकार करना चाहिए था। इन दोनों रसों की पृथक् सत्ता की विवेचना हम कई स्थलों में कर चुके हैं, अतएव उनकी पुनरुक्ति अनावश्यक होगी।

अयोध्या सिंह उपाध्याय

उपाध्याय जी ने रसकलस के मूल भाग में परम्परागत सर्वमान्य नौ रसों की स्थापना की है। कोई नूतनता नहीं है। केवल वीर रस के उपभेदों में युद्ध, दान, दया, और धर्म के आधार पर किए गए चार भेदों के अतिरिक्त कर्म के आधार पर "कर्मवीर" नामक पाँचवें भेद की भी उद्भावना आपने की है। इसे प्रस्तुत करते हुए आपने लिखा है—कर्त्तव्य-परायणता और कार्य-सिद्धि के सिद्धान्तों पर दृढ़ विश्वास आलंबन, कार्यकारिणी शक्ति के सफल प्रयोगों का अनुधावन और चिंतन उद्दीपन विभाव, कार्य सिद्धि के साधनों और प्रयोगों का समुचित व्यवहार अनुभाव एवं धृति, मति गर्व, उग्रता आदि संचारी भाव हैं। कर्मवीर के कार्य-साधन में पूर्ण उत्साह की पुष्टि है।[2] अन्य रसों (नवरसेतर) की स्वीकृति की समस्या में उपाध्याय जी ने एक मात्र वात्सल्य की ही चर्चा रसकलस की भूमिका में की है। परम्परागत आचार्यों द्वारा प्रस्तुत शंकाओं और समाधानों की छानबीन करने के उपरांत आपका निष्कर्ष है कि वत्सल को एक स्वतन्त्र रस मान लेना चाहिए।[3] मुनीन्द्र, विश्वनाथ और भारतेन्दु के द्वारा दिए गए तर्क आपको खूब जँचे हैं।

कन्हैयालाल पोद्दार

पोद्दार जी शृंगार से लेकर शान्त पर्यन्त नौ सर्वमान्य रसों को तो मानते ही हैं[4] बल्कि इनके अतिरिक्त भक्ति को भी संस्कृत के आचार्यों की तरह एक "भाव" मात्र न मानकर पूर्ण एवं अखण्ड रस मान लेते हैं। भगवद्विषया रति (प्रेम) को आपके अनुसार, शृंगार रस नहीं माना जा सकता है, क्योंकि शृंगार का आश्रय कोई

---

१. रसरत्नाकर, पृ० ३, भाग १। २. वही पृ० ५३। ३. रसकलस, पृ० ३१६।
४. रसकलस, भूमिका, पृ० २१६। ५. रसमंजरी, पृ० १८०।

कामी-जन ही होगा, भक्त नहीं। यह बात शृंगार शब्द के यौगिक अर्थ से भी स्पष्ट है। भक्तिरस की स्थापना करते हुए पोद्दार जी ने लिखा है :—

भक्ति को एक स्वतन्त्र रस न मानकर भाव मात्र मानना केवल प्राचीन परिपाटी मात्र है। वास्तव में अन्य रसों के समान सभी रसोत्पादक सामग्री भक्तिरस में भी होती है। जैसे, भक्ति-रस के आलम्बन भगवान् श्रीकृष्ण आदि हैं, श्रीमद्भगवत आदि भक्ति-प्रधान शास्त्रों का श्रवण, मनन और भगवान् के अलौकिक सौन्दर्य युक्त चिदानन्दमय विग्रहों के दर्शन आदि उद्दीपन हैं, और वह रोमांच अश्रुपात आदि द्वारा अनुभव-गम्य एवं हर्ष, औत्सुक्य आदि व्यभिचारी भावों द्वारा परिपुष्ट होता है। श्रुतियों के अनुसार जिस ब्रह्मानन्द पर रस का रसत्व अवलम्बित होना सभी साहित्याचार्य मानते हैं, उस ब्रह्मानन्द से भी अधिक जो भक्ति-जन्य आनन्द तदीय भक्तजनों को होता है, उस भक्ति को स्वतन्त्र रस न मानना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता है।[1]

इसके अतिरिक्त विप्रलम्भ शृंगार के पांच भेद—अभिलाषा हेतुक, ईर्ष्या-हेतुक, विरह हेतुक, प्रवास हेतुक और शापहेतुक, हास की न्यूनाधिकता के आधार पर हास्य के स्मित-हसितादि छः भेद तथा वीर रस के युद्धवीर, दानवीर आदि चार भेद पोद्दार जी ने किए हैं।[2] ये सारे भेद मम्मट और विश्वनाथ के अनुसार हैं। केवल करुणरस में उदाहरणों के वैविध्य के आधार पर बन्धु-विनाश-जन्य करुण, बन्धु-वियोग-जन्य करुण और धन-वैभव-विनाश-जन्य करुण—इन तीन भेदों की ओर आपने संकेत किया है।

समीक्षा—पोद्दार जी द्वारा किए गए रस के भेदोपभेदों के सम्बन्ध में मुझे कई आपत्तियाँ हैं। प्रथम तो भक्ति को एक स्वतन्त्र रस ही नहीं मानना चाहिए। न तो आज के मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से और न परम्परागत रसशास्त्र के अनुसार भगवद्विषया रति एक स्वतन्त्र स्थायी भाव प्रमाणित है। इसका पर्यवसान कभी शृंगार में और कभी शान्त रस में हो जायगा। यही कारण है कि इसे सदैव एक भाव (अपरिपुष्ट) मात्र माना जाता रहा है। जगन्नाथ ने इसे स्वतन्त्र रस की रूप-रेखा देकर भी समर्थन नहीं किया। पोद्दार जी ने भक्तिरस की अनुभूति के लिए जिन सहृदयों की कल्पना की है, वे भक्त ही हो सकते हैं। सामान्य काव्य-रसिक इनकी अनुभूति के लिए सहृदय न होंगे। दूसरी आपत्ति यह है कि यदि भक्ति को एक स्वतन्त्र रस मान लिया जाय तो वात्सल्य को क्यों बालविषयक रतिभाव की कोटि में डाला जाय?[4] इसे तो मुनीन्द्र और विश्वनाथ प्रभृति आचार्यों ने एक स्वतन्त्र रस माना भी है। करुण रस के उपभेद भी मुझे स्वीकार्य नहीं है। विशेषतः

१. र० मं० पृ० २४४। २. वही, पृ० १९३, २०२ और २१५।
३. वही, पृ० २०७-२०९। ४. वही, पृ० २४५।

बन्धुवियोग के आधार पर करुण रस मानना तो सर्वथा आपत्ति जनक है। इसका अन्तर्भाव या तो विरह-हेतुक विप्रलम्भ में (यदि प्रेमी-प्रेमिका का वियोग हो) हो जायगा अथवा वत्स-प्रेम, भातृ-प्रेम आदि का वियोगात्मक रूप स्वीकार करना होगा। क्या हम सत्यनारायण 'कविरत्न' के भ्रमरगीत में विप्रलम्भात्मक वात्सल्य मानें या पोद्दार जी के अनुसार बन्धु-वियोग-जन्य करुण रस मान लें ? क्योंकि आपने जो उदाहरण दिया है उसमें राम के विरह में पिता दशरथ की हार्दिक व्यथा की ही अभिव्यक्ति है।[1] तो फिर कृष्ण के विरह में माता यशोदा की व्यथा की अभिव्यक्ति करुण-रसमयी क्यों न मानी जाय ?

विहारीलाल भट्ट

भट्ट जी ने रस के वर्गीकरण में संस्कृत के आचार्य भानुमिश्र तथा हिन्दी के देव, दास प्रभृति आचार्यों का अनुसरण किया है। साथ ही 'नवीन आचार्य' के आवरण में गौड़ीय आचार्य रूपगोस्वामी के भक्तिरस-प्रपंच का भी उल्लेख किया है।

तदनुसार इन्होंने लौकिक और अलौकिक नामक दो रस भेद सर्वप्रथम निर्धारित किए। लौकिक रस का सम्बन्ध इन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्षानुभूति से है और वह काव्यानन्द की सीमा के बाहर है, अतएव उसे वहीं छोड़ दिया। अलौकिक रस के तीन भेद किए—स्वाप्निक, मानोरथिक और उपनायक। इनमें प्रथम दो प्रकार के रसों का सम्बन्ध क्रमशः स्वप्न और मनोरथ से होने के कारण, वे भी काव्य-जन्य रसानुभूति से सर्वथा भिन्न हैं। औपनायक अलौकिक रस का सम्बन्ध काव्य और नाटकों से है। इसी औपनायक रस के उपभेद परम्परागत नव रस माने गए हैं। भट्ट जी को शांत रस भी मान्य है। नवीन आचार्यों के (रूपगोस्वामी, जीवगोस्वामी प्रभृति गौड़ीय वैष्णव आचार्यों) अनुसार भक्ति रस के पांच भेदों का भी उल्लेख इन्होंने किया है। वे पांच प्रकार के भक्तिरस हैं—शृंगार (माधुर्य), सख्य, दास्य, वात्सल्य और शांत। इन्हें ही उक्त गौड़ीय आचार्यों ने 'मुख्य भक्तिरस' कहा है। इनमें से शांत और शृंगार तो परम्परागत औपनायक नव रसों में ही अन्तर्भुक्त हैं। शेष तीन भक्ति रसों की अर्थात दास्य, सख्य और वात्सल्य की सत्ता भट्ट जी को स्वीकार्य है।[2] परम्परागत नौ रसों में शृंगार को छोड़ कर अन्य किसी रस के उपभेद भट्ट जी ने नहीं बताए हैं। शृंगार में संयोग और वियोग के पूर्वानुराग, मान, प्रवास और करुण—ये चार भेद आपने प्रतिपादित किए हैं।[3]

फलतः भट्ट जी के अनुसार भक्ति को जोड़ कर दश प्रकार के रस हैं। यदि भक्ति के दास्य, सख्य और वात्सल्य नामक तीन भेद स्वीकार्य हैं तो शृंगार

---

१. र० मं० चतुर्थ स्तवक, पृ० २०८। २. बिहारीलाल भट्ट : साहित्य सागर, प्रथम भाग, तरंग ५ पृ० १६१-१६२। ३. वही तरंग ७ पृ० २५१।

और शांति को भी अंगीकार करना चाहिए था। क्योंकि परम्परागत शृंगार और शांत रसों में तथा उनके भक्त्यात्मक रूपों में अत्यधिक अन्तर है। स्थायी भाव समान रहते हुए भी आलम्बन का भेद है ही। रति और निर्वेद में भी भक्ति का पुट है—अतएव स्थायी भावों में भी सूक्ष्मतः अन्तर हो जाता है। तथापि इतना निश्चित कि भट्ट जी दशवें रस के रूप में भक्ति को स्वीकार कर लेते हैं।

रामचन्द्र शुक्ल

शुक्ल जी ने स्वतन्त्र रूप से रस के भेदोपभेदों पर कुछ नहीं लिखा है। पर स्थायी भावों के निर्धारण-क्रम में तथा कवियों पर की गई व्यवहारिक समीक्षा में रस के भेदों की ओर निर्देश किया है। 'रसात्मक बोध के विविध रूप' नामक निबन्ध में प्रथमतः आपने रसानुभूति की तीन कोटियां निर्धारित की हैं—प्रत्यक्षरूप-विधानजन्य, स्मृतरूपविधानजन्य और कल्पितरूपविधानजन्य। इनमें से प्रथम दो रसकोटियां तो भानुमिश्र, देव, दास, जनराज, बिहारीलाल भट्ट प्रभृति आचार्यों के लौकिक-रसान्तर्गत आ जायेंगी। तत्त्वतः इनका काव्य-जन्य रसानुभूति से कोई सम्बन्ध भी नहीं है। केवल कल्पित रूपविधान-जन्य रसानुभूति ही काव्य और नाटकों के श्रवण तथा दर्शन से निष्पन्न आनन्दानुभूति है। शुक्ल जी ने काव्य-रस की भी दो कोटियां मानी हैं—प्रधान कोटि और हीन-कोटि या मध्यमकोटि। जहां आलम्बन के साथ सहृदय का साधारणीकरण तथा आश्रय के साथ तादात्म्य न हो पाता है, वहां भी रसानुभूति तो होती है, किन्तु मध्यम कोटि की। वस्तुतः परम्परागत भाव, रसाभास आदि को शुक्ल जी ने इसी हीनकोटिक रस में अन्तर्भुक्त कर दिया है।

प्रधान रस आपने आठ ही माने हैं। स्थायी भावों के सुखात्मक और दुःखात्मक वर्गों में तथा रसमीमांसा के परिशिष्ट की रस-सम्बन्धी सामग्री में आपने स्थायी भावों का उल्लेख किया है और तदनुसार आठ ही रस माने हैं।[1] निर्वेद को शुक्ल जी ने सुख और दुःख का अभावात्मक रूप मान कर विवेचन के बाहर रखा है तथा सैद्धान्तिक रूप में शान्त रस को मान्यता नहीं दी है।[2] तथापि अपनी व्यावहारिक समीक्षा में कवियों के कृतित्व के अध्ययन-क्रम में शान्त-रस का उल्लेख करना आप भूले नहीं हैं।[3] फलतः शुक्ल जी की दृष्टि में सिद्धान्ततः तो आठ रस हैं किन्तु व्यवहारतः नव रस।

शुक्ल जी प्रकृति प्रेम, आचार्य-प्रेम, भ्रातृप्रेम, पितृप्रेम, स्वदेशप्रेम, अ गीतप्रेम, यहां तक कि भगवत प्रेम को भी रति के रूपान्तर मानते हैं। भावदशा में यही रति राग कहलाती है और आलम्बन के वैविध्य से यह राग ही भिन्न-भिन्न प्रेमों के रूप

---

१. र० मी० पृ० १९२-१९३ और ४१७ (परिशिष्ट)। २. वही पृ० १७२।
३. गोस्वामी तुलसीदास, पृ० ८५।

में परिवर्तित हो जाता है।[1] अतएव इन्हें पृथक् रसों के रूप देना आपने असंगत समझा है। शुक्ल जी की दृष्टि में भक्ति-रस की अन्तर्भुक्ति शान्त रस में संभव नहीं है। प्रत्युत वह राग का ही दिव्य रूप है।

डा० श्यामसुन्दर दास

इन्होंने परम्परागत नौ रसों को स्वीकार किया है।[2] आप शांत को काव्य रस तो मानते हैं बल्कि इसे नाट्यरस मानने में भी आपको कोई आपत्ति नहीं प्रतीत होती है। नाट्य-शास्त्रकारों का यह तर्क कि शांत के स्थायीभाव राम के अभिनय में पूर्ण संयम, इन्द्रिय निग्रह और निश्चेष्टता की अपेक्षा होने के कारण अत्यधिक कठिनाई है और अतएव उसे नाट्यरस नहीं माना जा सकता है—आपको स्वीकार्य नहीं है। शांत की नाट्यरसात्मकता के सम्बन्ध में डा० दास का तर्क है—

'नट के लिए तो यह आवश्यक नहीं कि जिस भाव का वह अभिनय करे उसका अनुभव भी करे। वह तो अपनी अनुकरण-निपुणता के कारण उसे दिखला भर देता है। जैसे वह और भावों का अभिनय करता है वैसे ही इसका भी कर सकता है। और जब निर्वेद संचारी का अभिनय हो सकता है तब कोई कारण नहीं कि निर्वेद स्थायी का भी अभिनय न किया जा सके। विश्वनाथ और जगन्नाथ भी शांत को नाट्यरस मानते हैं।[3]

शृंगार के अयोग, विप्रयोग और संयोग नामक तीन भेदों के बदले आप संयोग और विप्रलम्भ नामक दो ही भेद मानते हैं। विप्रलम्भ के भी आप मुख्य भेद दो ही मानते हैं—मान-जनित और और प्रवास-जनित। मान भी दो प्रकार के मान्य हैं—प्रणय मान और ईर्ष्यामान। इसी प्रकार प्रवास के भी दो रूप आपने बताए हैं—एक तो वह जिसमें प्रवास कार्यवश हो और दूसरा वह जो भ्रम अथवा शाप के कारण हो। कार्यवश प्रवास में भी कालानुसार भूत, भविष्यत् और वर्तमान ये तीन भेद होते हैं। डा० दास को करुण-विप्रलम्भ मान्य नहीं है। 'दोनों में से एक के मर जाने पर जो विलाप होता है उसे आप शोक का सूचक मानते हैं तथा जहाँ मृत प्रेमी पुनरुज्जीवित हो जाय, वहां शृंगार मानते हैं।'[4] हास्य के स्मित-हसितादि परम्परागत छः भेद तथा वीर के दयावीर, दानवीर, युद्ध-वीर और सत्यवीर—ये चार भेद दास जी को मान्य हैं।[5] धर्मवीर और कर्मवीर की चर्चा आपने नहीं की है। युद्धवीर को ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं।

डा० दास के द्वारा निरूपित रस भेद विश्वनाथ-सम्मत हैं। कोई नवीनता नहीं है। एक परवर्ती आचार्य की हैसियत से आपकी सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि

---

१. गो० तु० पृ० १७०। २. सा० लो० पृ० २८६-२९४।
३. सा० लो० पृ० २८६-२८७। ४. वही, पृ० २८८। ५. वही, पृ० २९०।

आपने भक्ति और वात्सल्य के सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत नहीं किए। प्रायः इन्हें 'भाव' ही मानते हैं, यद्यपि इनका भी स्पष्ट उल्लेख आपने नहीं किया है।

रामदहिन मिश्र

इन्होंने काव्य-शास्त्र में विवेचित प्रायः सभी रसों का उल्लेख किया है।[1] यहाँ तक कि दण्डी द्वारा निरूपित वाक्‌रस और वस्तुरस, रुद्रट निरूपित प्रेयान रस, भोज-निरूपित उदात्त और उद्धत रस, विश्वनाथ सम्मत वत्सल रस, रूप-गोस्वामी और मधुसूदन सरस्वती प्रतिपादित भक्तिरस, अभिनवगुप्त संकेतित स्नेह और लौल्य रस, भानुदत्त प्रतिपादित माया रस—भी आपकी आँखों से ओझल न रह सके हैं। शृंगार, करुण, भक्ति अद्भुत प्रभृति रसों में से किसी एक में ही अन्य सभी रसों के अन्तर्भाव से भी आप परिचित नहीं हैं।[2] किन्तु मिश्र जी की निजी मान्यता इससे भिन्न है। आप न तो रस-विस्तार में ही विश्वास रखते हैं और न रस-संकोच में ही। दोनों को आप अतिवादी दृष्टिकोण मानते हैं।

मिश्र जी एकादश रसों के समर्थक हैं। शृंगार से शान्त पर्यन्त, सर्वमान्य नव रस तो आपको भी स्वीकार्य हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त भक्ति और वात्सल्य नामक दो अन्य रस भी मान्य हैं। फलतः आपके द्वारा निरूपित रसों की संख्या ग्यारह हो जाती है। भक्तिरस के पक्ष-विपक्ष में दिए गए सारे तर्कों की विवेचना के उपरान्त[3] इसकी स्वतन्त्र सत्ता का समर्थन करते हुए मिश्र जी ने अपना निष्कर्ष निम्नोक्त शब्दों में दिया है —

'इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय साधु-सन्तों ने भक्ति का जो रूप खड़ा किया है वह सांगोपांग है। शास्त्रीय तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर भक्ति-रस परिपूर्ण तथा खरा उतरता है और रस-श्रेणी में आने के उपयुक्त है। भक्तिरस के विरुद्ध जितने तर्क हैं वे निःसार हैं। भक्तिरस की आस्वाद्य-योग्यता निर्बाध है।'[4] इसी प्रकार रुद्रट, भोज, हरिपालदेव और विश्वनाथ द्वारा निरूपित वत्सल रस की भी स्वतन्त्र सत्ता आपको मान्य है। इस सम्बन्ध में मिश्र जी के तर्क इस प्रकार हैं—

"केवल स्पष्टतः चमत्कारक होने से ही नहीं, वात्सल्य भावना की उत्कटता, स्ववंश-रक्षण की समर्थता तथा आस्वाद की योग्यता के कारण वात्सल्य भाव को रस न मानना दुराग्रह के अतिरिक्त क्या कहा जा सकता है। ... वात्सल्य में सौन्दर्य भावना, कोमलता, आशा, शृंगार-भावना, आत्माभिमान, आदि अनेक भाव रहते हैं, जिनके सम्मिश्रण से वात्सल्य अत्यन्त प्रबल हो उठता है।"[5]

---

१. का० द०, र० सं० विस्तार, पृ० १५४-५५। २. वही, र० सं० संकोच, पृ० १५६-१५८। ३. वही पृ० २१२-२१३। ४. वही, पृ० २१४।
५. वही पृ० २१७।

नवरसों में केवल विप्रलम्भ शृङ्गार, वीर और हास्य रसों के ही आपने अवान्तर्भेद किए हैं। विप्रलम्भ के परम्परागत चार भेद हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण। वीररस के भेद भी परम्परागत हैं—युद्धवीर, दानवीर, धर्मवीर और दयावीर। इनमें युद्धवीर के लिए ही वीररस का प्रयोग आप सार्थक मानते हैं।[1] हास्य के अवान्तर्भेदों में परम्परागत और नवीन दोनों प्रकार के भेदों का उल्लेख मिश्र जी ने किया है। परम्परागत भेदों में आत्मस्थ और परस्थ तथा स्मित-हसितादि छः भेदों का उल्लेख किया गया है। नवीन भेदों में—हास्य (humour), वाक्य-चातुरी (wit), व्यंग्य (Irony) और वक्रोक्ति (Sative) इन चार भेदों का प्रतिपादन आपने किया है।[2]

मिश्र जी द्वारा किए गए सारे रस-भेद तो मान्य हैं किन्तु भक्तिरस की स्वतन्त्र सत्ता सन्दिग्ध है। कई प्रसंगों में इसका खण्डन किया जा चुका है। तथापि कतिपय अल्पसंख्यक भक्त पाठकों की दृष्टि से इसकी रसात्मक सत्ता माननी होगी। यों यह एक देवविषयक भाव तो है ही। जिन सहृदयों को इस भाव में तीव्रता, व्यापकता और प्रभावोत्पादकता प्रतीत हो, उनके लिए यह एक स्थायी भाव है और इसमें रस-परिणित की योग्यता भी है। बाल-विषयक प्रेम तो निश्चय ही एक स्थायी भाव है—अतएव वात्सल्य रस की सत्ता निःसन्दिग्ध है।

गुलाबराय

राय जी ने अपने 'नवरस' नामक ग्रन्थ में परम्परागत नौ रसों के अतिरिक्त वात्सल्य रस का भी उल्लेख किया है। किन्तु उसे रस रूप में स्वीकार करना चाहिए या नहीं, इस सम्बन्ध में आपके विचार सुस्पष्ट नहीं हैं।[3] इतर रसों में भक्ति की भी चर्चा आपने की है, पर मान्यता-अमान्यता की दृष्टि से वहाँ भी आप खुल नहीं पाए हैं। अतएव निष्कर्ष रूप में राय जी द्वारा मान्य नौ रसों को ही स्वीकार करना चाहिए। ग्रन्थ-शीर्षक 'नवरस' से भी आपने प्रायः यही संकेतित किया है। 'सिद्धान्त और अध्ययन' नामक परवर्ती ग्रन्थ में भी राय जी के अपने विचार स्पष्ट न हो पाए हैं। शान्त, भक्ति और वात्सल्य के सम्बन्ध में पक्ष-विपक्ष के तर्कों को ही आप दुहराते हैं।[4] कोई निश्चित निर्णय न ले सके हैं। नव रसों के अवान्तर्भेद परम्परागत ही हैं, कोई नवीनता नहीं है।

लक्ष्मीनारायण सुधांशु

सुधांशु जी ने रस के भेदोपभेदों का उल्लेख नहीं किया है। केवल सुख-दुःखात्मक राग और द्वेष जैसे मूल भावों का और उन्हीं से अन्य मनोभावों के उद्भव का

१. काव्यदर्पण, रससंख्या विस्तार, पृ० १८३। २. वही, पृ० २००।
३. नवरस, पृ० ५३८–५५१। ४. सिद्धान्त और अध्ययन, पृ० १५५–१६०।

जिक किया है ।[1] संस्कृत काव्य शास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायों का संक्षिप्त परिचय देने के क्रम में भरत-प्रतिपादित आठ नाटयरसों का और उन्हीं के द्वारा संकेतित शान्त नामक नवम रस का, दण्डी द्वारा निरूपित वाग्रस और वस्तु रस का और रुद्रट-प्रतिपादित प्रेयस् रस का भी उल्लेख किया है ।[2] यहाँ भी आपने रस के भेदों के सम्बन्ध में अपना कोई स्वतन्त्र अभिमत नहीं दिया है ।

डा० नगेन्द्र

इन्होंने भरत-प्रतिपादित नौ रसों के अतिरिक्त वात्सल्य को एक दशम रस के रूप में स्वीकार किया है । शान्त रस की उद्भावना का श्रेय आप उद्भट को नहीं देते हैं प्रत्युत अभिनवगुप्त के अनुसार भरत को इस रस का मूल आचार्य मान लेते हैं ।[3] नौ रसों से इतर रसों की समस्या में आपने वात्सल्य और भक्ति की समस्या को ही विचारणीय माना है । रूपगोस्वामी द्वारा निरूपित भक्ति रस को आप एक 'भाव' ही मानते हैं, अखण्ड एवं पूर्ण रस नहीं । आपका कहना है कि "जिन भक्तिपरक पदों में राग का प्राचुर्य है वहाँ रति और जहाँ विराग का प्राधान्य है वहाँ निर्वेद माना जा है । शेष पदों में प्रश्रय आदि 'भाव' ही मानना पड़ेगा । दूसरी बात यह कि साधारण व्यक्ति के लिए भक्ति देवादिविषयक रति भाव से आगे नहीं बढ़ पाती है । आज के मनोवैज्ञानिक भी धर्म-भावना को काम का उदात्त रूप मानते हैं । निष्कर्ष यह कि भक्तिरस का अन्तर्भाव शृंगार और शान्त रसों में हो जाता है और जहाँ ऐसा सम्भव न हो वहाँ देव विषयक रति भाव मान लेना चाहिए, भक्ति रस नहीं ।"[4] वात्सल्य को रस न मानना आपकी दृष्टि में ज्यादती है । इसके समर्थन में आपका तर्क इस प्रकार है—

"वात्सल्य भाव का सम्बन्ध तो जीवन की एक सर्वप्रधान एषणा-पुत्रैषणा से है । विदेश के सभी मनोवैज्ञानिकों ने भी मातृ-वृत्ति को एक अत्यन्त मौलिक एवं प्रधान-वृत्ति माना है । वात्सल्य मानव-जीवन की एक बहुत बड़ी भूख है जो तीव्रता और प्रभाव की दृष्टि से केवल काम से ही न्यून कही जा सकती है । दूसरे जब तक रति का फ्रायड के ढंग पर विस्तार न किया जाय, वात्सल्य को रति के अन्तर्गत भी नहीं माना जा सकता है । सूर के वात्सल्य-चित्रों को क्या रस का अधिकारी नहीं माना जायगा—या उनको शृंगार के अन्तर्गत रख दिया जायगा ?"[5]

'मैत्री' भाव के आधार पर आविष्कृत और रुद्रट द्वारा निरूपित 'प्रेयान्' रस को भी डा० नगेन्द्र स्वीकार नहीं करते हैं । आपका तर्क है कि मैत्री कोई विशुद्ध

१. जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त, पृ० ५ ।
२. काव्य में अभिव्यंजनावाद । पृ० २–३ ।
३. रीति काव्य की भूमिका, पृ० ७६ । ४. वही, पृ० ७७ ।
५. वही, पृ० ७७ ।

भाव नहीं है। इसमें अनेक भावों का मिश्रण है। अतएव इसे न तो स्थायी भाव का पद दिया जा सकता है और न स्वतन्त्र रस का।

फलतः डा० नगेन्द्र परम्परागत नौ रसों के अतिरिक्त एकमात्र वात्सल्य रस को स्वीकार करते हैं। अतएव आपकी दृष्टि में रसों की संख्या दश है। वस्तुतः इन्होंने वात्सल्य के प्रति पक्षपात किया है। यदि पाठकों की संख्या के आधार पर देखा जाय तो भक्ति और वात्सल्य—दोनों की स्थिति समान है। सामान्य पाठकों का भाव यदि भक्ति में रस-दशा को नहीं पहुँच पाता है तो पुरुष-पाठकों, कम उम्र वाले पाठकों, सन्तान न चाहने वाले आज के असंख्य पाठकों का 'वात्सल्य' भाव भी रस-दशा को पहुँचने में असमर्थ ही रहता है। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार भी मातृ-वृत्ति माताओं के लिए ही एक मौलिक एवं महत्वपूर्ण भाव है। अपनी सन्तति के विशेषतः कन्याओं के, गला घोंटने वाले अनेक नर-पिशाचों की कहानियाँ पढ़ी हैं तथा सुनी हैं। खासकर गरीबी और दहेज-प्रथा के कारण ऐसी घटनाएँ बहुधा होती हैं। अतएव पुरुषों के लिए प्रायः यह कोई मौलिक भाव या सहज प्रवृत्ति नहीं है। फलतः शतप्रतिशत पाठकों का भाव वात्सल्य में भी रस-दशा को नहीं पहुँचता है—ऐसा मानना पड़ेगा। प्रभाव, तीव्रता और तल्लीनता (या साधारणीकरण) की दृष्टि से दोनों की स्थिति समान है। अतएव यदि वात्सल्य को रस स्वीकार किया जाय तो भक्ति को भी रस स्वीकार करना चाहिये। अन्यथा दोनों को क्रमशः बालविषयक रति भाव और भगवद्विषयक रतिभाव मानना ही ठीक है। इस प्रकार भरत-सम्मत नव रसों की मान्यता ही श्रेयस्कर है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने भी, जो आधुनिक युग में रस-सिद्धान्त के सबसे प्रबल समर्थक एवं पोषक थे, इन्हीं नौ रसों को स्वीकार किया है। सिद्धान्ततः निर्वेद को तो इन्होंने भी मूल भाव न माना है किन्तु व्याव-हारिक समीक्षा में इसके आधार पर शान्त रस की सत्ता आपने स्वीकार की है।

(६) उपलब्धि और अभाव का अन्वेषण

षष्ठ अध्याय में जिन दश आधुनिक आचार्यों का अध्ययन किया गया है उन्होंने रीतिकालीन आचार्यों की अपेक्षा अपने रसाध्ययन में कौन सी नई उपलब्धि की तथा उनमें कौन सा अभाव रह गया—इसी बात का संक्षिप्त लेखा-जोखा इस खंड का मुख्य विधेय है। आधुनिक रस-शास्त्रियों की उपलब्धि और अभाव का अन्वेषण भी रस-शास्त्र के प्रत्येक अङ्ग के सम्बन्ध में वाँछित है। अतएव अंगक्रमा-नुसार ही यह मूल्यांकन प्रस्तुत है।

(क) **रस का स्वरूप :**—जगन्नाथ प्रसाद "भानु", अयोध्यासिंह उपाध्याय, कन्हैयालाल पोद्दार, विहारी लाल भट्ट, रामदहिन मिश्र, गुलाब राय—इन छः आचार्यों द्वारा निरूपित रस-स्वरूप परम्परागत है। संस्कृत काव्यशास्त्र तथा हिन्दी के रीति ग्रन्थों में रस का जैसा स्वरूप निर्दिष्ट हुआ है, उसी को खड़ी बोली के

गद्यात्मक माध्यम से प्रस्तुत कर देना ही इनका उद्देश्य रहा है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने हृदय की अनुभूति को रस या भाव मान कर रस के स्वरूप में व्यापकता ला दी है। पाश्चात्य सौन्दर्यानुभूति के साथ तथा रिचर्ड्स द्वारा निरूपित रस-प्रक्रिया के साथ भारतीय रसवाद की तुलना कर उन्हें अभिन्न सिद्ध कर दिखाना भी शुक्ल जी के रसाध्ययन का महत्वपूर्ण अंश है। इन्होंने रसानुभूति को लौकिक कहा है और प्राय: इसलिए भी लोक-जीवन के आधार पर रस-स्वरूप की व्याख्या कर दिखाई है। रसात्मक बोध के विविध रूप-प्रत्यक्षरूप विधान जन्य, स्मृतरूपविधान जन्य, कल्पित रूपविधान जन्य—इसी के प्रतिफलन हैं। बाबू श्यामसुन्दर दास ने रस को लौकिक और ऐन्द्रिय माना है। भाव, रसाभास आदि को आप रस नहीं मानते हैं—रूढ़ि के कारण ही इनसे युक्त पदों को सरस कहने के लिए बाध्य हैं। डॉ० नगेन्द्र की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि इन्होंने मनोवैज्ञानिक भूमिका में रसरूप की व्याख्या की तथा मनोवैज्ञानिकों द्वारा निर्दिष्ट अन्तर्वृत्ति की क्रिया से तुष्ट वास्तविक अनुभूति को रसानुभूति ही प्रमाणित कर दिखाया। रसानुभूति को ऐन्द्रिय और बौद्धिक तो आप भी मानते हैं पर इसके ऊपर से आध्यात्मिकता के गाढ़े रंग को पूर्णत: हटा न सके।

(ख) रस के उपकरण:—जगन्नाथ प्रसाद "भानु" नाम मात्र को आधुनिक युग के आचार्य हैं। रसोपकरणों के निर्धारण में परम्परा की आवृत्ति ही आपकी सीमा है। अयोध्या सिंह उपाध्याय ने उत्तमा नायिका के भेदों में पतिप्रेमिका, परिवार-प्रेमिका, जातिप्रेमिका, देशप्रेमिका, जन्मभूमिप्रेमिका, लोकसेविका आदि की उद्भावना कर नवीनता की स्वांग रची तो है किन्तु इसका कोई विशेष महत्व नहीं है। कन्हैयालाल पोद्दार जी में स्पष्ट प्रतिपादन की सामर्थ्य है पर नूतन उद्भावना की प्रतिभा की नितांत कमी है। बिहारीलाल भट्ट ने नायिका को अन्तर्वृत्ति की प्रतीक मान कर आध्यात्मिक दृष्टि से सभी नायिका भेदों का निरूपण कर डाला है। अतएव इनमें सोचने का नया ढंग भी है और ज्ञान विस्तार की अभिरुचि भी, तथापि काव्यशास्त्रीय दृष्टि से आप विशेष उपलब्धि के भागी न बन पाए हैं। अन्य रसोपकरणों के अत्यन्त संक्षिप्त लक्षण लिख कर भट्ट जी आधुनिक विश्लेषण-प्रवृत्ति को संतुष्ट करने से वंचित रह गए हैं। रस के उपकरणों के सम्बन्ध में शुक्ल जी की अनेक महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं। सर्वप्रथम, विभाव को आपने विराट फलक पर प्रतिष्ठित कर दिखाया। अभी तक के आचार्य नायिकाओं और नायकों का विधान ही विभाव-विधान समझते थे पर शुक्ल जी ने इसके अन्तर्गत वस्तु, व्यापार, घटना, परिस्थिति, प्रकृतिखंड आदि का निवेश कर विभाव के स्वरूप में व्यापकता ला दी। अतएव आपने इसे "वस्तु-विन्यास" कहना श्रेयस्कर माना। अनुभाव के चार वर्गों का विश्लेषण कर शुक्ल जी ने एक मात्र कायिक वर्ग स्वीकार किया है। आहार्य और सात्विक अनुभाव को तो आप कायिक सिद्ध कर दिखाते हैं पर मानसिक अनुभाव को सूच्य होने के कारण अनुभाव ही नहीं मानते हैं। संचारी भावों को नए

आधार पर इन्होंने वर्गीकृत भी किया तथा चकपकाहट, संतोष, असंतोष, नैराश्य प्रभृति कतिपय नूतन संचारी भावों की उद्भावना भी की। स्थायी भावों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, मूल भावों का अनुसंधान, भावों की तीन दशाओं का निरूपण, रति भाव को व्यापकता प्रदान आदि भी शुक्ल जी की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं। निर्वेद या उदासीनता या शम को स्थायी भाव न मानना शुक्ल जी की सबसे बड़ी त्रुटि है। इसमें परम्परा और वस्तुसत्य—दोनों के प्रति उपेक्षाभाव है। रामदहिन मिश्र ने भी कतिपय नूतन आलम्बनों का अनुसन्धान आधुनिक काव्य के आधार पर किया है। प्रकृति और मानवीकृत रहस्यात्मक सत्ता से लेकर देश-सेवक, आत्मबलिदानी, कृषक आदि अनेक आलम्बनों की एक लम्बी सूची आपने प्रस्तुत कर दी है। यहाँ तक कि वेदना, सौन्दर्य, लज्जा, स्वप्न जैसे भावात्मक विषय भी काव्य में आलम्बन का स्थान लेते हैं—इस ओर मिश्र जी ने दृक्पात किया है। शुक्ल जी द्वारा निर्दिष्ट शारीरिक वृत्तियों को परम्परानुसार संचारी भाव मानने का दुराग्रह आप में है। इसी प्रकार उनके द्वारा उद्भावित नवीन संचारी भावों को प्राचीन तेंतीस में अन्तर्भुक्त करने का भी विफल प्रयास मिश्र जी ने किया है। स्थायी भावों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन आपने भी किया है। पर इससे भी बड़ी उपलब्धि आपकी है—स्थायी भाव की परख के लिए एक कसौटी का निर्माण। आस्वाद्यत्व, उत्कटत्व, पुरुषार्थोपयोगिता, सर्वजनसुलभत्व, उचितविषयनिष्ठत्व और मनोरंजनाधिक्य इन सभी विशेषताओं से विशिष्ट होने पर ही, मिश्र जी के अनुसार, कोई भाव स्थायी कहा जाने का अधिकारी है। बाबू गुलाबराय की इस दिशा में कोई वैसी मान्य उपलब्धि तो नहीं है पर शारीर-विज्ञान और मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि में अनुभावों, सात्विकभावों संचारी और स्थायी भावों के अध्ययन की प्रशंसा की जा सकती है। ड्रमन्ड और मेलोन जैसे मनोविज्ञानियों द्वारा निर्धारित ५ विशेषताओं (मनोवेगों की) को भी आपने स्पष्टतः रख कर भावों का अध्ययन किया। सुधांशु जी ने समाज-शास्त्रीय, दृष्टि से रस-शास्त्र का अध्ययन किया है। अतएव रसोपकरणों के अध्ययन-क्रम में भी आपका दृष्टिकोण बदला नहीं है। भावों के वर्गीकरण में इन्होंने शुक्ल जी का अनुसरण किया है पर उदासीन भाव में निष्क्रियता का उल्लेख आपकी मौलिक देन है। प्रायः निष्क्रियता के कारण ही शुक्ल जी ने निर्वेद को स्थायी भाव नहीं माना है। अनुभावों को कर्म मान कर सुधांशु जी ने अनुभावों की परिधि अत्यन्त संकीर्ण बना दी है। स्तम्भ स्वेद-प्रलय आदि सात्विक भाव भी तो अन्ततोगत्वा अनुभाव कोटि में ही आते हैं! आखिर ये तो कर्म नहीं हैं! डा० नगेन्द्र ने भी भावों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया है और मनोवृत्तियों का स्थानापन्न रसशास्त्रीय स्थायी भावों को तथा मनोवेगों का स्थानापन्न संचारी भावों को माना है। शुक्ल जी की तरह मृत्यु, निद्रा, श्रम आदि कई संचारी भावों को इन्होंने भी शरीर-व्यापार ही स्वीकार किया है। मन की असंख्य तरंगों की (भावों की) गणना आपकी दृष्टि में न तो संभव है और न समुचित ही।

गद्यात्मक माध्यम से प्रस्तुत कर देना ही इनका उद्देश्य रहा है। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने हृदय की अनुभूति को रस या भाव मान कर रस के स्वरूप में व्यापकता ला दी है। पाश्चात्य सौन्दर्यानुभूति के साथ तथा रिचड्स द्वारा निरूपित रस-प्रक्रिया के साथ भारतीय रसवाद की तुलना कर उन्हें अभिन्न सिद्ध कर दिखाना भी शुक्ल जी के रसाध्ययन का महत्वपूर्ण अंश है। इन्होंने रसानुभूति को लौकिक कहा है और प्राय: इसलिए भी लोक-जीवन के आधार पर रस-स्वरूप की व्याख्या कर दिखाई है। रसात्मक बोध के विविध रूप-प्रत्यक्षरूप विधान जन्य, स्मृतरूपविधान जन्य, कल्पित रूपविधान जन्य–इसी के प्रतिफलन हैं। बाबू श्यामसुन्दर दास ने रस को लौकिक और ऐन्द्रिय माना है। भाव, रसाभास आदि को आप रस नहीं मानते हैं—रूढ़ि के कारण ही इनसे युक्त पदों को सरस कहने के लिए बाध्य हैं। डॉ० नगेन्द्र की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि इन्होंने मनोवैज्ञानिक भूमिका में रसरूप की व्याख्या की तथा मनोवैज्ञानिकों द्वारा निर्दिष्ट अन्तर्वृत्ति की क्रिया से तुष्ट वास्तविक अनुभूति को रसानुभूति ही प्रमाणित कर दिखाया। रसानुभूति को एन्द्रिय और बौद्धिक तो आप भी मानते हैं पर इसके ऊपर से आध्यात्मिकता के गाढ़े रंग को पूर्णत: हटा न सके।

(ख) **रस के उपकरण :**—जगन्नाथ प्रसाद "भानु" नाम मात्र को आधुनिक युग के आचार्य हैं। रसोपकरणों के निर्धारण में परम्परा की आवृत्ति ही आपकी सीमा है। अयोध्या सिंह उपाध्याय ने उत्तमा नायिका के भेदों में पतिप्रेमिका, परिवार-प्रेमिका, जातिप्रेमिका, देशप्रेमिका, जन्मभूमिप्रेमिका, लोकसेविका आदि की उद्भावना कर नवीनता की स्वांग रची तो है किन्तु इसका कोई विशेष महत्व नहीं है। कन्हैयालाल पोद्दार जी में स्पष्ट प्रतिपादन की सामर्थ्य है पर नूतन उद्भावना की प्रतिभा की नितांत कमी है। बिहारीलाल भट्ट ने नायिका को अन्तर्वृत्ति की प्रतीक मान कर आध्यात्मिक दृष्टि से सभी नायिका भेदों का निरूपण कर डाला है। अतएव इनमें सोचने का नया ढंग भी है और ज्ञान विस्तार की अभिरुचि भी, तथापि काव्यशास्त्रीय दृष्टि से आप विशेष उपलब्धि के भागी न बन पाए हैं। अन्य रसोपकरणों के अत्यन्त संक्षिप्त लक्षण लिख कर भट्ट जी आधुनिक विश्लेषण-प्रवृत्ति को संतुष्ट करने से वंचित रह गए हैं। रस के उपकरणों के सम्बन्ध में शुक्ल जी की अनेक महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं। सर्वप्रथम. विभाव को आपने विराट फलक पर प्रतिष्ठित कर दिखाया। अभी तक के आचार्य नायिकाओं और नायकों का विधान ही विभाव-विधान समझते थे पर शुक्ल जी ने इसके अन्तर्गत वस्तु, व्यापार, घटना, परिस्थिति, प्रकृतिखंड आदि का निवेश कर विभाव के स्वरूप में व्यापकता ला दी। अतएव आपने इसे "वस्तु-विन्यास" कहना श्रेयस्कर माना। अनुभाव के चार वर्गों का विश्लेषण कर शुक्ल जी ने एक मात्र कायिक वर्ग स्वीकार किया है। आहार्य और सात्विक अनुभाव को तो आप कायिक सिद्ध कर दिखाते हैं पर मानसिक अनुभाव को सूच्य होने के कारण अनुभाव ही नहीं मानते हैं। संचारी भावों को नए

आधार पर इन्होंने वर्गीकृत भी किया तथा चकपकाहट, संतोष, असंतोष, नैराश्य प्रभृति कतिपय नूतन संचारी भावों की उद्भावना भी की। स्थायी भावों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, मूल भावों का अनुसंधान, भावों की तीन दशाओं का निरूपण, रति भाव को व्यापकता प्रदान आदि भी शुक्ल जी की महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं। निर्वेद या उदासीनता या शम को स्थायी भाव न मानना शुक्ल जी की सबसे बड़ी त्रुटि है। इसमें परम्परा और वस्तुसत्य—दोनों के प्रति उपेक्षाभाव है। रामदहिन मिश्र ने भी कतिपय नूतन आलम्बनों का अनुसन्धान आधुनिक काव्य के आधार पर किया है। प्रकृति और मानवीकृत रहस्यात्मक सत्ता से लेकर देश-सेवक, आत्मबलिदानी, कृषक आदि अनेक आलम्बनों की एक लम्बी सूची आपने प्रस्तुत कर दी है। यहाँ तक कि वेदना, सौन्दर्य, लज्जा, स्वप्न जैसे भावात्मक विषय भी काव्य में आलम्बन का स्थान लेते हैं—इस ओर मिश्र जी ने दृक्पात किया है। शुक्ल जी द्वारा निर्दिष्ट शारीरिक वृत्तियों को परम्परानुसार संचारी भाव मानने का दुराग्रह आप में है। इसी प्रकार उनके द्वारा उद्भावित नवीन संचारी भावों को प्राचीन तेंतीस में अन्तर्भुक्त करने का भी विफल प्रयास मिश्र जी ने किया है। स्थायी भावों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन आपने भी किया है। पर इससे भी बड़ी उपलब्धि आपकी है-स्थायी भाव की परख के लिए एक कसौटी का निर्माण। आस्वाद्यत्व, उत्कटत्व, पुरुषार्थोपयोगिता, सर्वजनसुलभत्व, उचितविषयनिष्ठत्व और मनोरंजनाधिक्य इन सभी विशेषताओं से विशिष्ट होने पर ही, मिश्र जी के अनुसार, कोई भाव स्थायी कहा जाने का अधिकारी है। बाबू गुलाबराय की इस दिशा में कोई वैसी मान्य उपलब्धि तो नहीं है पर शारीर-विज्ञान और मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि में अनुभावों, सात्विकभावों संचारी और स्थायी भावों के अध्ययन की प्रशंसा की जा सकती है। ड्रमन्ड और मेलोन जैसे मनोविज्ञानियों द्वारा निर्धारित ५ विशेषताओं (मनोवेगों की) को भी आपने स्पष्टतः रख कर भावों का अध्ययन किया। सुधांशु जी ने समाज-शास्त्रीय, दृष्टि से रस-शास्त्र का अध्ययन किया है। अतएव रसोपकरणों के अध्ययन-क्रम में भी आपका दृष्टिकोण बदला नहीं है। भावों के वर्गीकरण में इन्होंने शुक्ल जी का अनुसरण किया है पर उदासीन भाव में निष्क्रियता का उल्लेख आपकी मौलिक देन है। प्रायः निष्क्रियता के कारण ही शुक्ल जी ने निर्वेद को स्थायी भाव नहीं माना है। अनुभावों को कर्म मान कर सुधांशु जी ने अनुभावों की परिधि अत्यन्त संकीर्ण बना दी है। स्तम्भ स्वेद-प्रलय आदि सात्विक भाव भी तो अन्ततोगत्वा अनुभाव कोटि में ही आते हैं! आखिर ये तो कर्म नहीं हैं! डा० नगेन्द्र ने भी भावों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया है और मनोवृत्तियों का स्थानापन्न रसशास्त्रीय स्थायी भावों को तथा मनोवेगों का स्थानापन्न संचारी भावों को माना है। शुक्ल जी की तरह मृत्यु, निद्रा, श्रम आदि कई संचारी भावों को इन्होंने भी शरीर-व्यापार ही स्वीकार किया है। मन की असंख्य तरंगों की (भावों की) गणना आपकी दृष्टि में न तो संभव है और न समुचित ही।

(ग) **साधारणीकरण** —इस युग के आचार्यों में कुछ तो ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने साधारणीकरण के सम्बन्ध में कुछ लिखा ही नहीं है, अन्य आचार्यों में कुछ ने परम्परा का ही सर्वांशत: अनुसरण किया है और शेष ने मौलिक चिन्तना भी प्रस्तुत की है। जगन्नाथ प्रसाद 'भानु', अयोध्या सिंह उपाध्याय और बिहारी लाल भट्ट प्रथम वर्ग के आचार्य हैं अर्थात् मौनावलम्बी हैं। पोद्दार जी भट्टनायक, अभिनव गुप्त और मम्मट की परम्परा के अनुसारी हैं। शुक्ल जी द्वारा निरूपित साधारणीकरण-सिद्धान्त में चार बातें ध्यातव्य हैं—(क) साधारणीकरण आलम्बनत्व धर्म का होता है (ख) सहृदयों का आश्रय के साथ तादात्म्य होता है (ग) साधारणीकरण विशेष का होता है, सामान्य का नहीं (घ) मध्यम कोटि की रस-दशा में कवि के भावों के साथ सहृदयों का तादात्म्य होता है। वस्तुत: शुक्ल जी को द्रविड़-प्राणायाम से परम्परागत विषयों पर ही आना पड़ा है। तथापि विश्लेषण का ढंग नया होने के कारण पूरी विश्वसनीयता आ गई है। डा० श्यामसुन्दर दास चित्तवृत्ति की एकतानता को साधारणीकरण मान कर विषय-वस्तु से दूर चले गए हैं। मधुमती भूमिका और पर-प्रत्यक्ष अवस्था से रसानुभूति की अवस्था की तुलना में औपचारिकता की गंध विद्यमान है। कवि और सहृदय दोनों की रसानुभूति मानकर आपने अपनी मौलिक चिन्तना-शक्ति का भी परिचय दिया है। पं० रामदहिन मिश्र ने कवि के भावों के साधारणीकरण की बात कही है। कवि के भावों के अन्तर्गत आपने विभावादि को गृहीत किया है। फिर परम्परानुसारी विभावादि-साधारणीकरण और कवि-भाव- साधारणीकरण में अन्तर ही क्या रह जाता है? अतएव आपमें अभिनव-शब्द के प्रति प्रेम के सिवाय अन्य कोई मौलिकता नहीं है। गुलाब राय जी भी कवि के भावों का ही साधारणीकरण मानते हैं। किन्तु रामदहिन मिश्र की तरह कवि-भाव को विभावादि से अभिन्न मानने में भी आपको संकोच है। फलत: मौलिकता का स्वांग रचने का प्रयास तो आपने किया है पर विभाव, अनुभाव आदि का साधारणीकरण माने बिना रसानुभूति की सभावना असम्भव है। कवि और पाठक दोनों का साधारणीकरण राय जी भी मानते हैं। सुधांशु जी ने अपने गुरु शुक्ल जी का ही अनुसरण किया है। आपने भी आलम्बन के साधारणीकरण पर जोर दिया है। कवियों के साधारणीकरण को काव्यानुभूति जन्य तथा सहृदयों के साधारणीकरण को रसानुभूति-जन्य मानकर साधारणीकरण की दोनों अवस्थाओं को इन्होंने सुस्पष्ट किया है। इस प्रसंग में आपकी सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि आपने साधारणीकरण सिद्धान्त की सामाजिक उपयोगिता पर पहली बार प्रकाश डाला है। डा० नगेन्द्र ने साधारणीकरण सिद्धांत को दो खण्डों में विभाजित कर विचार किया है। पहले खण्ड में साधारणीकरण किसका होता है—इस पर विचार है और दूसरे खंड में साधारणीकरण किसे होता है—इस पर विचार किया है। पहले खंड के उत्तर में कवि की अनुभूति का साधारणीकरण बताया है और दूसरे खंड के उत्तर में कवि, सहृदय और नट—इन तीनों के साधारणीकरण की चर्चा

की है। कवि की अनुभूति का साधारणीकरण मान लेने के कारण डा० नगेन्द्र ने सहज ही अनेक दोषों से साधारणीकरण-सिद्धांत को मुक्त कर दिया है। यह इनकी सबसे बड़ी उपलब्धि है। कवियों और सहृदयों के साधारणीकरण को भी कोई अस्वीकृत नहीं कर सकता है। वस्तुतः अनुकरण करने वाला अभिनेता यदि साधारणीकरण और रसानुभूति में लग जाय तो सारा गुड़ ही गोबर हो जाय। फिर भी आपके व्यवस्थित एवं तर्कपूर्ण विवेचन के हम कायल हैं और इस दृष्टि से इस युग के आलोचकों में आपका महत्त्वपूर्ण स्थान होना काहिए।

(घ) **रस-शास्त्र का मनोवैज्ञानिक अध्ययन**—मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रस-शास्त्र का अध्ययन पहलीबार आधुनिक युग के आचार्यों ने हिन्दी में किया। संस्कृत के आचार्यों और हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों के लिए यह संभव भी नहीं था, क्योंकि तबतक मनोविज्ञान एक व्यवस्थित विज्ञान का स्वरूप गृहीत न कर सका था। इस दृष्टि से शुक्ल जी, बाबू श्यामसुन्दर दास, प० रामदहिन मिश्र, गुलाब राय, सुधांशु और डा० नगेन्द्र—ये छः आचार्य ही महत्त्वपूर्ण हैं, शेष चार का मनोविज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं है। जिस प्रकार संस्कृत के आचार्यों ने दर्शन-शास्त्र का सहारा लेकर रस-शास्त्र की अभिनव व्याख्या की थी, उसी प्रकार हिन्दी के उक्त छः आचार्यों ने मनोविज्ञान का आश्रय लेकर रस-शास्त्र का नवीन मूल्यांकन किया है। इस युग की यह एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

पं० रामचन्द्र शुक्ल ने स्थायी भावों और संचारी भावों का अध्ययन मनोवैज्ञानिक पृष्ठाधार पर किया। फिर भी आंख मूंद कर मनोवैज्ञानिकों के सारे विचार आपने स्वीकृत न किए। उदाहरणार्थ, शुक्ल जी मनोवैज्ञानिक शैंड की भांति स्थायी-संचारी की सम्बन्ध व्यवस्था तो मान लेते हैं पर संचारी के उदित होने पर स्थायी की अक्षुण्ण सत्ता स्वीकार करते हैं। भावों की भाव दशा, स्थायी दशा और शीलदशा का निरूपण जैसा शुक्ल जी ने किया है, किसी मनोवैज्ञानिक ने अभी तक नहीं बताया है। फलतः हम कह सकते हैं कि शुक्ल जी में मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण के प्रति आस्था है, मनोविज्ञान की पुस्तकों और लेखकों के प्रति अन्धभक्ति नहीं। डा० श्यामसुन्दर दास ने मनोविज्ञान के आधार पर इन्द्रियजनित भाव, प्रज्ञात्मक भाव और गुणात्मक भाब—इन त्रिविध भावों का उल्लेख तो किया है पर इन्हें सामने रखकर रस-शास्त्रीय भावों का संश्लिष्ट अध्ययन नहीं किया। आपकी यह एक जबर्दस्त कमी है। केवल मनोविज्ञान की चर्चा मात्र से रस-शास्त्र का मनोवैज्ञानिक अध्ययन नहीं माना जा सकता। पं० रामदहिन मिश्र ने विभिन्न मनोवैज्ञानिकों द्वारा विवेचित मनोवृत्तियों और मनोविकारों के सम्बद्ध विचारों का संकलन किया है और उनके आलोक में रस-शास्त्रीय भावों का अध्ययन भी। पाठकों के मानसिक व्यापारों का मानस-शास्त्रीय अध्ययन तो प्रायः अभी तक मिश्र जी के ही ग्रन्थ में उपलब्ध है। तथापि आपकी त्रुटियां भी स्पष्ट हैं। एक तो प्रत्येक स्थायी

और संचारी को मनोविज्ञान की तुला पर रख कर परखने का कष्ट आपने नहीं किया है, दूसरा पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग में आप अधिक सावधान नहीं रहे हैं। बाबू गुलाब राय ने रस-शास्त्र के अध्ययनार्थ शरीर विज्ञान और मनोविज्ञान के आधार पर समस्त स्नायु संस्थान और मस्तिष्क की बनावट का ही अध्ययन कर डाला है। इसकी विशेष आवश्यकता आपको सात्त्विक भावों के अध्ययन के निमित्त हुई है। सात्त्विक भावों को आपने मानसिक विकारों के परिणाम स्वरूप होने वाले शारीरिक परिवर्तनों के रूप में देखा है। ड्रमन्ड और मेलोन के द्वारा निर्दिष्ट मनोवेगों की पांच विशेषताओं की छाया में रस-शास्त्रीय स्थायी भावों को मनोविज्ञान सम्मत बताने का श्रेय भी आपको है। सुधांशु जी ने रस-शास्त्रीय स्थायी भावों और संचारी भावों का पृथक्-पृथक् किम्वा सम्मिलित मनोवैज्ञानिक अध्ययन नहीं किया है। तथापि मूल भावों के अनुसन्धान में अपनी मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति का परिचय देने से वंचित न रह सके है। भावों को आपने कर्म प्रेरक माना है तथा भावों के अनुसार आचरण करने पर भी जोर दिया है। आपके अनुसार करुणा या प्रेम आदि भावों के अनुसार आचरण न करने पर उनके कुण्ठित हो जाने की पूरी संभावना है। फलतः सुधांशु जी ने अपनी संकीर्ण सीमा के अभ्यन्तर ही मनोविज्ञान, रस-शास्त्र, समाज-शास्त्र और आचार-शास्त्र का संश्लिष्ट अध्ययन प्रस्तुत किया है। डा० नगेन्द्र रस-शास्त्रीय भावों को न तो सर्वांशतः मनोविज्ञान-सम्मत मानते हैं और न सर्वथा अमनोवैज्ञानिक। अतएव आपके अध्ययन में सन्तुलन और विवेचन में पक्षपात-हीनता विद्यमान है। आपने स्पष्टतः स्वीकार किया है कि रस-शास्त्र और मनोविज्ञान यद्यपि दोनों मानवीय मनोविकारों का अध्ययन करते हैं, इन दोनों के दृष्टिकोण भिन्न हैं। रस-शास्त्र में प्रभाव, तीव्रता और व्यापकता के आधार पर स्थायी भावों का अध्ययन किया गया है और ये आधार मनोविज्ञान की सीमा के बाहर हैं। तथापि आपने स्थायी भावों को मौलिक मनोवेग और संचारी भावों को मनोविकार प्रमाणित किया है। आप मैक्डूगल के चतुर्दश मनोविकारों को भी नौ स्थायी भावों में अन्तर्भुक्त मानते हैं।

रस-भेद— रस-भेदों के सम्बन्ध में आधुनिक आचार्यों की कोई महत्त्वपूर्ण उपलब्धि नहीं है। इनका सारा विवाद शांत, भक्ति और वात्सल्य रसों को लेकर है। शुक्ल जी को छोड़ कर अन्य सभी आचार्य शांत रस की सत्ता स्वीकार करते हैं। यों शुक्ल जी भी व्यावहारिक समीक्षा में शांत रस का उल्लेख करते हैं तथापि सैद्धान्तिक रूप में सुख-दुःखाभास-स्वरूप निर्वेद या शम को स्थायी भाव मानने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं। जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' नाटकों में शांत रस की सत्ता नहीं मानते हैं। भक्ति रस के समर्थक आचार्य हैं—कन्हैयालाल पोद्दार, बिहारीलाल भट्ट और पं० रामदहिन मिश्र। इनके तर्कों की चर्चा पांचवें खण्ड में (अध्याय ७, खंड ५) की जा चुकी है। वात्सल्यरस के समर्थक आचार्य हैं—अयोध्या सिंह उपाध्याय

पं० रामदहिन मिश्र और डा० नगेन्द्र। इन दोनों रसों के समर्थकों और विरोधियों की सुदीर्घ परम्परा है और उभय पक्षीय तर्कों के आधार भी सुदृढ़ हैं—ऐसी स्थिति में कोई एक निर्णय लेने में कठिनाई स्वभावतः उपस्थित है। इस सम्बन्ध में मुझे शुक्ल जी के विचार सबसे अधिक सुलझे हुए प्रतीत होते हैं। उनका कहना है कि रति की स्थायी दशा राग है और यह राग ही आलम्बन भेद से शृंगार, भक्ति, वात्सल्य, राष्ट्रीयता, प्रकृति-प्रेम आदि भिन्न-भिन्न रूपों में परिणत हो जाता है। स्थाथी भाव की एकता के कारण इतने रसों को मानने की कोई आवश्यकता नहीं। फलतः आठ स्थायी भाव और उनसे निष्पन्न आठ रस ही शुक्ल जी को मान्य है। अन्य रसों का अन्तर्भाव इन्हीं में हो जाता है। शुक्ल जी की मान्यता में शान्तरस की अस्वीकृति ही अमान्य है। निर्वेद या औदासीन्य भी एक मनोवृत्ति है जो स्थायी दशा को प्राप्त करती है। अतएव सर्वमान्य शांत रस को भी स्वीकार कर लेना चाहिए। शांत का अन्तर्भाव भी अन्य आठ रसों में संभव नहीं है। फलतः रस-भेदों की दृष्टि से उन्हीं आचार्यों के विचार ग्राह्य हैं जिन्होंने नौ रसों की निरूपणा की है।

शुक्ल जी की उपलब्धियों में रसानुभूति की तीन अवस्थाओं—प्रत्यक्ष, स्मृत और कल्पित रूपविधान-जन्य, और दो कोटियों—प्रधान दशा (जहां सहृदय का आश्रय के साथ तादात्म्य होता है) एवं हीन दशा (जहां कवि के साथ तादात्म्य होता है और आश्रय आलम्बन का स्थान ले लेता है)—को मान्यता दी जा सकती है। मेरी धारणा है कि इनमें परम्परागत विचारों का ही एक नए ढंग से विश्लेषण है। इसका स्पष्टीकरण मैं पीछे शुक्ल जी के प्रसंग में कर चुका हूं। तथापि आधुनिक आचार्यों में रस-भेद की दृष्टि से भी सर्वाधिक महत्वपूर्ण आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ही प्रमाणित होते हैं।

८

उपसंहार

(१) संस्कृत रस-शास्त्र

काल-खंड की दृष्टि से संस्कृत रस-शास्त्र के दो भाग हैं—ध्वनिपूर्वकालीन और ध्वन्युत्तर-कालीन। दोनों भागों में रस-सिद्धान्त की भिन्न-भिन्न स्थितियां रही हैं। ध्वनि-पूर्वकाल में भी दो प्रकार की स्थितियां रस-सिद्धान्त की रही हैं। प्रथम स्थिति वह है जब भरत ने दृश्य काव्य में अभिनय की दृष्टि से रस-तत्त्व को सर्वोपरि महत्त्व प्रदान किया था। द्वितीय स्थिति में आकर भरत के बाद अलंकारादि सम्प्रदायों का उदय हुआ और रस-तत्त्व को श्रव्य काव्य में भी स्वीकृति मिली। यह स्वीकृति उसे गौण रूप में मिली—रस को कभी अलंकार का अवान्तर्भेद माना गया, कभी रीति का और कभी गुण का। ध्वन्युत्तर-काल में भी मान्यता और महत्त्व की दृष्टि से दो धारायें मिलती हैं—(क) कभी तो रस-ध्वनि के रूप में असंलक्ष्य-क्रमव्यंग्यध्वनि के अन्तर्गत इसका निरूपण किया गया और (ख) कभी इसे स्वतन्त्र अस्तित्व प्रदान किया गया। असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यध्वनि के रूप में भी दो प्रकारों से रस-विवेचन हुआ है। आनन्दवर्द्धन और उनके अनुयायी मम्मट ने ध्वनि के अंतर्गत ही रस-विवेचन किया, पर साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने रस को असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि मानकर भी पृथक् परिच्छेद में रस-विवेचन किया। परिणामतः विश्वनाथ के माध्यम से रस ध्वन्यंगभूत होकर भी अपेक्षाकृत अधिक स्वातन्त्र्य और प्रशस्ति का भागी बन सका—काव्य की रसात्मकता चरितार्थ हुई। ध्वन्युत्तर-काल की दूसरी धारा में रस को सर्वतन्त्र रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। भानुदत्त की रसतरंगिणी में इसकी परिणति दृष्टिगोचर होती है। वस्तुतः भरत के रसवाद की जो प्रशस्त धारा काल-क्रम में विचार-वैविध्य के अवरोध से अवरुद्ध हो गई थी, भानुदत्त के भागीरथ प्रयास से पुनः तरंगायित हुई।

रस-सामग्री को लेकर संस्कृत काव्य-शास्त्र में अत्यल्प हेर-फेर हुए हैं। भरत ने नाट्यशास्त्र में जिन उपादानों का निर्धारण कर दिया था, जगन्नाथ और

भानुदत्त के युग तक प्रायः शब्द-भेद से उन्हीं का पुनराख्यान अथवा विवेचन-विश्लेषण होता रहा । केवल आलम्बन विभाव के अन्तर्गत नायक-नायिकाओं के भेदों को लेकर अनेक परिवर्त्तन-परिवर्द्धन होते रहे । संस्कृत रस-शास्त्र में आचार्यों के बीच दो विषयों को लेकर अधिक विचार-भेद पाए जाते हैं । रसास्वाद की प्रक्रिया और रस-भेद—ये दोनों ही उनके विवाद के मुख्य आधार रहे हैं । रस-निष्पत्ति को लेकर उत्पत्तिवाद, अनुमानवाद, भोगवाद, अभिव्यक्तिवाद और दोषवाद प्रभृति सिद्धान्तों की उद्भावना हुई तथा दर्शन-शास्त्रीय विचार-संभार से रस-शास्त्र को गम्भीरता प्रदान की गई । रस-भेद के सम्बन्ध में संस्कृत के आचार्यों की मुख्यतः दो प्रवृत्तियां दृष्टिगोचर होती हैं—(क) रसों की संख्या के विस्तार की (ख) और रसों की संख्या के संकोच की ।

रस संख्या विस्तारः—भरत ने सर्वप्रथम आठ रस स्वीकार किए । उद्भट ने शान्त नामक नवम रस को जोड़ दिया । अभिनवगुप्त ने तो नाट्यशास्त्रीय उद्धरणों के आधार पर भरत को ही शान्त रस के प्रवर्त्तन का श्रेय दिया है, किन्तु उस अंश के प्रक्षिप्त होने की सम्भावना के आधार पर उद्भट को ही इसका अग्रणी माना जाता है । दण्डी ने माधुर्य गुण के अन्तर्गत वाक्रस और वस्तुरस नामक दो नूतन भेदों का विवेचन किया रुद्रट ने प्रेयान् नामक अतिरिक्त रस की उद्भावना कर रस संख्या को दश तक पहुंचा दिया । भोज ने मति और गर्व नामक दो अभिनव स्थायी भावों के आधार पर उदात्त और उद्धत नामक दो नए रसों की कल्पना की । अभिनवगुप्त ने स्नेह और लौल्य नामक दो सर्वथा नवीन रसों को स्वीकृति प्रदान की । मधुसूदन सरस्वती और रूपगोस्वामी प्रभृति गौडीय आचार्यों ने भक्ति रस को अत्यधिक महत्व प्रदान किया । भानुदत्त ने प्रवृत्ति मूलक माया रस की उद्भावना की । इन नवोद्भावित रसों को लेकर आचार्यों के बीच खण्डन-मण्डन भी खूब हुए ।

रस-संख्या-संकोचः—जिस प्रकार रस संख्या-विस्तार की प्रवृत्ति संस्कृत के आचार्यों में रही, उसी प्रकार संख्या-संकोच की प्रवृत्ति भी उनमें बहुशः पाई जाती है । स्वयं भरत ने भी स्वस्थापित आठ रसों में मूल रस चार ही माने थे । अग्नि-पुराणकार व्यास और शृङ्गार-प्रकाश के प्रणेता भोज ने शृङ्गार को महत्व ही नहीं दिया वरन् अन्य सभी रसों को उसमें अन्तर्भुक्त कर दिया । महाकवि भवभूति ने करुण को ही एक मात्र रस स्वीकार किया । विश्वनाथ के प्रपितामह नारायण ने अद्भुत रस में ही अन्य रसों को समाविष्ट बताया । गौड़ीय आचार्य रूपगोस्वामी ने भक्तिरस को ही एक मात्र रस स्वीकार किया तथा अन्य सभी रसों को पांच प्रकार के मुख्य भक्तिरसों और सात प्रकार के गौण भक्तिरसों में विनिबद्ध कर दिया। अतएव रस-भेद की दिशा में संस्कृत के रस-शास्त्रियों के बीच जैसे संख्या-प्रसारण की प्रवृत्ति थी वैसे ही संख्या के आकुंचन की भी ।

(२) हिन्दी का रीतिकालीन रस-शास्त्र

हिन्दी का रीतिकालीन रस-शास्त्र संस्कृत काव्य-शास्त्र की पीठिका पर ही उद्भूत हुआ। स्वभावतः संस्कृत रस-शास्त्र की विभिन्न धाराओं के अवशेष इसमें पाए जाते हैं। रीतिकालीन समस्त रस-शास्त्रियों को निरूपण वैविध्य के आधार पर तीन वर्गों में विभक्त पाते हैं—(क) सर्वांग-निरूपक आचार्य (ख) सर्व-रस-निरूपक आचार्य और (ग) शृंगार रस निरूपक आचार्य। सर्वांग-निरूपक आचार्य काव्य के सभी अंगों का निरूपण करते हैं और रस को ध्वनि का एक अंग मान कर चलते हैं। चिन्तामणि, कुलपति, सोमनाथ, भिखारीदास, प्रतापसाहि प्रभृति इसी कोटि के आचार्य हैं। ये ध्वन्युत्तरकालीन मम्मट और विश्वनाथ से प्रभावित दीखते हैं। उक्त आचार्यों में भी कुछ तो मम्मट की तरह असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के अन्तर्गत रसनिरूपणा करने वाले हैं और अन्य विश्वनाथ की तरह रस को ध्वनि का प्रभेद मान कर भी उसे निरूपण की दृष्टि से अपने ग्रन्थों में स्वतन्त्र स्थान प्रदान करते हैं। भिखारी दास, कुमारमणिभट्ट, जनराज, प्रभृति कुछ-एक आचार्यों ने इस दिशा में विश्वनाथ का अनुसरण किया है और चिन्तामणि, कुलपति, सोमनाथ आदि ने मम्मट का। सर्व-रस-निरूपक आचार्य वे हैं जिन्होंने काव्य के दश विध अंगों में केवल रस को लेकर ही अपने ग्रन्थ रचे। इन्होंने मुख्यतः नौ रसों की निरूपणा की है। आचार्यों का यह वर्ग भानुदत्त की रसतरंगिणी से प्रभावित है। भानुदत्त से इनकी भिन्नता मात्र इतनी है कि जहां शृंगार के आलम्बन नायक-नायिकाओं के विवरण के लिए भानुदत्त ने रसमंजरी नामक पृथक् ग्रन्थ लिखा, वहाँ रीतिकालीन सर्वरस-निरूपक आचार्यों ने शृंगार-रस के निरूपण-प्रसंग में ही नायक-नायिका-भेदों का भी विस्तारपूर्वक निवेश कर दिया। इस कोटि के आचार्यों में तोष, देव, रसलीन पद्माकर, ग्वाल, प्रभृति अग्रणी हैं। इनके अतिरिक्त तीसरे वर्ग के वे आचार्य भी हैं जिन्होंने मात्र शृङ्गार रस और उसके आलम्बन नायक-नायिकाओं का ही निरूपण अपने ग्रन्थों में किया। इस वर्ग के आचार्यों में कृपाराम, मतिराम, सुखदेव प्रभृति उल्लेखनीय हैं। इस वर्ग के ग्रन्थों की मूल धारा भी भानुदत्त की रसमंजरी में ही उपलब्ध होती है। यों भोज के शृङ्गार-प्रकाश और व्यास के अग्निपुराण को भी इस वर्ग का आधार माना जा सकता है, पर विषय-निरूपण की दृष्टि से ये आचार्य भोज और व्यास की अपेक्षा भानुदत्त, विश्वनाथ और विद्यानाथ के ग्रंथों से ही अधिक प्रभावित दीखते हैं। तत्त्वतः, इस धारा का मूल कारण है रीति युग की अतिशय शृंगार-प्रियता। अन्य वर्गों के आचार्यों में भी प्रायः सभी शृंगार को रस-राज मानते हैं। परिणामस्वरूप रस-राज शृंगार के स्वतन्त्र निरूपण के लिए आचार्यों का एक भिन्न वर्ग ही उठ खड़ा हुआ। ऊपर रीतिकालीन रस-निरूपक आचार्यों के जो तीन वर्ग स्वीकृत किए गए हैं, इनमें व्यतिक्रम भी पाया जाता है। उदाहरणार्थ भिखारीदास ने एक ओर सर्वरस-निरूपक "रससारांश" लिखा, तो

दूसरी और शृंगार-रस-निरूपक "शृंगार निर्णय" और अनेकांग निरूपक "काव्य-निर्णय" भी। देव की भी यही स्थिति है। अतएव आचार्यों की अपेक्षा उनके ग्रंथों को ही उक्त वर्गों में बांधना श्रेयस्कर है। उपयकित तीन धाराओं से भिन्न एक चतुर्थ धारा भी केशव की रसिक-प्रिया में उपलब्ध है। इन्होंने गौड़ीय भक्तिरस और परम्परागत नौ रसों के मिश्रण से एक विलक्षण रस-धारा प्रवाहित की—जिसमें आलम्बन तो व्रजराज कृष्ण हैं पर हैं वे नवरसमय तथा शृंगार-नायक।

अस्तु, इतना निश्चित कि हिन्दी के रीतिग्रन्थों में भी रस-निरूपण की विविध धाराएं एवं पद्धतियां उपलब्ध हैं जिनमें से कुछ तो संस्कृत की रस-धाराओं से प्रभावित हैं और कुछ हैं स्वतः उद्भूत। मतिराम, कृपाराम आदि की मात्र-शृंगार-रस-निरूपण पद्धति और केशव की रसपद्धति को मैं स्वतः उद्भूत ही मानता हूं। मतिराम, कृपराम प्रभृति रीतिकालीन आचार्य को भानुदत्त की रस-धारा से भिन्न कोटि का मैं इस अर्थ में मानता हूं कि जहां भानुदत्त ने नवरस-निरूपक और मात्र-शृंगार-रस-निरूपक रसतरंगणी और रसमंजरी नामक दो भिन्न ग्रन्थ लिखे वहां मतिराम प्रभृति आचार्यों ने केवल शृंगार-रस-निरूपक ग्रन्थ ही लिखे। केशव की रस-पद्धति की स्वतन्त्रता में तो किसी प्रकार का सन्देह किया ही नहीं जा सकता है।

शास्त्रीय विवेचन के उत्कर्ष की दृष्टि से हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों की मौलिकता नगण्य है। इनकी अपनी सीमाएं थीं। एक तो इनके पास विवेच-नात्मक गद्य का माध्यम नहीं था, दूसरा विवेचन की सूक्ष्मता में जाने की न तो अपने पास शक्ति थी और न उस युग के साहित्य-प्रेमी राजाओं, रईसों, सामन्तों और सामान्य पाठकों में तदनुकूल धैर्य ही था। ग्रन्थ—प्रणयन के प्रयोजन पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत की काव्य-शास्त्रीय परम्परा से इनमें भिन्नता रही। उद्देश्य और प्रयोजन की भिन्नता के कारण इनकी विवेचन पद्धति में भी अन्तर आया। इसके अतिरिक्त, संस्कृत के रस-शास्त्र में ही रस-मीमांसा चरम उत्कर्ष को प्राप्त कर चुकी थी। इन्हीं प्रतिबन्धों से वांछित होकर इन्होंने रस-ग्रन्थ लिखे। अतएव रस-शास्त्रीय विषयों का व्रजभाषा के माध्यम से पुनराख्यान ही इनके आचार्यत्व का मुख्य उद्देश्य रहा। यही कारण है कि इन्होंने संस्कृत काव्य-शास्त्र के परवर्ती ग्रंथों को ही उपजीव्य बनाया, क्योंकि इन ग्रन्थों में खण्डन-मण्डन का अभाव है तथा विषयों का प्रतिपादन भी सरल-रीति से किया गया है। तथापि कहीं तो 'घुणाक्षरन्याय" से और कहीं आयास-पूर्वक भी, इन्होंने कई नूतन उद्भावनाएं प्रस्तुत की हैं। उदाहरणार्थ, देव ने देश, प्रकृति, सत्त्व, नगर, ग्राम आदि के आधार पर नायिकाओं के कई वर्गों और उनके भेदों की उद्भावना की। तोष ने दूतियों के ही अनेक नवीन भेदों की कल्पना की। केशव ने विवाद और आधि नामक नूतन संचारी भावों की उद्भावना की। ग्वाल कवि ने परम्परागत आठ सात्विक भावों को

चक्षु, श्रोत आदि पांच ज्ञानेन्द्रियों के आधार पर वर्गीकृत कर उनकी संख्या चालीस तक पहुंचा दी। इसी प्रकार रस-भेदों की दिशा में केशव, तोष और रसलीन ने नौ रसों में से प्रत्येक के प्रच्छन्न और प्रकाश नामक दो नवीन भेद स्वीकार किए। देव ने पहली बार करुण रस के पांच भेद प्रतिपादित किए—करुण, अतिकरुण, महाकरुण लघुकरुण और सुखकरुण। भक्तिमूलक शांत और शुद्ध शांत भी देवकृत नवीन शांत-रस-भेद हैं। रस-दोषों के सम्बन्ध में भी केशव और देव की उद्भावना-शक्ति का परिचय मिलता है। केशव ने प्रत्यनीक, नीरस, विरस, दुःसंधान और पात्रादुष्ट नामक सर्वथा नवीन रस-दोष बताए हैं और देव ने सरस, नीरस, सम्मुख, विमुख, स्वनिष्ठ, परनिष्ठ, भीत अभीत, उदास और अधिक नामक दश नूतन रस-दोषों की उद्भावना की है।

उपर्युक्त कतिचित् उद्भावनाओं के बावजूद भी रीतिकालीन रस-शास्त्र को मौलिकता का श्रेय नहीं दिया जा सकता है। इसे मौलिक होने और विषय-वस्तु को अग्रसारित करने का श्रेय तभी मिलता, यदि इस युग के रस-शास्त्र ने रस-स्वरूप, रस निष्पत्ति, साधारणीकरण—जैसे गम्भीर विषयों के चिन्तन-क्षेत्र में प्रवेश किया होता। कवियों के व्यक्तित्व का अध्ययन कर रस-शास्त्र की नूतन व्याख्या का अभी पर्याप्त अवकाश इन्हें उपलब्ध था किन्तु रीतियुगीन आचार्यों का ध्यान इस ओर न गया। इन्होंने वर्गीकरण की दिशा में ही न्यूनाधिक नवीनता प्रदर्शित करनी चाही, पर संस्कृत युग में ही यह कार्य पराकाष्ठा को पार कर चुका था। अतएव इनके उद्भावन-प्रयास विफल ही रहे।

तथापि कई दृष्टियों से हमें रीतिकालीन हिन्दी रस-शास्त्र का महत्त्व स्वीकार करना चाहिए। जगन्नाथ तक आकर संस्कृत काव्य-शास्त्र में गत्यवरोध ही नहीं हुआ प्रत्युत शास्त्रीय चिन्तन की धारा ही हमेशा के लिए सूख गई। ऐसी स्थिति में रीतिकालीन आचार्यों ने रस-शास्त्रीय चिन्तना को हिन्दी के माध्यम से जीवित रखा। यदि इन्होंने इस परम्परा को कायम न रखा होता तो प्रायः प्राचीन रस-सिद्धान्त से आज हमारा सम्पर्क छूट गया होता। इस युग की दूसरी उपलब्धि यह है कि रस को ध्वनि के अन्तर्भोग से मुक्त कर प्रशस्त भूमि पर प्रतिष्ठित किया गया। यह ठीक है कि कतिपय सर्वांग—निरूपक आचार्यों ने इस दिशा में योग नहीं दिया किन्तु अन्य वर्ग के आचार्यों ने एक स्वर से रस-स्वातन्त्र्य का जयघोष किया। इन आचार्यों की अन्यतम उपलब्धि यह भी है कि इन्होंने रस-सामान्य की धारा को विशुद्ध शृङ्गार-धारा में मोड़ दिया और इस प्रकार व्यास और भोज की शृङ्गार रस धारा को, काल क्रम में अवरुद्ध हो गई थी, पुनः प्रवाहित किया। कम से कम इन उपलब्धियों के कारण भी रीतिकालीन रस-शास्त्र का महत्त्व हमें स्वीकार करना ही होगा। यदि हम सैद्धान्तिक पक्ष को छोड़, इनके द्वारा रचित नूतन उदाहरणों पर दृक्पात करें तो रीतिकालीन रस-शास्त्र की गरिमा निश्चय ही प्रतीत होगी।

(३) हिन्दी का अर्वाचीन रस-शास्त्र

हिन्दी के अर्वाचीन रस-शास्त्र में चिन्तन की दो धारायें उपलब्ध हैं। प्रथम धारा रीतिकाल की परम्परा का अनुसरण करती है और दूसरी धारा नई भाषा और शैली, नूतन अभिव्यंजना-प्रणाली तथा नए विचारों को लेकर चलती है। जगन्नाथ प्रसाद "भानु', विहारी लाल भट्ट, अयोध्यासिंह उपाध्याय और कन्हैयालाल पोद्दार प्रथम धारा का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० श्याम सुन्दर दास, प० रामदहिन मिश्र, लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' और डा० नगेन्द्र द्वितीय धारा का। दोनों चिन्तन-धाराओं के सभीक्षकों का माध्यम परिवर्त्तन होकर पद्य के स्थान में गद्य हो गया है। जिन दो-एक समीक्षकों ने व्रजभाषा पद्य को भी माध्यम बनाया है, कम से कम वृत्तियों में गद्य का माध्यम अवश्य ही अपनाया है। "भानु" और विहारी लाल भट्ट—इन दोनों की स्थिति ऐसी ही है। तथापि अन्य आचार्यों की अपेक्षा ये दोनों रीतिकालीन प्रवृत्ति के अधिक निकट हैं। यदि प्रवृत्ति की दृष्टि से विचार हो तो इन्हें रीतिकालीन आचार्यों की श्रेणी में रखना ही समुचित एवं न्याय्य है। अन्यथा, काल खण्ड की दृष्टि से तो ये दोनों अर्वाचीन हैं ही।

रस-शास्त्रीय विचारों के नवोन्मेष की दृष्टि से रीतिकालीन रस-शास्त्र की अपेक्षा अर्वाचीन रस-शास्त्र अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इसमें भी प्रथम चिन्तन-धारा की अपेक्षा द्वितीय चिन्तन-धारा अधिक श्रेयष्कर है। भानु, भट्ट, उपाध्याय और पोद्दार में मौलिकता अत्यल्प है। इन्हें भी रीति-कालीन आचार्यों की तरह कवि-शिक्षक ही मानना चाहिए। परम्परागत विषयों का का पुनराख्यान तथा सामग्री-संकलन ही आपके ध्येय रहे हैं। भानु, भट्ट और उपाध्याय—नूतन उदाहरण गढ़ने में ही अपनी प्रतिभा का व्यय करते दृष्टिगोचर होते हैं। पोद्दार जी इनके विपरीत काव्य-प्रकाश और साहित्यदर्पण के विचारों को खड़ी बोली गद्य में रूपान्तरित करने को प्रयत्नशील हैं। उदाहरणों में तो प्रायः आपने काव्यप्रकाश में उदाहृत संस्कृत श्लोकों को ही व्रजभाषा में अनूदित किया है। कम से कम इस पद्यानुवाद का माध्यम भी खड़ी बोली को बनाया होता तो आधुनिक युग के पाठकों को अधिक सन्तोष होता। तथापि बिहारी लाल भट्ट और अयोध्या सिंह उपाध्याय नायिका-भेदों के निरूपण में मौलिकता के हल्के छींटे देने से वंचित न रह सके। भट्ट जी ने नायिका को अन्तर्वृत्ति की प्रतीक मान कर परम्परागत सभी नायिका-भेदों का आध्यात्मिक दृष्टि से निरूपण कर डाला। उपाध्याय जी ने वर्तमान युग के अनुरूप परिवार-प्रेमिका, जातिप्रेमिका, देशप्रेमिका, जन्मभूमिप्रेमिका, लोकसेविका आदि कई नूतन भेदों की सृष्टि कर डाली। वस्तुतः रसशास्त्रीय मीमांसा की दृष्टि से तो इनका कुछ भी महत्त्व नहीं है, फिर भी रस-सामग्री के भांडार की थोड़ी सी अभिवृद्धि तो माननी ही होगी।

इस युग की द्वितीय चिन्तनधारा के रस-मीमांसकों की अनेक मौलिक उपलब्धियां हैं। शरीर-विज्ञान, मनोविज्ञान, समाज शास्त्र आदि अर्वाचीन विषयों के आलोक में रस-शास्त्र से सम्बद्ध विषयों की नूतन व्याख्या ही आपका ध्येय रही है। यों तो इस वर्ग के सभी आचार्यों ने यत्किंचित् नवीनता लाने का प्रयास किया है पर शुक्ल जी की विशेषता विशेष उल्लेखनीय है। शुक्ल जी ने भरत-सूत्र का पल्ला छोड़कर हृदय की अनुभूति को ही रस मान लिया। रस लक्षण की व्यापकता के परिणाम-स्वरूप ही इन्होंने प्रत्यक्ष-रूप-विधान-जन्य, स्मृतिरूप-विधान जन्य और कल्पितरूपविधानजन्य अनुभूतियों का निवेश रसानुभूति में किया। भरत के युग से लेकर शुक्ल जी के अव्यवहित पूर्वकाल तक स्पष्टतः किसी आचार्य ने नाट्य और काव्य से पृथक् रसानुभूति का विवेचन नहीं किया था। पाश्चात्य सौन्दर्यानुभूति के साथ भारतीय रसानुभूति के सिद्धान्त की तुलना कर इन्हें अभिन्न सिद्ध कर दिखाना भी शुक्ल जी की रसमीमांसा का महत्त्वपूर्ण अंश है। इसी प्रकार रसोपकरणों के सम्बन्ध में शुक्ल जी की अनेक महत्त्वपूर्ण उपलब्धियां हैं। विभाव-विधान के अन्तर्गत परम्परागत नायक-नायिकाओं के अतिरिक्त वस्तु, व्यापार, घटना, परिस्थिति, प्रकृतिखण्ड आदि का भी समावेश आपने किया। अनुभाव के भी परम्परागत चार प्रकारों में इन्होंने प्रमोद आदि मानसिक अनुभावों को तो अनुभाव माना ही नहीं तथा आहार्य और सात्त्विक अनुभावों को कायिक में अन्तर्भुक्त कर दिया। संचारी भावों के सुखात्मक, दुःखात्मक, उभयात्मक, शरीर-व्यापार, अन्तःकरण की वृत्तियां आदि कई नूतन वर्ग बनाये तथा परम्परागत तैंतीस संचारी भावों के अतिरिक्त चकपकाहट, सन्तोष, असन्तोष, नैराश्य, विस्मृति आदि पांच-छः सर्वथा नवीन संचारी भावों की उद्भावना भी की। स्थायी भावों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, मूल भावों का अनुसन्धान, भावों की भाव दशा, स्थायी दशा और शील-दशा—इन तीन दशाओं का निरूपण, रति भाव को व्यापकता-प्रदान आदि भी शुक्ल जी की रस-मीमांसा के मौलिक अंश हैं। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर पहली बार निर्वेद को इन्होंने स्थायी भावों की तालिका से बहिष्कृत किया है। मनोविज्ञान के आधार पर ही आपने प्रत्येक भाव का अध्ययन किया है। फिर भी आपकी विशेषता यह है कि पाश्चात्य मानस-शास्त्रियों के विचारों को भी यथावत् ग्रहण न कर समीक्षा-परीक्षा के उपरान्त ही उनका उपयोग किया। साधारणीकरण-सिद्धान्त में भी शुक्ल जी ने आलम्बनत्व धर्म का साधारणीकरण और आश्रय अथवा कवि के साथ तादात्म्य की बात लिख कर अपनी नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का परिचय दिया है। इस प्रकार शुक्ल जी की रसमीमांसा के प्रत्येक क्षेत्र में कुछ न कुछ नवीनता अवश्य है। मैं स्वयं ऐसा नहीं मानता कि शुक्ल जी ने जो कुछ कहा वह चरम सत्य है, पर इतना अवश्य कि परम्परागत विचारों के संशोधन स्वरूप आपने कई नवीन बातें बताईं और रस-मीमांसा में आपका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा।

डा० श्यामसुन्दर दास ने रस के स्वरूप और सामग्री में तो परम्परागत विचारों का ही पुनराख्यान किया है किन्तु साधारणीकरण के सम्बन्ध में किंचित् नवीनता लाने की चेष्टा की है। इन्होंने कवि और सहृदय दोनों के साधारणीकरण और रसानुभूति का समर्थन किया है। चित्तवृत्ति की एकतानता को ही आपने साधारणीकरण माना है तथा रसदशापन्न चित्तवृत्ति की तुलना मधुमती भूमिका और परप्रत्यक्षावस्था से की है। इसमें अतिशयोक्ति के साथ तर्कहीनता भी विद्यमान है। एकतान चित्तवृत्ति साधारणीकरण की प्रक्रिया में सहायिका भले ही हो सकती है, वह स्वयं साधारणीकरण का स्थान नहीं ले सकती है। भावों का मनोवैज्ञानिक विवेचन करके भी रसशास्त्रोक्त भावों का मनोवैज्ञानिक मूल्यांकन आप न कर सके। फलतः रसशास्त्रीय अध्ययन में मनोविज्ञान का समुचित उपयोग आपके द्वारा न हो सका। पं० रामदहिन मिश्र ने स्थायी भावों के मनोवैज्ञानिक अध्ययन-क्रम में भावों की स्थायिता की परख के लिए एक कसौटी का विधान किया है। इस कसौटी का निर्माण आस्वाद्यत्व, उत्कटत्व, पुरुषार्थोपयोगिता, सर्वजनसुलभत्व, उचितविषय-निष्ठत्व और मनोरंजनाधिक्य के आधार पर प्रतिपादित किया गया है। इसमें औचित्य चाहे जितना हो, मौलिकता अवश्य है। बाबू गुलाब राय ने रस-शास्त्रीय भावों के अध्यानार्थ शरीर-विज्ञान और मनोविज्ञान के आधार पर समस्त-स्नायु-प्रणाली और मस्तिष्क-रचना के अध्ययन को ही काव्यशास्त्र का अंग बना डाला। डा० सुधांशु ने अपने सीमित दायरे में रसशास्त्र, समाजशास्त्र, आचार शास्त्र और मानस शास्त्र—इनका संश्लिष्ट अध्ययन प्रस्तुत किया। आपने भावों को कर्मप्रेरक माना तथा भावों के अनुसार ही आचरण करने पर जोर दिया। इन्होंने पहली बार भावों के विनाश का अध्ययन किया है—करुणा, प्रेम आदि भावों के अनुसार आचरण न करने पर उनके कुण्ठित हो जाने की पूरी सम्भावना है। डा० नगेन्द्र के रसाध्ययन में दो बातें हमें विशेष प्रभावित करती हैं—(क) मनोविज्ञान के आधार पर रसशास्त्रीय अध्ययन तथा (ख) विवेचन की वैज्ञानिक प्रक्रिया। साधारणीकरण-सिद्धान्त को आपकी महत्त्वपूर्ण देन है। कवि की अनुभूति का सहृदयों के द्वारा साधारणीकरण मान कर लम्बी अवधि से आने वाले विवाद का आपने अन्त ही कर दिया।

इस प्रकार अर्वाचीन रस-शास्त्र की द्वितीय चिन्तनधारा के सभी आचार्यों में कुछ-न-कुछ नवीनता और मौलिकता अवश्य है। यह नवीनता रस-स्वरूप, रसोप-करण और साधारणीकरण के सम्बन्ध में मुख्यतः प्रदर्शित की गई है। प्रत्येक आचार्य की अपनी-अपनी मान्यतायें हैं। किन्तु दो विषयों की ओर सबों का ध्यान सामान्यतः गया है। इस धारा के प्रत्येक आचार्य ने रस को लौकिक और ऐन्द्रिय कहा है तथा रस-शास्त्र के अध्ययनार्थ मनोविज्ञान का आधार-ग्रहण आवश्यक माना है।

अन्त में, मेरा निष्कर्ष यह है कि भरत से लेकर डा० नगेन्द्र तक—रस शास्त्र की इस सुदीर्घ ऐतिहासिक अवधि में—अनेक खण्डन-मण्डन, परिवर्तन-परिवर्द्धन, पुनराख्यान-संशोधन भी होते रहे पर रस-सिद्धान्त का मूल ढांचा ज्यों का त्यों है। संशोधन के समस्त प्रयत्न उस सिद्धान्त को परिवर्तित भूमिका में स्पष्ट एवं निर्दिष्ट करने के प्रयास हैं। इसे "संक्षिप्त उद्धरणी" मात्र न मान हमें सीमा-विस्तार का प्रयास मानना चाहिए।

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थ-सूची

संस्कृत-ग्रन्थ :—

अभिनवगुप्त— (१) अभिनव भारती (तीन खण्ड)-गा० ओ० सी०
(२) परात्रिंशिका तत्व-विवरण, काश्मीर संस्कृत सीरीज
(३) मालिनी विजय वार्त्तिक, काश्मीर संस्कृत सीरीज
(४) लोचन (टीका) निर्णय-सागर प्रेस, १९११ ई०

आनन्दवर्द्धन— ध्वन्यालोक (लोचनसहित), नि० सा० प्रे०, बम्बई, १९११ ई०

उद्भट— (क) काव्यालंकार-सार-संग्रह (लघु वृत्ति टीका-सहित), निर्णयसागर प्रेस
(ख) काव्यालंकार-सार-संग्रह (विवृत्ति समेत), ओरियन्टल इन्स्टि०, बड़ौदा, १९३१ ई०

कल्हण— राजतरंगिणी, काश्मीर संस्कृत सीरीज

कविराज— राघव-पाण्डवीय, नि० सा० प्रेस

कालिदास— रघुवंशम् (कालिदास ग्रंथावली), अ० भा० विक्रम परिषद्, काशी २०११ सं०

कुन्तक— वक्रोक्ति जीवितम् , ओरियन्टल सीरीज, कलकत्ता, १९२३ ई०।

केशव मिश्र— अलंकारशेखर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज

गोपा भट्ट— साहित्य-सौदामनी (काव्यप्रकाश टीका)

गोविन्द ठाकुर— काव्य-प्रदीप (का० प्र० टीका), आनन्द आश्रम, पूना

जगन्नाथ— (१) (क) रसगंगाधर, बनारस प्रिंटिंग प्रेस, १८८९ ई०
(ख) रसगंगाधर, चौखम्बा विद्याभवन, १९५५ ई०
(२) भामिनी विलास, काव्यप्रकाश प्रेस, कलकत्ता, १८७२ ई०
(३) चित्रमीमांसा खण्डन, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई

जयरथ— अलंकार-सर्वस्व-विमर्शिनी (टीका), नि० सा० प्रे०, बम्बई

जयदेव— चन्द्रालोक, चौखम्बा सं० सीरीज।

जीवगोस्वामी— प्रीतिसन्दर्भ, श्यामलाल गोस्वामी, कलकत्ता, १९०१ ई०

दंडी— काव्यादर्श, बी० ओ० आर० आई०, पूना

(३) श्रीमद्भागवतमाहात्म्य, गी० प्रे०, गोरखपुर
शारदातनय— भावप्रकाशन, ओरियन्टल इन्स्टिट्यूट, बड़ौदा, १९३० ई०
शाण्डिल्य— शाण्डिल्यभक्तिसूत्राणि, गीताप्रेस, गोरखपुर
ऋग्वेद, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
अथर्व वेद, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
छान्दोग्य उपनिषत्, गीता प्रेस, गोरखपुर
कठोपनिषत्, गीताप्रेस, गोरखपुर
तैत्तिरीयोपनिषत्, गी० प्रे० गोरखपुर
हेमचन्द्र— काव्यानुशासन, काव्यमाला संस्करण, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९०१ ई०
क्षेमेन्द्र— (१) औचित्य-विचार चर्चा, चौखम्बा, सं० सी०
(२) कविकण्ठाभरण, हरिदास संस्कृत सीरीज, १९५३ ई०
(३) वृहत् कथामंजरी, निर्णय सागर प्रेस, १९३१ ई०

हिन्दी-ग्रंथ (प्रकाशित):—

अकबर साह— शृंगार मंजरी, लखनऊ विश्वविद्यालय, १९५६ ई०
आनन्दप्रकाश दीक्षित (डा०)—रससिद्धान्त; स्वरूप विश्लेषण, राजकमल प्रकाशन, १९६० ई०
उदयनाथ— रसचन्द्रोदय व रसवृष्टि, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, १८८२ ई०
ओमप्रकाश (डा०)–हिन्दी-अलंकार-साहित्य, भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली, १९५५ ई०
कविराज सुन्दर— सुन्दर शृंगार, भारत जीवन प्रेस, काशी, १८९० ई०
कविराज प्रतापसाहि—व्यंग्यार्थ कौमुदी, वाराणसी संस्कृत यंत्रालय, संवत् १९३१
कन्हैयालाल पोद्दार-(१) काव्यकल्पद्रुम—१ भाव, मथुरा, २००४ सं०
(२) संस्कृत सा० का इतिहास, भाग २, १९३८ ई०
कृष्ण बिहारी मिश्र (१) देव और बिहारी, लखनऊ, संवत् १९८२
(२) मतिराम ग्रन्थावली—परिचय भाग, गंगाग्रन्थागार, लखनऊ १९५१ ई०
(३) मतिराम ग्रन्थावली—गं० ग्रं० लखनऊ, संवत् १९९६
कृपाराम— हिततरंगिनी, भारत जीवन प्रेस, काशी, संवत् १९५२
कुमारमणिभट्ट— रसिकरसाल, विद्या विभाग, कांकरोली, संवत् १९९४
कुलपति— रस रहस्य, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, संवत् १९५४
केदारनाथ शर्मा (अनुवादक)—काव्यमीमांसा, बिहार रा० भा० प०, पटना,
गुलाब राय— (१) नवरस, नागरी प्रचारिणी सभा, आरा, १९९० संवत्
(२) सिद्धान्त और अध्ययन

धनंजय— दशरूपकम् , निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९४१ ई०
नमिसाधु— काव्यालंकार टीका
नारद— नारदीय भक्तिसूत्राणि, गीताप्रेस, गोरखपुर
पतंजलि— महाभाष्यम् , चौखम्बा, बनारस १९५४ ई०
पाणिनि— अष्टाध्यायी, चौखम्बा, बनारस
भर्तृहरि— नीतिशतकम् , विश्वेश्वर यन्त्रालय, काशी, १९४० ई०
भर्तृहरि— वाक्यपदीयम् , चारुदेव संस्करण
भरत— नाट्यशास्त्रम्, काव्यमाला संस्करण, नि० स० प्रेस, १९४३ ई०
भवभूति— उत्तर रामचरितम् , कुमुदरंजन राय, १९३४ ई०
भानुदत्त— (१) रसतरंगिणी, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९५८ ई०
(२) रसमंजरी, हरिकृष्ण निबन्ध भवन, बनारस, १९५१ ई०
भामह— काव्यालंकार, चौखम्बा, बनारस
भोजराज— (१) सरस्वतीकण्ठाभरण, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९३४ ई०
(२) शृंगार प्रकाश, कारोनेषन् मुद्रणालय, १९५६ ई०
मधुसूदन सरस्वती— भगवद्भक्ति रसायन, चौखम्बा, बनारस, १९२७ ई०
मम्मट— काव्य प्रकाश, चौखम्बा, बनारस, १९८३ वि० संवत्
महिमभट्ट— व्यक्तिविवेक, चौखम्बा सं० सीरीज
यास्क— निरुक्त (दुर्गाचार्य व्याख्या सहित) वेंकटेश्वर प्रेस
राजशेखर— (१) काव्यमीमांसा, ओरियन्टल इन्स्टिट्यूट, बड़ौदा, १९३४ ई०
(२) बालरामायण (नाटक)
रुद्रट— काव्यालंकार, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
रूपगोस्वामी— (१) हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, अच्युत ग्रन्थ माला, काशी, १९८८ संवत्
(२) उज्ज्वल नीलमणि, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९३२ ई०
वल्लभाचार्य— सिद्धान्त मुक्तावली
वात्स्यायन— कामसूत्र, चौखम्बा सं० सीरीज
वामन— काव्यालंकार-सूत्र-वृत्ति, नि० सा० प्रे०, बम्बई १९५३ ई०
बाण— (१) हर्ष चरितम्, नि० सा० प्रे०
(२) कादम्बरी, चौखम्बा सं० सीरीज
विश्वनाथ— साहित्यदर्पण, चौखम्बा, बनारस, १९४७ ई०
विद्यानाथ— प्रतापरुद्रयशोभूषण, गवर्नमेन्ट सेन्ट्रल प्रेस, बम्बई, १९०९ ई०
बिल्हण— विक्रमांकदेवचरित, काश्मीर संस्कृत सीरीज
व्यास— (१) अग्निपुराण, आनन्द आश्रम, पूना
(२) श्रीमद्भागवत, गीताप्रेस, गोरखपुर

(३) श्रीमद्भागवतमाहात्म्य, गी० प्रे०, गोरखपुर

शारदातनय— भावप्रकाशन, ओरियन्टल इन्स्टिट्यूट, बड़ौदा, १९३० ई०

शाण्डिल्य— शाण्डिल्यभक्तिसूत्राणि, गीताप्रेस, गोरखपुर

ऋग्वेद, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई

अथर्व वेद, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई

छान्दोग्य उपनिषत्, गीता प्रेस, गोरखपुर

कठोपनिषत्, गीताप्रेस, गोरखपुर

तैत्तिरीयोपनिषत्, गी० प्रे० गोरखपुर

हेमचन्द्र— काव्यानुशासन, काव्यमाला संस्करण, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९०१ ई०

क्षेमेन्द्र— (१) औचित्य-विचार चर्चा, चौखम्बा, सं० सी०

(२) कविकण्ठाभरण, हरिदास संस्कृत सीरीज, १९५३ ई०

(३) वृहत् कथामंजरी, निर्णय सागर प्रेस, १९३१ ई०

हिन्दी-ग्रंथ (प्रकाशित):—

अकबर साह— श्रृंगार मंजरी, लखनऊ विश्वविद्यालय, १९५६ ई०

आनन्दप्रकाश दीक्षित (डा०)—रससिद्धान्त; स्वरूप विश्लेषण, राजकमल प्रकाशन, १९६० ई०

उदयनाथ— रसचन्द्रोदय व रसवृष्टि, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, १८८२ ई०

ओमप्रकाश (डा०)–हिन्दी-अलंकार-साहित्य, भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली, १९५५ ई०

कविराज सुन्दर— सुन्दर श्रृंगार, भारत जीवन प्रेस, काशी, १८९० ई०

कविराज प्रतापसाहि—व्यंग्यार्थ कौमुदी, वाराणसी संस्कृत यंत्रालय, संवत् १९३१

कन्हैयालाल पोद्दार-(१) काव्यकल्पद्रुम—१ भाव, मथुरा, २००४ सं०

(२) संस्कृत सा० का इतिहास, भाग २, १९३८ ई०

कृष्ण बिहारी मिश्र (१) देव और बिहारी, लखनऊ, संवत् १९८२

(२) मतिराम ग्रन्थावली—परिचय भाग, गंगाग्रन्थागार, लखनऊ १९५१ ई०

(३) मतिराम ग्रन्थावली—गं० ग्रं० लखनऊ, संवत् १९९६

कृपाराम— हिततरंगिनी, भारत जीवन प्रेस, काशी, संवत् १९५२

कुमारमणिभट्ट— रसिकरसाल, विद्या विभाग, कांकरोली, संवत् १९९४

कुलपति— रस रहस्य, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, संवत् १९५४

केदारनाथ शर्मा (अनुवादक)—काव्यमीमांसा, बिहार रा० भा० प०, पटना,

गुलाब राय— (१) नवरस, नागरी प्रचारिणी सभा, आरा, १९९० संवत्

(२) सिद्धान्त और अध्ययन

धनंजय— दशरूपकम् , निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९४१ ई०
नमिसाधु— काव्यालंकार टीका
नारद— नारदीय भक्तिसूत्राणि, गीताप्रेस, गोरखपुर
पतंजलि— महाभाष्यम् , चौखम्बा, बनारस १९५४ ई०
पाणिनि— अष्टाध्यायी, चौखम्बा, बनारस
भर्तृहरि— नीतिशतकम् , विश्वेश्वर यन्त्रालय, काशी, १९४० ई०
भर्तृहरि— वाक्यपदीयम् , चारुदेव संस्करण
भरत— नाट्यशास्त्रम्, काव्यमाला संस्करण, नि० स० प्रेस, १९४३ ई०
भवभूति— उत्तर रामचरितम् , कुमुदरंजन राय, १९३४ ई०
भानुदत्त— (१) रसतरंगिणी, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९५८ ई०
(२) रसमंजरी, हरिकृष्ण निबन्ध भवन, बनारस, १९५१ ई०
भामह— काव्यालंकार, चौखम्बा, बनारस
भोजराज— (१) सरस्वतीकण्ठाभरण, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९३४ ई०
(२) शृंगार प्रकाश, कारोनेषन् मुद्रणालय, १९५६ ई०
मधुसूदन सरस्वती— भगवद्भक्ति रसायन, चौखम्बा, बनारस, १९२७ ई०
मम्मट— काव्य प्रकाश, चौखम्बा, बनारस, १९८३ वि० संवत्
महिमभट्ट— व्यक्तिविवेक, चौखम्बा सं० सीरीज
यास्क— निरुक्त (दुर्गाचार्य व्याख्या सहित) वेंकटेश्वर प्रेस
राजशेखर— (१) काव्यमीमांसा, ओरियन्टल इन्स्टिट्यूट, बड़ौदा, १९३४ ई०
(२) बालरामायण (नाटक)
रुद्रट— काव्यालंकार, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
रूपगोस्वामी— (१) हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, अच्युत ग्रन्थ माला, काशी, १९८८ संवत्
(२) उज्ज्वल नीलमणि, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९३२ ई०
वल्लभाचार्य— सिद्धान्त मुक्तावली
वात्स्यायन— कामसूत्र, चौखम्बा सं० सीरीज
वामन— काव्यालंकार-सूत्र-वृत्ति, नि० सा० प्रे०, बम्बई १९५३ ई०
बाण— (१) हर्ष चरितम्, नि० सा० प्रे०
(२) कादम्बरी, चौखम्बा सं० सीरीज
विश्वनाथ— साहित्यदर्पण, चौखम्बा, बनारस, १९४७ ई०
विद्यानाथ— प्रतापरुद्रयशोभूषण, गवर्नमेन्ट सेन्ट्रल प्रेस, बम्बई, १९०९ ई०
बिल्हण— विक्रमांकदेवचरित, काश्मीर संस्कृत सीरीज
व्यास— (१) अग्निपुराण, आनन्द आश्रम, पूना
(२) श्रीमद्भागवत, गीताप्रेस, गोरखपुर

(२) हिन्दी रस गंगाधर, द्वितीय भाग, ना० प्र० स०, काशी, १९९५ सं०

प्रभुदयाल मीतल— (१) ब्रजभाषा साहित्य में नायिका भेद, अग्रवाल प्रेस, मथुरा, १९४४ ई०

(२) साहित्य लहरी, साहित्य संस्थान, मथुरा, १९६१ ई०

प्रभुदत्त ब्रह्मचारी— चैतन्य चरितावली, ६ भाग, गीता प्रेस, गोरखपुर

बेनी प्रबीन— नवरस तरंग, प्राचीन कवि माला कार्यालय, काशी, १९२५ ई०

भगीरथ मिश्र (डा०)— हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास, लखनऊ वि० वि०, लखनऊ, २००५ सं०

भिखारी दास— (१) काव्यनिर्णय, कल्याण दास ब्रदर्स, वाराणसी, १९५६ ई०

(२) काव्यनिर्णय, बेलवेडियर प्रेस, आगरा, १९३७ ई०

(३) भिखारी दास ग्रंथावली, २ भाग, नागरी प्रचारिणी, काशी २०१२ और २०१४ सं०

मनोहर लाल गौड़ (डा०)— आचार्य क्षेमेन्द्र, भारत प्रकाश मन्दिर, अलीगढ़

मायाशंकर याज्ञिक— रहीम रत्नावली, साहित्य सेवा सदन, काशी, तृतीय संस्करण

महेन्द्र कुमार (डा०)— मतिराम कवि और आचार्य, भारतीय साहित्य मन्दिर १९६० ई०

मिश्रबन्धु— मिश्रबन्धु विनोद, प्राचीन और नवीन संस्करण

मुकुन्ददेव शर्मा— हरिऔध और उनका साहित्य, हिन्दी साहित्य कुटीर, वाराणसी, २०१३ सं०

रसलीन— (१) रस प्रबोध, भारत जीवन प्रेस, काशी, १८९५ ई०

(२) नायका भेद, लाइटप्रेस बनारस, १८६९ ई०

रसिक विहारी— काव्यसुधाकर, युनाइटेड प्रिंटिंग प्रेस, अहमदाबाद, १८६६ ई०

रत्न कुमारी (डा०)— १६ वीं सदी के हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवि, भा० सा० मन्दिर, दिल्ली

रघुनाथ कवि— रसिक मोहन, नवल किशोर प्रेस, लखनऊ, १८९० ई०

रामचन्द्र शुक्ल— (१) हिन्दी साहित्य का इतिहास, ना० प्र० सभा, काशी, २००८ सं०

(२) रस मीमाँसा, ना० प्र० सभा, काशी, २००६ सं०।

(३) चिन्तामणि, भाग १ इण्डियन प्रेस, प्रयाग, १९५० ई०

(४) चिन्तामणि, भाग २, सरस्वती-मन्दिर, काशी, २००६ सं०

धनंजय— दशरूपकम्, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९४१ ई०
नमिसाधु— काव्यालंकार टीका
नारद— नारदीय भक्तिसूत्राणि, गीताप्रेस, गोरखपुर
पतंजलि— महाभाष्यम्, चौखम्बा, बनारस १९५४ ई०
पाणिनि— अष्टाध्यायी, चौखम्बा, बनारस
भर्तृहरि— नीतिशतकम्, विश्वेश्वर यन्त्रालय, काशी, १९४० ई०
भर्तृहरि— वाक्यपदीयम्, चारुदेव संस्करण
भरत— नाट्यशास्त्रम्, काव्यमाला संस्करण, नि० स० प्रेस, १९४३ ई०
भवभूति— उत्तर रामचरितम्, कुमुदरंजन राय, १९३४ ई०
भानुदत्त— (१) रसतरंगिणी, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९५८ ई०
(२) रसमंजरी, हरिकृष्ण निबन्ध भवन, बनारस, १९५१ ई०
भामह— काव्यालंकार, चौखम्बा, बनारस
भोजराज— (१) सरस्वतीकण्ठाभरण, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९३४ ई०
(२) शृंगार प्रकाश, कारोनेशन् मुद्रणालय, १९५६ ई०
मधुसूदन सरस्वती— भगवद्भक्ति रसायन, चौखम्बा, बनारस, १९२७ ई०
मम्मट— काव्य प्रकाश, चौखम्बा, बनारस, १९८३ वि० संवत्
महिमभट्ट— व्यक्तिविवेक, चौखम्बा सं० सीरीज
यास्क— निरुक्त (दुर्गाचार्य व्याख्या सहित) वेंकटेश्वर प्रेस
राजशेखर— (१) काव्यमीमांसा, ओरियन्टल इन्स्टिट्यूट, बड़ौदा, १९३४ ई०
(२) बालरामायण (नाटक)
रुद्रट— काव्यालंकार, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
रूपगोस्वामी— (१) हरिभक्तिरसामृतसिन्धु, अच्युत ग्रन्थ माला, काशी, १९८८ संवत्
(२) उज्ज्वल नीलमणि, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९३२ ई०
वल्लभाचार्य— सिद्धान्त मुक्तावली
वात्स्यायन— कामसूत्र, चौखम्बा सं० सीरीज
वामन— काव्यालंकार-सूत्र-वृत्ति, नि० सा० प्रे०, बम्बई १९५३ ई०
बाण— (१) हर्ष चरितम्, नि० सा० प्रे०
(२) कादम्बरी, चौखम्बा सं० सीरीज
विश्वनाथ— साहित्यदर्पण, चौखम्बा, बनारस, १९४७ ई०
विद्यानाथ— प्रतापरुद्रयशोभूषण, गवर्नमेन्ट सेन्ट्रल प्रेस, बम्बई, १९०९ ई०
विल्हण— विक्रमांकदेवचरित, काश्मीर संस्कृत सीरीज
व्यास— (१) अग्निपुराण, आनन्द आश्रम, पूना
(२) श्रीमद्भागवत, गीताप्रेस, गोरखपुर

(३) श्रीमद्भागवतमाहात्म्य, गी० प्रे०, गोरखपुर
शारदातनय— भावप्रकाशन, ओरियन्टल इन्स्टिट्यूट, बड़ौदा, १९३० ई०
शाण्डिल्य— शाण्डिल्यभक्तिसूत्राणि, गीताप्रेस, गोरखपुर
ऋग्वेद, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
अथर्व वेद, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई
छान्दोग्य उपनिषत्, गीता प्रेस, गोरखपुर
कठोपनिषत्, गीताप्रेस, गोरखपुर
तैत्तिरीयोपनिषत्, गी० प्रे० गोरखपुर
हेमचन्द्र— काव्यानुशासन, काव्यमाला संस्करण, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९०१ ई०
क्षेमेन्द्र— (१) औचित्य-विचार चर्चा, चौखम्बा, सं० सी०
(२) कविकण्ठाभरण, हरिदास संस्कृत सीरीज, १९५३ ई०
(३) बृहत् कथामंजरी, निर्णय सागर प्रेस, १९३१ ई०

हिन्दी-ग्रंथ (प्रकाशित):—

अकबर साह— शृंगार मंजरी, लखनऊ विश्वविद्यालय, १९५६ ई०
आनन्दप्रकाश दीक्षित (डा०)—रससिद्धान्त; स्वरूप विश्लेषण, राजकमल प्रकाशन, १९६० ई०
उदयनाथ— रसचन्द्रोदय व रसवृष्टि, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, १८८२ ई०
ओमप्रकाश (डा०)–हिन्दी-अलंकार-साहित्य, भारती साहित्य मन्दिर, दिल्ली, १९५५ ई०
कविराज सुन्दर— सुन्दर शृंगार, भारत जीवन प्रेस, काशी, १८९० ई०
कविराज प्रतापसाहि—व्यंग्यार्थ कौमुदी, वाराणसी संस्कृत यंत्रालय, संवत् १९३१
कन्हैयालाल पोद्दार-(१) काव्यकल्पद्रुम—१ भाव, मथुरा, २००४ सं०
(२) संस्कृत सा० का इतिहास, भाग २, १९३८ ई०
कृष्ण बिहारी मिश्र (१) देव और बिहारी, लखनऊ, संवत् १९८२
(२) मतिराम ग्रन्थावली—परिचय भाग, गंगाग्रन्थागार, लखनऊ १९५१ ई०
(३) मतिराम ग्रन्थावली—गं० ग्रं० लखनऊ, संवत् १९९६
कृपाराम— हिततरंगिनी, भारत जीवन प्रेस, काशी, संवत् १९५२
कुमारमणिभट्ट— रसिकरसाल, विद्या विभाग, कांकरोली, संवत् १९९४
कुलपति— रस रहस्य, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, संवत् १९५४
केदारनाथ शर्मा (अनुवादक)—काव्यमीमांसा, बिहार रा० भा० प०, पटना,
गुलाब राय— (१) नवरस, नागरी प्रचारिणी सभा, आरा, १९९० संवत्
(२) सिद्धान्त और अध्ययन

ग्वाल— नखशिख, लक्ष्मीनारायण यन्त्रालय, मुरादाबाद, १९६० संवत्

चन्द्रशेखर वाजपेयी—रसिकविनोद, भारतजीवन प्रेस, काशी, १८९४ ई०

चिन्तामणि— कविकुलकल्पतरु, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, १८७५ ई०

जगन्नाथ प्रसाद "भानु"—(१) रसरत्नाकर, जगन्नाथ प्रेस, बिलासपुर, १९१६ ई०
(२) नायिका-भेद शंकावली, जगन्नाथ प्रेस,
बिलासपुर, संवत् १९८२

तोष— सुधानिधि, भारतजीवन प्रेस काशी, १९९२ संवत्

त्रिभुवन सिंह (डा०)—महाकवि मतिराम, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय,
वाराणसी, संवत् २०१७

दूलह— कविकुलकण्ठाभरण, भारतजीवन प्रेस, काशी, १८८९ ई०

देव— (१) रस विलास, भारतजीवन प्रेस, काशी, १९०० ई०
(२) भाव विलास, तरुणभारत ग्रन्थावली कार्यालय,
प्रयाग, १९९१ सं०
(३) भवानी विलास, भारत जीवन प्रेस, काशी
(४) सुखसागर तरंग, लखनऊ, १९५४ सं०
(५) शब्द-रसायन, हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, प्र० सं०

नगेन्द्र (डा०)— (१) रीति काव्य की भूमिका, गौतम बुक डिपो,
दिल्ली, १९४६ ई०
(२) देव और उनकी कविता, गौतम बुक डिपो, दिल्ली,
१९४९ ई०
(३) भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, ओरियन्टल बुक डिपो,
१९५५ ई०
(४) हिन्दी काव्यालंकार, सूत्र, दिल्ली, १९५४ ई०
(५) हिन्दी वक्रोक्ति जीवित, हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली
(६) हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, षष्ठ भाग, ना० प्र० स०,
काशी, सं २०१४

नन्दराम— श्रृंगार दर्पण, भारत जीवन प्रेस, काशी, १८९७ ई०

नारायण दास खन्ना (डा०)—आचार्य भिखारीदास, लखनऊ विश्वविद्यालय,
लखनऊ, २०१२ सं०

परशुराम चतुर्वेदी—मध्यकालीन श्रृंगारिक प्रवृत्तियाँ तथा नव निबन्ध, लोक सेवक
प्रकाशन, बनारस, १९५५ ई०

पुरुषोत्तम शर्मा चतुर्वेदी—(१) हिन्दी रसगंगाधर, प्रथम भाग, इण्डियन प्रेस
प्रयाग १९८६ सं०

(२) हिन्दी रस गंगाधर, द्वितीय भाग, ना० प्र० स०, काशी, १९९५ सं०

प्रभुदयाल मीतल— (१) ब्रजभाषा साहित्य में नायिका भेद, अग्रवाल प्रेस, मथुरा, १९४४ ई०

(२) साहित्य लहरी, साहित्य संस्थान, मथुरा, १९६१ ई०

प्रभुदत्त ब्रह्मचारी— चैतन्य चरितावली, ६ भाग, गीता प्रेस, गोरखपुर

बेनी प्रबीन— नवरस तरंग, प्राचीन कवि माला कार्यालय, काशी, १९२५ ई०

भगीरथ मिश्र (डा०)— हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास, लखनऊ वि० वि०, लखनऊ, २००५ सं०

भिखारी दास— (१) काव्यनिर्णय, कल्याण दास ब्रदर्स, वाराणसी, १९५६ ई०

(२) काव्यनिर्णय, बेलवेडियर प्रेस, आगरा, १९३७ ई०

(३) भिखारी दास ग्रंथावली, २ भाग, नागरी प्रचारिणी, काशी २०१२ और २०१४ सं०

मनोहर लाल गौड़ (डा०)— आचार्य क्षेमेन्द्र, भारत प्रकाश मन्दिर, अलीगढ़

मायाशंकर याज्ञिक— रहीम रत्नावली, साहित्य सेवा सदन, काशी, तृतीय संस्करण

महेन्द्र कुमार (डा०)— मतिराम कवि और आचार्य, भारतीय साहित्य मन्दिर १९६० ई०

मिश्रबन्धु— मिश्रबन्धु विनोद, प्राचीन और नवीन संस्करण

मुकुन्ददेव शर्मा— हरिऔध और उनका साहित्य, हिन्दी साहित्य कुटीर, वाराणसी, २०१३ सं०

रसलीन— (१) रस प्रबोध, भारत जीवन प्रेस, काशी, १८९५ ई०

(२) नायका भेद, लाइटप्रेस बनारस, १८६९ ई०

रसिक विहारी— काव्यसुधाकर, युनाइटेड प्रिंटिंग प्रेस, अहमदाबाद, १८६६ ई०

रत्न कुमारी (डा०)— १६ वीं सदी के हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवि, भा० सा० मन्दिर, दिल्ली

रघुनाथ कवि— रसिक मोहन, नवल किशोर प्रेस, लखनऊ, १८९० ई०

रामचन्द्र शुक्ल— (१) हिन्दी साहित्य का इतिहास, ना० प्र० सभा, काशी, २००८ सं०

(२) रस मीमाँसा, ना० प्र० सभा, काशी, २००६ सं० ।

(३) चिन्तामणि, भाग १ इण्डियन प्रेस, प्रयाग, १९५० ई०

(४) चिन्तामणि, भाग २, सरस्वती-मन्दिर, काशी, २००६ सं०

रामदहिन मिश्र— (१) काव्य दर्पण, ग्रन्थ माला कार्यालय पटना, १९६० ई०
(२) काव्यालोक, प्रथम उद्योत, ग्र० मा० का०, पटना, १९५१ ई०
(३) काव्यालोक, द्वितीय, उद्योत, ग्र० मा० का०, पटना, १९५२ ई०

रामलाल सिंह (डा०)— आचार्य शुक्ल के समीक्षा सिद्धान्त, कर्मभूमि प्रकाशन, बनारस, २००५, सं०

राजेश्वरी प्रसाद चतुर्वेदी (डा०)-रीति कालीन कविता एवं शृंगार रस का विवेचन, सरस्वती पुस्तक सदन, आगरा, २०१० सं०

राहुल सांकृत्यायन—(१) संस्कृत काव्यधारा, किताब महल, इलाहाबाद, १९५८ ई०
(२) हिन्दी काव्यधारा, किताब महल, इलाहाबाद १९४५ ई०

लछिराम— महेश्वर विलास, भारत जीवन प्रेस, काशी, १८९३ ई०

लक्ष्मीनारायण सुधांशु-(१) काव्य में अभिव्यंजनावाद, जनवाणी प्रकाशन, कलकत्ता, २००७ सं०
(२) जीवन के तत्व और काव्य के सिद्धान्त, युगांतर साहित्य मन्दिर, भागलपुर, १९४२ ई०

बटेकृष्ण— वीररस का शास्त्रीय विवेचन, नन्दकिशोर ब्रदर्स, बनारस

बलदेव उपाध्याय— (१) भारतीय साहित्य शास्त्र, प्रथम खण्ड, प्रसाद परिषद, काशी, २००३ सं०
(२) भारतीय साहित्यशास्त्र, द्वितीय खण्ड, प्र० प० काशी २००५ सं०
(३) संस्कृत साहित्य का इतिहास, बनारस, १९४८ ई०
(४) रसिक गोविन्द और उनकी कविता, हिन्दी प्रचारिणी सभा, बलिया, १९८८ ई०

ब्रजरत्नदास— नन्ददास ग्रन्थावली, ना० प्र० सभा, काशी, २००६ सं०

विजयपाल सिंह— केशव और उनका साहित्य, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली १९६१ ई०

विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—(१) केशव ग्रन्थावली, खण्ड १, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद
(२) काव्यांग कौमुदी, प्रथम कला, नन्दकिशोर ब्रदर्स, बनारस, २०१० सं०
(३) काव्यांग कौमुदी, द्वितीय कला, न० कि० ब्र०, बनारस, २००९ सं०
(३) पद्माकार ग्रंथावली, ना० प्र० सभा, काशी, २०१६ वि० सं०

(५) पद्माकर पंचामृत, श्रीरामरत्न पुस्तक भवन, काशी, १९९२ सं०

विहारी लाल भट्ट— साहित्य सागर, २ भाग, गंगा ग्रन्थागार लखनऊ, १९९४ सं०

श्यामसुन्दर दास (डा०)—(१) साहित्यालोचन, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, १९९९ सं

(२) रूपक रहस्य, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, २००६ सं०।

सरयू प्रसाद अग्रवाल (डा०)—अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, २००७ सं०

सूरदास— साहित्य लहरी, पुस्तक भंडार, लहेरियासराय, १९९६ सं०

हरिऔध— (१) रसकलस, हिन्दी सा० कुटीर, बनारस, २००१ सं०

(२) रससाहित्य और समीक्षाएँ, सदाबरती, आजमगढ़, १९५६ ई०

हरिशंकर शर्मा— रस-रत्नाकर, इलाहाबाद, १९४४ ई०

(३) हिन्दी-ग्रंथ (हस्त लिखित)

उजियारे कवि— रस चन्द्रिका, याज्ञिक संग्रहालय, काशी

करन कवि— रसकल्लोल, नागरी प्रचारिणी सभा संग्रहालय, काशी

ग्वाल कवि— रसरंग, याज्ञिक संग्रहालय, काशी

जनराज— कविता रस विनोद, या० सं०, काशी

चिन्तामणि— रस मंजरी (खण्डित प्रति), ना० प्र० स० संग्रहालय, काशी।

देव— (१) रसविलास, ना० प्र० स० संग्रहालय, काशी

(२) सुखसागर तरंग, ना० प्र० स० संग्रहालय काशी

प्रतापसाहि— काव्य विलास, ना० प्र० स० संग्रहालय, काशी

रसलीन— रस प्रबोध, ना० प्र० स० संग्रहालय, काशी

रूपसाहि— रूप विलास, या० सं०, काशी

सोमनाथ— (१) रसपीयूषनिधि, या० सं०, काशी

(२) श्रृंगार विलास, या० सं० काशी

(४) अंग्रेजी-ग्रन्थ

आर० बी० जागीरदार— ड्रामा इन संस्कृत लिट्रेचर,

ए० संकरन— सम आसपेक्ट्स आफ लिट्रेरी क्रिटिसिज्म, मद्रास विश्वविद्यालय, १९२९ ई०

कांतिचन्द्र पाण्डेय (डॉ०)—अभिनवगुप्त : एन हिस्टोरिकल एन्ड फिलोसोफिकल स्टडी, चौखम्बा, १९३५ ई०

पी० वी० काणे— (१) हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स, बम्बई, १९५१ ई०
(२) साहित्य दर्पण आफ विश्वनाथ एन्ड द हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स, १९२३ ई०

पी० सी० लाहिरी— कान्सेप्ट्स आफ रीति एन्ड गुण, ढाका विश्वविद्यालय, १९३७ ई०

राकेश गुप्त (डॉ०) – साइकोलोजिकल स्टडीज इन रस, बनारस, १९५० ई०

पी० राघवन— (१) द नम्बर आफ रसाज, अदयार, १९४० ई०
(२) सम कन्सेप्ट्स आफ द अलंकार-शास्त्र
(३) भोजस श्रृंगार-प्रकाश, २ भाग, कर्नाटक पब्लिशिंग हाउस, बम्बई

सुशीलकुमार दे— (१) संस्कृत पोएटिक्स, २ भाग, कलकत्ता, १९६० ई०
(२) वैष्णव फेथ एन्ड मूवमेंट, कलकत्ता, १९४२ ई०

सूर्यकान्त शास्त्री— क्षेमेन्द्र स्टडीज

एस० एन० दासगुप्त— हिस्ट्री आफ संस्कृत लिट्रेचर, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता, १९४७ ई०

(५) पत्र-पत्रिकाएँ और खोज रिपोर्ट

(क) अंग्रेजी

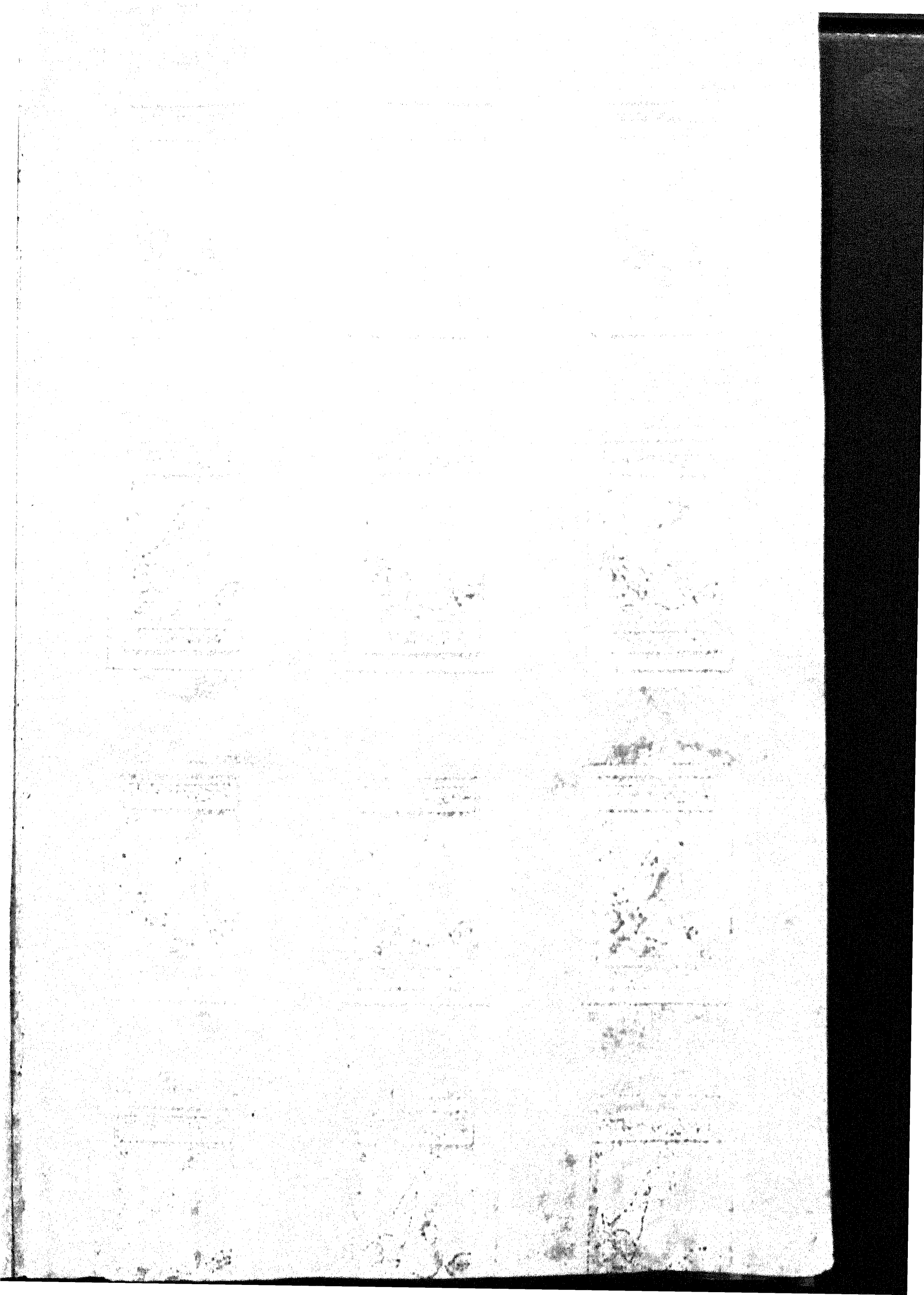
जर्नल आफ द डिपार्टमेंट आफ लेटर्स, कलकत्ता विश्वविद्यालय।
जर्नल आफ रोयल एसियाटिक सोसाइटी।
पटना विश्वविद्यालय जर्नल।
प्रोसीडिंग्स आफ द आल इण्डिया ओरियन्टल कान्फ्रेंस।

(ख) हिन्दी

आलोचना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
अवन्तिका, पटना
कल्याण, गोरखपुर
नागरी प्रचारिणी सभा पत्रिका, काशी
वीर, साप्ताहिक
सम्मेलन पत्रिका, प्रयाग
हिन्दी अनुशीलन, प्रयाग

(ग) खोज रिपोर्ट

प्राचीन साहित्य शोध संस्थान, उदयपुर विद्यापीठ, उदयपुर।
नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।
बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।




अनुसन्धान
प्रकाशन


अनुसन्धान
प्रकाशन


अनुसन्धान
प्रकाशन


अनुसन्धान

प्रकाशन प्रकाशन प्रकाशन

अनुसन्धान अनुसन्धान अनुसन्धान







प्रकाशन प्रकाशन प्रकाशन

अनुसन्धान अनुसन्धान अनुसन्धान







प्रकाशन प्रकाशन प्रकाशन

अनुसन्धान अनुसन्धान अनुसन्धान







प्रकाशन प्रकाशन प्रकाशन

अनुसन्धान अनुसन्धान अनुसन्धान





